

DUE DATE SLIP**GOVT. COLLEGE, LIBRARY****KOTA (Raj)**

Students can retain library books only for two weeks at the most

| BORROWER'S No | DUE DATE | SIGNATURE |
|------------------|----------|-----------|
| | | |

॥ श्रीः ॥

काशी संस्कृत ग्रन्थमाला

१६९



चतुर्वेदि-संस्कृत-रचनावलिः

(म. म. श्रीगिरिधरशर्मचतुर्वेदधिरचितसंस्कृतग्रन्थसंग्रहः

[प्रथमो भागः]

सम्पादकः

ग्रन्थकर्तुः कनिष्ठान्मजः

श्रीशिवदत्तशर्मा चतुर्वेदः, एम० ए०

व्याकरण-साहित्याचार्य.

काशीहिन्दूविश्वविद्यालयस्य-संस्कृतमहाविद्यालये

साहित्यप्राध्यापकः

प्रकाशकः

चौखम्बा संस्कृत सीरीज आफिस, वाराणसी-१

१९६६

प्रकाशक : चौखम्बा संस्कृत सीरीज आफिस, वाराणसी-१

मुद्रक : विशाविलास प्रेस, वाराणसी-१

संस्करण : प्रथम, संवत् २०२३

मूल्य - २०००/-

© The Chowkhamba Sanskrit Series Office,
P. O Chowkhamba, Post Box 8,
Varanasi. (India)

1966

Phone : 3145

THE
KASHI SANSKRIT SERIES
169
॥८८८॥

CHATURVEDI SANSKRIT RACHANĀVALĪ

(A Collection of M. M. Śrī Girīdhara Śarma
Chaturvedi's Sanskrit Works)

PART I

Edited By
Sri Shivadutta Sharma Chaturvedi

M. A., Vyākaraṇa-Sihityāchārya,
Lecturer Sanskrit Mahāvidyālaya,
Banaras Hindu University, Varanasi

THE
CHOWKHAMBA SANSKRIT SERIES OFFICE

Post Box 8

Varanasi-1 (India)

Phone 3145.

1966

प्राक्कथनम्

अथाधुना पृथ्यपादानां पितृचरणानां म. म. श्रीगिरिधरशर्मचतुर्वेदानां
संस्कृत-रचनासंग्रह-रूपायाश्चतुर्वेदिसंस्कृत-रचनावत्या लण्डचतुष्टयात्मकं
प्रथम भागे विद्वद्वरेण्यानां करकमलेषूपायनीकृत्यं वयं किमप्यनिर्वचनीय-
मानन्दातिरेकमनुभवामः । ग्रन्थपरिचयप्रसङ्गे सर्वजनोपयोगिदृशाऽस्माभिः
राष्ट्रभाषायां भूमिकात्रैव प्रस्तुता । संस्कृतविद्वांसस्तु ग्रन्थविलोकनेन
ग्रन्थगौरवं ज्ञास्यन्त्येव ।

आशासे विद्वांसः प्रयासस्यास्य समुचितं सम्मानं विधायास्मानमेऽप्येवं
विधप्रयत्ने समुत्साहं प्रदास्यन्तीति ।

विनयावन्तः

* शिवदत्तशर्मा चतुर्वेदः

भूमिका

परमपूज्य प्रातःस्मरणीय चित्रचरण महामहोपाध्याय पंडितश्रीगिरिधरशर्मा चतुर्वेदी जी की संस्कृतरचनाओं के संकलन के, जिन 'चतुर्वेदिसंस्कृतरचना-बली' यह नाम दिया गया है, प्रथम भाग को संस्कृतसाहित्य जगत् को समर्पित करते हुए मुझे जिस हर्ष का अनुभव हो रहा है वह मेरे लिए वर्णनातीत है। कुछ वर्ष पूर्व मुझे कुछ पूज्यविद्वाना तथा आदरणीय मित्रा ने इस कार्य की ओर मेरा कर्तव्य सुचाया कि पूज्य पिता जी की समस्त रचनाएँ जो संस्कृत और हिन्दी में हो उनका संकलन कर उन्हें प्रकाशित कराने का प्रयत्न होना चाहिए। इस कार्य की प्रेरणा देने वालों में अध्येय म० म० प० परमेश्वरानन्द जी शास्त्री डा० हजारिप्रसाद जी द्विवेदी, डा० बासुदेवधरण जी अग्रवाल, श्री दीनानाथ शास्त्री सारस्वत, स्व० श्री नरहरिविष्णु गाडगिल, स्व० श्री केदारनाथ जी सारस्वत, वैद्यवर्ष श्रीरामनारायण जी जोशी, के नाम मुझे स्मरण हैं। इनमें वैद्यराज श्री रामनारायण जी ने तो सामग्री संकलन के लिए वर्षों तक आर्थिक सहयोग दिया। मुझे सामग्री संकलन के लिए अनेक बार जयपुर, देहली, आदि जाना पड़ा, वहाँ से सहस्रो पृष्ठों की जो पिता जी की रचनाएँ मिली, उनकी प्रतिलिपि करके उन्हें टाइप कराने आदि के भारी व्यय में हमें श्री रामनारायण जी वैद्य महोदय ने अवलम्ब दिया। उन्होंने वर्षों तक पिता जी की सेवा और सुविधा के लिए भी अर्थ दिया, जब-जब जो विशेष माग परिस्थिति बस उनके सामने पिता जी के सम्बन्ध में की गई, उसे पूर्ण उदारता और अत्यन्त विनीत भाव से उन्होंने पूर्ण किया। आपकी पुष्कल आर्थिक सहायता मिलने पर इस दिशा में हमारा उत्साह भी बढ़ता गया और एक वैतनिक सहयोगी और एक टाइपिस्ट के साथ मैं प्रेस कापी प्रस्तुत करने में तल्लीन हो गया। विश्वविख्यात दानवीर श्रीमान् माननीय जुगलकिशोर जी विडला महोदय भी एक लम्बे समय से पिता जी की आर्थिक अर्चना कर रहे हैं। उक्त महानुभावों के प्रति आभार व्यक्त करना हमारा आवश्यक कर्तव्य है। अत्यन्त वृद्धावस्था में स्थित होने पर भी पूज्य पिता जी ने इस सामग्री को मासने छानने के परिश्रम में हम को पीछे छोड़ दिया यह कहा जाय तो कोई अत्युक्ति नहीं। उन्होंने पूरे-पूरे लेखों को अक्षर-अक्षर सुनकर सभी लेखा में भारी परिवर्तन परिवर्धनादि काराकर ही उनके प्रकाशन की अनुमति दी। उक्त प्रयासों के फल स्वरूप हम अब तक—

१ वैदिक विज्ञान और भारतीय संस्कृति,

२ गीता व्याख्यान माला के ३ भाग,

३ साहित्यिक निबन्ध,

४ दर्शन अनुचिन्तन,

इन पुस्तकों को प्रकाशित कराने में सफल हुए हैं। इनमें से प्रारम्भिक चार पुस्तकें स्वतन्त्र ग्रन्थ के ही रूप में यद्यपि किसी गद्य तथापि उनमें भी प्राचीन सामग्री जो कि हम प्राप्त होनी रही थी उसका स्थान-स्थान पर समावेश हुआ। साहित्यिक निबन्ध और 'दशम अनुचितन' तो स्पष्ट रूप में प्राचीन लक्षों के ही संकलन हैं। हिन्दी में अभी उनका पथान साहित्य प्रकाशन के लिये खड़ा है जिसे सुविधानुसार प्रकाश में लाते रहने का हमारा संकल्प है।

मैं जब गीता व्याख्यानमाला के तृतीय भाग का सम्पादन कर रहा था उन दिनों एक बार पिताजी ने मुझ से कहा कि तुम हमारा हिन्दी रचनाओं को प्रकाशित करने में हाथ लगा, हमारी संस्कृत रचनाओं का भी तो संकलन प्रकाशित कराओ। तब तक मैंने संस्कृत रचनाओं के संकलन पर ध्यान नहीं दिया था और मेरा ऐसा विचार था कि संस्कृत में पिताजी की अधिक रचनाएँ नहीं हैं। यही बात उस समय मैंने कहा। इसके उत्तर में उन्होंने कहा कि संस्कृत में हमारे लेश हिन्दी से भी अधिक हैं। उसी दिन से मैंने संस्कृत रचनाओं के संकलन का संकल्प किया और गीता व्याख्यानमाला के सम्पादन में निवृत्त होकर जब मैंने संस्कृत रचनाओं का संग्रह प्रारम्भ किया तो धीरे धीरे इनकी सामग्री सामने आई कि उस प्रकाशित कराने के लिए एक जिल्द पदार्थ प्रणीत नहीं हुई। पिताजी ने प्रायः १५ वर्ष तक जयपुर से निकलने वाले 'संस्कृत रत्नाकर' नामक मासिक पत्र का संपादन किया और आपने भी बहुत समय तक उसके प्रकाशक रहे। सौभाग्य से पचास वर्ष पुराने संस्कृत रत्नाकर के वे अंक, जो पिताजी के संपादकत्व में निकलें थे, हमारे यहां सुरक्षित मिल गए और उनके सभी अंकों में पिताजी के बड़े बड़े लेख जो धारावाहिक रूप से जनक अंकों में छपे थे, हमारे सामने आए। यह 'संस्कृत रत्नाकर' पत्रका अमित्र भारतीय संस्कृत साहित्य सम्मेलन की मुक्त पत्रिका आगे चल कर बना दी गई। आज भी यह सम्मेलन के देहली स्थित कार्यालय में प्रकाशित हो रही है। इस पत्रिका का संपिन्त इतिहास 'वनुर्विदिसंस्कृत रचनावली' के द्वितीय भाग में सज्जित संस्कृत रत्नाकरसमारम्भ या शीर्षक लक्ष में पढ़ने को मिलेगा। 'संस्कृत रत्नाकर' के प्राचीन अंकों में जो धारावाहिक मुद्रित लेख उल्लेख्य हुए उनमें से एक तो पुष्पक रूप से लिखा गया लेख था, वह दानिज्व लेख माला 'प्रेमपारिजात' शीर्षक से प्रकाशित हुई थी। संस्कृत लेख सामग्री एकत्रित होने पर 'प्रेमपारिजात' और 'पुराणपरिचय' का 'विद्यारूपा' भारत सरकार के अनुदान से संस्कृत विद्यापीठ, देहली द्वारा प्रकाशित किये गये। प्रकाशन के उपरान्त ये दोनों पुस्तकें भारत के भूतपूर्व प्रधान मंत्री महामन्त्री श्री छालबहादुर शास्त्री जी को

समर्पित की गई। अवशिष्ट संहृत लेख 'चतुर्वेदिसंस्कृतरचनावली' के दो भागों में प्रस्तुत किये जा रहे हैं। इन लेखों में बहुनों को ग्रन्थ भी कहा जा सकता है। विषय के क्रम में इनका विभाजन कर प्रस्तुत भाग में पाँच खण्ड आए हैं, ये क्रमशः हैं—

१. वेद खण्ड
२. पुराण खण्ड
३. शास्त्र शास्त्र खण्ड
४. धर्मशास्त्र खण्ड
५. काव्य साहित्य खण्ड

प्रथम वेद खण्ड में तीन लेख हैं—“ऋत च सत्य च”

“वेदेषु विज्ञानं तस्य क्रमिको ह्रासश्च”

“वेदेषु पितरः”

प्रथम लेख “ऋत च सत्य च” में वैदिक मन्त्रों में प्रयुक्त “ऋत” और “सत्य” इन शब्दों का भाष्यकारों ने क्या आशय प्रकट किया है, यह मन्त्रों के उद्धरण पूर्वक बतलाते हुए वैज्ञानिक दृष्टि से इन शब्दों का क्या तात्पर्य है, यह प्रकाशित किया गया है। इस वैज्ञानिक पद्धति के अनुसार संसार के सभी पदार्थ दो प्रकार के कहे जा सकते हैं। एक वे जो अपना केन्द्र बना कर स्थित हैं तथा दूसरे वे जो बिना केन्द्र बनाए विकीर्ण भाव से सन्स्थित रहते हैं। प्रथम कोटि में केन्द्र बनाकर रहने वाले पदार्थों में पृथ्वी आदि पदार्थों की गणना होती है, उन्हें ही ‘सत्यम्’ शब्द में कहा गया है, दूसरे जो बिना केन्द्र के विसीर्ण भावापन्न होकर सन्स्थित रहते हैं, उनमें वायु आदि की गणना है, उन्हें ही वैदिक परिभाषा में ‘ऋतम्’ कहा गया है। इसी वैज्ञानिक दृष्टि को वैदिक उदाहरणों के द्वारा परिपुष्ट कर इस लेख में उपस्थित किया गया है। यह लेख कई वर्ष पूर्व सरस्वती भवन, वाराणसी से निकलने वाली ‘सरस्वती सुधमा’ त्रैमासिक पत्रिका में प्रकाशित हुआ था। इस खण्ड के दूसरे लेख—

“वेदेषु विज्ञानम् तस्य क्रमिको ह्रासश्च” में विज्ञान के अर्थ में सम्बन्धित विप्रतिपत्तियाँ दिखाते हुए यह स्पष्ट किया गया है कि विज्ञान शब्द का तात्पर्य वही है जो वर्तमान में ‘साइन्स’ शब्द में समझा जाता है। यह विज्ञान या साइन्स वैदिक साहित्य में परिपूर्ण मात्रा में अत्यन्त सूक्ष्म रूप में उल्लिखित हुआ है, अनेक मन्त्रों को उद्धृत करके उनमें विज्ञान या साइन्स के सिद्धान्तों का दिग्दर्शन कराया गया है और यह भी स्पष्ट किया गया है कि वर्तमान साइन्स के लिए अभी जो बहुत दूर की स्थिति है वह भी वैदिक साहित्य में बहुत स्पष्टता

से समुपलब्ध है। अतः म इस महान् विज्ञान का ह्रास किस प्रकार होना चला गया यह दिखाते हुए यह आगा व्यक्त की गई है कि पुन वैदिक विज्ञान का अन्वयण होगा और उससे उस महान् विज्ञान का प्रकाश पुन सत्तार को आलो कित करेगा। यह लेख ससृजन रत्नाकर के वेणाङ्क नामक विद्यपाङ्क म मुद्रित हो चुका है।

इस खण्ड का तीसरा लेख वन्द्यु पितर ह। वैदिक विज्ञान म वतमान माइम की तरह जो मूल-तत्त्व सृष्टि के उत्पादक के रूप म पहिचान गए हैं उनम देवता ऋषि और पितृ तत्त्व मुख्य है। इनम से पितृ तत्त्व का विवेचन प्रस्तुत लेख म हुआ है। यह लेख भी सार-वृत्ता सुपमा म प्रकाशित हो चुका है। दिवता और ऋषि तत्त्व पर भी दो विस्तृत लेख पितर जो ने त्रिव ये। वाराणसेयससृष्टिविन्विशालय की स्थापना के अनन्तर प्रथम उपकुलपति श्रीमान् माननीय आन्वित्यनाथ झा महोदय ने एक विनिष्ट व्याख्यान पद्धति का वहा आयोजन किया जिसका कि नाम म म श्री गणानाथ वा व्याख्यान माला रक्खा गया उस व्याख्यान मात्र का प्रारम्भ पितराजी क ही वेदविज्ञान मन्दारो तीन व्याख्यानो से हुआ। ये तीनों व्याख्यान वेदविज्ञानविदु नाम से वही से प्रकाशित भी हुए। हमने इन तीनों व्याख्यानो को प्रस्तुत रचनावली में सकलित करने की अनुमति के लिए सम्बद्ध अधिकारियो को लिखा। परन्तु कुछ वैधानिक आपत्तियो के कारण वहा से अभी उत्तर प्राप्त नहीं हो सका। यदि आगे कुछ समय म वहा से अनुमति प्राप्त हो गई तो चतुर्वेद-ससृजन-रचनावली के दूसरे भाग म हम उसे प्रकाशित करेंगे।

दूसरे पुराणखण्ड म पांच लेख क्रमशः इस प्रकार हैं—

- १ पुराणेणु विकासवा
- २ कूर्मपुराणविषयालोचनम्
- ३ मुद्गलपुराणविषयालोचनम्
- ४ वेणुपुराणमहत्त्वम्
- ५ पुराणश्रवणानि

पुराणेणु विकासवा” लेख म पाश्चात्य विद्वानो के विकासवा सिद्धान्त (Theory of Evolution) के संकेत पुराणा म लिखाए गए हैं। एक अग्र हिन्दी लेख म लेखक ने यह प्रतिपादन किया है कि भारतीय प्राचीन दृष्टि ह्रासवाणी रही है और आधुनिक पाश्चात्य दृष्टि विकासवाणी है। यदि तत्त्वविवेचन या परिणाम की गणायज्ञा को ध्यान में रखकर इन दोनों सिद्धान्तो का विरलेपण किया जाय तो परिणाम म दोनों बातें एक ही सिद्ध होनी हैं।

केवल बाह्यरूप में भेद दृष्टिगोचर होता है। पुराण साहित्य महान् है। नवीन कहे जाने वाले ये महत्त्वपूर्ण सिद्धान्त पुराण में अनिर्दिष्ट नहीं रह सकते अपितु विकासवाद जैसे नवीन कहे जाने वाले सिद्धान्तों का कैसा स्पष्ट और स्वच्छ निरूपण पुराणों में मिलना है, यह इस लेख को पढ़ने से समझ में आ जायगा। यह लेख 'संस्कृत रत्नाकर' में मुद्रित हुआ था, वही से संकलित हुआ है। इसके आगे के पुराण सम्बन्धी चारों लेख 'सर्व भारतीय-काशिराजन्यास' में प्रकाशित 'पुराणम्' नामक अन्वेषण-पत्रिका में यथा समय प्रकाशित हुए थे। वही से हमने इनका संकलन किया। पुराणों पर पिताजी का एक महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ 'पुराण पारिजात' सर्व भारतीय काशिराजन्यास' के द्वारा प्रकाशित किया जाना है। उसका उत्तर भाग केन्द्रीय-संस्कृत समिति की आर्थिक सहायता में संस्कृत विद्यापीठ देहली के द्वारा हाल ही में प्रकाशित किया गया है, यह सूचना हम ऊपर दे चुके हैं। उसके पूर्व का भाग अनेक वर्ष पूर्व ही उक्त संस्था को प्रकाशनार्थ सौंप दिया गया था। परन्तु कुछ अड़चनों के कारण वह अभी प्रकाश में नहीं आ सका है। भगवान् से प्रार्थना है कि उस ग्रन्थ को भी शीघ्र ही प्रकाश में लाने के लिए उसके दुरदृष्ट को मिटायें। श्रद्धेय काशीनरेश महाराजबहादुर श्रीविभूतिनारायण सिंह देव जी ने पिताजी को पुराण साहित्य पर एक ग्रन्थ की रचना के लिए प्रेरित किया और पुष्कल अर्थ साहाय्य प्रदान किया। पिताजी ने प्रायः ६ वर्षों तक परिश्रम करके 'पुराण पारिजात' नामक ग्रन्थ की रचना की। श्रद्धेय काशी नरेश अनेक वर्षों तक प्रतिवर्ष विभिन्न अवसरों पर विभिन्न पुराणों के प्रवचन श्री रामनगर के देवस्थानों में कराया करते थे। तत्पुराणों के प्रवचनों के सार भी उन्होंने लिखवाए। अनेक पुराणों के सार तो हिन्दी में लिखे गए, परन्तु दो पुराणों वामन पुराण और मुद्गाल पुराण के सार संस्कृत में लिखे गये और 'पुराणम्' नामक पत्रिका में प्रकाशित हुए। उन्हें हमने 'रचनावली' के प्रस्तुत भाग में पुराण खण्ड में सम्मिलित किया है। पूज्य पिताजी पर श्रद्धेय श्री काशिराज का जो अनुग्रह रहा है उसका विस्तृत विवरण हम 'रचनावली' के द्वितीय भाग की भूमिका में विस्तार से देंगे, जहाँ पिताजी के जीवन की अन्य महत्त्वपूर्ण घटनाओं का भी विवरण होगा। यहाँ हम इन लेखों को 'रचनावली' में सम्मिलित करने के लिए महाराजाविराज श्री काशीनरेश के प्रति अपनी हार्दिक विनम्रता पूर्ण कृतज्ञता प्रकट करते हैं। इसी खण्ड के आगे के दो लेख 'वैदेषु पुराणमहत्त्वम्' तथा 'पुराणलक्षणानि' 'पुराण पारिजात' के प्रथम भाग के अंश हैं, जो कि 'पुराणम्' पत्रिका में भी मुद्रित हुए हैं। इन दोनों लेखों को

१. विशेष विज्ञप्ति के लिए दृष्टव्य 'विकास और ह्रास'—'वैदिक विज्ञान और भारतीय संस्कृति'।

पठकर पाठका जो यह आभास हो जायगा कि पुराणपरिभाषा ग्रन्थ में कितन महत्वपूर्ण विषयों का सारगर्भित और सरल शैली में प्रतिपादन हुआ है। इसी सन्दर्भ में हम यह भी एक हृदयजनक सूचना देनी है कि पुराणा पर पुराण परिभाषा नाम का एक हिन्दी ग्रन्थ राजभाषा हिन्दी के मूधय लेखी संस्थान बिहार राजभाषा परिषद् पटना से बहुत गौरव प्रकाशित हो रहा है। इन विचारों का भी मूल काय चला रहा है। तीसरे गणनाखण्ड में एक वक्ता निवेदन है जिसका प्रकाशन महाभाष्य की भूमिका के रूप में 'पाणिनिपरिचय' शीर्षक में हो चुका है। यह एक स्वतंत्र ऐतिहासिक समालोचना युक्त पुस्तक कहो जा सकती है। इसके लिखन में प्रायः २ वर्ष का समय लगा था। इस निवेदन में सस्कृत व्याकरण शास्त्र के निर्माता प्राचीन आचार्यों और उनकी रचनाओं का ऐतिहासिक विवेचना यही धारोबी से की गई है। इस निवेदन के एक दो महत्वपूर्ण विषयों का संकेत यहाँ हम इसन्धिय कर रहे हैं जिससे हिन्दी के पाठका को भी इस निवेदन की गम्भीरता का बोध हो जाय।

पाणिनि ने पहिले भी सस्कृत के लौकिक और वैदिक दोनों भगों पर व्याकरण बन थे। यद्यपि आज पाणिनि से पूर्ववर्ती को सुसम्बद्ध व्याकरण ग्रन्थ उपलब्ध तो नहीं है परन्तु पाणिनि व्याकरण के सावधान अनुशीलन में ही यह पता चलता है कि पाणिनि से पहिले भी व्याकरण की सत्ता थी। कुछ उदाहरणों में उक्त तथ्य की जाँच कर लेना यहाँ उपयुक्त होगा। पाणिनि सूत्र है आशिषा । इस सूत्र में तृतीया विभक्ति के एक वचन को पाणिनि ने आश कहा है। परन्तु तृतीया विभक्ति के एक वचन में पाणिनि ने 'आ' कहा अपितु टा प्रत्यय का विधान किया है। आशिषा सूत्र की व्याख्या करने हुए व्याख्याकारों का कथन है आशित टा भत्ता। अर्थात् तृतीया के एक वचन में जिस आश का उक्त सूत्र में निर्देश है वह टा प्रत्यय का ही पुत्रा नाम है। उसी को पाणिनि ने टा कर लिया। आइ प्रत्यय करने पर इ का लोप करना होता और इकार के हसन्नक हो जाने के कारण सिन्धु कायों की प्राप्ति तृतीया के एक वचन में हो जाती जो कि अपनी परिभाषाओं के अनुसार पाणिनि को अभीष्ट नहीं थी। इसीलिए उन्होंने उसे आश न कहकर टा कह दिया। परन्तु कहीं-कहीं प्राचीन व्याकरणों का संस्कार रह जाने के कारण सूत्रों में टा विभक्ति के स्थान पर आश भी उनके मुख में निकल गया। इसी प्रकार का एक सूत्र है औश आप यहाँ भी पाणिनि ने प्रथमा और द्वितीया विभक्ति के द्विवचन के प्रत्यय को औश कहा है परन्तु उनकी विभक्तियों में प्रथमा तथा द्वितीया का द्विवचन औ

तथा 'औट्' है न कि 'ओट्' । इसका भी यही समाधान व्याख्याजों में मिलता है कि प्राचीन व्याकरणों में प्रथम तथा द्वितीया विभक्ति के द्विवचन ॥ 'औट्' प्रत्यय का विधान था । द्वित् कार्य को परिवर्तित कर अपने व्याकरण में ले लिया, परन्तु सन्स्कारवश अथवा प्राचीन संज्ञाओं की रक्षा के लिए वही वही उन नामों में भी उन विभक्तियों का स्मरण उन्होंने कर दिया है । यागे विभक्तियों का अर्थ बतलाने हुए 'कर्मणि द्वितीया', 'कर्तृकरणयोस्तृतीया', कर्म में द्वितीया विभक्ति होती है, कर्ता और करण में तृतीया विभक्ति होती है, इत्यादि सूत्रों में किन्हीं अर्थों में कौन विभक्ति होती है यह तो बतलाया, परन्तु प्रथमा, द्वितीया, आदि कहने किन्हीं हैं, यह नहीं बतलाया है । सु, औ, जस् आदि तीन-तीन के प्रथम में प्रथमा, द्वितीया आदि विभक्तियों का स्वरूप सिद्ध है अत्र । उन्होंने इनके स्वरूप को बतलाने का व्यर्थ प्रयास करना उचित नहीं समझा यह समाधान करना भी अशक्य है, क्योंकि यही समाधान धातुओं से होने वाले प्रथम, मध्यम तथा उत्तम पुरुषों के विषय में भी किया जा सकता था । परन्तु वहाँ तिप् तस् पि को प्रथम पुरुष कहते हैं इत्यादि रूप से पाणिनि ने पृथक् सूत्र बना कर निर्देश किया है । इसमें भी यही निष्कर्ष निकलता है कि प्रथमा, द्वितीया आदि सनाएँ प्राचीन व्याकरणों में सुप्रसिद्ध थी अतः उनका उही रूप में पाणिनि ने ग्रहण कर लिया उनके लिए पृथक् सूत्र बनाना उचित नहीं समझा । वृद्धन् प्रत्ययों के प्रकरण में एक सूत्र है—तिनुत्रयसिसुसरकनेषु च' इन दस प्रत्ययों में 'इट्' के आगम का निषेध इस सूत्र के द्वारा किया गया है, परन्तु इस सूत्र में पठित अनेक प्रत्यय पाणिनि के द्वारा विहित नहीं हैं, इससे यही निष्कर्ष निकलता है कि दूसरे किसी व्याकरण में इन प्रत्ययों का विधान देखकर उनमें इट् का निषेध पाणिनि ने कर दिया । यदि यह कहा जाय कि ये प्रथम उणादि में पड़े हुए हैं, तो उपादि प्रत्यय भी पाणिनि विहित नहीं हैं, वह भी पाणिनि से भिन्न व्याकरण है । इसी प्रकार धातु पाठ में कृत्, स्पृम्भु स्तुम्भु आदि अनेक धातु नहीं पड़े गए हैं परन्तु सूत्रों में उनका ग्रहण हुआ है । इन धातुओं की व्याख्याकारों ने 'सौत्र धातु' यह संज्ञा दी है, जिसका आशय है कि पाणिनि के धातु पाठ में उनका उल्लेख नहीं केवल सूत्रों में ही इनका ग्रहण हुआ है । पूर्व व्याकरण में इन धातुओं का उल्लेख रहा होगा, सन्स्कारवश उनका सूत्रों में ग्रहण पाणिनि ने कर लिया, अपने धातु पाठ में उन्हें नहीं पड़ा यही यहाँ निष्कर्ष कथन करना होगा । अदादिगण में पाणिनि ने 'चर्करीत च' यह सूत्र बनाकर 'यङ्लुगन्त' प्रकरण का चर्करीत धातु से स्मरण किया है, परन्तु कहीं यङ्लुगन्त की चर्करीत वह संज्ञा उन्होंने नहीं की । प्राचीन व्याकरणों में

णिजन्त प्रकरण को 'कारित', सञ्जन प्रकरण को 'विकीर्णित', यङन्त को 'चित्रीन' और यङुङ्गन्त प्रकरण को 'चर्करीत' कहा गया था। निरुक्त में भी इन प्रकरणों का व्यवहार इन्हीं नामों में प्राप्त होता है। इन प्राचीन व्याकरणों के संस्कार में ही पाणिनि ने बिना सज्ञा विधान बिये ही चर्करीत आदि प्राचीन व्याकरणों में प्रसिद्ध सज्ञाओं का उपयोग कर लिया।

पाणिनि सूत्रों में पूर्व मतों का खण्डन भी देखा जाता है—

"प्रधानप्रत्ययार्थवचनमर्थस्यान्यप्रमाणत्वात्"

"कालोपसर्जने च मुख्यम्"

यहाँ पूर्व सूत्र में तो प्रकृति और प्रत्यय के अर्थों में प्रत्यय के अर्थ की प्रमानता के लिए पृथक् वचन की आवश्यकता नहीं है क्योंकि प्रत्ययार्थ की प्रधानता स्वतः सिद्ध है यह बात बतलाई गई है, दूसरे सूत्र के द्वारा यह बात बतलाई गई है कि अनपठन आदि काल का विवरण करने के लिए भी स्वतन्त्र वचन विन्यास की कोई आवश्यकता नहीं है। यहाँ भी यह प्रश्न उठता है कि जिन वचनों की आवश्यकता का खण्डन उपर्युक्त पाणिनि सूत्रों में प्राप्त होता है उन वचनों की आवश्यकता का प्रतिपादन भी तो कहीं होना चाहिये, तभी तो उनका खण्डन उपयुक्त हो सकता है। इस प्रकार के वचनों की आवश्यकता का प्रतिपादन प्राचीन व्याकरणों में पाणिनि ने अवश्य देखा होगा, तभी उसका खण्डन करने के लिए उन्हें सूत्र बनाने की आवश्यकता हुई। इसी प्रकार पाणिनि ने 'लुपि युक्तवद् व्यक्तिवचने' इस सूत्र से लिंग वचन का विधान किया है परन्तु भागे चलकर—'तदशिष्य सज्ञाप्रमाणत्वात्' इस सूत्र से उस बात का स्वयं खण्डन भी कर दिया। पहिले स्वयं ही उस बात को कहना और आगे स्वयं उसका खण्डन कर देना इस बात का ही साक्षी है कि पूर्व व्याकरणों के संस्कार में पहिले उन्होंने सूत्र की आवश्यकता का अनुभव करते हुए सूत्र बना दिया, परन्तु भागे चलकर उन्हें उसकी आवश्यकता प्रतीत नहीं हुई। अतः उसका स्वयं खण्डन भी कर दिया।

इस प्रकार पाणिनि के पूर्व भी व्याकरण की सत्ता थी इस बात की साक्षी भावान् पाणिनि ही देने हैं।

भाष्यकार का साक्ष्य

इनके उपरान्त भाष्यकार ने भी अनेक स्थलों पर ऐन संकेत किये हैं जिनसे पाणिनि से पूर्व व्याकरण की सत्ता थी यह स्वीकार करने में सन्देह के लिये कोई स्थान नहीं रह जाता। भाष्यकार ने 'देभ्यु' 'सस्वजे' आदि ऐसे अनेक उदा-

हरण दिये हैं, जो पाणिनि सूत्रों के आधार पर सिद्ध नहीं किये जा सकते। मूल धातु 'दध्म' और 'स्वज' है। यहाँ मकार और यकार का लोप किये बिना 'दमनु' और 'सम्बजे' ये प्रयोग लिट् लकार में सिद्ध नहीं किये जा सकते। यहाँ भाष्यकार ने इन प्रयोगों को सिद्ध करने के लिए अन्य व्याकरण के नियम का ही आश्रय लिया है, यही समाधान भट्टोजिदीक्षित ने भी किया है। एक सूत्र के भाष्य में 'उन सूत्र को भारद्वाज के अनुयायी दूसरे प्रकार में पढ़ते हैं' ऐसा कह कर भाष्यकार ने स्पष्ट ही भारद्वाजीय व्याकरण की सत्ता स्वीकार की है। 'पृषोदरादीनि ययोपट्टिम्' सूत्र के भाष्य में महर्षि पतञ्जलि कहते हैं—

नाम च धातुजमाह निश्क्ते
व्याकरणे शकटस्य च लोकम्

महा 'शकट लोक' अर्थात् शाकटायन व्याकरण की सत्ता को स्पष्ट ही भाष्यकार ने पाणिनि के पूर्व माना है। वर्तमान में शाकटायन व्याकरण के नाम में जो व्याकरण ग्रन्थ मुद्रित रूप में उपलब्ध होता है, वह शाकटायन व्याकरण पाणिनि से पूर्व का नहीं है। शाकटायन स्फोटायन आदि अनेक आचार्यों के नाम पाणिनि के सूत्रों में भी उपलब्ध होते हैं। अतः शाकटायन व्याकरण पाणिनि के पहिले विद्यमान था इसमें तो कोई सन्देह नहीं रह जाता। इसके अतिरिक्त महर्षि पतञ्जलि ने पाणिनि के अक्षरों से बहुत सी परिभाषाएँ निकाली हैं जिनकी सहायता के बिना पाणिनि सूत्रों से शब्द सिद्धि का पूर्ण निर्वाह नहीं होता। उन परिभाषाओं को महामाष्य से संगृहीत कर के नागेश भट्ट ने 'परिभाषेन्दुशेखर' नाम के स्वतन्त्र ग्रन्थ की रचना की है। नागेश भट्ट ने यह भी स्पष्ट कर दिया है कि ये परिभाषाएँ पाणिनि से पूर्व भी वाचनिक रूप में प्रचलित थीं और प्राचीन व्याकरणों में शब्द सिद्धि में इनका आश्रय दिया था।

यहाँ तक पाणिनि व्याकरण के आधार पर दिखाया गया कि पाणिनि के पूर्व भी शब्दों को सिद्ध करने के लिए व्याकरण का प्रणयन अवश्य हुआ था। अब आगे अन्य शास्त्रों में भी पाणिनि के पूर्व व्याकरण की सत्ता थी इसके संकेत प्राप्त होते हैं उनका भी कुछ दिग्दर्शन कराया जाता है। पाणिनि का एक सूत्र है—

'पाराशर्यशिक्षाभिन्वा भिभुनटसूत्रयो.'

इस सूत्र के पर्यालोचन से यह स्पष्ट हो जाता है कि पाराशर के बनाए हुए भिभु सूत्रों को पाणिनि ने देखा था। भिभु सूत्र वेदव्यास के बनाए हुए वेदान्त सूत्र ही हैं, भिदा से निर्वाह करने वाले सन्यासियों में अधिक प्रसिद्धि

होने के कारण उनका नाम भिद्यु सूत्र ही प्राचीनकाल में प्रसिद्ध था। ये भिद्यु सूत्र या वेदान्त सूत्र समस्त दर्शनों के सूत्र ग्रन्थों में कालक्रम में अन्तिम हैं, अन्य दर्शन सूत्रों का प्रणयन काल इनके पूर्व का है क्योंकि इन भिद्यु सूत्रों में अन्य दार्शनिक सूत्र ग्रन्थों में आये हुए मता का खण्डन मिलता है। इससे सिद्ध हुआ कि दर्शनों के सभी सूत्र ग्रन्थ पाणिनि से प्राचीन हैं। उनमें से न्याय सूत्रों में व्याकरण सम्बन्धी विचार देखने को मिलता है। एक न्याय सूत्र है—

‘विकारादेशोपदेशात् सद्ये’ । (अ० २ पा० २ ।)

इस सूत्र में शब्द नित्य है या अनित्य इस विषय पर न्याय सूत्रकार भगवान् गौतम ने विचार किया है। इस सूत्र के द्वारा उन्होंने यह भाव्य अभिव्यक्त किया है कि कुछ वैयाकरण द्वादशों में विकार मानते हैं अर्थात् एक वर्ण विकृत होकर अन्य वर्ण का रूप ले लेता है। अन्य वैयाकरण ऐसा नहीं मानते वे कहते हैं कि वर्ण विकृत नहीं होने अपितु एक वर्ण के स्थान पर दूसरे वर्ण का आदेश हो जाता है। इन दोनों मतों में से कौन सा सत्य वास्तविक है यह विचार न्याय सूत्रों में किया गया है। गौतम ने दोनों मतों में विचार करते हुए यही अपना सिद्धान्त स्थिर किया है कि एक वर्ण को दूसरा वर्ण आदिष्ट हो जाता है। वर्णों में विकार या आदेश होकर अन्य वर्ण बन जाना यह दर्शन का नहीं अपितु व्याकरण का ही विषय है। अतः न्याय सूत्रकार महर्षि गौतम व्याकरण के मतों से परिचित थे जो कि उनके पूर्व व्याकरण की सत्ता होने का प्रमाण है। जो व्याकरण गौतम के पूर्व या उनके समय में रहे होंगे उनका पाणिनि से पूर्व होना तो स्वयं सिद्ध ही है। एक बात और है कि न्याय सूत्रों में आदेश बाद और विकार बाद का उपलेश किया गया है। उनमें से पाणिनि उपदेशवादी हैं अर्थात् पाणिनि के मत में एक वर्ण को दूसरे वर्ण का आदेश किया जाता है। अतः विकार बाद पाणिनि से भिन्न है जिसके अनुसार भी व्याकरण ग्रन्थों का निर्माण उस समय हुआ था यह न्याय सूत्रों की साक्षि न सिद्ध हो जाता है।

वाल्मीकिरामायण में हनुमान् जी से जब रामचन्द्र भगवान् का प्रथम साक्षात्कार और वार्तालाप हुआ उस समय रामचन्द्र ने लक्ष्मण से हनुमान् की भाषा का प्रशंसा करते हुए कहा कि—

“नूनं व्याकरणं कृत्स्नमनेन बहुधा श्रुतम् ।

बहु व्याहरताग्नेन न किंचिदपभाषितम् ॥”

अर्थात् निश्चय ही इसने सम्पूर्ण व्याकरण अनेक बार सुना है क्योंकि बहुत

बोलने पर भी इसने एक भी असुद्ध शब्द का उच्चारण नहीं किया। वाल्मीकि-रामायण में व्याकरण के नाम ग्रहण में व्याकरण शास्त्र के पाणिनि से प्राचीन होने में कोई सन्देह नहीं रह जाता क्योंकि वाल्मीकिरामायण पाणिनि से पहिले का है इसमें किसी इतिहासज्ञ विद्वान को कोई विप्रतिपत्ति नहीं हो सकती। इन सब बातों से पाणिनि के पहिले भी संस्कृत भाषा के व्याकरण बने थे यह तो सिद्ध है, परन्तु उपलब्ध व्याकरण ग्रन्थों में पाणिनि से पूर्व का कोई भी नहीं है। पाणिनिन पूर्ववर्ती व्याकरणों का सार उग्रह करके वैज्ञानिक पद्धति में व्याकरण शास्त्र का सम्पूर्ण गठन जब कर दिया तो अन्य अपूर्ण व्याकरण ग्रन्थों की उपयोगिता समाप्त हो जाने के कारण उनका व्यवहार नहीं रहा, फलतः आज व व्याकरण ग्रन्थ हमें देखने को उपलब्ध नहीं हैं। पाणिनि व्याकरण ही सम्पूर्ण शास्त्र के साधुत्व को जानने का आज मुख्य साधन हमारे पास है जो कि अक्षम है। इसी की कृपा से आज भी संस्कृत भाषा सम्यक् योग्य भाषा बनी हुई है यह कहने में किसी को कुछ भी संकोच नहीं हो सकता।

व्याकरण निर्माताओं के लिए छिष्ट लोगो में एक श्लोक प्रसिद्ध है—

“इन्द्रचन्द्र वासकृत्स्नापिशली शाकटायन ।

पाणिन्यमरजैनेन्द्रा जयन्त्यष्टादिशान्दिका ॥”

इसमें १ इन्द्र २ चन्द्र ३ वासकृत्स्न ४ आपिशली ५ शाकटायन ६ पाणिनि ७ अमर और ८ जैनेन्द्र इन आठ शाब्दिकों की चर्चा की गई है।

श्री सत्यव्रत सामन्तरी ने अपन निरुक्तालोचन में यह सिद्ध करने का प्रयास किया है कि पाणिनि ने पहिले किसी व्याकरण की रचना नहीं हुई थी। उपर्युक्त श्लोक में जो नाम पाणिनि के पहिले आए हैं उनके व्याकरण कर्तृत्व को हटाने के लिए यह पुक्ति दी गई है कि उक्त पथ में निर्दिष्ट आठ व्यक्ति शाब्दिक हैं, न कि व्याकरण निर्माता या व्याकरण। शाब्दिकत्व तो शब्दशास्त्र में प्रौढ़ होने पर, शब्दशास्त्र में पारंगत होने पर, तथा शब्दशास्त्र का प्रचारक होने पर तथा इसी प्रकार के अन्य अनेक प्रकारों से सिद्ध हो सकता है। शब्दशास्त्र पद से केवल व्याकरण का ही नहीं अपितु कोश, शीमासा आदि का भी ग्रहण होता है। व्याकरण के समान ही कोशों में भी शब्द विपरिणी शीमासा होती है एकायक शब्दों का संकलन होना है, इसी प्रकार शीमासा शास्त्र में वैदिक शब्दों की व्याख्या की जाती है। संस्कृत के विशिष्ट विद्वानों की एक पुरातन उपाधि है—‘पद वाक्य प्रमाण-पारावारीण’। इसमें ‘पद’ से व्याकरण लिया जाता है, इनमें ‘पारावारीण’ अर्थात् पूर्ण प्रवीण होना उन विद्वानों

की विशेषता होती थी। शब्द शास्त्र में 'पद' और वाक्य दोमोका समावेश हो जाता है अतः शब्द शास्त्र से मीमांसा का भी ग्रहण परम्परा सिद्ध है। अतः आठ शास्त्रिकों में केवल व्याकरण निर्माता ही सब नहीं हैं अपितु कुछ कोश निर्माता भी हैं तथा कुछ मीमांसा मनीषि भी हैं।

उपर्युक्त पद्य में व्याकरण निर्माताओं की सूचि में सबसे पहिले इन्द्र का नाम आता है। आठ शास्त्रिकों में आदि में पठित नामों वाले आचार्यों के कोई ग्रन्थ उपलब्ध नहीं होते। परन्तु अनेक ग्रंथों में उनके उल्लेख से यह प्रकट होता है कि उन्होंने विविष्ट ग्रन्थों की रचना की थी जो आगे चलकर विद्रुप्त हो गये। 'चन्द्र' के विषय में राजतरंगिणी में लिखा है कि—

चन्द्राचार्यादिभिर्लब्धवादेशः स्मृतस्तदगमम् ।

प्रवर्तितं महाभाष्यं स्य च व्याकरणं कृतम् ।

वैयाकरणों में चान्द्रदौर्गादि नामों में प्राचीन महावैयाकरण विद्वान् प्रसिद्ध थे उन चन्द्राचार्य की दक्षिण के किसी स्थान पर महाभाष्य की कोई जोड़ पुस्तक उपलब्ध हुई जिसे वे अभिमन्यु के राज्यकाल में काश्मीर से गए और उन्होंने उसके आधार पर अपना व्याकरण भी बनाया। परन्तु इसी प्रकार की साक्ष्य से चन्द्र के व्याकरण का अनुमान होना है। कोई ग्रन्थ उनका उपलब्ध नहीं। काशचूरण तो मीमांसक थे, अतः उनकी बनाई हुई मीमांसा का नाम 'काशचूटकी' हुआ। 'आविर्भाव' का उल्लेख स्वयं पाणिनि ने 'शामुप्यापिशले' (६।१।९२) सूत्र में किया है, अतः स्पष्ट है कि प्राचीन वैयाकरणों में उनके मत का आदर था। परन्तु 'इन्द्र' नामक किसी विद्वान् ने कोई व्याकरण बनाया, यह बात तो प्रमाणों के अभाव में सन्देह शोलाधिकृत ही है।

श्री सामभूमि जी ने निरुक्तालोचन में यह विचार प्रकट किया है कि इन्द्र के विषय में महाभाष्य के पश्यशान्दिक ॥ एक आख्यायिका आयी है—

एव हि श्रूयते बृहस्पतिरिन्द्राय

दिव्यं वर्षसहस्रं प्रतिपदान्नानां शब्दानां

शब्दपारायणं प्रोवाच नान्तं जयाम् । बृहस्पतिश्च

प्रवत्ता, इन्द्रश्चाध्येता, दिव्यं वर्षसहस्रमध्ययनकालं,

तथापि नान्तं जयाम् । किं पुनरुत्तरे ॥ सर्वथा चिर

जीवति स वर्षं चत जीवति-इत्यादि

(पश्यशान्दिक)

अर्थात् शब्दशास्त्र का अध्ययन करने के लिए सारे शब्दों का प्रतिशब्द पारायण करना तो असम्भव है। यह सुना जाता है कि बृहस्पति ने इन्द्र को एक सहस्र दिव्य वर्षों तक प्रत्येक शब्द का पारायण कर अध्यापन कराया, परन्तु वे शब्दों का अन्त न पा सके। बृहस्पति जैसे प्रवक्ता तथा इन्द्र जैसा श्रवणशील भी जब दिव्य सहस्र वर्षों तक अध्ययन करके शब्दों का अन्त न पा सका तो आज अधिक-से-अधिक सी वर्ष तक जीवित रहने वाले लोगों में कोई शब्दों का अन्त पालेगा इसकी आशा तो सर्वथा दुराशा मात्र है। महाभाष्य में समुद्रमंथन नाम आख्यायिका से श्री सामभ्रमो जो ने यह तात्पर्य निकाला है कि इन्द्र ने बृहस्पति ने शब्दों का पारायणरूप अध्ययन किया था। तथा जिस प्रकार का अध्ययन किया था उसी प्रकार की अन्य रचना भी की होगी। इससे यही सिद्ध होता है कि इन्द्र ने किसी विशाल शब्द कोश की रचना की थी।

वास्तव में वेदों पर विवेचनात्मक दृष्टि डालने से यह बात स्पष्ट होती है कि यह इन्द्र अनेक प्रकार का है। वेदों में देव भी अनेक प्रकार के बतलाए गए हैं, तथा देव विशेष इन्द्र आदि भी अनेक प्रकार से व्याख्यात हुए हैं। एक प्रकार के इन्द्रादि देवता वे हैं जिनके शरीर आदि नहीं होते, जो सारे जगत् के निर्माता हैं तथा जो प्राण विशेष रूप हैं। तारामण्डल में भी इन्द्रादि नामों वाले विशेष नक्षत्र हैं, उदाहरणार्थ चित्रा नक्षत्र का अधिपति इन्द्र है, रेवती नक्षत्र का अधिपति पूषा है पुष्य का अधिपति बृहस्पति है। द्युलोक में रहने वाले शरीरधारी भी देवता हैं जो कि—

‘अष्टदिकल्पो दैवस्तैर्यग्योनश्च पञ्चाशद्वति मानुष्यश्चैकविधः’ इत्यादि सांख्यदर्शन की कारिका में सत्त्व बहुल सत्य के रूप में व्याख्यात हुए हैं। हमारी भूमि पर भी देवलोक की कल्पना की गई थी जो हिमालय के उत्तरी भाग में था। उसमें भी इन्द्रादि सभी देवताओं की प्रतिष्ठा थी तथा उन्हीं के पास जाकर अर्जुन का विद्याग्रहण तथा दशरथ दुष्यन्त आदि का युद्ध में सहायता करने जाना आदि इसी लोक की बातें हैं। महाभाष्य में इन्द्र और बृहस्पति विषयक जिस आख्यायिका का उल्लेख हुआ है वह घटना भूषण्डवासी इन्द्र के विषय में सम्पन्न हो सकती है, वह इन्द्र जो प्राण विशेष रूप है वह भी व्याकरण कर्ता है यह बात श्रुति से स्पष्ट होती है। तैत्तिरीय संहिता में कहा गया है कि—

‘वाग्वै पराच्यव्याकृता अवदत् । ते देवा इन्द्रमब्रुवन्, इमा नो वाच व्याकुश इति । सोऽब्रवीत्—वर वृणै, मयै चैवैष वायव च सह गृह्णाताविति । तस्मादैन्द्र वायव सह गृह्येते । तामिन्द्रो मध्यत अवक्रम्य व्याकरोत् । तस्मादिय व्याकृता वागुद्यते ।’ (इति तैत्तिरीय पष्ठकाण्डम्)

इसका तात्पर्य यह है कि वाणी के विषय में जो व्यवहृत अव्याकृत व्याकरण अव्याकरण मस्कृत असस्कृत, विभक्त अविभक्त आदि शब्द आते हैं उनसे एक प्राकृतिक घटना का संकेत मिलता है और उस घटना को समय बिना उपयुक्त धृति के द्वारा बनसाया हुआ इन्द्र का व्याकरण समझ में ठीक में नहीं आता। संसार में हम देखते हैं कि मनुष्य आदि को छोड़कर पशु पक्षि आदि की बोली में उनके उच्चारण में किसी प्रकार का पञ्च वाक्यादि विभाग नहीं होता। हम इस बात का अनुभव नहीं कर सकते कि पशु पक्षि आदि की बोली में किसी प्रकार के शब्दों का क्लृप्ति या इसी प्रकार का कोई विभाग है। वह एक निश्चित स्वर से बालता है कभी-कभी अपनी शक्ति से उस स्वर को ऊँचा नीचा मान करता है।

कोयल आदि पक्षियों की बोली में भी एक निश्चित स्वर सन्निवृत्त होता है जो सुनने में बड़ा मीठा होता है। परन्तु वहाँ भी उनकी बोली में किसी प्रकार का स्पष्ट विभाग नहीं है यह अनुभव में नहीं आता। कुछ पशु पक्षियों को गिना देकर मनुष्य के समान बोलने की जो शक्ति प्राप्त हो जाती है उसके कारण का संकेत अभी हम इन्द्र की विवेचना में करेंगे। परन्तु साधारणतः यह निर्विवाद है कि पशु पक्षियों की वाणी में पद आदि का विभाग नहीं होता। यही बात वास्तविकता में मानव के साथ भी है क्योंकि उत्पन्न होने के प्रायः ११ वर्ष बाद ही बालक कुछ विभक्त उच्चारण कर पाता है। प्रारम्भ में उसकी वाणी अविभक्त या अव्याकृत ही रहती है। कानानुसार ज्ञान का अधिष्ठान प्राण विनोद रूप इन्द्र गरीर में अस्पष्ट या अव्याकृत रूप से संचरण करने वाली वाणी के माध्यम प्रवेश करके उसको व्याकृत कर देता है अर्थात् मानव शरीर में पञ्च वाक्यादि विभक्त उच्चारण की क्षमता प्रदान करता है। मानव गरीर के संरचना में इन्द्र प्राण पूर्ण विकास को प्राप्त कर लेता है अतः सभी मानवों की वाणी में पञ्च वाक्यादि के विभक्त उच्चारण की क्षमता होती है। यह इन्द्र प्राण ज्ञान रूप है, अतः यह भी समझना आवश्यक होगा कि वाणी का वह विभाग बुद्धि पूर्वक किया हुआ है। पञ्चपक्षी आदि में बुद्धि की न्यूनता होने के कारण ही इन्द्र प्राण का विकास नहीं होता, प्रयत्न पूर्वक शिक्षा आदि के द्वारा जब पशु-पक्षियों में भी किसी-किसी में इन्द्र प्राण का विकास होता है तब वही मानव के समान वाणी बोलने लगते हैं। इसके विपरीत विकास के अनुरूप परिस्थिति के अभाव में जब मानवीय इन्द्र प्राण का विकास नहीं होता तब वह भी गुमा ही रह जाता है विभक्त उच्चारण नहीं कर पाता। यही इन्द्र के द्वारा किया गया वाणी का व्याकरण या विभाग

है। इसीलिए हमारे छात्रों में परा, पश्यन्ती, मध्यमा और वैखरी नाम के वाणी के चार भेदों का निरूपण होता है। इनमें परा वाक् तो परम शक्ति स्वरूपा है, उसका स्वरूप न मन में आ सकता है और न ही वाणी का विषय बन सकता है वह तो योगियों के द्वारा निर्विकल्पक समाधि में ही गृहीत हो सकती है, इसमें उपलब्ध होने वाली पश्यन्ती में भी शब्द और अर्थ का विभाग न होने में वह सम्मुखज्ञानरूपिणी मानी गई है क्योंकि मनुष्यों को उसका स्पष्टपथा प्रत्यक्ष ज्ञान नहीं हो सकता। मध्यमा वाणी में शब्द और अर्थ का विभाग तो हो जाता है, परन्तु मध्यमा वाणी में होने वाला विभाग केवल मन के ही द्वारा गृहीत हो सकता है। वह किसी दूसरे पुरुष पर प्रकट नहीं किया जा सकता। चौथी वाणी जो कण्ठ सात्त्वाद्यभिवात से उत्पन्न है वह वैखरी कहलाती है तथा उसे सभी समझ सकते हैं। इसी बात की श्रुति ने इस प्रकार कहा है—

चत्वारि वाक् परिमिता पदानि तानि विदुर्बाह्या ये
मनीषिण गुहा त्रीणि निहितानेव गन्ति तुरीम वाचो
मनुष्या वदन्ति

यह मात्र निगमश्रव्य है, अर्थात् इन मन्त्र की विविध व्याख्याएँ समुपलब्ध होती हैं। महाभाष्य में नाम आख्यात उपसर्ग निपान इन चार शब्द भेदों पर इसे घटाया गया है। कहीं पर इसकी यह भी व्याख्या मिलती है, कि वाणी के एक एक भाग पशु पक्षी और सरीसृपों में है तथा चौथा भाग मनुष्यों में है। परन्तु इस मात्र को परा पश्यन्ती आदि पर लगाने से यह स्पष्ट समझ में आ जाता है, क्योंकि 'तुरीम वाचो मनुष्या वदन्ति' अर्थात् चौथी वैखरी वाणी मनुष्यों के व्यवहार में आती है। इसमें यह स्पष्ट है कि पश्यन्ती और मध्यमा से वह वैखरी वाणी अधिक स्पष्ट अर्थबोध की क्षमता रखती है। बाणी का व्यवहार ज्ञानपूर्वक होता है तथा ज्ञान का मूल इन्द्र प्राण है, अतएव इस वैज्ञानिक रहस्य का अनुसंधान करने पर इन्द्र के द्वारा वाणी का व्याकरण करना और उसकी व्याकरण निर्माताओं में प्रथम गणना युक्ति युक्त है।

य कुछ निदर्शन इस निबन्ध ग्रन्थ के हैं। ऐसे अनेक ऐतिहासिक तथा वैज्ञानिक विषय इसमें आए हैं, जो पाठकों की उत्कृष्टा सम्मूर्ति के प्रति उत्पन्न करेंगे। इस प्रबन्ध की सर्वोपरि विशेषता यह समझने में है कि आधुनिक ऐतिहासिक विद्वानों की सारगर्भित स्थापनाओं को भी किस प्रकार निस्सार ठहराया जा सकता है, यदि उनकी उत्तिया में प्रमाणा का अभाव हो। वह भी एक विशुद्ध संस्कृत

विद्वान् के द्वारा, उस पर भी संस्कृत भाषा में। संस्कृत में ऐतिहासिक गवेषणा के इस प्रकार के दो सफल प्रयास पहिले भी हा चुके हैं जिन के विषयो का कुछ विवरण पाठकों को प्रस्तुत निबन्ध में भी प्राप्त होगा। वे कृतियाँ हैं, मत्स्यवंतसामयमी जी के ऐतरेयालोचन तथा निरुक्तालोचन और म० म० प० त्रिवेदतन्त्राश्री दाधिमय महोदयका त्रिमुनि कल्प तरु'। इन दोनों ही पुस्तकों का सम्बद्ध विषयो की आलोचना इस निबन्ध में है। संस्कृत में लिखी गई ऐतिहासिक आलोचनाएँ में पुरातनानि व्याकरणानि व्याकरणशब्द प्रयोग का स्थान निर्धारित करना सम्मान्य विद्वानों का कार्य है। जैसा कि पहिले कहा जा चुका है इस प्रबंध को पूरा करने में पिताजी को प्रायः दो वर्ष लग गए थे और इसी विलम्ब के कारण महाभाष्य नवद्वितीय का प्रकाशन रुका रहा। प्रकाशक महोदय का भी धैर्य जब जबाब देने लगा तो पिताजी ने उनसे कहा कि यदि आपको छापने की गीघ्रता हो तो मैं इसे सामान्य विषयो से ही पूरा कर दूँ। परन्तु यदि आप मुझसे कोई महत्त्वपूर्ण वस्तु लिखाना चाहें तब तो आप को कुछ प्रीत्या करनी ही होगी। पिताजी उन दिनों बहुत कार्य व्यस्त रहा करते थे।

प्रायः दानी तथा बाहर की समाजा में समा समीक्षक गण इनके व्याख्यानो के लिए आकृष्ट रहते थे और आपको उनकी अभिरक्षा पूर्ति के लिए समाजों में भी बराबर जाना होता था। मुझ सम्बन्ध तो स्मरण नहीं परन्तु सहज नही तो अनेक बात समाजों में मैं भी पिताजी के साथ रहा। इस व्यस्तता का साथ किसी प्रौढ़ रचना का भार वहन करने में विलम्ब तो अनिवार्य ही हो जाता है।

मैं उन दिनों देखा करता था कि निरुक्तालोचन, भाष्य, प्रातिगम्य आदि अनेक पुस्तकें सगर में भी उनके साथ ही रखी जाती थीं अवसर मिलते ही उन कार्य को वे थोड़ा बहुत आगे बढ़ा ही देते थे। ऐसा भी मैंने देखा कि कभी-कई महीने आप कुछ भी नहीं लिखते थे परन्तु पुस्तकों का अवलोकन और उनके मोटम तन्त्र का कार्य अत्रादि के जिनों के अतिरिक्त गायब ही बनी रहता हो। प्रकाशक महोदयन भी इसपर प्रसन्नता व्यक्त करते हुए यही नहीं कि वस्तु रोज राज नहीं बना करती। जो कुछ आप इसमें लिख देना चाहते हैं वह अवश्य लिख दें, हम उसके लिए दस वर्ष भी प्रतीक्षा करने को प्रस्तुत हैं। अस्तु

इनके आगे के समग्रालेख वर्ष में चार लघु पुस्तकें सम्बन्धित हैं। पिताजी का इनके लिखन के समय इनको पूरी पुस्तक के रूप में ही प्रस्तुत करने का

विचार या जैसा कि इन विषयों पर उनके द्वारा सकलित नोट्स से पता चलता है और जैसा कि उन्होंने कई बार कहा है। ये सभी लेख 'संस्कृत रत्नाकर' में क्रमशः मुद्रित हुए हैं। केवल 'स्पर्शादौ शास्त्रीया व्यवस्था' शीर्षक लेख हस्तलिखित रूप में प्राप्त हुआ है। वह हमें कहीं मुद्रित रूप में प्राप्त नहीं हुआ।

जहाँ तक इन लेखों की विषय-वस्तु का प्रश्न है उसके विषय में लेखक के विचार सर्वोद्दिष्ट हैं। इस विषय में वर्तमान समाज सुधारक विचारों से उनका किसी प्रकार का समझौता सम्भव नहीं। उनका अपना दैनिक क्रिया-कलाप इन्हीं प्राचीन शास्त्रीय आदर्शों पर आधारित है। रचनावली के द्वितीय भाग की भूमिका में जीवन यात्रा के विवरण में हम ऐसी कुछ घटनाओं का उल्लेख करेंगे जब कि अपनी सुदृढ़ आदर्शप्रियता के कारण उन्हें विपत्तियों का मुकाबला करना पड़ा और मुसीबतें झेलनी पड़ी। इसी सुदृढ़ आदर्शप्रियता और तदनुकूल दृढ़ आचरण के कारण धार्मिक जगत उन्हें 'ऋषि' के रूप में पहचानता है।

प्रस्तुत निबन्धों की विषय-वस्तु में सम्बद्ध एक बड़ी विशेषता यह है कि इन निबन्धों में वेदों और स्मृतिवचनों के तात्पर्यायों पर जो अनेक विभिन्नताएँ आपाततः प्रतीत होती हैं और जिनके आधार पर सुधारवादी दृष्टिकोण भी उन्हें अपने पक्ष में सुसंगत दिखाने की चेष्टा करता है, ऐसे अनेक स्थानों का पूर्ण ऊद्घाटन के साथ इन निबन्धों में विश्लेषण पढ़ने को मिलता है। 'बाद बादे जायते तत्-बोध' इस उक्ति के अनुसार धृति-स्मृति वचनों के अभिप्राय तक पहुँचने की परिपाटी का अवबोध इन निबन्धों से भली भाँति होना है। हिन्दी में भी इस विषय से सम्बद्ध अनेक पिनाजी के लेख हमारे पास सङ्गृहीत हैं, वे भी मघाशील पुस्तक के रूप में पाठकों को समर्पित किये जायेंगे।

इस खण्ड का अन्तिम लेख 'पितृविवेक' अपूर्ण है। वैसे अपूर्ण तो अन्य लेख भी हैं, परन्तु इस लेख में केवल पूर्वपक्षों का ही सकलन हुआ है, जिससे पाठकों को कुछ भ्रम हो जाना की आशंका बनी रह जाने का सन्देह होता है। पिनाजी ने पहिले तो इसको सङ्कलित करने का निषेध कर दिया था, परन्तु भाषा-छान्दस्य और युक्तिया की प्रवचना को देखते हुए इसको सकलित करने के जोश का संवरण न हो सका और एक सूचनात्मक टिप्पणी के साथ इस लेख के सङ्कलन की हमने स्वीकृति प्राप्त कर ली। चतुर्थ 'काव्यसाहित्यखण्ड' में क्रमशः 'रघुवश महाकाव्य' के द्वितीय और त्रयोदश, कुमारसम्भव महाकाव्य के प्रथम और

पंचम, किराताजुनीय' महाकाव्य के द्वितीय और एकादश तथा 'शिशुपालवध' महाकाव्य के प्रथम और द्वितीय सर्गों का भार स्वतंत्र सरल संस्कृत में दिया गया है। यह भाग पिताजी के द्वारा व्याख्यात और सम्पादित 'महाकाव्यसंग्रह' नामक पुस्तक का अंश है। इस अंश की रोचकता का अनुभव पाठकों को इनके पढ़ने पर स्वतः होगा। पुस्तक के मुद्रण काल में सम्मान्य प० श्री मधुसूदन जी शास्त्री (अध्यक्ष साहित्य विभाग, काशी हिन्दू विश्वविद्यालय) तथा सम्मान्य प० श्री रामकुवेर जी मालवीय (अध्यक्ष, साहित्य विभाग, वाराणसी संस्कृत विश्वविद्यालय) ने इस अंश को पुस्तक में संकल्पित करने का परामर्श दिया। उक्त परामर्श के लिए हम दोनों विद्वानों को आभारी हैं।

अन्तिम निबन्ध कवि और काव्य शब्दों के अर्थान्वेषणपूर्वक संस्कृत काव्य सम्बन्धी अनेक महत्त्वपूर्ण विषयों से युक्त है। यह निबन्ध पूज्य स्वर्गीय कविशिरोमणि भट्ट श्री मयुरानाथ शास्त्री जी के द्वारा लिखित काव्य ग्रन्थ 'जयपुरवैभवम्' की भूमिका के रूप में प्रकाशित हो चुका है। स्वर्गीय भट्टजी पिताजी के सहाय्याधी और सहयोगी थे। उनके कुछ अन्य ग्रन्थों पर भी पिताजी ने भूमिकाएँ लिखी थीं।

इस प्रकार प्रस्तुत ग्रन्थ का यह सन्निवृत्त विवरण पाठकों की सेवा में प्रस्तुत किया गया है।

इस कार्य में हम जिन विद्वानों ने सत्यपरामर्श देकर अनुगृहीत किया है उनके प्रति हम हार्दिक आभार प्रकट करते हैं। इस सन्दर्भ में कुछ और भी स्मरणीय महानुभाव हैं जिनकी कृपावाट दना हमारा कर्तव्य है। वे हैं—स्व० प० श्री रघुराज जी चक्रवर्ती, श्री प० रामाधीन जी चक्रवर्ती, डा० श्री गजानन शास्त्री मुसुन्नामकर, श्री प० गोपालचन्द्र जी मिश्र, श्री प० रतिनाथ जी झा, श्रीयुग जनार्दनस्वरूप जी अग्रवाल, श्री प० जगदीशचन्द्र जी शास्त्री, श्री प० दुर्गादत्त जी मैथिल, श्री प० भवदत्त जी मैथिल, श्री युग डा० भंडन मिश्र जी, स्वामी श्री कानव पुरी तथा मेरे ज्येष्ठ भ्राता श्री दवीदत्त जी चतुर्वेदी। उक्त महानुभावों में मैंने समय-समय पर परामर्श लिया और अपने उपयुक्त विचारों से उन्होंने हमें अनुगृहीत किया।

प्रस्तुत ग्रन्थ के सम्पादन में पूज्य पिता जी के द्वारा किये गए परिश्रम का विषय में कुछ भी लिखना हमारे सामर्थ्य से बाहर है, वे हमारी विनीत वन्दनाओं को निरन्तर ग्रहण करते रहे यही हमारी भगवान् विश्वनाथ के चरणों में भाव भरी प्रार्थना है। मेरे छात्र श्री रामप्रसाद त्रिपाठी,

श्री गोपराजुराम तथा श्री जयशंकर बाजपेयी ने प्रेस कापी बनाने में सहयोग दिया तदर्थ मैं उन्हें शुभाशीर्वाद देता हूँ। प्रस्तुत पुस्तक को प्रकाशित कराने, सामग्री सफल करने, तथा संपादन कार्य में भी मेरी ही तरह मेरे भ्रातृज आयुमान् श्री ईश्वरप्रसाद शर्मा चतुर्वेदी एम० ए० ने रुचिपूर्वक परिश्रम किया है उन्हें मैं हार्दिक आशीर्वाद देता हूँ। चौखम्बा संस्कृत सीरीज के उद्योगमान् मन्नालक श्री मोहनदाम जो गुप्त तथा उनके सम्पादक मङ्गल के सदस्य विरोध धन्यवाद के पात्र हैं जिन्होंने पुस्तक को सर्वाङ्ग सुन्दर बनाने में पूर्ण तल्लीनता दिखाई और साहित्य जगत् को एक सुन्दर कृति भेंट करने के लिये हमें सुखवसर दिया।

आशा है पिता जी की अन्य कृतियों की भाँति प्रस्तुत ग्रन्थ का भी समुचित समादर होगा।

धर्मसंघ, नवाब गज
वाराणसी
२७-४-६३

विनीत—
शिवदत्तशर्मा चतुर्वेदी

विषय-सूची

पृष्ठ

वेदखण्डः

| | |
|---|----|
| १ ऋत च सय च | १ |
| २ वेदेषु विज्ञानम्, तस्य क्रमिको ह्यासश्च | ९ |
| ३ वेदेषु पितर | ३५ |

पुराणखण्डः

| | |
|--------------------------------|----|
| ४ पुराणेषु विकासवाद | ४३ |
| ५ कूर्मपुराणविषयाणां समालोचनम् | ५० |
| ६ मुद्गलपुराणविषयसमालोचनम् | ६२ |
| ७ वेदेषु पुराणमहत्त्वम् | ७२ |
| ८ पुराणलक्षणानि | |

शब्दशास्त्रखण्डः

| | |
|---|-----|
| ९ पुरातनानि व्याकरणानि वैयाकरणाश्च | ९५ |
| (क) प्रचलितशाकटायन व्याकरणविचार | १०१ |
| (ख) पाणिनेः पूर्वमपि व्याकरणसत्तासाधनम् | १०६ |
| (ग) प्रातिशाख्यानां पाणिनेश्च वीर्वापर्यविचार | १११ |
| (घ) निरुक्तकृत वीर्वापर्यम् | १३४ |
| (ङ) पाणिनि-देशकालौ | १४५ |
| (च) काश्यायन-देशकालौ | १५४ |
| (छ) पतञ्जलेदेशकालौ | १५५ |

धर्मशास्त्रखण्डः

| | |
|-----------------------------------|-----|
| १० चातुर्वर्ण्यम् | १७१ |
| ११ प्रभूतपतिकाधर्मालोचनम् | २११ |
| १२ स्पर्शादीं शास्त्रीया व्यवस्था | २६६ |
| १३ पितृविवेक | २७९ |

काव्यसाहित्यगण्डः

| | |
|------------------------------------|-----|
| १४ रघुवगे द्वितीय सर्ग | २९५ |
| १५ रघुवगे त्रयोदश सर्ग | ३१३ |
| १६ कुमारसम्भवे प्रथम सर्ग | ३३१ |
| १७ कुमारसम्भवे पञ्चम सर्ग | ३४७ |
| १८ किरातार्जुनीयस्य द्वितीय सर्ग | ३७१ |
| १९ किरातार्जुनीयस्य तृतीय सर्ग | ३९५ |
| २० किरातार्जुनीयस्य एकादश सर्ग | ४१७ |
| २१ गिगुपालवधमहाकाव्ये प्रथम सर्ग | ४३९ |
| २२ गिगुपालवधमहाकाव्ये द्वितीय सर्ग | ४६५ |
| २३ कविकाव्यशब्दौ | ४९५ |



चतुर्वेदि-संस्कृतरचनावलि:

वेदखण्डः

(अस्मिन् खण्डे—

- १ ऋतं च सत्यं च
 - २ वेदेषु विज्ञानं तस्य क्रमिको हासश्च
 - ३ वेदेषु पितरः
- एते वेदविज्ञानविषयकाज्यो लेखा सगृहीताः

—संपादक)

श्रुतं च सत्यं च

श्रुतम्, सत्यम्—इति शब्दाविमौ पर्यायत्वेनामरसिंहादिभि कोषकृद्भिः सहजितौ, प्रसिद्धौ च व्यवहारेऽपि तथैव । सत्यायं श्रुतशब्दस्य तद्विपरीतायै चानृतशब्दस्य बहुलमुपलम्भात् । वैदिकनिघण्टुष्वपि सत्यनामसु श्रुतशब्द आम्नातः, प्रयोगश्चापि सत्यसमानार्थतया मन्त्रब्राह्मणयोर्बहुलस्य शब्दस्योपलब्धः । मन्त्रस्य श्रुतशब्द सत्यपरतया शतपथादिषु बहुत्र व्याख्यातोऽपि । यद्यप्यर्थान्तरमपि ऋन्दति श्रुतशब्दस्य दृष्टम्, तथापि तत्रापि प्रायेण सत्यसमानार्थत्वं न व्यभिचरति । तथा हि—जलनामसु श्रुतमिति निघण्टुषु पठ्यते, सत्यमित्यपि तत्र पठ्यते । यथार्थतया श्रुतशब्दो बहुत्र मन्त्रादिषु भीसायणानार्यैर्बोद्धव्यात् तथैव सत्यशब्दोऽपि । 'ब्रह्म वा श्रुतम्' इति शतरथादिषु श्रुतम्, तत्रापि 'सत्यं ज्ञानं मनन्तं ब्रह्म' इत्यपि न विस्मरणाहम् । 'श्रुतं पितृन्तौ सुकृतस्य लोके' इत्यादौ श्रुतं कर्मफलमिति भाष्यकृद्भिर्व्याख्यातम्, तस्यापि सत्यसमानार्थतैव विचारपथमधिरोहति । किं विस्तरेण, बाहुल्येन शब्दयोरनयो पर्यायतैव बुद्धानुपारोहति ।

अथ क्वचित्तु द्वयोरनयो सहप्रयोगमुपलभ्य पर्यायता नास्तीत्यप्युच्यते । तथा हि—अथमर्थेण सूक्ते सुप्रसिद्धे 'श्रुतं च सत्यं चाभीक्षात्तपसोऽध्यजायत' इति सहप्रयोगं पश्यामः, नात्र पर्यायतया द्वयं व्याख्यातुं शक्यम्, पुनश्चिप्रसङ्गात् । अत्र भाष्यकृत भीसायणाचार्या 'श्रुतं मानसं यथार्थं सकल्पनम् सत्यं वाचिकं यथार्थभाषणम्' इति किञ्चिद्विशेषं परिकल्प्य व्याचष्टुः । किमेवविधमेदपरिकल्पने बीजमिति न तत्र तै स्पष्टीकृतम् । किञ्च—सर्वलोकादिसृष्टिप्रतिपादकेऽस्मिन्मन्त्र उक्तरूपयोः श्रुतसत्ययोः प्रथममुत्पत्तिप्रदर्शनं न विचारसहम्, पृथिव्यादिलोकसृष्टेः प्राक् मनुष्यादीनां स्थित्यसमवायः, तानन्तरेण च मानसवाचिकयोः श्रुतसत्ययोः निर्वाधाराया सृष्टेरसामञ्जस्यत्वात् । याऽपि श्रुतसत्ये सकल्मषमोपलभ्ये, धर्माणां च प्रथमं सृष्टिरित्युपपत्तिराचार्यैः प्रदर्शिता, सापि धर्मिणमन्तरेण धर्माणां निराधारात्ताप्रसङ्गात् व्यतिष्ठते । बृहदारण्यके च ऋणसृष्टिरनन्तरं धर्मसृष्टिकथनात् ततो विरुद्धापि प्रतीयते । तस्मादर्थान्तरमत्रानयो शब्दयोर्मूल्यं स्यात् । सूर्याचन्द्रमोम्या पूर्वमहोरात्रसृष्टिः, पृथिव्या प्रागर्गवस्य सृष्टिरित्याद्यपि तत्र सूक्ते विचार्यमेव । अथ 'सत्यं प्रतः सत्यं परः त्रिसत्यं सत्यस्य योनिं निहितं च सत्ये ।

सत्यस्य सत्यमृतसत्यनेत्रं सत्यात्मकं त्वा शरणं प्रयत्ना ॥'

(भीमावत १० स्क० पू०)

इति भागन्तीयपथे श्रीधरस्वामिनस्तु 'श्रुतं च सृजता वाणी सत्यं च सम दर्शनम्' इति सायणाचार्यविपरीतमिव व्याचख्यु । श्रीवल्लभाचार्योऽपि सुबोधिन्याम् 'श्रुतसत्ये नेत्रे प्रापके यस्येति' विपुलान्त 'श्रुतं सृजता वाणी, वेद सत्यप्रतिपादक, प्रमाण वेद, प्रमेय भगवद्दर्मा (आद्य सत्यम्, परसृजतम्)' इत्यादि व्याचख्यु । इहापि तु 'सत्यव्रतम्' इत्यनेनैवोक्तस्यार्थस्य पुनरुक्तेरसामञ्जस्यात्पदार्थान्तरमेव श्रुतसत्यशब्दाम्यामभिहितमिति प्रतिभाति । एवमन्यत्रापि—

व्यब्रवीद्रघुना मर्त्येभ्योऽग्निर्विद्रां श्रुतचिद्धिं सत्य ।

(श्रु० १।१४५।५)

इत्यादिषु मन्त्रेषु,

'श्रुतमेव पूर्वं आधार सत्यमुत्तरोऽत्र ह वा श्रुतसत्ये कन्धेऽथो यस्किवर्त-
सयाम्या जय्यम्, सर्वं ह वै तज्जपति' (शतपथ ब्रा० ११।१।७।९)

इत्यादिषु ब्राह्मणेषु,

भगवान् वासुदेवश्च कीर्त्यतेऽत्र सनातन ।

स हि सत्यमृतं चैव पवित्रं पुण्यमेव च ॥

(महाभारते आदि प० १।२८२ २८३)

इत्यादिषु पुराणेषु च न शब्दाविमौ पर्वोक्तत्वेन 'वाक्यात् शक्यौ, भेदेन व्यपदेशात् । न चापि केवलं मानसवाचिकधर्मपरतां सामञ्जस्यमावदतीति सुसूक्ष्म मालोच्यतां सुधीभिरास्यायान्वषणप्रवृत्ताम् ।

तत्राहमद्वयप्रवरवदविज्ञानसमीक्षाचक्रवर्ति— विद्यावाचस्पति— श्रीमधुसूदन शर्मचरणैरिह तस्य स्वग्रन्थेषु प्रतिपादितम्, यद् द्विविधा भवन्ति वैज्ञानिक प्रक्रियायां पदार्था—हृदयरहिता, स हृदयाश्रिता । आङ्गल्भाषायां 'सेन्टर' (centre) शब्देन यद् व्यवहियते लौकिके सङ्कृते च 'कन्द'शब्देन यदुच्यते, तदेव यदे हृदयशब्देन, नाभिश्चन्द्रेण च व्यपदिष्टं द्रष्टव्यम् । गच्छन्ति केचन पदार्था ये केन्द्रमाभिलैव लिखन्ति, यथा प्रस्तराद्या, एते सङ्कटया सत्यशब्देन व्यवहियन्ते । हृदयाकारेणैवैशामवस्थिति, हृदय एषा विधारणशक्ति । अङ्गुल्यापि धृते कन्द्रे महामहान्तोऽपि प्रस्तराद्या विधृतास्तिष्ठन्ति, न विचलन्ति, तेन परिचितकेन्द्रं स्वरूपवलोऽपि मनुजो गुरुतम मास्मुद्रोदुमीशीतति वैज्ञानिका प्रतिपादयन्ति । 'शरीरं हृदये (स्थितम्)' (तै० ब्रा० १।१०।८।७) इत्याद्या धृतिरपि चैतमेवार्थमाह ।

तथा—

प्रजापतिश्चरति गर्भे अन्तराग्यमानो बहुधा विजायते ।

तस्य योनिं परिपश्यन्ति धीरास्तस्मिन् ह तत्पुमुदनातिं विधा ॥

इति मन्त्रे प्रनापतिपदेनापीव केन्द्रशक्तिं प्रतिपादितेत्यास्तामिदमप्रवृत्तम् ।
अथापरे पदार्था विश्वकृष्टिा एव तिष्ठन्ति, न केन्द्र प्रकल्पयन्ति, यथा जगदा,
ते हृदयरहिता श्रुतशब्देन व्यपदिश्यन्ते । अत एव श्रुतशब्दव्याख्याया निष्क-
ञ्चयास्त्व आह 'श्रुतमित्युदघ्नाम, प्रत्युद मन्ति' (अ० २ पाठ २५) इति ।
प्रत्युदम् इतस्ततो विकीर्णम् । अकेन्द्रकमित्यर्थः ।

अग्नीषोमात्मकं जगत्—इति हि वैदिक दर्शनम् । तत्र सोम श्रुतम्,
अहृदयत्वान्, अस्मिन्तु सत्यम्, केन्द्र प्रकल्प्य तदाधारेणैवावस्थानात् । सृष्टे
रारम्भे सर्वमृत्त मन्ति, सर्गाद्यङ्क् केन्द्रनिबन्धनासम्भवात् । अत एव 'ब्रह्म वा
श्रुतम् "ब्रह्मो हृतम्' (शत० ब्रा० ४।१।४।१०) इत्यादिषु सर्वप्रथमस्य
ब्रह्म श्रुतत्वमास्मात् । प्रवृत्ते तु सर्वे केन्द्रशक्तिस्तत्र तत्र प्रतिनियता भवतीति
सत्त्वान्युपयन्ति । अथाप सोमजातीया सोमप्रधाना पदार्था स्वभावेन हृदय
रहिता एव तिष्ठन्ति, ते श्रुतान्देवोच्यन्ते ।

पञ्चतु महामृतेषु प्रथममाकाशोत्पत्तिं श्रूयते । तच्चाकाशं शब्दधनात्मकम् ।
शब्दश्च केन्द्र परिणयैवावतिष्ठत इति आकाशः 'सत्यम्' । तदनन्तरो वायुस्तु
'श्रुतम्', नहि वायुः कापि केन्द्र प्रकल्प्य तिष्ठति, इतस्ततो विकीर्णं एव तु भवति ।
तदनु तेजः 'सत्यम्', तत आपः 'श्रुतम्', तदनु पृथिवी च सत्यमिति क्रम
उच्यन्त्यते । तथैव सप्तन्याहृतिप्रतिपादेषु सप्तसु लोकेषु भूरिय 'सत्यम्', भुव
इत्यन्तरिक्षं च 'श्रुतम्' शून्येऽन्तरिक्षे हृदयासम्भवात् । 'अन्तरिक्षं वा श्रुतस्य
विमूना' (वैत्ति० १।१।५।४), 'श्रुतमवि श्रुतसदनमवि' (वैत्ति० स० १।१।९।३)
इत्याद्यास्तु भुतिषु चान्तरिक्षभूतमेव श्रूयते । तत पर स्वयिति सूर्यमण्डलं 'सत्यम्',
मह इति सूर्यात्परलोऽन्तरिक्षं च 'श्रुतम्' । ततो जन इति परमेष्ठिमण्डलं 'सत्यम्'
तप इति तत परमन्तरिक्षम् 'श्रुतम्' । अथ सत्यमिति स्वयम्भूमण्डलं 'सत्यम्'
एवेति तत्रापि क्रमः । एषु हि सप्तसु लोकेषु चत्वारि मण्डलानि, त्रीणि मध्य
गान्यन्तरिक्षाणीति मण्डलानि सत्यपदेन, अन्तरिक्षाणि श्रुतपदेन व्यवहियन्ते ।
परमस्मान् परितो वर्तमाने आदापृथिव्योरस्मिन्नन्तरिक्षे परिभ्रमता चन्द्रमण्डलेन
सार्धं घनिष्ठोऽस्मार्कं पृथिव्याः सवन्ध इति सोऽपि मण्डलेषु परिगणितः । तेन
मण्डलमन्त्रकमप्यत्र 'पञ्चपुण्डरीकं दन्धा (शाखा)' श्रुतौ व्यवहृता । तान्येतानि
मण्डलानि अन्तरिक्षापेक्षया सर्वोपरि सत्त्वानि । परं परस्पर तारतम्यपर्यालोचने
(केन्द्रबन्धदादर्शयैथिच्यन्त्रिके) इहापि क्रम आस्नात —स्वयम्भूमण्डलं सत्यम्,
परमेष्ठिमण्डलं त्वप्रधान्याहृतम्, तदनु सूर्यः सत्यम्, चन्द्रमास्तु पूर्वोक्तन्यायेनैव
श्रुतम्, अथ पृथिवीयमग्निप्रधाना सत्यमिति त्रीणि सत्त्वानि, द्वे च श्रुते इहापि
द्रष्टव्ये । एतदभिप्रायेणैव—

श्रुतमेव परमेष्ठि श्रुत नात्येति विद्मन् ।

श्रुते समुद्र आहिन श्रुते भूमिरियं भिता ॥

(तैत्ति० ब्रा० १।५।५।१)

इति अप्रमथानस्य परमेष्ठिन श्रुतत्वमेवोक्तम् । श्रुतस्य च व्यापकत्वमत्र प्रदर्शितम्, तमस्य एव भूमादीनामवस्थानवर्णनात् । तदिदं युक्तमेव, नहि केन्द्रनिबद्धा पदार्था विमलो भवितुमर्हन्ति, अपरिच्छिन्नस्य केन्द्रकक्षणासम्भवात् । श्रुतं तु प्रसरणशीलं सर्वमभिव्याप्यापि शक्नोति स्यात्तुम् । अन्यत्रापि च—

‘श्रुतमयंति छिन्धव सत्य तातान सूर्यो’ (श्रु० सं० १।१०५।१२)

इत्यादिषु मन्त्रेषु छिन्धूनामृतवाहिता सूर्यस्य च सत्यवित्तारणं स्फुटमुक्तम् । तेन जलस्य श्रुतत्वम्, सूर्यावरणानां च सत्यस्य स्थितीभवति । सूर्यकिरणानां केन्द्र निबद्धावच्छायास्य च तथात्वाभावात् ।

तथैव—‘अग्निर्होता पदिक्तु सखाश्चिब्रवश्चरन्तम्’ (श्रु० सं० १।१।५)

‘वैश्वानरं तत्र तत्सत्यमस्मरमान् रायो मधवान् सचन्ताम्’

(श्रु० सं० १।१८।३)

‘एव देहि सहस्रिण रयि नोऽद्रावेग वचसा सत्यमग्ने’

(श्रु० सं० १।१४।६)

‘तद्यत्तत्सत्यम्, असौ स आदित्य’ (शत० ब्रा० ६।७।१।२) ।

‘अथास्या हिरण्यं वक्षीते । इयं वा इदं न तृतीयमस्ति सत्यं चेवावृतं च, सत्यमेव देवा अवृतं मनुष्याः । अग्निरेतस वै हिरण्यम् । सत्येनाद्युपस्सृष्टानि, सत्येन सोमं पराह्णानीति’ (शत० ब्रा० १।३।२।२)

‘सत्यं हैतद् यदुक्तम्’ (शत० ब्रा० ६।७।५।१)

इत्यादिषु मन्त्रब्राह्मणेषु सहृदयानामन्यादिवादीनां तत्त्वबोधना हिरण्यादीनां च सत्यान्माप्नोत्यते । हृदयं हि सर्वेषां भूतानां ‘प्रतिष्ठा’ भवतीत्यवोचाम, तदाधारेणैव सर्वेषां पदार्थानामवस्थानात् । प्रतष्ठायाश्च सत्यस्य तत्र तत्र ब्राह्मण वाक्येषु भूयते । तेन हृदयव्यवयोरैक्यमत्र प्रसिद्धयति । शतपथस्य चतुर्दशोऽंशश्च (८ अ० ४६ ब्राह्मणेषु) ‘एष प्रजापतिर्वद हृदयम् तदेतत् पञ्च हृदयमिति’, ‘तद्वै तदेतदेव तदाव । सत्यमेव स’, ‘तदेतत् पञ्चरम् सति यमिति’ इत्यादनां प्रपञ्चेन हृदय-सत्यस्यैक्यमत्र ब्रवीतुम् । प्रजापतेश्च केन्द्रशक्तिरूपस्य पूर्वोक्तस्य हृदयवदुक्तमिति सहृदयस्य पदार्थस्य सत्यस्य स्फुटमुक्तं भवति । ‘वसिष्ठोऽनु सत्यं प्रतिष्ठतमिति हृदये इति होवाच’ । (बृह० उप० ३।१।२३) इति शाकल्य-यादव-क्यं समाप्तं न्यायमर्थं स्फुटं भवति । यद्यपि वचनरूप उपमया व्याख्यायते, अद्यापि बहुमिप्रायगर्भा भूत्या भवतीति पदार्थगतं सत्यत्वनपि शक्यमनुवधानम् ।

अथ—‘वरुणस्य श्रुतसदनमासीद’ (यजु स० ४।३६)

‘प्रसीमादित्यो असुजाद्विधर्ता श्रुत सिन्धवो वरुणस्य यन्ति’

(श्रु० स० २।२८।४)

‘यारते प्रजा अमृतस्य परस्मिन् धामन्मृतस्य

मूर्धा नामा सोम वेन आभूषन्ती सोम वेद ।’ (श्रु० स० १।४३।९)

‘तन्म श्रुत पातु शतधारदाय’ (श्रु० स० ७।१०।१६)

‘चावर्शृताय पीतये’ (श्रु० स० १।१२७।२)

‘वायुरसि प्राणो नाम “ श्रुतमसि सत्य नाम ” ’

‘श्रुतस्य त्वा व्योमने, श्रुतस्य त्वा विधर्मणे’ (तै० स० ३।३।५)

‘श्रुतस्य त्वा देवहवि पाशेन प्रतिमुञ्चामीति, वरुण्या वा एषा यद्रज्जु’
(शत० ब्रा० ३।७।४।१) इत्यादिषु च वरुण चायु सोम जलप्रभृतीनामहृदया-
नामृतत्वमाख्यायते ।

‘श्रुतस्य गर्भं प्रथमा ध्यूष्यपामका महिमान विभर्ति’ (तैत्ति० स०
४।१।११।५) इति मन्त्रे च उषा ‘श्रुतस्य गर्भं’ इति स्तूयते उषसि प्रत्युताना
प्रकाशावस्थायादीनामकन्द्रत्वात्, ज्यसो जनकाना वा प्रवृत्ताना प्रकाशाना-
मृतत्वात् । तथैव—

“ बृष्य नियान हरय सुपर्णो अपो वताना दिवमुत्पतन्ति ।

त आ ववृषन् सदनादृतस्यादिद् धृतेन पृथिवी ध्रुवते ॥ ”

(श्रु० स० १।१६४।४७)

इति मन्त्रे उत्तरस्था दिशः श्रुतसदनत्वमाख्यायते, उत्तरा हि दिक् सोमस्थाया च
सदनं भवति, ततश्च अहृदयानामपि सोमस्य च श्रुतत्वमत्र स्फुटमाख्यातं भवति ।
‘प्रत्युतं भवतीति’ निरुक्त्याख्यायया च सोऽयमर्थो द्रष्टव्यः ।

सर्वमपि हृदयमृतस्य भवति, पिण्डस्य कन्द्रबद्धस्यावयववधारया त्रिभ्रा-
न्तावन्तत सर्वत्र श्रुतस्यैवोपलम्भात् । श्रुतान्येव हि कन्द्रबद्धानि सन्ति सत्यत्व-
माप्नुवन्ति । अत एव शतपथब्राह्मणे (११।१।६।१) “ आपो ह वा इदमग्रे
सत्त्रिभ्रंश्वाव ता अकामयन्त कथं नु प्रजायेमहीति । ता अभाम्यन्, तास्तपोऽत-
प्यन्त, तामु तपस्तप्यमानासु हिरण्यमाण्डं सवमूव— तत सवसरे पुरुष
समभवत्, स प्रजायति ” इत्यादिना प्रपञ्चेन श्रुतास्तेषु एव सत्यस्य सवत्सरान्ते
प्रजापतेरुत्तरमिहिता ।

‘श्रुतचिद्वि सत्य’ (श्रु० स० १।१४।५) इति मन्त्रेऽपि च सत्योऽग्नि-
श्रुतचयनविशिष्टोऽभिहितः । ‘श्रुताषाड् श्रुतधामाग्नि’ इति मन्त्रेऽपि चाग्नेः श्रुत-
गर्भत्वाभिप्रायकमृतधामत्वं ज्ञायते । तथैवान्यविमृतस्य श्रुतस्यानयना सत्या
भवन्तीत्यपि दृश्यते, यथा जलावयवमृता निन्दनं कन्द्रबद्धा सत्या भवन्ति ।
एतदभिप्रायेणैव भुविराह ‘श्रुत सत्येऽध्यायि, सत्यमृतेऽध्यायि, श्रुत च मे सत्य

चामूताम्” इति (तै० ब्रा० ३।७।७।४) । श्रुत सत्वरूपेण परिणमद्विस्तरमवलोक्यते, यथा जड हिमता गत सत्यमावमापयते । वायुर्वा व्यञ्जनादिपरिचाक्षित-
केन्द्रनिवृद्ध सत्यो भवति, सोमोऽपि चाम्नौ हूयमानोऽग्निरूपता गच्छन् सत्य एव
स्पद्यते । तथैव सत्यमप्युतता गच्छति । तथा ह्यग्निर्वा सूर्यतेजो वा याद्वकेन्द्र
सद्व भवति, भवति तावत् सत्यम् । यदा तु पदार्थान्तरमनुपविशति, तदा
केन्द्रादपवृक्तमृतं भवति । यथा ग्रीष्मेऽस्तमितेऽप्यादित्ये बहुकालपर्यन्त प्रस्तरादि
पूष्पा प्रतीयते । अग्नौ ज्वलन् चान्नाद्यग्ने पृथक् कृतमपि चिरम्भूत तिष्ठति । तत्रैव
तेज केन्द्रादपवृक्त पदार्थान्तराङ्गता गतमिति स्पष्टमव । इदमेव ‘प्रत्यय’ इति
‘उज्जिष्ठमिति’ च भूतिस्वाख्यायते । तदित्यमृतसत्ययो परस्परान्गता परस्पर रूप
परिणतिं चामित्यस्यैवत्वमेवानयो पश्यन्ती भूति शब्दानिमौ पर्यायेणैव बहुषु
प्रयुङ्क्ते । एतदभिप्रायेण चान्नेरादित्यस्य च कश्चित्सत्यैव क्षिणित्तत्त्व चान्नायते
“श्रुत स्वा सत्येन परिधिद्वामीति साय परिधिद्वानि, सत्य त्वेन परिधिद्वामीति
मात । अग्निर्वा श्रुतम्, असावादित्य सत्यम्” (तैत्ति० ब्रा० २।१।१।१) ।
“अय वा अग्निश्रुतम्, असावादित्य सत्यम् । यदि वाऽसावृतमित्य सत्यम् ।
उमयम्वेतदयमग्नि ” (द्यत० प० ११।२।७।९) इत्याद्यासु भूतिषु । तदिदं
मूलतस्त्वस्यैवत्वाभिप्रायकं द्रष्टव्यम् ।

सूर्यमण्डलादपवृक्त पार्थिवपदार्थाङ्गता भस्महीन तेजो यदाख्यातम्, तदेव
‘श्रुताग्नि’ इति ‘सत्सत्तराग्नि’ इति च भूतिषु व्यवह्रियते । एतत्तत्त्वमादेव
पृथिव्या समय (मौसम)-परिवर्तनं भवतीति ते समये श्रुतसंबन्धादेव ‘श्रुतव’
इत्याख्यायन्ते । पृथिव्या चित् पृथिवीकेन्द्रनिवृद्धश्च पार्थिवोऽग्नि ‘सत्य’ इति
साक्षितमेव । सोऽयमपि वस्तुतः सूर्यादेवोत्पन्नः । पृथिवीपिण्डस्य सूर्यापिण्डादेवो
त्पत्ते भूतिसम्पत्तत्वात्, तदग्नौ तत् एवोत्पन्नत्वात् । इदं तु स्मर्तव्यम्—भूतिषु
नायमग्निशब्द उज्जिष्ठमिति द्रव्यस्यैवाभिधायकः, अपि तु संपदार्थमूलभूतमन्नद
प्राणमयमाह । उज्जिताप्यस्यैवावस्थाविशेष इत्यन्यदतत् । ततश्च सौरा प्राणा,
पार्थिवा प्राणाश्च श्रुतसत्यपदार्थाभ्यामभिधीयन्ते ।

तदिदं इयमेव ‘श्रुतं च सत्त्वं चामीक्षाक्षपसोऽध्यजायत’—इत्यधमर्षणसूक्ते
प्रक्रान्तम् । अनयोरेव कागन्निमासस्त्वम्, लोकनिर्मानृत्व चेति तत्रापदिष्टम् ।
एवविधेषु शब्दैश्च वैदिक विज्ञानकोशे मुनिहितो वर्तते । यदि विद्वांसो ऋग्वेद
हारिकमुपनिषद्धार्यनिदर्शनप्रधानेषु कोपेभ्यः केवलमनात्मन्य शब्दार्थान्वेषण
प्रतियामुसरीकुर्युः, तर्हि निगूढस्य वैदिकस्य विज्ञानस्य मूयोऽपि प्रकारेण दिश्य
उत्पन्नता श्यु ।

वेदेषु विज्ञानम् , तस्य क्रमिको हासश्च

किन्दूरपूरारुणेताखिलाङ्गो यज्ञोपवीनीकृतनागराज ।

उद्दामविघ्नौषादिघातदक्ष पायादप्यथादनिश्च गणेश ॥

किमिदं विज्ञानम्

इह खलु निगूढं जगत्तत्त्वं कारुण्येनोपदिशता महामहिममाना तत्र भवतां मगता इषा निरूपणप्रक्रिया मियते । तथा च द्वयमिदं प्राप्स्यते—ज्ञानं च विज्ञानं चेति । विभिन्नं वस्तुज्ञातमक्षिप्त्वा ह्यस्य मूलान्वेषणक्रमणैकतत्त्वपर्यन्तं *गतेर्ज्ञानम् । 'एकं तत्त्वं निरूढं मत्वा क्रममस्त्वन'तरूपात्तापत्तिर्विज्ञानम् । विशिष्य ज्ञानं हि विज्ञानम् , विविधं ज्ञानम् , विभेदेन ज्ञानं वा विज्ञानमिति । तत्रेयं मूलान्वेषणक्रमणैकतत्त्वगतिं सूक्ष्मयु तत्त्वयु न प्रायेण प्रत्यक्षसाध्या, अनुमानं वा शब्दवाच्यस्य विचारैरेवेयं प्राप्नुमहेति । बुद्धिमनुसृत्य च निष्पाद्यमाने निर्णये प्रक्रिया मेदा मतमेदाश्च भृशं विवृण्वन्त एव, बुद्धीनामैककल्प्याभारन मतैकस्य तत्र दुर्लभत्वात् । प्रक्रियाया ऐक्यं तु समावयितुमप्यशक्यम् । अथैकस्यानैककल्पताया तु सुष्ठु प्रत्येकं प्रमत्तत्वेति परोक्षरूपं प्रतिभासं ज्ञानशब्दं प्रत्यक्षे प्रत्यक्षायिते वा स्फुटे प्रतिभासे तु विज्ञानशब्दं स्थाने प्रवृत्तं । अत एव—

“ज्ञानं तैऽहं सविज्ञानमिदं कस्याम्यशेषतः ।” (म गी ७।२)

“ज्ञानं विज्ञानमस्मिन् यज्ज्ञात्वा मोक्षयसेऽनुभातः ।” (म गी. ८।१)

इत्यदिषु “विज्ञानमस्मिन्—ज्ञानुभवसमुक्तम्” इति श्रीशङ्कराचार्यप्रभृतिभिर्माध्यमैर्द्विव्याख्यातम् । एकमूलान्वेषणं केनल मोक्षोपयोगि । एकस्यानैककल्पता विचारस्तु यद्वह्यारोपयोगितामप्यावहतीति क्रमणं यद्वह्यारोपयोगिनि ज्ञाने विज्ञानं शब्दः , मोक्षोपयोगिनि ज्ञाने तु ज्ञानशब्दो निरुद्धि गतः । तदभिप्रायेणैव—

“मोक्षे श्रीज्ञानमन्त्रं विज्ञानं शिल्पशास्त्रयोः ।”

अति तत्र प्रज्ञानमरुतिहो वभाषे । अनेनैव च पथऽद्यत्वे वस्तुज्ञानान्वयपरं 'सादृश' इति नाम्ना प्रसिद्धं शास्त्रं विज्ञानशब्देनैव सख्यविद्वांसः परिचिन्वन्ति । अस्तुतस्तु मोक्षोपयोगि तत्त्वमपि यदा न केवलं परोक्षविधया, अपि तु अनुभवपरं व्यायितया प्रतिपद्यते, तदा तदपि विज्ञानपदव्यपदेश्यतामवाकाह्यतः । तत एव तु भगद्गीतासु “ज्ञानं विज्ञानमहितम्” इत्याद्यादिष्टम् । न हि शिल्पशास्त्रास्तत्र

* 'संभूतेषु येनैकं भासमवययमीजते । अविमक्तं विमक्तेषु तज्ज्ञानं विद्धि सात्त्विकम् ।’ (म गी १८।३)

कापि कथा । अनुभववाचसानमेव च तत्त्वज्ञानमविद्यानिवृत्तकमाचक्षत आचार्या इति विज्ञानमेव मोक्षोपयिकमपि । किञ्च परोक्षप्रतिभासरूपे ज्ञाने ये मतभेदा प्रक्रियाभेदा वा विभिन्नदृष्ट्या विजृम्भन्ते, ते तत्र दर्शनसमाख्या लभन्ते । तेषु दर्शनेषु दृष्टिभेदप्रधानेषु पारस्परिकाना वाक्पञ्चानामपि भवति समावना । विज्ञाने स्वनुभववाचाने प्रत्यक्षायिते प्रतिमासे न कापि विचारभेदस्यापि समावना, दूरे तु विचारभेदमूलका कल्पा इत्यहो विज्ञानस्य महिमेत्यास्तामप्रकृतवित्तर ।

वेदे का प्रक्रिया !

इदं तु वक्तव्यम् । वेदेष्विमा विज्ञानसारामेव शैली प्राधान्येनोपलभ्यमाने । एकस्मादेव मूलस्वरस्य उत्पत्तिरन्तर्विलक्षणस्यैव प्रकृतित्वेदेषु । बहुधा प्रपञ्चिता, तत्तद्दस्तुधर्माश्च करतलमलकवद् विस्पष्टं ग्राहिता । किमन्यत्—नन धर्मतत्त्व मोक्षतत्त्व च यत् प्राधान्येनोपदिष्टम्, तदपि वस्तुतत्त्वविवेचनप्रधाना-मनुभनपर्यवसायिनी च विज्ञानशैलीमेव समालम्ब्य समुपदिष्टम्, न तु परोक्षमिव कवल भ्रमाप्रधाना शैलीमभिलक्ष्येति विवेचनपरा विद्वांसः सम्यगवगच्छेयुः । तस्माद् वैदिक सर्वमपि ज्ञानम्—आत्मविज्ञानम्, नमविज्ञानम्, धर्मविज्ञानमिति । विज्ञानशब्देनैवोपदेष्टुमर्हम् । अत एव कर्मविधिपरेषु ब्राह्मणेषु प्रतिविधि + 'किमर्थमवमेतत् करोति' इति जिज्ञासामुत्थाप्य वस्तुतत्त्वबलम्बेन तत्समाधानं तत्र तत्र पश्याम । तेन च वस्तुशक्तिमबलम्ब्यैव वस्तुविज्ञानाधारोऽस्माकं धर्मोऽपीति सुरक्षितं भवति ।

उपनिषत्सु च दृश्यवस्तुतत्त्वावगमिनीं निरूपणप्रक्रियाम्, यदुभयं तैत्ति-हैतान्तैरात्मनिष्ठाया अप्यनुभववाचसानताप्राप्यप्रत्यक्षमालोचयाम । ऊा-दोग्योप-नियतु पठ प्रपाठक, रहदारण्यकोपनिषत्सु चतुर्थं प्रमाण्यायौ चात्र विशेषेण निदर्शनाहं । धर्मप्रकाशभाष्येनैव च सर्वं वस्तुतत्त्वं कास्म्येन वेदेनालोचितं प्रतिचानीम । अयमेव सर्वाविद्यायां प्रतिपादनप्रकारः सर्वविद्यादिमूतानां बदधानं किमपि गौरवमुद्रासयति । तत्र एव च वैदिकशरणानामार्थाणां शिरोऽस्यापि अग्रतुल्यम् ।

तदिदं सर्वमपि विज्ञानं मात्रेषु सुसूक्ष्मतरं स्वरूपस्य संकेतविषया समुपदिष्टम् । ब्राह्मणादिषु च यथोपयोगं विद्मिद् विवृतम् । यदा स्वतः सारगतिं स्म वैदिकं विज्ञानं मारते, तदा सकृत्तमात्रैव तत्तत्प्रतिपादयन् प्रपद्यन्ते स्म । न बहु व्याख्यानमपेक्षितमस्ति । विषयास्तत्र करणं सस्कार्यमपि चासीत् तत्रभवता मार्त्याणां शैली । पुस्तकप्रस्तुततामपि न ते विप्रेहिरे । अत एव—

† 'तद्यदप्युपस्थाति अमेधो वै पुण्य' (११११) इत्यादि शतरथब्राह्मणं द्रष्टव्यम् ।

पुस्तकस्या च या निद्या पश्यते च यद् धनम् ।

अयं काले तु सम्प्राप्ते न सा निद्या न तद् धनम् ।

इत्याद्यप्यस्मकं नीतिर्ज्ञोष्यते । ततश्च अन्यगौरव तदाख्ये नैद्यमर्हत् ।
स्वरूपेणैव प्रतिपादनयोगी प्रवर्धते स्म । अतएव वेदेषु तादृशी निश्चया योगी
पश्यामी यद् देवतास्तुतिपरेष्वेव मन्त्रेषु कनचिद् विरोधेन तत्पक्षेण गभीर
विद्वान् विद्योत्पत्ते । खुनद्धिरव चैतिहासिक विवरणान् तथैव कर्तुं श्रियते । अत्र
कानिचित्पदाहरणानि कश्चेदत्र दर्शयन्ते—

‘अग्निनीळे पुरोहित यदस्य देवतरेजम् ।

होताः सनघातमन् ।’ (श्रु० १।१।१) ।

इति दद्यतम्या आदम एव मन्त्र—

‘पुरोहितम्’ ‘यदस्य देवम्’ ‘स्तुतवन्’ ‘होतारम्’ ‘सनघातमन्’ इति
पञ्च विशेषणान्यस्य भूयन्त । एष ‘पुरोहितम्’ इति अस्माकं पुर मित्येव वाग्भिन्
प्रस्तुतो न वैश्वदेवावन्तारक्षदिव्यास्मी इत्येता अस्या व्यवृत्ति प्रदर्शनं,
पुरो हस्तमानेषु पुरुषेषु वरं भू अन्तर्गच्छन्नाह । ‘यद् विद्विद् वाग्भिन्
मन्त्रम्, अग्निर्देव एव’ इति जगन्मन्त्रे मन्त्रान् यातुं (निबस्तु ७ अष्टादे) ।
मौलिकस्य तदस्य, अनेरेव यदनेन (लक्ष्मणानन्त, त्रिपुण्यन्त वादस्यनेन)
सर्वे पदार्था निपद्यन्ते स एव चित्तोऽयम् । सर्वत्र पुन प्राक्पदोक्तुनरेव
चित्तेनवेन—इति वैदिक दर्शनम् । यत्तु वैदालिना आधुनिका अनेर्गोप्य,
साधयन्तो मौलिकान् वारयन्ति, तेषां स्थूलान्मद्रव्या दृष्ट्युक्तान् । तद्वदाह
वनक एव पदार्थसैरकस्त्र स्युहादप्रमिन् । वैदिकतु निद्वन्द्व प्राक्पद
सर्वान्तरस्य पदार्थोऽभिगिरसा । तद्वदाहौ तस्यैव स्थूलान्मद्रव्या ।
अन्यनानि मन्त्रेषु मुख्यं अन्तर्गतामेवैवता—

गमो अम्य पधीना गमो वनरत्नानाम् ।

गमो विद्वत्स मूत्साम गमो अगमदि ॥

(यजु — १०००००)

गमो यो अगम गमो वनना गमं स्यात् गमं वननाम् ।

अगो निदग्मा अन्तर्गता निद्या न विद्ये अन्तः स्वाधी ॥

(श्रुक् ५० १।३।००)

इत्यादिना । एष ‘पुरोहितम्’ अग्नि यदन् मन्त्रान्मन्त्रिण पुरो हस्तमानान्
पायितान् पदार्थान् अस्मिन्मन्त्रे । सर्वान्तरस्य किमन्तर्गता अयम्—इति
द्वितीयेन ‘यदस्य देवम्’ इति विशेषणोक्तम् । सर्वमपि पदार्थम् हस्तमान
न कदाप्येकमन्त्रम्, परितोऽन्तर्गता विद्वत्संस्तुतम् । परितोऽन्तर्गता न

नैकान्त सत्ता जहाति । तदिदं सर्वं यज्ञकृतम् । स्वीयानां भावानामन्यत्रा-
पणम्, अन्यतश्च भावानामादानमितीयमादानप्रदानप्रक्रिया यज्ञ । यथा
प्रदीपः प्रकाशं सर्वत्रार्पयति तैलव्यवाश्चाजस्रमादत्ते, वृद्धता पुष्पफलानि
ददति, पृथिव्या अपा च रसमजस्रमाददते । प्राणिन आहारमाददते, मल बलं
च तत्र तत्र प्रयोजयन्तीति सुस्पष्टं सर्वत्रानुभूयेत सूक्ष्मया दृष्ट्वा । सोऽयमादान-
प्रदानापरपर्यायोऽन्नाद्यादभाव एव प्राकृतो यज्ञ उच्यते, स चायमग्निषाध्य
इत्यग्निरेव यज्ञस्य देव । अग्नौ सोमाहुतिरेव यज्ञसपादिका । अनेनैव यज्ञेन
सर्वेषामुत्पत्तिरिति स्थितिश्च । प्राणिनामङ्गपोषो वृक्षादीनां पर्णपुष्पादिप्रस-
र्वोऽग्नयज्ञसाध्यः । तदेतद्ब्रह्मादिनिषेधेऽन्यत्रापि स्फुगेकृतम्—

प्रमात्र प्रतर गुणमिच्छन् कुमारो न बोध्यः सर्पदुर्ध्वं

सह न पक्कमविदन्तु कन्त शिरहात रिप उपस्थे भन्त । (श्रुक् १०।७५।१)

एतद्भाषयात श्रीमाधवाचार्यै—“अयमग्निः, मातु-पृथिव्या सम्बन्धि-
नी, उर्ध्वो-रही, बोध्य-रता, इच्छन्-कामयमान प्रसर्पन्-प्रसर्पति-
प्रसरति । विमिश्र, कुमार इव, स यथा स्तन्य पात्रं जानुभ्यां सर्पति, तद्वत् ।
सह न पक्कम्—पक्कममिव, सुचतम् दीप्यमान नीरस दृग्म्, रिप पृथिव्या
उपस्थे, भन्त उत्सङ्गे, अन्तरविदत्-विन्दति । पुनर्धीदधम्, रिरिहासम्-
आकाशमस्वादयन्तम्, यद्वा मूलैर्मातरं पृथिवीं रिरिहासम्” । इति । अप्र-
तृतीयचतुर्थयो पादयोरेकत्राक्यतात्वायेण कषादिता । एतदपेक्षया तयो पृथग्
वाक्यत्वं यदि स्यात्—पक्कममिव गुचन्तम्—नीरस दृग्मविदत्, रिप उपस्थे
भन्त-पृथिव्या उत्सङ्गे, रिरिहासम्—रसमास्वादयन्तं चाविददिति, ततोऽधिक
स्पष्टता स्यात् । वृधन्नादिषु सिद्धं ब्रह्मादित्यरदमय ऊर्ध्वमाकर्षयन्ति, तेन
सहैव तज्जलसक्त पार्थिवोऽग्निरध्वर्यमाक्रमते, तदेतदग्नेरुत्सर्पणमृच पूर्वमिन्द्र-
स्तुमुक्तम् । तस्यैतस्य जीयमानस्याग्नेरुपरितने भागे वायुसर्पकोऽन्तु-कृतामारयते-
अन्तरं मनस्येव रसोऽजस्रम् । अत्र हि सोमस्य प्राधान्यमिति स्फुगीकृतं भूतो—

स्वमिमा व्योषधी सोम विश्वास्वमपो अजगत्स्वत्वं गा

माततथोर्वन्तरिक्ष १५ शोतिषा वि तमो बवथ ।

(श्रु० अ० १ अ० ६ वर्ग २३)

तत्र पार्थिवेऽग्नौ सोमाहुतिरेव वृद्धाद्युत्पत्तिहेतुरिति यज्ञस्य हेतुता सिद्धा ।
अनेन यज्ञेनैव वृक्षादीनामृचं निर्वहन् च क्रमेण विस्तारः, तिर्यग्रसप्रसार एव
द्यावापर्गादिजनकः, तस्यैव च रसस्य पर्णपुष्पफलादिरूपेण परिणामः । परं कस्य
दृग्मत्वादे कियती प्रसृतिरुर्ध्वं तिर्यग्यति सर्वमिदं मूलं मिथतस्य प्राणस्यायत्तम् ।
सय मूल्यकारिकास्यापृथक् ‘प्रतरम्’ ‘गुणम्’ इति सङ्गतिता । प्रतरत पार्थिवस्य
रसस्य वृष्णार्णतया, आदित्यस्य च ‘निशङ्कं द्रापिं प्रतिमुञ्चते करि’ (श्रुक् सं०

४।५३।२) इति पीतवर्णतायाः श्रुत्येनोभयो सयोगादरित रूप वृक्षपर्णादि-
पूपलम्प्यते । यदा तु यमेन प्रष्टिवद्धो रसो नोपसर्पति, तदा केकल्या
दित्यस्य पीतमेव रूप पणेषु प्रतिपाद्यते । तदा मूलात् प्रवर्त्यमातोऽयमग्नि-
पृथगवस्थया पर्णादिषु स्थितो भवति । एवमेव शुष्केष्वन्नेष्वपि भिन्नयैत्रादस्य
यान्नेरवस्थितिरिति ते उभे अप्यस्य पृथग्वचि प्रतिपादिते । “अग्निर्वै शम्भोग्य
घ्रादीनि प्रयच्छति” (ऐ. ब्रा. २।५।९) इत्यादिना ब्राह्मणेषु च विस्मयीकृत
विज्ञानमिदमिति कृत निस्तरेण ।

अथ प्रथमायामृचि तृतीयं विशेषगमुत्विजमिति । श्रुतभिर्यजति-सगच्छत इति
वा, श्रुतन् यजति-ददातीति वा तस्याय । प्रथमे विग्रहे श्रुतस्य सौराग्नेरवयवा
एव श्रुतशब्दार्थः । द्वितीये तु तत्तत्फलपुष्पादिजनवत्त्वन प्रविद्धं स स काल
एव श्रुतशब्दार्थः ।

उभयथापि सौराग्निना सङ्गतोऽयं पार्थिवोऽग्निस्तत्तद्व्यपदेशप्रयोजक इति
सिद्धयति । सौरस्य सवस्वरूपतामात्रस्याग्नेरपेक्षयैव श्रुतानां नामान्यपि क्लृप्तानि ।
अग्नयोऽत्र वसन्त-जमेण सर्वं व्याप्नुवाना सन्ति, स कालो वसन्त इत्या-
खयायते । यदा तु सर्वानर्थान् गृह्णान-आत्मसात्कुर्वाणोऽस्ति, स कालो ग्रीष्म,
प्रवृथातो परोक्षवृत्त्या निष्पन्नश्चादस्य शब्दस्य । यदा तेऽग्नयः प्रवृद्धा भवन्ति
तदा वर्षा, वृषधातुनिष्पन्नोऽयं शब्दः । अथ परा वृद्धिं प्राप्य यदा क्षयं गन्तुमा-
रभन्तेऽग्नयः, तदा (शरन्तोऽग्नयो यत्र) शरत्कालः, शीनताया हेमन्तः, सर्वथा
निशीर्णेषु पानिषु स्थिर इति ‘जायते, अस्ति, वद्धते, विपरिणमते, अपधीयते,
विनश्यति’ इति पास्कपरिपठिता पञ्चभावविहारा एव श्रुताग्निसवन्धेनेह श्रुत
वाचकैः शब्दैः प्रदर्शिता । श्रुतवचनमूतानां चैत्रादिमासानां वैदिकानि नामा-
न्यपि-मधु, माघव, शुक्र, शुचि, नमा, नमस्य, शय, ऊर्ज, सदा, सहस्यः,
तपा, तपस्य-इत्येतानि तेषु तेषु मासेषु श्रुताग्निसवन्धाद्यस्तपुषिभ्यां पार्थिवेषु
प्राणिषु बोध्यते तन्मूलकान्येव । यदा हि मधु समुत्पद्यते-स मासो मधु ।
मधुप्रकर्षसवन्धी च माघव-इत्यादीत्यहो वैज्ञानिकं विवृण्मिषुः सुरभारत्या १ ।
आस्तामप्रवृत्तम् । श्रुतविज्ञानमेवेदानीं सत्पेयं वक्तव्यम् । श्रुत सौराग्निरेव
श्रुतानां प्रधानं कारणम्, परं नैवदृश्यं स विभिन्नप्रकाराश्रितं जनयितुमर्हति

१. यत्र हि अन्यासु वैज्ञानिकतामानिनीषु भाषासु जूनी-नापकं पुरुषविशेषो
यत्रोत्पन्नः स जून इति, जूनी च यस्मिन् मासे जातः स जुगर्द-इति मनुष्य-
सवन्धेन मासनामानि भवन्ति, तत्र सङ्कृतभाषायां मासनामवयवादेव तन्माससवन्धि
विज्ञानं प्रतीयते इति दृश्यता सुरभारत्या गौरव विस्मयं चक्षुषी भाषान्तर-
पञ्चातिभिः ।

सोमसंवन्धस्तत्र—विभिन्नदशासपादनायापेक्षणीय । सोममण्डलं च चन्द्र इति च द्रव्याप्युत्पन्नवृत्त्वमाप्नातम् ।

पूर्वापर चरतो माययेतो

शिरः श्रोष्ठौ परियातो अध्वरम् ।

विश्वाम्यन्यो भुवनमिच्छे

श्रुत् रन्यो विदधन्नायते पुन ॥

(ऋक् १०।८५।१०)

सूर्योचन्द्रमसावस्मिन् मन्त्रे प्रस्तुतौ, तावच्च शिरः इति रूपिनौ । तत्रैकं सूर्यो भुवनानि प्रकाशयति, अन्यस्तु चन्द्रः श्रुत् रन्यं विदधत्पुन पुनर्जायते इति चन्द्रस्यापेक्षाकृत प्राधान्यमुक्तम् । तदित्य सूर्योचन्द्रमसावृत्त्यादौ, किन्तु तत्तद्वत्तु या फल्गुध्यादि समृद्धिस्तत्र हेतुं पार्थिवोऽग्निरेव । न हि पार्थिवान्निवन्ध मन्तरेण पृथिव्यां किमप्युपयेत नाम । सूर्यचन्द्रयोः प्रभावः पार्थिवोऽग्नौ, पार्थिवश्चाग्निस्ताम्या सगृह्य तत्तदन्नादिजनक इति सर्वमिदम् ‘श्रुतिवज्रम्’ इति निमिश्ररैरुक्तम् ।

‘होतारम्’ इति चतुर्थे विशेषण द्वेष्ट चातोर्होतृशब्द निष्पाद्य ब्राह्मणेषु व्याख्यातम् । तेनाग्निदेवानाह्वयति, अग्निद्वारेवास्माकं सौरमण्डलस्थैर्देवैः सवन्ध इति गभीरं तत्त्वं विज्ञायते, यदद्यापि सर्वथा परोक्षं वैज्ञानिकानाम् । अथ पञ्चमम् ‘शनघातमम्’ इति विशेषणम्—अग्निरेव सुवर्णमणिप्रभृतीनां रत्नानामुत्पादयितेति मूलमविज्ञानं स्फुटयति । हिरण्योत्पत्तिविज्ञानं ब्राह्मणे स्फुटमप्युपलभ्यते “आपो वै ववणस्य पान्य आसन्, ता अग्निमग्न्यव्यायन्त, ता समभवन्, तस्य रेतः परापतत्, तद्विग्न्यममवत्” (तैत्तिरीयब्राह्मणे १।१।६) रतेऽग्निवीर्यं सवन्धाद्विरण्योत्पत्तिरित्यत्र स्फुटं भवति । अत एव चाग्निर्हिरण्यरेता इति संस्कृतभाषायामाख्यायते । तदित्य परिमिताक्षरे पञ्चमिर्विशेषणे कियद्विज्ञानं वयं शिक्षिता इति विचार्यता मनाह्महामागे ।

तथैव यत्तु संहिताया आदिमे मन्त्रे—

“इमे त्वोर्देवा वायव इध देवो व सविता प्रापंयतु, भेष्टतमाय कर्मण आप्यायस्वम्”

इत्यादौ—इदित्यत्रम्, ऊर्गिति बलम्, तद्वायोरेवान्नबलसरादकम् । वृष्टिद्वारेणेति वायोर्गुणा, वायौ च यति सूर्यप्रेरणयेति विज्ञानसिद्धान्तं स्फुटीभवति । हे वायव । सविता देवो व प्रापंयतु—प्रेरयतु इति सूर्यप्रेरणया वायौ गते सुप्रतिपन्नत्वात् । “सवितुप्रसूत एष पक्ते” इति शतपथब्राह्मणे तद्व्याख्यानम् । किं च “यशो हि भेष्टतमं कर्म” ‘तस्मै भेष्टतमाय कर्मणे यूयमाप्यायस्वम्—

परिपुष्टा भवत' इति व्याख्यातपूर्वस्य प्राकृतस्य यज्ञस्य वायुपरिपोषाधीनत्वमप्यत्र सिद्धितम् ।

सूर्यसंबन्धे ॥ “प्राण प्रजानामुदयत्येष सूर्यः” “नून जना सूर्येण प्रसूता” इत्यादि बहुतर भुतिषु भुतम् । अस्मदधिष्ठितस्यास्य ब्रह्माण्डस्य सूर्य एवाधिनायकः, ॥ एवोपरिष्ठाद्वर्तमानानामपि मण्डलानां नियन्ता निवेशयिता चेति सर्वातिशायि माहात्म्य सूर्यस्य नृणम् ।

आकृष्टेन रजसा वर्तमानो निवेशयन्नमृतं मार्गं च ।

हिरण्येन सविता रयेनादेवो याति भुवनानि पश्यन् ॥

(ऋ० १/३५/२)

इति हि सौरे मन्त्रे अमृत-मर्त्यनिवेशकत्वं सूर्यादुपरिष्ठाद्यत्, तदमृतम्, अवाभूतं च मर्त्यमिति ब्राह्मणेषु बहुत्रोपलभ्यमानेय परिभाषा श्रीगुरुचरणानां प्रत्येकसङ्गद् व्याख्याता । तदुभयनिवशकत्वं मध्यस्थितस्य सूर्यस्यात्र विज्ञातम् । किं च ‘कृष्णेन रजसालोकेन, आवर्तमान’ इत्युक्त्या प्राणभूतस्य देवस्यादित्यस्य लोकभूतमिदं मण्डलं कृष्णवर्णमित्यस्मान्मन्त्रास्फुगीभवति, यज्ञेदानीन्तना अपि वैशानिका इत्युक्ता प्रचारयन्ति । ते हि ‘सूर्यमण्डले कृष्णवर्णा बहवो भागा (घन्वा)’ इत्यद्यावधि यत्रैर्विनिश्चिन्वन्ति, भुतौ तु सर्वमपि मण्डलं कृष्णवर्णं भूयते, या तु पीतरक्ततास्माभिरनुभूयते, सा रयस्येति ‘हिरण्येन रयेनायाति’ इत्यादिना स्फुगीकृतम् । ससक्तानि स्वमक्तिभूतानि देवान्तराण्येव रयाश्ववाहनादिरूपतया देवानां मन्यन्ते इति व्याख्यात निरुक्तकृता भगवता यास्केन । तेन ससक्तसविकारिप्राणसबन्धादिरण्यवर्णता सूर्यमण्डलस्य प्रतीयत इति भूतसिद्धान्तः, सोऽद्यापि दुरवगम एव विफलमन्त्रसङ्ख्यानामाधुनिकवैशानिकानाम् । यस्त्वयमस्माभिः सौर प्रकाशोऽनुभूयते, स सौररश्मिसपर्कस्त्विह व्याप्तस्य सोमस्याभिज्वलनाभिध्वज इति भूयतेऽप्यत्र—

“सोमेनादित्या बलिनः” (ऋ० स० १/५/५५/२)

“आदिप्रतनस्य रेतसो ज्योतिः पश्यन्ति वासरम् । परो यदिष्यते दिवि” (ऋ० ८/१/३०) इत्यादौ । प्रतन रेतः सोम एव । स एव च दिवि—सूर्यमण्डलात्परस्तादपीष्यते—प्रदीप्यते इति ।

अथापरोऽयं सौरो मन्त्रः—

उदुत्य ज्ञातवेदस देव वहन्ति केतवः ।

दरो विधाय सूर्यम् । (ऋ० अष्ट० १-४-७)

अत्र केतवः किरणाः, विश्वस्मै दर्शयितुं सूर्यं देवमुद्रहन्ति—ऊर्ध्वं प्रापयन्तीत्यर्थं प्रतीयते, व्यख्यातञ्च तथैव भाष्यकारैः । परं विचार्यतां नेदं सम्यक् प्रतीयते,

ऊर्ध्वस्थितमादित्यमथ स्थितानस्मान् क्रिणा दर्शयन्ति, तेन उग्रवहन्तीति वक्तव्यं स्यात्, कुतस्तु उद्ग्रहन्तीति । ऊर्ध्वमपि सूर्यक्रिणा प्रसरन्तीति चेत्, प्रसरन्तु नाम, न तावतास्माकं किमपि सिद्ध्यति । अस्मभ्य दर्शनंनु अथ प्रसरणादेव भवति । ततश्च विश्वाय दृशे उद्ग्रहन्तीति अनुपपन्नमिव । परमिदं तदैवोपपद्यते—यदा वैशानिकानामेव सिद्धान्तोऽधीयते—यद् यावत्सूर्योऽस्मत् क्षितिवादधस्तादेव भवति नेत्रसूत्रसम्बन्धेनैव गच्छति, तावदेव तत्क्रिणा पृथिव्या उग्रशिखाद्रायुमण्डले पतिता वक्त्रीमूयारमन्नेवापि अनुप्रावष्टा स्वसमुत्पन्नामे सूर्यं दर्शयन्ति । सूर्यस्य वाहनं विष्टोदयाद् बहुपूर्वमेव सूर्योदयोऽस्माभिरभिगम्यत इति यावत् । क्रिणानां वक्त्रीमा बोऽयं जलादौ स्फुरन्नुत्पन्नचर । यावदियं घटना, तावदेव सूर्यमण्डलं रक्तं प्रतीयते । ततश्च क्षितिवादध स्थितमेव सूर्यं केनच उद्ग्रहन्ति—विश्वं दर्शयन्तीति प्रस्फुरं जातम् । एव वैशानिकविचारेणैव ये सम्यगुपपद्यन्ते, तादृश्या बहवः सन्नि मन्त्रा ।

अभिद्रवन्त समनेव योषा । कन्याण्य स्मयमानास्ते अग्निम् ।

(ऋ-अ० ३।८।११)

इति मन्त्रं दैवतकाण्डप्रथमाध्याये ७ शकशाणस्तनभवान् यास्व —
'अभिन उदकधाराभिरान्तरिक्षोऽग्निर्दीप्यते'—इतिवदन् वैश्वतं विद्यान् भूतिषु स्फुरं मभ्युपगच्छति ।

अप्स्वग्निं सधिष्ठथ सौप्रधीरनुकृष्यते ।

गर्भे सन् जायते पुन । (यजु १२।३६)

यो अनिभ्यो द्यौदयदप्स्वन्तर्यं विप्राव ईळते अक्षरेषु ।

अरा नपाग्नमुमनीरणो दा याभिरिन्द्रो वावृषे वीर्यसि ॥

(ऋ. म १०।३०।४)

इत्यादिषु मन्त्रेष्वपि स्फुटं विद्युद्विज्ञानम् । अपानपादिति हि अन्तरिक्षाग्निं नामसु पटयते निघण्टुषु, ततश्च—अग्निदग्धनं अप्नु अन्तर्गतं मानं, आन्तरिक्षोऽग्निं—इत्यतः परं किं विद्युतं परिचयदानं समवेत् ?

अस्य वामस्य पलितस्थं होतु—

स्तस्य आता मध्यमो अस्त्यदन ।

ततो यो आता षूतपृष्ठो

अस्याप्रापत्य दिश्यति सप्तपुत्रम् ।

(ऋ० २।३।१४५)

इति मन्त्रे च वामस्य, पलितस्थेति सूर्यमुपक्रम्य मध्यमं आन्तरिक्षोऽग्निं स्तद्भाता—उद्ग्रहीय उक्तं, तेन विद्युतं सूर्योदुत्पन्नतापि स्फुरीकृता । किमन्यद् विद्युत्प्रेक्षावन्दमानमाधुनिकं विज्ञानं विशतस्तत्कमयापि न श्रुयति—भूतरूपेयम्,

केवलशक्तिरूपा वेदस्यापि विचार्यते । अतिस्तु तस्या दन्द्ररूपता सूर्योद्गर्णीयता स्पष्टं शब्दैराद्यं इति किमपि माहात्म्यं श्रुत्या आविर्भवति ।

अस्तु म सोमो अब्रवीदतविधानि मेयन्ता ।

अग्निं च विश्वद्यमुन्म । (श्रु० १२ । २०)

इति म त्रेण जलेऽतस्मिन्ता ब्रुवाणेन जलस्य यौगिकता स्फुटीकृता, यामयस्य आहम्बरेण साधयन्ति वैज्ञानिका ।

सर्वाणि रूपाणि सूर्यरश्मिर्मिरेव निर्मोहन्ते, शुक्लं कृष्णं चेति द्वे एव रूपे मुख्ये, तत्तन्निगतं रक्तम्, मिश्रणानि च यानीत्यस्ति रूपविषये वैज्ञानिकानां दर्शनम् । तदपि—

इन्द्रो रूपाणि क्रनिकदरन्त [तैत्तिरी स०]

शुक्रं ते अन्यद् यजन् ते अन्यद्
द्विरूपे अहनी चौरिवासि ।

विश्वा हि माया अषसि स्वधावो
भद्रा ते पूषजिह्वा रातिरस्तु ॥
(श्रु० ६।५८।१)

इत्यादिषु स्फुटमाग्नातम् । इह शुक्रम्-शुक्लम्, यजत च कृष्णमिति व्याख्यात भाष्यकृता । द्विस्तरमयासर्वेषां मन्त्राणां स्फुटार्था अत्र न निरूपिता, भाष्यादिषु विज्ञानसुभिर्द्रष्टव्या ।

अपि च श्रुक्, साम, यजु, छन्द, स्तोम, मनोता, अह, सहस्रम्— इत्याद्या परशशता शब्दा वेदेषु भूयो भूय समुपगम्यन्ते, ये वैज्ञानिकेष्वर्थेषु संकेतिता सन्ति । ययाधुनिकेषु वाक्यरगादिशास्त्रेषु परिभाषितशब्दमहिम्नाऽनायासेन भूयानर्थोऽवबुध्यते, तथा वदेषु संकेतितागमेषां शब्दानां यथार्थं संकेत ब्राह्मणादिभिर्मात्वा सुमहद् विज्ञानमनायासेन स्वल्पैरवाक्षरे शक्यमवबोद्धुम् । अत्यल्पमिदं निदर्शितम्, अतिगम्यमाणं विज्ञानानि स्वल्पाक्षरे पदैरुपदिष्टानि पदे पदे समुपलभ्यमानानि वेदस्य कमपि गरिमाणं व्यापयन्ति, तानि वेदमहाव्यौ, सहाहसं सोऽसाहं च निमज्जन्दिमिरेव सुन्मानि ।

स्फुटानि विज्ञानानि—

कानिचित्तु विज्ञानानि तथा द्विस्तरमप्याग्नातानि, यथा आपाततोऽपि तदवलोकनेन वेदेषु विज्ञानमस्ति न वति सद्यल्लोकोऽपि न प्रमवेत्, परं तान्यपि सूत्ररूपेणैवाग्नातानि पश्याम । अत्रापि निदर्शनद्वयमुपस्थाप्यते—

‘अनवग इमे भूमौ इय चासौ च रोदसी ।
 किं सिद्धिवा-तरामून येनम विधृते उमे ।
 विष्णुना विधृते भूमौ इति कवस्य वेदना ।
 इरान्ती धेतुमनी हि मून स्य-सिनी मनुपे ददस्या ।
 ध्यस्तम्नाद् रोदसी विष्णव न दाधर्थं पृथिवीमभितो मयूखै ॥

(तैत्तिरीयारण्यके १।८।१६)

इह पृथिवीमण्डलस्य सूर्यमण्डलस्य च कथं समानान्तरं धागमिति प्रश्नमु
 एवमाप्य विष्णुमूर्त्तिक धारणं स्फुटैरेवाश्रयैर्वास्थापितम् । तत्र च ऋक्संहिता
 पठितो मन्त्र (७।८।१) ‘इरावता’ इत्यादि प्रमाणरत्नेनोपन्यस्तः । विष्णुशब्दोऽ
 यमादित्यनामसु निष्पद्यते, ब्राह्मणेषु पुराणेष्वपि आदित्यस्य विष्णुस्य
 व्दामिधेयता प्रसूता । तत्र मन्त्रद्वयमिदं सूर्यमण्डलान्तर्गतेनादित्यप्राणेन विधृतं
 निष्ठतीति सूर्याकर्षणविज्ञानमत्र प्रसूतं भवति । अयमेवादित्यप्राण इन्द्रश्चन्द्रेणापि
 भुतिष्वाख्यायते “यथाग्निगर्भां पृथिवीं यथा चौरिद्रेण गर्भिणी” इति । इन्द्रस्य
 न केनल पृथिवीधारकत्वमपि नु तत्प्रेरणेनैव पृथिवी दैनन्दिनगतिरित्यपि भ्रूयन्तरे
 स्पष्टमुक्तम्—

“यश्च इन्द्रमवर्धयत्, स भूमिं व्यवर्त्तयत् ।
 चक्राण धोवता दिवि ॥” (ऋ० स० ६।१।२४)

तथैव “तिस्रो मातृक्रीत्त मितन् विभ्रदेक
 ऊर्ध्वन्तस्थौ नैमैकलापयन्ति ।”

(ऋ० १।१६।१०)

“तिस्रो भूमौर्ध्वरात् श्रीरुत शनू ।”

(ऋ० २।२७।८)

इत्यादिष्वपि बहुषु मन्त्रेषु सूर्यकृत पृथिव्यादिधारणमुपदिष्टद्विराकर्षणविज्ञानं
 स्पष्टीकृतम् । तिस्रो भूम्यस्तयो दिवश्चाप्युक्ता अग्नित्याहुतिनिरूपणे सक्षेपेण
 व्याख्यायन्ते । तथैव—

“मनो देवा मनुष्याजानन्ताति, मनसा सकल्पयति, तत् प्राणमपि
 पयते, प्राणो वातम्, वातो देवस्य आचष्टे यथा पुरुषस्य मनः । तस्मादेतदपि
 णऽप्यनूक्तम्—

‘मनसा सकल्पयति तद् वातमपि गच्छति ।

वातो देवेभ्य आचष्टे यथा पुरुष ते मनः ।”

(शत० ६।४।५)

इति द्यतपयब्राह्मणे, तत्र प्रमाणीकृते अथर्वसंहितामन्त्रे (१२।४।१।१) च
 विस्पष्टैरक्षरैर्मनोविज्ञानमाम्नातम्, न तत्र मनागपि व्याख्याया अपेक्षा ।

अल्पमात्र निदर्शितम् । वर्षादिविज्ञानं तु मन्त्रेषु निरुक्तादिष्वपि स्फुटं व्याख्यातमेवेति । अतिगम्भीराणि सर्वाणि विज्ञानानि मन्त्रेषु स्वस्वरक्षरैः संकेति तानि, ब्राह्मणे च व्याख्यातानि ।

वदेषु हि परिश्रम्य न केवलं भौतिकं विज्ञानं प्राप्यत, अपि तु आधिदैविकम्, आध्यात्मिकम्, आधिभौतिकम्, अधियज्ञं च विज्ञानमामृतचूडं परिपूर्णतया तत्रोपगम्यते । यथास्माकमियं पृथ्वी स्वसंबन्धेन चंद्रमसा सह सूर्येण संबद्धा, सूर्यार्द्रर्षणवशात्, तथैव सूर्योऽपि भगवान् परमेष्ठिमण्डलेन संबद्धः, च परमेष्ठी स्वयम्भूमण्डलवशात्—इत्येव चंद्रः, पृथिवी, सूर्यः, परमेष्ठी, स्वयंभूरिति पञ्चमण्डलेयमेका ब्रह्मा (शास्त्रा) अस्मदधिष्ठिता, सत्ययज्ञा अभ्येयविद्या अनन्ता शास्त्रा, परं न सद्विज्ञानेनास्माकं किमपि प्रयोजनं सिद्धयतीति ता उपेक्ष्यन्ते ।

इह सूर्यपृथिव्योरन्तराले यदन्तरिक्षं तत्र प्रधानश्चन्द्रमा मण्डलेषु पृथीतः, एवमेव तु परमेष्ठिसूर्ययोरन्तराले, स्वयम्भूपरमेष्ठिनोरपि चान्तराले विद्यतेऽन्तरिक्षम्, सन्ति च तत्राप्युभयत्र वरुण-ब्रह्मणस्पतीन्द्रप्रमुखानि मण्डलानि—इति समूय सप्त लोका भवन्ति—ये भू, भुवः, स्वः, महः, जनः, तपः सप्तमिति वेदेषु पुराणेषु चाख्यायन्ते । अत्रापेक्षाकृता भूम्यन्तरिक्षद्वयव्यवहारा प्रवर्तन्ते, यथास्मदधिष्ठितभूम्यपेक्षया सूर्यमण्डलं द्यौः, मध्ये चान्तरिक्षम् । सूर्यमण्डलविधानान्तर्गते सूर्यं (स्वः) एव भूमिः, जनः द्यौः, महः सत्यन्तरिक्षम्, तथैवाग्नेऽग्निं द्रष्टव्यम् । समूयस्तु भू, भुवः, स्वः इति तिस्रो भूम्यः, स्वः, महः, जनः इति त्रीण्यन्तरिक्षाणि, जनः, तपः, सप्तमिति त्रयो दिवः । द्वयोस्त्वत्रापेक्षाकृत उभयत्र प्रवेशः । एषु यावन्तर्गतानि महान्ति, मण्डलानि, यास्ताराः, ये तत्तेषां प्राणाः †, ये च तत्र तत्र † देवाद्याः, यद्वैष्णवस्मात् प्रभावः, तत् सर्वमप्याधिदैविके विज्ञाने समाभ्यास्यते, एतत् सर्वमुपजीव्य तत्सारभूतं क्षुद्रं ब्रह्माण्डरूपं यदस्मदादिशरीरत्रयं * तदाध्यात्मिके विज्ञाने सम्यक् निरूप्यते । यच्चेह पृथिव्या स्वावरजङ्गमात्मकं कार्यकारणपरम्परापतितं तत् सर्वमाधिभौतिके विज्ञानेऽन्तर्गतं पतति । इहैव मानुषचरितरूपाणानितिहासानामप्यन्तर्भावः ।

अपेक्षा सर्वमप्याध्यात्माधिभूताधिदैवतया व्याख्यातानां यं पारस्परिकं संबन्धं, येन सर्वमिदं जगच्चक्रं परिचलति ।

यदेवम् तदमुत्र यदमुत्र तदन्विह । (कठोपनिषत्)

† तेषां सर्वेषां यत् तत्त्वमिह पृथिव्यामागतं व्यमनिद्यमुपजीवाम्, तत्तेषां प्राणरूपतयैवाख्यायते । अत्रार्थे 'मनोता' शब्दव्यवहारो वेदेषु ।

+ देवाः, पितरः, ऋषयः, गन्धर्वाः, असुरा इति प्राणरूपास्तत्र तत्र ।

७ स्थूलः, सूक्ष्मः, कारणं चेति शरीरत्रयं प्रसिद्धं शास्त्रेषु ।

इत्यादिना भूयो भूय भूतिषु यत् समुपदिष्टम्, यच्च वैदिके विज्ञाने मौलिकमनुक्त रहस्यम्—तदिदमधिष्यच्च नाम विज्ञानम् । एतदेव विज्ञाय सर्वं कर्तुं मर्कतमन्यथाकर्तुं समर्था अस्माक पूर्वजा श्रूयथ आसन् । अस्यैव प्रभावः —

“यस्त्वेव ब्राह्मणो विद्याचक्षुष देवा आसन् करो ।” (यजु ३१।२१)
इत्यादिना मरावता वेदपुष्पेण समुपदिष्ट ।

अथैतेषु विज्ञानेषु विज्ञातानां तेषां तेषामर्थानां परस्पर सम्बन्धोऽपि विज्ञेयः । सन्त्याधिदैवमूषय, पितरो, देवाश्च, सन्ति च ध्यातममधिभूत च ते तत्र तत्र व्याख्याता, तेषां च परस्पर सम्बन्ध इत्यपि निगूढ वेदेषु विज्ञेयम्—यद्विज्ञान-विधुरा अद्यत्वे वेदार्थे परिभ्राम्याम । एतदनन्तरम्—एतत्सर्वं दशार्थमूलभूत सर्वानुत्पूत—प्रकृति, पुरुष पर ब्रह्मेति च—यत् क्रमेण सत्यमनृतममय लोका-तीर्तं च तत्त्वं परिचीयते तज्ज्ञान नाम । यद्यपि विज्ञान-विधेयैश्च भूतिषु परिचाख्यं त इत्युक्तं प्राक् ।

यावत्सर्वस्य विज्ञानमध्याहेऽपि केनन्माधिभौतिक विज्ञानमुन्नतिं गतम् । तत्राप्यथावधि बहव सिद्धान्ता अस्ति एव । भूयो भूय परिवर्त्तन तेषां भवति । बहुषु च विषयेष्वथावधि सिद्धान्त एव न स्थिरोभूत । आधिदैविकमाध्यात्मिकं च विज्ञानं तत्राप्यपि शैशवमेवास्तिवाहयति । अधियज्ञविज्ञानस्य तु कथारि तत्र नास्ति, दूरे तु पुरुषविज्ञानादिकया ।

बहुत्र ब्राह्मणग्रन्थेषु तथाविधविज्ञानानां रुक्तेषु लक्ष्यते, देवा एतानोऽप्याधुनि-कैश्च निकर्षं दृश्यते उदाहरणार्थं दृश्यता तावन्ततपये (११ काण्डे ४ अध्याये) स्वैदायनोद्दालकसंवाद —(स्वैदायनस्य प्रश्न)

“स वै गौतमस्य पुत्र । वृत्तो वनं धावयेत्, यस्तद्दर्शपूर्णमासयोर्विद्याद्-यस्मादिमां प्रजा अदन्तका जायन्ते, यस्मादासां जायन्ते, यस्मादाशो प्रमियन्ते, यस्मादाशः शन्तिष्ठन्ते, यस्मादासा पुनरुत्तमे क्षयि सर्वं एव प्रमियन्ते । यस्मादधर एषाग्ने जायन्तेऽधोचरे । यस्मादग्ने दधीयास एवाधरे प्रधीयास उत्तरे, यस्माद् दष्ट्रा वर्धीयासो, यस्मास्तमा एव जग्म्या । ५।

■ वै गौतमस्यपुत्र । वृत्तो वनं धावयेत्, यस्तद्दर्शपूर्णमासयोर्विद्याद्-यस्मादिमां प्रजा लोमशा जायन्ते, यस्मादासां पुनरिव वनभूयोरपदस्याणि दुर्धरिणानि जायन्ते, यस्माच्छीर्षेणैवाग्ने पत्नितो भवति, अप्य पुनरुत्तमे क्षयि सर्वं एव पत्नितो भवति । ६।” इत्यादि ।

१. जन्मोत्तर दन्ता उपलप्यन्त दस्यर्थः ।

२. पुनरुत्पद्यन्ते ।

३. नीचैर्दन्ता लघवो भवन्ति ।

अत्राग्रे दन्तानामवर्जनस्य, पुनर्जननस्य, तेषां परिमाणादे, केचन शब्दादीनां च केवलं वैज्ञानिकानि कारणान्येव न विवेचितानि, अपि ॥ तेषां यत्तद्वचोऽपि चिन्तित । तथैव शतपथब्राह्मणस्य चतुर्दशे काण्डे (बृहदारण्यकोपनिषदि) जनकं यजुर्वेदे (१४ वा० अ० ४।९।३३) मनुष्यशरीरस्य वृक्षस्य च साम्यं प्रदर्शयति मगवतो याज्ञवल्क्यस्य प्रश्न —

यद् वृक्षे वृक्षो रोहति मूलमवतर पुन ।
मर्त्यं स्विन् मृत्युना वृक्षं कस्मान्मूलाग्ररोहति ।
रेतस इति मा वोचत जीवनस्तत्प्रभायते ।
जात एव न जायते कोन्वेन जनयेत्पुन ।
धानादह उ वै वृक्षोऽप्यत प्रेत्य समव ।
यत्तन्मूलमुद्बुधेयुर्बुध न पुनरामवेत् ।
मर्त्यं हिन् मृत्युना वृक्षं कस्मान्मूलाग्ररोहति ।

अत्र मृतस्य पुनरुद्भवश्चिन्तित ।

उदाहरणमात्रमिदम् ॥ हूनि तथाविधानि विज्ञानानि भ्रुतिषु विवेचितानि, येषामप्यत्र कथापि नास्ति ।

एवमव सन्धेयवाधुरैस्तुत्यादिप्रकरणमध्य एव बहव इतिहासा अपि भ्रुतिषु प्रतिपादिता । यथा—

यत्नेन यज्ञमयजन्त देशस्तानि धर्माणि प्रथमान्यासन् ।

ते ह नाक महिमान सचन्त यत्र पूर्वं साध्या सन्ति देवा ॥

इति सुप्रसिद्धे पुरुषसूक्तमन्त्रे 'पूर्वं साध्या नाम देवा आसन्, तैर्यज्ञप्रणालीय प्रवर्तिता, इत्यादीतिहास संकथित' । तथैव 'ब्रह्मणा यज्ञब्रह्मविद्या पूर्वमथर्नये शिक्षिता, अथर्वणा च यज्ञा पूर्वं प्रवर्तिता, इत्यादि संकेतोऽपि तत्र लभ्यते । 'इति दत्तस्य वेदना' इति निर्दिष्टपूर्वं अथर्वणविज्ञानमन्त्रे दत्तोऽस्याविवक्षितं सूचितम् ।

य वै सूर्यं स्वर्मानुस्तमसा विध्यदासुर ।

अन्यस्तमन्वन्तिदन् न क्षन्य अशक्नुवन् ॥

(ऋ० म० ५।४०।९)

इति मन्त्रे च सूर्यचन्द्रोपरागविज्ञानमभिव्यञ्जै पूर्वं साधितमिति निर्दिष्टम् ।

“यच्चिचमत्तमसुरस्य भक्षणमेक सन्तमकृशुना चतुर्वयम्”

(ऋ० म० १।११०।३)

इति ऋग्वेदयज्ञाके मन्त्रे ऋग्वेदमेषस्य चमसस्य चतुर्धाकरणं वैज्ञानिकं चित्प्राप्तिं वृत्ते निर्दिष्टम् । अस्मिन्नेव सूक्ते—

मन्त्रं श्रुत्वा मनसिष्ठत ॥ ५ ॥ तेनायुः कालं पुन ।
मन्त्रेणाह स्वमन्त्रा नरा जिजी युवना निगृह्येत न ॥

अति मन्त्रं श्रुत्वा वैज्ञानिकानि वारं निदिधिति ।

तद्दन्तमेव दन्तनिष्ठं दत्ता वृत्ता शचीनि ।
निधेयं पारय मन्त्रं दन्तमेव चक्रयुक्तं नमः ॥

(श्रु० १।१२।१)

अथाद्यु मन्त्रं आचनोद्धूनि विहितं वारं दधितानि, देयु दधूनि
पुराणेषु विहितानि तद्दन्तमेव ।

एवमिन्द्राह तद्दन्तं वारं वारं प्राप्यत, यद्दन्तं प्रक्षाल्यन्तरं प्राप्ते
सम्भव एव ।

तच्च विचारता महामाया । यन् मन्त्रिणैः ह्यन् वनेदानोत्तम पाश्चात्त्य
मौ— तिन मनस्य, तद् पर वैदि विज्ञानमारभते तथैव 'यनेदानी
यावत्तच्छब्द इतिहास मनस्य, तद् परन्त इतिहासगमो वैदि' इति,
तद्देवाराह वारं वारं नार विहितवा मन्त्र ।

विज्ञानस्य मारते ह्रासः

अथ वाच्यमग हस्तिमानुपपुरि तद्दन्त आयंवनताया बुद्धिमेव वैदि
गनीर तद्दन्तं दध्यातु मित्रा ग्या प्रादुस्मन् । तदाह निष्ठे मुनिर्वाह —

“मन्त्रं वारं वारं श्रुत्वा वारं । त अनेभ्यः वारं वारं वारं वारं
मन्त्रं वारं । तदेव वारं वारं वारं वारं वारं वारं वारं वारं
वद न वदन्तान व ।” इति

इम वारं = तद्दन्तं वारं वारं वारं वारं वारं वारं वारं वारं
प्रकीर्णं मन्त्रं वारं वारं वारं वारं वारं वारं वारं वारं
वारं । त वारं वदन्तान, विज्ञानान्ता, वदन्तान्ता वा यथाचित प्रदश
वत म । तया हि गेयताछर—

“इम वारं वदन्तान्ता १ वारं, २ वारं, ३ वारं, ४ वारं
वारं, ५ वारं, ६ वारं, ७ वारं, ८ वारं, ९ वारं, १० वारं
१० वारं, ११ वारं, १२ वारं, १३ वारं, १४ वारं, १५ वारं ।

(पूर्व० प्र० २ व १०)

इति वदन्तान्ता वारं वारं वारं वारं वारं वारं वारं वारं
वदन्तान्ता वारं वारं वारं वारं वारं वारं वारं वारं

“ऋग्वेदं भगवोऽध्येमि यजुर्वेदं सामवेदमथर्णां चतुर्थं (१) मितिहास (२) पुराण (३) पञ्चमं वेदानां वेदं (४) निम्न राशि (५) दैवं निधिं (६) वाकोवाक्य (७) मेकायन (८) देवविद्या (९) ब्रह्मविद्या (१०) भूत-विद्या (११) क्षत्रविद्या (१२) नक्षत्रविद्या (१३) सर्पदेवजनविद्यामेतद् भगवोऽध्येमि ।” (छान्दो. प्र ७, स० १)

इह वेदचतुष्टयीतोऽतिरिक्तास्त्रयोदश विद्या आम्नायन्ते । तथैव शतपथ-ब्राह्मणान्तर्गताया बृहदारण्यकोपनिषदि याज्ञवल्क्यमंत्रेयीसंवादे—

“एव वा अऽस्य महतो भूतस्य निश्चलिनमेतद् यद्वेदो यजुर्वेद साम-वेदोऽथर्वोङ्गिरस पुराण विद्या उपनिषद श्लोका सूत्राण्यनु-याय्यानानि ध्याय्या-नान्यस्यैवैतानि सर्वाणि निश्चलितानि ।” (बृहदा. अ. ४, ब्रा. ४, ल. १०)

इति बहुविधानि विद्याप्रस्थानानि भूयन्त । तेष्वेतेषु वेदशरीरेषु, वेदाङ्गेषु, विद्यासु च मन्त्रोपदिष्टमेव तत्तद् विषयभेदेन प्रस्तरभेदेन च प्रस्फुटीक्रियते स्म । परमगानि प्राक्तनी वेदेष्टी शैली न परित्यक्ताऽमूत्, संकेतरूपेणैव मन्त्रशैल्यैव च तत्तदर्थप्रतिपादन सर्वत्र प्रस्तुतममूत् ।

अथ निरीते काले स्वार्थबुद्धौ प्राचल्यमागतायामभिचारादिकर्मसु प्रसारं गतेषु जगद्धितबुद्ध्या क्रियमागानां यज्ञानां विरुद्धतामपन्ने प्रचारे वैदिकं विज्ञान-मपि क्रमेण धीयिन्ननजत् । महाभारतबुद्धानन्तरं तु चित्रपट इव परिवर्तते स्म । देशविषयात् क्षिप्तेषु लोकेषु का नान विज्ञानोन्नति कथा ? विरुद्धतामापन्न उच्छिन्न इव वैदिका गुह्यसंप्रदाय, विरुद्धतामापन्ना अभवन् विद्या, स्वार्थलिप्ता-न्यमवन् कर्माणि । अस्मिन् व्यतिकरे प्राक्तनास्तत्सामयिका वा वेदाङ्गप्रवक्तृणां दर्शनसूत्रकाराणां चैकदेशमवलम्ब्य लोकदृष्टिमाकृष्ट कृता अपि प्रयत्ना न साफल्यमभजन् । प्रयुत अङ्गविस्तारो मन्त्रभेदविस्तारश्च वैदिकविज्ञानतिरोधाना-यैवाऽकल्पन ।

ब्रह्मणे धाने च युगपद् विन्यं ब्रजनि तदेव देवादुपस्थितो बौद्धानां समयः । यस्मिन् काले न केन्द्रं संप्रदाय उच्छिन्न, अपि तु वेदरहस्यावशेषका निदा-नरहस्यादिग्रन्था अस्मिन् ग्रन्थं गताः । उच्छिन्ना भान्वा, व्यलुप्यन्त बहूनि ब्राह्मणानि-नाममात्रायाधिष्ठन्त रिता । ब्रह्मतेज-प्रभावेणैव कालेन समुपशान्तः स शश्वत्वात् । तदुत्तरमपि बहूनामाचार्याणां महानुभावानां प्रयत्नेन कर्मकाण्डमुपा-सनाकाण्ड ज्ञानकाण्ड पुनरपि संप्रदायबद्धममूत्, पर विज्ञानशैली तु विलुप्ता नैव प्रचारमापेक्षे ।

संप्रदायस्य विच्छिन्नप्रायत्वाद्, ग्रन्थानां च विलोपाद् विज्ञानकथाभिरपि शून्ये ऐन्द्रजालिकमायाप्रधाने तस्मिन् काले अविकारिणा विरुद्धान् विज्ञानोद्धाराय समय आसादित आचार्यै । आन्वयकृतमकर्मविधिसंप्रदायस्या तैः कृता,

कर्मन्मूलाविज्ञानरक्षा तु न तदात्वे समबोधोपनिषदादीकृते स्म । तत एव मन्त्र-
ब्राह्मणानवरस्य वेदस्य कर्मावबोधकं सामप्रदं रिक्तोऽर्थं सुरजितोऽमूर्त् । उपरादकं
विज्ञानन्तर्वर्षरादशब्दवाच्यवामापद्य परित्यक्तममूर्त्तौ वै । विज्ञानविरहाच्चेधनार्थ-
निधा तत प्रभृदय कवल् शब्दप्रधानता गता । तर्कयाकरणसाहित्यादय शब्दा-
दम्बरमात्रसारा लोकेभ्योऽशोचन्त । महास्तत्र तत्र ग्रन्थविस्तर प्रावर्धत ।
जल्पप्रक्रिया कविप्रक्रिया च निनोदायात्ममूर्त् । क्रमण वैदिका *उपहरन्ते
स्म, यथा निन्द्यन्ते स्म । किमधिकेन जल्पनेन, यत् तत्परिणाममूर्त् ज्ञात जायते
च, तत् सर्वं प्रत्यक्षमेव ।

इदं तु सायम्—यत् सत्यविद्याया विद्यन ईश्वरपञ्चगतं । तत एव लेशतोऽ-
प्यार्यविद्याया आभासमात्रमनुपाप्यापि वैदेशिका यवनमन्त्रेणाद्या अपि शिरसास्था
गौरव बह्वन्ति स्म, तत एनेयमद्यावधि रक्षिता । तादृशव्यावृद्धमानसा एव
तस्मिन्नपि धोरे काले बहव आचार्या निद्रासम्ब वैदिकेषु विषयेषु लेखनीमवाचयन् ।
वेदाना माध्याप्यपि व्यरन्त्यन् । पर कर्मोपगो सप्रदायप्राप्तोऽर्थस्तत्र विवृत,
वैज्ञानिकानाम्नु वैदिकाना सक्ताना तस्या वैज्ञानिकपद्धत्याश्च सप्रदायोच्छ्रद्धाद्
विलाप इवाभूत् । तत एवार्वाचीनेषु भाष्येषु न वैज्ञानिकी पद्धतिमुरलभामहे ।
मानुषयशोपयुक्ततया ग्रन्था व्याख्याता माध्यकुन्दि, विज्ञाननोदायतुमूता प्रवृत्त
पक्षपता तु समुपलब्ध । विज्ञाभ्यासनमधिभूतमधिदैवत च चे दक्षिणाद्या, तेषा
निष्कोऽपि भाष्येषु नोपलभ्यते । तत एनेकस्य धर्मो अपसम्बन्धत्वेन प्रसिद्धोय
माना बुद्धि विस्मयन्तीर । तस्मिन् काले तस्या विद्याया सर्वथाऽभाव
एनाश्रयप्राप्यति, न तु तन भाष्यहृता कोऽपि दोष । ग्रन्थकर्तृभि किञ्च लोक
कचिरप्यवश्यमनुसरणीया भवति, ग्रन्थप्रचार एवान्यथा न सरद्यतेति । कर्ममात्रे
बद्धभङ्गास्तदा लोका इति कर्मोपयुक्त एवार्थं प्राधान्येन भाष्येषु प्रतिपादितोऽ-
मूर्त् । उपरन्तिनिष्पन्नानु विस्तरावामन्वत । तदुक्त भाष्यहृता श्रीवाराणमाधवा-
चार्येण श्रुत संहिताया प्रथमे मन्त्र नैष्ठिकादिप्रक्रिया प्रदर्श्य—

वदाऽवतार आद्याया श्रुवोऽर्थश्च प्रपञ्चित ।

विज्ञात वदगाम्भीर्यं सत्प्रपादधुनोऽप्यते ॥ इति ।

वदार्थस्तु दूर आस्ताम्, वैदिकी शैलीननुसृष्ट स्मृतिषु सूत्रेषु पुराणेतिहासे
अपि च यदुपदिष्टम्, तस्यापि मर्मज्ञान नाभवदव विदुषामर्नानीनानाम् । ते
शब्दमात्रेणैर परिदृश्यन्तो नानुभवपथिकता त त्मर्ये नेष्टमुमुक्षा बभूवु ।

किञ्चिद्विदशनमत्र समुपस्थाप्यते चेन्मन्ये नाऽनुचित स्यात् । इदं तु स्मर्त्तं

* राजमापनिमैर्दन्तौ कटिविन्द्यस्तपाय । द्वारि तिष्ठन्ति राजेन्द्र चान्दसा
श्लोकप्रव । (मोक्षप्रबन्धे) इत्यादि बहुतरम् ।

व्यम्—यत् परमान्येषु गुरुतमेषु महानुभावेषु आचार्येषु अन्येभ्यः न मनारपि
ऋत्विज्येभ्यो नात्मानं पक्वे पातयितुं शक्योऽप्यभिकाङ्क्षते, केवलं विज्ञानदुरस्था-
मेव बोधयितुमेतानि निदर्शनानि ।

विज्ञानस्य भारते दुग्धस्था

अथेयन्तरिक्षं द्यौरेति क्रमणं व्यपदिष्टेषु त्रिषु लोकेषु अग्निर्वायुरादित्य इति
रुन्ति त्रयो देवा प्रधानमृता इति स्पष्टं निरुक्तविद्वान् । तेष्वेकं प्रधानीकृत्य
देवान्तरं च तदङ्गभाष्यमानां यदन्वयी क्रमणं प्रसजते । ऋग्वेदे अग्ने, यजुर्वेदे
वायो, सामवेदे आदित्यस्य चास्ति प्राधान्येन विज्ञानम्, तदङ्गतया चान्येषाम् ।
अत एव 'अग्निमीळे पुरोहितम्' इति पुरं स्थापितमिममेवाग्निं प्रस्तुतौ ऋक्संहिता
प्रवर्तते 'इमे त्वोर्जसा वाय' इत्येव, देवो च सविता प्रार्पयन्तु" इति वायु
यजुः संहितोपक्रम एव कीर्तयति "अग्न आयाहि वीतये" इति आगन्तुकमग्नि-
माहितं सामवेदसंहिता प्रारम्भ एव प्रस्तौति । इदमवाभिप्रेत्य "ऋग्वेद एवाने-
रथायन्, यजुर्वेदो वायो सामवेद आदित्यात्" इति ब्राह्मणभूतान्यादिभ्यः ऋ-
ग्वेदादीनामुत्पत्तिराम्नाता प्रियस्य ज्ञानकारणतायां निरुद्धत्वात् । यद्यपि अग्निः,
सत एव ऋग्वेदो जायते, न जवेच्चेत्, कर्णयितुमृग्वेदं प्रवर्ततेतत् तस्य कारण-
वन्मुपवादयन्ति । अयमवाभिप्रायो—

अग्निनायुरविभ्यस्तु नय ब्रह्म सनातनम् ।

तुदोह यश्चिद्वचर्थमृष्यन्तु सामलक्ष्णम् ॥

(मनु-अ० १ श्लो० १२)

इति मन्त्रा मनुनाऽपि शब्दान्तरैरुपदिष्ट । परं प्रतिद्वैतदर्शनेषु धीमन्तैरपि
विद्वद्भिरन्वयितास्तु सत्त्वगुणसु वा मनुस्मृत्यन्तर्गतास्तु नैकत्रापि स्वरूपीकरणमस्यार्थं
स्वीकृत्य नानह । पूर्वोक्ता भूति प्रायेण सर्वैरेव सन्निभता, अम्यादिभ्यश्च कथं
ब्रह्मनामुत्पत्तिं सम्भवीत्याशङ्कितमपि, परम् 'आगमिकत्वाच्च नातिशङ्क्यमेतत्'
(गोविन्दराज) इत्याद्येन समाहितम् ।

'ताराशारद्वयं प्रयज्जनविधौ मघातिथेऽष्टादशी' इति बहुधा स्तुतेन सर्वमान्येन
मघातिथिना बहुलं च विवेचितम् । परं "किं नोपपद्यते, कश्चिद्वदति असती
रुन्ति" इति । नारायणोऽर्थो विकल्पयितुं युक्तः । अम्यादयोऽपि देवता ऐश्वर्यभाजो
निर्लिङ्गशक्तिश्च प्रजापतिस्तत्र च नामानुपपत्तिः "अयं नारायणश्चेति" इत्यादिभिः
रुन्ति शब्दैः शङ्कमनानां मुख्यमुद्रणं कृतम् । अग्रे महामतस्य दृष्टिर्मनायुक्तोऽर्थे
प्रसूता, परमृग्वेद आग्नेयसूक्तानामारम्भे दर्शनमव ऋग्वेदस्याग्निजन्यत्वं तेन
हेतुवत् । न च तत्राग्निविज्ञानं प्राधान्येनास्तीति स्वप्नीकृतं, तस्यापि वाक्यं
प्राप्तम् । अग्रे यद्वदये त्वेवविधोऽपि सम्भवो न प्रदर्शित एवेति । भाष्यकृतो

न श्रीमाधवाचार्येण “अग्न्यादिहोत्रात् वेदानां पौरुषेष्वेव प्रकृतम्” इति उपोद्-
घाते पूर्वपक्षीकृत्यत्तरपक्षे न किमपि समाहितम् । वैशानिकादतो तस्मिन् धात्रे
होत्रे चैव एव नामूदित्येवस्य सर्वस्य निदानम् ।

एव चतुर्वेदि-चिन्तामणे आदिसण्ड पृथगतत्वेन पितृतत्त्वं विनययन्नपि तत्र
मवान् निबन्धयन् । मूर्धन्यो हेमाद्रि शुनिष्ठु सख्यमि-यञ्जितम् ‘आग्नेया प्राणा
देवा, नोन्या प्राणा पण्य’ इति देवानां त्रिगुणा च वैश्वस्य न लेशतोऽपि
व्याख्याति । महत्सूत्रौ—

‘श्रुतिम्य पितरो ज्ञानं त्रिगुण्यो देवदानवा ।

दनम्यश्च ज्ञात्वा चरन्त्यन्तुपूर्वध (अ १)

ज्यादिना स्पर्शीकृतमपि देवदेवविज्ञानं चतुर्वेदमेषानिधिर्यंज्ञादत्वेनैव दूरे षिपति,
न तु समुत्तिष्ठ व्याचष्टे । तस्मिन् काले वैशानिकाया विरहो वैदिकवैशानिकार्थ-
समप्रदायवच्छेद एव कात्र निदानम् ।

द्विविधा पदार्था वैदिक निश्चय आरभ्यन्ते—‘अस्थमवत, अनस्थाश्च’ ।
तेषामस्त वाक्ष्यतया, ते अस्थमवत, यं तु कदा प्रतीयन्त एव, न तु पृथग्
वदितव्यमस्त त अनस्था इत्युच्यन्त । इदमेव मेदद्वयम्—‘अस्ति सिद्धम् भाति
सिद्धम्’ चेति अग्न्यादीनां लौकिक्या माधायाम् । एतदभिप्रायेणैव पदार्थधर्मविशेषका
भावान् कदाचो मुनिरपि द्वेषा पदार्थान् व्यम-त्—सदित्याह्वानान् सत्ताविद्वान्
द्रव्यगुणकर्मोत्तरान् प्रथमं व्यमयत्, “सामान्य विषय इति बुद्धयपन्नम्” इति
मध्यम-च-श्च सामान्यादीन् भातिविद्वान्ते सत्यवेगयत् । परं तदनुपायिषु
द्रव्यादिवदेव ते पार्थक्यसाधनररपु दर्शनमन्त्रै सह मदान् कर्णोऽस्मिन् विषये
प्रवृत्त—

“न याति न च तत्रासीदस्ति पश्चात् चाद्यत् ।

वशात् पूर्वं नाधारमहो व्यसनसन्तति ।”

इत्याद्या बीजानानाद्येनाश्च प्रत्येकं द्रव्यविधातेर्विमुक्तमङ्गीकृत्य समाधीयन्ते
इति कुत्र कोरे निश्चयं कराक निर्वीय तिष्ठतु ।

संस्कृतमधायानत्वेनलोचका सत्त्वावृणद्विशब्दा अपि तत्तद्विद्वानाद्योभ्यु-
पगम्यत । अत्र वैशानिक दृष्टमुरदर्शयन् महाभाष्यकारो मवान् पत्रञ्जलि —

“एतानामस्यौ निज्ञानस्यौ सन्तान्तत ।”

“एतान् मनायतन्तुं क्षीं ह्ये एषं प्रथमं पुमान्”

इति वर्तित्वं व्याचष्टाथ. ‘अधिकरणत घना लोक क्षी, मयपत्वरना रभं
इति, कर्तृसाधनश्च पुमान् एते पुमानिति । इह पुनरुभय मावग्यधनम् एतान्
क्षी, प्रवृत्तश्च पुमान्, कर्म पुन मत्वरान् क्षी, प्रवृत्तश्च पुमान् । गुणानाम् ।

वेदाम् । शब्दस्पर्शरूपरसगन्धानाम् । सर्वोश्च पुनर्मूर्तय एवमात्मिका रसस्थान-
प्रसवगुणा शब्दस्पर्शरूपरसगन्धद्वयः । यत्राल्पोयासौ गुणास्त्रावरतस्य शब्द-
स्पर्शो रूपमिति, रसगन्धौ न सर्वत्र । प्रवृत्तिं खल्वेति निर्या, नहीदं चिदपि
स्वस्मिन्नात्मनि मुहूर्तमप्यतिष्ठते, वदते वा यावदनेन वदितव्यम्, अगर्थेन
वा युज्यते, तच्चोभयं सर्वत्र, यद्युभयं सर्वत्र कुतो व्यवस्था, निश्चातः । सस्थान-
विवक्षाया स्त्री, प्रसवविवक्षाया पुमान्, उभयविवक्षाया नपुंसकम्” इति ।
अस्याभिप्रायं प्रस्फुटं प्रव, यत् सप्त पूर्वेप्रदर्शितयज्ञप्रक्रियाविधया आदानप्रदाने
प्रवर्तते, तत्रादानविवक्षाया स्त्रीलिङ्गं शब्दस्तत्र प्रवर्तते प्रदाननिश्चया पुल्लिङ्गं
शब्दः, तात्पर्यविवक्षा तु नपुंसकलिङ्गं शब्द इति, परं कैयन्महाभागो यज्ञ-
प्रक्रियामिमामनमित्यस्यैव शब्दस्पर्शोदिरूपेण स्वरूपमपि भाष्यकृतो विवरणं गौण-
मथा गुणशब्दस्य साध्यप्रसिद्धं सत्त्वाद्यर्थमुपगम्य यदुपपत्त्यापचयौ च काल्पनिकौ
महा सर्वा वैज्ञानिकप्रक्रिया तिरोदधात, नागशब्दाद्याश्च तदेवानुसरन्ति विज्ञान-
प्रक्रियादेशे विलोप एवात्रापराध्यतीति न विस्मर्तव्यम् ।

एवमेव पौराणिक भुवनकोटमितिहासं वाङ्मन्य पाश्चात्या इदानीं सुरह
साधयन्ति । मुमहत् तेषां तत्र तत्र मासते । परमस्माकं पुराणटीकाकृत पुराण-
पाठकाश्च लेखनीं वार्चं वा विभ्रमयितुं तानि प्रकरणाभ्युपयुक्तानि मन्वते । आधु-
निकानि विकासवादादीनि विज्ञानानि मूर्तरविद्याप्रभृतयश्च स्वरूपं पुराणेषु निरु-
पितानि, परं व्याख्याद्वन्द्वस्य मौनमेव रोचते । वैज्ञानिकसंप्रदायविच्छेद एव
सर्वत्र हेतुरिति स्फुटमव विदुषाम् । इयं तावद् विज्ञानस्य पुरवस्थाऽमुत् ।

इतिहासविषये तु इतोऽप्यधिको विस्तारः प्राप्तः । वेदानामधीश्वरेणा
समर्थयमानेन भगवता जैमिनिना “अनित्यदर्शनाच्च” इति वीक्ष्येयतापूर्वकं
मुद्राभ्यं “परं तु श्रुतिष्ठान-यमात्रम्” इति समाधीयते । जैमिनेर्मग्नं क
आशय इति ॥ वृत्तिं सर्वान्तर्यामी भगवान्, अनेकधा स दिव्यीतुं शक्यते विधायते
च बहुभिः । परं भीश्वरस्वामिप्रभृतयो मीमांसका इत्येव वदन्ति यन्मानुष-
चरितं यदि वेदेषु वर्ण्यते तर्हि वेदास्तन्मनुष्यात्तरं प्रादुर्भूता इति अनादित्वमपौ
व्येयत्वं च वेदानां भव्येतेति शङ्का । न हन्तेवे वेदेषु मानुषाणि चरितानि,
नामसाक्षरयमूल्या तु भ्रान्त्या नित्यपदार्थसम्बन्धिवर्णनं मानुषमित्ययिमन्यते
कैचित् । यथा “ववरं प्राज्ञाह्निरकामयत्” इत्यादिषु ‘व-व’ इति शब्दान्
कृत्वा ‘ववर’ इति वायुरभिधीयते । स च प्रवहणशील इति प्राज्ञाह्निरुक्तः ।
अत्र प्रवहणपुत्रो ववरनामा कश्चिन्मनुष्योऽपि भवेत्, तदितिहासभ्रान्तिर्लोकानां
जायते । वस्तुतस्तु वाच्यादेर्नित्यस्यैवेदं वर्णनमिहा तत्समाधानं चेत् । एतेनैव
साधितम्—यन्मनुष्येतिहासो वेदेषु नास्त्येवेति । इदं मतं बहुभिरेवेदानीं ननैरा
इतमनूदितं च ।

इदं तु स्वर्गं यम् । इमा पद्धतिमन्वन्तः प्रीमासकामिप्रतस्य मन्त्रब्राह्मणा
स्मृतस्य कृत्स्नस्य वेदस्य प्रामाणिङ्गी व्याख्या न केनाप्यथावति निमित्ता, दुःशक्यं
च कार्यमिदमिति ग्रहो विद्वांसः स्फुटमभिमत्यन्ते । सर्ववेदव्याख्यातारो तत्र
भवन्तौ सायणमाधवाचार्यौ आदरमुपोद्घाते मीमांसकमतमिदमन्वदताम्, पर
व्याख्याकारो त्रिद सर्वं व्यस्मरतामिव । यतो हि बहो मन्त्रा, बहूनि च
ब्राह्मणप्रकरणानि मानुषेणवृत्तावलम्बनेनैव तत्रभवद्गथा व्याख्याताभिः । यथा—

आमोगय प्र यद्विच्छन्त एतनापाका

प्राञ्चो मम क विदापय ।

सौधन्वनासश्चरेतस्य मूयना

गच्छत सन्निर्दाक्षुषो गृहम् ॥

(ऋ० सं० म० १।११०।२)

इति मन्त्र व्याख्याणो माधवाचार्य आह—“ऋमवो हि मुधन्वन आहि
रस्य पुनः । कुतोऽप्याङ्गिरसः, अतस्तेन महीया ज्ञातय इत्युक्तम् । हे
सौधन्वनास । मुधन्वन पुनः । इत्यादि । तथैव—

प्राता रत्न प्रातरित्वा दधाति

त क्षिप्रित्वान् प्रतिगृह्णा नि धत्ते ।

(ऋ. म. १।१२५।१)

इति मन्त्र व्याख्याणो माधवाचार्या दीर्घतम=कक्षीवनो सर्वमितिहासम्,
माधवव्यपुत्रेण स्मरणेन तस्मै बध्नुद्विष्टम्—तस्य निवरणं च सर्वमुपनिषन्नाति,
तदेव च वृत्तमवलम्ब्य सूक्तमिदं व्याचष्टे । तथैव “पुनः कश्चान् चक्रपुर्णज्ञानम्”
इति प्रदर्शितपूर्वे मन्त्रे—पुनः कश्चान् तस्य पुराणप्रसिद्धमुपाख्यानम् । एवमव ज्ञातय
इतिहासा सायणमाधवीये भाष्ये प्रत्यार्थरूपेण व्याख्याता उपलभ्यन्ते । ब्राह्मणे
अपि ऐतरेयादिषु वा इतरश्चन्द्रनहुषादिकथा, ता सर्वो यदि मनुष्याकारत
द्रूपणैव माधवाचार्येण व्याख्याता ।

एवं मन्त्रमहीधरादिभिर्गणित इतिहास पर व्याख्यानमेकादृत तत्र तत्र ।
मीमांसका मन्त्राणामिव ब्राह्मणानां तदेकदेशमूतनाभारण्यकोपनिषदादीनामपि
च यदस्त्वमद सिद्धान्तयन्ति—“मन्त्रब्राह्मणयोर्वेदनामपेक्षम्” “शेये ब्राह्मण
शब्द” इत्यादि । तथैव च सर्वे प्रामाणिङ्गा आस्तिका मन्यन्ते । उपनिषत्सुलम्ब्य-
मानाश्चारण्यिका मनुष्यपरतर्कैर श्रीशङ्कराचार्यप्रभृतेभिः सर्वैरपि भाष्यह
स्तिन्नैश्च व्याख्याताः । “गुह्यस्य तदनादरभ्रवणम्, तदाद्रवणम्, सूच्यते
हि” “क्षयिष्यति तद्व्यवस्थेन चैतरेकेन विद्वात्” (ब्रह्मसूत्र १ अ० ३ पा० ३४ ३५)
इत्यादिद्रोहिकरणे च मनुकृता भगवता व्यासने-नोपनिषत्सु मनुष्याख्यानमभिमतम्,
सदाधारणैव चाधिकरणमिदं प्रवृत्तमिति न तिरोहितं सूचयिष्येतिनाम् ।

मनुष्यचरित वेदेषु व्याचक्षाणा अणि च मान्यमहानुमावा —

“भूत मद्द मनिष्यच्च सर्वं वेदात् प्रक्षिप्यति ।”

इति सिद्धान्तमवलम्ब्यापौरुषेयतामनादिता च वदस्य रक्षन्त्येव ।

अणि च “न कदाचिदनीदृश जग्द्” इत्यभिमन्यमानानां मीमांसकानामनया दुक्त्वा अपौरुषेयत्वस्य लक्षण सम्यग्दर्शितम् । अन्येना तु स्यात्प्रत्ययप्रनादमुरीकुर्वतां दार्शनिकानां पौराणिकानां चैते वर्तमानकल्पसंबन्धिनः पृथिव्यादिपदार्था अप्यादिमन्त इति तद्वर्णनेऽपि वदानामनादित्वमङ्गशङ्कात्कृते दुस्तर एव । प्रकाहरूपेण निष्पत्तेः तु पृथिव्यादीनामिव देवर्षिपितृराक्षिप्रभृत्योनामपि पौराणिका अभ्युपगच्छन्त्येवेति पक्षद्वयसाधये नेतिहासविलोपस्य प्रयोजनं किमपि पर्याप्तम् । तत्त्वम्—

सर्वेषां तु स नामानि कर्माणि च पृथक् पृथक् ।

वेदशब्देभ्य एवाहो पृथक् स्वरूपं निर्दिष्टम् ॥

(मनुस्मृ० १ अ०, २१ श्लो०)

इति मगधमनुक्तदिशा ‘स भूरिति व्याहरत्, भुवमसुवत्’ इति भुत्प-
नुगतया यथोक्तस्यमानानामपि स्थावरज्जनादीनां सामान्येन गुणधर्मादिकं
पूर्वपूर्वकल्पानुसारि प्रथमत एव भुतिनिबद्धमभूत्, तथैवोक्तस्यमानानामप्युचो-
रादयोऽपि च चरितं न विदुर्दृष्ट्या, पूर्वकल्पानुसारि वा भूत भुतिश्चित्ति
काशानुपपत्तिः ! किमिवापौरुषेयेषु वेदेषु न समान्यते, यदा सत्तु मगधतो
बह्वनीकैरपि मनिष्यद्वामचरितोपनिष्कृतं भूयतेऽद्याप्याप्योः । ये सत्तु वेदानाम-
लौकिकत्वं भूयते, ते मनिष्यदर्थस्य पूर्वमेव तत्र वर्तमानमपि विश्वस्युरेव,
इतरथा तु कयाऽपि दुक्त्वा तेषामपौरुषेयत्वविश्वासेऽपि दुःशाप इति मन्दप्रयोजन-
एवापमितिहासनिर्गोपनप्रयासो दृश्यते । “एवं तु भुति सामान्यमात्रम्” इति
जैमिनीयं सूत्रमपि ‘पूर्वकल्पोत्पन्नानामिदानीन्तनानां च भूतसामान्यम्’ नाम
सादृश्यम्, तेन पूर्वकल्पसंबन्धीनि तानि वृत्तानि वदेयुस्तानि । ईश्वरज्ञाननिष्ठानां
वा पदार्थानां नुनं न्यमानैः पदार्थैः सह भुतिसामान्यम्—नामसादृश्यम् इत्यर्थं पर-
तया व्याख्यातुं शक्यं एव । दृश्यते चायमपि मान्यानामार्थागामेव बहूना पक्षो
यज्ज्ञानरूपेण नित्या वदा, शब्दरूपेण तु काले काले तत्तदतिभिरेव दृष्टाविर्भाव-
नीता इति । यदाह व्याकरणमहामाध्यकारो मगवान् पलञ्जलिमुनि—

“ननु चोक्तम्, न हि चण्डालो विद्यन्ते, नित्यानि चण्डालीति ।
यद्यप्यर्थो नित्यः, या तस्यै वर्णानुपूर्वा सा अनित्या, तद्भेदान्चैतद् मन्त्रि-
काटकम्, कालापङ्कम्, मोदकम्, पैपलादिकमिति ।”

(महामाध्याये अ० ४।३।१०१ ‘तेन प्रोक्तमिति सूत्रे)

न्यायभाष्यकारस्तत्रभवान् वास्त्यायनश्च—

‘नवतरयुगांतरेषु चातीतानागतेषु संप्रदायाम्नासप्रयोगाविच्छेद इति वदाना नित्यस्वम् । आस्तप्रामाण्याच्च ग्रामाण्यम् । लौकिकेषु शब्देषु चैतत् समानमिति ।’

(वास्त्यायन भाष्ये, २।१।६८ ‘मन्त्रायुर्वेदवच्च तत्प्रामाण्यम्—इति सूत्र)

निरुक्तकृतं च भवान् यास्काचार्यश्च—

‘‘अत्र कृपेऽवहितमतत् सूक्तं प्रनिबध्नौ । तत्र ब्रह्मेतिहासमिश्रमृत्मिश्र गाथामिश्र च मननि ।’’ (निरुक्ते निगमकाण्डे अ ४)

‘‘अमुतोऽमुष्य रम्यं प्रादुर्भवन्ति, इतोऽस्यार्विष, तयोर्मातो ससर्गं दृष्ट्वैवमन्थत् ।’’ (निरुक्ते देवतकाण्डे अ० १)

इत्यादि तत्र तत्र मन्त्राणामृषिप्रोक्तत्वं स्पष्टं ।

‘‘आदिषेणो हानमृषेर्निषीदन् देवापिदेवमुमतिं चिकिरिबान् ।’’ इत्यादिमन्त्रं व्याख्याया च (निरुक्ते निगमका प्र २) देवापि श्रुतनुप्रभृतीनां चरितं तत्तन्निदानं यत्नं प्रसीति । बृहदेवताकृत्यैवकोऽरि बह्वनामृषीणां चरितानि मन्त्रनिदानत्वेन बृहदेवतायां स्पष्टं व्याचष्टे ।

आस्तामश्च चिरन्तनं मतद्वैधम् । येऽपि तु वेदस्यापौरुषेयत्वप्रस्थातिनो न मनष्यकृतिश्च न मन्त्रागपि वक्ष्ये सङ्गते, तेऽपीतिहासं वेदेऽङ्गीकुर्वन्तीति भगवत्प्रादुर्भावाद्वाचाचार्यश्रीसायणमाधवाचार्यादिनिश्चयनेन साधितपूर्वम् । प्रदर्शितश्च दिङ्मात्रेण पुरुषसंघसङ्ख्यायां समाधाने तेषां पन्थाः ।

वक्ष्येऽपि वेदविहासनाभ्युपगमे महान् विषयः प्रसङ्ग्यते । सन्निहितं किंल मन्त्रं मन्त्रागमकेषु वक्ष्येऽपि पुरुषसंघप्रभृतीनां राजर्षिहरिश्चन्द्रप्रभृतीनां च बह्वेष्वेतिहासा, त एव चोपलभ्यन्ते पुराणेष्वप्युपबृंहिताः । ततश्च वेदेषु यदि सऽर्थं परपरामर्शं तथैव सम्भाव्यं त इति तदुपलितपौराणिकसंस्मरणस्येतिहासिकं तस्य दूरमुत्कर्षितं स्यात् । ततश्च ‘नास्त्येव भारतीयानां कोऽपीतिहासः’ ‘कल्पनामात्रसारा’ ‘पौराणिका इतिहासा’ ‘नासीत् कोऽपि रामो वा युधिष्ठिरो वा’ ‘नैतिहासिकं पुरुषो भगवान् कृष्णोऽपि’ इत्याद्यां केषाञ्चित् पाश्चात्त्यविदुषा तदनुयायिना भारतीयानां ज्ञानगंगां जल्पना एव विजयेरन्, गुहायां दृढदत्तागलं च भारतीयसम्प्रदायास्तथा स्यादिति किमित् परमं न्यायिकं नाम । अतएव अखिलभारतीयनिषेधितं मानेन सम्भारणीकुर्वन्ति, न तु शौनक-यास्क-साङ्ख्य-माधवादिभिः स्वीकृतं वेदेषु स्फुटं भासमानं स्वारसिकं सिद्धान्तम् ।

किञ्च “यत् परं शब्दः स शब्दाय.” इति हि मीमांसाभिमतमेव न्याय-
मवश्यम् धर्म एव मीमांसाया इदं प्रामाण्यं शक्यन्तीत्युक्तम्, इति-
हासादिनिषेधे तु पुराणमहानारतादीनामेव मुख्यं प्रामाण्यम् । धर्मविचारे
इतिहासादीनामर्थवादान्तर्मूतानां प्रवृत्तिनिवृत्तिबोधनाङ्गतयैव सप्रयोजनमिति
जैमिनिमिद्विद्वान्तं सिखाऽऽद्वियामहे, परं कल्पनाप्रसूता निष्प्रामाण्या एव ॥ इतिहासा
इति न शक्यमभ्युपगन्तुम् । वेदप्रामाण्यसाधनवदपरिकरा महतो वेदभागस्यैवं
मिथ्याप्रतिपादकसंश्लेषप्रामाण्यं शब्दान्तरेण प्रसज्यतेयुरिति मरुदिदनुपहासा
स्वदम् । अत्र च—

‘विरोधे गुणवादः स्यादनुवादोऽप्यारिते ।

मूलार्थवादस्तद्वानादर्थवादमिथा मतः ॥”

इति मीमांसामभियुक्तोक्त्यनुसारं प्रमाणान्तरविद्वानां गुणवादस्य भवतु
नाम, अनुवादमूलार्थवादयोस्तैतिहासिकं तत्त्वं कथमवगच्छेत । न ब्रूमो यय
वेदेषु पुराणेषु वा न सन्ति कल्पना इति, को हि नाम रुचेता.—

“विप्लवः समवदन्त आरतीर्ज्वनानधि ।

य क्षीयमदनवामहै न स रिपुनि पूरय ॥

ओषधयः समवदन्त सोमेन सह राशः ।

यस्मै कृणोति ब्राह्मणस्तं राक्षन् पारयामहि ॥”

इत्यादीनां संशयत्वेन मासमानानामपि बचोभङ्गया तत्तदीयवादिशुभानि-
व्यङ्गकं न नानुमन्येत, को वा वेदेषु इत्यावगाहोऽगस्त्यमत्तरसंवादादिषु कचिदा-
धिदैविकम्, कचिदाध्यात्मिकं तद्वन्नेवोपबृंहितमितिहासोऽन्येति न इदं विधेयात् ।
पुराणेष्वपि पुरश्चरतोपाख्यानप्रभृतीनि स्वयनेशध्यात्मिककार्यस्तथा ध्यायतातानि ।
परं नैवावता सर्वान्नेवाख्यातानि तथामृतानीति भ्रमितव्यम् । न हि ‘गङ्गाया
धोयः’ इत्यादौ भवति लक्षणं ‘गङ्गानां प्रमोदते’ इत्यादावपि सा नियमेन
सुक्ता स्यात् ।

तेन वेदेषु पुराणेषु वा यान्याध्यात्मिकाधिदैविककार्यमरणया ध्यायतातानि,
तानि भवन्तु तथैव । यानि तु नार्थान्तरगतया कचिदप्युक्तानि, तेषु गुणवादस्य
कल्पना सर्वान्तर्यामिण्येति सुहृदं मावयन्तु सुधियः । सन्ति च कानिचिदाख्यातानि
द्विपराणि, कानिचिच्च त्रिपराणि । अधिपञ्च, आध्यात्मिकम्, आधिदैविकं
चारि तत्र तैर्कोच्यते, ऐतिहासिकं तत्रमपि चाविवक्षितम् । बहूनि सन्ति तैतिहासि-
कानि तस्यानि वेदपुराणयोरेकवाक्यतयाविर्भावान्ति, यानि वर्तमानैतिहासिक-
पद्धत्यानि परीक्ष्यमाणानि दातृयमेवोपयन्तीति ।

तदित्ये वैदिकानि विद्वान्नीतिहासाश्च विरचयन् विच्छिन्नसम्प्रदायानि न प्रतिपादयन् इति सङ्क्षेपेण प्रत्यक्षोपपत्तिः । विच्छिन्नविज्ञानानां च वदन्ता कवयः कर्म-
काण्डार्थमाध्यात्मिकतत्त्वार्थौघार्थं च महत्त्वं परांशिष्यन् । परं मूलभूताद् विज्ञानाद्
विद्योत्पत्तयः कर्मकाण्डस्य कियन्त कालं स्थितिं समयेषु । क्रमेण ततोऽप्यार्थजाते
श्रद्धा पृथग् मन्त्रिषु प्रवृत्ता । आध्यात्मिकानि तत्त्वान्यपि च मननार्थं प्रवृत्तेर्दर्शनै-
र्मननोपयोगि च प्रयोग उहाद्विषयमाणैर्वेदपथान् सुदूष्येव नीतानि, विप्रतिपत्तेन च
ख्यापितानीति तदर्थमात्रेण वेदपरालोचनं शिथिलीभूतमिव । एतच्च—

योऽनधीतर द्विजो वेदमन्यत कुर्वन् अनन् ।

सनीवन्नेव शूद्रत्वमाशु गच्छति सान्तर ॥

इति मन्त्रो मनारादेशमन्त्रेण, वेदान्तेऽन्तर्गत उच्यते, वेदाङ्गानाङ्गकदेश
भूता व्याकरण-न्याय-साहित्य ज्योतिषाद्या एव विद्यारत्नेन भारते व्यवहृता ।
वैदिकपौराणिकाद्यास्तु शिथिलत्वेनापि न परिगण्यन्ते । केवमस्मान्मतेन सौदवद्वि
केचित्प्राज्ञैर्वेदसंहिताया कथा किमूलमात्रस्या कृतेष्वेव हर्षस्पदकभूत् ।

अथ वैदाद् विज्ञानप्रियाया आद्यैः शतैररागमैः, तथा सहाय्यजातं सन्धे
च भारते विद्वत्ता विज्ञानकर्त्ता पुनरपि प्रादुर्भवत् । आर्यजाते पुरातनस्य बह्व-
मस्य क्रमेण परिचयं प्राप्य बहो दूरापीरा विद्वांसोऽपि तत्त्वान्वेषणे सुव-
परिभ्राम्यन्, तेषु निबद्धश्रद्धाश्च तस्मिन्नात् प्रशस्यमाकर्त्तं भारतीयैः अपि बहवो
निद्वांसो वेदान्वेषणे प्रवृत्ता । परमतिपुरातनेऽपि काले समुन्नतं विज्ञानमा
सीदिति निश्चयादनिश्चया दूरोपीयजातेर्निर्गर्गादेव विपरीतम् । इदानीमुपलभ्य
मानाश्च पुराणाद्या अत्यन्तमर्वाचीना इति विद्वान्तिवक्ता च तेषां वेदपुराणा
शेड्वाक्यतायामपि सर्वथैव न जायते दृष्टिपातः । तद्वद्विद्वन्नेव स्वदुष्टं सञ्चार-
यन्तो भारतीयैः अन्येषां केचन पुराणश्रद्धाप्रतिद्वारा, केचिद् ब्राह्मणानपि
विच्छिद्य श्रद्धां कृत्वन्तः, केचन वेदेषु केचन सामाजिकसम्प्रदायदर्शनार्थेनो
त्कृष्टाः, केचन सम्यक्तात्पर्यमपेक्षितानेव वेदान् मन्वते—इति विभिन्नदृष्टामेषां
प्रयत्नेन वैदिकविज्ञानमन्दिरागला पुनरपि चिरमनुद्धारितैव स्थिता । योऽपि
केचित्महानुभावैः सुबहु परिभ्रम्य कथञ्चिद् विज्ञानोन्मेष इतिहासेन्मेषो वा कृतः,
सोऽपि कानिचिद् कल्पनामानविश्रान्त इति न प्रतिष्ठापयामासि समसदम् ।
यावद्विद्वद्भ्यामूलचूड पर्यालोच्यैकाग्रमेव परिमाणानिरूपणपूर्वकं कथञ्चिद् वैदिकं
विज्ञानपद्धतिविहारपद्धतिर्वा नानिश्चितं, तावत् वैदिष्मन्गर्गाल्दद्यान्
सन्तुष्टते । न तु तावान् केनापि धमः कृतः, नापि तादृशी सामग्री सन्निहिता ।
ये वेदान्वेषकास्ते दार्शनिकप्रतिष्ठानमिहा अगमन्, ये च प्राचीनशैली
परिहृतास्तेषामपि प्रवृत्तिरेव नामूढिति नैव तादृशं सुसमग्रे दुर्दैवस्तेन भारतम्
समसादितम् ।

यद्यपि विज्ञानेतिहासयोर्मध्याह्नात् इदानीं जगति गण्यते, प्रत्यहं नवनवा
आविष्काराः पाश्चात्येषु मनन्ति, येनैकैकेन जगच्चित्रपटः परिवर्तते । ईदृशेऽ
वसरे वाक्प्रपञ्चमात्रसागराणां प्राक्तनानामेषा विज्ञानानामितिहासानां वा किंवदन्ती-
प्रायाणा प्रकाशनेन को लाभः समाव्यते-इति मग्नेद् बहुना मनसि वितर्कः, परं
विज्ञानप्रणयिनो ये मवन्ति याथाव्येन, न ते कदाचिदप्यलंभुर्दिमुपास्ते । यतः
सुतोऽप्यभिनवं किमपि शिक्षणीयमित्येवाज्जन्म तेषां प्रवृत्तिर्भवति । किञ्च विनैवा-
न्येषां 'वेदकाले विज्ञानबाल्यकालः' इति ये स्वमनीषासंतोषायामिमन्वते,
तेषामुदेत् प्राक्तनो त्रिकः, ये तु मास्तीयानामृषीणां सर्वज्ञताया विश्वसन्ति,
सर्वविषयविज्ञानपारंगमिता च तेषां भव्यते, ये वा सत्स्यस्तारतम्यपरीक्षण-
समुत्तुकाः, तेषां तु प्राक्तनविज्ञानममोद्घाटनं न कदाचिदप्यसिद्धिं संभाव्यते ।
सोत्कण्ठं ते प्राक्तनविज्ञानप्रकाशाय स्पृहयन्ति ।

अथेदमप्यालोच्यता मनाम्, यद् बहुधाः समुन्नतमपि पाश्चात्यं विज्ञानं
नाद्यापि निष्ठा गतम् । अद्यापि नवनवाः सिद्धान्ता आविर्भवन्ति, प्राक्तनाश्च
बहवस्तिरङ्क्रियन्ते, अद्यापि च दहवो व्यापारा अज्ञाततत्त्वाः स्थिताः, अद्यापि
च बहुत्र विराजते मतभेदो वैज्ञानिकानाम् । किमन्यत्, या विद्युत् सर्वस्याधुनिकस्य
विज्ञानस्य मूलस्तम्भायिता, तस्याः किं तत्त्वमिति प्रधानेति विषयेऽद्यापि विवदन्ते
वैज्ञानिकाः ।

एवंविधे च व्यतिकरे भारतीयानां प्राक्तनविज्ञानसाहाय्येन केचु चिदशेषे
विज्ञानमाधुनिकमुन्नतं स्यादिति सम्भावना केन हेतुनोपहास्यता नीयते मवद्भिः !
दृष्टं चाद्यावधि यष्टु विप्रेषु यद् भारतीयैः प्राक्तनैः सिद्धान्तैर्यत्र नदीनेन
विज्ञानेन विरोध उद्भूतः, तत्र कालक्रमेण भारतीयानामेव सिद्धान्तानां विज्ञानो
भवतीति । यथा कृत्रादिषु चैतन्यं भारतीयेषु ग्रन्थेषु विस्तरमुद्गुणम् । नवीनस्य
विज्ञानस्यासीत् तत्र विरोधः, परं भारतजनन्या एव सुपुत्रेण श्रीभगदीशचन्द्रबसु-
महामागेन भारतीयानां सिद्धान्तोऽद्य जगति सर्वमान्यता प्रापित एवेति न
परोक्षं विदुषाम् । तस्यैव रसावनक्रियया ताम्राद्या अपि घातवः सुवर्गता नेतुं
शक्यन्त इति भारतीयेषु चिरन्तनं प्रवादः । नवीनं विज्ञानमद्यावधि गुरुतरं
तत्त्वान्तरमभिमन्यमानं तत्र विप्रलिप्तं तमुपदेसति स्म । इदानीं वैज्ञानिका
गुरुत्वस्यापुत्पाद्यताम्, ताम्रादीनां च सुवर्णमात्रापत्तिं मन्तुं प्रवृत्ताः ।
एवमेकमूलमिदं सर्वजगद्विश्वद्वैतवादो भारतीयानां सर्वत्र प्रचलः । आधुनिकं
विज्ञानं तु त्रिषष्टिमयीति दिनवर्ति शताधिकानि वा तत्त्वानि मूलादेव मिश्रानि
गणयत् तेषां संख्यावृद्धायेव प्रयतमानमासीत् । परमिदानीं नैतानि मूलतो मिश्रानि
तत्त्वानि, परमार्थत एकमेव तत्त्वमिति प्रवृत्ता बहूना वैज्ञानिकानां दृष्टिः । आरम्भ-
वादापरपर्यायः परमाणुवादः प्रथमः, तदनु परिणामवादात्मकः प्रवृत्तिवादः, अन्ते

वेदेषु पितरः

प्रचोदिता येन पुरा सरस्वती

वितन्वता यस्य सती स्मृतिं हृदि ।

स्वल्पज्ञा प्रादुरभूत् किलास्यत्

॥ मे श्रुषीणामृषम प्रसीदतु ॥

तद्दि यमयय धाम सारस्वतमुपास्महे ।

याप्रसादात् प्रलीयन्ते मोहान्धतमसञ्छन् ॥

विविधा हि जगति दृश्यन्ते भावा — ज्ञानम्, क्रिया, अर्धाश्च । एषा त्रयाणामपि मूलानि मन, प्राण, वाक् चेति त्रितयमेव श्रुतिषु समाभ्यासितम् । शतपथब्राह्मणे हि “सोऽयमारमा मनोमय, प्राणमय, वाङ्मयश्च” इति बहुश एभिरेव पदैः प्रकारान्तरेण वा भ्रूयते । यत्र च कस्यचिदभिनवपदार्थस्योत्पत्तिं प्रस्तोतव्या भवति तत्र “स ऐक्षत, स तपोऽतप्यत्, सोऽभ्यास्यत्” इत्यनेनैव क्रमेण किञ्चिद्विवर्तनेन वा बहुश भ्रूयते । तत्रैकं नाम मनसो धर्मं, तपपदबोध्या क्रिया च प्राणधर्मं, अभ्यासं सर्वभूतादिभूताया वाचो धर्मं इति आत्मभूते त्रयेऽपि क्षोभरूपा स्वस्वव्यापारा प्रतिपाद्यन्ते । आत्मभूतस्य त्रितयस्य क्षोभादेवाभिनवपदार्थोत्पत्तिर्भवतीति । आत्मभूते त्रितये च मनो ज्ञानस्य मूलम्, क्रिया प्राणसर, वाक् चार्थानां मूलमिति प्रत्येकव्यम् । याच एव विवर्तभूतानि सर्वाणि भूतानीति “वाचीमा विश्वा भुवनानि तस्यु” इत्यादिशब्दैर्बहुधा भ्रूयते । भवतु नाम, प्राणो गतेर्मूलम्, गतिरेव च जगदुत्पादयतीति प्राणमेव मुख्यतया आधारिकरोति श्रुति । गति क्रिया चेति पर्यायशब्दौ । क्रियाशक्तिरेव च माया बलादिशब्दव्यवहार्या ब्रह्मणि जगत् प्रदर्शयतीति भूते सिद्धान्तः । गतिश्चेय द्विविधा भवति । केन्द्रादारभ्य परिधिपर्यन्तं गतिरित्युच्यते । परिधेरारभ्य केन्द्राभिमुखी गतिरुवागतिपदेन व्यवहियते । तत्र गतिरपि पदेनागतिश्च सोमपदेन श्रुतिषु परिभाष्यते । एतावेवाग्नीषोमौ जगत उत्पादकशक्तियुक्तम् — “अग्नीषोमारमक जगत्” इत्यादि श्रुतिषु । अग्नीषोमपदेनागतिश्च प्राणजन्ये एवेति निश्चयः ।

सोऽय प्राण प्रथमम् श्रुतिरूपेण, तदनु पितरूपेण, अनन्तरञ्च देवासुररूपेण । कयाचित् प्रक्रियया गन्धर्वरूपेण च श्रुतिषु व्याख्यायते । शतपथब्राह्मणे हि षष्ठं काण्डमारभ्य पूर्वमृषीणां विवरणं दृश्यते । “प्राणा वा श्रुषय” इति च स्पष्टं भ्रूयते । एते एव पञ्चरूपेण पितरः, देवा, असुरा, गन्धर्वाश्चेति मिलित्वा

सूक्ष्म जगदित्याख्यायते । तत्रपितृणामुत्पत्तिर्मागता मनुना धम्बप्रकरणे पितृनिरूपणावसरे स्वीकृता—

मनोर्द्धरन्वगमस्य ये मरीच्यादय भुता ।
तेषामृषीणामाद्याना पुत्रा पितृणा स्मृता ॥
ऋषेभ्य पितरो जाता पितृभ्यो देवदानवा ।
देवेभ्यश्च जगत् सर्वं चर स्थाण्वनुपूर्वश ॥

जापालोपनिषदि च स्पष्टमग्नीषोमयोरेतम्बूलभूतयोर्गत्यागतिक्रिययोश्च स्फुटं दर्शनमुपलभ्यते—

अग्निराख्यायते रौद्री घोरा या तेजसी तन् ।
शक्ति सोमोऽमृतमयो रसशक्तिकरी तन् ॥
अमृत यत्प्रनिष्ठा सा तेजोविद्या कला स्वयम् ।
स्थूलसूक्ष्मेषु मूतेषु स एव रसतेजसी ॥
द्विविधा चेत्तसो वृत्ति स्यात्सोमा ज्ञानशक्तिः ।
तथैव रक्तशक्तिश्च सोमात्मा च जलशक्तिः ॥

अन्यत्र—

कर्षश्चक्षिमय सोम, अक्षश्चक्षिमयोऽनर ।
ताम्या सम्पुष्टिं तस्मात्तद्वद्विद्वमिदं जगत् ॥ इत्यादि ।

अत्राग्निरक्षश्चक्षिमय उक्त, तस्वेद तापयं यदग्निर्दक्षिणस्या दिश उत्तरा दिश गच्छति । उत्तरा दिगेव जगत् कर्षमागत्येनाप्यायत इति तन्नाम्नैव स्फुगीभवति । अग्निर्दक्षिणस्या दिशि स्थितस्तत् कर्षमुत्तरा गच्छति । सोमश्चोत्तरस्या स्थितस्ततोऽधो दक्षिणस्यामागच्छति । अत एव सोमस्य स्थूलान्धारूपा आसीद्वि नदीरूपेणोत्तरस्था एव दिशो दक्षिणस्यामागच्छत्य सर्वेस्समाभिरनु मूयन्ते । उत्तरस्या दिशि कर्षगतोऽग्निरेव परिधिं ग्राह्य सोमरूपेण परिणमति । दक्षिणस्यामागतश्च पुनरग्निर्मुखोर्ध्वं गच्छतीत्यन्योन्यपरिवर्तनादेकस्यैव तत्तस्यावस्थापे द्वे अग्नीसोमाविति स्फुटं सिद्धमिति ।

इमा जावालभ्रुतिमेवात्सल्य शक्युपासनाया शक्तिं शिरस्य हृदयोपरि स्थिता । तत्र दिवो रुद्रपदवाच्योऽग्निरूप तदुपर्यागच्छती सोमपारा तु शक्तिरूपेति । अन्यथापि चैतद्व्याख्यातुं शक्यते । पुरुष एव शिवरूपेण स्थित, स च शक्या विना निर्विघ्ने इति शवरूपेणैव स्थित । तदुपरि त्रीद्वितीय शक्ति स्थितेति । आस्तामिममप्रकृतकथा ।

यो तन्मोमो गत्यागतिक्रियारूपो प्रागुक्तो, तत्र विशुद्धाः प्राणा अग्निरूपा एव ऋषिपदेनाख्यायन्ते । तत्र तु सोमसम्बन्धं ज्ञाते सोम्या प्राणा उद्भवन्ति ।

त एव सौम्याः प्राणाः पितर उच्यन्ते । श्रुयीणां प्रथमं स्वयम्भूमण्डल एवोद्भूतः, तदनु परमेष्ठिमण्डले सौम्ये सोमसम्बन्धात् पितृशामुद्भूतः । अयं तृतीये सूर्यमण्डले देवानां प्रादुर्भाव इत्ययमेव क्रमो भगवता मनुनाऽभिहितः । इमे चाम्नीषोमपश-
म्यानास्त्राते गत्वागती सर्वेष्वपि पदार्थेष्वनवरतं प्रवर्तते । वेदवाह्या अपि जैनबौद्धाद्यास्तत्रमेतदमुपगच्छन्ति । तथा हि—जैनदर्शने “उत्पाद-अयप्रौढ्ययुक्तं स्तु” इति मनो लक्षणमुच्यते । सर्वेष्वपि पदार्थेष्वानिरूपेण सोमेन नवनवावयवो-
त्पादः, गतिरूपेणामिना च ध्ययः, उत्तोरप्युत्पादव्ययशोस्तदेवेदमिति वस्तुनि
या प्रत्यभिज्ञा तदाधय एव प्रौढ्यम् । तानीमानि उत्पादव्ययप्रौढ्याण्येव सत्तानदेनोच्यन्ते, तदाधयश्च सर्वे पदार्थाः सन्त इति व्यवहियन्त इति जैनसूत्रा-
शय । बौद्धाश्चापि अर्थान्तरकारित्वमेव सत्त्वमभ्युदयगच्छन्ति । प्रत्येकं हि वस्तु यं
कल्प्यर्थमुत्पादयति या का वा क्रियामपि कुर्वद् दृश्यते तदेवार्थक्रियाकारित्वं
सत्तापदेन व्यवहियते । तादृशवृत्तादन्तश्च पदार्थाः सन्त इत्युच्यन्ते । गत्वागति-
रूपा क्रिया चेयं प्रनिष्ठां परिवर्तत इति धातुक्रमेव सर्वं अयत् तैर्मन्यते । क्रियैका-
द्वयवादप्रहगादेव ते भ्रमणा इत्युच्यन्ते ।

सोमसत्त्वाच्या आगतिरेवेयं सधार्थान् पाणि नवनवानुत्पादयति चेति
विनुपदेनाख्यायते । जनक एव च विनुपदेन लोके व्यवहियत इति रश्मिहोरादनस्य
च सम्बन्धात् सौम्यानां प्राणानां पितृत्व स्थान एवोच्यते ।

त इमे पितरन्निविधाः भूतिषु व्याप्यायन्ते । १—दिग्धरितरः, २—श्रुतु-
वितरः, ३—प्रेतवितरश्चेति । तत्र पूर्वोक्तमनुवचनरीत्या श्रुतिष्व उत्तरा देवानुरा-
णानुत्पादकाश्च प्राग्विशेषा दिव्याः पितरः । त इमे विश्वपि लोकेषु परिव्याप्य
निष्ठन्ति । तदेतद् श्रुत्वेदभूत्या समाप्तातम्—“उदीरतामवर उत्तरास उन्मध्यमाः
नितरः सौम्याः” (श्रु० अष्ट० ७।६।१७) इति । अवरे परे मध्यमाश्चेति
त्रिविधाः पितर आन्नाताः । अत्र सोमसम्बन्धात् ग्रीष्मन्तरिक्षाण्येव प्राज्ञाणीति
बहवो विद्वांसो मन्यन्ते । अस्नाकं भूनेः सूर्यमण्डलस्य च मध्ये चन्द्रेणाधिष्ठित
प्रथममन्तरिक्षम् । सूर्यमण्डलादुपरिष्ठात् परमेष्ठिमण्डलदक्षस्ताश्च महर्लोकस्थं
द्वितीयमन्तरिक्षम् । सूर्यमण्डलादुत्पन्नायास्त्रिलोक्याः सूर्येण सह लये तत्रैवयंयस्तिष्ठ-
न्तीति पुराणेष्वभिहितम् । तेष्व श्रुतिष्व एव सोमसम्बन्धात् पितरो जायन्ते ।
परमेष्ठिमण्डल उत्तरादयं पितरो महर्लोक एव परिपुण्य भवन्ति । अयं परमेष्ठि-
मण्डलादुपरिष्ठात् स्वयम्भूमण्डलदक्षस्ताश्च ततःपदवत्त्वं तृतीयमन्तरिक्षम् ।
तत्रापि चैत्रा व्याप्तेः पूर्वोक्तभूत्या शायते । ते परे पितर उच्यन्ते ।
अयंभूतादिति—

उदन्तवी चौरवना पीलुमवीति मध्यमा ।

तृतीया ह प्रचौरिति यस्या पितर आसते ॥

(अथर्व० का० १८ अ० २ सू० २)

इति नीष्यन्तरिक्षाण्येव धुपदेनोक्तान्यनुसंधेयानि । एत एव च प्रयो-
नान्दीमुखा, पार्वणा (अभ्रमुखा), प्रेताश्चोच्यन्ते । नान्दी नाम समृद्धिः ।
सर्वोपरिष्ठाद् विराजमानास्तृतीयलोकास्था पितर समृद्धिश्चातिशयाद् नान्दीमुखा
आख्यायन्ते । मध्यमलोकास्थास्तु तदपेक्षयाऽवरकक्षाका इत्यभ्रमुखा उच्यन्ते ।
इतः प्रेत्य ये जीवा गच्छन्ति तेऽन्तरिक्षे दिव्यपितृभिः सगता भवन्तीति तस्माद्-
चर्यादवरान्तरिक्षस्था दिव्यपितरोऽपि प्रेता इत्याख्यायन्ते, यद्वा तृतीयपरिमन्त-
रिक्षे स्थिता पितर ऊर्ध्वमुखा भवन्तीति नान्दीमुखा उच्यन्ते । मध्यमस्थास्तु
अहस्योत्पादनेऽपि कारणीभूता भवन्तीत्यभ्रमुखा उच्यन्ते, अभ्रगा जलरूपत्वात् ।

ते चेमे दिव्या पितर पुनः प्रत्येक विविधा — अन्नरूपा, अन्नादरूपा,
तद्व्यापका । ये स्वयं परेषामन्नरूपा भूत्वा परान् पुष्यन्ति तेऽन्नरूपा आख्यायन्ते ।
ये तु परश्रोतृसकान्ता अन्नं भुङ्क्ते तेऽन्नादरूपा । ये तु नान्नं भुङ्क्ते न परैर्भुज्यन्ते
ते तद्व्यापका । तत्रान्नरूपा अग्निश्वात्ता, बर्हिषद् सोमसदश्चेति त्रिविधा । ये
अग्निर्नैवाद्यन्ते “अग्निरेव यान् दहन् स्वदयति ते अग्निश्वात्ता” । ये च बर्हिषि
कठिनद्रव्येऽन्नरूपे तिष्ठन्ति ते बर्हिषद् । ये च तस्मै द्रव्ये स्थिता परैरच्यन्ते ते सोम-
पा । एवमनादा अपि त्रिविधा — इविर्भुज, आपश्वाः, सोमपाश्चेति । कठिनं
द्रव्यं ये भुङ्क्ते ते इविर्भुज । तस्मै तु द्रव्यं द्विविधं भूतिषु परिभाष्यते । यवग्नि-
सम्बन्धात् प्रज्वलितमग्निरूपतामेव गच्छति तदाज्यमित्युच्यते, यथा दूत तैल
चेत्यादि । यत्तु नाग्निना प्रज्वलति, किन्त्यग्नौ प्रजिहमग्निं जमयति तत् सोम-
पदेनोच्यते । तत्राद्यं ये भुङ्क्ते, अर्घ्यादारमसात्कुर्वन्ति त आश्रया । तद्व्यापकास्तु
मुक्ताग्निं उच्यन्ते इति सप्तविधा दिव्याः पितर । पुराणेषु त्वष्ट्री पितर
आख्यायन्ते—

कथ्यन्तलोऽनल सोमो यमश्चेवार्यमा तथा ।

अग्निश्वात्ता बर्हिषद् सोमपा पितृदेवता ॥

तत्र इविर्भुज एव ‘कश्यपाट’ पदेन, सोमसदश्च सोमपदेन, बर्हिषदश्चाग्नि-
सदश्चरा इति सप्तचर्यादग्निशान्तेनाहोरात्रपदेनोक्ता । यमश्च पितृसदश्चरत्वेनाग्ने-
व्याख्यायमानं पितृष्टोत्रं परिगणितं इति प्रक्रियामेदमात्रं द्रष्टव्यम् । निष्ठु लोकेषु
स्थितानां पितॄणां सदश्चरान्त्रयो देवा भवन्ति—अग्निर्वायुरादित्यश्चेति । तथाग्निर-
ष्टविधोऽष्टदसुर्गणैः व्याख्यायते । वायुश्चैकादशरूपेण । आदित्यो द्वादशरूपेण
च भूतिध्वाम्नात् । त इमे पितृसदश्चरा पितृभिरुत्पादिता वा पितृष्वन्वाभक्ता
इति मगक्ता याज्ञवल्क्येन भगक्ता अनुना च पितृपदेनैवाख्याता —

यसुर्बुद्रादितिमुता पितर आद्देवता ।

भीषयन्ति मनुष्याणां पितृनाभ्येन तर्पिता ॥

इत्यादिना याज्ञवल्क्यस्मृतौ ।

वसन् वदन्ति तु पितॄन् रुद्राश्चैव पितामहान् ।

प्रथिनामहास्तयाऽऽदित्यान् भुतिरेषा सनातनी ॥

अथ पितृवश्चरा अपि देवान्निष्ठा भिद्यन्ते—अग्नि सोम, यमश्चेति । अग्नौ या निरन्तर सोमाहुति पतति तस्या निन्देदको यम आख्यायते । सोमाहुति निन्देदे तत्तत्पदार्थानां मृत्युर्नाम नाशो भवतीति यमो मृत्युस्याख्यायते । त इमे पितृवश्चरास्तयो देश आदिकर्मणादी हूयन्ते “अग्नये कयवाहनाय सोमाय पितृमने स्वाहा यमायाङ्गिरस्वते स्वाहा” इति । तदनु पितर पूज्यन्ते । निन्देद कश्चान् कश्चिन्तात्वाया यमो न हूयते । इत्थ दिव्यपितर सन्नेषेण व्याख्याता ।

अथ ऋतुपितर आख्यायन्ते । अग्नौ सोमाहुतितारतम्याद् ऋतवो भिद्यन्ते । उत्तरस्या दिश्यागते सूर्ये ऋतु नाम सत्त्वरान्नेर्भाण उत्पद्यते । दक्षिणस्या तु सूर्य आगते सोम उत्पद्यते । सोम रिङ्जनकत्वात् सत्त्ववदेनाख्यायते । तदेतत् “ऋतु च स पञ्चाभीद्वात् तस्योऽभ्यजायत” इत्यवमर्गमन्त्रे समाप्नातम् । मासपट्कमन्त्रेर्बुद्धि सोमस्य च हास, तदनन्तर मासपट्क सोमस्य वृद्धि, अग्नेश्च क्रमेण हास । अग्नेस्तारतम्यादेवर्तुना नामान्यपि संहृतमाषायामाख्यायन्ते । तथा हि—उत्तरमासोऽग्निर्नर्या तेषु तेषु पदार्थेषु वस्तुमारमते तदा ‘वसन्त’ इति ऋतुनामोच्यते । “वसन्तोऽनाग्नय” इति ऋतुरपि वसन्त । यदा च वृद्धि गतः स सर्वान् पदार्थान् पृच्छति तदा ग्रीष्म इत्युच्यते, ‘ग्रह’ धातोरेव परोक्षया वृत्त्या ग्रीष्मशब्दनिश्चते । अनन्तरञ्चामिबुद्धि गतेऽग्नौ ‘वशा’ इत्यनुनाम, वृद्धिशब्दस्यैव वर्णान्तित्यादौ श्वाकरणे वर्णदेशदशनाद् । तदिदं पञ्चासारमकमृतुत्रयमग्नेर्बुद्धि काल, तदनु सोम उत्पद्यते तत्तारतम्यादग्निर्हंसति । यदा हास आरम्यते तदा शरदिषुच्यते । शीर्गा भवितुमारब्धोऽग्निरिति । यदा च विशेषेण हासस्तदा ‘हेमन्त’ इत्युच्यते । हीनार्थबोधकाद् ‘हि’धातोरेव हेमन्तशब्दनिश्चते । यदा चास्मन्त शीर्गस्तदा यङ्गुल्-ताङ्गिठशिरवदात् तद्वचवहार क्रियते ।

न केवलम् ऋतुनाम्, अपि तु मासानामपि नामानि तत्तत्पदार्थोत्पत्तिवन्धने नैव संहृतमाषाया दृश्यन्ते । तथा हि—यस्मिन् मासे पुष्पशलादिषु मधूपद्यते स चैषो मधुनाम्नाऽऽख्यायते । यदा च मधोर्बुद्धि स वैशाखो ‘माधव’ नाम्ना । अग्नेर्बुद्धिदद्यात् शुक्र इति ज्येष्ठ शुचिर्गिनि चाषाढ । अथ यदा मेघेन प्रावणात् सूर्यनक्षत्रादयो न दृश्यन्ते तौ आवणमाद्वरदौ ‘नम’ इति, ‘नमस्य’ इति आख्यायते । यदा च प्राणिषु ‘अर्क’ नामौज प्रादुर्भवति तदाऽऽश्विनकार्तिकी ‘इष’ इति, ‘ऊर्ज’ इति च, यदा च तदेवौजो वस्तुषेण परिणमति तदा मार्गशीर्ष पोषमासौ ‘सह’ इति, ‘सहस्य’ इति आख्यायते । अथ यदा पूर्वोक्त ऋतुना

माग्निराविर्भवति तदा माघ फाल्गुनौ 'तप' इति, 'तपस्य' इति च । संहिताध्येतारः पश्यन्तु संहृतभाषया मा महत्त्वं यत् तत्र मासतुर्नामश्रवणादेव तन्मासतुर्मश्रुतिश्च जाताना पदार्थानां परिचयोऽपि जायत इति ।

नाग्नैव ज्ञायन्ते यदेत श्रुतवो न काल्मानस्य सञ्ज्ञा अपि तु तत्तत्कालप्रा-
दुर्मतानामग्नीषोमादीनामिति । ते चैते अग्नीषोमाद्या सर्वेषां पदार्थानां जनका
इति पितर उच्यन्ते । तत एव "श्रुतव पित्र" इति तत्र तत्र श्रुतिषु समाग्नयते ।
स्मृतिष्वपि च भ्रातृप्रकरणे उक्तम्—“पञ्चशतं नमस्कुर्वन् पितृभ्यो नमः
धर्मविन्” इति । तद्विषयं द्वितीयपितृरूपा मृतव सत्त्वेण व्याख्याता ।

अथ तृतीयविधा प्रेता पितर उच्यन्ते । येऽस्मात्संज्ञास्तेऽस्मात्तरं गतास्ते
प्रेता पितर । त एतेऽपि भूतेषु रदुगा भूयन्ते । तथा हि—मुमुक्षुषुष्यविधे
उच्चारणीय एको मन्त्र —

सगच्छस्व पितृभिः सयमेन ह्यग्रापूर्तेन परमे रोमन् ।

द्विंश यावत् पुनरुच्चेद्दि सगच्छस्व तन्ना सुवर्चा ॥

अथ स्पष्ट मृतरश्च दिव्यपितृभिः सगमनमाग्नातम् । यस्तु केचन पुनो
जीवन्मेव पितर सम्बोधयतीति मन्त्रमिमं वाचयन्ते तदनुचितमेव, अन्य द्विंश
इत्युपदेशस्य पुत्रकृतस्य पितर प्रत्यनुचितत्वात्, अस्तमेहीति कथनस्य नितान्तम
योग्यत्वाच्च । तस्माद् मुमुक्षुषुष्ये एव प्रार्थनापरत्वेन मन्त्रोऽयं युज्यते ।

पूया चेतस्त्वावयत् प्रविद्धान् अनल्पशुभिर्भुवनस्य गोरा ।

स त्वैत्रेभ्य परेददत् पितृभ्योऽग्निर्देवभ्य सुविदतृवेभ्य ॥

अनारि पृथिव्या अधिष्ठाताग्निर्मृतस्य पितृभ्योऽनयनाय प्रार्थ्यते ।

यद्भोऽग्निरनहादेकमङ्ग पितृभ्यो गमयन् जातयेदा ।

तद् एतत्पुनराप्याययामि साङ्गा पितर स्वर्गे मादयध्वम् ॥

अत्राग्निना प्रजान्तित्याङ्गस्य पुनराप्यायन स्पष्ट भूतम्, यदपुनापि दद्या
हाम्प्रन्तरे गात्रनिर्माणकपिण्डप्रधानरूपेण सर्वैरनुष्ठीयते । क्रियदुदाहरामि । शतशो
मन्त्रेष्वेव मृतानां पितृभ्योऽग्निराग्नायते । “ये वै के चास्मात्संज्ञात् प्रयन्ति
चन्द्रमसमेव ते सर्वे गच्छन्ति” इति कौषीतकिब्राह्मणे मृतानां स्पष्ट चन्द्रगोक
गतिराग्नाता । चन्द्रलोक एव च पितृभ्योऽग्निराग्नायत इति, “निधूर्ध्वमागे
पितरो वसन्ति” इति सिद्धान्तशिरोमण्यादिषु स्पष्टमुक्तम् । छान्दोग्योपनिषत्सुपि
च देवानामितृभ्योऽग्निराग्नायत इत्युक्तम् । तत्रापि चन्द्रगोकात् पितृभ्योऽग्निराग्नायते
स्पष्ट भूयते । सञ्जातीयाकर्षणसेवा-तमनुसृत्य चोपस्थापीद सिद्धयति । सर्वे हि
वस्तु संज्ञातीयेन घनेन स्वाभिमुखमाकृष्यत इत्येव सञ्जातीयाकर्षणसिद्धान्तः । स

चाऽय महामध्ये "स्थानेऽन्तरतम" इवे स्पष्टं विवृतम् । यत्तु केचन पादवात्या विद्वांसो वदन्ति यदाकर्षणविद्वान्तं न केऽपि जानाति स्मेति तत्तेषां देशे न्यूत्ने नैवाविष्कृतो भवतु नाम । अस्माकं तु भुविषु वदनुगामिषु यास्त्रेषु च स्फुटानाकर्षण विद्वान्तो विवृतो दृश्यते । ज्योतिर्विद्वामग्रेतरे श्रीमास्कराचार्यैश्च सुस्पष्टैस्सै न्यूत्नामाकर्षणान्तस्तीति प्रतिपादितम् । बौद्धा हि मन्यन्ते स्म यद् भूमिरेव प्रति-
ष्ठानेऽप्योन्नतानि नीचैः पठतीति । यम् स्फुटं पश्यामो यदस्मान्निवृत्तितो नृतेन्य एषोऽस्मान्निर्वाच्यी शक्तिस्तत्र निहिता तस्याऽपगमे नीचैः पठतीति तपैतान्प्रारवतो पृथिवी कथं निराकृता विष्तेदिने । यत्तु रेणुर्नर्मबराद्यादिकान् अवलम्ब्यान् कल्पयन्ति तत्तु तैर्न मन्यते । अस्माकमपि च पुराणादिषु वैज्ञानिक रीत्याऽभिप्रायान्तरमेव तस्य वान्तस्य व्यख्यायते । भवतु नानैतत्तत्तु बौद्धविद्वान्तस्य सादृश्याय प्रवृत्तं श्रीमास्कराचार्य इदनुक्तवान्—

आकृष्यतिश्च मही तथा यत्
तस्य गुह्यत्वाभिमुखं स्वयक्त्या ।
अकृष्यते तत् पततीव भाति
समे सप्रवृत्तात् क पतेदिप ले ॥

अस्यापि मेषापो यत् पतनं नाम करचिदस्तुनो न स्वानाधिको धर्मः, अपि स्वकर्षणपरि उन्मूत एव । अस्मानि प्रहितं पुरिग्यादिकं मूनेरेव स्वाभिमुखना-
कर्षते, तत्तत्तन्मूतमेव तस्य पतनं दृश्यते । मूनेस्वाकर्षकं भिन्नि निगन्तारं नास्ति, अपि त्रिषमभितरसमे आकाशमण्डले स्थिता । आकाशे वाकर्षणशक्ति-
नास्तीति केषु पठतु । अत्र स्फुटैस्सैर्भूम्याकर्षणविद्वान्तो न्यूत्नद् बहुपूर्वमेव मास्कराचार्यो विवृतः । महामाध्यकृता च सवातीयाकर्षणं त्जान्तो विवृत इति पूर्वदुक्तमेव ।

वेदेषु विवरः

आरजानेनमप्रकृतकथा । अनेन सवातीयाकर्षणविद्वान्नेनापि इत् प्रतिपत्त्य चैक्यं चन्द्रलोकमननव विद्वधाति । मृतस्य सप्तमं शरीरं स्यूयरी विहान निष्कल्पते । तत्र च मन एव प्रधानं भवति, मनश्चेद् चन्द्रमण्डलैरेवांश इति भुविल्लुपादिषु स्फुटिक्वन् । तदस्य चन्द्रमण्डलास्य मनसश्चन्द्राभिमुखी गति स्फुटं प्रविष्टपश्येव । यैस्तु तनेब्रह्मचर्यादिना स्वस्य प्राणशक्तिं प्रवर्द्धिता ते चन्द्रमनं न रञ्जन्ति, अपि तु वाता प्राणभूतस्य स्पर्शनाकर्षणत्वं सान्द्र-
मेव सान्तीत्यपि छन्दोगोपनिषदु सध्यमरणावन् । वैशाख पनम्प्यादि वाचनावशिष्टानां भूम्यामेव निरेणो सन्धयस्तेऽप्यैव पुनः पुनर्वापन्ते विपन्ते

चेति “जायस्व श्रियस्व” इत्येतत् तृतीयस्थानमिति छान्दोग्ये समाम्नातम् ।
एषाञ्च त्रिविधानामपि भादेन तृप्तिः स्मृतिषु स्फुटमुक्ता—

देवो यदि पिता ज्ञातः शुभकर्मण्युद्योगतः ।

तस्याधममृतं मृत्वा देवत्वेऽप्यनुगच्छति ॥ इत्यादिना ।

एते च मृता जीवा द्वादशभिर्मोहैश्चन्द्रलोकं प्राप्नुवन्तीति तावत् प्रतिमासं
आद्यानि क्रियन्ते । दिव्यपितृभिः सङ्गतानां तु वर्षान्ते सपिण्डनं क्रियते । तदनु
प्रत्यक्षं भाद्रपद । भाद्रे च या प्रक्रिया सा सर्वाऽपि वैशानिकरीत्या व्याख्यातुं
शक्यते । ये च भेदा नान्दीमुष्वाभमुष्वादयस्ते धृतपितृणामपि स्मृतिपुराणादिषु
प्रतिपादिताः—

पिता पितामहश्चैव तथैव प्रपितामहः ।

त्रयोऽप्यभ्युष्वा लोके पितरः परिकीर्तिताः ॥

तेभ्यः पूर्वतरा ये च प्रशाब्धतः सुलोचिताः ।

ते तु नान्दीमुष्वा नान्दीसमृद्धिरिति कथ्यते ॥ इत्यादिना ।

(ब्रह्मपुराणे)

एवं ये सोमपानं कृतवन्तरस्ते सोमपा इत्याद्यपि च तत्र तत्र विद्वृतम् ।

पुराणखण्डः

(अस्मिन् खण्डे—

१. पुराणेषु विकासवादः
२. धर्मपुराणविषयाणां समालोचनम्
३. सुदृढपुराणविषयसमालोचनम्
४. वेदेषु पुराणमहत्त्वम्
५. पुराणलक्षणानि

एते पद्यलेखाः संगृहीताः

—संपादकः)

पुराणेषु विकासवादः

विदितमेवैतद्व्यायेण सर्वेषामपि समयविदा विदुषा यद्व्याख्या विद्वांसो विकासवादमाददते । सर्वेषामपि प्राणिनामप्राणिना वा क्रमेणोन्नतिरिति तन्मतम् । तेन खलु वर्षशताभूवंमासीद्यादृश जगत्, तदपेक्षयाद्य वर्तते बहुतरमुन्नतम् । अद्य च यादृश तदपेक्षयेद् भाविनि समयान्तरे भविष्यत्युन्नतमेव, सेय क्रमिकोन्नति धारेति ज्ञेयम् । यद्यन्तु (मास्तीया) तद्विपरीतवादिन इवेति प्रसिद्धिः । अतएव सस्कार आबालवृद्धमस्मद्देशे, यज्जचेतनोमयात्मकपीद जगद्यथाऽमवद्वर्षशताभूवंम्, तदपेक्षयाद्यान्नतम् । न वृक्षास्तादृशा, न वा तथा प्रसविनी सत्याना विश्वम्भरा । न वाक्मादिष्वेव तादृशी शक्तिः, का तु क्रथा मनुष्याणाम्, ते खलु नक्तदेव मायुषा वीर्येण धर्मेण बुद्ध्या समृद्ध्या वा हस्त्येव । सोऽयमास्माकीनो हास-वादः । फलमपि क्लान्तभूयते स्वस्ववादानुकूलमेव, ते खलु प्रत्यहमुन्नतमन्येव, वयन्तु प्रत्यहं वा प्रतिक्षणमवन्नतिमेवाहित्थ्याम् । आस्तामिदम्, कस्त्वस्माकं शास्त्रकाराणामस्मिन् विषयेऽमिप्राय, को वा वादस्तद्व्यकोर्णि स्पृष्टतीति सत्तेप तोऽत्र निदर्शयितुमिच्छाम ।

क्रमिकोन्नतिवादपरम्परायोऽय विकासवाद प्राग्विकिये सत्तेपत खलु द्वेधा विभज्य द्रष्टव्य - जगति प्राणिनामुत्पत्तिविषये च, मनुष्याणां सामाजिकव्यवस्था विषये च । पूर्वत्र तावदेषु विकासवादसिद्धान्तः, न खलु भूम्या परिदृश्यमाना इमे सर्वेऽपि प्राणिनो युगपदेवोदपद्यन्त, अपि तु क्रमेणैवामुत्पत्तिः । सा चाप्युत्तरोत्तरमुन्नतैः, तथा च पूर्वं तिरश्चा तत्रापि प्रथममनेकेन्द्रियाणां ततो द्वीन्द्रियाणां मनन्तर त्रिचतुरिन्द्रियाणां पञ्चेन्द्रियाणां च तदनु क्रमेण समनस्कानां मनुष्याणां मुत्पत्तिरिति तत्सिद्धान्तः १११११ । सोऽय विद्वान्तः कथञ्चित् पौराणिक सृष्टिक्रम मनुसरतीव । तथा हि—सर्वेष्वपि पुराणेषु नवविधसृष्टिप्रतिपदनावसरे पूर्वं पृथ्वाणां तदनु तिरश्चा ततो देवानां मनुष्याणां सृष्टिरभिहिता । यथा विष्णुपुराणे (१ अथ ५ अध्याय) ।

सृष्टिं चिन्तयतस्तस्य कल्पादिषु यथा पुरा ।
अबुद्धिपूर्वकं सर्गं प्रादुर्भूतस्तमोमय ॥ ४ ॥
तमो मोहो महामोहस्तामिस्रो ह्यवसहितः ।
अविद्या पञ्चपर्वणा प्रादुर्भूता महात्मन ॥ ५ ॥

१. वानरा एव पुच्छर्षणेन मनुष्यतया परिणता इति वार्तिन्मतमप्येतत्सिद्धान्तमनुसृत्यैव प्रवृत्तम् ।

पञ्चधानस्थितं सर्गो ध्यायतोऽप्रतिबोधवान् ।
 बहिरतोऽप्रकाशश्च सृष्टात्मा रजसात्मकः ॥ ६ ॥
 मुख्या नगा यतः प्रोक्ता मुख्यसर्गास्तत्तत्त्वयम् ।
 तद्दृष्ट्वाऽसाधकः सर्गममन्यदपरं पुनः ॥ ७ ॥
 तस्याभिधायतः सर्गस्तिर्यक्स्रोतोऽभ्यवर्तत ।
 यस्मात्तिर्यक् प्रवृत्तिः स तिर्यक्स्रोतोस्ततः स्मृतः ॥ ८ ॥
 एवाद्यस्ते विख्यातास्ममप्राया ह्यवेदिनः ।
 उत्स्यमाहिणश्चैव तेऽशाने ज्ञानमानिनः ॥ ९ ॥
 अहङ्कृता अहमाणा अष्टादिद्यद्व्यात्मकाः ।
 अन्तःप्रकाशास्ते सर्वे आहृताश्च परस्परम् ॥ १० ॥
 तन्मन्यसाधकः मत्वा ध्यायतोऽन्यस्ततोऽभवत् ।
 ऊर्ध्वस्रोतास्तृतीयस्तु चात्त्रिकोदूर्ध्वमवर्तत ॥ ११ ॥
 ते सुखप्रीतिबहुना बहिरन्तश्च नाहृताः ।
 प्रकाशा बहिरन्तश्च ऊर्ध्वस्रोतोऽभवत् स्मृताः ॥ १२ ॥
 बुद्धात्मानस्तृतीयस्तु देवसंस्तु ॥ स्मृतः ।
 तस्मिन् सर्गोऽभवत्प्रीतिनिष्पन्ने ब्रह्मस्वदा ॥ १३ ॥
 ततोऽन्यः स तदा दृश्यो साधकः सर्गमुत्तमम् ।
 असाधकास्तु तान् शात्वा मुख्यसर्गादिसमवान् ॥ १४ ॥
 तथानिधायतस्तस्य ज्ञानाभिधायिनस्ततः ।
 प्रादुर्गमूष चाभ्यक्तादवोक्स्रोतास्तु साधकः ॥ १५ ॥
 यस्मादवगच्छन्तः ततोऽवोक्स्रोतस्तु ते ।
 ते च प्रकाशबहुलास्तनोद्विक्ता रजोऽधिका ॥ १६ ॥
 तस्मात्ते दुःखबहुना मूयो भूयन्व कारिणः ।
 प्रकाशा बहिरन्तश्च मनुष्याः साधकास्तु ते ॥ १७ ॥

तदनं सृष्टिक्रमे सत्तेजसो विकासवादसिद्धान्त एव प्रस्थापित इति सुकुम्भेव
 समीक्षादधानाम् । इयास्तु विशेषः, नास्माकमप्य विकासवादोऽन्येषां (सुरेशी

१ बहिः शब्दादिषु, अन्तः सुखादिषु च प्रकृतज्ञानसहितः । २. इत्युक्त्वा ।
 ३. ससाराप्रवर्तकम् । ४. ज्ञान-शुक्ति-विरययात्मका एते तथा सास्त्रप्रदर्शने
 प्रसिद्धाः । ५. सुबहु-वाचानुभवतः । ६. पितृ-पुत्रादिसम्बन्धदानशून्याः ।
 ७. केवलं भोगप्रसक्ता इति कर्मणामनारम्भेण ससारस्याप्रवर्तका देवा अपि ।
 ८. कर्तृत्वपिहृता ससारप्रवर्तकाः ।

यादीना) विकासवाद इव निरीक्षवादः क्रमिके विकासोपपन्न एतच्छब्दा-
विनिवृत्त्य कारणादप्युक्त्याः सन्निधानमपि वा कश्चिदधीश्वरस्य दत्तत्वात् अभ्युपगम्यत एव ।
किं वा सन्निधानमपि वा, ईश्वर एव एतच्छब्दावेदेन निम्नानिर्णयः स्वस्मैव-
माहते-इति ।

‘इन्द्रो मायानि द्रुक्त्वं ईयते’

‘उनेके सद्विद्या बहुधा वदन्ति’

इत्यादि पदे पदे स्तुतुश्चेत्युक्तमर्थः। स्तुत्येष्टिमानः । तत्र एवाह ईश्वर-
स्यैव ज्ञेयं सर्वविश्वमात्रं न ह्यस्तनाख्यातम् । निमित्तमिदं ध्येयविशिष्ट्यना देवानां
सर्वं यदपि विश्वत्वादे मानुषत्वं नन्तरं प्रसिद्धयेतु चेदस्तमानि कर्मणि
होतृवत्कृतवन्तः सृष्टिप्रकरणे मुख्यं विवक्षितम् । सा च परादिकर्ता सृष्टिस्त-
तोत्तरं संप्रतिननयति च मानुषेष्टेन मुख्यतया प्रादुर्भूतौ च त एव सर्वान्त-
रवाताः सर्वेभ्यो मुख्यतया निवर्तिता इहावनावा । कचेत्तु मनोऽतिमूर्खतया
देवानां मुख्यतयाख्यायते । सृष्टिनिर्वाणेऽप्यनङ्गीतायार्थः ॥ १८

एतेषां द्वितीयेन विज्ञानादस्य विद्वान्-यन् न मनुष्यवादेव्यतिदधानानेव
 सर्वशक्तिविशिष्टा सर्वकार्यकुशला वाऽभून् तन्मन्त्रावेनमातीरातुमाणा । एतेन
 इवादिना मनुष्या अपि कल्पे कणादिभिराहारं वर्तयन्ति स्म, अस्मिन् बृहत्तान्तो
 तिरिच्छादिषु च वर्ततेनामनन्ति स्म । पूर्वमेवमनन्त्या, तदुत्तरं तु वक्ष्य-
 मारम्भा । विद्यायां मन्त्रवाद्या वा नष्टीकृतापि । अयं कर्मेत्येवमनन्त्या वाते-
 शनम् । कृषिर्ह्यग्नि, वृक्षान्नगृहविनिर्मा, वस्त्रादित्तिष्वन, यज्ञादिष्वार-
 च्य कर्मेत्येव बुद्धौ मनुष्याणां दुर्गात्तदम् । सर्वान् विद्या कर्मेत्येव विज्ञानमनन्त,
 सन्ते, लप्स्यते च । तेनाद्यवधि अनानिष्टत्वा अपि बह्व्य क्त्वा वाते प्रादुर्भा-
 वेपुरेन । अदन्तमन्तमनुयायेत्या अपि बह्व्य यत्तय क्त्वा लुप्योर्जं प्राप्नुतुः ।
 अननुयायेतितासु काश्चन यत्तयो विनाशमनुयायन्ति, तेन संशान्ते कस्मिन्चित्
 निश्चेत्तुर्हरीनादि । एतेन विद्वान् कस्मिन्चित्प्रदेशे प्रकारमेवेन दुरासेत्येव

१. केचिषु मत्त-दूत-परा-भूति-चान्त-पदुप-साम-दृष्ट-बुध-
 कक्षीति दशावतारकरोति पूर्वं सारदा श्रीशः, ततो वज्र-स्थोभनना,
 तोऽम्भवर, ततोऽर्धमाया, ततो त्वक् पुरधा, ततो देवदत्तादिन,
 तत्रच सप्तदिनवन्धुद्वय वज्र, तदव सप्ततौ दने इते च सर्व
 मनुष्यस्य पूर्वजानुवा, ततोऽन्तर विष्ठा, तदव सप्तवद्वाका पुरधा
 तदन्त इत्येव विकासद स्तोपन्ति न तु तदतीव मनोरमन्ति विस्तरेण
 सप्तदिनानाम् ।

स्फुटं निबद्धं । तथा हि—मार्कण्डेयपुराणे सृष्टिप्रकरणे (४५-४६ अध्याययोः) नव-
विधमूनसर्गादिविवरणानन्तरं मानुषसर्गादिस्तरे प्रकृते ब्रह्मणो ब्राह्मणादीनां बहु-
विधानां मानुषाणामुत्पत्तिमभिधाय तदनन्तरं स्त्रीभारतं वप्रवृत्त्या स्त्रीपुंससंयोगादा-
मुपोऽन्ते सन्तानप्रवृत्तिरित्युपसर्ग्य तस्मिन् काले प्रजानां का स्थितिरित्युपनिषद्पु-
मारब्धम् । (विस्तरप्रियां सर्वांश्च श्लोकाननुरन्यस्य तदाशयं शब्दान् यते ।

कृतयुगे तासां प्रजानां ध्यानैर्नैव शब्दाद्या इन्द्रियविषया उपनमन्ति
स्म । ते जनाः सखिन्तरं समुद्रपर्वतानुरमेवन्ते स्म, शीतोष्णमयमहरममृन् ।
इच्छा-द्वेष, सुख-दुःख, प्रियाप्रियादिद्वन्द्वरहिता अमलवरास्ते स्वामानिर्द्धी वृत्तिम-
धिच्छन्ति स्म । अनिकेता-पृथादिरहिता पर्वतसमुद्रादिषु सदा तत्र विचेर ।
विद्याचोदगारक्ष-सुखप्रसिद्धीसुपनकमत्स्याचालस्कराद्याश्च तेभ्यो मय न प्रायच्छन् ।
श्रुतुञ्ज्यानि मूलफलपुष्पाणि तदा न बभूवुः । सर्वदेव नालुण्णशीतं सुख-
कालोऽभूत् । कालपरिवर्तनं नित्यवृत्तानां तेषां पूर्वाह्ने मध्याह्ने च विवृतता आ-
विर्भवति स्म, परमिच्छामेनानायासेन वृत्तिबद्धम् ।

‘इच्छता च तथायासो मनसः समजायत ।

अथा शीघ्रमेव ततस्तासां सिद्धिर्नाम्ना रसोच्छसा ॥ २० ॥

‘समजायत चैवान्या सर्वकामप्रदायिनी ।

असक्तार्थे शरीरैश्च प्रजास्ता स्थिरयोवना ॥ २१ ॥

१. ‘वृद्धी रसवती नाम आहार व्याहरन्ति च’

इति तु ब्रह्मण्डपुराणे । (७ अ ४२ श्लो)

‘तुल्यमायुः सुखं रूपम्’ ‘धर्माधर्मा तदा न स्त’

समूलफलपुष्पाणि वर्णनाय तत्रोक्तम्

‘उचिच्छन्ति प्रथिव्या वै तेषां ध्याने रसातलात् ।

रत्नवर्णं च तेषां वरारोगप्रणाशिनी’

‘असक्तार्थे शरीरैश्च प्रजास्ता स्थिरयोवना’

इत्याद्यनि तत्र ।

२. ब्रह्माण्डे—‘कल्पादौ मानसी ह्येका सिद्धिर्भवति सा कृते’

‘तस्या सिद्धी प्रथयतामन्या सिद्धिरजायत ।

अथा शीघ्रमेव प्रतिगते तदा मेधात्मना नु वै ।

मेतस्य स्तनयितुम्य प्रवृत्तं वृत्तिर्जनम् ।

सर्वदेव तया वृष्ट्या सविदे पृथिवीतले ।

प्रजा आसस्ततस्तासां वृक्षाश्च गृहसजिता’ इत्यादि ।

तासा विना तु सकल्प जायन्ते मिथुना प्रजा ।
सम जन्म च रूप च म्रियन्ते चैव ता समम् ॥ २२ ॥
अनिच्छाद्वेषसयुक्ता वर्तन्ते तु परस्परम् ।
तुल्यरूपायुष सर्वा अघमोत्तमता विना ॥ २३ ॥
कचित्कचित्पुन सामूत् क्षितिर्माग्येन सर्वश ।

अथ क्रमेण कालपर्ययात्तासा सिद्धीना नाशे आकाशाद्यप्रच्युता रसा
(पयस) कलरवृक्षा मूत्वा तदृष्टस्थिता अभूवन् । त्रेतायुगमुखे च तेभ्य एव
वृक्षेभ्यस्तासा प्रजाना सर्वविधा प्रत्युपयोगा (आहार-परिधान-शीतोष्णनिवा
रणाद्या) समाजायन्त । ते वृक्षा एव तज्जीवनान्यभूवन् । सर्वेषा साधारण्येन
मोग्यास्त वृक्षा आसन् । कालपर्ययेण तु तेषा जनाना मनसि राग उद्बभूव ।
स्त्रीषु च मासि मास्यास्तैव भूयो भूयश्च गर्भोत्पत्ति प्रवृत्ता, तदैव ते वृक्षा विलय
गता ।

अयापरे चतु शाला वृक्षा पृथि-या प्रादुरभूवन्—

वल्गाणि च प्रसूयन्ते फलेभ्योभरणानि च ॥ ३० ॥
तेष्वेव जायते तेषा गन्धवर्णरसान्वितम् ।
अमाक्षिक महावीर्यं पुत्रके पुत्रके मधु ॥ ३१ ॥
तेन ता वर्तयन्ति स्म मुखे त्रेतायुगस्य वै ।

एव साधारण्येन वृक्षैर्नर्तयतां तेषा मनसि रागो लोभात्मना परिणत, ततश्च
ममेद ममेदमिति वृक्षान् परिगृहीतवन्त स्वस्वमभिमन्यन्ते स्म । तेनापचारेण
तेऽपि वृक्षा नष्टप्राया । ततश्च शीतोष्णक्षुत्पिपासादीनि द्वन्द्वानि प्रजा पीड
यामासु । ततो द्वन्द्वोपयाताय पुराणि तै क्रियन्ते स्म ।

मरुघन्वस्तु दुर्गेषु पर्वतेषु वरीषु च ।
सभ्रयन्ति च दुर्गाणि चार्धे पार्वतमौदकम् ॥
वृत्रिम च तथा दुर्गं मित्रा मित्रात्मनोऽङ्गुलै ।
मानार्थानि प्रमाणानि तास्तु पूर्वं प्रचक्रिरे ॥ ३६ ॥

अथ वितस्ति-इस्तानीनि भूम्यादिमानानि सर्वाण्याख्यातानि, पुराणा
च पुर-लेख-द्रोणीमुखशाखानगरखर्वङ्ग्रामधोषादिमेदास्तत्प्रमाणानि लक्षणानि
च भित्तरेणभिहितानि । एव ता प्रजा पुरग्रामादि कृत्वा अथ शीतोष्णा
दिशान्तये ग्रहाणि निर्मसु । पूर्वं हि ता वृक्षाभया आसन्, तत्र

वृक्षशाखापर्वतदरीणां यादृशा आकारा हृदयगमा बभूवुस्तत्सादृश्येनैव एहाणि
विरचयितुमारुधानि । आयन्ते क्लिष्टाद्यापि बहुत्र वृक्षाणां एहकारा प्राकृता
सनिवशा, पर्वतदरीषु ॥ स्फुग्मेव भवति बहुत्र प्रासादादिसाम्यम् ।

वृक्षस्यैव गता शालास्तथैव चापरा गता ।
नताश्चेवोन्नताश्चैव तद्वन्शाखा प्रचकिरे ॥ ५३ ॥
या शाला कल्पवृक्षाणां पूर्वमाख्यं द्विजोत्तम ।
ता एव शारदा मेढाना शालास्तं तेन तामु तत् ॥ ५४ ॥

(शालासादृश्याद् एहभागा अपि शालेत्याख्याता इति भा०) । एव
द्वन्द्वोपपात (शीतोष्णादिनिवारण) कृत्वा ततस्ते जना वृक्षमधूना नष्टत्वाद्
वार्तोराय (जीर्णनिर्वाह्यन) चित्तवामासु । तेषु क्षुत्तडाद्यर्दितेषु विषाद
व्याकुलेषु (वैतायुगमुखे) वृष्टिरुद्भूत । वृष्टेरुदकानि च यानि निम्नगतानि
तान्यवरोधात् स्रोत स्वातादिरूपाणि परिणतानि, नवश्च प्रवृत्ता, ततो भूमेरश
व समोपादपात्कृष्टा ग्राम्यारण्याश्चतुर्दशीपथय प्रादुर्भूता ।

ऋतुपुष्पशब्दैश्चैव वृक्षा सुलभाश्च जगिरे ।
प्रादुर्भास्तु भेतायामाद्योऽथमौषधस्य तु ॥ ६० ॥
तेनौषधेन कर्तते प्रजास्त्रतायुग मुने ।

अथ रागलोमामिमूत्रनैर्नन्दान्नेषपर्वतादीना वृ सुलपौषधादीना च ममस्त्रेन
पारमह आरब्ध, तेनापचारेण भूमिस्ता यौषधान्यध्वमसत् । नष्टास्त्रोषधीषु
विभ्रान्ता क्षुधाकुला प्रजा ब्रह्माण शरण प्रापु । स च तासां पीडानिवारणाय
भुमेव नत्त कृत्वा वसुधा दुदोह, तदा कस्या मुत्पन्नानि ।

जगिरे तानि बीजाणि ग्राम्यारण्यास्तु ता पुन ॥ ६६ ॥
औषध्य पत्रपाका ता गणा सप्तदश स्मृता ।
मीहयश्च यवाश्चैव गोधूमा अणवस्तिला ॥ ६७ ॥
प्रियङ्गुन कोविदारा कीरदूपा सतीनका ।
माषा मुद्गा मसूराश्च निष्पावा सकुलत्यका ॥ ६८ ॥
आढव्यधनकाश्चैव शणा सप्तदश स्मृता ।

अग्रे आरण्या यज्ञियाऔषधस्य आख्याता, यदा ता पुनर्न प्रारोह न
तदा नद्या कर्मजा इस्ततिदिमाविरभावयत् । ततः प्रमृति कृतपण्या औषधयो
जगिरे । एव वार्तायां सिद्धाया नातुर्वर्ण्यमर्यादा स्थापिताऽभूत् । भर्मादुर्गतिनां
तत्तद्दर्शनामाभेदाणां च ऐन्द्रमास्तप्राजापत्यादीनि स्थानानि ब्रह्मणा नियमितानि ।

स्ततो दण्डनिर्माणं राजप्रजाव्यवस्था च प्रावर्तत । सरीसृपादिभ्यो भयं चापि
प्रजासु प्रवृत्तम् । इत्येवमेषा युगाख्यायिका म कण्डेयेनाभिहिता । वायुश्रुते
ब्रह्माण्डपुराण द्वितीयेऽनुपङ्गपादे सप्तमाध्याये चाप्येनद्यायेनैकमेवोक्तम् । वायुपुराणे
नादितोऽष्टमऽध्याय इत्यमेव सर्वमभिहितम् । अग्रे वायवीयेऽष्टमोऽध्याय इति
विस्तरेण दुर्गाखरानमित्य प्रायनेव । त्रेताया जयीविद्यालाम यज्ञादिकर्मप्रवृत्तिश्च
बहुधा तत्र तत्राभिहिता । अयस्य विस्तृतमभिप्रायं तत्र स्वाभिप्रायमाधुनिका-
दिवासवादादत्र विशेषं च समयान्तरे पाठ्यम् उक्तं हि स्थाम ।



१. वर्गधर्मैश्च क्षीयन्त्यो व्यसृज्यन्त परस्परम् ।

ब्रह्मा वृद्ध्वा तु तत्सर्वं याथातथ्येन स प्रभु ।

कनियाणां बलं दण्डं सुद्धमाजीव्यमादिशत्, इत्यादि ब्रह्माण्डे पाथौ च ।

४ च० स०

कूर्मपुराणविषयाणां समालोचनम्

कूर्मपुराणस्य पूर्वार्धस्याारम्भे रोमहर्षणस्तस्य त्रैमिपद्येने शौनकादीना समीपे गमन, शौनकादीनां च पुराणकथाविषयक प्रश्न, तत सूनस्य कूर्मरूपधर हरिं प्रणम्य अधादशानां पुराणानां नामधेयकथनम् । एषु नामसु भागवतानन्तर पूर्वे मविष्यमेवोक्त, तदनन्तर नारदादीनां कथन्तु सुध्यवस्थित एव, चतुर्थे च स्थाने शैव पुराणमेव गणितमित्येव विशेष । अत्र च पुराणानामनन्तरम् अधादशानां मुरपुराणानामपि नामधेयानि सन्तीति विशेष । तदनु कथाप्रवह्णारम्भे पूर्वे समुद्र मन्थनप्रसङ्ग, मन्दराख्यस्य पर्वतस्य स्वनीठे धारणार्थं भगवता विष्णुना कूर्मरूप धृत स च सर्वदेवैश्चर्यापिभिश्च स्तुत इति वर्णनम् । ततश्च पदा समुद्राद् भगवती श्रीराविमृता, भगवता विष्णुना च सा स्तोता, तदा सर्वदेवैश्चर्यापिभिश्च 'भगवन् केय देवी !' इति पृष्ठ कूर्मरूपधरो भगवान् विष्णुरिदमाह—'इय मे परमा शक्तिर्मायाकमा मद्रूपैव, अनयैव जगद् धार्यते । इयञ्च जगन्मोहयति । अनयैवाह जगत् उत्पत्तिं प्रत्य च करोमि । इयञ्च सर्वजगत्सृतिं त्रिगुणारिमिका प्रकृतिमन्त प्रागेव सजाता । देवितुमनुप्राया एता न विदन्ति' इति ।

अस्यायमवाशय, यद् शक्ति शक्तिमाश्च अभिज्ञायेव भवन । यथाऽग्नेर्दीह क्षवशक्तिर्नाग्नेर्मिज्ञा भवति तथैव सर्वत्र बोद्धव्यम् । वेदान्तिनश्चेतां मायाशक्ति मेदामेदाम्यामनिर्वाच्या वदति । अनिर्वान्येन च पदार्थेन न द्वैत भवति, इत्यद्वैत मव ते मन्यन्ते । अतएव अभिज्ञत्वमेवानुसंधाय मत्त पूर्वमिय जादति भगवतो कम् । शक्तिशक्तिमतो पौर्वापर्ये नास्तीत्येवाभाभिप्राय । अथवा भागमशाले शाका पूर्वं शक्तिमेव वदन्ति । सा शक्तिरेव रनाभय स्वकर्तार कल्पयति ।

अनन्तरञ्च विस्तर पृष्टेन भगवता कूर्मेण इन्द्रद्युम्नकथा वर्णिता । इन्द्रद्युम्नो हि भगन्तमारापयाम्बुजे । तस्य सम्मुखे श्री प्रादुर्बभूव तेन पृष्टा च स्वतस्व बोधयामास । पुनश्च केनोपादेन भगवान् शातु शक्य इति पृष्टा, भगवन्तमेवा राधयेत्युक्तयती । तेनाराधितश्च भगवानपि दर्शने ददौ, कल्याणोपायान् पृष्ठश्च वर्णाश्रमाचारवता पुरुषेण भगवान्महेश्वर समाराध्य, तेन कल्याण प्राप्यते इवायुक्तवान् । तथानुर्वक्षेद्रद्युम्न कल्याण प्राप्त ।

अनन्तर ऋषिदेवादिभि पृष्टेन भगवता कूर्मेण पूर्वमाभमाचारा विवृता । इद्वै च भगवता कूर्मेण सृष्टि विरुद्धता प्रसादाद् ब्रह्मण उत्पत्ति कथिता, ब्रह्मण च धिय द्वा 'अनया वा मोह्य' तत एव मया सृष्टि कर्तुं शक्येत इति प्रार्थितो देवी धिय जगन्मोहयेति कथयामास । ये तु नारायणस्य महेश्वरस्य च

मन्दिरायां वर्णाश्रमाचाररताश्च तावन्नोद्देश्येत्याद्युच्यन् । अनन्तरञ्च वर्णधर्मा भगवता कूर्मोऽपदिष्टाः । तदनु सृष्टिर्विषय ब्रूहीति पृष्टेन सृष्टिस्तु तत्र चतुर्भ्यूहो महेश्वरः सर्वनियन्ता सर्वतोमुखः सनातनोऽस्तेन तत्प्रेरितश्च त्रिगुणव्यक्तं सृष्टिं करोतीत्यादिविवरणम् । तत्र च प्रथमं ब्रह्मा समवर्तते तस्य ब्रह्मणो दिनमेव सृष्टिः, रात्रिश्च प्रलयः । अयं नैमित्तिकः प्रलयः ।

अथायमाशयः, ये प्राणिनो यावत्सूर्यं पश्यन्ति तावत्तेषां दिनं, यावन्न सूर्यो दैनं दृश्यते तावत्तेषां रात्रिरिति सम्प्रदायः । अस्मात्तु मनुष्येषु तु सूर्यमेवैनञ्च विनिरुपेक्षन् । पितरश्च विधूर्त्तभागो रिपुताः कृष्णाष्टमीमारभ्य शुक्लाष्टमीपर्यन्तं सूर्यं पश्यन्ति । अमावास्यायां सूर्यश्चन्द्रश्च सहैवोदयमस्तश्च प्रयात इति चन्द्रस्यापरमागमगतां शिरस्येव सूर्यं इति अमावास्या तेषां मध्याह्न-
कालो भवति । अस्मदभिमुखस्तु चन्द्रभागस्तस्मिन् दिने न प्रकाशते इत्यस्मा-
न्निश्चन्द्रोऽमायां न दृश्यते । मञ्जु नान एव रीत्या पञ्चदशदिनानि पितृणां सूर्यदर्शनं शुक्लाष्टमीमारभ्य कृष्णाष्टमीपर्यन्तन्तु तेषां सूर्यस्यादर्शनमिति रात्रिः । पूर्णिमायां यदास्मदभिमुखो भागश्चन्द्रस्य पूर्णः प्रकाशते तदोर्ध्वभागस्थितानां न प्रकाशलोचसम्भव इति पूर्णिमा तेषां मध्यरात्रकालः । एवं रीत्याऽस्माकं मासेन त्रिणामेकमहोरात्रं भवति । अनयेव रीत्या ये देवाः सुनेचरन्ति भुवस्याधस्ताद्विष-
सन्ति तैश्चत्तगोलस्थितः सूर्यो निरीक्ष्यते, दक्षिणगोलस्थसु न निरीक्ष्यते । स्वस्त्य-
स्वस्तिकावत्पक्षपरिमितमेव द्युमण्डलं सर्वैर्दृश्यते इति भुवश्च नवत्पक्षा विषुवद्-
वृत्तपर्यन्तमेव पूर्णा मन्तीति । सूर्यो हि भगवान् मातृषट्कं विषुवनो वक्षिणे,
मातृषट्कञ्च विषुवन उत्तरे परिभ्राम्यति । तत्र च मातृषट्कपर्यन्तं सूर्यस्यानवरतं
दर्शनमातृषट्कनिन्देवानां दिनम् । मातृषट्कमिता च सूर्यस्यादर्शनाद्वाजि-
रित्पराकां संकशर एव देवानामहोरात्रम् । अनयेव रीत्या ब्रह्मणा यावत्सूर्यो
दृश्यते तावत्तस्य दिनम्, अदर्शने च रात्रिरिति फलति । ब्रह्मणश्च क्वावस्थितिरिति
विचारे भू, भुवः, स्वः, महः, अनः, तपः, सत्यम् इति प्रसह कल्पमानव्याहृत्य-
भूताः ये सप्त लोका अधोऽर्धभागेन सन्ति सन्निविष्टाः, तेषां सर्वेषामुपरि योऽयं
सत्यलोकः स्वयम्भूतोकावरपर्यायश्चतुः । एव ब्रह्मा स्थानमिति पुराणप्रसिद्धिः ।
स च सर्वेषामुपरि व्याप्त इति तत्कुक्षावेव सर्वे लोकाः स्थिताः । तृतीये लोके
स्वरिष्याख्ये च स्थितः सूर्यो न कदापि कुत्राप्यत्रस्थितो ब्रह्मणोऽदृश्यो भवति ।
स तत्र तदैव ब्रह्मणोऽदृश्यः स्याद्यदा स्वयं विशीर्णो भूत्वा प्रत्य यायात् ।
तदियमेकस्य सूर्यस्य यावदवस्थितिः तावद् ब्रह्मणो दिनम्, यावत्त ब्रह्मा स्वरिति
अपनः सूर्यो नोत्पद्यते तावती ब्रह्मणो रात्रिः । इत्येव ब्रह्मणो रात्रिनैमित्तिकप्रलय
इत्युच्यते । अस्मिन् प्रत्ये भू, भुवः, स्वरिति स्वात्मानां त्रयानां लोकानां सूर्य-
सम्बद्धानां विनाशो भवति । महर्त्त्याद्या ऊर्ध्वलोकास्तु तथैवावतिष्ठन्ते । अथैव

ब्रह्मणो दिनस्य कल्पशब्देनाभिधानम्, तत्र चतुर्दशानां मनूनां गणना च पुराणेषु कृता । अस्माकं सदस्युगपर्यन्तमतदिनम्, तावत्स्येव च रात्रिरित्यहोरात्राणां गणनया मासवर्षादिक्रमणं यदा शतवर्षात्मकं ब्रह्मण्य आयुः पूर्णं भवति तदा एको ब्रह्मापि लयं यातीति तदाख्ये प्राकृतप्रलय उच्यते । तदा च सर्वे लोकाद्याः प्रकृतौ प्रलीयंति । पुनश्च महारात्र्यन्ते तेषां सृष्टिर्जायते इति पौराणिकी परिभाषा । सैवात्र निरुक्ता । प्राकृतप्रलयान्ते च महेश्वरस्यापि रात्रिरिति वक्तुं शक्यं तथापि लोकदृष्ट्या तत्राप्येव व्यवहारं क्रियते ।

अथ प्राप्तपरिपाकानां प्राणिकर्मणामुद्बोधवशेन महेश्वरस्य सिसृक्षा जायते । तदा स मगवान् योगिनं प्रकृतिं पुरुषं च प्रविश्य क्षीमयति । अत्र च दृष्टान्तोऽस्मिन् पुराणेऽभिहितः —

यथा मदो नरस्त्रीणां यथा वा माधवोऽनिलः ।

अनुप्रविष्टः क्षीमाथ तयाऽसौ योगमूर्तिमान् ॥ (१४।१४)

यद्यपि प्रकृतिपुरुषावपि भगवतो न भिन्नौ पुराणेषु अद्वैतवादस्यैवानुपगमात्, तथापि “स एव क्षीमको विप्रा क्षीम्यश्च परमेश्वरः । स सकोचविकासाम्ना प्रधानतरे व्यवस्थितः ” ॥ ततश्च क्षीम्यमानात् प्रधानात् प्रधानपुरुषात्मकं महं प्रादुरभूत् । तदेव त्रिमूर्तीतम्, तदेव च महान् आत्मा, मतिः, ब्रह्मा, प्रबुद्धिः, ख्यातिः, ईश्वर इत्यादिभिः शब्दैरुच्यते । तस्माच्च महतः निविधोऽहकारः प्रादुरभूत् । वैरागिक, तैषस, भूतादिष्वेति तस्य तिस्रो विधाः । अयञ्चाहकारः अभिमानकर्ता, मन्ता, आत्मा चोन्मेषादि पदैराख्यायते । अथ तत्त्वप्रधानाः दैकारिकादहकारात् वैकारिका दश देवा इन्द्रियाधिष्ठातारः मनश्चैकादश प्रादुरभूत्, तैजसान् च इन्द्रियाणि । भूतादेस्तदहकारात् तम प्रधानात् पूर्वं शब्दतन्मात्रं, शब्दतन्मात्राच्चाकाशः, आकाशाद्विकुर्वीणात् स्पर्शतन्मात्रम् । ततश्च स्पर्शगुणको वायुः, वायो रूपतन्मात्रम् ततस्तद्गुणकं तेजः, तेजसो रसतन्मात्रम् । ततश्च रसाधाराणि अम्भासि, ततः गन्धतन्मात्रं, ततो सघातरूपा गन्धगुणा पृथिवी । अथ पूर्वस्य पूर्वस्य महाभूतस्य उत्तरोत्तरमिन् अनुप्रवशात् आकाश एकगुणः, वायुर्द्विगुणः, तेजस्त्रिगुणम्, जलं चतुर्गुणम्, पृथिवी च पञ्चगुणा जायते । एतानि सर्वाण्यपि भूतानि त्रिगुणात्मकानि परस्परानुप्रवेशात् परस्परधारकाणि च । एतानि च महदादीनि सप्त पृथग्भूतानि यदा किमपि कर्तुं न शक्नुवन्ति तदा सप्तापि समूय अण्डमुत्पादयन्ति । अण्डबुद्बुदवत् तदण्डमुददेश्यमेवा भवत् । अस्मिन् प्रवृद्धे अण्डे क्षेत्रज्ञो नाम हिरण्यगर्भः प्रादुर्भवति । स एव प्रथमश्चारी पुरुषश्चाख्यायते । अयमेव सर्वेषां भूतानामादिकर्ता । य एव प्रधानादपि परं पुरुष आख्यातः स एव हिरण्यगर्भरूपेण प्रादुर्भवति ।

मेढ्रहृत्त्वममृतस्य ज्वरायुश्चापि पर्वता ।

गर्भोदकं समुद्राश्च तस्यासन् परमात्मन ॥ (१।४।४०)

अस्मिन्नेवाण्डे सूर्यचन्द्रादिकसनक्षत्रसदेवासुरमानुषजगत्स्थितम् । अत्र च पृथिव्यादीनि पञ्चभूतानि दशदशगुणैरुत्तरोत्तरैर्भूतैरावृतानि । सर्वाणि च भूतानि अहकारणतदपि च महता तदपि चाध्यस्तेनावृतानि । अत्र च एतदभिमानिनो योगाः पुरुषास्तिस्रस्तन्ति । इदं ब्रह्माण्डं प्रजापतेर्द्वितीया मूर्तिरिति वैदिकी क्षुतिराह हिरण्यगर्भश्च तृतीयं भगवद्रूपम् । अथ तस्मादेव हिरण्यगर्भात् चतुर्मुखो ब्रह्मा प्रादुरभूत् । स एव रज आभित्य सृजति । सत्त्वमाश्रित्य पालयति, तम आभित्य च रुद्रस्वरूपेण सर्वं सहरति । यादृच्छया च नानारूपाणि करोति । एतानि रूपाणि तस्य गुणविशिष्टानि, वस्तुतः स एक एव । अयमेव च नानाकायहरणात् बहुशक्त्याश्च आदिदेव, प्रजापति, महादेव, ब्रह्मा, शृङ्गाध, नारायण हरिरित्यादिनामभिहृत्यते । एतावत्पर्यन्तं भगवतोऽबुद्धिपूर्विका सृष्टिः ।

इदमनाकृतम्—रसो बन्ध्वञ्चेति सर्वस्यापि जगतो द्वे मूलतत्त्वे । तत्र रसो निर्विकार सदैवरूपो मुख्यो विभुश्च न तद्विनाकृतं किञ्चिदपि स्थानमस्ति । बलं तु क्षणावस्थायि भ्रूलपाल्यमात्रञ्च परं सख्यया तदनन्तम् । ततः सर्वत्रैव रसः तदन्वभिख्याप्नोति । तद्धि प्रवाहरूपेण नित्यम्, स्वरूपेण तु क्षणावस्थायि । यथा गङ्गातटे स्थितं पुरुषं प्रतिक्षणमव जलं स्वचक्षुषोऽग्रे पश्यति परं यज्जलं पूर्वस्मिन् क्षणे दृष्टं तदुत्तरक्षणे नास्ति । नव नव जलं प्रतिक्षणं गच्छत्यागच्छति च । इयमेव प्रगाहनित्यता उच्यते । तद्वरीत्यैव बलमपि रसाभितं बोद्धव्यम् । अस्य च जलस्य न स्वतन्त्रा सत्ता किन्तु रसाभितं तत्सत्त्वैव सत्ताव्यतीयते । इदञ्च रसापेक्षया भिन्नमभिन्नं वति न निर्वर्तुं शक्यते । तस्मादनिर्वचनीयम् । अनिर्वचनीयत्वादेव च न द्वैतं भवति मिलितं तद्द्वयमेकमेवाख्यायते । अतो जगतो मूलमेकमेवोच्यते । इदञ्च बलं यावत्सुप्तं तावद्रसादभिन्नरूपमेव, जागारतेन तु तेन अपरिच्छिन्नोऽपि रस इत्यस्य परिच्छिन्नत्वात् परिच्छिन्न इव दर्शयते । यथा हि तरङ्गा समुद्रबलं स्पर्शरिच्छिन्नमव दर्शयति तद्वत् । एव—परिच्छेदेन दर्शयमानो रस पुरुषरूपो भवति । स एव रसप्राधान्ये पुरुष, यत्प्राधान्ये तु प्रकृतिरित्याख्यायते । तत एवात्र प्रकृतिरपि मद्भेदराज्ञं भिन्नेत्युक्तम् । अत्र पुरुषरूपेण तस्य त्रयो भेदाः क्रमणं प्रादुर्भवन्ति—अव्यय, अक्षर, क्षरश्चेति । यदा बलं सीमानं करोति परं तत्र चित्तिर्ग्रन्थिर्वा न जायते सोऽव्ययपुरुष इत्युच्यते । यदा तु यथा वृद्धिर्मात्रेण इष्टकोपरि क्रमेणान्या इष्टकाः क्षीयन्ते तथा बलोपरि बलान्तराणि यदा क्षीयन्ते तदा तथा चित्या अक्षरपुरुष प्रादुर्भवति । यद्यपि बलं क्षणिकमिति चित्तिस्तत्र न सम्भवति तथापि रसाभितं

तद्वत्वाद्भूतं भवतीति तरङ्गोत्तरं तरङ्गाशान्तिश्च तत्र चित्तिर्लभ्यते । एवं प्रवृत्तया चित्ता यदा बलानां परस्परं मन्थिर्जयते तदा क्षुद्रप्रादुर्भासः । यथा च रत्नप्राधान्ये अल्पवः, अल्पः, धर इति त्रयो मेदा भवन्ति तथैव व्याप्राधान्ये महानहश्चायं तन्मायाश्चेति भवन्ति मेदाः । एषाञ्च परस्परं मन्थेनान् सर्वोपि सर्गः प्रजायते । अत्रोक्तस्यात्राक्षुष्यस्य परेच्छित्तत्वात् सति परित्येदे कदाप्रादुर्भासश्च भवन्ति पञ्चकथाः—आनन्दः, विज्ञानम्, मनः, प्राणः, वायुः । तत्र मनः प्राणो वायुति सुप्रशान्तिर्यः । आनन्दो विज्ञानं मन इति तु मुक्तिवाग्यः । अत्र प्राणमाधारहृत्पादस्य प्रादुर्भासः वाचमाधारीहृत् त्रु हस्तेति अन्तरः सर्वानात्मनम् । अत्राक्षुष्यमात्रे सति पञ्चकथाः—ब्रह्मा, विष्णुः, इन्द्रः, अग्निः, सोमश्चेति । प्राणमाधारीहृत्पादस्य प्रादुर्भासः शत्रुर्धं प्राक् । प्राणे च प्रतिष्ठां गन्तामती प्रत्येते । सर्वे हि पदार्थाः प्रतिष्ठं परेभ्यः किञ्चन ददति परेभ्यश्च किञ्चिदाददते । यथा दीनः स्वप्रकार्यं सर्वत्र प्रवेष्टयति तैश्चोपादत्ते तथैव सर्वत्र बोद्धव्यम् । तत्र यथा शक्या व्यापन-
 जायते सा विष्णुतिशुच्यते । यथा तु निर्गमनं सा इन्द्र इत्युच्यते । अत्राक्षुष्यं प्रवर्त-
 माननोपि गन्तामयोः तदेवेदं वस्तु इति प्रवर्तिष्यते तद्विदं प्रतिष्ठाप्राणरूपेण ब्रह्मणा विपते त एते त्रयो ह्याः । अग्नीशोमी ॥ वृष्ट्याविति ताम्पानेव अक्षुष्य-
 यते । अत्र अक्षुष्यमात्रे सति पञ्च कथाः, प्राणः, आनन्दः, वाक्, अन्नादः अस्ति-
 निति । एतेनैव अक्षुष्यमात्रां महादीनामपि मेदा आयन्ते इतीरं संज्ञिता वैदिकी
 सृष्टिप्रक्रिया । दामेवाधारीहृत् पुराणान्यपि प्रवर्तन्ते । मन महेश्वरो य व्याख्यातः
 स परात्परः पुरुषः तत्र एव प्रवृत्तिपुरुषप्रादुर्भासः उक्तः । अक्षुष्यपुरुषस्य च मेदाः ब्रह्मा,
 विष्णुर्मादेव इत्याद्याः स्थाने स्थाने निम्नयन्ते तत्तदेव व्याख्यातानाम् । अत्र
 इन्द्रः, अग्निः, सोमः, इति त्रीन्दीव्यत्र पौराणिक-भाषाया महादेव इत्युच्यते इति
 स्मर्यम् । स एव महादेवोऽत्र प्रक्रियाया व्याख्यातः, पुराणानि च सांख्यसनाददा
 प्रकृत्यादिप्रक्रियानेव प्रायेणाधारीहृत्संज्ञीति तैव प्रक्रिया अशोका । केचनं विद-
 याध्यदर्शनादयमेव मेदा यदत्र प्रवृत्तिश्चादम्भ्यं न भवति । महेश्वरादेव प्रवृत्ति-
 रान्ना तैवेव च सौम्यमात्रा अक्षुष्यतीति । तिस्रो मूर्त्यश्च भगवतो या
 व्याख्याताः तानां भावः, पिता तावदम्भ्यच्छान्तेषु ब्रह्मोपातर्न विधीयते विश्वरूपेण,
 विश्वरूपेण निष्कालीतरूपेण च । ता एव तिस्रो मूर्त्योऽप्याख्याताः । एकैर्वि-
 न्तमेव, विश्वरूपश्च द्विर्यदम्भ्यः, स एव विद्वं ब्रह्मण्य तदवैवाप्यति । भगवान्
 महेश्वरश्च निष्कालीत इति । यथायमर्थं ब्रह्मप्रादुर्भासः उक्तः स एव पुरुष एव
 भावयवैवैव नृत्तीत्यत्र व्याख्यातव्यं तदप्यत्रानुसंधेयम् ।

अथात्र सुष्मादौ आक्षुष्यना उक्ता सा पूर्वमेवाभ्यामित्याख्याता । तत्र त्वयं
 निष्ठाः परार्थमिति सर्वतः परा परमा ईदृशा संस्कृतभाषाया गायते । परार्थद्वितयश्च

ब्रह्मण आमुर्मन्त । अस्मद्वर्षपञ्चया ब्रह्मण आयुषो गणनाया द्विषार्धपरिमितान्येन
दिना-यायान्तीति गति-क्रमेणानस-धेयम् । अथान्तरिक्षे महीप्रादुर्भव इत्यनेति
वर्ण्यते । नदेत्स्व वराहप्रादुर्माणप्रकरणम् । वराहोऽयं यशरूपेण वायुरूपेण च तत्र
तत्र व्याख्यातः । यदा हि जले आप, फेन, मृत्ना, सिकता, शर्करा, अम्मा,
अया, दिग्गमिनि क्रमणाद्विधा जायन्ते तदा तासां विधानां सगृह्य पिण्डीकरणार्थं
सर्वतोमुखो त्रिलोक्यो जायते प्रचलति । स पयः सर्वानवयवान् सहस्र पिण्डरूपता
नयति । अयमेव वायु वृणोति च ऋहोति चेति वराह आख्यायते इत्युक्तं ब्राह्मणेषु ।

अन्तरव वराहद्वारा पृथिवी स्थितेति व्याख्यायते शास्त्रेषु । तेनैव सर्वतः
प्रसवरेण वायुनाऽद्यापि पृथिवीपिण्डं त्रियत इति । अयमेव वराहो यशरूपेण
भागवतादिषु व्याख्यातः । इह तु ऋषिभिर्व्यापकरूपेणैव स्मृतः ।

अथ सृष्टि वितन्वतो भगवतो पूर्वमबुद्धिपूर्वकं सर्गं प्रादुरभूत् । तमो मोह,
महामोह, तानिह अन्वतानिश्चयानि । इमे एव योगदशने अविद्या, आत्मता,
राग, द्वेष, अमिनिवद्य इति पञ्चकनधा आख्यायन्ते । इमानि बुद्धेस्तामसानि
रूपाण्येव शनि एषो सृष्टौ बुद्धेर्नोपयोग इतीयमबुद्धिपूर्विका सृष्टिकथा । एतै
पञ्चभिः क्लेशैरेव वष्टिता सर्वेऽपि प्राणिनो जायन्ते, इत्येषा सर्ग आवश्यक । तदनु
चतुर्दशविध प्राणिना सर्वं प्रतिपादितः । पूर्वं नगाना वृक्षलतादीनां सर्गं, मुखे
जातरवादिमे मुख्या उच्यन्ते, तदनु तिर्यग् योनीनां चतुर्विधं सर्गं । सरीसृपा,
पक्षिण, मृगा (आरग्यका) पद्माव (ग्राम्या) चेति । एत सर्गमसाधक भगवा
ऊर्ध्वलोतसा देवानां सात्त्विकं सर्वं प्रवर्तितः । तेषामष्टविधस्वप्नयत्राख्यातम् ।
अनन्तरञ्च अवाक्लोता मनुष्यसर्गं प्रादुरभूत् । इमे मनुष्य रजोबहुला प्रायेण
दुःखिनो जायन्ते । इत्येव महाद्या अग्रे सर्गां कृतिता । मनुष्याणामग्रे भूतादीनां
सर्गोऽत्र पुराणे निरूपितः । स तम प्रधान पिशाचादीनां सर्गो निरूप्य ।

अथ मनुष्येषु पूर्वं सनकादीनां कुमारानां मानससर्गो ब्रह्मणा कृतः । इमे च
पञ्चापि योगिनो वैराग्यपरमा सृष्टिं कर्तुं न प्रवृत्ताः । इमाश्च सर्गोऽप्रवृत्तान्
विश्लोक्य ब्रह्मण दुःखं क्रोधश्च उद्भूतः । क्रोध निवृत्त्य तस्य ललाटाग्रील-
लोद्दिहो भगवान् महादेव प्रादुरभूत् । स्वयमेव परमेश्वर इदानीं प्रादुर्भूतः ।
ब्रह्मा प्रणय त प्रजासर्गार्थमाह । तदा मगवान् महादेव आत्मसदृशान्
रुद्रान् ससर्ज । ये जरामृत्युविवर्जिता सदैकरूपा आसन् । तान्दृष्ट्वा ब्रह्मणा
जरामृत्युयुतान् प्राग्निस्त्विति प्रार्थितो भगवन् नाह जरामृत्युयुतान् सस्यामीति
प्रोवाच । तदा ब्रह्मण च सर्गाज्जिगारितः । ततश्च ब्रह्मा स्थानाभिमानिन कालामि
मानिनश्च नदीसमुद्राविष्ठातृन् कणकाद्याद्यधिष्ठात्रींश्च पूर्वं ससर्ज, तदनु च
स्वशिरोऽवयवेभ्यः सप्तर्षीन् ससर्ज । त एते ऋष्या सृष्टौ प्रवृत्ता सर्वान् ससन्तु ।

अनन्तरञ्चात्र देवादीनां सर्गं पुनर्विस्तरणोक्तः । पूर्वं बधनादधुरा सृष्टाः ।
अमुरान् सृष्टा च सा तनुस्तेन त्यक्त्वा रात्रिर्बभूव । न्य रात्रिस्तमोबहुला अस्याद्वा

सुराणो प्राधान्यञ्जायते । ततश्च ब्रह्मा सत्त्वंबहुला तनुमास्थाय भुवतो देवान्
सृजन् । दीव्यन् इमे जाता इति देवा उच्यन्ते । तत्र देवान्सृष्ट्वा सानि तनुस्तेन
त्यक्त्वा, दिनं बभूव । तत्सत्त्वंबहुलं तत्रैव च देवा प्रभवन्ति । ततश्च पुन सत्त्वं
मायात्मिका तनु पृष्टीत्वाऽन्तर्धानं विनृक्त्वन्मत्ता तेन वितरः सृष्टा । सानि च तनुस्तेन
त्यक्त्वा, सन्ध्याऽभवत् । तत एव सन्ध्यापि सत्प्रधाना पितृगाम् च तत्र बला-
धिक्यम् ततश्च स्वोमायात्मिका तनु पृष्टीत्वा भनुष्यास्तंनं धृत्वा सा च तनुस्त्यक्त्वा,
धोत्सना बभूव । तस्मान्मनुष्या ज्योत्स्नानां हृष्यन्ति । एवमत्र स्वावयवस्य
सर्वे प्राणिनः सृष्टाः ।

अनायमाशय — यथास्माभिः पूर्वमुक्तं क्षरं पुण्यं तन्नाशरूपम् प्रकृति-
मुपादाय स्वावयवस्य सर्वान्प्राणिनः सृजतीति तथैवान् क्षरं पुण्यो ब्रह्मा तत्तद्
गुणबहुलास्तास्तास्तनूरुपादाय दशादीन् सर्वान् प्रकृतिश्च पारवर्तनशीला स्वतः
एव निवर्तते इत्येव तनुविरचयार्थमाशयः । तेषु तेषु कालवयवेषु चापि तम स्वका
दिप्राधान्यं बोधयितुं तत्तत्तनुरूपान् कालवयवनामानामुक्तम् । मनुना हि भगवता
“श्रावणं पितरो जाताः; पितॄन्मो देवदानवा । देवस्यश्च जगत्सर्वं” इत्या-
दिमुक्तम् । ते श्रुतिविरुद्धा मागन्ताः । इमे तत्रोक्ता प्रागिरूपास्तत्तज्ज्ञानिवाग्नि-
इत्येव विरोधोऽयं समाधेयः ।

अग्रे श्रुतिप्रसन्न समाधानं भगवतो ब्रह्मणः सफाशान् प्रादुर्भावो विस्तरेण
विवृतः । तदग्रे च सूर्यचन्द्रग्रहानां राशौ चरितेषु चन्द्रवशे भगवन् ब्रह्मणस्य
प्रादुर्भावः, तत्तत्तदभेदधरितयस्तु विवृतम् ।

उत्तरार्धपरिच्छेदे श्रुतिमि परमं ज्ञानं पृथगे रोमहर्षणो पावत् कृत्स्नपञ्चमते
तावदेव तत्रैव भगवान् व्यासः समागतः । रोमहर्षणेन दण्डन्तुः प्रणिपत्य मुनीन्
प्राशुक्त्वा यदैव साक्षात् भगवान् समानात् इत एव शुभपश्यम् । स्वयञ्च व्यासः
प्राशुक्त्वा “एते मुनयः परमं ब्रह्मज्ञानं भोक्तुमिच्छन्ति कृपया भवता बोधयन्ताम् ।”
तदा व्यासेनोक्तं “एकदा कनकुमाराद्या अन्येऽपि च कृपादकृतिगया बहुव
श्रुत्य पूये सदरिकाभमे नागवधमिदमेव ज्ञानं पृथ्वन्तः । एषां सवावकाशे
एन तत्र भगवान् शिष्यं तत्रैवाभिसेत् । किञ्च भवन्तो विचारयन्तीनि तान् पृष्टवान् ।
तत्रैव तैः प्रार्थितं स्वयमेव ब्रह्मन्तत् सर्वान् बोधयितुं प्रवृत्तः । “दमाधरगीते
तुम्भते । खैव च मया मन्त्रस्यैवाच्यते” इत्युक्त्वा भगवान् व्यासः दशरणीता-
थावयामास तत्र हि भगवता यदुपादष्ट तस्याय क्षरं — ज्ञानमेव परं सकारं
व्यातम् । तच्च विमूढा अर्थरूपान् पश्यन्ति योऽहमाद्यगतं परोऽस्मि स सर्वान्तर-
साक्षिन्नाशरूपः । स एवान्तर्धर्मो पुण्यः, प्राणः, महेश्वरः काल इत्यादि-
शब्दैरुच्यते । स एव च मायया विविधास्तन् करोति । अस्तु न पाणिनादा
दिमिशिन्द्रयैर्विहीनं कर्तृत्वमोक्तृणादिधर्मैश्च हीनं । यथा हि प्रकाशतमसो

परस्पर सम्बन्ध सर्वथा असम्भाव्य तथैव तस्य मायया मायिकेन जगता चैक्य सर्वथा असम्भाव्यमेव । यथा च छाया मलिना तथा जीवात्मापि स्वभावतो मलिनो विकारो च । एव मलिनस्य मुक्तिं कदापि न सम्भवति । यदा तु मुनयो विकारहीन निर्द्वन्द्वमानन्दरूपमात्मानं पश्यन्ति तदा मुक्ता भवन्ति । कर्तृत्वमुख दुःखाद्याभमानोऽहंकारश्च । स च जनैरात्मन्यारोपित । योगिनस्तु प्रकृते पर शुद्धमात्मानं पश्यन्ति । यदप्यात्मा स्वयव्योति परमहकारेण सहाविविक्त सदसदात्मक जना पश्यन्त । प्रधान पुरुष च पृथक् पृथक् बुद्ध्वा कूर्स्थ निरञ्जन मात्मानमक्षररूप योगिनः पश्यन्ति । अस्य रागद्वेषादयो दोषाश्च कैवल भ्रांति निवृत्तनाः । इत्याद्यान्तोषदेशोऽत्र कृत । अग्रे च भगवद्गीतायामिव साख्य योगविभागोऽपि दक्षित । भगवद्गीताया अर्थत कच्चिच्छब्दतोऽपि च छायाऽत्र लक्ष्यते, यथा—

“यतो गुह्यतम देह सर्वं तत्त्वदर्शिन ।

प्रविष्टा मम साधुव्य लभन्ते योगिनोऽभ्ययम् ॥

ये हि मायामतिक्रान्ता मम या विश्वरूपिणी ।

लभन्ते परम शुद्ध निर्वाण ते मया सह ॥” इत्यादि

(२।२।५३ ५४)

अग्रे च सृष्टि विवृण्वता भगवता अभिष्ठात् काल, प्रधान, पुरुषश्चामु वक्षति कथितम्, तेभ्यश्च सर्वमिदमुत्पन्नं तस्मात् ब्रह्ममयमेव सर्वं जगदिति । प्रकृतेश्च महान् ततश्चाहंकारो जायते । एक एव महानात्मा अहंकार इति, जीव इति, अन्तरात्मनि च कथ्यते । तेनैव सर्वं मुख दुःखञ्च वेद्यते । तस्य विद्याना शक्तय मन उपकारक भवति । मनस एव साचिख्यात् पुरुषस्य ससार । प्रकृत्या दिसगश्च पुरुषस्य कालेन जायते, उक्तं हि—

कालं सूत्रति मृतानि कालं सहरते प्रजा ।

सर्वं कालस्य दशना न कालं कस्यचिद्देशे ॥

सोऽन्तरा सर्वमेवेदं नियच्छति सनातन । (२।३।१६ १७)

स एव भगवान् नारायण सर्वज्ञ पुरुषोत्तम इत्यादिशब्दैरुच्यते । सोऽहमेव ब्रह्माव्यय इति भगवतोपदिष्टम् ।

इत्यादि सर्वमुपदिश्य च भगवान् प्रदेशरो स्वमैश्वर भाव दर्शयन् ननर्त । देवां शृष्यश्च ते महादेव विष्णुना सह नृत्यन्त ददशु । क्रमेण च सहस्रबाहु सहस्रशिरस चन्द्रार्धशेखरम्, जगमण्डित चर्मवसन शूलपाणिन स्वेन तेऽसा सर्वं ब्रह्माण्डमावृत्य स्थित ददशु । दर्शकानाञ्च नामान्यप्यशोकानि, यथा—

सन्तुभार सनको भृगुश्च सनातनश्चैव सनन्दनश्च ।

रेव्योऽङ्गिरा वामदेवोऽयं शुक्रो महर्षिरपि कपिलो मरीचि ॥ (२।५।१८)

यथा—

मोक्षदेवोगिन शान्त तत्त्वज्ञानरत यत ।
अभागे नैष्ठिक दान्मुपकुर्वाणक तथा ॥
तदल्पमे एहस्यन्तु मुमुन्तु सङ्गवर्जितम् ।
सर्वाङ्गमे साधक वा एहस्यमपि मोक्षयेत् ॥ (१०१।१७-१६)

किञ्च—

अपि निराकृत्यैर्तुका हीनवृत्ता नराधमा ।
यनेते सुखत हृष्य तद्भवदामुर द्विवा ॥ (१२१।२६)

हत्यादिना वृत्तप्रशङ्गापि भूयते । अग्रे च निमग्नमाना ब्राह्मणाना निमग्नशरप
आद्वकृत्स्नं घर्मा विवृता । तत्रैतद्विशेषतो द्रष्टव्यम्—

आमन्त्रितो ब्राह्मणो वै याज्यग्नौ कुरुते क्षयम् ।
स याति नरकं घोरं शूद्रस्त्वं प्रयाति च ॥
आमन्त्रयित्वा यो मोक्षदस्य चापन्नयेत् द्विज ।
स तस्मादधिकं पापी विद्याकीटोऽमिवायते ॥ (१२२।७-८)

हाविषमध्यायमारभ्य च कल्योक्तं सर्वोऽपि आदिविचिर्मन्त्रप्रतीकनिर्देशपूर्वक
निर्दिष्ट । तत्र चायमारम्भ—

ततो निवृत्ते मध्याह्ने ह्युत्तरोमनवाद्दिश्वान् ।
अदगम्य यथामार्गं प्रयच्छन्तश्चावनम् ॥
तैलमम्बुचन स्नानं स्नानीयञ्च वृषग्विधम् ।
पानेरीट्मरैर्दद्याद्वैश्वदेवस्य पूर्णकम् ॥ (१२२।२०-२१)

अग्रे च मोक्षनप्रसङ्ग—

मिनुको ब्रह्मचारी वा मोक्षनार्थमुपस्थित ।
उपनिष्मन्तु य आदौ काम तमपि मोक्षयेत् ॥
अतिथिर्यस्य नाश्नानि न तच्छ्राद्धं प्रदद्यात्ते ।
तस्मात्प्रयत्नाच्छ्राद्धेषु पूजा ह्यतिथयो द्विजै ॥ (१२२।२१-२२)

एव सर्वेऽपि विधिरस्य विवृत । मोक्षनेषु च मासानामपि संश्लोऽत्र कृत ।

प्रयोजितोऽध्याये च अशौचविवरणम् । तत्र जननाशौचे अयं विशेष उक्त—

दद्याद् निर्गुणे प्रोक्तमाशौचं वातिनिर्गुणे ।
एकद्विनिर्गुणैर्मुक्तश्चतुर्लोकदिनैः शुचि ॥ (१२२।३)

जननाशौचे सविधाना स्वर्दानिषेधो नास्ति मरणाशौचेऽपि चतुर्थेऽपि स्थाने
इति स्पष्टमुक्तम् । अग्रेऽपि बालादीनामाशौचे स्मृत्युक्तमाशौचं निर्गुणानामेवेति

मूयो भूय उक्तम् । चैतान् उपासनाश्च परद्वारेण पद्मादिभिः कारयितव्या इत्यपि स्पष्टमुक्तम् ।

अथ विद्विष्यमादेन ध्रियतेऽग्निवद्वादिभिः ।
तस्माद्यौ च विधातव्यं कार्यञ्चैवोदकादिकम् ॥ इति च
(२।२३।६४)

विधायनपि विरोध उक्त —

जाते कुमारौ तदहं कामं कुर्यादतिग्रहम् ।
हिरण्यभान्दगोवस्तिलाश्च गुह्यसर्पिषा ॥
पलानि पुष्पं शाकञ्च त्वणं काष्ठमव च ।
तत्र दधि घृतं तैश्चोषधं क्षीरमेव च ॥ (२।२३।६५।६६)
आद्यौचिनो पृश्नाद् ग्राह्यं शुष्कान्नञ्चैव नित्यम् ।
आहिताग्निर्यथान्यायं दग्धन्यन्निर्निर्मितिः ॥ (२।२३।६७)

अग्रेऽपि मृताद्यौचेऽयं विशेष —

निष्ठं प्रतिदिनं दधु मायं प्रातर्यथाविधि ।
प्रेताय च घृह्णारि चतुर्थे मोक्षयेद् द्विजान् ॥ (२।२३।७०)
पञ्चमे नन्मे देव तथैवैकादशेऽहनि ।
युग्माश्च मोक्षयेद्विप्राञ्चप्राङ्मुखा तद् द्विज ॥ (२।२३।७२)

सर्वोऽपि च प्रेतकल्पोऽयं सत्त्वप्रेमोक्तः । अग्रे चतुर्विधेऽग्न्याये भौतस्मृत्याग्निं होत्रविरराम् । अग्रे दानधर्माद्यां घृहस्थवृत्तय एव विवृता । सप्तश्लोकेऽग्न्याये च दानप्रस्थाभनधर्माः । तत्र नानाविधानि तपाणि वर्मितानि । अथाष्टाविंशे यतिधर्माः, तत्र सन्यासस्त्य बहवो भेदा उक्ताः, यथा—

ज्ञानसन्यासिनं केचिद् वेदसन्धासिनं परं ।
कर्मसन्यासिनस्तन्मये विविधा परिकीर्तिता ॥
यः सर्वसङ्गनिर्मुक्तो निर्द्वन्द्वश्चैव निर्भयः ।
प्रोच्यते ज्ञानसन्यासी स्वर्गलब्धे च व्यवस्थितः ॥
वेदमेवागम्यसेन्नित्यन्निर्द्वन्द्वो निष्पासिहः ।
प्रोच्यते वेदसन्यासी मुमुक्षुर्विजितोद्विजः ॥
यस्तदग्नीनात्मसात्कृत्वा ब्रह्मार्जुनपरो द्विजः ।
तत्र ज्ञेयं कर्मसन्यासी महायज्ञपरायणः ॥ (२।२८।५-८)

सन्यासिनाञ्च धर्मेषु उक्तम् —

नैवेद्यं वर्तयेन्नित्यन्नैवेद्यादी मयेत् क्वचित् ॥
यस्तु मोक्षेन वाऽन्यस्मादेकानादी मयेद् यतिः ।
न तस्य निष्कृतिः काञ्चिदमंशास्त्रेषु कथ्यते ॥ (२।२८।१७-१८)

इदमपि चोक्तम्—

एकवासा द्विवासा वा शिली यज्ञोपवीतवान् ।

कर्मण्डलुधरो विद्वान् त्रिदण्डी यानि तत्परम् ॥ २।१८।३१)

अत्र च ध्येयमुक्तम्—

महान्तं पुण्यं ब्रह्म ब्रह्माणं सत्यमव्ययम् ।

सितं सितेनराकारं महेश विश्वरूपिणम् ॥

ओङ्कारेणाथ चरमानं सस्थाप्य परमात्मनि ।

आकाशे देवमोक्षान् ध्यायीताकाशमध्यगम् ॥ (२।१९।१४ १५)

अग्रे च धर्मातिशये यतीनां प्रायश्चित्तान्-पुक्तानि । इतः परं विश्वमध्याय-
मारभ्य चतुर्विंशदध्यायान्तं प्रायश्चित्तानां विवरणम् । तत्रैव च व्यासगीता
समाप्तिः । ततः परं ऋषिभिः सूक्तस्तीर्थकिंत्तरं पृष्टः । च नानाविधानि
तीर्थान्याह । तत्र शैवतीर्थानामधिक्यम्, नर्मदामाहात्म्यञ्चातिविस्तृतम् । मध्य
समाप्तिपर्यन्तं (चतुश्चत्वारिंशाध्यायपर्यन्तं) तीर्थानामेव वर्णनम् ।

अग्रे च देवदारुवनवृत्तान्तः । तत्र हि भगवान् शङ्करः स्वलीलयाप्रतिसुन्दर-
रूपं कृत्वा दिगम्बरं (नभः) श्रुयोगमाभ्युपगच्छन् प्रविष्टः । विष्णुश्च स्त्रीरुपधारिण-
सह निनाय । साभिः स्त्री बहुसुन्दरी कल्पाभरणमूषिता तमनुगच्छति स्म ।
एवमुक्तं शङ्कर इत्यादिपुत्रस्य पतिव्रता अपि मोहात्तमनुबन्धुः ऋषिवात्कारश्च
विष्णुरूपाया स्त्रियामाकृष्टा नानोपहासान् चक्रे । तेन च क्रुपिता श्रुष्य
प्रादुर्भावाविमोहितास्त लोष्टलगुडादिप्रहारैस्ताड्योमासु । केवलं यद्यिष्टाभ्ये
पतिव्रताशिरोमणिभूतया अरुन्धत्या स पूजितं चिकित्सितश्च । पुनश्च ऋषिभि-
र्बहुधा भर्षितस्तदुक्तं स स्वीयं लिङ्गं डिक्त्वा तत्रैव पातयामास । १९पञ्च
विष्णुना सहान्तर्दधे । तदा च देवदारुवने महान्तं उत्पाता प्रादुर्-
भूवन् । तदा अश्विपत्या अनस्यया “अव देवो महादेव आसीत् भविष्या
शानेन तद्वित इति भवता भयमुपस्थितम्” इत्येव श्रुष्यो बोधिता । सर्वे च ते
ब्रह्मणः समीपे गत्वा सर्वं वृत्तमाचक्षुः । तदा ब्रह्मणापि बहुनुशोचिताश्च तदाशया
तत्रैव देवदारुवनं आगत्य तं लिङ्गं वैदिकं विधानेन पूजयामासु । पुनश्च
शङ्करस्य दर्शनमवाप्य कृतार्थं समुत्थितादि । अनन्तरं पञ्चचक्षुरिन्द्रियेन्द्रियाये
प्रतिष्ठां निरूप्य अन्यसमाप्तिं कृत्वा । देवदारुवनकथायाश्चेदमेव तात्पर्यम्
यल्लिङ्गं प्रकृतिः । तामेव प्रकृतिं प्रधानोद्दिश्य भगवांस्तत्र गतः । त्रिगुणा
प्रकृत्या मोहिताश्च श्रुष्यस्तत्र अक्षिरः । यदा तेन प्रकृतिर्विद्युष्टा ब्रह्मणा च
प्रकृतावेव भगवान् पूज्य इत्यादिष्टं तदा तत्पूजनेन पुनः प्रकृतिरहितो भगवात्तैर्दृष्ट-
इति । अन्ते च षष्ठ्या अन्यसमाप्तिः ।

मुद्गलपुराणविषयसमालोचनम्

मुद्गलपुराणमुपपुराणेषु कचिद् गणितम् । कचित्तु उपपुराणेष्वप्य
चरकक्षाकेनैवपुराणेषु स्थितम् । औपपुराणानि चातिपुराण नाम्नापि केचिदाहुः ।
एषा नामानि च वृद्धिवेके स्मर्यन्ते—

आद्य सनत्कुमार च नारदीय बृहत् यत् ।
आदित्य मानव प्रोक्त नन्दिश्वरमेव च ॥
कौर्म भागवत ज्ञेय वाशिष्ठं भागवत तथा ।
मुद्गर कल्कि देव्यौ च महामागवत तथा ॥
बृहद्गर्भ परानन्द वरि पद्मपति तथा ।
हरिवंश ततो ज्ञेयमिदमौपपुराणकम् ॥

अत्र पठितानि सनत्कुमारादीनि कानिचिदुपपुराणेष्वपि पठ्यन्ते—

आद्य सनत्कुमारोक्त नारसिंहमयापरम् ।
तृतीय स्कान्दमुद्दिष्ट कुमारेण तु भाषितम् ॥
चतुर्थ शिवधर्माख्य साधान्नन्दीशभाषितम् ।
दुर्वासोक्तमादित्ये नारदोक्तमत परम् ॥
कपित्थ वामन चैव तथैवोशनसेरितम् ।
ब्रह्मण्य बाह्य चाम कालिकाह्वयमेव च ॥
महेश्वर तथा साम्ब सौर सर्वार्थसचयम् ।
पराशरोक्तमपर मारीच भास्कराह्वयम् ॥

एतत्सर्वमालोच्य विद्वद्भिः प्रतीयेत यत् यानि कैश्चिदुपपुराणत्वेनोक्तानि
तान्येव विभज्य कैश्चिदौपपुराणत्वेन पृथग् गणितानि । वस्तुतः सर्वेषामध्यानुप
पुराणत्वेन गणनं युक्तं प्रतिभाति ।

उपपुराणेषु प्रायेणैकैका कचिद् देवतामुद्दिश्य तमाहात्म्यमेव विवृतं दृश्यते ।
यद्यपि महापुराणेष्वपीय प्रक्रियोपस्थिते, तत्रापि शैवपुराणेषु भगवत शिवस्य,
वैष्णवेषु पुराणेषु च भगवतो विष्णोर्मोहात्म्यातिशयं रूपायित इति, तथापि
उपपुराणेषु तु प्रक्रियेयमतिशयेन विवृम्भिना विलोक्यते । अत्र च परस्पर विरोधो
नाशङ्कनीयः । यतो हि सर्वस्यापि चराचरात्मनस्य मूलभूतमेकं परब्रह्म, मुख्यत
योपास्य सर्वत्र विवक्षितम् । तच्च न स्वरूपेणोपासितुं शक्यम्—“यतो वाचो
निवर्तन्ते अप्राप्य मनसा सह” “अविद्यात विज्ञानना विज्ञातमविज्ञानताम्”

“यन्मनसा न मनुते येनाहुर्मनो मत, तदेव ब्रह्म त्वं विदि नेद यदिदमुपासते” इत्यादिभिः श्रुतिभिः तस्य बाह्यमनसाविषयतायाः स्पष्टमुद्घुष्टत्वात् । तस्मिन् मनोनिवेशो हि तदुपासनं भवति, यच्च मनोविषयतामेव नादगाहते तत्र मनो नियतं कथं कर्तुं शक्यं स्यात् । कथं वा स्तुतिः तस्य समवति, वागतीतत्वात् । तथा च तदुपासना न समवतीति जीवनस्यैव निष्फलत्वमापतति, तद्वारणाय सगुणसाधाररूपाध्याघारीकृत्य तस्मिन्मनो नियतमिति श्रुतिस्मृत्यादिषु मार्ग उपदिष्टः । तानि च सगुणसाधाररूपाणि अधिकारिभेदेन पञ्चशास्त्रेषु निर्दिष्टानि यथा विष्णुः, शिवः, शक्तिः, गणेशः, सूर्यदेवैति । ते हि देवा स्वस्वाधिकारे नियुक्ता स्वस्वकार्यं निर्वहन्ति । एषु कस्मिन्चिदेकस्मिन् स्वकचिन्मन्त्राद्य ब्रह्मबुद्धिपासकेन कर्तव्या, तद्रूपं तेनोपासकेन परब्रह्मतया भावनीयम्, अन्यानि तु रूपाणि यथायथं स्वस्वाधिकारविशष्टान्येव भावनीयानि ।

तद्विरुद्धं येन यद्रूपं परब्रह्मतया भावितं तदेव तद्ब्रह्मैव सर्वतः प्रधानं स्यात् । अन्यानि तु रूपाणि यथास्थितानि तदनुगामीन्येव स्युः । अनेकेषु रूपेषु परब्रह्मतया भावितेषु तूपासनैव न सिध्येत् । चित्तस्यैकाग्रता हि उपासनायाः फलम्, अनेकेषु ब्रह्मतया भावितेषु तु इतस्ततः प्रचलन्निव कथमेकाग्रं भवेत् । तस्माद् ब्रह्मबुद्धिरेकस्मिन्नेव कस्मिन्चिद्रूपे कर्तव्या । इतरेषु तु न विद्वेषः कार्यः । अग्नितु यस्मिन् अधिकारे ते स्थिता तादृशाधिकारविशिष्टत्वमेव तेषां मन्तव्यम् । तथा च परब्रह्मतया भावितस्य रूपस्याङ्गप्रत्यङ्गान्येन तेऽङ्गमेव देवा भवेयुः । परब्रह्मतया भावितं तु रूपं सर्वतः प्रधानमित्येव पुराणेषूपपुराणेषु च कस्यचिदेकस्य प्रधान्यं न तत्र स्थापितम् । कचिभेदब्रह्मैक्येऽधिकारभेदेऽप्यत्र निदानम्, न तु परस्परकोऽपि विरोधः ।

तदेतत् पातञ्जले योगसूत्रेऽप्युक्तम् “यथाभिमतध्यानाद्वा” इति । यस्याधिकारिण स्वभावाद् यत्र कचि, तदेव रूपं तेन ध्यातव्यमिति तदर्थः । तदेव रूपं द्वारीकृत्य निर्विकल्पकसमाधिना तस्य ब्रह्मणि प्रवेशः स्यादिति योगसूत्राशयः ।

तद्विरुद्धं विभिन्नतया मनोनिवेशार्थं स्वीकृतेषु रूपेषु भगवान् गणपतिरेवात्र पुराणे परब्रह्मरूपेण ध्यातुमुपादिष्टः । किञ्चिद्रूपं द्वारीकृत्य प्रवेशोऽपि मायाशब्दलिङ्गे ब्रह्मण्येव समवति । निष्कलं तु ब्रह्म केवलमुपलक्षणतया नियेयमुत्तेजैव ज्ञेयं भवेत् । तदर्थं च निर्दिष्टं एव समाधिरूपयुक्तं स्यादिति न तद् वाचा वर्णयितुं कथमपि शक्यम्, ततश्च मायाशब्दलिङ्गे ब्रह्मैव गणपतिरिति पुराणेऽस्मिन्नुपदिष्टम् ।

माया च तस्य बुद्धिः सिद्धिरिति द्विविधा व्याख्याता । तत्र बुद्धिः चित्तशब्देन पर्यायेणाशोक्ता, पञ्चविधा सा चोक्ता । पञ्चविधत्वं च शिष्टं, मूढं, विज्ञानम्, एकाग्रं, निरुद्धमिति चित्तस्य टीकाकृता व्याख्यातम् । शिष्टं संसारिणा, मूढं

भ्रान्तानां विविधं मुमुक्षुणा, विशेषेण ब्रह्मणि क्षिप्तमित्यर्थं एकाम योगे प्रयत-
मानानां, निरुद्धं च योगिनामिति । एते भेदा प्रायेण योगदर्शनादेव गृहीता
स्युः । चित्तपदं चेदं शास्त्रेषु बहुधा व्याख्यायते । साध्यदर्शने मनोबुद्धिरङ्कार
इति त्रिविधमेवान्तं करणमुक्तम् । योगदर्शने चित्तपदमनेकगुणेषु व्यवहृतं दृश्यते ।
परं तदन्तं करणपर्याप्तत्वनैवोक्तमिति प्रतीयते । वेदान्तिनश्च मनोबुद्धिरङ्कारश्चि-
त्तमिति चतुर्थान्तं करणं व्याचक्षते । “सकलं, व्यवसायम्, अहमाव स्मृतिश्चेति”
एतादृशी च वृत्तिर्येषामभिदर्शयति ।

अथागमशास्त्रे तु “चित्तिरेव चेतनपदादिरूढा चैत्यसकोचिनी चित्तम्”
(प्रत्यभिज्ञाहृदये, सू० ५) इति चित्तं व्याख्यातम् । तथा च चित्तिशब्दे प्रथम
सकोचो बुद्धयपेक्षयापि सन्निकृष्टरश्मिचमिति प्रतीयते । इह तु बुद्धिपर्याप्तत्वेन
चित्तशब्द उपास्य । एभिश्च बुद्धिवृत्तिभेदैश्चित्तपदवाच्यै यद् व्याप्यते तत्सर्वं
विदिषदेनोच्यते । एता बुद्धिवृत्तयस्त्वनानि चेतुमयमपि ससारोऽन्तर्भूतमिति
मायात्मनोऽपि निदिष्टम् । यद्यपि निरुद्धेन चित्तेन प्राप्तव्यो मोक्षो न मायाया
मन्तर्भावयितुं युक्तः । तथापि स मोक्षश्चरमदृश्यैरलम्प्य, तत् पूर्वं निरुद्धेनापि
चित्तेन प्राप्या अणिमादिषिद्धयो मायायामन्तर्भूतम् । वृत्तयस्तु सर्वा अपि
मायान्तर्भूता सन्त्येवमिति बुद्धि विद्विरिति भगवतो गणेशस्य द्वे माये अत्र
व्याख्याते । गणपतेश्चापि रूपं त्र्यम्बकविशिष्टं ब्रह्मण्यैवात्र ख्यापितम् । शिरो
ब्रह्म तदवरमङ्गन्तु जगदित्येकनोक्तम् । अपरं तु योगरूपेण गणपतश्च इति
काय सन्निकृष्टकलमाधिरूपेण, शिरश्च निर्विकल्परसमाधिरूपेण निर्दिष्टः । यदा
गज गुण्डादण्डं मुखे निवेश्य निमीलितनेत्रो भवति तदा मण्डलाकारं तन्मण्डलमेक-
रूपमेव प्रतीयते, न च तत्रावयवभेदः प्रतीयते इति निर्विकल्परसमाधिरूपेण तत्राभि-
सहितम् । कलवेद्यविषयैकाकारैव तत्र वृत्तिर्भवतीत्येकदन्तरूपेण तदेव सूचितम् ।
काये च विभिन्ना अवयवाः प्रतीयन्ते एतत् तस्य सतारूपता प्रस्फुटैव । चतुर्भिश्च
भुजैश्चतुर्दिश्याति सूच्यते । करेषु विज्ञानं च चतुर्विधपुरुषार्थपूषकानि । तत्र
पाशोऽर्थरूपः, अर्थरूपेण पाशेनैव जीवानां विशेषतो बन्धनदर्शनात् । मोदकस्तु
कामरूपम् तात्कालिकमुल्लसमानमोदहेतुत्वात् । अकुशश्च घर्मरूपं नियन्तृत्वेन
चर्मस्याकुशशरानाख्येनैव प्रवृत्तिदर्शनत्वात् । अयं कमलं चल्स्थितमपि जलेन मना
गतिं न लिप्यते इति मोक्षरूपं तद्गगनो हस्ते स्थितम् । एताश्चतुरोऽपि पुरुषार्थान्
यथाधिकारं सेवमानां भगवान् गणपते सकारिभ्यां ददातीति त एते तद्गुणस्थ-
तया निर्दिश्यन्ते ।

अस्मिन् अन्त्ये एकैकस्मिन् खण्डे गणपते एकैकन्नामाधिकृत्य तद् व्याख्या
विशेषेण ददिता, यथा प्रथमखण्डे वक्रतुण्डनाम व्याख्या । द्वितीयखण्डे एकदन्त
नामव्याख्या, तृतीये लम्बोदरनाम व्याख्या चतुर्थे गजानननाम व्याख्यादि ।

तत्र तृतीये लम्बोदरपदमित्यध्याख्यातम्—गणपते काय सकारस्य इत्युक्तं प्राक् । सकारिणाञ्जोदर दुष्पूर भवति । बहुतरभोगेऽपि तत्र शान्तेरदर्शनात् । अतएव गणपते वन्दितस्तुमुदर मूर्तिषु दृश्यते । ब्रह्मरूपश्च गणपति सकारिणामुदर प्रविश्य भुञ्जे ।

अह वैधानरा मूखा प्राणिना देहमाश्रित ।

प्राणापानसमायुक्तं पञ्चाम्भ्यन् चतुर्विधम् ॥

इति भगवद्गीतायां गणपत्यभिन्नेन भगवता कृष्णेनाभिधानात् । तस्मात् परेषामुदर प्रविश्य भोगकरणादपि तस्य महदुदर रूपाप्यत इति । एवमत्र भगवतो गणेशस्य स्वरूप स्थाने स्थाने निरूपितम् ।

तत्र तत्र कथाभिश्च भगवतो गणेशस्यैव पञ्चसु देवतासु प्राधान्यं स्थापितम् । तथा हि सूर्यमण्डलमभितो निदिश सूर्येण सर्वैव भ्राम्यन्तो बालविलया एकदा सूर्यं पृथ्वन्त यत् 'सूर्यं आत्मा जगत्स्तत्पुत्रश्च' "नूनं जना सूर्येण प्रसूता" इत्याद्याभि भूतिभिस्तत्रैव सर्वजगत्कारण सर्वस्थात्मा चान्नायसे । भवन्तमपि च प्याननिरत पश्याम । तद्भवान् कर्मभिध्यायतीति नो मनसि विज्ञासा समुदेति ता कृपया शमय इति ।

तदा सूर्य "गणपतिरस्माकं सर्वेषामधिष्ठाता स एव च पर ब्रह्म, तदाशयैव ह्य सर्वे तत्सकर्मसु प्रवर्तमाने । तमेवाह सनतमभिध्यायामि" इति तान् प्रगोषितवान् । निर्दिष्टवान् गणपतितत्त्वं प्राप्नुक्तम् । मूयश्च तन्माहारम्य सुस्पष्ट व्याचक्ष्व कृपयेति पृष्टं सन् स्वीया कथा वधितवान् यत् कश्यपो मन्त्रं जपन् मा सुचिरमाराधितवान् । तत्पश्चात् सुप्रसन्नोऽहं यदा वरं प्रदातुं तस्मिन्ने गतं तदा स मा बहुतरं स्तुत्वा "श्वमन मरुतता याहि" इति वरं प्रार्थितवान् । अहश्च प्रसन्नस्तस्मै तादृशमेव वरं दत्तवान् । एवमदित्यापि यदुत्तरं तपस्यन्त्या स एव वरो मत्सकाशालश्च । विश्वकर्मा च मत्सानी सञ्जानाप्नी तपसा समाराध्य "श्व मे पुत्री भूया" इति वरं प्रार्थितवान् प्राप्तवाश्च । तथाह कश्यपाददित्यां द्वादशमीं रूपैरवतीर्णः । मत्सानी सञ्जा च विश्वकर्माणं पुत्रीत्वमगात् । तथापि विश्वकर्मेणा सा मध्यं प्रदत्तेति आवयो सम्बन्धो जातः । तथा विद्वरध्याह भूतिवाक्ये स्वमेव सर्वभेष्टतया मन्वानो गणपतिं व्यसमार्थम् । तदा गणपतिना विघ्नः समुत्पन्नः । स चेत्स्वरूपो यन्माली मुमाली चेति द्वौ भ्रातरौ देवकुले समुत्पन्नौ । ताभ्यां च तपसा शिवमाराध्य मत्तोऽप्यधिकप्रकाशं विमानमेकं प्राप्तम् । प्रकाशयतो हो रानिमेव व्यलोपयताम् । दिवा मत्प्रकाशं रात्रौ च तदीयविमानप्रकाश इति सदैवैकविधप्रकाशसद्भावत्वाद् रात्रि केनापि न प्राशयत ।

तदा च प्रातर्मध्याह्नादिकालस्याप्यशानात्तत्कालविहितानि यथादिकर्मण्यपि विलोपमेव गतानि । अहमेव च यथावृत्तिभिराव्यायितो भवामीति मदाप्यायनमपि

यच्चलोपान्निचकम् । एवविधं व्यतिकरमान्तेष्वपि मया स्वतेवसा विमानेन
सदैव तौ दैत्यावपि दग्धौ । तदा च स्वमकानां दाहास्तुपितेन शिवेन विशुद्धेन
मदीयं शिरश्छिन्नम् । तदा सर्वैरेव वैदिकानां कर्मणा लोपो जातः । सर्वा
अपि च प्रजा मत्सम्बद्धा इति तात्त्विकमपि किनाश आपतितः । तदा च
सर्वैश्चरिभिः संमुख्य मगवान् शिखः प्रार्थितो यत् किमिदं भवता कृतम् ।
सर्वं विना दयं प्रजानां स्थितिः समवेत् । न चायं प्रत्येकाल इत्यकाण्ड
एव सर्वमस्य' इत्य मन्ता प्रारब्ध इति । तदा च शिवेन विनाशोक्तम्—
गान्धितना समुद्रादितोऽयं दिग्ग इति गणपतिनेवाराध्याहं सर्वं जीवयिष्यामीति ।
अन्तरिक्षं मगन्तु गमयति प्रसाध्य शिवेनोक्तम् यत्सर्वं जीवय अन्यथाहमपि
स्वकीयं शिरश्छेत्स्यामीति, इत्य विशापितेन भोगगतिना स्वीयं विघ्नमुपसृज्याहं
जीवितं प्राप्तं मदीयं शिर पुनः कृपेन योजिष्यम् । पूर्वं छिन्नं मदीयं शिरश्च
कादया लीलार्थं निपतितमभूत् । तत्रैव चाहं वीक्षितः । पुनर्वाञ्छितेन च मया
चिन्तितं यत् भुवि सर्वास्मान्नाहं आत्मनश्च कथं मृत्युं समवेत् । तस्माद्वाहं
सर्वस्यास्तेष्वनुमीयते । न च मया सर्वे जनाः प्रसृताः । तस्माद् इत्यर्थं
प्रायोऽहमस्मिन्नेव गत्वा तपश्चरिष्यामीति । अरण्यं गन्तुं प्रवृत्ते च मयि ब्रह्मा
सन्नेव मा प्रबोधयान्नकार—

यच्छ्रुते सत्यमेनाह अवश्यं नवान् सर्वस्य जगत् आत्मा भवति च सर्वा
अपि प्रजाः पालयन्ते । परं सर्वेऽपि वयं ब्रह्मा शास्त्रे विद्वानः । तच्छक्त्या
च सर्वं वरं तच्छक्तिमन्तः । स ब्रह्मरूपो मगवान् गतः सर्वैरस्माभिः समुद्रास्यः
तेवनीयश्च । भवता गान्धितस्मिन् विस्मृतिरिति तत् एवार्थं दिग्ग समुद्रतलः ।
इदानीं शाधिहार सम्यक्निर्वाह्यता भवता सर्वाधिरनिर्गन्तः सदा स्मरणीय
स्तेष्वेति ।

अस्या कृपापानिदं रहस्यं यत् कश्यपो नाम श्रुतिरेकः, श्रुत्यर्थं मौलिका
प्राणा, सर्वाधिभूता इति भूतिषु स्थाप्यते । तदुक्तं शतपथब्राह्मणे—“अथवा
इदं नम आसीत्, तदाह किं तदवदासीदित्युपयो वाच वेऽप्येवदत्तोसदाहुः के
ते श्रुत्य इति प्राणा वाच श्रुत्य” इति । तेभ्य एव नामे सर्वोत्पत्तिः ।
सनाम्नात् । मगन्ता मनुना चाप्युक्तम्—

श्रुतिभ्यः नितरो जातः नितृग्यो देवदानवाः ।

देवैश्च जगत्सर्वं चरत् स्थाप्यपूर्वशः ॥ इति ।

तत्र श्रुतिभ्य एव नितरो देवश्च जायन्त इति पञ्चितम् । तत् एव च
“कश्यपो सक्त्या प्रजाः” इति कश्यपस्य सर्वप्रजानिर्मातृत्वं पुराणादिषु
स्थाप्यते । कश्यपश्चाय “कश्यपः परमको भवति” इति ब्राह्मणेषु निरुक्तः ।

कूर्मोऽपि च ऽन्तुविशेष कश्यपशब्देनाख्यायते । स च यथाज्ञानि सकोचयति
विकासयति च, तथैव कश्यपनामा ऋषिरपि स्वाङ्गभूता प्रजा बहिर्नि सारयति,
समये सकोचयति चेति उभयो सादृश्यम् । कूर्मस्य च पृष्ठभाग इददो भवति,
अधोभागश्चातिकोमलो भवति । तथैव ब्रह्माण्डस्याप्येको भाग स्यात्तपान्निष्ठुरो
भवति, अपरश्च मृदुरिति ब्रह्माण्डप्रतिष्ठितिरयं कूर्मः ।

तदेतत्सर्वमालोच्यधोमुनोऽत एव सर्वमप्यस्थित पश्यन्त्य प्राणविशेष
कश्यप इत्याख्यात । ऊर्ध्वमप्य इति द्वेष्टा विभक्तस्याकाशस्योर्ध्वभागोऽदितिर्नाम
अधोभागश्च दितिर्नाम । ते उभे अपि कश्यपस्य पत्न्यौ समाख्याते । तत्र प्रकाश
माने ऊर्ध्वभागे देवा उत्पद्यन्ते । अन्धकारितेऽधोभागे चासुरा । तदित्य सर्वदेव
घनभूतोऽत एव “किञ्च देवानामुद्गतादनीकम्” इति भया देवानामनीकरूप
त्वेनाम्नात स्योपि कश्यपाददित्या ज्ञात इति दृष्टीभवति । स च द्वादशसु
मासेषु पृथग्निधकार्यकरणाद् द्वादशरूप आख्यायते । सूर्यस्योदय एव सर्वेषां
प्राणिना चेष्टा प्रसन्ते इति चेष्टापरनाम्नो सञ्ज्ञा तत्सत्त्वोत्पत्तेन पुराणेषूक्ता ।
अथत्र पुराणेषु मुरेणुरित्यपि तस्या नाम स्मर्यते सूर्यस्योदयकाल गवाक्षादिपु
रणश्च इव चलन्त प्रतीयन्ते या ‘जाल्मूर्यमरीचिश्च त्रसत्तुरजस्तृप्तम्’
इत्यादिस्मृतिषु तत्तरणुत्पत्त्याख्यायन्ते, एतदेवाभिप्रायः त्रेजोरपि सूर्यपत्नीत्व
माख्यात द्रष्टव्यम् । तस्या अपसरणे च छायानाम्नो परादि स्त्री सूर्यपुरा
णेषूक्ता । प्रभाया अपसरणे छाया जायते इति तदभिप्रायोऽपि स्फुटः ।
सा चेय विश्वकर्मण पुत्री इत्याख्याता । अत्र विश्वकर्मति सर्वकरणशील सर्व
शक्तिमन् पारमेश्वरमवैक रूप द्रष्टव्यम् । तत एव च सर्वेषां प्राणिना चेष्टा
प्रादुर्भवति । ऋग्भिभूताना जीवानां चेष्टायां समष्टिस्त्वरमातमाधीनत्वात् ।
सूर्यशिरश्छेदस्य चायमभिप्रायो यत् प्रत्येकस्मात्पदार्थाद् ये किरणा बहिर्गच्छन्ति
ते सूक्ष्मत्वा भवन्ति, ते च मध्ये मध्ये सगृह्य पुनस्तिर्यग् गच्छन्ति । तत
एव दूरस्थ वस्तु जनैर्लघु प्रतीयते इति “छन्दोवेदनिर्णये” गुह्यरे श्री
विद्यावाचस्पतिमहोदये स्पष्ट व्याख्यातम् । इदमेव भूतिषु क्वचिद् गायत्र्या
शिरश्छेदरूपेणाग्न्यायते । इह तु सूर्यशिरश्छेदरूपेणैवाकम् । किरणानां
परस्पर सम्पर्गे शिरश्छेद एव सूर्यशिरश्छेदत्वेनोक्त, सूर्याकरणानां सूर्याभिज्ञ
त्वात् । सर्वे चेद रूद्ररूपेण वायुना क्रियते इति रूद्ररूपशिवकृत्स्न शिरश्छे
दस्योक्तम् । एवविधेराम्ने किरणैरेव चन्द्रमसो दीप्ति यिन, च रात्रानपि
प्रकाशते इति रात्रावपि प्रकाश ज्ञायामुक्त । सूर्यस्य शिरस्यापि च गणपत्या
राधने हेतुस्तु पूर्वं विवृत एव गणपत्याराधनैर्मणपतेरेव परब्रह्मत्वेन विन्ध्यणादिति
सर्वे यथायथ योज्यम् । काश्या शिर पतनादि तु त्र्योत्कर्शनोर्थमहिमख्यापनार्थमेव
द्रष्टव्यमिति । अग्रे च मोहस्योत्पत्तिवृत्तान्तं कालखिल्ये पृष्ठ सूर्यस्तान् बोधया

मास—यदेकदा शिवो भगवान् बने एव तपश्चरन्नास्ते स्म । तदैव तारकासुरेण स्वस्वस्थानेभ्यः परिभ्रमिता देवा शिवस्य वीर्यादुत्पन्नेन हन्तव्य एव तारकासुर इति मित्राय कैलासे पार्वतीसन्निधौ गता । सर्वज्ञ वृत्तात् तस्यै न्यवेदयन् । तदा पार्वती भिल्लीरूपं विधाय बने शिवसन्निधौ गता । आनसुदरेण च तत्रैव बने पुष्पञ्चयादि कुर्वन्ती विचरति स्म । समये पुंस्थानकाले च शिवस्तद्रूपं दृष्ट्वा मोदितो भूत्वा तां ग्रहीतुमधावत् । सा च ततो दूरीभक्त्येन ततस्ततो विचरति स्म, न तद् हस्ता ५भूव । भूनाभूवस्तद्दृष्ट्वा योऽनुक्तं शिवस्तामन्वधावत् । पञ्चमनुधवत् एव शिवस्य वीर्यं चरकन्द । तदैव च वीर्यं मोहरूपतामापन्नम् । ततश्च परावृत्तेन शङ्करेण ध्यानं कृत्वा पर्वत्येयेयमासीदिति प्रत्यभिज्ञातम् । ततश्च स पार्वतीसन्निधौ गत्वा देवानां च प्रशंसां श्रुत्वा तया सह रन्तुमारभे । मन्त्र एव कामस्यापि कथाऽनं वर्णिता । एव भिक्षुया कामवशागेन शङ्करेण श्रोधात्कामो भस्मीकृतः । पश्चाच्च यदा ॥ पार्वतीसमीपमावगाम, तदा कामसन्तार “मह्यमङ्ग देहि यन्मया भस्माकृतम्” इति तत्प्रायिनश्च ‘गणपतिमाराधय स एव तुभ्यमङ्ग दास्यति’ इत्युपदिश्य गणपतेरेकाक्षं मन्त्रं तस्मै ददौ । तेन मन्त्रेण समाराधितश्च भगवान् गणपतिं प्रत्यभीभूय तस्य कानिचित्स्थानानि निदिष्टवान् । एवदिष्वेव स्थानेषु स वस्तुपाशापयात्रकारः । अङ्गं तु तव विष्णोरवतारमूलेन कृष्णेन दास्यते । स एव कश्मिण्या त्रामुत्पादयिष्यति । तत्रापि च तत्रैव रतिरेव भार्या भविष्यतीत्यादि कामकथा मध्ये एवान् वर्णिता । तदनु कर्तिकेयेन नक्षत्राणि प्रजान्ता बहुकालं पार्वत्या रममाणोऽपि भगवान् शङ्करो यदा न वृत्तमगात् तदा देवैः प्रेरितो वक्त्रिमित्तुक्वेपेण रममाणोस्ततो प्रदेशं गत्वा दूरस्थित एव भिक्षामयाचत तदा कथितं पुष्पं आयात इति मित्राय पार्वतीपरमेश्वराश्रित्यतांभूताम् । उत्थितमात्रस्य च शम्भो वीर्यं भूमौ चरकन्द ।

तदादाय च पार्वती भिक्षारूपेण भिक्षुरूपाय बह्वे प्रददौ । वदिस्तदशित्वा दुर्जरतात् तदसहमानश्च गङ्गां गत्वा तत्रोद्गीर्णेन तबिल्लेपः । तत्र स्नानार्थमागताश्च इत्तिका वृत्तेन सह तत्रापु । ता अभ्यसहमानाश्च शरस्तम्बं तदुद्गीरन्ति स्म । तत्रैव युग्मं रो जातम् । हात्तकाम्यो जातत्वादयः कर्तिकेय उच्यते । शरस्तम्बे च जातत्वात् शरजन्मा । तं नारदो ददर्श । स च कैलासं गत्वा पार्वतीं प्रति कुमारं च मात्तावन् । पार्वती तत्रागत्य तं पश्य पादयामास । कृतसंस्कारश्च स सेनानिर्भूत्वा दैवै सह तारकं हन्तुं प्रगाम । बहु युष्मापि हन्तुं न शक्याः । तदा अथ हन्तुं शक्नुवामिति शम्भुः पप्रच्छ । शम्भुनोपदिष्टश्च गणपतिमाराधयान्नके । ‘आराधितश्च गणपतिः प्रत्यभीभवम् । कर्तिकेयेन सह बहुधा स्तुतः । अप्रैव स्तुतो मूपकवाहनस्यापि रहस्यमुक्तम्—यथा मूपकं पृथिव्या प्रच्छन्न एव निवसति, प्रच्छन्न एव च दन्धनानि ठाति, तदा स्मपि सर्वेष्वन्तर्निगदो निवसति । अविज्ञात एव

मन्त्रानां वचनानि 'अग्निस्त्रि' इति मूयक्त्वाहनसं मुख्यसं इत्यादि । गगनतिनः
 दत्तवरश्च स पुनर्देवानां सेनापतिर्मूखा युद्धाय यावत् तारकासुरं जगन् चेति मध्य
 एव तारकासुरकथा पुराणांतरसत्वादिनी कथिता । क्वचन गगनतिपदचरण
 मवान् विद्येय उक्तः । अथाग्रे पुनर्मोहनरितमुपस्थातम्, शिववीर्यादुत्पन्नो माह
 देवगुरुं शुक्रं शरणं गतः । तत्रैव तस्य रुद्रकारा कृता, सूर्याश्विनोपदेशश्च
 दत्तः, तेनाराधितश्च सर्वस्तम्भैः करान् ददौ, सूर्याश्विनवरश्च स देवानामग्नि
 पतिर्यमूव । प्रमादस्य मुता मदिराश्चेपयम् । तस्या तस्य तस्य उग्रं क्रूरं
 मथावी शोचनो हरणश्चेति पञ्चमुता यमूव । विषयावाप्तं नगरञ्च सूर्येणास्मै
 दत्तम् । क्रमशः सर्वेषां देवानामग्निरो मूखा स्वमुतान् तनूनाधिपत्यं प्रतिष्ठा
 पयानास । देवार्श्च देवनिष्कायेभ्यो विवर्त्य तनिकायं वि स्वाधिकारमवाकरोत्,
 अथ देवा पराजिता शम्भुशमीपं शिष्णुशमीपं च गताः । सर्वे च सम्भूय
 गगनतिमत्र शरणं याताः । तैः प्रार्थितश्च गगनतिस्तथादुष्टं चक्षति । नारदश्च
 पुरैव दौत्येन तत्तमीपं प्रस्थाननामास । स्वशमीरनात्तं नारदमनो संस्कारेण जप्ताह ।
 "त्वं सर्वत्र विचरसि । लाक्ष्यं वर्ता त्वं", इति तनं पृष्ठञ्च नारदः "गगनतिस्त्वं
 योद्धुममिषाति, तन्मर्यान् क्रियन्तु" अमिस्थितः । तत्परप्रज्ञा गगनतिना सह
 तत्र योधनमनुचितम् । तं तं शरणं प्रयाहि" इत्यादि जगौ । तेन पृष्ठञ्च
 गगनतेर्महिमानं तं प्रातः शारदातवात् । एव प्रकाशितश्च मोहामुरो गगनतिं ययौ,
 तेनाहनश्च दग्ध्य स्थानानि दग्धं दैत्यैः सह पाताळं विवश इति मोहकथावत्तनः ।

अथाहारा कथायां निगूढमिषायां प्रकटीक्रियते । अटलिम्भान् रुद्रः
 द्वेषां श्रुतौ वनाज्वातः 'तस्य द्वे तनू रोराग्ना न त्रिवाहारा न' तत्र शिव
 तनुर्नगवान् सर्वेषां हस्तैः धोरतनुम्भु मुञ्चन्तीति पर्वतान् परतो गच्छन् तत्र
 तत्र प्राप्यत । तत्रैव चरत धोरतनोर्नगवान् रुद्रस्यैव । अतएव तस्य
 वने चिचरगनवान् निर्दिष्टम् । अरुणं पुराशोधयि च ब्रह्मणा यदा क्रुद्धेन
 रुद्रं दत्तादि, प्रकाशं चानि चानिष्ट, यदा तत्र म्महद्यी भगवती प्रकाशं सृष्टुं
 मासृता, तदा ब्रह्मणा स्वसृष्टिक्रणात्रिवर्तिनः इति तत्र तथारण्यतः । एव
 विद्यमैव रुद्रस्य दीव्यं माहोत्सवस्थि धर्मिता । मोहस्य च प्रसर आमुराध्वव
 सुश्रियं भानि, इतः अमुरानाथस्यैव ममीपं तस्य गमनमुददिष्टम् । तस्य यादयः
 परितो वर्तिन् तनं स्वस्वबुद्धीनामग्निं व्याध्याग्निस्तस्यैव मोहस्यैव रूपविषया
 कल्पना कृतंति सत्यं माननः । तथाहि प्रयादस्तस्य श्वशुर उक्तः । तन्कथा च
 मदिरा माहस्य पत्नीवेनोक्ता । मदिरकं माह प्रकृतं । मोहनं च
 मदिरापायं प्रवृत्तद्विषयोयमाहवयान् पत्नीरारण्येन युक्तमव । मुताश्च तस्य
 ये उक्तास्तत्र तं मोहननिष्ठाभ्याग्निपा एव । उग्रं क्रूरञ्च मोहनं मादरगा न
 ज्ञायते । 'मेधावी' इति पाठस्तु मोहपुत्रेभ्यः भगवन्तिटोऽनुद एव प्रतीयत, यीका

कृता तु नानाविधविषयसमादत्तमेवाविशिष्ट इति व्याख्यातम् । अग्नन्ते
तु “अनेष्यामी” इति मोहबुद्धेः सम्यक् उक्तं प्रतिपादितम् । मोहेनैव अनेष्यामि
प्रवृत्तिदर्शनम् । अन्ते च शोकमेवोपादयति मोहः, शोकात्तत्र च तत्परिहार-
हरणम् चोपमन्मुखादयतीति फलैरेव मोहबुद्धेः स्थाने व्याख्यातम् ।

तस्य नानं च निरुपान्तत्वं यन्निर्दिष्टं तदनुचितमेव, मोहाक्रान्तानां
नियमेष्वानिर्दिष्टानां प्रवृत्तयः मोहोऽन्तःकाम्ये दैववृत्तीर्नियमनयोगकाराणां
तत्प्रादप्रतीतिं देवान् स्मृत्यानां प्रवृत्तयः दैवानां तत्र निवेद्यः कल्पितोऽप्रतिपादितः ।
कामक्रीडादिवादीनां वृत्तीनामेव मोहेन घनानां । एवविधाना दैवीनामनुसंग-
वृत्तीनां सर्वत्र एव देवान् स्मृत्येव मोहोऽन्तःकाम्ये दैवानां तत्र निवेद्यः कल्पितोऽप्रतिपादितः ।
एवविधानं मोहोऽन्तःकाम्ये दैवानां तत्र निवेद्यः कल्पितोऽप्रतिपादितः ।
कदाचिदुदयो भवत्येव । देवैः प्रदिष्टं ज्ञानम् गान्धर्वदा मोहोऽन्तःकाम्ये
प्रवृत्तः तदा मोहः स्वप्नस्तु ज्ञानं मुक्तये प्रतिपादितम् । पातालग्रन्थ-
वदुत्तराजप्रोक्तम्, तदाविमोतेऽष्टमः, अधिष्ठानं हि देवानां शिरोकामावाहः
अमुखा च पाताले इत्येव पूर्व ब्रह्मा वक्ष्यता कृतातीति । तदेतन्मोहोऽन्तःकाम्ये-
पुराणे स्मृत्यानां तत्रैव देवा उक्तम्—

मैत्रेयमित्रोऽन्तःकाम्ये दैवाः स्मृता इतिमुखाः ।

सूत्रं प्रयात पातालं यन्निर्दिष्टं निवेद्यम् ॥

इति मोहकथया आध्यात्मिकं रहस्यम् ।

मध्ये काश्चित्कथनकथा च वाच्यता तस्या अतीर्षा तत्पर्यवर्तनम्—
यद्वाची कथनार्थेनैव तत्र तत्र स्मृतम् । कृतालोका इति कथनान्त-
कथनार्थे पश्यते । अन्तरिक्षयोः विज्ञानं वापुर्वै वदितुमादयति ।
“अन्तोपेनान्तकं कथयति” अन्तःकाम्ये दैवानां तत्र निवेद्यः कल्पितोऽप्रतिपादितः ।
पदापननमेवेन आर्षा च मोहोऽन्तःकाम्ये दैवानां तत्र निवेद्यः कल्पितोऽप्रतिपादितः ।

तदेव च वदितुमादयति । यद्—“आखिवनं नाम्ना परिनाम्नते पायाया
वैशान्तिना, तस्यैव स्वरूपस्य वीना धारयन्ता कथयन्तास्माकम् । अन्तोपे
च तत्पर्यवर्तनम् द्रष्टुमादयति इति । अन्तोपे तद्वान्तरिक्षे प्रवृत्तिं
भवतीति वीना गङ्गाया तन्मदनन्तवोरस्ये । तद्वान्तरिक्षे च कृतीकाया,
तन्मदनन्तवोरस्ये अन्तःकाम्ये दैवानां तत्र निवेद्यः कल्पितोऽप्रतिपादितः ।

अन्ते च स्मृत्यानां तत्रैव देवा उक्तम् । तदाचिदुदयो भवत्येव । देवैः प्रदिष्टं ज्ञानम् गान्धर्वदा मोहोऽन्तःकाम्ये
प्रवृत्तः तदा मोहः स्वप्नस्तु ज्ञानं मुक्तये प्रतिपादितम् । पातालग्रन्थ-
वदुत्तराजप्रोक्तम्, तदाविमोतेऽष्टमः, अधिष्ठानं हि देवानां शिरोकामावाहः
अमुखा च पाताले इत्येव पूर्व ब्रह्मा वक्ष्यता कृतातीति । तदेतन्मोहोऽन्तःकाम्ये-
पुराणे स्मृत्यानां तत्रैव देवा उक्तम्—

व्याख्यान विधाय अष्टमेऽहि इतिहासव्याख्यानम्, नवमेऽहि पुराणाख्यानं च विहितम्, तत्र चेतिहासपुराणविशेषगत्वेन वेदशब्द स्पष्टमुपात्त —

‘अथाष्टमेऽहन् एवमेवैतारिष्टिषु सस्यितासु एषैवाऽवृद्ध अर्घ्यविति इ वै, होतरित्येवाध्वर्युं, मस्य सामवेदो राजेत्याह, तस्योदयेचरा विशस्त इह आसत इति मस्यश्च मस्यहनश्चापि ममेता भवन्ति, तानुपदिशति इतिहासो वेद-
सोऽयमिति ऋषिदितिहासमाचक्षतेऽमेवाध्वर्युं सप्रेष्यति, न प्रक्रमान् जुहोति ।
(१२ क०) ॥

अथ नवमेऽहन् एवमेवैतारिष्टिषु सस्यितासु एषैवावृद्ध अर्घ्यविति इ वै होतरित्येवाध्वर्युं, ताक्ष्यो वै पश्यतो राजेत्याह, तस्य वयासि विशस्तानी मान्यासत इति वयासि च वयोविधिकाधोपसमेता भवन्ति, तानुपदिशति पुराणं वेद सोऽयमिति मिश्रित् पुराणमाचक्षतेऽमेवाध्वर्युं सप्रेष्यति, न प्रक्रमान् जुहोति (१३ क०) ॥

एतदप्रे च साम्ना प्रवचनमुक्तम् । अथमत्र क्रम—पूर्वं सावित्रीस्तिस इष्टी इति यदाश्वमेधे अश्वो विमुक्त, तदनन्तर यज्ञमण्डपे देवसदनाख्ये यज्ञस्तंभे भवति—तत् क्षतपये त्रयोदशस्य काण्डस्य चतुर्थाध्याये तृतीये ब्राह्मणे सामान्तातम् । तदुक्तमध्यायारम्भ एव—“प्रमुखाश्च दक्षिणेन वदि हिरण्य कशिपुपस्तृणाति (कशिपु मृष्ट आसनम्) तस्मिन् होता उपविशति, दक्षिणेन होतार हिरण्यमे कूर्चं यजमान, (कूर्चं सपादमासनम् पीभूतम्) दक्षिणत ब्रह्मा च उद्गाता च । हिरण्यस्या कशिप्वा पुरस्तात् प्रगद्व् अर्घ्यं—हिरण्यमे वा कूर्चं हिरण्यमे वा पल्लवे (पादरहितमासनम् पल्लवम्) समुपविष्टेषु अर्घ्यं— सप्रेष्यति (होतार प्रेरयतीत्यर्थ) इत्यादि । एतस्मै मगवता काश्यायनेनापि विवृत औत्प्रेष्टु (अश्रमप्रकरणे) दक्षिणतो वेदैर्हिरण्यदेवपविशति ॥ १८ ॥ अर्घ्ययजमानो कृचयो ॥ १९ ॥ पल्लवयोर्ध्व ॥ २० ॥ होतृनाक्षणाद्गतार कशिपुषु ॥ २१ ॥ होतर्भूतान्यान्धव, भूतेष्विव यजमानमभ्यूहेति पारिष्कनं प्रेष्यति ॥ २२ ॥ इ वै होतरिति प्रतिष्ठणाति” इत्यादिना । अत्र अर्घ्युणा मये कृते होता सर्वान् तत्तद्देवादि व्याख्यानं भावयति । इदमेव पारिष्कवाख्यानं मुख्यते । दश दिनानीद व्याख्यानं प्रायह प्रचलति । प्रत्यहं तिस्र सावित्र्य इष्टयं क्रियन्ते । तत्र षट्सु दिवसेषु व्याख्यानानन्तर प्रक्रमहोमोऽपि विधीयते, सतमादिषु चतुर्षु दिनेषु तु प्रक्रमहोमो न क्रियत । एव दशसु दिवसेषु पूर्वेषु पुनरावृत्तः पुनरावृत्त इति सूक्तवर्णनं यज्ञशदावृत्तयं क्रियन्त । तदुक्तम्—‘एतदेव समानमाख्यानम् पुन पुन सस्तरं परिष्कवते । तद्यत् पुन पुन परिष्कवने तस्मान् पारिष्कनं षट्त्रिंशत्तम् दशाहानाचष्टे’ इत्यादि (क्षतपथ० १३ का०, ४ अ०, ३ ब्रा०, १५ क) प्रायह च श्रुतिवत्

यश्मानानिरिक्ता विभिन्नाः श्रोतारो यज्ञमण्डप आहूयन्ते । यस्याख्यानस्य यो राजा आम्नातस्तत्प्रजामृताः तदुपपुक्ता एव श्रोतारः तस्मिन् दिने सन्निधाप्यन्ते ॥

तत्र प्रथमे दिने मनुर्वैवस्वतो राजा, तत्प्रजानां मनुष्याणां प्रतिनिधिमृताः अश्रोत्रिया गृहस्थाः श्रोतारः ऋणा व्याख्यानम् । द्वितीये दिने यमो वैवस्वतो राजा तत्प्रजानां पितॄणां प्रतिनिधिमृताः स्यविराः (वृद्धाः) श्रोतारः ययुषा व्याख्यानम् । तृतीये दिने वरुण आदित्यो राजा, तत्प्रजानां रन्ध्रवर्णा प्रतिनिधिमृताः क्षीमना युवानः श्रोतारः अयर्गवेदस्य व्याख्यानम् । पञ्चमे दिनं अर्बुदः काद्रवेयः (सर्पः) राजा, तत्प्रजानां सर्पाणां प्रतिनिधिमृताः सर्पविदः (सर्पपालकाः 'शपेरा' इति प्रसिद्धाः) सर्पैः सहिताः श्रोतारः सर्पविद्याया व्याख्यानम् । षष्ठे दिने कुबेरो वैभवो राजा, तत्प्रजानां रक्षर्षां प्रतिनिधिमृताः पापहृतः सेलगाः (सेलं गायन्ति ये) श्रोतारः, वेदपञ्चमविद्याया व्याख्यानम् । सप्तमे दिने अश्वितो घाम्बो राजा, तत्प्रजानां असुराणां प्रतिनिधिमृताः, कुक्षीदिनः (कुक्षीदम् — शृणुरूपेण दत्तानां कृष्णकादीनां वृद्धि 'व्याज', इति 'सूद' इति च प्रसिद्धं ये उपनीयन्ति) श्रोतारः मायाप्रतिपादकस्य वैवस्वत व्याख्यानम् । अथाष्टमे दिने मत्स्यः सामदो राजा, तत्प्रजानां मुदकेचराणां मत्स्यानां प्रतिनिधिमृता मत्स्याश्च मत्स्यवातकाश्च श्रोतारः इतिहासस्य व्याख्यानम् । नवमे दिने ताक्ष्यो (गरुडः) वैवश्यतो राजा, तत्प्रजानां पक्षिणां प्रतिनिधिमृताः पक्षिणश्च पक्षिविद्यावेत्तारश्च श्रोतारः पुराणस्य व्याख्यानम् । दशमे तु दिने धर्म इन्द्रो राजा, तत्प्रजानां देवानां प्रतिनिधिमृताः प्रतिग्रहवर्जिताः श्रोत्रियाः श्रोतारः साम्ना व्याख्यानमिति । एषं वेदमध्ये व्याख्यानविधानात् "वेदः सोऽदम्" इति स्पष्टं अवगाह्य वेदत्वमितिहासपुराणयोरत्र स्पष्टमुक्तम् । उभे चेतिहासपुराणे अशिशितप्रायाणामवरजातीयानामनृगकर्मरतानामपि चोद्धारके इत्यपि श्रोतृ-विशेषेण व्यञ्जितम् । अनेनैव श्रोतृविवरणेन न प्रसिद्धवेदमागातिहास पुराणे-अपि ■ ततः पृथगेव वेदपदबोधनीये वेदवदम्यर्हणीये चेत्यपि स्फुटं व्यञ्जितम् । तत्र एव वेदानभिहितानामपि श्रोतृतया दहोपस्थापनम् । वेदज्ञानानृत्तिगुण्यमानादीनामपि च तच्छ्रवणविधानमिष्टमयोपकारकत्वमनयो-रितिहासपुराणयोर्व्याख्यातं भवति ॥

तदित्यं ब्राह्मणेषु बहुत्र पञ्चमवेदत्वमितिहासपुराणयोः स्फुटमाम्नातमिति प्रदर्शितम् । न हि ब्राह्मणानि चतुर्णामेव वेदानामन्तर्भूतानि स्वस्यैव पञ्चमत्तमाचक्षीरन्नि ब्राह्मणैः पृथगेवेतिहासपुराणयोः स्वरूपेभिः प्रमाणैः साधितं भवति, वेदवदम्यर्हितत्वेन च पुराणेतिहासयोः ॥

मने च पुराणेतिहासयोखी वदै सहैव परमात्मन उद्भव आम्नायते—

श्रुच आमनि छन्दा से पुराण यनुषा सह ।

उच्छिष्टाच्छिरे सने दिवि देवा दिवि भिना ॥ (अथर्व० ११।३।२४)

अत्र उद् उर्ध्वम् अर्थात् सर्वाया भूतमौतिद्वानामदयाने, छिष्ट उच्यते परमात्मना, तस्मादुच्छिष्टान् परमात्मना श्रुगाद्या सर्वेऽप्युत्पद्यन्ते—इति श्रीमाधवाचार्यप्रभृतौ व्याख्यात । वैश्वानिनासन्त्ययशरीरा इत्य वदन्ति— याद्विचक्षरि पदार्थ परम भुक्त पराङ्मता गन्—रश्मिन्नुत्पद्यते इति यावत्— सौम्यात् घनाद्यदा विच्छिद्यते तदा स 'उच्छिष्ट' इत्युच्यते । यथा ग्रीष्मे धूमोऽप्येव स्ववसागिषु प्रस्तरादिष्वनुप्राप्तेऽतद्भट्टादिषु स्ये सत्त्वनाद्विच्छिन्नस्तस्मिन् प्रस्तरादायेव स्थितो भवति, तत्र पृथ अस्मद्भट्टेऽप्य स्ये तस्मिन् प्रस्तरादा धूमोऽनुत्पद्यते । यदि तु सोऽयमाहव सूर्यच्छादित्वाच्छिन्ना न स्यात् तदा सूर्येण सहैव उच्छिष्ट इति कथं प्रस्तरादानुत्पन्नानुभवसमन । सोऽयं भागः श्रुत्यवपरिभाषाया 'प्रत्यय' इत्युच्यते, आधारेण च 'उच्छिष्ट' इति परिभाषित । ततश्चेत्यमन सति—रश्मिन्नाख्ये द्वे जगतो मूलस्थे—ब्रह्मनाशाऽपरपदामिष्ये । तत्र रसो विनिर्गम्य, ७७ तु परिच्छिन्नमपि विनश्वरमपि च सद्यमानस्यान्व्यातिमन् प्रकाशितम् च, तस्मिन्पादोऽपि परिच्छिन्न इवामाति । तत्र एव च निनिष्ठाघनाद् वड मायेत्युच्यते । तस्मिन् परिच्छिन्ने मायाख्ये महाबल यावन् रश्मिनागोऽनुप्राप्तो भवति—एहादिद्विजानाद्यभाग, स पूर्वोक्तेन प्रकारेण प्रत्ययं मूलं च उच्छिष्टश्च परिभाष्यते । स एव च भवति सर्वजगत्पादात्मन्—इति तस्मादेव सर्वा सुष्टिराथर्वणे समान्नाता । अत्र पृथक्सूक्तसर्वपादोऽपि—

एतावानस्य महिमातो वार्याश्च पूष्य ।

पादोऽयं विश्वा भूतानि निपादस्वामृत दिवि ॥ इति ॥

अन्तर्नैनाप्रकृतविचारण । पुराणाना वदै सह तस्मादेव सर्वगम्भूता दुरक्षरेति इत्येव मन्त्रे । अत्र च नान्यद्विशेषणत्वेनोक्त स्वतन्त्र पुराणशब्द पुराणिनाया एकाभिधायक इति नात्र स द्वाहान्तर । बृहदारण्यकोपनिषत्स्ववि—

“स यश्चेन्धनामेरम्पादितत्वात् पृथग् धूमा विनिश्चरन्ति एव वा थरे अस्म महतो मूलस्य निश्चयिमेज्—दृग्गदो चतुर्वेद सामवेदाऽयर्वाहिरस इतिहासपुराणा निरा ऊनपद लोका मृगाणि वन्यप्राण्यानानि व्याघ्रानानि अग्नयेनानि सर्पिणि निश्चयितानि ।” (बृह० २।४।१०) इति महती मूलस्य परमात्मनो निश्चयसंज्ञेय वेदा दुराणानि व्याघ्रानानि । अयमत्राभिप्राय — अयमद देहरीरे दिविवास्तावक्ष्या सगुदमन्त्रे—

ज्ञानजन्या मवेदिच्छा इच्छाजन्या कृतिर्भवति ।

कृतिजन्य मवेत्कर्म—

इति न्यायशास्त्रोक्तप्रक्रियया जायमाना प्रथमा । पुरुष प्रथममिन्द्रियादिभि
स्वप्रतिकूल दश वा मशक वा पुरुषान्तरमेव वा प्रहरन्त आनाति, ततश्च
निवारयेयमेनमिति वा पलायेयम् इति चा इच्छति, इच्छयाऽऽत्मनि यत्न
प्रादुर्भवति, प्रयत्नवदात्मप्रेरणाच्च हस्ते पादे वा न्या भवति, यथा दशादिक
पुरुषान्तर वा निवारयति तत पञ्चावितोऽन्यत्र वा गच्छतीति क्रम सर्वत्रानु
भूयते । अपरं तु क्रिया अनिच्छाकृता एव भवन्ति—यथा ह्यक्रम, नेत्रनिमी
लनम्, श्वासनिर्गमश्चेत्याद्या । न हि क्व स्वेच्छया प्रयत्नमुत्पाद्य श्वास'दिक
प्रेरयाम, अबुद्धिपूर्वकमव उ सतत क्रमेण ता क्रिया स्वभावात् प्रवर्तन्ते ।
तथैव परमात्मनोऽपि स्वभाव'देव वेदपुराणादिक प्रादुर्भवति—न तु बुद्धिपूर्वक
तदुत्पाद्यत इति नि श्वाससादृश्येन प्रयत्नाजन्यरूपापौरुषेयस्य च वेदपुराणादी
नामामव्यञ्जितम् । नदीश्वरस्यापि वेदपुराणाद्युत्पादने स्वात यन्, अपि तु
निशान्येव तानि स्वभान्तस्त्वस्मात्प्रादुर्भवन्ति इति । यथा च नि श्वासेरेव
शरीरस्यामाधिष्ठितव्यपिचय, सर्वथा नि श्वासान्तराद्ये हि मृत इत्येवोच्यतेऽ
क्षि, तथैव ब्रह्माण्डस्येश्वरशरीरभूतस्य वेदपुराणादिभिरेवेश्वराधिष्ठितानिश्चय ।
यदि नामविभ्यन् वेदा पुराणानि वा, न तर्हि कनाप्येतदविद्याता परमेश्वर
प्रत्ययग्राह्यत । वेदपुराणादिनिरेश्वर प्रत्याप्यते । तदुक्त भगवता व्यासेन
मसूत्रेषु—‘शास्त्रमोनितात्’ । (१।१।३) इति ॥

जगज्जन्मादिकर्तुं ब्रह्मेति शास्त्रेणैव प्रत्याप्यतेऽपमर्थ ।

यत्तु केचिदाशङ्कन्ति—उपात्तेषु भुक्तिर्बुद्धदारण्यभोपनिषदि याज्ञवल्क्यमैत्रे
यीसनादे समुल्लभ्यते, तत्र च जीवात्मैशोपक्रान्त ‘न वा अरे पत्यु कामाय
पति प्रियो भवति आत्मनस्तु कामाय पति प्रियो भवति’ इत्यादिना ।
ततश्चात्र महतो भूतस्येति प्रक्रान्तो जीवामैव ग्रहीतव्य इति नैनया भ्रुत्या
परमात्मन सकाशाद् उत्पत्तिर्वेदपुराणादीनां सिध्यति इति । तदेतद्वाक्यान्वयाधि
करणेन भगवता व्यासस्यैव ब्रह्मसूत्रेषु समाहितम् । जीवात्मामेदेनैवान परमात्मान
ग्राहयितुं प्रवृत्तो भगवान् याज्ञवल्क्य प्रथम औकर्याय जीवात्मानमेव प्रियतास्य
दत्त्वन ग्राहयित्वा तदभिप्रेतयैव परमात्मनो दर्शनं विधत्ते । तत एव ‘आत्मा वा
अरे द्रष्टव्य’ इति । ‘आत्मनो वा अरे दर्शनेन अवणेन मत्या निशनेनेद् सर्व
निदितम्’ इत्येकविज्ञानेन सर्वविज्ञ नप्रविज्ञामुपनिषत्प्रविद्वामन्ववदत् । तेन च
सर्वजगन्मूलभूतस्य परमात्मन एवात्र ज्ञेयत्वेनोपक्षेप इति स्फुगीभवति ।
मूलभूतस्य विज्ञानेनैव सर्वविज्ञानसमवात् । इद सर्व यदयमात्मा इति च वदन्

सर्वात्मभूत परमात्मैवात्र वेदानयोपदिष्ट इति स्फुगीचकार । तदग्रे महद् मूलपदाभ्यां तमेव स्मारयित्वा तस्मात् सर्वस्याप्युत्पत्तिमभिदधे—इति सुस्फुगेऽयमर्थः । ये तु जीवात्मन परमात्मना सहाद्वैतभाव न सहन्ते, तेषां दुरभिलष्येष भुक्तिरित्यन्यदेतत् ।

यदपि केचिदाहुः—“इतिहास पुराण विद्योपनिषत् इत्येक सूत्रशाखयानादिकं सर्वमिदं ब्राह्मणभागस्थान्तरगतमिह ब्राह्मम्, अग्नौ प्रागवस्थाप्रतिपादकं नैव वा किञ्चिदग्नौ आसीत्” इत्यादि ब्राह्मणभाग एव पुराणम् । ‘देवामुरा सयत्ता भासन्’ इत्यादयश्चेतिहासाः” इत्यादि, तदपीदं न विरेकबुद्धिब्राह्मम् । इह हि उपदिष्टायां बृहदारण्यकश्रुतौ ‘ऋच’ ‘यजूंषि’ ‘सामानि’ इति नोपात्तम् आप तु ‘ऋग्वेद’ ‘यजुर्वेद’ ‘सामवेद’ इत्युपात्तम् । ‘तेषामृग्यनार्थं श्वेन पदव्य-रस्मा’ (मी० सू० ३।१।३५) इत्यादिजैमिनिप्रचोनुऽस्त्य ऋक्पदेन प्रधान्येव ग्रहीतुमुचितानि । सामपदेन गीतय एव, यजुपदेन गद्यान्येव । ऋग्वेदपदेन तु ऋक्प्रधानं सर्वोऽपि सहिताब्राह्मणात्मक ऋग्वेद इति प्रसिद्धं समग्रो ब्राह्म । तथैव च सामवेदयजुर्वेदपदाभ्यामित्यसिद्धिः शिष्टपरम्परागता शब्दार्थव्यवस्थितिः ॥

तथा च ब्राह्मणानामृग्वेदादिपदेनैव सप्रहीतत्वात् पुनरितिहासपुराणग्रहणमपार्थक्यमव । तथैव च उदाहृतपूर्वपात्राभ्युपगम्यभूतावपि ऋग्वेदादिपदानि सकीर्णं इतिहासपुराणमित्यस्य निरोग्य पञ्चमम् इत्यपि श्रूयते । यदि नाम ब्राह्मणानामव्यतिक्तं भागा इतिहासपुराणग्रन्थभ्यां विवक्षिता स्युः, तर्हि पञ्चमपदेन ते भागा कथं सप्रह्येन् ? तत्र हि विद्यागणना वा प्रस्तुता, ग्रन्थगणना वति तावद्विचार्यम् । तत्रादित एव विद्यागणना चेन्मन्वेन, ऋग्वेदाश्रयादानं तर्हि नान्विवात्, न हि ऋग्वेद इति यजुर्वेद इति वा कापि त्रिव्या प्रसिष्यति । बह्वीनां विद्यानां तत्र तत्रान्तर्भावत् । तस्मात् ‘पञ्चमम्’ इति पर्यन्तम् ग्रन्थगणनैवाभिप्रेतस्य नामेनाप्यवकाशं स्वीकर्तुमुचितं स्यात् । सत एव च अथर्ववेदस्य चतुर्थत्वेन प्रथमगणनापि युक्तिमती । ऋच यजूंषि इत्यादिरूपं चेत्प्रगण्यते, न तर्हि आयवंशं चतुर्थमिति वक्तव्यं स्यात् । ऋगादिपदेन तदभागाणामपि सप्रहीतत्वात् । अनन्तरन्तु भवतु विद्यागणनाभ्युपगमः, तत्र सवरूपावाचकपदाम्भवात्, विद्याशब्दस्य सप्र अवगच्छ । तत्रैव ग्रन्थगणनायामितिहासपुराणमिति पुराणविद्याप्रतिपादपादको ग्रन्थ एवोक्तः न तु ब्राह्मणेषु तत्र तत्रोक्तम्यमानास्ते भागा इत्येव युक्तमभ्युपगन्तुम्, बृहदारण्यकश्रुतावपि मुख्यन्यायात्तथैव । यथा चेतिहासपुराणमिति शब्दो विद्यावाचकौ ग्रन्थेऽपि प्रवर्तते, तथाग्रिमेषु प्रकरणेषु सुस्फुटं स्यात् । श्रीशङ्कराचार्या अपि ब्रह्मसूत्रभाष्यदेवताधिकरणे ‘ज्योतिषमावाच्यं’ इति सूत्रस्य भाष्ये “इतिहास

पुराणमत्र पौरुषेयत्वात् द्रष्टव्यान्तरं मूलमाकाङ्क्षते” इति पूर्वपक्षे इतिहासपुराणयो-
र्वेदातिरिक्तता स्पष्टमुक्त्या सत्याभाष्ये च संशय प्रदर्श्य सिद्धान्तपक्षे “मावं ॥
वादारायणेऽस्ति हि” इति सूत्रभाष्ये श्रुधीणामपि मन्त्रब्राह्मणदर्शिना सामर्थ्ये
नास्मदीयेन सामर्थ्येनोपमातुं शक्यम् । तस्मात् स्मूलमितिहासपुराणम्” इत्यु-
क्तम् । तेनेतिहासपुराणानां वेदातिरिक्तत्वेऽपि आर्षत्वं प्रामाण्यं च स्पष्टमुक्तम् ।
तदेवमितिहासपुराणानां वेदातिरिक्तत्वे सिद्धे तन्मूल्यमितिहासपुराण वेदेभ्यः
पृथगेव सिध्यन्ति । किं च ब्राह्मणमाणा एव यदि दिशक्लृप्य तैस्तैः
पदैः श्रुतिषु विभिन्नामपि परिहृताः तर्हि, ब्राह्मणानां मुख्यो भागः कर्म
विधिर्नाम केन शब्देन एहीत इति निमृग्य स्थान् । किं सर्वं विद्या अधिगतव
त्तापि नारदेन कर्मभागो नाधीतः । बृहदारण्यके वा तस्य परमात्मनः उत्पत्ति-
र्नाम्नाता । अन्ये पुराणाद्या ब्राह्मणमाणा महतो मृतादिश्रुतिरूपेणोत्पन्नाः
मुख्यो ब्राह्मणभागः कर्मविधिरुपध न महतो मृतादुत्पन्न इति श्रुत्याशयमनुमत्त-
वः श्रद्धातः । विरासूत्र्याख्यातादिपदैस्तु तत्स्पष्टमिति ब्रूयन्ते, ननु विलक्षणोप
पदतिर्यद् ब्राह्मणैश्चप्राधान्येन यत्र बुधचित्तुल्यम्यनानाः पुराणादिनागाः स्वशब्दै-
रुच्चार्यन्ते । मुख्यतनो विधिभागस्तु कथञ्चिद्विधिरूपेण केनचिच्छब्देन, एतानान्
प्रक्षेपस्तन्मतां नारदराक्षसकन्यादीनाम् यत्ते त शब्द नीच्चारयन्ति इति तस्मा-
द्वेदादिपदैरेव मन्त्रब्राह्मणगतनृकारते ते वेदा इह एहीताः । अग्रे चाम्नाता
इतिहासपुराणाद्या ब्राह्मणेभ्यः पृथगेवेत्यर्थः, स्पष्टस्वर स्वीकार्यः । यत्तु केचन
वेदमन्त्रनागस्यानादितानुद्वेषोपपन्नोऽपि ‘यज्ञत्रिणापरो मन्त्रायामर्थः पश्चात्
प्रवृत्त’ इति साधयितुं सङ्गच्छन्ति तेषां मते—

‘श्रुत्वा तः षोषमास्ते पुपुष्वान्

गायत्रं त्वो गायति शङ्खरीषु ।

ब्रह्मा त्वो वदति वातनिग्राम्

यज्ञस्य मात्रा विनिमीत उक्त्वः ॥ (श्रु. १०।७।१।११)

इत्यादिना स्पष्टं यत्ते श्रुतिविक्रार्यविभागप्रतिपादकानां निश्चये च तथैव व्याख्या-
तानां मन्त्राणां कः प्रामाणिकोऽर्थः स्यात् । यत्तुस्मृतिपूर्वविद्यतिस्मादाद्य यज्ञ-
विनियोगक्रमेणैव सङ्गठितायाः का सङ्गतिश्च । किं च ‘मन्त्रात्मकान् वेदान् समुप-
दिश्य तदर्थप्रद्वेष्टाऽऽच्छान् बनान् ईश्वर एव तदर्थं ग्राहयामास, तानि मन्त्र-
व्याख्यानरूपाणि ब्राह्मणानि’ इति स्वनिबन्धे श्रीस्वामिदयानन्देनाप्युक्तम् । ब्राह्मणेषु
च कर्मबोधनारम्भेऽपि व्याख्यानानि मन्त्राणामुत्पद्यन्त इतीश्वरबोधितादप्यर्थान्
माक् का व्याख्या संवेद । ननु मोः क्लेशाः एताभि व्याख्यानानि अनु-
व्याख्यानानि इत्याद्यपि तर्हि परमात्मन आविर्भूतमनादिस्वीकर्तुमापतेदिति ३६

वादम् । अनदिशङ्कनीया भगवती श्रुतिरिति श्लोकसूत्रव्याख्यानादिकमपि मूलभूत-
मनाद्यभ्युपगम्यते । यथा स्वयमेव पुराणेतिहासा व्यासेन स्वरूपान्तरीकृत-
एव अस्मादिदं श्रुत्यन्ते, तथा श्लोकसूत्रादिकमपि मूलभूतमनादि नोपलभ्यते,
तैस्तैर्मुनिमी रूपान्तरता प्रापितमेव तु लभ्यत इत्येव स्वारसिक सिद्धान्तः स्वीक-
णीय स्यात्, रात्यन्तरमात्रात् । अत एव च “इमे सर्वे वेदा निर्मिताः सरहसा,
सरहसा, सत्राद्व्यासाः, सोपनिषत्का, सेतिहासाः, सव्याख्याना, सपुराणा,
ससत्कारा, सनिरुक्ताः, सानुशासना, सानुमानना, सवाकोवाक्या”, इति
(गोपय० पूर्वभाग० प्रपा० २१ का० १) इति गोपयश्रुतिरभ्युपगम्यते । इह
हि श्रुत्येव ब्राह्मणेभ्यः पृथक्कृत्य पुराणेतिहासादीनि कल्याणायानादीनि
चोपात्तानि । ब्राह्मणवसिष्ठन्यायाभ्युपगम्यते । तस्मात् सर्वान्येतानि
वेदवदनादीन्यासन् पूर्वयुगे, इदानीं तु मन्त्रब्राह्मणोपनिषदात्मका वेदा एव
स्वरूपे सुरक्षिता अद्ययनपरम्परया द्विजैः । अन्यानि तु कालपर्ययेण रूपान्तरता
मेवापद्याद्यत्वे उपलभ्यन्ते, न तु अनादिरूपे इत्येव स्पष्टं फलति—इत्यलं दिक्तेरेण ।
तदित्यं पुराणानां पञ्चमवेदत्वमीश्वरानि श्रुतिरस्मिन्नादित्वं च श्रुतिभिरेव प्रतिपाद्यत
इति किमतः परं तन्महत्त्वमनुकीर्तनीयं स्यात् ॥

पुराण-लक्षणानि

अथ पुराणविद्यायां प्राधान्येन के के विषया अन्तर्भवन्ति, के वा तत्रा-
प्राधान्येन संगृह्यन्त इत्यादि पुराणाधारेणैव निरूपणीयम् । तत्र प्रायेण सर्वेषु
पुराणेषु पञ्चलक्षणानि पुराणस्य व्याख्यातानि, पञ्चविषयाः प्राधान्येन पुराण-
विद्यायामन्तर्भवन्तीति तत्तात्पर्यम् । तैरेव विषेयं लक्ष्यते-विज्ञायते इति तानि
लक्षणानि । तानि च विद्यास्वरूपान्तर्गतानीति स्वरूपलक्षणानि बोद्धव्यानि ।

“सर्गश्च प्रतिसर्गश्च वंशो मन्वन्तराणि च ।

वंशानुचरितं चैव पुराणं पञ्चलक्षणम् ॥

लक्षणमिदं किञ्चित्साठभेदेन ऐक्यरूपेण वा विष्णुपुराणे (१ अंशे, ६
अ०, श्लो० २४), मार्कण्डेयपुराणे (अ० १३४ श्लो० १३), अग्निपुराणे
(अ० १, श्लो० १४), मत्स्यपुराणे (अ० २, श्लो० ५), ब्रह्मवैवर्तपुराणे
(अ० १३१, श्लो० ६), बराहपुराणे (अ० २, श्लो० ४), स्कन्दपुराणे
(प्रभासखण्डे अ० २, श्लो० ८४), कूर्मपुराणे (पूर्व०, अ० १, श्लो० १२),
मत्स्यपुराणे (अ० ५१, श्लो० ६४), गरुडपुराणे (आचारकण्डे अ० २,
श्लो० १८), ब्रह्माण्डपुराणे (पूर्वभागे अ० १, श्लो० ३८), शिवपुराणे
(वायवीय सं०, अ० १, श्लो० ४१), देवीभागवते तथा अन्यत्रान्यत्रापि
च लभ्यते । सर्गो नाम सृष्टिः, वंशो उत्पत्तिः; प्रतिसर्गो नाम हरयमानस्यास्य
सर्वस्य समये समये प्रलयः; वंशः—उत्पादानमृतानां तत्त्वानाम्, देवादीनाम्,
मनुष्याणां च उत्पत्तिपरम्परा; वंशानुचरितम्—तत्तद्व्यवधानां तत्तेषां विषये
यद्विधिष्व्य वक्तव्यं तद्विवरणम् (अथैव तत्तन्मनुष्यवंशप्रस्तानां महर्षीणां राज्ञां च
चरितान्यपि समाविष्टानि); मन्वन्तरम्—सृष्ट्यादीनां कालव्यवस्थापनम्—
इति सामान्येन शब्दानामेषां विवरणमपि तत्र तत्र प्राप्यते । क्वचित्
प्रतिसर्गपदेन आदिसृष्टेरनन्तरं आयमाना अवान्तरसृष्टिरपि व्याख्यायते, प्रत्यस्तु
सृष्टिप्रातिलोभ्येन व्यवस्थापनीय इति तदाशयः । अत्रार्थे प्रतिसर्गपदस्थाने
विसर्गपदं केचिन्निवेद्यन्ति । वंशानुचरितस्थाने वंशानुचरितमिति बहुत्र पाठः ।
तत्र वंशमवानामनुचरितमिति मध्यममदलोपी समात्त आश्रयणीयः, वरो भवाना
चरितं वंश एव समारोप्य वा व्याख्येयम् ।

अत्र लक्षणे कुत्र कुत्र कस्य कस्य विषयस्य समावेद्य इत्यपि तत्र तत्र
निवृत्तम्, यथा विष्णुपुराणे आरम्भ एव प्रश्नमुत्तेन विवरणम्—

सोऽहमिच्छामि धर्मं भोतु त्वत्तो यथा भवत् ।
 वभूव मूयश्च यथा महाभाग मविष्यति ॥
 यन्मय च भगद् ब्रह्मन् यतश्चैतच्चराचरम् ।
 लीनमासीत्तथा यत्र लयमेष्यति यत्र च ॥
 यत्प्रमाणानि भूतानि देवादीना च सम्भवम् ।
 समुद्रपर्वताना च सस्थान च यथा भुव ॥
 सूर्यादीना च सस्थान प्रमाण मुनिसत्तम ।
 देवादीनां तथा वदाम्ममून् मन्वन्तराणि च ॥
 कल्पान् कल्पविभागाश्च चातुर्धुगविकल्पितान् ।
 कल्पान्तस्य स्वरूपं च युगधर्माश्च हृस्वन्तश्च ॥
 देवर्षिपार्ष्णिधाना च चरितं यन्महाशुने ।
 वेदशालाप्रणयनं यथाक्व च स कर्तुं कम् ॥
 धर्माश्च ब्राह्मणादीनां तथा चाभ्रमवाशिनाम् ।
 श्रोतुमिच्छाम्यहं सर्वं त्वत्तो वासिष्ठनन्दन ॥

{ विष्णुपुराण १ अ०, १ अ०, ४-१० श्लो० }

अत्र "यत्प्रमाणानि भूतानि, देवादीनां सम्भव, समुद्रपर्वतानां भुवश्च
 सस्थानम्, सूर्यादीनां सस्थानमिति सर्वं सर्गोऽन्तर्भवति । देवादीनां वदाम्, वदो,
 कल्पान्, कल्पविभागानित्यादि सर्वं, युगधर्माश्च मन्वन्तरप्रकरणे, देवर्षिपार्ष्णिधा-
 नां चरितं वदाम्नाचरिते, वेदशालाविभागकरणाद्यपि च तत्रैवान्तर्भावम् ।
 वायुपुराणे चापि—

पुराणवेदो ह्यलिलस्तस्मिन् सम्यक् प्रतिष्ठितः ।

भारती चैव विपुला महाभारतवर्धिनी ॥

धर्मार्थकाममोक्षार्था कथा यस्मिन् प्रतिष्ठिता ।

सृष्टा तुपरिम्प्राप्य भूमावोषधयो यथा ॥ (अ० १।१८, १९)

एवमादि विस्ताररूपेणैवोक्तम् । श्रीमद्भागवते ब्रह्मवेत्ते च पुराणानां
 दशलक्षणानि वक्ष्यन्ते । तत्र श्रीमद्भागवते यथा—

अत्र सर्गो विस्मयश्च स्थानं पोषणमूलयः ।

मन्वन्तरेणानुकथा निरोधो मुक्तिराश्रयः ॥

दशमस्य विगुद्वयार्थं नवानामिह लक्षणम् ।

वर्णयति महात्मानं श्रुतेनार्थेन चाञ्जला ॥

मूगमात्रेन्द्रियधियां जन्म सर्गं उदाहृतः ।

ब्रह्मणो गुणवैषम्यादिसर्गं पोष्य स्मृतः ॥

(द्वितीयस्कन्धे १० अ०, १-७)

स्थितिर्वैकुण्ठविजयः पोषणं तदनुग्रहः ।
 मन्वन्तराणामसद्वर्तनं कृत्यं कर्मवासना ॥
 अवतारानुचरितं हरेश्वरस्यानुवर्तिनाम् ।
 पुण्यमीशकथा प्रोक्ता नानाख्यानोपबृंहिता ॥
 निरोधोऽस्यानुशयनमात्मन सह शक्तिमि ।
 मुक्तिर्हितान्यथा रूप स्वरूपेण व्यवस्थिति ॥
 आमासश्च निरोधश्च यतश्चाप्यवसीयते ।
 स आश्रय पर ब्रह्म परमात्मेति शब्धते ॥

श्रीमद्भागवत एव द्वादशे स्कन्धे सप्तमेऽध्याये अष्टमं श्लोकमारभ्य
 किञ्चिद्भेदेन दशलक्षणानि परिष्वज्यते—

पुराणलक्षणं ब्रह्मन् ब्रह्मर्षिभिर्निरूपितम् ।
 मृगुष्व ब्राह्मणाभिर्य वेदशास्त्रानुसारतः ॥
 सर्गोऽस्यायं विसर्गश्च वृत्ती रक्षाऽन्तराणि च ।
 अथो अथानुचरितं सत्या हेतुरपाश्रयः ॥
 दशभिर्लक्षणैर्युक्तं पुराणं तद्विदो विदुः ।
 केचित्तत्रविधं ब्रह्मन् महदलम्परवस्थया ॥
 अव्याहृतगुणोभान् महत्कृत्वतोऽहम् ।
 भूतमात्रेन्द्रियार्थानां समग्रं सर्गं उच्यते ॥
 पुरुषः पुरुषोत्तमानामेतेषां वासनामयः ।
 विसर्गोऽयं समाहारो बीजाद्वीच चराचरम् ॥
 वृत्तिर्मूलानि भूतानां चराणामचराणि च ।
 कृता स्वन नृगा तत्र कामाच्चोदनपाणि वा ॥
 रक्षाऽभ्युतावतारहा विश्वस्यानु युगे युगे ।
 निर्यक्तमर्षिदेवेषु इग्यते यैर्नयीद्विषः ॥
 मन्वन्तरं मनुदेवा मनुष्या सुरेश्वरा ।
 शृषयोऽशवताराश्च हरे षड्विधमुच्यते ॥
 राजा ब्रह्मप्रसूतानां वंशजैर्कालिकोऽप्ययः ।
 अथानुचरितं सेषा वृत्तं अश्वराश्च ये ॥
 नैमित्तिकं प्राकृतको नित्यं आत्यन्तिकोऽप्ययः ।
 सस्पेति त्रिभिः प्राक्ता चतुर्थोऽयं स्वभावतः ॥
 हेतुर्बोधोऽस्य सगदिरविद्याकर्मकारकः ।
 यः चानुशयिनः प्राहुरव्याकृतनुतापरे ॥

व्यतिरेकान्वयो यस्य चाग्रस्तत्त्वनमुपुसिषु ।
 मायामयेषु तद् ब्रह्म जीववृत्तिश्चपाभय ॥
 एवलक्षणलक्ष्याणि पुराणानि पुरादि ।
 मुनयोऽष्टादश प्राहुः सुल्लोकानि महान्ति च ॥

ब्रह्मवैवर्तेऽप्येतानि दशलक्षगानि शब्दान्तरैरुच्यन्ते —

सर्गश्च प्रतिसर्गश्च वक्षो मन्वन्तराणि च ।
 बंधानुचरितं विप्रं पुराणं पञ्चलक्षणम् ॥
 एतदुपपुराणानां लक्षणं च त्रिदशमुच्यते ।
 महता च पुराणानां लक्षणं कथयामि ते ॥
 सृष्टिश्चापि त्रिदशैश्च स्थितिस्तेषां च पालनम् ।
 कर्मणां वासनां वार्तां मनूनां चाक्रमेण च ॥
 वर्णनं प्रल्यानां च मोक्षस्य च निरूपणम् ।
 तत्प्रीतिं हरेरेव वेदानां च पृथक् पृथक् ॥
 दद्याधिकं लक्षणं च महतां परिकीर्तितम् ।

(कृष्णलक्षणे १२ अ०, ६-११ श्लोक)

तत्रैतस्मिन् विचार्यमाणे त्रिषु स्थानेषु दशानां लक्षणानामुक्तौ शब्दभेद एव,
 नाभिप्रायभेदः । श्रीमद्भागवते द्वादशे स्कन्धे, सर्गं १, विसर्गं २, वृत्तिं ३,
 रक्षा ४, अन्तराणि ५, वक्ष ६, बंधानुचरितम् ७, सत्या ८, हेतु ९,
 अपाभय १०, इति लक्षणानुक्तानि । द्वितीये स्कन्धे तु सर्गं, विसर्गं, इति
 द्वौ समानौ शब्दौ, अन्तराणीत्यस्य स्थाने स्पष्टीकृत्य 'मन्वन्तर' इति पदं निवेशितम्,
 अपाभयस्थाने च आभय एवोक्तं । हेतु — जीवस्य ससारप्राप्तिहेतुं अविद्याकर्मादिकं
 यत्, यत् स्थाने तत्र कतिपयं निवेशितम्, 'ऊनय कर्मवासना' इति स्पष्टीकृतमेव ।
 एव पद्यानां साम्यम् । अनन्तरं वक्ष बंधानुचरिते ईशानुक्त्यापदेन गृहीते
 'हरे, अस्यानुवर्तिना च कथा—इति श्रुतिरागादिचरितानामपि समग्रस्य
 तत्र स्पष्टमुक्तावात्, वक्षमन्तरेण बंधानुचरितकथनस्यासामञ्जस्येन दशस्य बंधानु
 चरित एवान्तर्भावः । सस्यापदेन चतुर्विधं प्रत्ययो द्वादशे स्कन्धे कथ्यते,
 तत्र वैलक्षण्यं बोधयितुमारयन्तिकल्प्यरूपा मुक्तिर्द्वितीये पृथुगुपात्ता, निरोधश्च नैमित्तिक
 क्त्वाकृतिकप्रत्ययरूपं पृथग् बोधितं । द्वादशे रक्षापदेन अवतारकथाबोधकं
 अट्टप्रहरूपं पोषणमपि स्पष्टीतमासीत्, द्वितीये तु ईशानुक्त्या, पोषणं चेति पृथक्
 कृत्योक्तम् । एव द्वयस्यान्तर्भावः, द्वयस्य पृथक्करणमिति नव लक्षणानि
 सम्पन्नानि । द्वादशे च वृत्तिशब्देन मृतानां परस्परपदमेव जीवनरूपा या
 स्थितिरुक्ता, सा द्वितीये स्थानपदेन समुपात्ता । स्थानं स्थितिः "वैकुण्ठ
 विजय" इति यदुक्तम् तस्यायमेवावश्यं यत्पालकस्य विष्णोर्वैकुण्ठपदमभिधेयस्यायमेव

विषयः—स्वकार्यसाधकता यद्भूतानि परस्परमज्ञाबाधमावेन जीन्तीति । एवं भागवतोक्तानां दशानां लक्षणानां सामञ्जस्यम् । ब्रह्मैवतैऽपि सृष्टिः १, विमृष्टिः २, स्थितिः ३, कर्मणा वाचना ४, भनूना वार्ताः ५, प्रल्पानां वर्णनम् ६, मोक्षस्य निरूपणम् ७, इति सप्त लक्षणानि समान्येन । हरेः कीर्तनम्—इति आशयः । पोषणं च तत्रैव स्पष्टीतम् । वेदानां च पृथक्पृथगिति ईशानुक्त्या बोधिता क्रमेण अक्रमेण वा वार्तेति बंधानुचरितं पृथक्पृथक्त्वोक्तमिति शब्दान्तरेण तान्येव दशलक्षणान्युपात्तानि ।

वस्तुतस्तु इमानि दश पञ्चानामेव विस्तारमात्रम् । सर्गः, प्रतिसर्गः (प्रल्पः सत्पा), बंधः, बंधानुचरितम्, मन्वन्तराणीति पञ्च लक्षणानि भीमन्नागवतस्य द्वादशे स्कन्धे स्वशब्देनैवोपात्तानि । अन्यत्र यथा संप्रहृष्टान्ते तयोक्तान्देव । अवशिष्टेषु पञ्चसु विषयैः सप्तु सर्गस्येवावान्तरो भेदः, आशयशब्देनोपात्त ईश्वरश्च सर्गकर्तृत्वेन, हेतुरित्युत्तिरिति वा समाख्याता कर्मवाचना च सर्गहेतुत्वेन सर्ग एवान्तर्भावमर्हति । श्रुतिरिति स्थानमिति वामिशंहितः परस्परमुपमर्द्योरमर्दकभावः बंधानुचरिते स्फुटमन्तर्भावदेव । ईशानुक्त्या पोषणं च रक्षा वापि बंधानुचरित एवान्तर्भवन्ति, अवताराणां ऋचिद्वय एव प्रादुर्भावश्च, बंधानुचरितपदेन अवतारचरितानामपि संप्रहृष्टत्वात् । तस्मात् पञ्चानां प्रपञ्च एव दशलक्षणानीति नाम परस्परं कोऽपि विरोधः । केवलनीश्वरसततप्राधान्यबोधनाय पृथक्पृथक् भागवतादौ तानि प्रोक्तानि ।

प्रात्येकं हि शास्त्राणां मुख्यप्रतिपाद्याः प्रातिस्विक्का विषयाः पृथक् पृथक् भवन्ति । बह्वस्तु प्रसङ्गिका अन्यदीया विषया अपि तत्रापतन्ति । यथा धर्मशास्त्रे भनुस्मृत्यादीनि सृष्टिप्रक्रिया, आभ्यात्मिका दार्शनिकाश्चापि विषयाः प्रसङ्गेन सन्ति निरुचिताः । दर्शनेष्वपि चास्ति धर्मनिर्णयः प्रासङ्गिकः । तत्तच्छास्त्रेणैव क्रियमाणे तु यतस्तत्र प्रातिस्विको विषयः स एव लक्षणत्वेन निरूपणीयो भवति । सर्गोदयः पञ्चैव च पुराणानां प्रातिस्विक्का विषयाः, एषामन्यत्र स्पष्टमनुलब्धान्, कर्म, वाचना, ईश्वरः इत्याद्यास्तु विषया न पुराणानां प्रातिस्विक्काः, तेषां वेदेषु दर्शनेषु उपासनाग्रन्थेषु धर्मशास्त्रेष्वपि च विस्तरेण प्रतिपादनान् । एवञ्च नास्ति विद्यासु च कोऽपि विषयः, यः पुराणेषु न संप्रहृष्टो भवेत्, परं सर्वेऽपि ते विषयाः पुराणानां लक्षणानि न भवन्ति । प्रातिस्विक्का एव तु सप्त्याद्या विषया लक्षणत्वेन निरूपयितुमुचिता इति त एव सर्वत्र पुराणशास्त्रेण निरूप्यन्ते । श्रीमद्भागवतस्य तु प्रादुर्भाव एव भागवतान् धर्मान् व्याख्यातुमिति तदुपक्रम एव स्पष्टम् । तस्माज्जगदीश्वरो भगवानेव

तत्र मुख्य प्रतिपाद्य, अन्येषां निरूपण ॥ केवलमोक्षरूपपरिष्ठानायेति—

‘दशमस्य विशुद्धयर्थे नवानानिह लक्षणम्’

इति तत्र स्पष्टमुक्तम् । मुक्तिरेव तत्र मुख्यतया साध्या, सा च जगदीश्वरानुग्रहमन्तरेण नावाप्स्येति मुक्तिप्राप्त्यादीनामपि मुख्यतया कथनं तत्र मुख्यत एव । न तु सर्वेषु पुराणेष्वेता मुख्या, तथा सति—

“तस्या भागवता धर्मा प्रायेण न निरूपिताः”

इति नारदस्य व्यास प्रति कथनमसमञ्जसं स्यात् । यद्यपि ईश्वरस्य ईश्वरभक्त्यादेश्च निरूपणमन्यत्रापि पुराणेषु सुविशदं प्राप्यत एव, विशिष्टं च महाभारते, तथापि पुराणान्तरेषु मुख्यप्रतिपाद्यं सृष्ट्यादिकमेव, महाभारते च भरतवध्यानामितिहास एव मुख्य प्रतिपाद्यं इतीश्वरस्य तद्भक्तेस्तद्वर्णा च निरूपणं तत्र तत्रा प्राधान्येन, भागवते तु प्राधान्येनेति भागवते स्फुटमभिमन्यते । तत एव तत्रैधरप्रधानानां दद्यानां लक्षणानां विवरणं कृतम् ।

दशलक्षणरहस्यम्

तत्रापि दशलक्षणकथने रहस्यमिदं प्रतीयते—

“जन्माद्यस्य यत्”

इत्यादिना जगतो जन्मरिधिसंहारकर्तृरामीश्वरलक्षणमभिहितम्—भाष्नात् च तदेव श्रुतिषु—

‘यतो वा इमानि भूतानि जायन्ते, यत्र जातानि जीवन्ति, यत् प्रयन्त्यमि-
श्रयन्ति’ इति ।

आगमिक प्रत्यभिज्ञादर्शने तु परमशिवपदामिवेशस्य परमेश्वरस्य पञ्चवृत्त्यकारि-
त्वं प्रतिपादितम्, तानि च पञ्चवृत्त्यानि, सृष्टिः, स्थितिः, संहारः, विवर्धनम्
(निग्रहः), अनुग्रह इति । अत्र त्रीणि कृत्यानि पूर्वोक्तानि भूतान्येव, जीवस्य
बन्धप्रापणम्, अनुग्रहेण मोचनं चेति द्वयमधिकमुक्तम् । तान्येतानि पञ्च भगवत्-
कृत्यानि लक्षणरूपेण श्रीमद्भागवते द्वितीये स्कन्धे सर्गं, स्थानम्, निरोधः, विमर्गः,
पोषणम्, इति शब्दैरभिहितानि । विमर्गं देन पौरुषसर्गस्योक्ततया निग्रहेण जीव-
भावप्रापणस्यैवामिश्रितत्वात् । पोषणं देनानुग्रहस्तु स्पष्टं तथोक्तं एव । अथास्य
पञ्चवृत्त्यकारिणं परमेश्वरस्य द्वे रूपे—सप्त उपास्यमनुयाहकं रूपम् आश्रयपदेन,
जगत्परिचाटकं ॥ कालरूपम् मन्वन्तरपदेन स्पष्टीतम् । तदित्यमीश्वरसम्बन्धे सप्त
लक्षणानि व्याख्यातानि । निश्चितीतस्य जीवभावो यमिनस्य तु सम्बन्धेन भूत-रहित-
पातिका कृतिः (कर्मवासना) विमोचनसाधिका ईशानुक्त्या, पोषणफलमूला
मुक्तिश्चेति त्रीणि लक्षणान्युक्तानीति दशैतानि जीवेश्वरसम्बन्धेनैव पर्यवस्यन्ति ।

तान्येनानि प्राधान्येन भगवन्तमोक्षरम् तदाराधनाधिकारिणं बीव त्व प्रकृत्य
तन्निरूपणप्रवृत्तस्य भीमागवत्तस्यैव लक्षणानि भवितुमर्हन्ति, न तु पुराणसामान्य-
लक्षणानि । तत एव भागवत एवैतानि निरूपितानि, न पुराणान्तरेषु । यत्तु द्वादशे
स्कन्धे अष्टादश्याना महता पुराणानामिमानि लक्षणानीत्युक्तम्, तत्प्रसङ्गेन कथञ्चित्
सर्वत्रैव तन्निरूपणमभिप्रेत्य, पञ्चानामेव विवृतिरूपानि दर्शयामिप्रेत्य वेति सम्यगव
धार्यम् । ब्रह्मवैवर्तेऽप्येकत्र पञ्चलक्षणान्युक्तत्वा परत्र स्वस्य भागवतानुवातिरिव
मिव्यङ्क्तुं दशलक्षणान्यपि तदनुवारीभ्युपात्तानि इति कृत विस्तरेण । एवं
देवीभागवतेऽपि पुराणान्तरकृत् पुराणाना पञ्चलक्षणान्युक्तत्वा सर्गप्रतिसर्गयो
किञ्चिद्वैश्वर्येण विवर्ण कृतम्—

तस्यास्तु सारिङ्गी शङ्को राज्ञी तामरी तथा ।
महालक्ष्मी सरस्वती महाकालीति ता त्रिय ॥ २० ॥
तासा तिसृणा शङ्कीनां देहाङ्गीकास्त्रय ।
सुधर्म्यं च समाख्यातं सर्गं द्याक्विद्यारदै ॥ २१ ॥
हरिद्रुहिणवद्राणा समुत्तिस्तत स्मृता ।
पाश्रोत्पत्तिनाद्यार्ये प्रतिसर्गं स्मृतो हि स ॥ २२ ॥
सोमस्योद्भवाना च राजा अधप्रकीर्तनम् ।
हिरण्यकशिपादीना वधास्ते परिकीर्तिताः ॥ २३ ॥
स्वायम्भुवमुत्त्वाना च मृताना परिवर्गनम् ।
कालसंख्या तथा तेषा तत्तन्मन्वन्तराणि च ॥ २४ ॥
तेषा वंशानुक्रमेण वंशानुवर्तिन स्मृतम् ।
पञ्चलक्षणयुक्तानि भवन्ति मुनिवत्तमाः ॥ २५ ॥

(१ स्कन्ध १।१८)

अय प्रधानरूपा शिवरूपैव या चिच्छक्ति, तस्या. वंशाना महालक्ष्म्या-
दीनामाविर्भाव सर्गपदेन, ताभि शक्तिभि शक्तिमता ब्रह्मविष्णुवद्राणामाविर्भावं
च प्रतिस्वर्गपदेनोक्तम् । तदपि तस्य प्रातिस्विक्येव लक्षा निदेयम् । सर्वेषु
पुराणेषु तस्या. प्रक्रियाया अनुसन्धानादिति । तथैव—

ब्रह्मविष्णवर्कद्राणा माहात्म्यं भुवनस्य च ।
सहारश्च प्रहृदयेन पुराण पञ्चलक्षणम् ॥

(इति स्कन्दपुराणे प्रभासत्राडे १।१४।१५ । मात्स्ये च ५३।६४, ६५)
यदन्यथाविवरण दृश्यते तदप्येकदेशिभूतम् । एषामनरि पञ्चाना पूर्वोक्तेषु
पञ्चसु समावेश इति बोधनपरं वा । पूर्वं सर्गोदीनि पञ्चलक्षणान्युक्तत्वावन्तरमेव
कथनादिति ।

तदित्य पुराणसामान्यलक्षणानि सर्गादीनि पञ्चेति स्पष्टीकृतम् । तत्रापि च सर्ग एव मुख्य , अन्यानि ॥ तत्स्वरूपप्रतिपादकानि तच्छेषभूतानि मन्तव्यानि । तत एव बृहदारण्यकोपनिषद्भाष्ये पुराणशब्द व्याचक्षणे श्रीशङ्करभगवत्पादे 'पुराणमवस्था इदमग्न आसीदित्यादि (२ अ०, ४ ब्रा०, १० व०), इति सर्ग एव पुराणानां मुख्य लक्षणमुक्तम्, वदमाभ्यकृद्भिः श्रीमाधवाचार्यप्रभृतिभिः श्रोतोद्घाते तदेवानुसृतम् ।

पञ्चसु लक्षणेषु प्रत्येक पञ्च विधाः

अथ गुरुप्रवरविद्यावाचस्पतिभौममुसुद्धनस्त्रामहाभागचरणैस्तु पुराणोत्पत्तिप्रसङ्ग नामके निबन्धे पुराणलक्षणे पञ्चसु प्रत्येक पञ्चविधत्वमाख्यातम् । तथा हि—

सृष्टिक्रमो मित्रप्रताम्यवतारोप्यथायति ।

प्रज्ञाण्डमिति सृष्ट्यपरे पुराण पञ्चलक्षणम् ।

१-सृष्टिप्रथमा षट्पर्वी, २-सृष्टिमध्यमा चतुर्विधा, ३-सृष्टिस्तथा षड्विधा,
४-सपरायसृष्टि, ५-सृष्टीनामायतनमिति पञ्चविधा सृष्टिः ।

शास्त्रावतरण कल्पशुद्धि सृष्ट्युपसृष्टि ।

ज्योतिष्यक भुव कोश पञ्चैता प्रतिसृष्टय ॥

अत्र अनुसृष्टिः प्रण्य (सृष्ट्युपसृष्टि) इति द्वयमपि प्रतिसृष्टिपदेन गृहीतम् । अनुसृष्टिश्चैतन्नारश्चतुर्धा कृत । तत्राख्यानोपाख्यानगाथाकल्पशुद्धिरपि च तस्मिन्नेव लक्षणे सगृहीतानि । तच्चैतदग्रे तैरेव विवृतम्—

त्रैलोक्यविश्वविद्या ज्योतिष्यक च भुवनकोशश्च ।

प्रासङ्गिक च वशावर्ती पुराण तु पञ्चविधम् ॥

आख्यानोपाख्याने गाथा अथ कल्पशुद्धिश्च ।

प्रासङ्गिक चतुर्धा प्रश्नसमाधिप्रसङ्गतोऽधीतम् ॥

भौत स्मार्त समयभ्राचारो धर्ममेवास्ते ।

नानोपाख्यानमेवा दशानमेवाश्च कल्पशुद्धिरिह ॥

तदेव ज्योतिष्यकम्, भुवनकोश, शास्त्रानुव्यूह (शास्त्रभेदविवरणम्), कल्पशुद्धि, सृष्ट्युपसृष्टिरप्येति पञ्चपर्वी प्रतिसृष्टिः, तत्र कल्पशुद्धिर्देवमन्त्रान् विस्तार ।

अथ, वशावशानुचरिते अपि पञ्चविधे उक्ते—

ऋषिवश पितृवश सूर्यचन्द्राग्निवशका ।

इत्य वशाविभागोऽपि पुराण पञ्चलक्षणम् ॥

ऋषीणां देवयोनीनां राज्ञां सूर्यादि-विधिनाम् ।

देवासुराणामप्येषा चेदानुचरित स्तुतम् ॥

ऋषिचरितम्, देवयोनिचरितम्, सूर्यवंशचरितम्, चन्द्रवंशचरितम्, अग्नि-
वंशचरितम्, इति पञ्चधा वंशानुचरितम् । देवचरितम् असुरचरितं च देवयो-
निचरित एव समावेश्यमिति तद्भावः । एवम्—

युगं दिव्ययुगं नित्यकल्पः कल्पाश्च सप्त ये ।

त्रिंशत्कल्याश्च कल्पन्ते मन्वन्तरनिरूपणे ॥

इति पुराणेषु लभ्यमानाः कल्पमेदा मन्वन्तरप्रकरणे संगृहीताः । तदित्थं
पुराणोक्ता विषयाः पञ्चसु लक्षणेभ्येव संगृहीताः, विस्तारश्च पुराणविद्याया इह
प्रदर्शितः ।

पुराणेष्वरिक्ताश्चत्वारो विषयाः

अथ लोकोपयोगितया चत्वारो विषयाः पुराणेषु प्रासङ्गिकतया विशिष्य
संगृहीता इत्यपि पुराणेष्वेव प्रतिपाद्यते—

आख्यानैश्चाप्युपाख्यानैर्गायामिः कल्पशुद्धिमिः ।

पुराणसंहिता चक्रे पुराणार्थविधारदः ॥ इति ॥

(विष्णुपु० १।६।१५, ब्रह्माण्डपु०, पू० भा० १४।२१)

एतच्च विवृतं विष्णुपुराणस्य भीष्मरीत्याया दौकायाम्—

स्वयं दृष्टार्थकं प्रादुराख्यानकं बुधाः ।

भुतस्यार्थस्य कथनमुपाख्यानं प्रवक्षते ॥ इति ॥

वंशानुक्रमेण यानि चरितान्याख्यायन्ते तानि वंशानुचरितामिषे पश्यन्ते, यानि
तु तत्र तत्रोपदेशार्थं वंशक्रममनपेक्ष्यैव दृष्टान्तरूपेण पूर्वचरितानि संगृह्यन्ते तानि
आख्यानोपाख्यानशब्दाभ्यामत्र संगृहीतानि, यथा महामारते नलोपाख्यानम्,
सावित्र्युपाख्यानम्, मार्कण्डेये मदालसोपाख्यानम्,—इत्यादीनि बहूनि तत्र तत्र
द्रष्टव्यानि । तत्रापि वक्त्रा यत्तस्य दृष्टम् तदाख्यानशब्देन, यस्तु परम्परया भुतम्
तदुपाख्यानशब्देन ग्राह्यमित्युक्तं श्लोके । केचित् वेदोक्तानामाख्यायिकानामनुवाद
रूपाणि आख्यानानि, स्वसकलितानि नलादीनां राज्ञां चरितानि तु उपाख्यानानि
इत्याहुः । अथापरे एवमाहुः—वंशो वंशानुचरितं चेति द्वयं पुराणलक्षणं सर्ववस्तु-
वृत्तापेक्षया वैशानिकमेव बोद्धव्यम् । मनुष्यविशेषाणां राज्ञां चरितानि तु आख्या-
नान्येव, प्रवृत्तात् संगृहीतानि उपाख्यानानीति । गायान्स्त्वमा अतिप्राक्तन्यः ।
वेदस्य ब्राह्मणभागेऽपि बहुधा समुपलभ्यन्ते गायानः, प्रथमप्रकरणोक्तानि पुराणप्रति-
पादिकासु भूतिषु च गायानां अपि पृथगुक्ता एव । येन केनचित्महामहिमभाजा

अद्ययुगजातेन युगान्तरजातेन वा स्वानुभवो यादृशो शब्दैरुपनिष्कृते, वा एक
भवन्ति गीताः । यथा पारस्करपञ्चसूत्रे विज्ञाद्वयकरणे वरो वदति—

चरस्वति प्रदेमव तुमगे वाविनीति ।
मा त्वा विधस्य भूतस्य प्रज्यायामस्यात् ॥
यस्यां भूत सनमनन् यस्यां विधमिदं क्षत् ।
तामद्य गाथा गास्यामि या स्त्रीणामुत्तम यद्य ॥

यथा वा महाभारते पुत्रस्य यौवनं दृष्ट्वाप्यतृप्तेन ययातिना स्वानुभवः
प्रदर्शितः—

न चातु कामं जमानानुपमोगेन शान्यति ।
इदिव धा कृष्णवर्णेन मूय एवामिषवर्धते ॥ इति ॥

उपदेशार्थमत्युपयोग्य इमा गीताः—इति पुराणेषु स्थाने स्थाने सम-
स्तासाम् । एतासां चण्ड पृथक् सकलनम् प्रकाशनं चात्युपयोगि भवेज्ज्ञेयानाम् ।

कल्पगुद्धिं कृत्वा ना परिगणनादीनीति केचित् । यद्य तु भूमौ यत् वा
कल्पगुद्धिर्मुक्त्यर्थे भवति एवान्तर्भूता, इह तु कल्पगुद्धिर्मन्त्राक्षप्रकरणम्,
तदपि पुराणेषु बहुतरं दृष्टव्यम् । तत्र कल्पो नाम वेदाङ्गेषु परिगणित
कर्मकण्डप्रतिपादक भौतप्राप्तसामयाचारिरूपं समुच्चय, तदुक्ता अष्टचत्वारिंशत्
संस्काराः, शिष्टपरिदृष्टा सदाचाराश्चान्तरा कल्पशब्देन प्रकृते । तदुक्तं स्मृतिहृदा
गौतमेन—गर्भाधानं पुंसवनं सीमन्तोन्नयनं जातकर्म नामकरणं प्राशनं चौणोपनयने
चरगारि वदन्नानि स्नानं सहस्रमर्चानिशीतयोगं पञ्चानां यशानामनुष्ठानम्, एतेषां
चण्डिकावष्टकां पार्षणभाद्राभाद्रपदग्रहामणी चैत्राश्वयुज्येति सप्त पाक्यशस्य, अ-
न्याधेयमग्निहोत्रं दशपूर्णमासी चातुर्मास्यमाश्रायणं निरुदनगुण्यं शौचमग्नेति
सप्त हविष्यशस्य, अग्निष्टोमाऽऽपविष्टोऽन उक्त्य शोच्यं वाजपेयोऽतिरात्रोऽसौ
यमि इति सप्त ओम्यशस्य इत्येते चत्वारिंशत् संस्काराः, अध्याष्टावतानुगा-
दया सर्वभूतेषु, क्षान्तिरनवया शौचमनायाको मङ्गलमकार्षणमरुदेति । एते
भौता स्मृतौ तन्मयधर्मरूपाश्च सर्वे च स्मृता पुराणेषु प्रयोगेन तत्र तत्र
प्रतिपाद्यन्ते एतदुपयुक्ताश्च शिष्टपरिदृष्टा सदाचाराः ।

संस्कारो नाम त्रिविधः स्मर्यते शास्त्रेषु—दोषमार्जनम् अतिशयाधानम्
हीनाङ्गपूर्तिश्चेति । त्रिविधा खलु दृश्यते पदार्थो जगत्—प्रकृता संस्कृता इति ।
ये प्रकृत्योत्पत्तिस्तस्मिन्नेव रूपे स्थिता शिल्पोच्यन्ते नदी महीरुहादयस्ते प्राकृताः ।
ये तु मनुष्यैः संस्कृत्य स्वपरोगाय भूता, ते भवन्ति संस्कृताः । प्राकृता
पदार्था रत्नरूपे स्थिता संस्काराननवाप्य प्राप्य मनुष्योच्यन्ति नैव भवन्ति,

अल्पमेव बोपयोगं साधयन्ति । तस्यान्मनुष्यास्तान् संस्तुत्य स्वयमुपयुङ्क्ते । ययान्नं दत्तं वा यथा प्रकृतिकत्वादयति, न तत्तयामनुपयोगि भवति । प्रकृत्योत्पादितं शास्त्रिगोधूमादिकं त्वोपयोगाय कथं संस्कुर्महे । तत्र प्रथमं तत्सहचरमस्मदनुपयोगि तृणतृणपक्वरादिकमपनयामः, धूलीबहुले क्षेत्रे समुत्पन्नस्य निवर्गसहचरी धूली च दूरीकुर्मः तदेतदोषमार्जनम् । अथ स्वन्डीकृतं पेषण्या निषिद्धं बहिना परिपक्वं कुर्मस्तदेतदतिशयाधानम् । कन्युत्पादनाय लवणशकादिभिश्च संयोजयामः सेयं होनाङ्गपूर्तिः । तथैव यथाविधं वर्षं परिदध्यस्तथा प्रकृत्या नोत्पादितमिति जानन्ति सर्वेऽपि । प्रकृत्या कृषोऽपि उत्पादितः दोषमार्जनेन संस्कारेण तदन्तःस्थानि बीजानि विशोष्य धूलीकृणाश्च दूरीकृत्य अतिशयाधानात्मकेन च संस्कारेण तूलं तन्मुखपत्नी वयनेन वसनरूपतां सेवनेन परिधानीयरूपता च प्राप्य होनाङ्गपूर्तये पिपायकवर्तना (बटन) दिभिः संयोज्य तत्सोपयोगी मनुष्यसमाजेन क्रियते । एवमेव लोह-रित्तल-मुक्तादिषु घातुषु ग्रहनिर्माणादिष्वपि च संस्कारत्रयमनुसन्धेयम् । अडवस्तुषु संस्कारानेतान् सर्वेऽपि मानवाः परिनिबन्धन्ति, तत्र कौशलमुपदेशयन्तश्च महद्यशो घनराशिं चार्जयन्ति । परं चेतनानां मानवानामप्येते भवन्ति संस्काराः, तेऽपि चैतैः संस्कारैः कमप्युत्कर्षं गगदुपयोगितां चावहन्तीति विशिष्य भारतीयैर्महर्षिभिरेव विशातम् । तैरेव महर्षिभिर्मनुष्याणां त्रिविधाः संस्कारा आविष्कृताः । ॥ एवेमेऽष्टचत्वारिंशसंस्कारा धर्मशास्त्रेषु विवृताः पुराणेष्वपि विस्तरं एषां बहुतरं प्राप्यते ।

शुद्धिपदेन गृहीतं धर्मशास्त्रस्य द्वितीयं शुद्धिप्रकरणम् । सा च शुद्धिः षोढा व्याख्यायते । मलशुद्धिः, स्पर्शशुद्धिः, अणुशुद्धिः, एनःशुद्धिः, मनःशुद्धिश्चेति । आत्मनः प्रतिकूलं यदागन्तुकमावतति तदोपशब्देन अशुद्धिशब्देन च व्यवहियते । तदपनय एव च दोषमार्जनशब्देन शुद्धिशब्देन व्याख्यायते । तत्र स्वरूपसंज्ञाः स्वरूपे संवर्गमाप्नुम्यक्रान्ताः ये दोषाः तेषामपनयो दोषमार्जनसंस्काररूपेण प्राप्न्यास्यताः । ये तु भाग्यन्तुका दोषाः स्वरूपे अश्रविष्टा अपि संवर्गमात्रेण परस्परया वा स्वरूपं दूषयितुमुपक्रामन्ति, अनपनीतानां कालक्रमेण स्वरूपेऽनुप्रवेशश्च तेषां संभाव्यते तदपनयोऽयं शुद्धिप्रकरणेऽधिक्रियते । यद्यपि साध्य-वेदान्तयोर्पादशमात्मस्वरूपं विवृतं, तत्र न कापि दोषसंस्पर्शसंभावना, तथापि व्यावहारिक आत्मा कर्त्ता भोक्ता चात्रात्मन्येन विवर्जितो द्रष्टव्यः । सोऽयं व्यावहारिक आत्मा सत्त्वप्रधान इति सत्त्वगुणविरोधिस्तत्र उद्वेचयन्तो भावा अशुद्धिपदेन सर्वत्र निर्दिश्यन्ते । ते च येन येन मार्गेणात्मना संवर्गशतमानं दूषयितुं सन्नहन्ति, तेन तेन मार्गेण तेषामपनयः स्मृतिषु व्याख्यातः पुराणेषु च स्पष्टीतः ।

त एते सर्वेऽपि संस्काराः शुद्धयश्च धर्मशास्त्रविषया अपि पुराणेषु सविस्तरं स्पष्टीताः । अत्रैव शुद्धौ कथंचित्संस्कारेष्वपि वा तीर्थानि व्रतान्यपि चान्तर्भवन्ति,

येषां भ्रुतिस्मृत्यादिषु सङ्क्षेपेण सकेतमात्रं पुराणेषु च तद्विस्तरः । व्रतोपवासादिकं
 भन्तर्मूलशोधकं सत्त्वविरोधोत्कर्षकं चेति शुद्ध्यर्थं संस्कारार्थं चाप्युपादीयते । एषां
 व्रतोपवासादीनामपि मूलमात्रं भ्रुतिस्मृत्योरित्युपदर्शितं प्राक् । विस्तरस्त्येषां पुराणेष्वेव
 दृश्यते । एवमुपासनादिष्वपि पुराणेष्वतिविस्तृतः । पूजाविधिप्रकाशदिकं तदीयं
 विज्ञानमपि च तत्र तत्र विवृतम् । त इमे विषया नृत्पशुदावेवान्तर्भाव्याः ।



शब्दशास्त्र-खण्डः

[मुनित्रयस्यान्येषां च पुरातनानां शब्दशास्त्रनिर्मातृणामैतिहासिकी
समालोचनाऽत्र खण्डे सविस्तरं द्रष्टव्या-संपादकः]

पुरातनानि व्याकरणानि वैयाकरणाश्च

सुप्रथितमिदम्, यद् व्यवहारातीता माषा व्याकरणसाहाय्यमन्तरण न शक्या
प्रतिपत्तुमिति ।

शक्तिग्रह व्याकरणोपमानकोशातवाक्याद् व्यवहारतश्च ।

वाक्यस्य शेषाद्भूतेर्दन्ति सान्निध्यत सिद्धपदस्य वृद्धा ॥

इत्यभियुक्तोक्तेषु शक्तिग्राहकेषु व्यवहारस्तावच्छक्तिग्राहकशिरोभगिरिति सर्वेषा
मैकमस्येनाभ्युपगम । कमपि शब्दमज्ञानान शिशुर्नान्यैरुपायै शक्यो बोधयितुम्
श्रुते व्यवहारात् । तत्तच्छब्दस्तेषु तेषु पदार्थेषु प्रवृत्तिनिवृत्ती बयोवृद्धानामनवरत
पश्यन् ॥ भाषाया व्युत्पद्यत इति सतत प्रत्यक्षीकुर्म । अथ एव येषा बालानामग्रे
मातापित्रादय सर्वेऽपि बयोवृद्धा सस्कृतेनैव व्यवहरन्ति, ते विनाप्यध्ययन
संस्कृत एव व्युत्पन्ना संस्कृतमेव भाषभाषा अवलोक्यते, येषा तु समक्ष सर्वेऽप्या
ज्ञानभाषामेव सततमुच्चारयन्ति, ते विनाप्यध्ययनम् आङ्गल्भाषा ब्रुवन्ते चोच्चा
रयन्ति च सामवेति सुप्रत्यक्षम् । स एव व्यवहार संस्कृतभाषया एवविधोऽद्यत्वे
न दृश्यते, कैश्चिदेवातिविरलैर्वाभ्युत्पद्यमानैर्वावलम्ब्यत इति तादृशमपवाद विहाय
संस्कृतभाषा शिक्षणेनैवाधिगन्तव्या कालेऽस्मिन् । व्यवहारातिरिक्ता अन्ये उप
मानातवाक्य-वाक्यशेषविवृत्तिरिद्धपदसाम्निध्याख्या शक्तिग्रहोपाया कश्चित्पद
विशेष एवोपयुक्ता इति भाषाशाने न पूर्ण साहाय्यमावहन्ति । ततश्च व्यवहार
पदान् प्रयुक्ताया माषाया परिशानाय कोशो व्याकरणञ्चेति द्वावेव मुख्योपायो ।
सत्रापि कोशो नाम्ना शक्तिग्रहमात्र उपयुज्यते, माषाया स्वरूपसंघटन तु व्याकरण
एव सर्वोत्तमा भाषतत इति निश्चप्रचम् ।

व्याकरणानि च यद्यप्यनेकानि स्मर्यते—

ऐन्द्रश्चन्द्र काशकृत्तनापिष्ठाणी शाकटायन ।

पाणिन्यमरजेनेद्रा जयन्तयष्टादिशाब्दिका ॥

इत्यभियुक्तोक्तिमनुसृत्याष्टौ व्याकरणान्येभि प्रणीतानीति बहवो विश्वसन्ति ।
अन्तिममिदमिदमपि पठ्यते—

ऐन्द्र चा द्र काशकृत्तन कौमार शाकटायनम् ।

सारस्वत चापिशल शाकल पाणिनीयकम् ॥

तद्रीत्या अग्न्यापि व्याकरणानि कौमारसारस्वतशाकलानि सिद्धयन्ति ।

परमिदानीं समुपलभ्यमानेषु व्याकरणेषु पाणिनीयमेव व्याकरण सर्वतः प्राचीनमिति बहुभिरभ्युपगतो युक्तिसिद्धोऽर्थः ।

भीषावननशामभमिप्रभृतीनां विचारदक्षाणां तु मतमिदम्—यथापि नितः प्राचीनमेव विधेयं सर्वतोमुखं व्याकरणं नास्तीदेवेति । ‘इन्द्रश्चन्द्र’ इत्यादिपद्ये हि अष्टावादिशाब्दिका इत्येवोक्तम्—न त्वेते व्याकरणकर्तार इति । शाब्दिकाश्च तु शब्दशास्त्रप्रौढतम्, शब्दशास्त्रपारङ्गतत्वम्, शब्दशास्त्रप्रचारकत्वमित्यादिभिर्नके प्रकारे शक्यं व्यवहर्तुम् । शब्दशास्त्रपदेन च न केवलं व्याकरणमेव, अपि तु कोश-मीमांसादिकमपि शक्यते ग्रहीतुम् । ‘पदवाक्यप्रमाणपारावारोग’ इति महासु चिरात्प्रयुज्यमाने विशेषणे ‘पद’ शब्देन व्याकरणम्, ‘वाक्य’ शब्देन मीमांसा, ‘प्रमाण’ शब्देन च न्याय व्यपदिशन्ति शिष्टाः । शब्दपदेन च पदवाक्य बोध्यमपि शक्यते समग्रोक्तमिति वाक्यार्थनिर्णायिका मीमांसापि शब्दशास्त्रम् । ये चैतेऽष्टौ शाब्दिका परिगणिता, तेषु विभिन्नप्रकारकमेव शाब्दिकत्वं प्रमाणन्तरैः प्रसिद्धयति । तथा हि—इन्द्रोऽत्र प्रथमं शाब्दिकं पठितं, तद्विषये दृश्यते पश्यशाब्दिके महाभाष्ये एवैकमात्राणकम्—‘एव हि भूयते—बृहस्पतिरिन्द्राय दिव्यं वर्षसहस्रं प्रतिपदोक्तानां शब्दानां शब्दपारायणं प्रोवाच, नान्तं जगाम । किं पुनरयत्ने—य सर्वथा चिरं जीवति, स वर्षं शतं जीवति’ इत्यादि । तेन इन्द्रस्य बृहस्पतिसंकाशे प्रतिपदोक्तानां शब्दानां पारायणरूपेणाध्ययनं प्रसिद्धयति । यथा चापीतम्—तथैव तेन व्याकरणं निर्मितं स्यादिति शब्दकोशरूपव्याकरणं निर्मातृत्वमेव तत्र सिद्धयतीति भीषामभमी निरुक्तालोकने प्राह स्म । वस्तुतस्तु इन्द्रोऽयमनेकविधः । भूतिषु हि अनेकविधा देवाश्च देवविशेषा इन्द्राद्याश्च भूयन्ते—सन्ति अपि प्रह्लां प्राणविशेषा जगन्निर्मातारो देवा इन्द्राद्याः, सन्ति च तारा मण्डलेऽपि इन्द्रादिपदमात्रो नक्षत्रविशेषा देवा, यथा चित्रानध्रस्याधिपतिस्तद्योगतारारूप इन्द्रः, रेवतीनध्रस्याधिपतिः पूषा, पुष्यस्याधिपतिस्तद्योगतारारूपो बृहस्पतिरित्यादि । अयं ध्रुलोकवासिनः शरीरधारिणोऽपि सन्ति देवा, ये “अष्टविकल्पो दैवस्तैर्योगेनश्च पञ्चधा भवति । मानुषश्चेकविधः” इति चतुर्दशविधे सर्वे साध्यकारिकायां सत्त्वबुद्धिगणौ परिगणिताः—‘ब्रह्मा, प्रजापतिः, इन्द्र’ इत्याद्याः । पुनश्च देवलोकतया कल्पते हिमालयादुत्तरप्रदेशे मूभागेऽप्यासन् तद्मूभागाधिष्ठातारो देवा इन्द्राद्याः, यत्संकाशं गत्वाऽर्जुनस्य विद्याप्रहणं पुराणेषु आख्यायते, दशरथदुष्यन्तादीनां च युद्धे तत्साहाय्यार्थं गमनमनुवर्ण्यते । तत्रास्य मनुष्यविधस्य भूलण्डवासिनः इन्द्रस्य बृहस्पतिसंकाशेऽध्ययनं महामाष्ये भवेति वदम् । प्राणविधस्यापि तु अशरीरिण इन्द्रस्य व्याकरणकर्तृत्वं भूतिष्वाम्नायते—

‘वाग्वै परान्यव्याहृता अवदत्, ते देवा इन्द्रमब्रुवन्, इमां नो वाचं व्याबुध इति । सोऽब्रवीद्—वरं वृणै, मह्यं चैवैव वायमे च सहं पृथ्वाताविति । तस्मादेन्द्र

वाचः सह दृश्यते । तामिन्द्रो मध्यतोऽवक्रम्य व्याकरोत् । तस्मादिदं व्याहृता वागुच्यते' इति । (तैत्तिरीये पष्ठकाण्डे)

अस्यायमाशयः—यथा पञ्चादीनां वागसंस्कृता अव्याहृता—अविभक्ता भवति, न हि तत्र पदवाक्यादिविभागः कथमप्युच्यते, तथैव प्रकृत्या मनुष्यागामि वाक् पदवाक्यादिविभागविरहितैवेत्युच्यते । इन्द्रस्तु ज्ञानस्याधिष्ठाता प्राणरूपो देवः, सो वाचं मध्यत आक्रम्य व्याकरोति—पदवाक्यादिरूपेण प्रविभक्तां करोति । वाचि योऽयं पदवाक्यादिविभागः, स खलु ज्ञानकृतः । पञ्चादीनां तादृशज्ञानाभावात् न जायते इति । तेन मनुष्याणां वाक् पञ्चाद्यपेक्षया संस्कृता परिष्कृतेति सुस्पष्टमेव । तत् श्लोके हरिणा—

वायोरग्नौ ज्ञानस्य शब्दस्वापत्तिरिष्यते ।

कैश्चिदर्शनभेदो हि प्रवादेश्वनवस्थितः ॥

(वाचस्पदीये मत्स्यकाण्डे १०८)

इह ज्ञानस्य शब्दरूपेण या परिगतिरुक्ता, सैवेन्द्रकृता वाक्संस्काररूपा विधेया । तत् एव च मनुष्याणां वाग्व्यवहारे परा, पश्यन्ती, मध्यमा, वैवरीति भेदचतुष्टयं निरूपयन्ति शास्त्राणि । इह परा वाक् तु परशक्तिरूपा वाङ्मनसातोता केवलं योगिभिर्निर्विकल्पकमाधौ शक्या विज्ञातुम् । तज्ज्ञानायां पश्यन्त्यामपि न शब्दार्थयोः प्रविभाग इति सापि सम्मुखज्ञानरूपा न साक्षात्प्राप्येतस्या भवत्यवगृह्यताम् । तदनु मध्यमायां तु शब्दार्थप्रविभागो भवति, किन्तु केवलं मानसः । सापि परेण पुरुषेण न मतिस्तु शनया । चतुर्थी वैवरी ॥ शब्दरूपतया सर्वैरिहायते । तदेवोक्तं भूत्या—

‘चक्षारि वाक् परिमिता पदानि तानि विदुर्ब्राह्मणा ये मनीषिणः ।

गृहा त्रीणि निदिता नेह्यन्ति तुरीयं वाचो मनुष्या वदन्ति ॥’ इति ।

निगमरूपोऽयं मन्त्रोऽनेकधा मुनिभिराचार्यैश्च व्याख्यायते, नामाख्यातोपसर्गनिपातेति भेदचतुष्टयमुपक्रम्य महामाष्ये व्याख्यातः, पशुषु वाच एको भागः, पशुषु एकः, सरीसृपेभ्येकः, तुरीयस्तु मनुष्येभ्यश्चपि क्वचिद् व्याख्यायते, परं परापश्यन्तीत्यादिभेदचतुष्टयानुवादेन तु समनुगतार्थमिदं सुस्पष्टतया भवति ‘तुरीयं वाचो मनुष्या वदन्ति’ इति । तथा च सम्मुखज्ञानरूपया पश्यन्त्या, स्फुरज्ञानरूपया च मध्यमया वैवरी वागियमयावबोधयन्ता भवतीति न कोऽप्यत्र विवादावसरः । ज्ञानस्य च मूलमिन्द्रप्राण इति एतेनैव वैज्ञानिकेन रहस्येन इन्द्रः प्रथमो व्याकरणकर्तोऽभिधीयते । तदेतदन्त्याद्येव व्याकरणकर्तृत्वमिन्द्रस्य सिद्धयति, न तु मन्थनिर्मातृत्वमिति पाणिनेः पूर्वमेवविधिव्याकरणकर्त्ता न सूरपदं सिद्धयति ।

ग्रन्थरूपमपि व्याकरणं केनचिदिन्द्रनामकेन विदुषा विरचित भवेदिति सन्देह
दोलाधिरुदमेव ।

चान्द्र तु व्याकरण किञ्चिदासीदिति स्वीनियत ऐतिहासिकैः । तदुक्तं राज-
तरङ्गिण्याम्—

चन्द्राचार्यादिभिर्लिख्य देव तस्मात्तदागमम् ।

प्रवर्तितं महाभाष्यं एव च व्याकरण कृतम् ॥

(राजतरङ्गिणी १-१७२)

चान्द्रदौर्गादिनाम्ना ये ख्याता वैयाकरणेषु प्राक्तना महान्तो विद्वांसः, तैरेव
चन्द्राचार्यवदाभिधेयैर्महामाष्यस्य टीर्ण पुस्तक दाक्षिणात्येषु कश्चिदुप-स्य काश्मीर-
देशे अभिमन्युराप्यकाले नोतम्, तैरेव महाभाष्यस्य विलुप्तप्रायस्य प्रचारः कृतः,
स्वीय चाभिनव व्याकरण विरच्य प्रचारितमिति पद्येनोक्तेन सिद्धयति । तेन
काश्मीरमण्डले प्रचरितमपि व्याकरणमिदं भगवत् पाणिनेर्वर्द्धनीचीनमिति न कोऽपि
तत्र सशयीत । पाणिनिसूत्रभाष्यकृत पतञ्जनेरपि बहुतरपरम्परावाच्यम् । ततश्च
चान्द्र व्याकरण किमपि पाणिने पूर्वमपि भवेदिति नात्र प्रमाण किमपि समुप-
तिष्ठते । एव काशकृत्स्ने काशकृत्स्नस्य वा व्याकरणकर्तृत्वे न किमपि प्रमाणमुप-
लभ्यते, मीमांसकस्य तु तस्य 'काशकृत्स्निना प्रोक्ता मीमांसा काशकृत्स्नी'
(४ अ. १ पा १ आ १४ सूत्रे) इति भाष्योदाहरणादेव सुप्रतिपन्नम् ।
मीमांसकानामपि शाब्दिकस्य प्रथम एवेत्युक्तं प्राक् । आपिशलेस्तु पाणिनिसूत्रेषु
दृश्यते नामोल्लेख, 'वा सुप्रपिशले' (६।१।१२) इति, तस्माद्वैयाकरणेषु
तन्मदमादृतनासीदिति शक्यतेऽप्युपगन्तुम्—तत एव अहं सु आदिशाब्दिकेषु
तद्गगनापि सुयोजैव, पर व्याकरण किमपि विशिष्टं तेन निर्मितमिति सन्देहा-
स्पदम्—तथाविधेऽंशे प्रमाणानुपलब्धे । न हि पाणिनिसूत्रेषु देवा नामोल्लेख,
ते सर्वेऽपि व्याकरणनिर्मातार इत्यप्युपगमो व्याप्य । 'ते एव एव भाष्यन्त'
'प्रयोगान्शेषे तेषामेवविधमिदं' इत्येव बोधनेनापि नामोल्लेखस्योपपत्तत्वात् ।
शाकल्य, काश्यप, श्रोतयन, चाक्रवर्मण, गालव, भारद्वाज, गार्ग्य च तेनक-
इत्येव पाणिनिसूत्रेषु बहूनि नामानि स्मर्यन्ते, सर्वेऽप्येते व्याकरणप्रणेतार
इति न कापि दृष्टं भूतं वा । कस्यचिदेकत्र कस्यचिद् द्विवारम्—कस्य-
चित्च द्विवारमपि नाम स्मृतम्—तेनापि प्रयोगविशेष एव तत्तेषामभिधानि-
धितेति शक्यमनुमातुम् । व्याकरण तु तत्प्रणीत यदि स्यात्, तर्हि बहुवार
तन्मतप्रदर्शनाय नाम स्मर्येत । शाकल्य, गालव, गार्ग्यश्च बहुधा पाणिनिना
स्मृतम् —

सम्बुद्धौ शाकल्यस्येतावनाप्ये (१।१।१६) इकोऽसवर्णे शाकल्यस्य ह्रस्वश्च
(६।१।१२७) लोपः शाकल्यस्य (८।१।१९) सर्वत्र शाकल्यस्य (८।४।५१)
इति शाकल्य ।

इको ह्रस्वोऽङ्गो गान्धस्य (६।३।६१) तृतीयादिषु भाषितपुंस्क पुंवद्-
गालवस्य (७।१।७४) अङ् गार्ग्यगालवयोः (७।३।९९) नोदात्तस्वरितोदय-
मगार्गकादयपगाल्वानाम् (८।४।३७) इति गालवः ।

ओतो गार्ग्यस्य (८।३।२०) (पूर्वोक्ते) (७।३।९९) (८।४।६७)
इति गार्ग्यः ।

तेषु शाकल्यः शृङ्गसंहितायाः पदनाटकर्तृतया प्रसिद्ध इति प्रातिशाख्यमपि
क्षिप्रितेन निर्मित मनेत्, तत एव प्रातिशाख्येष्वपि 'शाकल्यः' 'शाकल्यपिता'
इत्यपि च स्मर्यते । तेन प्रातिशाख्यप्रणेतेव स संभाष्यते, सन्धिदिषये तस्य
कचित् क्वचिद्विभिन्ना विचारा एव प्रसिद्धाः स्युः, व्याकरणं न तेन निबद्धं
मनेदित्यपि शक्यते कल्पयितुम् । गार्ग्यस्य निबद्धकृता मगवता यास्कैनापि
अनेकधा स्मृतः ।

तत्र "सर्वाणि नामान्याख्यातजानीति शाकटायनो नैवक्तुमशक्यः । न सर्वाणीति
गार्ग्यो वैयाकरणानां चैके" [निबद्धः, १ अ.] इत्युक्तिस्वरस्येन तस्य नैवक्तुं
गणनाऽऽसीत्, न तु वैयाकरणेष्विति प्रतीयते । 'वैयाकरणानां चैके' इत्यतः
पृथग् गार्ग्यनामस्मरणम् । यदि नाम गार्ग्योऽपि वैयाकरणोऽमविश्यत्,
'वैयाकरणानां चैके' इत्यनेनैव तर्हि तस्यापि गृहीतत्वाद् 'गार्ग्यः' इति पृथक्
नाम्यथास्यत । यदि अन्यस्यापि कस्यचिद् वैयाकरणस्य विधिष्यात् नामनिर्देशः
स्यात्, तर्हि गार्ग्यस्यापि पृथक् नामनिर्देशः समञ्जसो भवेत्, 'वैयाकरणानां
चैके' इति सामान्योक्त्या तु ये वैयाकरणा निदान्यपि नामानि स्वीकुर्वन्ति,
ते सर्व एवोपात्ता इति गार्ग्यस्य पृथक् नामग्रहणं न कथमपि सामञ्जस्य-
भावइति—वैयाकरणस्य. पृथक् शाकटायनस्यापि नामात्र गृहीतमिति शाकटा-
यनोऽपि न वैयाकरणत्वेन यास्कस्याभिमत इति सत्यन्तसामभ्रमिमहाशया
मन्वते । मन्मते हि तेषां मतं न सम्यक् प्रतिभासते—पश्चान्तरे शाकटायनस्य
नामग्रहणेन तादृशकल्पनानुदयात् । 'सर्वाणि नामानि धातुजानि न सन्ति, कानि-
चिद्रूपाण्यपि सन्ति' इति मतं केषांचिद्वैयाकरणानां प्रदर्शितम् 'वैयाकरणानां
चैके' इति । शाकटायनस्तु वैयाकरणोऽपि सन् सिद्धान्तेऽस्मिन्नन्येभ्यो वैयाकरणेभ्यो
विप्रतिपत्तः, स हि सर्वाणि नामानि धातुजान्यमुपगच्छतीति तस्य नामोल्लेखः
पश्चान्तरेष्वोपन्यासप्रसङ्ग एव । प्रत्युत यदि शाकटायनो वैयाकरणो नामविश्वत्,
तर्हि पश्चान्तरे 'वैयाकरणानां चैके' इति नाम्यथास्यत । शाकटायनगतिरिक्तानां
वैयाकरणानां धातुज-वतिरुक्तिरुपन्यासस्वीकारे सहमन्त्यात् । शाकटायन एव तत्र
विमतः, सोऽपि च वैयाकरण इति तत एव सर्वेषां वैयाकरणानामेकमस्य नास्तीति
सूचयितुं 'वैयाकरणानां चैके' इत्युक्तम् । अन्यत्र्योऽपि यदि स्वेन सहमतो भवति,
तस्य तर्हि प्राधान्येन नामोद्धिवन्ति पञ्चामिति विष्टा इति सर्वजनीनोऽयं प्रत्ययः ।

पृथग् व्याकरणनिर्मातृत्वं कश्चिद्विचारप्रतीकं परिकल्पयेत् । तदेवमापिशिल्परि-
कृत्यचित्प्रातिशाक्यस्य प्रवृत्ता निर्माता वा सम्भवत्, शब्दप्रयोगविषये परिग-
णनीयं शिष्टो वा भवत्, व्याकरणनिर्मातृत्वं तु तस्य सशयविषयता नातिक्रामति,
हृदतरप्रमाणानुपपत्त्येति ।

शाक्यगणनो यद्यपि सुप्रसिद्धो वैयाकरण एवेति प्रत्यपीपदाम् पूर्वम्, तथापि
तद्वन्ति व्याकरण कीदृशमासीदिति न शक्यते कथमप्यनुमातुम् । प्रमाणानुपपत्त्ये ।
यस्तु रक्षानी जैनसमुदाये शाक्यदायननाम्ना प्रसिद्धमकं व्याकरणं प्रचलति, मुद्रितं
मपि प्राप्यते, तत्तु न कथमपि पाणिनेः प्राक्तनं मन्वितुमर्हतीति तद्वचनापरोक्षेणैव
स्पष्टं सिद्धयति । तादृशं सर्वरूपेण पाणिनीयं व्याकरणमनुकरोति, न केवलं सूत्रकारस्य
पाणिनेः, अपि तु वार्तिककारस्य भाष्यकारस्यापि च सिद्धान्ताननुवदन्ति तदीयानि
सूत्राणि । एतद्विषये मनाग् विवेचयाम ।

प्रचलितशाक्यदायनव्याकरणविचारः ।

पाणिनीये व्याकरण इवायं शाक्यदायनव्याकरणेऽपि 'अइउण्' इत्यादिसूत्राणि
उपजीव्यरचनाभितानि, तदाधारेण प्रत्याहारप्रक्रिया च सूत्रेषु निबद्धा । केवलं
चतुर्दशसूत्राणि त्रयोदशैव प्रापितानि, भेद प्रख्यापयितुं किञ्चिद् व्यत्यासश्च
कृतः, तत्र कारणमनुपदं चिन्तयिष्याम । इमान्यक्षरसमाम्नायरूपाणि चतुर्दश
सूत्राणि पाणिनीये महेश्वरगोपदिष्टानीति सर्ववनीनां निरन्तरी प्रसिद्धिः । नन्दि-
केश्वरकृतकाशिकायां च तथैव विरलं प्रतिपादितम् । भारते प्रसिद्धास्तु अनेक
विधास्तु वर्णमातृकास्तु इयमन्यतमा माहेश्वरी वर्णमातृका पृथगेव परिगण्यते । सोऽयं
माहेश्वरीपदेशः साक्षाद्वा डमरनादद्वारेण वा भवतु, 'तेने ब्रह्म हृदा य आदि-
कनये' इति प्रक्रियया बुद्धौ प्रादुर्भावेन वा भवतु, पाणिनेः पूर्वमयमक्षरसमाम्ना-
यक्रमो नासीदिति, तदाधारेण प्रवृत्ता चेय प्रत्याहारप्रक्रिया पाणिन्युपपत्त्येवेति
च तस्यां प्रसिद्धेर्मूलप्रमाणेनैव । 'न हामूला जनन्ति', इत्यत्र पाणिनेः
पूर्वकालभवेन शाक्यदायनेन कथमेवविधौ वर्णसमाम्नाय उपजीव्यतेनाभीयताम्,
कथं वा प्रत्याहारप्रक्रिया स्वसूत्रेणैव नूयताम् ! अथ यत्परिवर्तने सूत्रेष्वपि दृश्यते—
तस्यापि मूलमन्त्रेणैव नूयताम्—'श्रुलृक्' इति सूत्रे लृकारग्रहणं वार्तिककारेण प्रत्या-
ख्यातम् (महाभाष्यस्य द्वितीयाधिक विचारोऽयं द्रष्टव्यः) तदत्रापि परित्यक्तम् ।
तेन सूत्रकारत्वं पाणिनेः का कथा, वार्तिककाराद् वररुचेरपि परमवत्त्वमस्य शाक्य-
दायनस्य स्पष्टं सिद्धयति । तथैव 'अइउण्' 'लृण्' इत्युभयत्र णकारोपादानमपि
भाष्यकृता चिन्तितम् 'किं पुनर्वर्णोत्पत्तिविधौ णकारो द्विरनुबध्यते' इत्यादिना,
साधिता च तेन 'आरणानतो विशेषप्रतिपत्तिर्नाहि सन्देहादलक्षणम्' इति परि-
भाषा, इह तु सर्वमिमं विवादं परिहर्तुं 'लृण्' सूत्रस्यो णकारं परित्यक्तं, लृकारश्च

पूर्वसूत्र एव 'इयवरलक्ष्' इति निवेदित । तथैव 'अनुस्वारवसर्गाद्यशोगवाहानामपि अकारोपरि शर्धुं च षाठ् कर्त्तव्य' इति भाष्यकृता साधितम्, इहापि 'शयसर' इति सूत्रे सकारात्परतोऽयोगवाहानां षाठो दृश्यते, तेन महाभाष्यकृत पतञ्जलेरपि परमवत्त्वस्य शाकटायनस्य सिद्धयति । पाणिनिर्हि भगवान् स्वपूर्वज शाकटायनमादौ रत्नीयेषु सूत्रेषु स्मरति, यदि तेन शाकटायनस्यैदृशानि प्रत्याहारसूत्राणि दृष्टान्यभविष्यन्, कुतस्तर्हि तत्र सदेहोत्पादकमेव परिवर्तनं व्यधास्यत । तस्मादस्य शाकटायनस्य पाणिनिपूर्वभवनं न कथमपि कल्पयितुं शक्यम् । तथा 'शश्छोऽमि' इति पाणिने सूत्रम्, वार्तिककारेण च तत्र 'तच्छ्रुत्वाकेन' इत्यादि प्रयोगाणां सिद्धये 'अमि' स्थाने 'अमि' इत्युपसर्ज्यातम् । इह तु इदानीं प्रकाशिते शाकटायनव्याकरणे 'शश्छोऽमि' इत्येव सूत्रं दृश्यते । यदि हि पाणिने पूर्वमपि 'तच्छ्रुत्वाकेन' इत्याद्या प्रयोगा प्राचलिष्यन्, तदन्वाख्यानपरं च 'शश्छोऽमि' इति स्पष्टं सूत्रं पाणिनिना अदृश्यत, तर्हि कथं स तान् प्रयोगानुपेक्ष्य 'अमि' इति स्वसूत्रे अदृश्यत् । तस्मात्स्वमिदं सिद्धयति, यत्पाणिनिना अद्वितिरिक्ते षोऽपरे छकारादेशो न दृष्टः, पूर्वमप्रचलितत्वाद्वा अनवधानाद्देशनस्यदेतत्, तत एव तेन अमि पर एव छकारादेशो विहित, वार्तिककारेण तु लकारादावपि षोऽपरे छकारादेश पश्यता तन्मन्युनतापूरणं कृतम् । ततोऽपि परभवेन शाकटायनानेन वार्तिकमतमेव प्रमाणीकृत्य 'शश्छोऽमि' (१।१।१४४) इत्येव सूत्रं पठितम् । तदिदं मेव 'शश्छोऽमि' इति सूत्रमस्य शाकटायनस्य पाणिने कात्यायनाच्च परमवत्त्वं साधयितुं षष्ठ्यद्वास्वरसन्निभं प्रमाणं न केनाप्येतद्वाक्येष्टमन्ताऽलपितुं शक्यम् । तथैव 'प्रौह, प्रौढ, प्रैष, स्वैर' इत्यादिप्रयोगाणां सिद्धये वृद्धिरिधानं पाणिनिस्त्रेषु न दृश्यते, वार्तिककृता 'प्रादूहोदोदयेष्वेभ्यः' 'स्वादीरेतिगो' इत्याद्युपलब्धयातम् । इह तु शाकटायनीये तत्साधनार्थं 'भस्सोदोणयूहैष्वे' (१।१।८४) 'स्वैरस्वैर्यधीहिष्याम्' (१।१।८५) इत्यादौ सूत्राणि दृश्यन्त । यदि भगवता पाणिनिना सूत्राणीमानि दृष्टानि अभविष्यन्, कथं तर्हि स तत्समानार्थकं सूत्रं स्वव्याकरणे न प्राणेष्यत । कियदुदाहराम, वार्तिककृता यत्र यत्रोपलक्षणं कृतम्—तत्सर्वमत्र सूत्रेष्वनुदितं दृश्यते, तच्च सर्वं वार्तिककारात् परमवत्त्वमत्र साधयितुं सुर्यातिम् । किंच 'अचो रहाभ्यां द्व' इति पाणिनिना रेफहकाराभ्यां परस्य यो द्वित्वविहितम्, एव सति 'मद्रहद' इत्यादौ हकारोच्चरवर्त्तिनो रेफस्यापि द्वित्वप्राप्नोतीति तत्र 'नेमौ रहौ कार्विगौ द्विर्वचनस्य' इत्यादि माठरपरिवेशन्यायेन स्वीकृत्य भाष्यकृता तत्र द्विरप्रतिषेधं साधित । इह तु सूत्रं एव स्फुटम् 'अचो हो हच' (१।१।११०) इति रेफहकारयोर्द्वित्वप्रतिषेध उपस्यत इति भाष्यकृतोऽपि परमवत्त्वस्य शाकटायनस्य सुस्पष्टम् ।

प्राचीनं खलु शाकटायनो निरुक्तकृतो यास्कादपि पूर्वभवं, यास्केन

तन्मन्त्रस्य तत्र म्नाऽनेकानूदितत्वात् । एतत्सूत्रञ्चाकटायनस्तु न निश्चयपूर्वमेव
 सिद्धयति । निरुक्तकृता हि 'अरण्यानी' इति पदं निर्ब्रुवता 'अरण्यानी—
 अरण्यस्य पत्नी (निरुक्त १।३ ८) इत्युक्तम् (१।२९) पत्नी-पालयित्री-देवतेति
 तद्वाक्याता दुर्गाचार्य । पाणिनिना भगवता पुषोग एव तस्मानुक्तं ङीप् च
 विदधता तदेवानुसृतम् । वार्तिककृता तत्र 'हिमारण्ययोर्मङ्गत्वे' इति विशेषं ब्रुवता
 'महदरण्यमरण्यानी' इति विप्रश्ने व्यञ्जित । इह च शाकटायन व्याकरणे
 'हिमारण्यं गुरो' (१।३।५७) इति वार्तिकानुसारेण सूत्रं दृश्यते । तेन स्पष्टमिदं
 सिद्धयति, यस्मिन् निरुक्तकाले पाणिनिमान च जङ्गलोपि हिमारण्ययो पत्नीत्व
 मारोप्य तदधिष्ठातृदेवताभिप्रायेण वा 'हिमानी' अरण्यानी'-प्रयोगौ प्राचल्लताम्,
 परस्तु महत्त्वापेक्षतः प्रविद्धो ज्ञान इति मङ्गत्त्वार्थ एव वार्तिककृता अनेन
 शाकटायनेन च प्रयोगाभिमतौ साधितौ । तदित्यमय शाकटायनो न पाणिनेर्भाषे
 वा निरुक्तकारात् प्राक्तनं कथमपि सिद्धयति । ताम्या पूर्वं आसीत् कश्चन
 शाकटायन इति सत्यम्, परं तेन किञ्चिद् व्याकरणं निर्मितं न वेति सम्भवि-
 मेव । तथैव निरुक्तकृता 'सर्वाण्ये नामान्याख्यातशानीति शाकटायन' इति वा
 शाकटायनस्य प्रतिष्ठाऽनूदिता, यच्च 'पदेन पदेनार्दान् सञ्चस्कारं शाकटायन,
 एते कारितं च यकारादि च, अस्ते शुद्धं च सकारादि च' इतिना वा 'सन्ममर्थं
 माययतीति सत्यम्' इति सत्यशब्दधुराति प्रदर्शिता शाकटायनमतेन, न तादृश
 किमप्यशोपलभ्यते । तस्मादपि निरुक्तजन परिचितो नाय शाकटायन इति
 स्फुटोभवति । एवं शौनकेनापि ऋक्पुन्यादिष्वे 'प्रथमं शाकटायन' (५० १
 ६० १६) इति द्वे शाकटायनोऽवसाने वा प्रथममेव व्यञ्जनं ककारादि मन्थते,
 गार्गस्तु अत्रसाने द्वितीयं व्यञ्जनमाहेतुक्तम् । परमं शाकटायन व्याकरणे तु
 'चर्चण' (१।१।६४) इति विकल्पेनेत्यवसाने चर्चं ब्रुवता उभयमप्यनुवातम् ।
 तस्माज्जैनपरिचितो नाय शाकटायन इति सिद्धयति । तथैव कात्यायनप्रातिशा
 क्येऽपि 'परिण इति शाकटायन' (३।८०) इत्यादिना 'सुप्पदादेरस्य न'
 इति पक्षस्य परं यञ्चाकटायनमतेनोक्तम्, तदपि नेह प्राप्यते इति कात्यायन
 स्यापि परिचितोऽयं शाकटायनो न भवति । किमप्यत् प्रातिशाक्ते बहुत्र शाक-
 टायननामं गृहीतमिति वैदिकशब्दसाधनमपि शाकटायनेन पूर्वैव कृतमिति स्फुटं
 भवति । तस्मात् क्वचनैकिकिव्याकराप्रोताऽयं शाकटायन न पूर्वमेव । किञ्च
 छान्दोग्येऽपि स्थाने कसुञ्जनचौ पाणिनिना विहितौ । परस्तु क्रिमिर्लोकऽपि
 तेषां प्रयोग आरम्भ इति दृष्ट्वा लौकिकमव व्याकरणं केकमुनिवध्नुता अनेन
 शाकटायनेनापि कसुञ्जनचौ विहितमिति पाणिन्यपेक्षया वङ्गवैचीनत्वमस्य
 सुस्पष्टमिति ।

निबन्धयैत्यप्यस्य शाकटायनस्यावैचीना स्फुटं प्रतीयते प्रेक्षन्तान् । तथा

हि—‘पञ्चदश’ ‘दशहस्त’ इत्यादिप्रयोगान् साधयितुं पाणिनिः अस्यावृत्ति
गणनायाम् कृत्स्नप्रत्यय विधत्ते । इह तु शाकटायने ‘वारे कृत्स्न’ (१।४।३२)
इति समुपलभ्यते । ‘अस्यावृत्तिगणना’ स्थाने ‘वार’ शब्दप्रयोगः कियदर्शनीयः
इति, विवेचका एवत्र प्रमाणम् । तथैव पाणिनिना अभूततद्भावे विश्रवणोऽन्वा
ख्यातः, अनेन शायदायनेन तु तत्र ‘कर्मकृतेभ्यः प्रागत्तत्त्वत्वे’ (१।४।१५) इति
विश्रिधानं सूचितम् । ‘प्राग्’ अतस्य तत्त्वम्’ इति अभूततद्भावशब्दापेक्षया
शब्दोऽयं कियतीं प्राञ्जलतां गाहते, ऋषेर्पुनेर्वा किमीदृशी भाषा भवितुमर्हतीति
सुधिय एव विवेचयन्तु । अथ तिङन्तप्रकरणे पाणिनिना ‘युष्मदस्युत्तम’
करणे स्थानिन्यपि मध्यम’ ‘अस्मदस्युत्तम’ इति युष्मदस्युत्तम-इत्यो कर्तृत्वे कर्मत्वे
या मध्यमोत्तमपुरुषौ विधाय तत् ‘शेषः प्रथम’ इति तदतिरिक्ते सामान्येन
प्रथमपुरुषो विहितः । इह ॥ ‘लोऽयं युष्मदस्मात् तिप् तसक्ति’ (१।४।१) इत्यादिना
सूत्रेण युगपदेव सर्वे प्रथमाद्या पुरुषा निहिताः । तत्र युष्मदस्युत्तम-इत्याद्यां प्रागु
पात्तोऽन्यशब्दः कथं तदपेक्षयाऽन्यः शब्दः बोधयेदिति आनाति सूत्रकृदेव । किञ्च
‘सामानाधिकरण्यबोधनाय न कश्चिच्छब्दोऽत्रोपात्तः, न वा कुतश्चिदनुवृत्तः,
ततश्च ‘अन्य-युष्मद्-अस्मद्-शब्देषु सन्निहितेषु प्रथमाद्या पुरुषा स्फुरिति’ ‘देव
दत्त स्वया गच्छतु’ एत्यादौ युष्मच्छब्दसन्निधौ कुतो न मध्यम इति मध्यमत्र
समाधानम् । ‘अन्ययुष्मदस्युत्तमे प्रायेकमेकद्विबहुषु वर्तमानाद्वातोर्लस्य यथाऽख्य
तिप्-उत्-सि इत्यादेनाः भवन्ति’ इति प्रक्रियासमश्कृतोक्तोऽर्थस्तु न कथमपि
बुद्धावुपाश्रितः, न हि ‘एव करोषि’ इत्यादौ कृषातुयुष्मच्छब्दाद्यैः वर्तते इति
केनापि शेषपुत्रीश्रुत्या शङ्क्यं वक्तुम् । ‘युष्मदाद्यर्थेषु वर्तमाना या क्रिया, तद्वाचका
द्वातो’ इत्याद्यर्थकरणेऽपि न निर्बोहः, इह हि क्रियाशब्देन व्यापारो वा विवक्ष्येत,
फलं वा ! आद्ये ‘एव सत् क्रियते’ इत्यादौ कथं मध्यमः, व्यापारस्य युष्मदर्थोऽस्मा
वात् । अत्ये च ‘त्वा सरकरोति’ इत्यादौ कुतो न मध्यमः । फलस्य युष्मदर्थं
गामित्वात् । तस्मात् ‘सामानाधिकरण्ये’ इत्येव पाणिनेर्भगवत् उक्तिः सूत्रादा
भवति, न ता दारित्यस्य सम्भवेदुपपत्तिः । किञ्च ‘एव चाह न ते न गच्छाम’
इत्यादौ कुतो न मध्यमपुरुषः प्रथमपुरुषो वा ! युष्मदर्थस्य अन्यायस्य च
क्रियाभपत्वात् । पाणिनेस्तु युष्मदस्युत्तम-इत्यादिसामानाधिकरण्ये जायते शेषपदार्थस्य
सम्भवाच्च तत्र प्रथमपुरुषप्राप्तिः, मध्यमपुरुषस्तु परत्वादुत्तमपुरुषो बाधन इति न
वाच्यनुपपत्तिः । एवमेव बहुधैतानि सूत्राणि न ह्योदःसामाणि न तद्व्यत्ययेऽपि अपार्थक्ये
कृतं विस्तरेण ।

यत्तु ‘निप्रभृतिषु शाकटायनस्य’ इति पाणिनिसूत्रे यच्छाकटायनमतमुपात्तम्,
तदत्र ‘न सयोजे’ (१।१।११९) इति सूत्रे दृश्यते, यच्च ‘योर्लोऽयुप्रत्ययान्तरं शाकटाय-
नस्य’ इत्युक्तम्, तदत्र ‘अन्यस्यश्रुतिश्च’ ‘वानुजात्’ (१।१।१५४, ५५) इति सूत्र-

योर्दृश्यते, तथा 'लृङ् शाकटायनस्यैव' इति यत्पाणिनिना जुषादेश उक्तः, सोऽप्यत्र 'आद् द्विषो मेर्जुंश्च वा' (१।४।१०६) इति दृश्यते—तेन अयमेव शाकटायन पाणिने परिचितः—इति साधयन्ति, तन्न क्षोदक्षमम् । प्रायेण पाणिने सर्वाण्येव सूत्राण्यत्र शाकटायनेऽनूदितानि शब्दान्तरैर्दृश्यन्ते, तथैवैतान्यपि पाणिनि सूत्राण्यनूदितानीत्यपि शक्यते वक्तुम् । यतो हि शाकटायनो 'द्विष परस्य लङो मेर्जुंश्च मयते' इति पाणिनिनोक्तम् । अर्थादन्ये न मन्यन्त इति सूचनादिकल्प सिद्धयति । न तु शाकटायनोऽपि विकल्पन मन्यत इति पाणिनेरुक्तिः । इह तु सूत्रे शाकटायनोक्तेऽपि विकल्प एव निहित इति पाणिनेरनुवाद एवाऽप्य सिद्धयति, पाणिनिना यन्नाम एहीतम्—स तु शाकटायनो भिन्न एवेति इदामिर्मुक्तिभिः प्रत्यपीयदाम । मतमेदोऽपि च दृश्यते, पाणिनिना शाकटायनमनेन लघुप्रत्ययतरो यकारवकारौ दर्शितौ, इह तु अस्पष्टभूतौ तौ विहितौ । यदि पाणिनिना एनत्सूत्र मतमुद्धृतं स्यात् तर्हि 'अस्पष्टभूतौ' इत्येवोक्तं स्यात् । न हि पाणिनि शब्दान्तरैर्गोपायित परमनमनुबदितुमिच्छति, स्पष्ट शाकटायननामप्रहणात् । तस्मादननैव शाकटायन-व्याकरणकृता पाणिनिमतमनूदितम्, लघुप्रत्ययतरोश्च स्वर्योक्तुं च तत्र 'अस्पष्टभूतौ' इति निवेद्यतम् । सोऽयमस्पष्टभूतिशब्दो लघुप्रत्ययतरोऽस्य स्पष्टमा वेदयितुं शक्नोति न वेत्यन्यदेतत् । किं च शाकटायनमते लघुप्रत्ययतरो यकारवकारौ भवत । अन्यमते तु न भवत इति पाणि-पुस्तका विकल्पः पलति, न तु शाकटायनोऽपि विकल्पमिच्छतीति पाणिनिस्त्वानुवाद एवात्र पलतीति भाव्यं सुधीभिः । अन्वयपि विचार्यताम्—नैनमदामागा उणादिसूत्राण्यपि शाकटायनकृतानि मन्यन्ते, न चोपलभ्यमानानामुणादिसूत्राणामेभिः शाकटायनसूत्रैरेककर्तृत्वं सम्भ-वति । अयं हि प्रसिद्धशाकटायनव्याकरणप्रणेता कदल लौकिक व्याकरणमन्वाचष्टे, न तु वैदिकशास्त्राधनेऽस्य प्रयत्नो दृश्यते । अत एव वैदिकशास्त्रेषु इष्टस्वर सिद्धये येटुश्च पाणिनिना प्रत्ययागमादिष्वाशङ्किता, तेऽनेन परित्यक्ता । तथाहि—स्वरार्थमेव स्त्रीप्रत्यये ङीष्ङीष्मोर्भेद पाणिनिना कृतः, अत्र शाकटायने तु 'ङी' इत्येक एव प्रत्यय उभयो स्थाने दृश्यते, 'दिवादिभ्य इङ्' इति पाणिनि, इय एव तत्र शाकटायने । 'चिन्' स्थान (जि) इत्येव शाकटायने दृश्यते । तेन स्वरार्थो अनुबन्धा नेह समाहृता इति स्फुटमेव । उणादिसूत्रेषु तु स्वरार्थमनन्वयाऽङ्जन स्फुटं दृश्यते—उपप्रत्ययप्रकरणे हि 'घान्ये निट्' इति पठितं मुगादिषु 'अणु' शब्दसिद्धयर्थम् । तत्र निट्त्वं केवलं स्वरार्थमव विहितम्, नान्य-त्किमपि प्रयोजनं निट्त्वस्य । तथा चास्मिन् शाकटायनीये न स्वरसिद्धयर्थं यत्नः, उणादिषु तु स्फुटं इति कथमुभयोरेककर्तृकतास्तु । तथैवात्र शाकटायने गुणवृद्धि-सम्प्रसारणादिसंज्ञा न दृश्यते—उणादिषु तु सा एता 'कहेर्द्विष' रौहिषो

मृगत्रिण्येय, 'स्य'दे सम्प्रसारण घञ्' सिन्धु, इत्यादिश्रुतेषु बहुसो व्यनहता । एव त्रिसङ्गादि शाक्यगने न दृश्यते, उगादौ तु 'मृगश्रिण्येय' मन्त्र, इत्यादौ सापि व्यवहृता । विप्रप्रयुक्तो ऋषिप्रत्ययोऽग्निन् शाक्यगने न विदि, उगादिषु तु ऋषिप्रत्ययार्थे विप्र 'कृ' दा वृज च्वित्थिभ्य 'श्चरन्' इत्यादौ दृश्यते, सर्वशीत्याद्या प्रयोगाश्च तत एव सिद्ध्यन्ति । क्विपुदाहराम, उगादिसूत्राणामेतेष्य शाक्यगनव्याकरणस्य सौकर्यं न केनापि सम्भावयितुमपि शक्यम् । तस्मान्नेव शाक्यगन व्याकरण प्राचीनशाक्यगनमुनिवृत्तम्, नापि वा इमानि उगादिसूत्राणि पाणिनिपूर्वमेवेन शाक्यगनन रचितानि । उपर्युक्तमानेषु उगादिश्रुतेषु सर्वत्र प्रश्रित्या पाणिन्यनुसारिणी प्रतीयते इति पाणिने 'उगादयो ऋन्' इति सूत्रे हृष्टा परमनेन केनचित् सादृष्ट्यार्थमिमानि उगादिसूत्राणि रचितानीत्युगादौ पठितौ ऋषिदपि ज्ञानीयात् । भरयु कदाचित् पाणिने पूर्वमपि कानिचिदुगादिविघादकानि स्यान्ति, उपर्युक्तमानानि तु न सम्भवन्ति पाणिने पूर्वमनानि । एव च पाणिने पूर्व शाक्यगनव्याकरण न प्रमाणे प्रसिद्धयते । सङ्कतव्याकरणशास्त्रेति हाश्लेखकेन श्रीयुधिष्ठिरमीमांसकमहाशयेन तु एव उगाक्यगनव्याकरणरचयितुर्नामापि पाल्यकीर्ति' इति जैनग्रन्थप्रमाणैरेव साधितम् । समवस्थास्य नवमी दशमी वा विजयशताब्दी निर्दिष्ट इति नानेवानीं स्थित्यनुसङ्गता । आधीनशाक्यगनो व्याकरण, अतिप्राक्तन, तेन व्याकरण रचितमिति तु सिद्धम् ।

अधामरचैनेन्द्रयास्तु पाणिनेपरमन्त्र मुप्रसिद्धमव । तथैव पद्यातरे प्रोक्तानां सारस्वतादीनामाधुनिकेष्वपि न कस्यापि विवादः । तदिस्य पाणिने पूर्व कस्यापि व्याकरणस्य सत्तामनुमातु नास्य दृढतर प्रमाणमिति श्रीमान् पाणिनिरेव प्रथमो व्याकरणकर्ता स्वीकार्य — इति श्रीमत सत्यव्रतसामर्थ्यमहाशयस्य मतं निश्चयात्वेन विवृतं दृश्यते—तदेवानुपबृंहितमुस्माभि ।

पाणिनेः पूर्वमपि व्याकरणमत्तासाधनम् ।

अथ १५३ अम् । इदानीं पाणिने पूर्वमव किमाय व्याकरण सर्वोद्भूतं नोपगम्यत इति शङ्कम्, किन्तु पाणिने पूर्व निम्नदि व्याकरण नासीदेति न शक्यमन्यु पणान् । पूर्वमपि व्याकरणमत्ताया बहुभि साक्षिभि साध्यमानत्वात् । तथाहि—पाणिनिरेव भगवान् 'आङि चाप' इति तृतीयावमकैरेकवचनमाङ्गान्देनाह, न च तृतीयैकवचन तेन 'आङ्' इति पाठवत् किन्तु 'टा' इति । तत्र 'आङ्' इति टासङ्गा प्राचाम्' इत्येव व्याख्यातारो भवते । तेनेदमेव सिद्धयति—यथाश्रुतीनेषु व्याकरणेषु तृतीयैकवचनम् 'आङ्' इत्येव श्रुतमासीत्, तत्तदश्रुतिमात्रायां हि प्रयुक्तानि कथाणि परिहर्तुं पाणिनिना "टा" रूपतां प्रापितम्, पर पूर्वमव व्याकरणसङ्कारवशात्—एत्यापि स्मरणसमर्थणार्थं वा सृजे 'आङ्' अपि निर्दिष्ट ।

तथैव 'औड व्याप' इत्यपि । न हि प्रथमाद्वितीययोर्द्विवचने 'औड' प्रत्यय-
पाणिनेना व्याकरणे स्वीकृतं, अपि तु 'औ' 'औट' इति । प्राक्तनव्याकरणतत्कार-
क्यात्तु स्वे 'औड' इत्यप्युच्चारितम् । किमन्यत्—'कर्मण द्वितीया' 'कर्तृकरण-
योऽनृतीया' इत्यादिषु द्वितीयातृतीयादनाम्ना विमक्त्य पाणिनिना विहिता, न
तु द्वितीयतृतीयादिसंज्ञा रक्षा कृता तत्रानि प्राक्तन व्याकरणदृष्टसंज्ञानिरव-
स्वरद्वार इति व्याचक्षते व्याख्यातार । न च 'धु-औ-वस्' इत्यादीनां क्रमेण
गान्त्यैव प्रथम-द्वितीयत्वादिति हेतुसदर्थं सञ्ज्ञाप्रयासो न कृत इति शक्य-
समाधानम् । निरुद्धप्रत्ययस्य प्रथम-प्रत्ययमोक्षमत्वाया अपि सन्वरोनेन निरुद्धत्वा-
तदर्थं स्वप्रणयनवैयर्थ्यप्रसङ्गात् । प्रसिद्धो ह्यस्यार्थबोधक उत्तमशब्दः संस्कृत-
वाङ्मये । तस्मात्प्रज्ञातपक्षे सञ्ज्ञा कर्तव्या एवमिति पाणिने शैली, न च सा
मुष्म समाहृतति तत्र व्याकरणान्तरसंज्ञासनाश्रयणमेव युक्तमापतति । तथैव
'तितुन्नयविमुपरकृतेषु च' इति दृष्टम् कृन्नयैषु श्रुतिष्वेव पाणिनिना पठितं ।
न चैतेषु बहवः प्रत्यया पाणिनिग्रन्थे कृत्प्रत्ययेषु पठ्यन्ते—तस्माद् व्याकरणा-
न्तरस्या अप्यज्ञानादिता इत्येव वक्तव्यं स्यात् । उपादिष्वेते पठिता इति चेत्,
तदपि व्याकरणान्तरमेव, न पाणिनीयमित्यनपदमेव साधितमस्माभिः । श्रुत्वात्,
स्तम्भु-स्तम्भुप्रभृतयश्च न पाणिनीये धातुपाठे दृश्यन्ते, सूत्रेषु तु पठ्यन्ते । यन्
सौनान् धातूनाङ्गुष्मादिरातार । त एतेष्वपि पूर्वव्याकरणसंस्कारेणैव पाणिनिना
स्वसूत्रेषु निबद्धा इत्येव स्वीकर्तुमास्तवे । एव 'चर्करीत च' इत्यदादिगणे
पठितं पाणिनिनाचार्येण, यङ्लुगन्तं तेन श्रुतं इति व्याख्यातार आहुः । न च
पाणिनीये व्याकरणे यङ्लुगन्ते चर्करीतमिति परिभाष्यते, प्राक्तनैव व्याकरणेषु
कारितमिति निमित्तम्, विशिष्टमित्येतन्न सन्नन्तम्, चेक्रीतमिति यङ्लुगन्तं, चर्करीत-
मिति यङ्लुगन्तं यङ्लुगन्तमासीत्, निरुक्तमपि दृश्यते तथा व्याख्यातार । तस्मा-
त्प्राचीनव्याकरणतत्कारेणैव पाणिनिना चर्करीतं च इत्यदादौ निवेद्यतम् । किञ्च
'प्रधानप्रत्ययार्थवचनमयस्यान्यप्रमाणत्वात्' । 'कालेऽवर्जने च तुन्नन्' (१।२।५७)
इत्यत्र प्रत्ययार्थस्य प्रधान्याय अनवयवनादिकालविशरणाय च वचनं न कर्तव्य-
मिति पाणिनिना तादृशवचनं खण्डितम्, तद्वचनं केषांचिददा भवेत्, तदैव
तद्वचनमुपयुज्येत, निरुक्तस्य खण्डनस्यायुक्तत्वात्, तच्च वचनं पूर्वेषां वै-
करणानामेव मन्त्रित्वतोऽपि पूर्वव्याकरणस्यैव स्फुटं सिद्धमिति । किं चानेव पूर्वं
'श्रुतिं युक्तद्वयवचनं' इति स्वयं लिखितवचनं विधाय 'तदाद्यप्य सञ्ज्ञाप्रमा-
त्वात्' (१।२।५३) इति पाणिनिना तदर्थं व्याकरणानावश्यकत्वं या प्रकृतिः,
तत्रानादिमेव शक्यं वक्तुम्—यत्पूर्वव्याकरणान्यनुसृत्य पूर्वं विधानं कृतम्, तदनु च
स्वमतेन तत्त्वज्ज्ञातमात्रं । तस्माद्वैद्वान् पाणिनिरिव स्वपूर्वमव्याकरणतत्कारं
दृष्ट्वा वासी । अथ माध्यस्थानि वक्ष्यं दृश्यमानम् । 'अत एकद्वयस्ये' इत्यादिसूत्रे

‘वेन्दु’ इत्युदाहरति पठङ्कि । ‘वेदे परस्य लिटि’ इति सूत्रे च ‘लृङ्’ इति । तावेतो प्रयोगो पणिनेसूत्रेन दिश्यते, दम्भधातोश्चधामूख्य मकारस्य, खञ्जधोक्तधामूख्य ञकारस्य च लिटि लोभार्थे पाणिनिना प्रयत्नाकरणात् । लपोत्तरस्य लिटि पाणिनिस्मरणेनापि चित्ताभावात् । तस्मात् ‘अन्धिदन्धिदन्धि-सञ्ज्ञोना लिटिः क्तिव वा’ इति आकरान्तरमनयोददाहरणोर्भाषकृतानुवृत्तमिति मत्तोऽपि दृष्टिः आह । ‘न द्रुहस्तु नना यन्त्रिणी’ इति सूत्रे च मारद्वयीया पण्य—‘गोपनिषदन्वि’ इत्यादि मशान्पञ्चोक्तम्, ॥ इमे मारद्वयीया आह्वयान्तराचर्या एव शक्याः उच्यन्ते । ‘ओङ् आर’ इति सूत्रे च द्विवचने द्विवचप्रसुक्त कार्यं याहादि कृतो नेत्रशङ्क्य ‘अपवा पूर्वस्वनिर्देशोऽपम्, पूर्वस्वेषु च देनुश्चा न तैरिहेत्वाद’ इति शङ्क मारद्वयीया पूर्वस्वतत्तां स्वीकरोति । वार्तिकमदीह तदर्थप्रतिपादकं पठितमिति वार्तिकमभ्यासादुक्तमभ्यासनि पाणिने पूर्व व्याकरणान्तरवृत्तायां शङ्क सञ्च दद्यम् । इदमेव भाष्य आचक्षतेन कैयटेनोक्तम् ‘पूर्वाचार्यैर्दे अपि द्विवचने क्तिव पठिते, न चेह (पाणिनीये व्याकरणे) क्वचिदपि ओङ्प्रत्ययोऽस्ति, चानन्यप्रकारार्थं पूर्वस्वनिर्देशः’ इति । ‘पृषादरादीनि यथोपदिश्यन्’, इति सूत्रे च वार्तिककृता तद्व्याख्यायां भाष्य कृता च ‘नान च धातुमनाह निबद्धे आकरणे शङ्कश्च च तोक्तम्’ इति स्फुटं शङ्करव्याख्यायनव्याकरणात् स्वीकृता । शङ्कस्य लोकम्—आकाशयनो व्याकरणा नान धातुमनाह—एतुक्तया तदीयव्याकरणात्ता स्फुटं प्रतीयते—न तु तस्य मतमात्रम् । यद्यपि उपर्युक्तमान आकाशयनव्याकरणा न पठितं प्राचीन मविद्वन्महतीति विस्तरेण प्रयत्नीयमान, तथापि आसीत् किमपि आकाशयन व्याकरणां पाणिनं पूर्वमिति न न सद्यः । पाणिनिना तन्मनःप्रह्लाद—निबद्ध वार्तिकमभ्यासिषु तद्व्याकरणात्तामैतैव च । ‘शताच्च व्युत्पादयते’ (१।१।२१) इति सूत्रमभ्यास्याया च स्फुटं कैयट आह ‘आदिशालिकाशङ्कस्तपोस्तु’ ‘अमये’ शान् वचनाद् अन्यत्र प्रविशेत्तामाह । निवत्कालश्च स्मृतयो एवस्य-हेनव इति मुनिवचनकनेन द्यावे वचनचानुमतिमाह इति । अनेन लेखेन शङ्क प्रतीयते—यत् कैयटेन स्वयनविशुद्धिश्चाहस्तपोर्भाषकरणं दृष्टम् । तत एव च उन्ते पाणिनिस्तुतैवस्य शङ्क निर्दिष्टम् । अस्मिन् युगे च कैयटे पाणिनीय व्याकरणात्तैव प्रनष्टत्वेन अन्त्यनिष्पत्तिरित्यन्यत्रोक्तम् । तत पूर्व मर्तुहरिणा च मन्त्रस्य त्रिपादीनात्ताया ‘तर्दिनात्तस्य आदिशालिकाकरणे क्तो भिन्न इत्युक्तम्’ तेन च सौप्पातिकाव्याकरणं दृष्टवानिति स्फुटं प्रतीयते । अत्रोक्तं च तद्विदित्वा नुक्तविषयकथं निर्देश इति आदिशालिकाशङ्कस्तपो प्रादिशाल्या तस्या दृष्टं स्यादित्यपि न शङ्क शक्यम्, प्रादिशाल्या हि कैयट स्वविषय-सन्धिद्वयस्य भवतीति तद्विदित्वादिवाच्यस्य तत्र न शङ्क । प्राचीनानि

प्रातिशाख्यानि सूक्त-विहन्त-तद्धितादीनिपि व्याख्यान्ति स्मेति चेत्—
व्याकरणाभ्येव तद्दि तानि, इति नाममात्रेऽयं विवादः पर्यवस्यति । माधवोऽपि
घातुवृत्तौ 'तनादिगणे 'क्षिणु द्विसायाम्' इति घातु प्रवृत्त्याह—'अत्र सर्वत्र
पिद्वचनेषु विकरणापेक्षो गुण 'सञ्ज्ञापूर्वको विधिरनित्य' इति न भवतीत्यापे-
यमनेयो । तस्य चापिद्वि शब्दविकरणेषु घातुगुणमभिधाय करोतेश्च मृदेक्षेत्य-
सूत्रयत् । पुनस्तत्तुल्यधस्य च इत्यत्र रक्षितं न चोक्तम् । .. शाकटायनक्षीर-
स्वामिभ्यामय घातनं पठ्यते ।' इत्यादि । तेन स्पष्टमिदं सिध्यति—यन्माधवनां
व्यापिशत शाकटायन च व्याकरण दृष्टम्, तयोर्द्वयं वा भाष्यग्रन्थे द्वचन
दृष्टमिति । भट्टारकहरिश्चन्द्रादिभिश्च ऐन्द्रव्याकरणस्यापि सूत्रमुद्धृतमिति तदपि
बहुकारपर्यन्तं प्रचलितमासीदिति प्रतिद्वयति । किं च वा एता 'असिद्ध बहिरङ्ग-
मन्तरङ्गे' इत्याद्या परिभाषा भाष्यवृत्ता पालिन्यस्यै साधिता, याभिर्विना
पाणिनीये व्याकरणे न भवति निर्वाह, ता अपि व्याकरणान्तरेषु वाचनिक्य
इत्येव नागेशाद्या अभिमन्यते । तस्मिन्सर्वेऽपि वैयाकरणा पाणिने पूर्वं व्याकर-
णान्तरसत्तायां दृढ साक्षिणः । अथ शास्त्रान्तराणामपि साक्ष्यं दृष्टव्यम् । भगवता
पाणिनिना 'पाराशर्यशलाहभ्या मिलुनरसूत्रयो' इति सूत्रयता पाराशर्यापरमार्थ-
व्यासविरचितशारीरकसूत्राणां सत्ता स्मृत्यापूर्वं स्फुटमभिव्यञ्जिता । तदारभ्य
तेषां मिलुभिरभ्येत्यादौ मिलुसूत्राणीति प्रसिद्धिर्भवेन्मूलम् । व्याससूत्राणि चेमानि
सर्वेभ्यो दर्शनसूत्रेभ्योऽर्वाकतनानि सर्वेषामत्र समालोचनदर्शनात् । ततश्च
सर्वाणि दर्शनसूत्राणि पाणिने प्राग्भवाभ्येवेति उररीकर्तव्यं भवति । तत्र च गौतमीये
न्यायसूत्रे 'विकारादेशोपदेशात् सशय' इति सूत्रं शब्दनिस्पृश्यप्रकरणे द्वितीया
ध्यायस्य द्वितीये पादे दृश्यते । तस्यायमवाशयो यत् केचन वैयाकरणा शब्देषु
विकारान् निदधति, केचिन्नादेशान् । विकारो नाम तस्यैव वर्णस्य वर्णान्तरतापत्तिः,
आदेशस्तु एकरस्य वर्णस्य स्थाने वर्णान्तरप्रयोगः । तन्नामयो किं सत्यमिति
विचार्यते । एवं प्रतिष्ठाय तेन उभावपि पक्षौ चिन्तितौ, आदेशपक्षश्च सिद्धान्तितः ।
विकारादेशादिधान चेद व्याकरणशास्त्रे एव समवतीति तत् पूर्वं व्याकरणानां
सत्ता सिद्धा भवति । तस्य व्याकरण पाणिने पूर्वमभ्येवेति तस्यापि साक्ष्यं पूर्वं
भवव्याकरणसत्ता प्रमाणीकरोति । न्यायसूत्रस्य पाणिनिपरमवस्वीकारे समान-
कालिकवस्वीकारेऽपि च पाणिनिरादेशवादी, इह चोभयोरुपदेशं ख्यापित इति
विकारवादि व्याकरणमपि किञ्चित्पूर्वमासीदेवेति सिद्धयति । वाल्मीकीये रायामणे
च हनुमते प्रथमदर्शनकाले श्रीरामेण लक्ष्मणे प्रत्युक्तम्—

नूनं व्याकरणं कृत्स्नमनीं बहुधा भूतम् ।

बहुं वाह्यताऽनेन न किञ्चिदपभाषितम् ॥

(वा. रा. कि. काण्डे)

तेन तदात्वेऽपि व्याकरणसत्ता प्रतीयते । न च पाणिनीयस्य तदात्वे संभव इति व्याकरणान्तरमेव प्राग्भव स्वीकार्यं स्यात् । किं बहुना वेदाङ्गेषु मुरयतया सर्वत्र व्याकरण पठ्यते—ब्राह्मणेष्वपि च तत्र तत्र व्याकरणविषया निर्दिश्यन्ते— इति एतद्युगजातपाणिनिर्यन्त मुख्य वेदाङ्ग नैव प्रचलितमिति न कथमपि भद्रात् शक्यम् । चीनदेशाद्भारतभ्रमणार्थमागत श्युआनचूआरूनामह पर्यट कोऽपि पाणिनिं पश्ये बहु लिखन्निदमपि जगाद—यत् पाणिने पूर्वं बहूनि व्याकरणानि परस्पर विप्रतिपन्नानि ऋग्वेदलानि च प्रचरन्ति स्म । तत्रैतस्य व्याकरणकर्तृत्वया स्पष्टमनेन नाम गृहीतम् । एतस्य लेखानामिति वृत्तविषये बहुतर प्रामाण्यमभ्युपगम्यत ऐतिहासिकैः । सुकृतर च तत्, देशान्तरादागत्येन स्पष्टमक्षिप्तो विलोक्य यल्लिखित तत्राविधासे कारणामावात् । व्याकरणान्तरसत्ता यद्यपि न तेन सत्य इष्टा—अथापि द्वादशशतमितवसरेभ्य पूर्वमपीह जना पाणिने प्राग्भ्या करणसत्तामभ्युपगच्छन्ति स्म, तेभ्य एव तेन भुतमिति तु निविवादम् । ततश्च 'नक्षत्रमूला जनभृति' इति न्यायेन न तत्र उद्देशोऽन्तरेत् । बृहत्कथामूलकेषु कथासंहितायां—बृहत्कथामञ्जरीप्रभृतिष्वपि पाणिने पूर्वमैन्द्रव्याकरणस्य सत्ता, पाणिनीयव्याकरणप्रसारोत्तर तद्विरोधश्चेति स्पष्टमुद्घुष्यत एव । तस्मादेवरागेन प्राणरूपेण द्रेण ज्ञानाधिष्ठात्री मानुषी वाग् व्याकृतेति व्याख्यातपूर्वं भुतेस्तात्पर्यं मनभिद्यङ्कनीयमाप्ता वैज्ञानिकदृष्ट्या, अथापि मनुष्यदिशेणोऽपि कश्चिदिन्द्रो व्याकरणग्रन्थमपि कञ्चन निर्मितवानेति बहुभि साक्षिभि साधितोऽयमर्थो नाप लपनीय कथमपि । यद्यपि पक्षपादिके महामाभ्ये कथं शब्दानुशासनं कर्तव्यम्— इति प्रश्नन्त्याप्य शब्दानां प्रतिपदपाठं कर्तव्य इति पूर्वपक्षरूपेणोपन्यस्य तस्य शब्दप्रतिपत्तावन्यमुपायता प्रदर्श्य उत्सर्गापवादरूपेण नियमबोधकसूत्रनिर्माणमेवा श्रोपाय इति सिद्धान्तितम्, तेन पाणिनीयव्याकरणमेव सूत्रनियमपरिष्कारकमिति भिन्न्यत इवति कैचिदाशङ्कन्ति, बृहस्पतीन्द्रनामोल्लेखाद् बृहस्पतिरेन्द्राय शब्द पारायणमव शिञ्चितम्—इति स्पष्टोक्त्या च बृहस्पतेरधीत्य शब्दपारायणरूपमेव व्याकरणमिन्द्रेण विरचित स्यादित्यनुमिन्वन्ति, पर महामाभ्यकारेणैव यदा पूर्वं प्रदर्शितरीत्या नियमवद्व्याकरणसत्ता पूर्वमपि स्वीकृता, तदेमे व्यञ्जनानुमाने न प्रसर्तुं प्रभवति । अपि तु लक्षणरूपस्य व्याकरणस्यावश्यकत्वेन तेन व्याकरण प्रयोजननिरूपणावसरे स्थापितम्, तच्च लक्षणरूप व्याकरण प्राक्तन पाणिनीय चति सामान्येन सर्वं गृहीतमित्येवाभ्युपगन्तव्यं स्यात् । अग्रे च शब्दस्य नित्यत्व-कार्यत्वविचारमुपक्षिप्य 'समग्रे एतत्प्राधान्येन परीक्षितम्' इत्यादिना विस्तरभियाऽन त विचारमुपेक्षमाणेन 'उभयथाऽपि लक्षणं प्रवर्तयम्' इति वैया करणानां नैकत्राभिनिवेश इति प्रदर्शयता 'कथं पुनरिदं भगवत् पाणिनेराचार्यस्य लक्षणं प्रवृत्तम्' 'सिद्धे शब्दार्थसम्बन्धे' इति पाणिनिव्याकरणविचारारम्भ सूचयता

महाभाष्यकारेणैव स्फुटमिदं ध्वनितम्—यत्पूर्वमपि सन्ति विविधानामाचार्याणां
लक्षणानि, तेषु कानिचिच्छब्दस्य नित्यता कानिचिच्चानित्यता लक्षणीकृत्य प्रवर्तन्ते—
पाणिनिस्तु भाषायां शब्दनित्यतावादमेव लक्षणीकृत्य प्रवृत्त इति । ‘इदं लक्षणं
कथं प्रवृत्तम्’ इत्युक्त्वा लक्षणान्तराणामपि सत्ता ध्वन्यत एवेति मुधिय एवं
श्लेषयन्तु । इत आरम्भेन पाणिनीयस्य व्याकरणस्य विचारात्म्य इतीतः प्रागुक्तं
प्रयोजनादिकं सर्वमपि सर्वव्याकरणसाधारणमित्यपि स्फुटीभवति, तेन लक्षणरूप
विशेषणं पाणिनीयमेवेति पूर्वोक्ता ध्वजना न परं समते । आस्तां विस्तरः ।
अद्वेयस्यापि सामभूमिमहाभागस्य पाणिनेः पूर्वं व्याकरणान्तरसत्ता नास्तीदेवेति
निश्चालोचनप्रदर्शितं मतं न वयमभ्युपगन्तुं प्रमथाम । इदानीं पाणिनेः पूर्व-
मर्धं किमपि व्याकरणं नोपगम्यत इति तु स्फुटमेव । तेन तानि व्याकरणानि
कथयित्वा कीदृशानि वा आसन्-इत्यादि विवेक्तुं नास्त्येव किमपि साधनम् ।
निप्रतिपत्तिर्येषां ध्वनिच्छब्दविदासीदिति तु पाणिनिस्तुल्येषु तत्त्वमनतोद्घरणादेव प्रतीयते,
नौनपर्यटकरा लोकेनापि च तस्मिन्निष्पत्तिः । स्यामपि तादृश्या विप्रतिपत्तावच्छेदे
पाणिनीयः सिद्धान्त एवास्माभिरादत्तव्य इत्यपि च कैयदेकस्या प्रवर्धितपूर्वम् ।

प्रातिशाख्यानां पाणिनेश्च पौर्वापर्यविचारः ।

अथ वान्येनानि प्रातिशाख्यान्वयादेव समुपलभ्यन्ते, तानि पाणिनेः प्राक्तनानि
पञ्चाङ्गदानि वेद्यत्राणि विप्रतिपत्तिरेव । सत्यश्वनामभूमिमहाभागः पाणिनेरर्वाक-
नान्येताभ्युपगच्छति । युरोपीयास्तदनुयायिनश्च भारतीया गणपदा विद्वांसः केचन
पाणिनेः प्राक्तनानि प्रातिशाख्यानि मन्यन्ते । केचित्तु पाणिनेरर्वाकनानि । केचित्तु
शौनकादीनि प्राक्तनानि, कात्यायनादीनि चार्वाकनान्यभ्युपगच्छन्ति । आश्चर्यमिदं
यत्प्रातिशाख्यान्मपि पञ्चाङ्गतोष्यधिकानां पूर्वाचार्याणां नामानि गृह्णन्ति, परं
न अपि तेषु पाणिनेर्नामग्रहणम् । पाणिनिनामपि भगवता स्मृताः केचिदाचार्या
शाकल्य-शाकटायन-गार्ग्य-गालव-क्राश्वपत्र-स्मृतयः, समुपलभ्यमानप्रातिशाख्य
प्रणेताः शौनक-कात्यायन-कुशादीनां नामानि तु न क्वापि स्मृतानि । ये
तु श्रुतन्त्रप्रातिशाख्य शाकटायनकृतमभिप्रमन्यन्ते, तेषामपि नये न श्रुतन्त्र-
प्रणेता शाकटायनः पाणिनिना गृहीतनामेति सम्भाव्यते—तादृशानां मठानाम
प्रादर्शनात् । न च श्रुतन्त्रप्रातिशाख्यनिदानानिमुपलभ्यमानं पाणिनेः पूर्वमर्धं
सम्भवनीत्यनुपदं दर्शयिष्याम । यदि क्वापि परस्परं नामोल्लेखोऽनविष्यत्तदि
मुक्तं पौर्वापर्यनिश्चयोऽनविष्यत् । ये तु शौनकादिम्यदृष्टन्दसि (४-१-१०६)
इति शौनकनामप्रद्वणात् शौनक पाणिनेः प्राक्तनं सिद्धावधिर्मानं ते नितान्तं
आत्माः । नञ्च प्रातिशाख्यप्रवृत्ता शौनकी गृह्येतेति, प्रस्तुत शौनकप्रोक्तेन्द्रन्दसि
विश्लिष्ट एव त्रिनिप्रत्यय पाणिनिरनुयाति—वेदाङ्गे तु वान्ये शौनकीया शिक्षा—

इत्येव तत्र प्रत्युदाह्रियते । अस्ति च मन्त्रद्रष्टापि शौनक सुप्रसिद्धः । ननु च अङ्गप्रवक्तुर्व्यावर्तनाय यत्सूत्रे छन्दसीत्युपात्तम्, तेन अङ्गप्रवक्तुरपि परिचर-
पाणिने सिद्धयति, अन्यथा कस्य व्यावर्तनाय 'छन्दसि' पद एवोपात्तं स्यात्,
तेन प्रातिशाख्यप्रणेता शौनकोऽपि पाणिने प्राक्तन सिद्धयतीति चेत्, तदस्ति
भ्रान्तम् । 'शौनकीया सिद्धे'ति प्रत्युदाहरणदर्शनेन शिक्षाप्रवक्तुरेव पाणिने-
प्राक्तनसिद्धेः । न हि शिक्षाप्रवक्ता प्रातिशाख्यप्रवक्ता च शौनक एक शब्द
आस्थातुम्, शौनकीये प्रातिशाख्ये शिक्षाविषयाणां वर्कम-स्थानप्रयत्नादीनामपि
दर्शनात् । यदि हि भगवता शौनकेनानेनैव वृषक शिक्षा निरमास्यत, न तर्हि
प्रातिशाख्ये ते विषया समग्रहोप्यन्त, पुनरुक्त्यापत्तेः । तस्मान् प्रातिशाख्य-
प्रवक्तुः शौनकस्य पाणिनिपरिचितत्वे न किमपि मानमिति सुरगृहम् । यस्तु 'अष्टा
वाधानवसानेऽप्रष्टस्यानाचार्या आहुरनुनासिकान् स्वराण्' (शौ० प्रा० ५० १
सू० ६३) इत्यत्र आचार्यपदेन पाणिनिरेव शौनकेन स्मृतः, तेन पाणिनिरप्रवृत्तं
शौनकादीनां प्रातिशाख्यकर्तृणां सिद्धयतीति सामभूमिमहाशय आह स्म, तत्र
युज्यते । यतो ह्यत्र अष्टानामपि स्वराणामवसानेऽनुनासिकसुक्तम्, स्वराश्च
शौनकेन 'अकाराकारि उ ए ओ ऐ औ' इत्यादावेवोक्ताः । तत्र दीर्घाणां
परिगणनेऽपि अ, आ, इ, ई, उ, ऊ, ऋ, ॠ, इत्येवैव भवन्ति । ततश्च ऋकारस्या
प्यत्रानुनासिकत्वं विहितमिति स्पष्टं भवति । पाणिनिना तु 'अणोऽप्रष्टस्यानुनासिकः'
इति अणपदेन 'अ, इ, उ' इति त्रयाणामेवानुनासिकत्वं विहितमिति न ऋकार-
स्यानुनासिकत्वं तन्मते सिद्धयति । अत्राण पूर्वणकारेणैव प्रष्टस्य भाङ्गता
सिद्धान्तितत्वात् । ततश्च सत्येव मतवैषम्ये 'आचार्य आह' इति आचार्यपदेन
कथं पाणिनेर्महणं सिद्धयेत् । न हि पाणिनिरष्टानामानुनासिकत्वमाहेति सूया
प्रलापः शौनकस्य तथा सति सिद्धयेत् । तस्मादन्वितारिताभिधानमेवेदं सामभूमि-
महाशय । यदपि च तेनैवोक्तं निरुक्ताल्लोचने 'व्याडिना पाणिनीयानि स्वाणि
उग्रदे व्याख्यातानि, व्याडेश्च नाम शौनकेन बहुधा स्मृतम्—

परिग्रहे त्वनापोन्ता तेन वैकाक्षरीकृतात् ।

परेषा न्यासमाचार व्याडिस्त चेत् स्वरी परो (१ १२३)

उभे व्याडि समस्तरे (१२८) व्याडे संत्राभिनिघान्तोऽ (६४३)

समासाद्य नाम धदन्ति इत्य तथा णत्व सामवशाश्च सन्धीन् । उपाचार
लक्षणतश्च सिद्धमाचार्या व्याडिशाकृत्यगार्था (१३१) व्याडिर्नासिकयमनुनासिक
(१३३७) इत्यादिषु । तच्चेद व्याडेर्नामग्रहणं पाणिनेरेव नामग्रहणं प्रादेतव्यम् ।
व्याड पाणिनिसूत्रव्याख्यातृत्वादिति । तदेतदपि न मनोरमम् । कोऽयं व्याडि,
कति च व्याडिनामान् आचार्या, इति सर्वमेवासाधयि अस्कुमेव । पाणिनिनापि

‘छन्द्यादयं शालायाम्’ (६।१।८६) इति सूत्रे छन्द्यादिगणे व्याडिपदं सङ्गृहीतम् । तेन पाणिने प्राक्तनोऽपि कश्चिद्व्याडिरासीदिति निश्चयप्रचम् । व्याडिकृता विवृतिवल्ली प्रसिद्धपति, तत्र तेन बहुधा शौनकमतं सङ्गृहीतम् । मङ्गलाचरणे च— ‘नत्वादौ शौनकाचार्यं गुरुं वदमहानिधिम्’ इति गुरुत्वेन शौनकः स्मृत इति सामभ्रमिणोक्तम् । न हि शौनकः स्वाशय्यस्य व्याडेराचार्येषु नाम गृह्णीयात् ‘आचार्या व्याडिशाकल्यगार्या’ इति । तस्मादन्यो विवृतिवल्लीप्रणेता व्याडिः, अन्यश्च शौनकेनाचार्येषु परिगणितो व्याडिरित्येव वक्तुं युक्तं भवति । शौनकेन च स्वरविषय एव प्रायेण व्याडिः स्मृतः, अन्येष्वपि प्रातिशाख्येषु तस्य नाम दृश्यते, इति प्रातिशाख्यप्रवक्तृवाय सम्भाव्यते । स एव च प्राचीनो व्याडिः पाणिनिनाऽपि छन्द्यादिषु पठितो भवेत्, शालासम्बन्धिनः हि व्याडिः पाणिनिः स्मरति, प्रातिशाख्यकृता चासन् परिषद् शालाभ्रंति श्रीवासुदेवद्वारा प्रभृतयः प्रमाणैः प्रसाधयन्ति इति । पाणिनिस्त्राणि व्याडिना व्याख्यातानीत्यपि किंवदन्तीमात्रम्, न तु प्रमाणसिद्धम् । महाभाष्यकृता हि सग्रहप्रत्ययस्य नाम गृहीतम्, न तु सग्रहो व्याडिकृत इति, पाणिनिस्त्रय्याख्याभूत इति वा तेन क्वचिदुक्तम् । नागेशादिभिः किंवदन्तीमात्रमेवाभित्य सग्रहस्य व्याडिकृतत्वादि व्यापितम् । सग्रहः स्वतन्त्र एव ग्रन्थः शब्दविचारपरो मण्डितस्यपि सम्भाव्यत एव । अतिप्राचीनेन हरिणाऽपि तस्य लोप एवोक्त इति तद्विषयकं यत्किमप्यनुमानं कपोलकल्पनामात्रमेव । कथासंरत्नागरादौ पाणिनिसमकालिको व्याडिरुच्यते, परं सामभ्रमिमहाशयः कथासंरत्नागरमत्यर्थं निनिन्देति कथं तदाधारेण पाणिनिसमकालिकं व्याडिमभ्युपगच्छतु । मान्यानापि पूर्वाचार्यान् नामसादृश्यभ्रान्ताननैकत्रोपहसन् सामभ्रमिमहाशयः कथं व्याडिनामविषय एव विभ्रान्त इति न वयं विवेक्तुं प्रभवाम । तस्माद् व्याडिस्मरणेन पाणिनेरर्वाभक्तवसाधनं प्रातिशाख्यानां न दृढमिति पौर्वापर्यं पाणिनीयात् प्रातिशाख्यानां सन्दिग्धमेव भवति । तथैव बृहद्देवतायां शौनकविरचितायामेव ‘भगवानाह शौनकः’ इति शौनकस्य ‘भगवान्’ इति विशेषणं दृश्यते । तस्मादत्यन्तं विभिन्ना कति शौनका इत्यपि न निश्चितं भवति ।

प्रातिशाख्यानां पाणिनिपूर्वमन्त्रं ये वदन्ति, तेषामेषां युक्तिः—यत् प्रतिपदमुच्चार्य पत्वणत्वादिविधाने प्रातिशाख्यकारा विश्रयन्ति, तत् पाणिनेरुत्तरं भवानां न सम्भवति । पाणिनिना पत्वणत्वाद्यनुगमस्य कृतत्वात्, तादृशकलेशस्य पञ्चादनवसरदुःशयत्वात् । तथा हि शौनकीये ऋग्वेदप्रातिशाख्ये—पञ्चमपटलस्यादित एव अष्टत्रिंशसूत्रपर्यन्तं पत्वप्रपञ्चो दृश्यते, तत्र च प्रलम्बेषु सूत्रेषु बहुत्र प्रतिपदमुच्चार्य पत्व विहितम् । ततः ऊनरं च तथैव ऊनचत्वारिंशः सूत्रमारभ्य सप्तपञ्चाशः सूत्रं पटलान्तं यावण्णत्वप्रपञ्चं कृतं, तत्रापि बहुत्र प्रतिपदमुच्चार्य णत्वविधिनिषेधौ दृश्येते । तथैव कात्यायनीये प्रातिशाख्येऽपि तृतीयस्याध्यायस्य

पञ्चदश सूत्रमारम्य चतुर्थीतितमस्यन्तमणवित्वा सूत्रे परम्य विधिनिषेध
प्रपञ्च, आधिक्येन च प्रतिपदपाठ एव तत्र शरणीकृत, तदन्ते च तत्रैव पञ्चा
शीतितम सूत्रमारम्य प्रायेण नामग्राह्यमैकादशमि प्रत्यये सूत्रेणैव प्रपञ्च उक्त ।
अथैष्वरि प्रातिशाख्येषु सेयमेव प्रक्रिया प्राप्ता दृश्यते । सोऽयं प्रपञ्च स्व
शास्त्रार्थमेव यपि न विमर्शयन् । पाणिनिना तु भगवता लौकिकं वदस्य सर्वा
च शास्त्रास्तु अनुगतीकृत्य लघुमि पञ्चपट्या सूत्रे (अष्टमः प्रपाये तृतीये पादे
५५-११९ सूत्रे) सर्वोपि पराविधि समाहित, यत्तु च तदनुगतीकृत्य लौकिक
साधारण्येन लक्ष्मिन्वत्कारिणोऽस्ति सूत्रे सर्वमपि बोधितम् (८/४/१-१९) ।
एव वितर्कनीयस्य कुत्र सङ्करो भवति, कुत्र वा पकार, क वा रफ, क तु विसर्ग
एवेत्येतदर्थं प्रतिपदग्रहणान् अनिप्रत्ययानि उक्तचकारिणोऽस्तु सूत्राणि शौनकीय
प्रातिशारये चतुर्थे पत्रो (२५-६१) अवलोक्यन्ते, कात्यायनोऽपि तृतीया
ध्यायस्य षष्ठस्य प्रारम्य एकचकारिणोऽस्तु पर्यन्त एव निश्चिता सूत्रे द्वायातीय
विसर्गोणासुक्तविधिविचार प्राथम्यदयत् । पाणिनिस्तु ८/४/१४ सूत्रमारम्य ८/४/१४
पर्यन्तमेकचकारिणोऽस्तु लघुमि एतेल्लोऽस्तु द्वायातीयोऽस्तु विधान् आदेशान्
समग्रहीत् । इतोऽतिरिक्तोऽपि 'अन्तरिच्छन्ति' 'प्रातरग्निम्' 'अविमरूपस्ये'
इत्यादिषु रेफस्योरुप्यावृत्तये 'अन्तादात्तमन्त' 'प्रात' 'अविम' इत्यादिमहान्
प्रपञ्च शौनिकस्य प्रथमे पात्र उक्तश्चते । पाणिनिना तु रीक्षारम्, कर्त्तरस्य रफस्य
नोरग्निमनुगमेन सर्वं साधितम् । तथैव षष्ठ पदान्तादति (६/१/१०९) इति
पाणिनिना पदकारस्य पूर्वरूपमुक्तम्, तत्कुत्र भवति, कुत्र वा न भवतीत्येतस्य
शौनकीयद्वितीये पत्रो चतुर्दशसूत्रमारम्य पञ्चिंश सूत्र यावत्प्रतिपदग्रहणपुर सर
महान् प्रपञ्चो दृश्यते । एतद्वि प्रातिशारयेषु अभिनिधानमुच्यते । यत्तु प्रातिशारये
चापि चतुर्थीध्यायस्य एकप्रथितम सूत्रमारम्य षडशीतितमस्यन्तमस्यैव पूर्वरूपस्य
महान् प्रपञ्च कृत । पाणिनीये ॥ केचल्ल सप्तभिरेव सूत्रेऽन्तस्वरवादोऽनुगतीकृत्य
दर्शित । कियदुदाहार्यम् । अनुगमाभावेन सर्वत्रैव प्रातिशारयेष्वेवैव स्वरस्वरकार
क्रियये विस्तरो दृश्यते । यदि हि पाणिनीय व्याकरणे पूर्वमवधिष्यत्, तत्र
चानुगमा प्रातिशारयवृद्धिरास्त्यन्त, तर्हि नैवमनुगमकृतं श्लोकास्ति सोऽन्तोऽ
मविष्यत् । एवमेव वर्णा तदीयस्थानप्रयत्नादिविवरण चापि प्रातिशारयेषु सविस्तर
निर्दिष्टमिति नैव पाणिनीयकृत्यो व्याकरणे स्थिते सम्भवति । पदकमादीन् विकृति
पाठानपि च प्रातिशारयानि विदधति, तच्चेद क्रमादिव स्वर णविसर्गपरिहारा
यैवाभ्यस्यत इति सुस्पष्टम् । पाणिनीये व्याकरणे तु स्थिते सर्वत्र प्रकृतिप्रत्यया
दिविभागपुर सर पद एव स्पष्टं सुस्पष्टमवगते न स्वरन्तर्गदिविपर्ययश्चेति
क्रमादिविधान् व्यर्थमवापतेत् । इत्थं त्याग्निने पूर्वमवायेव प्रातिशारयानीति
वेचि मन्यन्ते ।

परे त्वेव प्रत्यवतिष्ठन्ते—पाणिनिना सुप्तिङ्कुदादयः सर्वेऽपि व्याकरणभागाः सुस्पष्ट निबद्धा इति त्वानुगम शक्यते कर्तुम् । प्रातिशाख्यानि ॥ केवल स्वरं सन्धोश्च विवृण्वत इति ते केन प्रकारेणानुगम कर्तुं शक्नुयुः । प्रतिपदपाठातिरिक्तं किं तेषां शक्यम् ? यथा—आदेशप्रत्यययोरिति पाणिनिः पञ्चमनुगमयति, केवलं प्रातिशाख्यमघोषानस्तु आदेश प्रत्यय वा कथं परिचिनोतु ? तत्तदुपसर्गयोगे तत्पद्धातोस्तत्र तत्र ष्वन्मित्येव पाणिनेरनुगमः । यस्तु घातुप्रत्ययादिकं न सम्यक् परिचाययति, ॥ कथं तस्याविधमनुगमं प्रदर्शयतु ? तस्मात् पाणिनेरनन्तरभाविभिरपि प्रातिशाख्यैः प्रपञ्चं कर्तव्य एव स्यात् । किञ्च पाणिनिर्विकल्पनिर्देशेन बाहुल्यकेन च बहुन सत्त्वेन करोति, सर्वशाखानां सर्वेषां लौकिकानाञ्च प्रयोगाणां निर्वाहकेन कर्तव्यमेवेदं भवेत् । प्रातिशाख्यानि तु स्वस्वशाखाभावनियतानि न विकल्पेन बाहुल्यकेन वा प्रवर्तितुं प्रवृन्त । वेदेषु हि विन्दुविस्मृतिरपि किञ्चित् कथमपि न परिचरितं स्यादित्येतदर्थं प्राचामाचार्याणां महान् प्रयत्नो दृश्यते । तस्य प्रयत्नस्य प्रतिनिधिभूतान्तेव प्रातिशाख्यानि । तानि यदि विकल्प बाहुल्य वा निर्दिशेयुः, कुत तर्हि ष्वादिभिरपि प्रयोक्तव्यम्, कुत्र वा न प्रयोक्तव्यमिति सन्देहानां एव प्रयोक्तारो भवेयुः । प्रातिशाख्येषु तु तत्रैव विकल्पो व्यवह्रियते यत्र स्वशाखायामपि द्विविधः प्रयोग उपलब्धः स्यात्, तत्रानि च विभक्तस्तत्र तत्र स्पष्ट तैर्बोध्यनीयो नवति । तस्मात् स्थितेऽपि पाणिनीये व्याकरणे न नि सन्देह वेदेयुष्कारण सिद्धयेदिति अनन्तरमपि सम्भवेदेव प्रातिशाख्यानानामपेक्षा । यथा—पूर्वपदात् (८।१।१०६) इति सूत्रेण पूर्वस्थितात्पदात्तरस्य सकारस्य विकल्पेन पत्र पाणिनिना निहितम्, तेन 'दिविष्ठ' इत्यत्र पत्र जायते 'पुत्रं हिस्य स्वर्पति' इत्यत्र तु न जायते । विकल्पविधानादेव । प्रातिशाख्यकृता तु नैतावता परिशेष, यदि कश्चिद् 'दिनिस्थ' इति पत्राऽनावच्छेदितं प्रयुज्जीत, 'पुत्रं हित' इति च पत्रवैशिष्ट्यम्, तदपि पाणिनिरीत्या शुद्धं स्यात् । तथा च विष्णो वेदे प्रवृत्ते । तदर्थं शौनकेन 'द्वषधरेणैव सत् स्य' (५।४) इति विशिष्य नियमं प्रदर्शितः । 'वद्, स्य' इत्यनयोः पदयोर्द्वर्षधरेपूर्वपदोऽव पत्र जायते इति तदर्थः । तेनासन्देहो जातः । तथैव 'मुञ्ज' (८।१।१०७) इति निपातस्य स्त्री पूर्वपदस्यान्निमित्तात्तरस्य अन्तिशेषेण पत्र पाणिनिना निहितम्, तेन 'ऊयुग' 'अमी पु ७' इत्यादि निदृश्यते । 'मुदीतिमि' 'मुदीदिहि' इत्यादौ ॥ मुञ्ज पत्रं यत्र दृश्यते तदर्थं न विशिष्य प्रयत्नं कृतं, विकल्पेन बाहुल्यकेन वा तत्समाधानं स्यात् । शौनकेन तु 'स्ववह्वधरेण' (५।५) इति वचनाद्बह्वधरात्पदात्तरस्य पत्रं न भवतीति स्पष्ट व्यवस्था कृता । एवमेव 'त्वे पु नो मरुनो मृच्छयन्तु' (श्रु० १।१६९।५) इत्यत्र मुञ्ज पत्रं दृश्यते, 'त्वे सु पुनं यन्त' (श्रु० ८।१२।२४) इत्यत्र तु न दृश्यते तदर्थं नानि 'प्रकारेणापि स्थिति न पर चेत्' (५।८) इति शौनककृता

पठितम् । अथमुदाहरणमावनिहस्ताभिबन्धयितुम्, सन्ति यत्तयो वैदिकास्तथा-
 तिषां प्रयोगाः, ये पाणिनीयैः सूत्रैरुन्दिष्यं न विद्वन्ति, बाहुल्यं वा किञ्चि-
 वा तत्र शरीकरागो भवति । तत्र सन्देहनिवृत्तये स्यापि पाणिनीये व्याकरणे
 प्रातिशाख्यानामावश्यकता वाग्लेभेति नैवावता पाणिनिपूर्वमन्त्रं प्रातिशाख्याना
 दृष्टाव तावदितुम् । प्रमुक्त परमन्त्रमेव प्रकरैरेभिः विद्वेत्, यदि पाणिनेः
 पूर्वमेव प्रातिशाख्यद्वारेण परात्पानिनिषानादिविषयेऽनुगमक्रियाः प्रादुर्-
 भिष्यन्त, तर्हि तानान्येभ्य पाणिनिपि स्वीयेषु सूत्रेषु तदन्तर्करिष्यदेव । परं
 नैतदस्ति दृढं प्रमाणम् । एव सर्वेषां प्रातिशाख्यानां प्रादिनदण्डान् यदि पाणिनेः
 सप्रतीपात्, तर्हि तादृशो गुह्यस्तद्व्यस्यः सत्, यस्य प्रयोगो नैव लोके
 सम्भवेत् । तस्मात्सौकेयानां प्रयोगायां सर्वान् च वेदशास्त्रानां तुल्यत्वेनैव
 व्याकरणं निबध्ना निबध्नाहं कदापि नान्येनैव, नान्या गतिः । तदित्यं
 सन्देहाख्यानैवेतानि प्रमाणानि ।

पाणिनीये स्थिते क्रमादिविधानं व्यर्थमेव मन्येति च पक्षैश्चिदुक्तमित्यु-
 त्तरं न मन्येत् । नहि व्याकरणशीलैव वेदा अभ्येसा-इत्येतां परिभाषां
 मुनेरेव प्रचलतीति महानाम्पृष्टैवेत्यु- । ये च केन वेदेन व्याख्यायते-
 तदयोनैवाविष्येन वेदरक्ष । तस्मात्तेशां कृते पदार्थैरेव विचार्यमानानां रक्षा-
 निवृत्तये अद्यापि पदकमवशायां निवृत्तयोऽनेत्यु- । न च पाणिनीयेन
 व्याकरणेन सर्वान् शास्त्रान् वर्तमानानि सन्देहा निवर्तयितुं शक्यन्त इत्यु-
 त्तरं न मन्येत् । तस्मान्नैवो- हेतुः पूर्वोक्तविधानायां भवति । किञ्च
 पाणिनीयस्य व्याकरणात् महान् व्याकरणात् यो व्याख्येयुगम्यते प्रायेण
 सर्वैरेतद्वाचिकैः, तेन विकृतिरूपेण कन-कन-सिक्त-कनादिभिः अष्टौ विकृतयो
 लभिता इति पाणिनेरनन्तरं विकृतीनाम्नावश्यकता कः कथं प्रतिपादयतु ? यदपि
 कानिदेवतत्प्रमाणस्य तादृशविधानदर्शनेन प्रातिशाख्यानां पाणिनिपूर्वमन्त्रं लिख-
 तिष्यन्ति, तदपि नैव न कल्पते । पाणिनिर्हि वैयाकरणः, पदान्याख्यानं तस्य व्यस्यम् ।
 तत्र एव सर्वस्वरूप-स्थानप्रदानादिविषयार्थं च शिक्षां प्रपञ्चं व्यख्यात् । प्रातिशा-
 ख्यानि तु शिक्षानि स्वस्वरूपेऽन्तर्भावयन्तीति शिक्षाविना वेदस्वरूपनाशश्च कथं
 तेन निरूप्येत् । तदुक्तं यौनोपनादिशास्त्रानाम् अभ्येतेन प्रयोगनिरूपणावसरे-

शिक्षावन्तो व्याकरणैः सामन्तेनैव लक्ष्यन् ।

तदेवमिह व्याख्यायति शास्त्रप्रयोगम् ॥

अनन्यनिर्माण-वेदाङ्गत्वात् समाश्रित्यां पुनश्च शास्त्रां प्रमाणानि शिक्षा,
 छन्दः, व्याकरणम्-इति त्रयोपि यन् सर्वैरेतद्वाचिकारूपेण लक्ष्यं भवति, तस्य
 स्वव्याख्या विरुद्धैव वेदव्यवहिते निरूपयितुं प्रातिशाख्यानां अभ्येतेन इति ।
 तया च सत्यमेव शिक्षानि प्रातिशाख्यैः स्वस्वरूपेऽन्तर्भावयन्ति इति ।

‘अथ वाचो वृत्तिरव्याख्यास्यामः, वायुं प्रकृतिप्रवायोः, वायुमूलेन
 आसीमवनि, आसीनाद इति वाक्यायनः । वायुस्यनस्तिन् कं मूलेन-मैरतीत्ये-
 पोऽयं च खलु लक्ष्मिर्षं प्रतिपन्नः अतिरिक्तं, स अस्तिः शिरः प्रति-
 आकाशमद्वारकं नदतिर्मदति’ ।

इत्यादिना विशिष्य वर्णोत्पत्तिविज्ञानं विवृतम् । एवमन्यत्रापि । तथा च
 प्रातिशाक्त्यानामेव पाणिनिपूर्वप्रवृत्तमेवाऽनुमीयत इति । अत्रापि परे विवृति-
 पत्रन्ते-प्रातिशाक्त्येषु हि शिक्षादिनिषेधोऽपि स्पष्टीत इत्युक्तं प्राक् । वर्णोत्पत्ति-
 विज्ञानप्रदर्शनं च शिक्षाया एव विषयः । पाणिनिना च शिक्षा पृथगेव रचिता, न
 व्याकरणसूत्रेषु स्पष्टीता, तस्माद्वर्णोत्पत्तिविज्ञानस्य सूत्रेषु प्रसङ्ग एव नास्ति,
 शिक्षायान्तु पाणिनिनाऽपि वर्णोत्पत्तिविज्ञानं विवृतमेव—

आत्मा बुद्ध्या सन्नयार्थान् मनो युङ्क्ते रिञ्जया ।

मनः कायामिमाहन्ति स प्रेरयति भावतम् ॥

माहस्तस्त्रिंशं चरन् मन्दं जनयति स्वरम् । इत्यादिना ।

प्रायतः प्रातिशाक्त्यैः श्रवणादाविवरणेन वैयर्थ्या वाच एवोत्पत्तिरनुकान्ता ।
 प्राणवायुश्रवणाशुद्धिमेव ते व्यापार विवृण्वते, पाणिनिस्तु प्राणव्यापारादूर्ध्वमपि
 आत्म-बुद्धि-मनो-व्यापारं स्पष्टं मध्यमा पश्यन्तः चाऽपि वाचमभिव्यञ्जयतीति
 तत्रैव विज्ञानाधिक्यं स्पष्टयति । किञ्च श्रुतान्त्रे प्रथमे प्रपाठके विषयोऽयं विवृतः ।
 च प्रपाठको न व्यापाराया व्याख्यात इति मूलप्रवृत्त्यानुगमात् एव तस्यानुमीयते,
 शौनकाद्येऽपि प्रथमापठ्याध्यामेव विषयस्याऽस्य विवरणमिति प्राक्तनात्करमाश्रित्
 प्रव्यादत्र वैशानिको विषयोऽयं स्पष्टीत इत्येव प्रतीयते । अन्येषु तु प्रातिशाक्त्येषु
 न तथा प्रतिपाद्यते विज्ञानमिति नायमपि निर्णयहेतुर्हृदः प्रसिद्धयति । सन्देहास्पद-
 मेवाऽत्रापि पौर्वाश्रयम् । किञ्च पाणिनिरादेशवादी, प्रातिशाक्त्यानि च विकार-
 वादीनि । एकस्य वर्णस्य वर्णान्तरतापत्तिर्विकार इत्युच्यते, एकस्य वर्णस्य वर्ण-
 समूहस्य प्रातिपदिकस्य घातोः पदस्य वा स्थानेऽन्यस्योच्चारणान्तु आदेश इति ।
 तत्र दार्शनिकरीत्या विचार्यमाणो वर्णवादेषु विकारो नैवोपपद्यते । न शब्दनित्य-
 त्वादेः, न वा अविच्छेदत्वादे-उत्पत्त्यस्य विकारो न सम्भवति । निरन्तरत्वादे हि
 कृतस्या अविच्छिन्नो वर्ण इति कथं विकारः सम्भवेत् । अनित्यत्वादे च
 उच्चारितप्रवृत्त्या वर्णो न तावत् स्थितिं त्यजन्ते-भावत् तानुपनयं वर्णान्तरं
 तत्रागच्छेत् । न च वर्णसमूहस्य प्रातिपदिकघातुर्वादि दस्तुतः स्वरूप धत्ते-
 वर्णानामुच्यते प्रवृत्तानां समुदायासम्भवात्, तस्माद् बुद्धिपरिकल्पिता एव
 घातप्रातिपदिकघात इति न तत्रापि विकारसम्भवः । सोऽयं विकारासम्भवः

शब्दानामनित्यत्वादिना न्यायद्वयवृत्ता गोजमेन सूत्रेषु सम्प्रवृत्त इत्यवोनाम । तत एव पाणिनिर्विकारवत् परितन्त्र आदेशवत्त्वेनैव गृहीतवान्—‘पठो स्थानेयोगा’ इति परिभाषमाणः । विवृणश्च विल्लरेण तन्महामाष्ये । ‘प्रातिशाख्यानि तु विकार-पञ्चनेव परिगृहीतवन्ति । पदान्तादिष्वेव विकारस्यात्र पदे दृष्टेषु वचनात् प्रतीयान्’ (पट २ सू० ५) इति शौनकेन उन्विष्टान्नप्रवृत्तो एतद्विचारवत् प्रयुक्तम् । श्रुत-तन्त्रप्रयोगेनाऽपि ‘विकारः’ (सू० ११) ‘सस्थानः’ (सू० १२) इति मरुद्विचार-पदं प्रयुक्तम् । कात्यायनोऽपि ‘तमिति विकारः’ (१।१३१) इति विकारमेव स्वीकरोति । ‘द्वितीयया विभक्त्या यो निर्दिश्यते स विकारः प्रत्येत्य’ इति तदर्थः, एवमन्यत्रापि । सूत्रशैत्यप्येषा विकार-प्रापिकैव, ‘ककारकारयोः सकारम्’ (१।२१) (ककारकारयोः परावर्तिवर्जनीयः सकारमागच्छते—सकारम्पतां गच्छति) इत्यादि कारायनः । ‘सौम्यम्’ (१३) (स्वरो दीर्घमापद्येते) इत्यादि श्रुतवन्कारः, ‘ह्रस्वपूर्वस्तु सोऽकारम्’ (पट० २।२७) (ह्रस्वपूर्वस्तु स विवर्जनीयः ह्रस्वोक्तो अकारमागच्छते) इत्यादि शौनकः । ‘ओकार आवम्’ (१।१५) (ओकारः यदा स्वरपः, अथं विकारमागच्छते) इत्यादि तैत्तरीय-प्रातिशाख्ये । तस्मादसम्भवद्विकारवादिप्रातिशाख्यपेक्षया आदेशवादी पाणिनिरेव वैशानिकनूचन्य इति स्फुगीभवति । वशां अपि स्वराणां चोत्पत्त्यास्तैस्ते प्रातिशाख्य-कृद्भिः संगृहीता इति तत्संलक्ष्ययापि पीवीर्गै न निर्णेतुं शक्यते । भवतीदं यत्रपि विचार्यम्—शौनकीये प्रातिशाख्ये लृकारः स्वरेषु न परिगच्छते, पाणिनीये ह्रस्व-एव लृकारो गृहीतः । दीर्घस्तु नाम्नेव । कात्यायन-श्रुतवन्तयोन्निविनोऽपि लृकारः परिगृहीतः । तैत्तरीयप्रातिशाख्ये च पाणिनिकत् क्वच ह्रस्व इति । अथनऽपि स्वरांतरवद् ह्रस्वदीर्घौ लृकारो वर्गवनाम्नाये गच्छेते । स्वरांतराणा-मिव तरपानि मेरोऽस्त्येवेति, तनेन मनमेदमाभित्य पूर्वपरोनावः कथञ्चिदनु-मीयेत । त्रिष्वपि लृकारः पृष्ठन्तोऽन्तीनाः, अग्रापन्नस्तु सर्वतः प्राचीनाः इति सम्मान्यते । परं माध्यमीकादिभिरुक्तैः सर्वैरेव स्वराणां चोत्पत्त्या वशां इह सप्रप्यन्ते इत्येकोक्तमिति नैतदध्यनुमान इदं भवितुमर्हति ।

अथ सूत्रप्रक्रियाया अन्तरङ्गरीत्या कर्त्तव्या । तद्वीत्या कारायनप्रातिशाख्य-न्तु पाणिनेर्वाचीनमेवानुमीयते । तस्य हि सूत्रप्रत्ययनयोगी पाणिनिना बहुतरं-सर्वदति । किञ्च ‘तरिमतिनि निर्दिष्टे पूर्वम्’ (अ० १।१३४) ‘तस्मादिरुत्तर-स्यादेः’ (१।१३१) ‘पठो स्थानेयोगा’ (१।१३६) इति सूत्रानि स्वार्थं पाणिनेस्त्वानुकारीणि दृश्यन्ते । तत्र पाणिनिनैव प्रातिशाख्यादुद्धृतानीति नि-सीतमेव किं न एतदिति चेद्, नैषा परिभाषाशैली अन्त्येऽपि प्रातिशाख्येऽपि दृश्यते इति पाणिनेरेव शैली कात्यायनेनानुक्तेति मन्तव्यं स्यात् । इदञ्च विवेकेणाश्चयेम्—

पाणिनिना हि 'आदेः परस्येत्येतदपेक्षया 'अनेकाल्शित्सर्वस्य' इत्यस्य परत्वं रक्षितम् 'तस्मादित्युत्तरस्य' 'आदेः परस्य' इति पृथग्योगौ कृतौ, तेन 'अष्टम्य औश्' इत्यादौ 'तस्मादित्युत्तरस्येति' प्रवर्तते, 'आदेः परस्येत्येतत्तु 'अनेकाल्शित्सर्वस्ये'त्यनेन बाधितं न प्रवर्तते, तदेतत्स्थीकृतं सिद्धान्तकौमुद्याम् । प्रातिशाख्ये तु 'अनेकाल्शित्सर्वस्येति परिभाषणाऽभावात् पृथग्योगकरणस्य नास्त्या-
द्वयकत्वमित्यनुसन्धाय कात्यायनेनात्र 'तस्मादित्युत्तरस्यादेः' इत्येक एव योगः कृतः, तदेतत् पाणिनेरनुकरणं स्पष्टं बोधयति । किञ्च 'पञ्ची स्थानेयोगा' इति नास्ति प्रातिशाख्यानां शैली, तेषु स्थानी न प्रायेण वक्ष्या निर्दिश्यते, अपि तु प्रथमया निर्दिश्यते—'अमुको वर्णः अमुकरूपतामापद्यते' इत्यादि क्रमेण, तदेत-
न्निर्दिष्टं प्राक् । कात्यायनेनापि प्रायेणैव शैली सूत्रेष्वनुसृता—'विसर्जनीयः'
(प्राति० ३।६) 'चयोः शम्' 'तथयोः शम्' (१।७-८) 'तकारो ल लम्'
(४।१३) 'मभानुमानिकम्' (४।१४) 'सर्वो व्यहार ओकारम्' (४।४३)
इत्यादिषु । अत्रिदेव तु स्थानवृत्ति निर्दिष्टा—'यकाराकारयोर्नस्त्वस्ये पदे' (४।४१)
'यवयो पदान्तयोः स्वरमध्ये ङोपः' (४।१२७) इत्यादौ । तथापि 'पञ्ची
स्थानेयोगा' इति परिभाषा कृता तेन स्पष्टं प्रतीयते परिभाषेयं पाणिन्यनुकारिणी,
सूत्रप्रणयनं तु सञ्जातीयप्रातिशाख्यसंस्कारेणेति ।

'अन्यद्वाङ्मूर्तिपूर्वं उपधा' (१।१५) 'समानस्थानकरणास्यप्रयत्नः सवर्णः'
(१।४३) 'मुपनालिकाकरणोऽनुनासिकः' (१।७५) 'संख्यातानामनुदेशो यथा-
संख्यम्' (१।१४३) 'विकारी यथासम्भवम्' (१।१४२) 'विप्रतिषेध उत्तरं
बलवदलोपे' (१।१५९) 'स्वरा परपञ्चमम्' (४।१२) इत्यादीनि च सूत्राणि
कात्यायनीये प्रातिशाख्ये 'अलोन्त्यात्पूर्वं उपधा' 'तुल्यास्यप्रयत्नं सवर्णम्'
'मुपनालिकावचनोऽनुनासिकः' 'यथासंख्यमनुदेशः समानाम्' 'स्थानेऽन्तरतमः'
'विप्रतिषेधे पर कार्यम्' 'अनुस्वारस्य ययि परसवर्णः' इत्यादिभिः पाणिनिस्त्रैः
समानार्थानि किञ्चित्परिवर्तितास्तानि दृश्यन्ते । किमन्यत्—पाणिनिस्त्रेषु वार्तिक-
कारोऽपि कात्यायनः उच्यते, प्रातिशाख्यकृदपि । तयोर्मतसंबाददर्शनादेकत्व-
मेवानुमीयते । तथा हि—अत्रैव 'तुल्यास्यप्रयत्नं सवर्णम्' इति सूत्रे आस्यपदस्य
प्रयत्नविशेषगताम्युपगम्य विभिन्नस्थानानामपि सवर्णसंज्ञामाशङ्क्य 'आस्ये तुल्य-
देशप्रयत्नं सवर्णम्' इति न्यासो वार्तिककृतोऽट्टङ्गितः, प्रातिशाख्ये च 'समानस्था-
नकरणास्यप्रयत्नः सवर्णः' इति आस्यात् स्थानग्रहणं पृथक् कुर्यात् तत्रैव प्रक्रियाऽ-
नुसृता । 'विप्रतिषेधे पर कार्यम्' इति पाणिनीये सूत्रे 'लुग्लोपयण्यवायावेका-
देशेभ्यः' इति लुक् परापेक्षयापि बलवत्त्वं वार्तिक उट्टङ्गितम्, प्रातिशाख्ये तु
लुको लोपस्य च पार्थक्याभावेन ङोपमात्रे विप्रतिषेधविधिनिर्बद्धः 'विप्रतिषेधे उत्तरं
बलवदलोपे' इति । 'छपरे शार वा विसर्गलोपो दृश्यः' इत्यप्यास्ति पाणिनीये

वार्तिकम् । प्रातिशाख्येऽपि 'ब्रह्म मुदि नित्ये' (३।१३) इति तदनुवादो
 दृश्यते । 'तद्वद्वतो करणयोस्ततोपश्च' (३।५३) इति पाणिनीये
 वार्तिकम्, 'तद्वद्वतो करणयोस्ततोपश्च' (३।५३) इति प्रातिशाख्ये तदनुवादः ।
 यद्यपि तद्वद्वतो करणयोस्ततोपश्चपाठे पारस्करादिगणे कचिद् पठन्ति, पर
 भाष्यकृता 'वक्तव्य' इत्युपन्यासाद् वार्तिकमेव प्रतीयते । न हि गणसूत्राणि
 भाष्यकृतानि । भवन्तु वा गणसूत्रम्, तथापि पाणिन्यनुमतिस्तु प्रातिशाख्ये
 सिद्धैव । 'द्वाराणाह्नोऽणत्तस्य च ट सहायाम्' 'चारो वा' इति द्वारोपा-
 न्नादीनां सिद्धयर्थं प्रयत्नः पाणिनिनार्तिककारेण कृतः, प्रातिशाख्येऽपि
 'स आद्यादनाह्नरात्' इति तत्सिद्धयर्थं प्रयत्नो दृश्यते । प्रक्रियामेवोऽपि यो
 दृश्यते, स तु प्रातिशाख्येऽपि प्रात्ययानामविवरणादेव । 'स्याभ्यां नो ण
 समानपदे' (८।४।१) इति पाणिनीये सूत्रे 'शृङ्कारान्तेति वक्तव्यम्' इति
 वार्तिककृतोक्तम् प्रातिशाख्येऽपि 'शृङ्गरेफेभ्यो नकारो णकार समानपदे' इति
 शृङ्गार सयोऽपि पाणिनिननुमतेऽनुदितम् । 'अङ्कुपाङ्गुमूपायेऽपि' इति
 सूत्रेऽपि 'अयं यवाये प्रतिषेध' इति वार्तिककारः, प्रातिशाख्येऽपि, 'स्वरयङ्
 कषेभ्य' (३।८५) इति सूत्रेण समान्यवधानमुक्त्वा अन्ते 'शिल्पिभिरगममध्यम
 यनहितोऽपि' (३।९५) इति प्रतिषिद्धवधाने नकारस्य प्रकृतिभावोऽपि
 विहितः । भाष्यकृता सूत्रस्य नियमार्थतामात्रस्य वार्तिके लङ्घितमित्यन्यदेतत् ।
 'पृथोदरादानि यथोपदिष्टम्' इति सूत्रे 'यप उत्थ दन्तदशधासुतरपदादे ष्टुप
 च' इति वार्तिकमारब्धम् । प्रातिशाख्येऽपि 'यद् दशद्वयो सख्यावयोऽर्थयोश्च'
 (३।४७) इति तदेवानुदितम् । अत्र तु उक्तं आह 'योऽन्त' इति, एतच्च
 शिष्यबुद्ध्यादनार्थम्, न हि संहितायामुदाहरणं लभ्यते, इति टीकान्तरे च
 शास्त्रान्तरस्योदाहरणं दधितम् । तद्विषया तु स्फुटमेवेदं भवति, यस्मात्पाणिनीये वार्तिके
 यदुक्तम्, तत्संस्कारेण तदनुवादरूपेण दन्तशब्दोऽत्र निवसित इति । एवं
 पाणिनीयवार्तिके 'वर्णोऽकार' इति पाठतम्, प्रातिशाख्येऽपि 'निर्देश इतिना,
 कारणे च' (३।३७) इति तदनुदितम् । यस्तु प्रातिशाख्ये 'नानुस्वारस्यमधिकं
 नोऽभिज्ञानूलीयोपध्मानोया' इति अनुस्वारादिशब्देभ्यः कारप्रत्ययस्य निषेध
 आत्मा, स पाणिनीये प्रात्याहारसूत्रेभ्यो वर्णत्वेनाऽनिर्देशाच्चरोपेक्षत इति
 प्रतीयते । एवमेवान्विषयमात्रेण प्रसङ्गे बहुत्र पाणिनीयवार्तिकस्य वाजसनेयप्राति
 शाख्यस्य च मतेष्वनुलभ्यते । यानि तु वार्तिकानि न प्रातिशाख्येऽनुदितानि
 तस्यापि शब्दा अस्या शास्त्राया न सन्तीत्येव प्रायेण सिद्धयेत् । यदि हि वाजस-
 नेयप्रातिशाख्य पाणिने पूर्वममङ्गितं पाणिनिना विधानानीमानि तत्रावश्यन्त,
 तर्हि, कथं स इमानि विधानानि स्वसूत्रेभ्योऽभिष्यत । न च शर्परे त्वरे विभक्तं
 लोपस्तेन सन्त्येनं विहितं स्यात् । कथं च षोडशादिशब्दसिद्धयर्थं यप उत्तमं

न विधीयेत । मनुष्यसुलभमनवधानं शब्देषु सम्भवतीति सत्यम्, परमयेषा विधीन् स्पष्ट दृष्ट्वापि कथमनवधानमनल्पमते सम्भवत् । तस्मात् पाणिनेरवा क्तनमव यत्नु प्रातिशाख्यमिति सिद्धयति । एव पाणिनीया समासतद्धितादृश्या अप्यनारम्भ एव स्फुटमुक्ता — तिङ्कृत्तद्धितचतुष्टयसमासा शब्दमयम्' (का० प्रा० १।२९) अत्र हि चतुश्चेति समासनिरोधेण स्पष्ट पाणिनीयव्याकरण स्मारयति । व्याकरणान्तराऽपि कृत्तद्धितसमासादित्तया स्युस्तिङ्मुपगम्येऽपि समासस्य भेदचतुष्टय तनाप्यासीदिति कल्पनाया मानाभावः । नचैवमिहा शब्दभेदा अन्येषु प्रातिशाख्येषूपलभ्यन्त इति पाणिनीयसंस्कारेणैव कात्यायनेन विभागोऽयं प्रदर्शित इति स्पष्टं शक्यमनुमानम् । एव सहाकरणपद्धातरपि यत्नु प्रातिशाख्येऽनुसृता 'इत्स्य मूर्धन्यार्पात्तर्नति १।५२) इत्यादिना । न ह्यन्येषु प्रातिशाख्येषु बाहुल्येन सहाकरणं दृश्यते । एवमेव एङ परस्याकारस्य पूर्वरूपमभिनिधानशब्देन शौनवादिभिरुच्यते, कात्यायनेन तु 'एरोद्ध्या पूर्वमकार' (४।१२) इति पूर्वरूपशब्दं अदत्ता पाणिनिप्रक्रियैरानुसृता । 'नस्त्वयप्रधान' इति पाणिनीय प्रक्रियायां च पर लाघवमत्र 'चउयो शम्' 'तययो सम्' इति (३।३४-३५) प्रदर्शितम्—इत्याद्यनुसन्धेयम् । तेन यत्नु प्रातिशाख्यस्य पाणिनिपरमसंज्ञेवान्त रङ्गपरीक्षया सिद्धयति । अमुपगम्यते चाप्येतिहासिकैर्वहुभिस्तथैव । तैत्तरीय प्रातिशाख्यमपि अननैव तुल्ययोगक्षेमम् । तत्राऽपि हि 'उच्चैरुदात्त' (१।१८) 'नीचैरनुदात्त' (१।३९) 'समाहार स्वरित' (१।४०) इति सूत्राभ्यनूदितानि लभ्यन्ते । 'तस्यादित उदात्तमर्धङ्गसम्' इति पाणिनीयसूत्रं च 'तस्यादिवच्चै स्तरानुदात्तादनन्तरे यावद्वर्द्धं हस्य' 'उदात्तसम रेष' (१।४१-४२) इति सूत्रद्वयेनानुधत्ते । अत्रापि ह्रस्व पर स्वार्थप्रच्युतमेव पाणिनीये सूत्र इव व्याख्याङ्गिष्यते । 'एकदणं पदमपृक्त' (१।४४) इत्याद्या सहा अपि पाणिनिनेन प्रसिद्धा । 'एङ् पूर्वपरयो' 'अन्तादिवच्च' इति पाणिन्यनुकरणेन 'अथैकमुमे' (१०।१) इत्याद्यधिकारसूत्रम् 'आद्यन्तवच्च' (१।५५) इति परि माषापि किञ्चिद्विषयभेदेनाश्रीयते । 'विप्रतिषधे पर कार्यम्' इत्यस्य स्थाने 'तत्र पूर्वं पूर्वं प्रथमम्' (५।३) इति विपरीतं परिधाप्यते । 'वशात्कारोत्तरो वर्णाख्या' (१।१८) 'न विसर्जनीयङिहामूनीयोपध्मानीयानुस्वारनामिष्पानाम्' (१, १६-१८) इत्यादि च कात्यायनेनेव विधीयते । अन्यदपि कात्यायनानु करणमव दृश्यते इति तस्यापि पाणिनिपरमवत्त्वं न संदेहः ।

अथ श्रुक्तान्तरप्रातिशाख्यभेदेनाल्लेख्यते । तत्र हि सुडागमप्रकरणे ऋणा सूत्राणां पाणिनिशूत्रैरुच्यते, किञ्चिद् व्यत्यासेन, अर्थतो वा पर साम्यं प्रतीयते । ताऽमुदाहरिष्याम —

कश्चिदपि विचारक एतद् ब्रूयादेव, यदीदृश सादृश्य यादृच्छिक न सम्भवति, अवश्यमेकेन परस्य सूत्रपाठोऽनुकृत एव, तत्र केन कस्य पाठोऽनुकृत इति विचार्यम् । कतिपयेषु सूत्रेषु एकस्यापरण भेदो दृश्यते, तत्र पाणिन्यपेक्षया प्रातिशाख्ये यत्र न्यूनता, तत्र तु शक्यमेव वक्तुम्—यत्सामशालाया तादृशा प्रयोगा नोपलभ्यन्ते इत्यत्र प्रातिशाख्यकृता ते परित्यक्ता । यथा—‘मस्करम स्करिणौ वेणुपरिब्राजकयो’ इति पाणिने पाठ, ‘मस्करो वेणु’ इति लघुश्च प्रातिशाख्यस्य । तत्र परिब्राजकायौ मस्करिशब्द सामशालाया नोपलभ्य स्यादित्येव प्रातिशाख्यकृता परित्यक्ता इति सम्भाव्यते । तथैव ‘प्रस्कण्वहरिश्चन्द्रा- वृषो’ इति पाणिनिसूत्रस्य हरिश्चन्द्रपद यत्प्रातिशाख्ये परित्यक्तम् ‘प्रस्कण्व श्रुषि’ इति सूत्रे, तथापि ‘समास श्रुस्तुचन्द्रे’ इति सूत्रेणैव हरिश्चन्द्रशब्दसिद्धिरिति हेतु सम्भाव्यते । पाणिनिना तु ‘ह्रस्वाश्चन्द्रोत्तरपदे मन्त्रे’ इति सूत्रयतापि लौकिक हरिश्चन्द्रपदसाधनार्थं प्रस्कण्वहरिश्चन्द्रानित्यत्रापि हरिश्चन्द्रपदग्रहणं कृतम् । एवम न्यनाप्युक्तम् । पर प्रातिशाख्यविधानं यत्र पाणिनिना परित्यक्तम्, तत्र हेतुन दृश्यते । यथा ‘अवमर्यादावर्चस्करो’ इति मर्यादाया वर्चस्के च श्रुतान्तरकार अवस्करपद साधयति, पाणिनिस्तु वर्चस्के एव । तत्र मर्यादार्थं अवस्करशब्द कथं पाणिनिनोपेक्षितः ? पाणिनिर्हि सर्ववेद-लोकसाधारण व्याकरण निबध्नातीति न सामशालाप्रयोगस्तस्योपेक्ष्यो भवितुमर्हति । तथैव ‘आस्का आस्कामो विस्कुल्लिङ्ग’ इति कथं पाणिनिनोपेक्षितम् ? सम्भवति मनुष्यसुलभमनवधानं तेषां भ्रूयादिदृष्टानां प्रयोगाणामित्यवोचाम, पर यदि पाणिनिना श्रुतान्तरसूत्राण्यनु कृतानि स्युः, तर्हि मध्ये स्थितमेकं सूत्रं स कथं परित्यजेत् ? प्रत्यक्षं परिदृश्यमाने सूत्रे ॥ नानवधानमल्पमतेरपि सम्भाव्यते, किं पुनरनल्पमते । तस्मात्पाणिनिना श्रुतान्तरसूत्राणि नानकृतानि, अपि तु श्रुतान्तरकृतैव पाणिनिसूत्राण्यनुकृतानि, तत्र स्वशालायालयांमदृष्टा प्रयोगविशेषा अर्थविशेषाभ्योपेक्षिता, अनवधानेन विस्तरप्रयेन वा पाणिनिना त्यक्तास्तु स्वशालायां दृश्यमाना कतिचिदर्या प्रयोगा वा सदृशीता इत्येव सम्भाव्यते । तदित्यमृकतान्त्रस्यापि पाणिनिपरमत्वमेवात रङ्गपरीक्षया सिद्धयति । यत्तु ‘किस्तादध्यात्मम्’ इत्यस्यैव प्रातिशाख्य उक्तम्, पाणिनिना तु ‘चतुष्पाञ्चकुनिष्वालेखने’ इति स्पष्ट तद्विवरणं कृतम्, तस्मात् पाणिने परमत्वमेव केचित्साधयन्ति । तदेतदुक्तस्य प्रमाणस्याग्रे अतीव दुर्बलम्, चतुष्पादरूपं शकुनिरूपं च विशेषमुपेक्ष्य सत्त्वेण अध्यात्ममित्येव प्रातिशाख्य कृता समुद्धृतमित्यत्र तथाविधविशेषामावात् । हर्षजीविकाकुलायकरणाद्या विशेषास्तु चार्तिककृता दर्शिता, न सन्नकृता पाणिनिनेति ।

सुत्रान्तरागामपि ऋक्तन्त्रे सादृश्य दृश्यते—

ऋक्तन्त्रे

पाणिनीय

१ उद रथास्तम्भो (१६७)

१ उद रथास्तम्भो पूर्वस्य (८।४।६१)

२ पृषोदरादीनाम् (१६६)

२ पृषोदरादीनियथोपदिष्टम् (६।३।१०९)

३ सन्निकर्षं चहिता (६७)

३ पर सन्निकर्षं चहिता (१।४।१०९)

४ गो (७९)

४ सर्वत्र विभाषा गो (६।१।१२२)

५ न वा (८०)

५ " " " "

६ अवक् द्वा (८१)

६ अवक् स्तोत्रायनस्य (६।१।१२३)

दीर्घप्रकरणे तु सकारप्रकरण इव विशेषेण सादृश्यमुपलभ्यते । यथा—

ऋक्तन्त्रे

पाणिनीये

२१५ कर्णस्य मृक्ते (कर्णमृक्ते) ।

×

२१६ १पस्य कपिमोदनीदर्भलेषु ।

×

(कृषामोदनी, कृषाकपि)

२१७ कर्णे ऽडीहाक्कुयाकुण्डगेवरिष्ठा
द्वयनवाणानाम् ।

कर्णे लक्षणग्याविष्ठाद्वयप्रणिभिन्नविष्ठ
विष्ठसुवस्वस्तिकस्य (६।३।११५)

(प्लीहाकर्णी, अक्कुयाकर्णी,
हृण्डल्लकर्णी इत्यादि)

२१८ विश्वस्य नर सुराटसु । (विश्वा
तर, विश्वावसु, विश्वाराट्)

विश्वस्य वसुराट्ये (६।३।११८) नरे
वसुरायाम् (६।३।१२९)

२१९ मित्र ऋषौ ।

मित्रे ऋषौ (६।३।१३०)

२२० श्ववित्पदवराहकर्णदन्तदम्प्रेभ्य
सम्प्रति चैत् । (श्ववित्, श्वा
पद, श्वावराह इत्यादि)

गुनो दन्तदम्प्रेभ्यकर्णकुन्दवराहपुण्ड्रदेव
दीर्घो वाच्य (वार्तिकम्)

२२१ सर्वनाम्नो हवि । (कीदृग्,
अस्मादक् इत्यादि)

इदङ्ङिनोरीदङ्गी (६।३।९०) आ सर्व
नाम्न (६।३।९१)

२२२ उक्षवेदती । (उक्षावेदती)

×

२२३ उग्रनधे । (उग्रानधो रोग)

×

२४ साङ्गेन च समागमे । हस्ताहस्ति,
मुक्वाप्रुलि, केशाकेशि, दण्डादण्डे

अन्वेषामपि दृश्यते (६।३।११७)

२२५ अष्ट । (अष्टाकपालम्)

छन्दसि च (६।३।१२६) अष्टन कपाले
हविषि (वार्तिकम्) (गवि च पुच्छे)
(अष्टागवन्, अष्टाकपालम्)

श्रुतत्रे

पणिनीये

| | |
|--|---|
| २२६ प्राक् शतान् । (अष्टादश, अष्टा दिशति) | द्वयञ्चन सख्यायामवहुनीहारीत्यो (६। ३।४७) 'प्राक् शतानादिति वक्तव्यम्) |
| २२७ पद-गोयुक्त-दन्त-शालीये च तीर्थे । (अष्टापदम्, अष्टागोयु क्तम्, इत्यादि) | अञ्चन सञ्ज्ञायाम् (६।३।१२५) |
| २२८ नाम्ना षाडि । (घुराषट्, यत्राषाट्) | छन्दसि सह (३।२।६३) (णि-प्रापय उपधावृद्धि) |
| २२९ वने भ्रष्टरप्रभृतीनां प्राच्यभरत सञ्ज्ञा चेत् । (औलूरावनम्, सुन्दरावनम्) | वनगिर्यो सञ्ज्ञायाम् कोट्यर्कितुल्लादी- नाम् (६।३।११७) |
| २३० उरसर्गं धातावकाक्षरे नाममूले । (उपानत्, प्राशुट्) | नदिवृत्तिवृषिभ्यधिकचिरुहितानिषु कौ (६।३।१३६) |
| २३१ द्वयपरे गुवांदावकाराङ्गे (नीवर्तं, परीवर्तं, परीवाप) | उरसर्गस्य घञ्मनुष्ये बहुलम् ६।३।१२२) |
| २३२ प्रश्नयादौ सादन्द्गसेनेषु । (प्रास ह, प्रासङ्ग, प्राप्तेन इत्यादि) | " " |
| २३३ न सञ्ज्ञायां लुङ्गे चे । प्रासादो गुलणाम्, प्रसादो मृत्तिकाया) | " " |
| २३४ निष्ठायामिच्छादौ (नीत्त, भीत्त, परीत्त) | दस्ति (६।३।१२४) |
| २३५ ठ च काशे दशने (चकारादि कारोऽपि एहीत (प्रतीकाशते, अनूकाशते) | इक काशे (६।३।१२३) |
| २३६ युग्मं धु । (एवा क्षति, योजा निन्द) | द्वयनोऽतस्तिङ् (६।३।१२५) |
| २३७ उधोर्धुनि घोषादि (तमू शुचिम्, अरुप्रस्य नू मह) | श्रु चे तुनुषमलुतद्वुत्रोरुष्याणाम् (६।३।१३३) |
| २३८ इ (भुषी हवम्, यदी वहन्ति, शृणुही गिर) | × |
| २३९ सोऽरिम दन्त्येऽच्चे (वृषी न, अनीपुत्र, इत्यादि) | × |
| २४० वण्ट्ये | × |

अग्रेऽपि प्रातिशारये दीर्घस्य बहुप्रपञ्च — २५५ सूत्रपर्यन्तम् । नानाग्रह च तत्र दीर्घविधानम् । तच्च प्रायेण 'श्रुचि तुनुष' इति निदधिते सूत्रेऽन्तर्भवति । अग्रे पाणिनीयेऽपि कतिचन सूत्राणि दृश्यन्ते येषां प्रतिरूपक प्रातिशारये न लभ्यते । यथा—वले (६।३।११८) । मतौ वल्लोचनोऽपि रादीनाम् (६।३।११९) । शरादौ नाञ्च (१३।१२०) इको वहेऽशीलो (६।३।१२१) । चित्ते ऋणि (६।३।१२७) मन्त्रे सोमादवेन्द्रियविश्वदेव्यस्य मतौ (६।३।१३१) ओषधेभ्य विभक्ता प्रथमायाम् । (६।३।१३२) । वा ध्रुवस्य निगमे (६।४।१) (श्रुमुद्याणम्, श्रुमुद्याम्) इति ।

अशानीद सादृश्य यादृक्ठक न प्रतीयते, अवश्यमेकेन परस्य सम्प्रत्ययं दृष्ट्वाऽनुवाद इति । तत्रापि पूर्वोक्ता युक्तिरनुवन्धेया, पाणिनीयसूत्राणां प्रतिरूपक प्रातिशारये यत्र न दृश्यते, तत्र सामवेदे एतादृशा प्रयोगा न लभ्यन्त इति वक्तुं शक्यम् । श्रुक्तन्त्रस्य केवल सामशास्त्रीयत्वात् । सर्वशास्त्राणां लौकिकप्रयोगे सह समुदायकेन पाणिनिना तु प्रातिशारये इष्टास्तत्र तत्र विषया कुत उपेक्षिता इत्यत्र न किमपि समाधानं स्यात् । विश्वामिषु, विश्वामिष, इत्यादौ प्रातिशारये दृष्टो दीर्घविधिर्यदि पाणिनिनानूदितस्तर्हि 'उत्तमव' 'उद्धानूदितो' इत्यादिषु कुत उपेक्षित इति नैतदुत्तरयितुं शक्यते । तादृशप्रयोगाणामनतिप्रसिद्धत्वादुपेक्ष्यस्य सर्वत्र न वक्तुं शक्यते—'ब्रुवाकपि' इत्यादि प्रयोगाणां संस्कृतवाङ्मये सुप्रसिद्धत्वात् । किञ्च 'आपद्' 'आधराद्' इत्यादौ पाणिनिनोपेक्षितमपि दीर्घं च वार्तिककारेणोपस्थातम्, तेनानि प्रयोगाणामप्रसिद्धिर्न सम्भक् प्रतीयते । पाणिनिर्हि 'दृष्यन् सरयायाम्' इत्यध्नुस्त्वस्य सामान्येन दीर्घे विधत्ते, 'अष्टसहस्रम्' इत्यादौ तु दीर्घं न दृश्यते, तदर्थं पाणिनेर्न कोऽपि यत्नः । प्रातिशारये तु 'प्राक् घतात्', इत्युक्तम्, वार्तिककारेणापि 'प्राक्घतादिति वक्तव्यम्' इत्यनूदितम् । तस्मादनेन प्रकरणेनाऽपि 'श्रुक्तन्त्रप्रातिशारयस्य' पाणिनिपरमवत्त्वेनैव प्रतीयते । अनवधानेन मनुष्यमुख्येन पाणिन्युपेक्षिता प्रयोगा प्रातिशारये सामवहिताया मन्विष्य विरोधेयं स्पष्टीता, त एव च वार्तिककृता एवावदनूदिता इत्येन कल्पना प्यायसी । सूत्राण्येवविधानां समुखे स्थितानि यदि स्युः, तर्हि अनवधानं न सम्भवतीत्यसङ्गदावेदितम् । किञ्च तिङ्कृतादिप्रत्यया प्रातिशारयेषु न कारि नियते इत्यनेकपैतदुक्तम् । ततश्च इह दीर्घप्रकरणे 'निष्ठायामित्तादौ' इति यदिह 'दति' इति पाणिनिस्त्वस्य प्रतिरूपकं दृश्यते—तत्सर्वथास्य पाणिनिपरमवत्त्वं साधयतीति कृतं प्रपञ्चेन ।

इदञ्च वैचित्र्यमालोक्यते, यद्-श्रुक्तन्त्रकार समाप्ते विमर्शिलोपार्थमपि सूत्रं प्रणयति—'विमर्शिलो (६६) चकारेत्यादावश्वासं चारि चकारघाटतमनुविधत्ते 'क' चकारमव्ययदृष्टे' (पूर्वोक्ते (१९१) सूत्रे) नहि समस्तपदानां तिङ्-तादीनां

न साधनप्रक्रियं प्रातिशाख्येषु काङ्क्षुपलभ्यते । समास-धातु-निष्ठा-सर्वनामादि
सज्ञाश्राव्यस्य सूत्रेषु व्यवहृता दृश्यन्ते—या न विषया प्रातिशाख्यानाम् ।
नामैकदेशे नान्यप्रवृत्तिरिति परिपाठ्यपि बहुधालोच्यते । सूत्ररचनाप्रणाली च बहुत्र
पाणिनिमनुसरति बहुत्र चार्त्तान् विदध्या । तच्च वैजयन्त्यं बुद्धिपूर्वकं सम्पादितं
मनेन प्रतीयते । तस्मात् पाणिनीयं यद्व्याकरणं स्वरूपं तमेवैदिति सम्भति । इदं
तु इदं प्रमाणद्वयं पाणिनिपरमत्त्व—यद्ये प्रयोगा पाणिनिगूत्रेण सिद्धयन्ति,
वार्तिककृता यद्यर्थे प्रयत्न उपसक्त्यात्—तेष्वन साधिता दृश्यन्ते । यथा—
'स्वैरिणी' 'अशौचिणी' इत्येवदर्थे 'माष या र्णाशयो' (०६) इत्येव विहितम् ।
सामान्यावाया 'माक' चित्रवपने मायाविशेषिणी चत्रा कियदुपयुक्त्यपि विना
यम् । अथवा मायावामिनि ब्राह्मणमायाभिप्रेता स्यात् । तथैव प्रोह, प्रैव,
वत्ततराणम्, इत्यादिवाणि-युपेक्षितप्रयोगसिद्धयर्थमपि 'उपसर्गाद्भेष्यौ प्रेष्यार्थे'
(९८) 'वत्तरादीनामृनि' (१०६) इति सूत्रयति, 'श्रुते च तृतीयावसाने'
इति वार्तिकमनुसरथ 'मासे ष्मृति (१०३) इति सूत्रयति । अत्र समासशब्दार्थे
'मास' शब्द एव प्रयुक्त, दानशब्दार्थे च 'ध' शब्द इत्यत्र वैजयन्त्यमालोच्यमव ।
'शुनो वत्त' इत्यादिदीर्घानुवादश्च दीर्घप्रकरणे दञ्जित एव । यदि हि सूत्राणी
माणि पाणिनेरप्रवृत्तान्, तर्हि कथं तदनुवृत्त्यं स्यादिति 'स्वैरिणी' 'प्रोह' इत्यादि
सिद्धयर्थं बुद्धिं न व्यधासत् । न ह्येकविधननन्वान् सम्भवतीत्यनुवृत्तदोषोचाम ।
तस्मात् पाणिनिपरमत्त्वमेव श्रुतनन्प्रातिशाख्यस्यापि स्वयं सिद्धयति । यत्तु
शाङ्क्यायनप्रणीतत्वप्रसिद्ध्या पाणिनिगूत्रं तस्मिन् प्रातिशाख्यस्य साधयन्ति, पर
भवत्वसाधकानुक्तमूलाणि च प्रसिद्धानि पश्चादपि एकमोहन्ते—तदपि न इदम् ।
शाङ्क्यायनप्रणीतत्वेनासिद्धे आरम्भ एवात्र 'श्रुते' नाद इति शाङ्क्यायन'
इत्येव नाम्नोक्तिरिति शाङ्क्यायनानुवादो दृश्यते, यदि हि शाङ्क्यायन एव श्रुतं
तत्र प्रायेणत, कथं स्वमतमत्र स्वयमवबुद्धिद्वयम् ? किञ्च अन्तेषु प्रातिशाख्येषु
शाङ्क्यायनमतं यत्तदुद्धृतम्—न तत्सर्वमिह निमाल्यते । तथा हि—प्राथम्यवर्णं
मुदि शाङ्क्यायन (का प्रा ३।९) विहामूल्योपध्यानीयौ शाङ्क्यायन (३।१२)
परिण इति शाङ्क्यायन (३।८७) इति कात्यायन आह । शेषेषु परेषु विरुद्धं
शाङ्क्यायनमतं शेषसंभ्रतामाप्नोति, शाङ्क्यायनं तु विरुद्धं एव तिष्ठति । तथा
कथं पश्येद्विच्छेदं विहामूल्योपध्यानीयौ भवतु शाङ्क्यायनमते, शाङ्क्यायनमे
तु न मथत । परि—पठ्यते 'न' इति पदस्य नन्वरो णत्वंमापद्यते शाङ्क्यायन
मते इति तदभिप्राय । न तादृशं निमित्तं विधानमप्युत्प्रेक्षणीयमेव । 'प्रथम
शाङ्क्यायन (५।१ सू १६) इत्यादि च शौनकेनोक्तम्, अत्राने प्रथममेव
व्यञ्जनं शाङ्क्यायनमतेन तिष्ठति, न तु तृतीयं यन्वनवामात्रत इति तदभिप्राय ।
तादृशमपि विद्विन्नेहाजीकते । तस्मान्नेदं सूत्रं शाङ्क्यायनकृतमित्येव प्रतीयते ।

भन्तु वा केनचिच्छाकटायनेन प्रणीतमिदम्, पाणिनिपरिचितस्तु शाकटायनोऽयं नैव सम्भवति 'लृट् शाकटायनस्यैव' इत्याद्यानां तिङन्तविधोनामत्र प्रसङ्गेरेवाभावात् । माघनीयभातुवृत्तायुक्तपूर्वस्य क्षिणुषातोश्चाप्यत्राप्रसङ्गः । तस्मात् पाणिनिपरिचितं शाकटायनो वैयाकरण एव मन्त्रितमहति, न प्रातिशाख्यम् । यत्तु पाणिनिपरमन्त्वसामकानि सूत्राणि प्रक्षितानि, पञ्चानिवेशितानीत्युच्यते, तदपि प्रमाणाभावेऽनवधेयमेव भवति । भन्तु वा प्रक्षितरहितं किञ्चित्सूत्रं पाणिने पुरातनम्, तस्य किं रूपमिति शत्रुमद्य कुशमेव । अद्योपस्यमानन्तु पाणिनिपरमवमेति वयं साधयाम ।

पुष्पसूत्रादीनि तु एतत्तुल्ययोगक्षेमाण्येवनि विस्तरमिदं न पृथगालोच्यते ।

अथ शौनकीयम् ऋग्वेदप्रातिशाख्यं परं सन्दिह्यते । तस्य पाणिनिपूर्वमवतरे परमवतरे चोभयथापि युक्तं तुट्टा सम्भवन्ति । पूर्वमवतरे तावद्युक्ती प्रदर्शयाम —

१. अस्मिन् प्रातिशाख्ये सूत्रप्रक्रिया सुव्यवस्थिता न दृश्यते । कारिकासूत्राणि प्रायेण सूत्राणि, पाणिनिकाले हि सूत्रममरसुव्यवस्थितता जाता, तत एव पाणिनिपरमवतरे प्रातिशाख्येऽप्यसौली पाणिनिसमानेव प्रतीयते । क्वलं शौनकप्रातिशाख्ये एव कारिकादिरूपेण विश्रृणता दृश्यमाना तस्य पूर्वमवतरे व्यापयति ।

२ सूत्रनिबन्धनशैल्यामपि गौरवं दृश्यते । यथा हि पाणिनिना 'तस्मिन्निति निर्दिष्टे पूर्वस्य' 'तस्मादित्युत्तरस्य' इत्यादि परिभाष्य सप्तमीपञ्चम्यादिविभक्तिभिः सक्षेपेण स्वामिमनोऽर्थो बोधितः, कात्यायनादिभिः प्रातिशाख्यकृद्भिर्वापि सोऽध्वानुसृतः । तथाच शौनकीये न दृश्यते । तथा हि—'अकं सवर्णे दीर्घं' इति पाणिनिसूत्रसमानार्थकं सूत्रं तत्रालोक्यताम्—'समानाक्षरे सस्थाने दीर्घमेकप्रमे स्वरम्' (२५।१५ सू) उमे समानाक्षरे सस्थाने (सवर्णे) एकं दीर्घं स्वरं प्राप्नुत इति तदर्थः । सवर्णसंज्ञाया अकारणाद् 'एकं पूर्वपरयो' इत्यपरिभाषणात् स्वरसंख्यादिप्रकरणविभागाभावाच्चक्रियद्गौरवमत्र कर्तव्यममूदिति पर्यालोच्यम् । तथैव 'आद्गुण' इत्यस्य स्थाने च 'इकारोदय एकारमकार सोदय' (५ २। ६ १६) अप्र 'अमे'—इत्यस्य स्थाने 'उदय' शब्दः प्रयुक्तः । इकार उदय परो यस्मात्, तादृश अकार सोदय —अग्रिमवर्णसहित एकारमापयते । अप्रादि तथैव गौरवं दृश्यते । 'इको यणचि' इत्यस्य प्रतिकूलकम् 'समानाक्षरमन्त स्या स्वामकण्ठ्यं स्वरोदयम्' (२।२१) इति । एरोदयम्—स्वरपरम्, समानाक्षरम्—अष्टौ समानाक्षराणादितः, इति परिभाषितम् १—उ वर्गोदि, अकण्ठ्यम्—अकारभिः, स्वाम्—स्वसदृशीम्—अन्तं स्थाम्—अन्त एव वर्णरूपतामापयत इति । अत्रापि बाष्पपाथकभावाद्यविचारात् सवर्णदीर्घाः ऋः एः तन्निषेधं कृतं 'न समानाक्षरे स्वे स्वे' (२।२२) इति । पाणिनिप्रक्रिया तु यदि शौनकेन दृष्टाऽमविष्यत्, न तर्हि गौरवप्रत्येय परिपाटी तस्य सूत्रेऽदृश्यत । तत् पाणिनिपूर्वमवतरेण प्रतीयते ।

३. संज्ञापरिमाणप्रवाच्यत्वम्, यदपि दृश्यते—तद्विलक्षणमेव, तस्मात्पाणिनेः प्रभावोऽत्र न कश्चिदपि दृश्यते ।

४. व्युत्पन्नः प्रायेण न दृश्यते, शब्दस्वरूपग्राहमेव तानि तानि कार्याणि विशेषेण विहितानि दृश्यन्ते । यथा—‘आदिर्हविष्योतिरित्युत्तरद्वेष्टकारः’ (४।४७) इति विसर्जनीयस्य परं शब्दस्वरूपग्रहणपुरःसरमेव निर्दिष्टम् । पाणिनेस्तु ‘शुद्धपक्षस्य चाप्रत्ययस्य’ इत्यनुगमो दृश्यते । तथैव पाणिनिः ‘पठ्या. पतिपुन-पृथपरपदपयसोपेयु’ (८।३।५३) इत्यनुगमेन पतिशब्दे पदशब्दे च सर्वत्र विसर्गस्य स्वरूपमुक्तवान् । शौनकस्तु प्रातिशाख्ये—‘अन्तःपाद ऋद्धे दकारपूर्वः पतिशब्दे द्वयन्तरे मुंश्चप्रवाद’ (४।४२) इति पतिशब्दे परे स्वं विधायापि वास्तोरित्येतत्पतिशब्द उत्तरे (४।४६) इति पुनः पतिशब्द एव पठ्यता एव स्वं निदधाति । पदशब्दे च परे पदानि षष्ठीत्वैव सप्तमनुविधत्ते (४।५९ सूत्रे) एवं प्रयोगः सर्वत्रैव, तस्मात् पाणिनिप्रक्रिया नास्य परिचिता, पूर्वमवत्वादित्येव-मनुमातुं शक्यते ।

५. कचिच्छौनकेन सामान्येन विहिते पाणिनिवृत्तौ विशेषनिर्देशोऽपि दृश्यते । यथा ‘ओकार आनग्नितक्षः प्रष्टव्यः’ (१।६८) इति सम्बोधन ओकारस्य प्रष्टव्यत्वं सामान्येन शौनकेनोक्तम्, प्रष्टविनाऽस्तु अग्रे ‘प्रष्टवेति करणादौ प्रष्टव्याः’ (२।५९) इति इतिशब्दे पर एवोक्तः । पाणिनिना तु ‘सम्पुद्धो शाकन्पत्येता-वनापे’ इति प्रष्टव्यस्येन इतिशब्दे पर एव कृता, तत्राप्यवैदिक इतिशब्दे इति सोऽयं विशेषः । तथैव ‘सर्वैः प्रथमैरवधोषमानः शकारः शाकन्पतिपुनः उकारम्’ (५. ४ सू. ४) इति शौनकेन वर्गत्रयमात्मरस्य शकारस्य सर्वत्र उकारो विहितः । पाणिनिना तु ‘शङ्खोऽटि’ इति श्रव. परस्य शस्य ऋटि पर एव उकारो विहित इति विशेषः । तस्माद्विशेषनिर्देशश्च पाणिनिः परमत्र एव सम्भाष्यते इति ।

अथ पाणिने. पूर्वमवत्वे शौनकप्रातिशाख्यस्य परमवत्त्वे च युक्तयः प्रदर्श्यन्ते—

१. शौनकीये प्रातिशाख्ये मङ्ग शर्भं पयं दृश्यत आदौ । पाणिनिपर्यन्तं सूत्रेषु मङ्ग शर्भरूपप्रतिनिर्देशा, अथशब्देन ओङ्कारेणैव वा सूत्रवृत्तौ ‘मङ्गलपूर्तिः । तस्मात्प्रातिशाख्ये श्रवणार्ण मङ्गल सूत्राणामेषा पाणिनिपरम्परस्यैव धन्ययतीति विचार्य विमर्शहृद्भिः ।

२. उपधासनासादिवंशा अरिनन् प्रातिशाख्येऽपि ‘वरकृता’, ‘व्यवपूर्णाण्य-समासयोगे’ (१।९९) ‘सहोचरो सिन्नि एकगणक’ (१।६७) इत्यादिषु सूत्रेषु । न तु सहाऽत्र पूर्वं विहितेति पाणिनीयसहकारेणैव तत्तत्सहा-यवहारोऽनु-मीयत इति परमवत्वमस्य सिद्धयति ।

३. ‘उत्तरो न द्वौ स्तौ’ (आकारमापद्यते) अनेन सूत्रेण ‘अन्वेत वा उ’ इत्यत्र प्रथमत्र आकार एव विधोषने, पाणिनीये ॥ पूर्वमावादेशं कृत्वा ततो

यकारलोप इति प्रातिशाख्ये लाघव इदमवते । यकारवकारलोप पाणिनीये विकल्पित, इह तु यत्र यकारादेशलोपो न दृश्यते, तत्र 'वायवायाहि' इत्यादौ वकारागमो विहित । एवमेव 'विसर्जनीयो अविविक्तो दीर्घपूर्व स्तरोदय आकारम्' इत्यादिना 'था ओषधी' इत्यादौ विसर्गस्य स्पष्टमात्रमत्र सत्त्वेण विहितम् । 'ह्रस्वपूर्वस्तु षोडशकारम्' (२।२७) 'ओकार ह्रस्वपूर्व' (४।२१) इत्यादिभिर्विसर्गस्यैवाकाररूपता ओकाररूपता च लाघवेन कृता । पाणिनीये तु विसर्गस्य सत्वम् ऋत्वम्, आ-मा-वा, तदनु लोप सन्धिर्वेति गौरव इदमवते । लाघव चेद् परवर्तिन एव सम्भवति, न हि पूर्ववर्तिनो लाघव इष्टा परवर्ती गुरुभूतमुपाप मारचयेदिति प्रकृतिषिद्धम् । तस्मात् परमवत्त्वमेव प्रातिशाख्यस्यानुमीयते ।

४ पाणिनिना 'प्रकृत्यन्त पादम यपरे' (६।१।११५) इति षष्ठान्दसप्रक्रिया सूत्रे पररूपपञ्च प्रकृतिभाव विद्वत्ता अकारावकारवकारयो परयो प्रकृतिभाव प्रतिषिद्ध, तत्र पररूप भवत्येति तदाशय स्पष्ट । परम् 'अतै लीक्षन्ते भ्रमन्' मित्रमहो भवन्तात्' इत्यादौ वकारपरेष्यकारे परम् न दृश्यते । तदिदं पाणिनी यैर्वाङ्मूलादेव समाधेयम् । प्रातिशाख्ये तु यकारवकारयोर्लघुत्वं यत्र, तत्रैव पररूपम् इति विशेष नुक्ता 'लघुयकाराद्यक्षर पर चेदिति' (२।३५) सूत्रेण उक्तोदाहरणयोर्वैकारस्य सङ्कुत्वेन लघोमपरत्वन च गुण-स्वरपरिभाषयाभिरप्य पररूपसमाधानं तत्र सम्यक् कृतम् । यदि पूर्वमेव पाणिनिनेदं दृष्ट स्यात्, तर्हि न स 'अव्यपरे' इति सामान्यन ब्रूयात् । प्रत्यय विधान इष्टा नानवधानं सम्भवतीति । तस्मात्परमवत्त्वमेव प्रातिशाख्यस्यानुमीयते ।

५. पाणिनिना 'शदञोऽङि' इति ऋष पररा शकारस्य अङि पर एव छकारो विहित । पर 'अङिन् छनमिहि' इत्यादावङि छकारस्य छत्वमात्रायते । षोडश न ह्य पर, न वाट्परक । तदर्थे प्रातिशाख्ये शौनकायै 'छकार तयोऽदय शकार' (४।१२) इति अकारवकारयो परस्य 'शकारस्य परवर्ण नियमननाभित्यैव छकारो विहित । यदि हि पाणिने पूर्वमीदृश विधानमद्रश्यत्, तर्हि अवश्य 'छनमिहि' इत्यादिप्रयोगविद्वत्त्वार्थं स्वयमपि यत्नमकरोष्यत् । तेन परमवत्त्वमेव प्रातिशाख्यमनुमीयते ।

६. अयेदमेक विसर्गस्य सप्तविधायक सूत्र पाणिने शौनकस्य च बह्वशे सवदद् दृश्यते—

क करत्करतिट्टिफिट्टेभनदिते (पा० ८।१।५०)

कर कृत् कृषि करत्करित्यपि परेषु (शौ० प्रा० ४।४२)

अत्र पाणिनीये 'करति' इति पदमधिकम्, न त्वप्रातिशाख्ये दृश्यते । प्रातिशाख्ये च 'करम्' इत्यधिकम्, न तत् पाणिनीये सूत्रे दृश्यते । अदिते

पर्युदासश्च पाणिनिना प्रोक्तः, न तु शौनकेन । तथास्माकं पूर्वोक्ता युक्तिरत्राप्यालोच्या पाणिनेर्योऽथ प्रातिशाख्ये त्यक्तः, न तु श्रुक्शाखायामनुपनम्भादिति शक्यसमाधिः । यस्तु प्रातिशाख्याञ्च पाणिनिना त्यक्तः, तत्र समाधानं न वक्तुं शक्यम् । पाणिनीयस्य सर्वशास्त्रासम्पादकत्वात् । 'सहस्रकरम्' इत्याद्या प्रयोगाकृतं पाणिनिनोपेक्षितम्—इति नैतद्युज्यते समाधानम् । तस्मात् परम्भवेन शौनकेनैव पाणिनीयं सूत्रमनूदितम्, तत्र च योऽथ रन्शाखाया अनुपयुक्तः स परित्यक्तः, यथाश्च रन्शाखीयोऽपि पाणिनेरनुसंधानेन त्यक्तोऽभूत् ॥ सप्रहीतः—इत्येव कल्पना प्रायसी । ततश्च परम्भवेनैव प्रातिशाख्यस्य स्पष्टं सिद्धयति ।

७. अयेदमतिदृढं प्रातिशाख्यस्य परम्भवे प्रमाणम्—दूडाशः, दूणाशः, दूळ्यः, इत्यादीनां सिद्धये पाणिनेर्न दृश्यते प्रयत्नः । वार्तिककृता तदर्थम्—'दुरो दाशनाशदमध्येष्वसुत्तरपदादेः घुस्त्र च' इत्युपसंख्यातम् । शौनकीयं प्रातिशाख्ये ॥ दृश्यते तदर्थं सूत्रम् 'दूळ्याणांशदूल्भप्रवादा दूर् दूमूतमशरं तेषु नन्तु' (प. ५।५।५) यदि हि सूत्रमिदं पाणिनिना दृष्टं स्यात्, कथं तर्हि तेनेमे प्रयोगा उपेक्षिताः स्युः । तस्मादनवधानेनैव विस्मृता इमे प्रयोगाः, वार्तिककारेण प्रातिशाख्यकारेण च पश्चात् सप्रहीता इत्येव सम्भवति ।

८. तथैव 'ऊष्मोदयः प्रथमः स्पर्शमेके द्वितीयमाहुरपदान्तभाजम्' (प. ६।५।४) इति शौनकीयसूत्रम् । तच्चेद 'चयो द्वितीया शरि पौष्करसादेरिति वाच्यम्' इति वार्तिकस्यैवानुवृत्तिः । न हि पाणिनिस्त्रेष्विदं दृश्यते । यदि हि पूर्वस्थितमिदं पाणिनिना दृष्टं स्यात्, तर्हि नैत्रोपेक्षितं स्यात् । तस्मात्परम्भवेनैव प्रातिशाख्यस्य दृढीभवति ।

९. श्रुत्कारात्परस्यापि शब्दविधानम् 'न मध्यमैः स्पर्शसौर्व्यपेतम्' इति निषिद्धं व्यवधानपरिगणनं च कात्यायनीये प्रातिशाख्ये इवात्रापि दृश्यते । ततश्च तत्रोक्तं युक्त्यैवास्यापि परम्भावमेव सिद्धयति ।

१०। शौनकीये व्याडेनम् दृश्यते । व्याडिश्च पाणिनिस्त्राणां व्याख्यातेति सुप्रसिद्धा किंवदन्ती । ततश्च व्याडेरेवाकृतः शौनकः कथं न भवेत् पाणिनेरर्वाचीनः ।

ता एताः पाणिनिपरम्भवे युक्तयः । अत्र परम्भवे उपात्ता युक्तय एव दृढा प्रतीयन्ते । पूर्वम्भवत्युक्तयस्तु बाहुल्येन प्रातिशाख्यसामान्योपक्रम एव समाहिता अस्माभिः । कारिकाभिः सूत्राणां प्रगयनं तु पाणिनेरुत्तरकाले एव प्रायेण दृश्यते । स्वयं वार्तिककृता कात्यायनेनैव सूत्ररूपाग्रनेकानि वार्तिकानि श्लोकेकैरेवोक्तानि । सेयं कात्यायनस्य शौनकस्य च समाना शैली न पाणिनिपूर्वम्भवे साधयितुमीष्टे—इत्यादि समाधेयम् । माध्यकार उज्ज्वलाणि प्रातिशाख्यस्यास्य पाणिनीयशेषत्वमेवाह प्रयोजनक्यनाशसरे—'तथा व्याकरणे यस्सामान्येन, यथा 'श्रुचि तुनुष मनुतस्कुत्रेऽप्याणाम्' (पाणि ६।३।१३३) इत्यादि तद्वद्व्यवस्थापयितुमिद-

मारभ्यते । न स-त्रैतानि पदान्यस्या शाखायां दीर्घाणि भवन्ति, इति ।.. एवं शिक्षा-छन्दो-व्याकरणैर्यस्य-सु शाखासु सामान्येन लक्षणमुच्यते, तदेवास्या शाखा यामनेन 'यदस्थाप्यते' इत्यादि । आयर-णप्रातिशाख्ये तु स्वयं सूत्रकृतैवाथोऽयं मुपन्यस्त 'ए-मिहेति च विभाषाप्राप्त सामान्येन' (अथ प्रा १।२) इति । सामान्येन लक्षणेन पाणि-यादिविहितेन यद्विकल्पप्राप्तम्, तदेवमस्या शाखाया व्यवस्थित भवतीति तदर्थः ।

यदि तु व्याडिरय पाणिने पूर्वमवोऽभिमत-यते, पाणिनिसूत्र-व्याख्यातृत्वं तस्य नाद्रियते, अन्यो वा व्याडि कश्चन पाणिने पूर्वमव स्वीक्रियते । प्रातिशाख्ये चारिमन् बह्वोऽद्या अवर्धकना परंपराभिना अनुमीयन्ते, दृष्टा अप्यस्य रूपप्रयोगा-शब्दा पाणिनिना सत्त्वेष्वप्युपातेनोपेक्षिता एवेति च स्वीक्रियते, तर्हि स्वीक्रियता नाम प्रातिशाख्यस्य पूर्वमवत्वमपि । इदानीन्तु यस्मिन् रूपे शौनकीय प्रातिशाख्य पश्याम — तदिदं रूप पाणिने परममेवेति निर्णीतमस्मानि । भवेद्युर-यस्य पाणिने पूर्वमपि प्रातिशाख्यानि कानिचित्, न तानीदानीं दृष्टिस्थिता कस्याप्यायान्ति । यानि त्वद्यस्य उपलभ्यन्ते व्याकरणानि प्रातिशाख्यानि वा तेषु स-त पूर्वमवो भगवान् पाणिनिरेवत्यस्माकं बुद्धौ निर्विवादम् । अत एव वैदिका अपि ब्रह्मयज्ञे वेदाङ्गेषु 'वृद्धिरादैच्' इति पाणिनेरादिसूत्रमवाधीयते, न तु प्रातिशाख्यादीनाम् । तस्मात् पाणिनेरन्यद्विहितं सर्वं स्वीकृतमिति निर्विवादम् । तत्र च प्राचीनावमदि मुख्यो हेतुरस्येवेति ।

निरुक्तकृतः पौर्वापर्यम् ।

अथ निरुक्तकृतो भगवतो यास्काचापात् पाणिनिर्भगवान् पूर्वमव परमवो वेत्येतदपि कालनिर्णयप्रसङ्गे विचार्यमेव । अत्र विषयेषुभयया प्रतिपत्तिरस्ति, उभयत्र च सम्मान्या युक्तय सन्ति । श्रीरुच्यन्तसामभूमिमहामाग स्वीये निरुक्तालोचने भगन्त पाणिनि यास्काद् द्वित्रयता-दीपूर्वमवमहोदरोति । तस्य चेता युक्तय —

१. पाणिने 'पर सन्निकर्षं संहिता' इति सूत्रं निरुक्ते प्रथमेऽध्याये पठे पादे (१७ क) उद्धृतं दृश्यते इति सर्वत्र प्रधानतमो हेतुः । अत्र केचन शङ्कन्ते 'पाणिनिनैव निरुक्तादुद्धृतमिति कुतो न मन्यते ? निरुक्तकृता स्वयं तल्लक्षण संहिताया कृत स्यात्, तच्च सम्यग् यास्का पाणिनिनैवोद्धृत स्यादित्यपि समा-पत इति । परं नेद ग्रन्थपर्यालोचनया सिद्ध्यति । निरुक्तकारो हि न तत्र संहिता रक्षयितुं प्रवृत्तः । किन्तु परेषा सम्प्रतिरेव तेन उद्धृतमिति ग्रन्थपर्यालोचनया सिद्ध्यति । निरुक्तशास्त्रस्य प्रयोगनानि तत्र यास्केन वर्ण्यन्ते, तेष्विदमपि तेनोपात्तम् 'अथापीदमन्तरेण पदविभागो न विद्यते' इति । निरुक्तेन तत्तत्पदस्यार्थे

विज्ञाते पदविभागो वेदमन्त्रेषु सम्भवति, अर्थज्ञाने च निरुक्त प्रधान सहायकमिति पदविभागोऽपि निरुक्तसाधन इति तदाशयः । 'अवसाय पद्वते रुद्र मृ' इत्यस्मिन् मात्रे अवसायेति अवसयवदस्य चतुर्थ्येवचनम्, तस्मादन पदकारैरवग्रहो न क्रियते । 'अवसाय अध्वान्' इत्यत्र अवोन्सु सतिस्त्वन्त इति अवेत्युपसर्गं पदेऽवग्रहं क्रियते । विनार्थज्ञानं कथमिदं विज्ञेयं—कुत्र ह्यन्तं कुत्र वा चतुर्थ्यन्तमिति । एवमेव एकरूपमेव 'निश्चुत्वा' इति पदं 'द्रुतो निश्चुत्वा इदमाचगाम' इत्यत्र 'निश्चुत्वा' इति षष्ठ्यन्तं मन्यते, 'परो निश्चुत्वा आनक्ष' इत्यत्र तु 'निश्चुत्वे' इति चतुर्थ्यन्तं विद्यते । तदिदं विनार्थज्ञानं कथं सम्भवेत्, कुत्र षष्ठ्यन्तं कुत्र वा चतुर्थ्यन्तमिति । एव प्रयोजनमुत्तरा अप्रैव 'पर सन्निकर्षं सहिता' इति 'पदप्रकृति सहिता' इति सूत्रद्वयमुद्घृतम् । तत्र प्रथमं पाणिनीये, द्वितीयं च व्यस्येन 'सहिता पदप्रकृति' इति श्रुत्वातिशयोक्तेरुच्यते । अग्रे च निरुक्ते पदप्रकृतीनि सर्वचरणानां पार्षदानि' इत्युक्तम् । अत्र भाष्यहृद् दुर्गचार्यः 'पदविभागप्रसक्तमधुना साहताल्लक्षणमाह' इति सूत्रद्वयमन्तराख्यामाह । 'पदप्रकृति सहिता' इति चैव व्याचष्टे 'अत्र द्वेष्टा ण्यवति-पदानां या प्रकृतिः सैव पदप्रकृति सहिता, साहतातो हि पदानि प्रक्रियन्ते, तस्माद्विकार पदानि । अतरे पुन पदानि प्रकृतिर्दृष्टा सैव पदप्रकृति । पदान्येव हि सतन्वमानानि सहिता भवति । तस्मात्पदस्येव प्रकृतिः, विकार सहितेतत् । सर्वेषां चरणानां शास्त्रान्तरागाम्, यानि पार्षदानि—प्रातिशाख्यानि तानि पदप्रकृतीनि, पद तेषु सहिताया प्रकृतिरिति चिरपते । तेषामपि स एव सन्त्य इत्यभिप्रायः । अग्रे च श्रीदुर्गाचार्येण सहिताया प्रकृतिरिव समर्प्य 'समयमाश्रमिन्तत्-स्वशास्त्रनियतमेव' इत्याद्युपसङ्गतम् । एव सहिताल्लक्षणमप्रसक्तं प्रसक्तोपसर्गमेवेति व्याख्याकृतो मन्यन्ते । अप्रसक्तं च निरुक्तं कृत् स्वयं लक्षणं ब्रूयाद्-इत्यपेक्षया परस्य लक्षणमुद्धरदित्येव समुचितं प्रतिमाति । पाणिने शौनकेभ्य च सूत्रे निरुक्तकृतोद्घृते इत्येव कल्पना सम्यग् भवति ।

वयनवत् ब्रूयन्—न कल प्रसक्तानुप्रसक्त्या अग्रतःकथनमेव यास्कस्य मन्तव्यम्—अत्र तु प्रसक्तेन सुश्रुतमेवैतत् । तथा हि—पदविभागो योऽयं निरुक्तस्य प्रयोजनस्योपन्यस्त, तत्रैव शङ्का समुत्तिष्ठते—यमामूरदविभाग, किं नञ्छ्रुतम्, सहिताया ये मन्त्रा यथा पठिता, तेषां तथैव पाठेन वयं कृतार्था । पठ्यमानाया सहिताया एवाहोरात्रादक्षरादिनि । तत्रैव यास्कस्योत्तरम्—यदानीं हि सहिताया प्रकृतिः, तान्येव मूलभूतानि । पदान्येव हि सदन्यमानानि संहता भवति । यदि नाम निश्चयं पदानि—कथमिदं सहितां प्रादुर्भावैत् तस्मात् पदानां न कर्तुं युज्यते इति । अतएव स्वरस्य समर्थनाय तेन पाणिने शौनकेभ्य च लक्षणं उद्घृतम् । पदानामपि यदिन स लक्षणमव सति तस्मिन् पाणिनेना मन्यते, शौनकेनपि च पदानि प्रकृतिर्दृष्टा सा सहितैरुच्यते । सर्वानि च प्रातिशाख्यानि पदानां

प्रकृतिर्यं ब्रुवन् इति । तदित्य अन्यस्य सुसङ्गते । अन्यदोर मृदयमेव तयोद्धृत-
मिति चास्मिन् पक्षे सुस्पष्टम् । भाष्यकृद् दुर्गोचार्य पाठनात्रेगादृष्टकलोत्पत्तिवादी
आधुनिक इति तेन सहितानां प्रकृतित्वं बन्नादत्र मन्त्रं समर्थितम् । यास्कस्तु
अर्थरश्मिवादीति पदानामव प्रकृतित्वं च ब्रवीति-इति युक्तं प्रतीयते । ततश्च
पाणिने तस्मादपि परमन्त्य शौनकादिवाक्यस्य सूत्रस्य चोदरणात् पाणिनिपर-
मत्वं तस्य सुतरां सिद्धम् ।

२. निवृत्ते (अ. ४ ॥ २५) अस्या इति अस्य इति च पदे प्रोक्तं यास्केन
'अस्या इति वास्येति चोदात्तं प्रथमादश, अनुदात्तमन्वादेशे तीनर्थतरमुदा-
त्तम्, अचरीषोऽर्थतरमनुदात्तम्' । इदं च 'इदमोऽन्वादेशोऽशनुदात्तस्तृतीयादौ'
इति पाणिनिसूत्रसंवादि, तदनुकरणमेव सूचयतीति पाणिनिपरमत्वमनास्यानुमीयते ।

२ पाणिनिप्रोक्ता कृत्तद्वितसमासादिसंज्ञा, उपधादिसंज्ञाभ्यां निवृत्तकृता
एवमुक्ता पाणिनिपरमत्वमेव तस्य स्थानयन्तीति ।

४. 'न सर्वाणीति गाम्या वैवाकरगानां चैके' (अ. १) इति यथास्केन सर्वाणि
नामान्याख्यातजानि न सन्तीति वैवाकरणमन्त्रमुत्पन्नस्तम्-नत्पाणिनेरेव दृष्टुं
दृश्यते, तेनैव 'अर्थवदधात्प्रत्यय प्राति-दिक्' 'कृत्तद्वितसमासाश्च' इति
सूचयता ऋट्-पुश्चान्ताः पुश्चान्द्विविधप्रातिपदिकवत्ता स्वीकृतेति ।

५. 'आपनीपणदिति पणतेचर्करीतकृत्तम्' (निवृ २।१।६) इति यास्कौचित्तरपि
पाणिनिनान्वाख्याता यङ्गुगन्तप्रक्रिया स्मारयन्ती परमदृष्टमेव ख्यादयति ।

औत्स्यप्रतसामभ्रमिमाहाशयस्तु निवृत्ते दृष्ट्वा दद् व्याकरणपदं वैवाकरणपदं च
व्यवह्रियते, तत्सर्वमेव पाणिनिपरमत्वात्वापकं यास्कस्येति विस्तरेण प्रतिपादित-
वान् । पाणिनिपूर्वमन्त्रस्य कस्यापि व्याकरणस्याभावादिति । तत्वेतदस्याभिद्वन्द्वतया
पाणिने पूर्वं व्याकरणान्तराणां सत्ता समर्थनमानैर्निर्वाकृतमेव विस्तरण । अनारि च
प्रथमा युक्तिं विद्यायान्वा विधिप्राया एव । अस्या, अस्य, इति पदद्वय वेदेषु
उदात्तमनुदात्तं च दृश्यते । तदेतन्निरुक्तकृता स्वीकृतम्-तदेव च पाणिनिना-
नूदितमित्याप सम्भवति । नह्यत्र निगमक पदशाम-पाणिनिना य एवमतमनूदितं
वा यास्केन पाणिनिमतमनूदिनमिति । उपरथाप्येनत् सम्भवति । प्रत्युत उदात्तानु-
दात्तयोर्लक्षणमिदं प्रधानं निवृत्तकृतोक्तम्-तत्पाणिनीयेन निवृत्तपदे, तेन
एवनिवृत्तयारेवोदात्तानुदात्तत्वयो स्वीकारात् । तथैव कृत्तद्वितादिवशात् । पूर्वेषु
व्याकरणेष्वपि भवेत् । वा एव निवृत्तकृता व्यवहृता स्तुरित्यपि सम्भाव्यत एव ।
पूर्वरपि वैवाकरणेनान्न द्वैविध्येन न स्वीकृतमिति को नाम वक्तुमीष्टे, तेषां
व्याकरणानां यावत् पदेचयो न भवेत् । आपनीपणदिति चर्करीतकृत्तमिति च
प्रत्युत विपरीतम्-चर्करीतमिति नाम प्राचीनेषु व्याकरणेष्वेव प्रसिद्धमाधीन्-इति

स्तु पूर्वमवाचयामेति । केन च रुदितालङ्कारस्योद्धरणमिति युक्तिरेवात्र प्रबला ।
'इष्टं वरमहस्त' इति न्ययश्चात्रस्य श्रीमानममिगोऽनुकूलः । पाणिनीये ह्युक्तं सर्वं
स्पष्टं दृश्यते—अन्देशे तु क्वलं सम्भवमात्रमुच्यते इति पाणिनिपरमवस्तुस्वीकारे
इष्टमूला कल्पना स्यादिति ।

अथ यास्कस्य पूर्वमवस्थे मुख्यं आलोक्यन्ताम्—

१ महामारते यास्कस्य तदीयनिरुक्तस्य च नाम दृश्यते, पाणिनेस्तु न
दृश्यते । तेन यास्कस्य महामारतसंहितापञ्चयापि पूर्वमवस्था स्पष्टं सिद्धयति ।

यास्कः मामृषरथ्यमोऽनेक्यशु गीतवान् ।
वापकिं शतं ह्यस्मद् गुह्यनामधरो ह्यस्म ॥
स्तुत्वा ना शिपविरिष्टेय यास्कः श्रुतिरुदारपी ।
मत्प्रसादादधो नष्टं निरुक्तमभिजग्मिवान् ॥

(महा धा ५ ३४२ अ ७०, ७१ इत्ये)

न च तत्राविषप्रसङ्गमात्रात् पाणिनेर्नाम तत्र नायातमिति शक्यं वक्तुम् ।
यथा यास्कन 'शिपिविष्' नामनिर्वचनं कृतम्, तथा पाणिनिनापि 'वासुदेवार्तु
नाम्या पुन' 'श्रृण्वधकवृण्णिङ्कुब्यब्ध' इत्याद्यनेकशोक्तमेव । तत्र अत्रुनेन सह
मा प्रकीर्य पाणिनिरेव विद्धि लब्धवानित्यादिस्तद्ध प्रसङ्गोऽस्त्येव । मत्प्रसाद
शङ्करस्य बहुधा माहात्म्यवर्णनं महामारते, तत्रैव 'पाणिनेयेऽग्निव व्याकरणा
दनम्' इत्यादि—कोर्तनस्यापि प्रसङ्गोऽस्त्येव, तथापि न पाणिनेर्नाम तत्र स्मर्यते ।
प्रस्तुतं 'महात्रैल्लसालहृणीश्वासनावालमारमारतहैलिहिलरौरवप्रवृद्धेषु' (पा ६।२।
३८) इति सूत्रे पाणिनिर्नैव महाभारतशब्दे मद्रच्छन्दस्य प्रकृतिरपि विहितः ।
तत्रैव महाभारतस्य परिचयोऽस्त्येव पाणिनेरिति स्पष्टं सिद्धयति । अहो ! या
महामारतसंहिता पञ्चलिनीऽप्यज्ञाचीना निषाधविपतिं सामभूमिमहाशय, सा
पाणिनीयोऽपि प्राक्तनी सिद्धयति । महामारतसिद्धानि युधिष्ठिरादिनामानि कुब
जिप्रभृतीनां दशाश्वानेन्द्रा जीर्ता येव पाणिनिना स्वीयेषु सूत्रेषु । तेनापि
महामारतसंज्ञेन तत्राग्नेः प्रतिद्वयत्वे । अन्यथा काचिदासीत् सा महामारत
संहिता न तु दुराग्रहमाश्रयन् । 'इष्टं वरमहस्त' इति स्वयमवाग्नेद्विताऽनेकधा न्याय
इह निश्चित इति विमर्शदशहादिरिक्तं शक्यं वक्तुं कारणम् । आस्तां नामा
प्रकृतम् । पाणिनेर्गोष्ठादज्ञाचीनता त्वेन सुराग्रं सिद्धयतीत्येव नो वक्ष्यन् ।

२ मत्प्रसादमर्थं लिपादकृतमस्ति, पाठमात्रेण ह्यस्यादकृतं वेत्यस्ति निरुक्तं
मीमांसादर्शने च विचारः । तयोपर्यर्थं साम्यं दृश्यते । तथाहि—

निरुक्तस्य प्रथमेऽध्याये पञ्चमे पादे
(१५ खण्डे) मन्त्राणामर्थोभावाय
साधकपूर्वपक्षवाक्यानि—

मीमांसादर्शनस्य प्रथमाध्याये प्रथमपादे
मन्त्राणामर्थोभावसाधनाय पूर्वसंयुताणि
निरुक्तसमानार्थानि—

(१) नियतशान्तोयुक्तयो नियतानुपूर्वो
भवन्ति ।

(१) वाक्यनियमात् । (मी सू १।१।३२)

(२) अथापि ब्राह्मणेन व्यस्यन्ना
विधीयन्ते उरुप्रथस्येति प्रथयति,
प्रोहागीति प्रोहति ।

(२) तदर्थंशास्त्रात् । (मी सू १।१।३१)

(३) अथाप्यनुपरन्नाथो भवन्ति—अथपि
प्रायस्त्रैवम् । ६० पिते मैत्रिं द्विती
गित्याह द्विसन् ।

(३) अत्रेनेऽर्थसंघनात् । (१।२।३५)

(४) अथापि विप्रतिषिद्धार्थो भवन्ति—

(४) (१।२।३९ एव सट्हीत) अविद्य-
मानवचनात् (१।२।३४) इति वा

(१) एक एव कद्रोऽवनस्ये न द्वि
तीय , असंख्याता सदृक्षाणि
ये कद्रा अभिमृष्याम् । (२)
अद्यत्रुनिद्र अविद्ये । अतः सेना
अजयत् साकमिद्र । इति ।

(५) अथापि जानन्त संप्रेष्यति 'अनये
समिध्यमानादानुमृष्टि' इति ।

(५) बुद्धशास्त्रात् (१।२।३३)

(६) अथाप्याह अदिति सर्वमिति ।
'अदितिर्चौरदितिरन्तविषमिति' त
दुपरिष्ठाद् व्याख्यास्याम् ।

(६) अर्थविप्रतिषेधात् । (१।२।३६)

(७) अथाप्यविस्पष्टार्थो भवन्ति—'अम्बन्
यादृदिमन् ब्रारयापि कामुका'
इति ।

(७) अविशेषात् (१।२।३८)

अथ पूर्वपक्षे जैमिने सप्तद्वयमधिक दृश्यते—'स्वाध्यायवदवचनात् (१।२।३७)
इति, अनित्यसमो गान्मन्त्रानर्थक्यम् (१।२।३९) इति च । नैतद्द्वयप्रतिरूपक
यास्त्रीये पूर्वपक्षे लभ्यते । यथा कश्चिदप्येता क्वचिद्—'अद्वयातमन्त्रमप्यस्यति,
तत्रैव चोपदिष्टा काचिद् योषिद् मुशनेन ब्रौहीन् अवहन्ति । तत्र सन्त्रस्तस्या,
योषितोऽद्वयातस्य प्रकाशक इति न केनापि शक्यते वक्तुम्, तथैव यश्चालऽपि
अद्वयातसमये प्रयुज्यमानो मन्त्रो नावधात प्रकाशयतीति (१।२।३७) पूर्वसूत्रार्थः ।
यदि मन्त्राणामर्थो भवेत्, तर्हि अनित्यानां देशनगरमनुभ्यादिनाम्नां तत्र अवगा

द्वेदानामनादिता भव्येत, तस्मान्नाथप्रकाशका मन्त्रा इत्येवाभ्युपगम्यमिति
(१।२।३९) द्वितीयस्वार्थः ।

अथैतदुत्तरमपि पर्यालोच्यतामुभ
यत्र—निरुक्ते प्रथमाध्याये (पञ्चम-
पादे) (१६ खण्डे)

(स्वतन्त्रं साधनम्)

अयं वन्तः शब्दसाम्याद्, एतद्वै
यत्तस्य

समृद्ध यद्रूपसमृद्धं यत्कर्म कियमा-
णानुरूपबुद्धिभिर्बुद्धतीति च ब्राह्मणम् ।

श्रीढन्तौ पुत्रैर्नष्टुभिरिति ।

पूर्वं पञ्चस्योत्तराणि

(१) यथो एतन्नियतवाचोयुक्तयो नियता-
नुपूर्व्या भवन्तीति, लौकिकेष्वप्येतद्-
यथेन्द्राणी, रितापुत्राविति ।

(२) यथो एतद् ब्राह्मणेन रूपसम्पन्ना
विधीयन्ते इति, उदितानुवादः स
भवति

(३) यथो एतदनुपपन्नार्था भवन्तीति
आम्नायवचनादर्हिषा प्रनीयेत ।

(४) यथो एतद्विप्रतिषिद्धार्था भवन्तीति
लौकिकेष्वप्येतद्—यथा—अवसरानोऽ
यं ब्राह्मणं, अनमित्रो राजेति ।

(५) यथो एतद्—ज्ञानन्तं संप्रेष्यतीति
ज्ञानन्तमभिवादयते, ज्ञानन्ते मधुरकं
प्राहेति ।

(६) यथो एतद् अदितिः सर्वमिति ।
लौकिकेष्वप्येतद् यथा सर्वैरसा व्यनु-
प्राप्ताः पानीयमिति ।

(७) यथो एतद्विस्मयार्था भवन्तीति
नैव स्थानोरपराधो यदेनमन्थो न
पश्यति, दुरुपापराधः स भवति ।
यथा—

मीमासादर्शने श्रयमाध्याये द्वितीय-
पादे

(स्वतन्त्रं साधनम्)

अविधिष्ठस्तु वाक्यार्थः (४०)

लिङ्गोपदेशश्च तदर्थवत् (५१)

ऊह. (५२) विधिश्चन्दाश्च (५३)

अविच्छेद परम् (४४)

गुणार्थेन पुनः श्रुतिः (४१) परि-
संख्या (४२) अर्थवादो वा (४३)

अभिधानेऽर्थवादः (४६)

गुणादविप्रतिषेधः स्यात् (४७)

संप्रेषकर्मणो गहानुपलम्भ संस्कार
त्वात् (४५)

गुणादविप्रतिषेधः स्यात् (४७)

जानपदीषु विद्यात पुरुषविशेषो
भवति । पारोक्ष्यद्विषु तु खलु
वेदितृषु भूयोविद्यः प्रशस्यो भवति ।
इति ।

सतः परमविद्यानम् । (४९)

उक्तञ्च अनित्यसंयोगः (५०) परन्तु
भूतिसासान्यमात्रम् (१११३१)
विद्यावचनसंयोगात् (४८)

अत्रापि विधेर्वैविध्यं स्फुटं प्रतीयेत, यद् वेद सादृश्यं यादृच्छिकम्,
अपि तु एकस्य पूर्वोत्तरपक्षावपरेणानुक्रमौ । तत्र केन कस्यानुकृतिः—इति विचारे
मीमांसादर्शने निरुक्तस्यानुकृतिरित्येव बुद्धानुपारोहनि । बहुपूर्वज्ञत्वं च निरुक्तकृतः
विद्वधति । तथा हि—निरुक्तहृद्देदानामृषिप्रणीतस्वमभिप्रैति 'साक्षात्कृतधर्माणि
श्रुष्यो बभूवुः, तेऽदरेभ्योऽसाक्षात्कृतधर्मस्य उपदेशेन मन्त्रान् संग्राह्य', उपदेशाय
ग्लायन्तोऽदरे विष्णुप्रहणायेमं ग्रन्थं समाभ्यासिषु' वेदं च वेदाङ्गानि च' इति
प्रथमाध्यायान्ते स्फुटीकृतस्तेन स्वाभिप्रायः । एवमुच्चार्यैरभिप्रायैश्चर्वाणां मन्त्र-
द्वयौ भवन्ति (अ. ७) यथाकामं श्रुषिषंस्या देवतायामार्यस्यमिच्छन् स्तुतिं प्रयुज्जते,
तदैवतः स मन्त्रो भवति (अ. ७) 'इयोर्मोक्षो' ससङ्ग इष्टवैवमवश्यत्' (अ. ७) 'वितं,
कृपेऽवहितमेतत्सूक्तं प्रतिबभौ' () इत्यादिषु च बहुत्र श्रुयिकृतत्वेन मन्त्राणां ध्वनि-
तम् । अत एव वेदेषु नास्तीतिहास इत्यपि विचारस्तस्य नोदति स्म, तत एव 'इत्यै-
तिहासिका.' 'इति नैऋत्याः' इत्येतिहासिकपञ्चोऽपि तेन तत्र तत्रानूदितः, 'देवापिः
शमन्तुश्च क्षीरव्यौ भ्रातरो बभूवुः' (अ. २) इत्यादौ च स्फुटमितिहासपरत्वे-
नैव मन्त्रव्याख्यानं कृतम्, 'तत्र प्रोक्तेतिहासमिधमृक्मिधं गाथामिधं च भवति'
इत्यत्र च स्फुटमितिहासप्रतिपादकता ब्रह्मणो वदस्योक्ता । तत एव चात्र मन्त्रा-
णामनयैकवसाधनत्वे अनित्यानां देशनगरमनुष्यादीनां वर्णनेन वेदस्यानित्यता
प्रकट्येतेति उक्त्वा तेन नोद्भाविता । जैमिनिस्तु बौद्धादीनां निराकरणाय वेदा-
नामनौपेयत्वव्यञ्जकमप्युपागमदिति वेदेतिहाससत्तायां स्वीकृत्यायामनित्यत्वप्रसङ्गि
दोषत्वेन पूर्वपक्षेऽगणयत्, उत्तरपक्षे च भूतिसामान्यमात्रं प्रब्रुवन् तात्पर्याधानं
चकार । तेन निरुक्तकाले अपौरोपेयत्वशब्दो न दृढं सिद्धसमतोऽभूत्, मीमांसा-
दर्शनकाले तु तस्यैकशील्यकार इति बहुपूर्वज्ञत्वं निरुक्तकृतं विद्वधति । तथैव
अहमनुद्विग्राहजनानां प्रत्यक्षतः गगयित्वा मन्त्रघोषप्रक्रिया जैमिनिकाले
प्रचलितेति 'संज्ञाध्यायवदवचनाद्' इति पूर्वसूत्रेण विद्वधति, यथा सद्यस्वेऽपि याव-
द्य दिण्डिमनोपस्तावदहं मन्त्रमिमं मूषो मूषो यद्विष्णामीति दृश्यते मन्दबुद्धी-
नामभिनिवेशः । निरुक्तकाले तु नाशील्यचरित्वा प्रक्रियेयम्, तत एव पूर्वपक्षे
नेतदपि संश्लेषितं तेनेति शक्यमनुमातुम् । एवमेव 'स्वधिते मैनं हिंसीरित्याद हिंस्व'

इत्युक्त्या केशञ्छेदनेऽपि हिंसासंभावना निरुक्तस्त्वमेव आसीत्, तत एव 'आम्नाय-
वचनादहिंसा प्रतीयेत' इति समाधानमपि तेन कृतम् । मीमांसाया तु 'स्वधिते
मेन हिंसी' इत्यादौ क्षुरस्य सञ्चोदनमेव दोषत्वेन पूर्वपञ्चोक्तम्, न ॥ केश-
ञ्छेदने हिंसायाः संभावना कृता । एवमेव मन्त्राणां नियतानुपूर्वोक्तम् 'इन्द्राग्नी',
पितापुत्रौ' इत्यादिलौकिकप्रयोगसाम्येनैव निरुक्तकृता कृतोत्तरम्, जैमिनिना ॥
नियतानुपूर्वोक्तादे अदृष्टमपि स्वीकृतम्— इति अदृष्टवादस्य प्रत्यक्ष प्रचारो
मीमांसाकाले सिद्धयति, न तु निरुक्तकाले । अन्यदप्यालोच्यता सुधीभिस्तन
तत्र । तद्विषय निरुक्तवृन्मीमांसादर्शनकर्तुर्बहुपूर्वकः स्फुट सिद्धयति । पाणिनिस्तु
उत्तरमीमांसाप्रयोगेनैव परमम् इति 'पारागर्वाशिलात्म्या भिच्छुनत्सूत्रयोः' इति
सूत्रदर्शनाद् सहयोऽभिप्रयन्ति, स्वयं सामथ्र्यमिमांसायाऽपि च उत्तरमीमांसाप्रयोगेऽः
परमवमेव पाणिनिमनुपगच्छति, उत्तरमीमांसा चेय पूर्वमीमांसावमकालिञ्जी
परमवा वेति निरुक्तकृत पाणिन्यपेक्षया बहुपूर्वज्ञत्वमनयान्तरङ्गरोक्षना सिद्धयति ।
किं च पूर्वमीमांसायाम् 'आख्या प्रवचनात्' इति ऐतरेयतैत्तिरीयशास्त्राङ्क-
लादिसंज्ञाः प्रवचनादेव वाता न तु चिन्तनात्— इति स्वमत प्रतिपादितम्—
तदेवानुसृत्य पाणिनिनापि 'कृते ग्रन्थे' इत्यधिकारात् पृथक् 'तेन प्रोक्तम्' इति
वेदनिषेधकोऽधिकारः कृत इत्यनुमीयते । भाष्यकृतापि कृतोऽत्र बहुतरो विचार
इति तेनापि मीमांसापरमत्वमेव पाणिनेः सिद्धयति । ततश्च निरुक्तस्य मीमांसा-
तोऽपि पूर्वभवस्य पाणिनिपूर्वत्वे न सन्देहलेशः ।

(३) वैदिकी भाषा इत्युक्तेषु 'ऊन्दः' पदेन पाणिनिना व्यवहृता, निरुक्त-
कृता तु 'नेति प्रतिषेधार्थो मापायम्' 'उभयमन्वधायम्' (अ. १) इत्यादौ
अध्यायपदेन सा भाषा व्यवहृता । तदनेन निरुक्तकाले वैदिकी भाषा अत्येत-
व्यमायाऽसीत्, न तु ऊन्दपद तस्मिन् काले भाषाबोधकं प्रचलितम्,
पाणिनिकाले ॥ ऊन्दोवाहुल्याऊन्दःनद वैदिकमापाया प्रचलितमिति ततोऽपि
बहुपूर्वज्ञत्वं यास्कस्यानुमीयते ।

(४) पाणिनीयपरिभाषाः प्रायेण निरुक्तकृत व्यवहरति । तद्वितशब्दो
यत्र तेन कनिष्ठवद्धनः, स तद्वितप्रत्ययान्ताभिप्रायेण, प्रत्ययाभिप्रायेण तु 'तद्वित-
प्रत्ययस्याने उपबन्धशब्दो व्यवहृतः, तथा हि—अच्युशब्दनिर्वचने 'अनि वा
अधीयाने युरूपबन्धः' अच्यशब्दादप्येवमेव युरूपस्य इत्यर्थे उपबन्धशब्दः ।
'सीमतः' इति शब्दव्याख्याया च 'सीनेत्येनदनर्थकम्, उपबन्धनाददीत पञ्जी-
कर्मणम्, सीमन्-सीमत-सीमातः-मनोदातः' इदामुपबन्धशब्द एव तद्वित-
प्रत्यय बोधयितुमुपात्तः । तथैव कृत्प्रत्ययं बोधयितु 'नामकरण' शब्दं स प्रयुक्ते-
'कथो गाहतेः, वस इति नामकरणः' 'धीरं हस्तेर्धत्तेर्वा, ईरो नामकरणः'
इत्यादिषु बहुत्र द्रष्टव्यम् । शिञ्जन्तसन्तदङ्गुगन्तादीन् प्रयोगान् सूचयितु

‘कारित’ ‘चिकीषित’ ‘नर्करीता’दिपदान्येव तेन व्यवहृतानि । सर्वत्र प्रत्यय-
व्यवस्थामपि निरुक्तवृत्त स्वीकरोति, बहुत्र अनेकान् धातून् सयोऽय नामानि
निर्वक्ति । नैतत्सर्वं पाणिनेरुत्तरमनस्योपपद्यत इति पाणिनिपूर्वमवसरमेन तस्य
सम्भाव्यते । यास्तु पाणिनीये दृष्टा सञ्ज्ञास्तेन व्यवहृता, ता आशङ्कणान्तरेऽपि
पाणिने पूर्वमवे भवेयुरित्येव सम्भावयितुमापतति । पाणिनिकृतानि निर्वचनानि
च प्रायेण निरुक्ते नानुक्तानि । विल्क्षणा-त्रेव तु सत्र निर्वचनानि प्राप्यन्ते ।
तथा हि—आङ्पूर्वाच्चरतेर्ण्यता आचार्यशब्द पाणिनिर-वाह, निरुक्तकृतु-
‘आचार्य’—आचार ग्राहयति, आचिनोत्थर्षान्, आचिनोति बुद्धिम्’ इति निर्वक्ति
‘आचार ग्राहयतीति’ वदता आचारशब्देन ‘या’ धातु सयोऽय निरुक्तिं प्रदर्शित
तेति प्रतीयते । तथैव द्युतिनिशब्दो दिवुधातोरेव पाणिनीयेऽन्वयायते, निरुक्ते
तु ‘द्युतिशब्दो नामधेयम्—द्योतत इति सत’ इत्येव द्युतधातो स निरुच्यते ।
ए म् ‘अर्थो अत्ते अरणस्यो वा’ इति निरुक्तम् । पाणिनीये तु ‘अर्थ उपया-
ज्यायाम्’ इति प्रसिद्धो धातु । किमन्यत्—पाणिनि आस्पृशनादिपदानि दधन्च्
प्रत्ययेन साधयति, निरुक्तवृत्तु दधन्किति न प्रत्यय स्वीकरोति, आप्तु दधया
तोर्दन्तधातोर्वा दधन्शब्द निर्वचनीनि मश्टैर्यम्बम् । तथैव पाणिनीये अस्वीकृता
अपि उह्यो धातवस्तत्र मच्यन्ते । तथा हि ‘मातिघग्’ इति मन्त्राद्य व्याचक्षणागो
निरुक्तवृत्तु ‘मास्मानतिदही’ मास्मानतिहाय दा’ इत्याह । अतिदही—इति
नैतत्पाणिनाये दृश्यते । अतिहाय दा—इति च तदर्थकरण विल्क्षणमेव ।
तात्पर्यार्थं कृत इति सम्भाव्यते । पाणिनीयापेक्षया अर्थमेदा रूपमेदाभ्यां
धातूना बहुधा निरुक्ते दृश्यन्ते—यथा ‘मृगो मार्घ्येति कर्मण’ नहि मार्घिर्गार्थक
पाणिनीये दृष्ट । ‘पर्व पुन पृगाते’ नहि पृगाति पाणिनीये पठित ‘मीमयति
शब्दकर्मा, मृज्ज मृगाते शम्नातेर्वा’ शम्नाति पाणिनीये क । क वा
मीमयति । ‘हूयेव विधान्युदाहरणानि शक्यन्ते सुधीभि पर्यालोचयितुम्, दिक्-
मात्रमिदमुदाहृतम् । नैतत्सर्वं पाणिनिपरमवस्य युक्तं प्रतीयत इति पाणिने
पूर्वमव एव निरुक्तकारो यास्क प्रतीयते ।

ता एता यास्कस्य पाणिनिपूर्वमवस्ये दृढतरा युक्तर । एता पर्यालोच्येदमेव
प्रतीयन्ते यत् ‘पर सन्निकर्षं सहिता’ इति पाणिनिपूर्वमवेऽपि कचिद् व्याकरणे
पठत स्यात्, तदेव निरुक्तकृतोद्धृतम्—तदेव पाणिनिनानूदितम् । भवतु यथा
कथञ्चित् । अनिश्चित एवायमर्थ—पाणिनि पूर्वमवो वा, यास्क पूर्वमवो वेति
६ म्भाक् मतम् । अत्राधिकार्यान्तेष्वन्यत्र आशङ्क्यपेक्षः ।

यत्तु कौस पाणिने दिप्य इति ‘उपसेदिवान् कौस पाणिनिम्’ इति
भाष्योक्त्या सिद्धयति, कौसमन चोदरति यास्को मन्त्राणामनर्थकत्वपूर्वशब्द
इति यास्कस्य पाणिन्यवरज्ज्व साधयन्ति, तदप्यतिमदम् । कौस इति दि

गोननानाम्, एकैकस्मिन् गोत्रे शतशो व्यक्त्य सम्मदन्तीति क कौरस पाणिने
शिष्य, ओ वा यास्केन स्मृत इति निश्चेतुमशक्यमेव । महाराजराजकुलोऽपि
कालिदास 'कौरस प्रपेदे वरतन्तुशिष्य' इति कञ्चित् कौरस प्रस्तौति, किं
सोऽपि पाणिने शिष्योऽस्तु ! यश्च पाणिनिर्दिक्षु मन्त्रेषु अर्थपरिचयाय प्रवृत्ति
प्रत्ययादिक विमज्जते, तस्य शिष्यो मन्त्राणामर्थमावमभ्युपगच्छति इति नैतत्
सम्भावनास्पदम् ।

यत्तु सत्यव्रजसामभूमिमहाशयेन 'अपाणम्' इति निरुक्तदृष्ट पदमुपादाय
यास्कस्य पाणिनिपरम्परे प्रधानोऽय हेतुरिति मरुता ह्योलासेन कूर्दतेवोक्तम्—
पाणिनिकाले श्रृगशब्दे परे वृद्धिर्नवासीत् प्रचलिता, तत एव तेन तादृश
विधानं न कृतम् । निरुक्तकाले 'अपाणम्' इत्येको वृद्धिप्रति प्रयोग
प्रचलित, वार्तिककृतसमये तु 'प्राणम्' 'वस्ततराणम्' इत्यादौ बहुन वृद्धि
प्रचलिता, परम् 'अपाण'पद विलुप्त जातम्—तत एव वार्तिककृता कात्यायनेन
'प्रवस्ततरकञ्चलवसनार्णदद्यानामृषे' इति बहुन वृद्धिरुपसंख्याता, अपात् नोप
संख्यातेति च शाश्वतस्तेन सम्यग् विवृत ।

अत्र ब्रूम—पाणिनिकाले अप्रचलिता एव शब्दा पाणिनिना नान्वा
ख्याता, पश्चात् प्रचलितत्वात् पश्चाद्भवेन कात्यायनेन त उपसंख्याता—
इति सिद्धान्त एव तावदोपपद्यते । तथा हि कुल्टाशब्दे कुल+अण
इत्यत्र परस्मै पाणिनिना नान्वाख्यातम्—वार्तिककृता शकन्धादिषु परस्मैप
संख्यातम्—पर कुल्टाशब्दोऽय स्वय पाणिनिना 'कुल्टाया वा' इति सूत्रे
व्यवहृत । ततश्च पाणिने पूर्वं कुल्टाशब्दो न प्रचलित इति क एतदनुमत्तो वक्तु
शक्नुयात् । 'रृद्-इ-वृद्धि-पनि-दयि' इत्यादीन् इका, 'भवतेर' इत्यादौ द्विपा च
पाणिनिर्वात् निदिशति, 'रक्षितपौ पातुनिर्देशे' इति विधानं तु वार्तिक उप
लभ्यते इति कथमुक्तं सिद्धात पद दधात् । पूर्वोक्तेन वार्तिकनेन साध्यमानो
'दशार्ण' शब्द पाणिनिकाले देशवाचको नासीदित्यपि कश्चन साहसिक एव
शक्नोति वक्तुम्, दशार्ण-देशस्य महामारतादौ सुप्रसिद्धत्वात् । 'स्वैरी' 'स्वैरिणी'
पदयोर्वृद्धिर्न पाणिनिना-वाख्याता, वार्तिककृतोपसंख्याता, इमे च पदे छादोऽथो
पनिपदि स्फुटं भूयते 'न म स्तेनो जनपदे "न स्वैरी स्वैरिणी कुत' इति ।
तत्किं छान्दोग्योपनिषदपि पाणिनिपरम्परा ? एव प्रैषशब्द द्यतपयब्राह्मणे १३।५।२।
२३ 'यश्चत् प्रचापतिमिनि प्रैष' इति भूयते, स चापि प्रादूहोदोदीत्यादिवार्तिकेनैव
सिद्धयति । 'षोडश' शब्दोऽय 'यय उच्च दत्तदशधासु' इत्यादिना वार्तिककृतैः
साधित, पाणिनेस्त्वदर्थं प्रयत्नो न दृश्यते, पर शब्दोऽय संहितास्वपि भूयते—इति
कथमस्य पाणिने पश्चात् प्रचलितत्वं वक्तुं शक्येत ? पाणिनिना शृणोदरादिशादेवास्य
सिद्धिर्मानसि कृतेति चेत् 'द्वादश' 'अष्टादश' 'त्रयस्त्रिंशदि'शब्दा शृणोदरादिस्तेन

नोपेक्षिता, षोडशशब्द एव तूपेक्षित इत्यपि वैचित्र्यमेवापनति । यत्तु श्रीयुधिष्ठिर-
प्रभृतय आधुनिका 'नैकमुदाहरणयोगारम्भप्रयोजयति' इति भाष्यमनुसृत्य
एकैकप्रयोगार्थं पाणिनिना सूत्राणि न प्रणीतानीति समादधति, तदपि न निचार-
सहम् । एकैकस्योदाहरणस्य साधनार्थमपि पाणिनेर्वहुसूत्रारम्भदर्शनात् । 'नृ च'
इत्यस्यैकमेवोदाहरणम्—'नृणाम्' 'न तिसृचतस्र' इत्यत्राप्युभयोऽशब्दयोरेकैकमे-
वोदाहरणम् । 'पञ्चो व' 'स्त्रायो म' इत्यादीनानेकैकान्येवोदाहरणानि । सर्वस्या-
मध्यष्टाध्यास्या सप्ततो बृहद्भूतम् 'अचनुयन्विचनुरे'त्यादिसूत्रं तदनुग 'दाधर्मिदधर्ती'
त्यादि महासूत्रं चैकैकान्येवोदाहरणानि सङ्कुश्रयं सट्ठमम् । 'मित्रे चर्या' इति
सूत्रस्य चैकमेवोदाहरणम्—विश्वामित्र । अतश्च सूत्राभ्येकैकोदाहरणार्थं सट्ठवानि
दृश्यन्ते एवम् । भाष्यकारेण तु यत्र यत्र तद्वक्तव्यं प्रोक्तम्—तेन एकस्योदाहरण-
स्यार्थं सामान्यो योगो न त्रियते—इति तात्पर्यम् । यथा नाम्नाति सूत्रस्थाने
आमीनि कृते पूर्वं दीर्घे तुण् न स्यादिति प्रसूते विचारे 'ह्रस्वन्त्याप इति ह्रस्व
ग्रहणं व्यर्थं सदमृतपूर्वगतिमाधयिष्यतीति समाधाने 'नृणाम्' इत्यादौ चारितार्थ्यं
माद्यङ्गव भाष्यकृता तथोक्तम्, एकस्य 'नृणाम्' उदाहरणस्यार्थं सामान्येन
ह्रस्वग्रहणं नोचितं भवतीति तदाशयः, एवमन्यत्राप्यत्रापि । नरैकोदाहरणसाधनाय
सूत्रमेव न त्रियते—इति तदभिप्रायः सम्भवति । अत एव तथा सति 'नृनद्याप'
इत्येव नूयादिति भाष्यकृता शेष उक्तः । एतेन सूत्रमिदं जातम्—यदेकस्याप्यु-
दाहरणस्य कृते सूत्रं तु भवति, सामान्यपदग्रहणं न भवतीति आस्तामनन्दनम् ।
किं च केचन्यैकैकप्रयोगसाधनाय 'छन्दसि' इति प्रकृत्य यानि सूत्राणि पाणिनिना
प्रणीतानि, तेष्वपि कात्यायनकृतानि बहून्नुपसंख्यानानि दृश्यन्ते वार्तिकपाठे
च भाष्ये च । तदेतद्वक्ता मते कथमुपपद्यताम् ! न हि वैदिका शब्दा अपि
पाणिनं पञ्चाशत्चरिता, यदर्थं कात्यायनस्य प्रयत्नो दृश्येत । तस्मादनवधानव-
शादेव पाणिनिना केचन प्रयोगा परित्यक्ता, कात्यायनेन तदर्थं वार्तिकान्या
रचितानीत्येव कल्पना सम्भूतपद्यते । यद्यप्यनल्पमतिर्भगवान् पाणिनि, यच्च तन
कृतम्, तादृशं न कोऽपि कर्तुं शक्नु । सर्वेदशास्त्राण्युक्तं लौकिकसर्वप्रयोगबोधकं
च कर्तुं शक्नुयाद् व्याकरणम् । तथापि मनुष्यमुक्तममननं गतं क्वचिद् भवत्येवमिति
तत्समाधानायैव कात्यायनस्य प्रयत्नः । इदन्तु सत्यम्—पाणिनिकाले मापेयस्य
व्यवस्थिता नासीत्, विविधा विविधा प्रयोगा अस्यां मापाया प्रचलन्ति स्म ।
अत्र येऽश्रयत विरला, ते पाणिनिना परित्यक्ता, ये तु कथञ्चिदपि शास्त्रप्रचारा, ते
भिद्भगादिना रुषहीता । यथा कृष्णतोऽक्षमपुष्पे 'कुर्मि' इत्यपि बाल्मीकीये
रामायणे दृश्यते—तेन 'कुर्मि' कुर्वं, कुर्म' इति त्रितयमप्यासीत् प्रयुज्यमानम्,
तत्र 'कुर्मि' इत्येतदतिविरलप्रचारं भत्वा समुपेक्षितं पाणिनिना, कुर्वं, कुर्म' इति
तु रुषहीतम् । एवमेव 'गदा श्लो'त्याद्या महामारतादौ दृश्यमाना, शम्भात्याद्याश्च

निष्कादिषु दृश्यमाना अतिविरलप्रचारा प्रयोगा उपेक्षिता, प्रचलितास्तु सन्नेरन्वारयता । पर प्रचलितेष्वप्येकप्रयोगार्थं सत्र न निर्मितमिति न कथमपि सिद्धयति । ततश्च यान् विरलप्रयोगान् मत्वा पाणिनिरुपेक्षते स्म, मनुष्यसुलभेन अनवधानेन वा विस्मरति स्म, ते कात्यायनेन उपसरयता इत्येव युक्तमभ्युपगन्तुम् । एव च पाणिने पूर्वमपि यास्ककाले 'अपार्णम्' इति प्रचलितं भवेत्—पाणिनिना च विरलप्रयोगस्या अनवधानेन वा त्यक्तं भवेदित्यपि सम्भाव्यत एव । किं च 'अपार्णम्' इति सिद्धयर्थं वार्तिककृतोऽपि न दृश्यते प्रयत्न, वार्तिककृतस्य मटेऽपि न प्रचलितोऽयं प्रयोग, यास्ककाले तु प्रचलित इति कल्पनया वार्तिककृतदोषस्यापि यास्कस्यार्वाचीनत्वमापत्तिः, न चैतदिष्टं कस्यापि । न वा सम्भवति, वार्तिककृता इत्य 'नाम च धातुजमाह निरुक्ते' इति अस्यैव निरुक्तस्योल्लेखात् । तस्मादकिञ्चिद्वैयर्थ्यमपार्णमाधारीकृत्य प्रवृत्ता कचना । सन्दिग्धमेव च यास्कपाणिन्यो पौर्वात्यम् । तत्राप्याधिक्येन यास्कस्यैव पूर्वभवनं सम्भाव्यत इति प्रत्यपीरदाम ।

पाणिनिदेशकालौ ।

अथास्य पाणिनीयव्याकरणस्य मूल्याचार्याणां पाणिनिकात्यायनपञ्जलीनां देशकालादिविषयेऽपि किञ्चिद्विचार्यते । तत्र गुणाद्व्यरचितबृहत्कथामाधारीकृत्य विरचिते कथासरित्सागरे पाणिने पाटलिपुत्रेऽध्ययनम्, मन्दबुद्धितयाऽध्ययने साफल्यमनासाद्य तपोऽर्थं गमनम्, महेश्वरादभिनव व्याकरणनाप्ति, तत कात्यायनेन सह दान्त्रार्थं, महेश्वरदुहारेणैन्द्रव्याकरणस्य नाश, तत पाणिनीयस्यैव प्रतिष्ठा—ऐन्द्रव्याकरणनाशेन मूर्खोभूतस्य कात्यायनस्यापि तपसा महेश्वरप्रसादनम्, तत्प्रसादात्—पाणिनीयव्याकरणपूर्णशक्तितम—इत्यादि वर्णितमस्ति, यासर्वत्रैव प्रसिद्धम् । नन्दराजं च पाणिने प्रसिद्धाकरणमपि तत्र वर्णितम्, तेन नन्दसमकालिकश्च पाणिने सिद्धयति । पाणिनिकात्यायनयोश्च समकालिकत्वं सिद्धयति । नन्दराज्यकाले पर महती निप्रतिपत्ति, आधुनिका ऐतिहासिका, यीशुत पूर्वं चतुर्थां शताब्द्या नन्दराजं वदन्ति । पुराणेषु तु—

आरभ्य भवतो जन्म यावन्नन्दाभिषेचनम् ।

एतद्वर्षसहस्रं तु शत पञ्चदशोत्तरम् ॥

(श्रीभागवते १२ स्कन्धे २ अ २६ श्लो० । तथैवा-यनादि)

इति परीक्षितो जन्मानन्तरम् १११५ वर्षेभ्योऽर्वाङ् नन्दराज्यप्रारम्भ, शत वर्षाणि च नवानां नन्दानां राज्यमिति उच्यते । तत्रापि च विप्रतिपत्ति, पुराणानुशीलिनां कले, प्रारम्भ एव परीक्षितो महाराजस्य जन्म मन्वते कलेक्षायात्वे ५०५५ वर्षाणि व्यतीतानीति ततो १११५ वर्षाणां नि सारणे १९४० वर्षेभ्यः

पूर्व ॥ (ईसातः पूर्वं विद्यतितम्या शतान्ध्याम्) नन्दराज्यारम्भकालः प्रतीयते, वर्षशतकोत्तरं च (ईसातः पूर्वमूनविंशति शतान्ध्याम्) नन्दराजसमाप्तिकालः । अथ राजतरङ्गिण्यान्तु कले. ६१३ वर्षेष्कनीतेषु कुरुपाण्डवा अभवन्निस्तुतम्— 'शतेषु घटसु सार्द्धेषु व्यधिकेषु च भूतले । कलेर्गतेषु वर्षाणाममवन् कुरुपाण्डवाः, (१-५०) महामारतयुदादनन्तरं च परीक्षितो जन्मेति कलेरष्टम्या शतान्ध्या परीक्षितो जन्म ऽभ्यते । तदनन्तरं पूर्वोक्तरीत्या १११५ वर्षानन्तरं नन्दराज्यारम्भ इति कलेरेकोनविंशतितम्या शता द्ध्याम् ईसातः पूर्वं द्वादश्या शतान्ध्या नन्दराज्यमायाति । केचिच्च पुराणान्तरसंवादात् धृवाक्ते श्रीभागवतपद्ये 'जेय पञ्च-शतोत्तरम्' इति पाठं मन्वाना परीक्षितजन्मानन्तरं १५०० वर्षेभ्योऽर्द्धं नन्दराज्यप्रवृत्तिरिति राजतरङ्गिणीरीत्या ईसातः पूर्वं सप्तम्यष्टमी वा शताब्दी नन्दराज्यकाल इति साधयन्ति । सेय विप्रनिपत्तिरष्टाप्यैतिहासिकानां मङ्गलीलाप्राङ्गण-भूमेवेति नात्र हल्लयकाये निगन्धे घयं तत्र पतितुमिच्छाम । पुराणभूमिकायां विषयमिमं 'भिवेचयिष्याम', एतावदेव तु भूतव्यमनास्माकम्—यत् कथासरित्सागररीत्या नन्दराज्ये पाणिने समयः सिद्ध्यति । त्रिमुनिकलतद्वप्रभृतिभिः तदेवा-नूयते । आर्यमञ्जुश्रीमूलकल्पे बौद्धग्रन्थेऽपि पाणिनिना माणवेन सह महापद्म-नन्दस्य सौहार्दं यमुकेत्युक्तम् । तेनापि नन्दसमकालिकस्य पाटलिपुत्रनिवासश्च पाणिने सिद्ध्यति । परं कथासरित्सागरमद्यतना ऐतिहासिका न प्रमाणयन्ति, विनोदमारार्था कथास्तत्र सङ्गृहीता इत्येव ते मन्यन्ते । बौद्धग्रन्थे च योऽयं पाणिनिर्नाम माणव उक्तः, सोऽयमेव व्याकरणरचयिता पाणिनिरन्यो वा ! इति न तत्. सिद्ध्यति । माणव इति विशेषणं च विपरीतमिव । न हीदृश आचार्य-केनापि माणवपदेन विशेष्येत, तस्मात् स्वातन्त्र्येणैवात्र विचारधारा पाणिनिदेश-कालविषये प्रवर्तनीयाः ।

अथ त्रिकाण्डशेषे कोपे पाणिनिनामसु 'शालातुरीय' इति पठनात्, गण-रत्नमहोदधौ च जैनलेखकेन वर्द्धमानेन 'शालातुरो ग्रामः, सोऽभिजनोऽस्यास्तीति शालातुरीयसन्तप्रभवान् पाणिनिरिति' तद्विवरणात् शालातुरो ग्रामोऽस्य भगवत् पाणिनेर्जन्मस्थानमित्युररीक्रियते । वासिकाव्याख्याया न्यासग्रन्थेऽपि च ५।१।१ सूत्रस्याख्यायाम् 'अतः शालातुरीयेण प्राक् टञश्च इति नोक्तम्'—इत्युक्तम् । तेनापि शालातुरीयस्य पाणिनेः सिद्ध्यति । गुप्तशिलालेखेषु वञ्च्यां प्राप्तं एकस्मिन् शिलालेखे (३१० सन्तरात्रिंशते) पाणिनीयशास्त्रकृते 'शालातुरीयतन्म' इति प्राप्यत इत्यपि श्रीवासुदेवधारणमहोदयेनोक्तम् । इयू आन् जु आर् नामकं श्रीनदेशीयं परिभ्रमणश्रील ईशुखिस्तस्य सप्तम्यां शतान्ध्यामिहायातः स्वयं शाला-तुरग्रामे गतः, तेन स्वग्रामेव तत्रस्थानां जनानां किंवदन्तीमाकर्ण्य शालातुरग्रामः पाणिनेर्जन्मस्थानमिति लिखितम् ।

तदित्यनेनै प्रमाणैर्निश्चित पाणिनेर्जन्मस्थानं शालातुरग्राम इत्येवेतिहासिका मन्यन्ते । अस्य च ग्रामस्य स्थाननिर्देशोऽपि चीनदेशीयेनोक्तेन परिश्रमण शीनेन कृतः, यदयं शालातुरग्रामो गान्धारदेशे उद्भाण्ड इति प्रविद्धात् स्थानात् प्रायेण क्रोशद्वयान्तरे लङ्ग्रामसमापेक्ष्यति । गान्धारदेश इदानीं कन्धार इत्युच्यते—इति वृत्तान्तं विधाय । उद्भाण्डपुर चेदानीम्—ओहिन्दनाम्ना कुभाया (कञ्जुनद्या) विद्याश्च सङ्घनस्य नेऽस्ति, तत्रैव पश्चिमोत्तरस्या दिशि लङ्घुर नामको ग्रामोऽपि तात्त्वेन दूरे प्रसिद्ध इदानीमपि । तत्समं पश्चात्तु शालातुर ग्राम इति निर्णयः प्राप्तः । तस्मिन् काले गान्धारदेशोत्पन्न कश्चन बाल शिक्षार्थं पाण्डिपुत्रं गच्छति न सम्भार्यते, तस्मात् तत्रैव प्राप्ते स्थिते तत्रैव त्रिदशविंशति विद्याश्वे पाणिने शिष्या बभूवुः पाण्डिनेका अनुमित्रवन् ।

पञ्चनददेशे ये शाला शिक्षाश्रम्येषां प्रवृत्ताः, तेषामप्यन्याख्यानं पाणिनीये दृश्यते, यथा 'उदङ् च निपाश' ४.१।७४ इति सूत्रेण निपाशो नद्या उत्तररूप्ते स्थितानां कुराणां वाचकेषु शब्देषु अग्न्यस्यो विधीयते, निपाशो दक्षिणभागे स्थितानां तु वाचकेषु भण् प्रत्ययः । अग्न्यश्च केवलं स्वर्ग मेद—सोऽयं भूमौऽपि मरुत्तान्नास्वयत् इति पञ्चनदेषु परिश्रमण पाणिने स्वष्टं निदृश्यते । पाण्डिपुत्रे वर्षाचायसमीपेऽध्ययनं तु कालगतिरुन्नेराद्यत्वं मन्यते पाणिनेना ग्रन्थो विरच्य महाराजसन्निधौ प्रेषितः, तेन च पाणिनेर्दृष्टं सम्मानितः, गन्धर्व प्रचारश्च पारितापिकप्रदानादिना कृत इति चीनरचित्रावकनारि लिखितम् ।

राजेश्वरं कान्यमीमासाया चोक्तम्—'श्रूयते च पाण्डिपुत्रे शास्त्रकारपरीक्षा, अश्वोपवर्षवर्षाविह पाण्डिनिर्दिष्टाविह व्याडि । सरस्वतिरतःपत्नी इह परीक्षिता खयालिमुपगम्य पत्यादि । तेन च सरस्वतेतर पाणिने पाण्डिपुत्रे गमनं सम्भार्यते, तत्रैव तद्ग्रन्थस्य परीक्षा सम्मना भवेत् । तत एव 'उदालकपुष्प मञ्जिका' इत्यादि प्राच्यरक्षप्रतिदक्षीणादिवाचका शब्दा अपि पाणिनिनाम्ना खराता दृश्यन्ते । पश्चिमिषानां शालाणां तत्तद्देशपरिश्रमणान्तरेण शालुमशकपरात् ।

वैदग्ध्यं मञ्जुश्रीमूलकल्प समुद्धानामा पाणिनिस्वमाचार्य एव चेत्, तदपि सम्भवति । पाण्डिपुत्र परीक्षमानन्तरं तत्स्थेन महाराजनास्य सत्यं सम्पन्नं मन्यति । सस्य पाणिनिनां च 'तुदीशलातुरवर्म' (४।१।१४) इति 'पञ्चदशशालादिभ्योऽग्नौ' (४।३।१३) इति च प्रदक्षानिमो स्मृतौ । तदेव देशनिर्णये प्रायेणैकमत्यमवैतिहासिकानाम् ।

अथास्य कालस्थिते तु महती विप्रतिपत्तिः । योऽनुत्तराध्याक् चतुर्णां पञ्चम्या वा शताब्द्या पाणिने प्रादुर्भाव इत्याधुनिका ऐतिहासिका मन्यन्ते । तत्र चेता युक्तीरन्वयस्यन्ति—

१ भगवतो बुद्धादयमर्वाचीन, 'कुमार भ्रमणादिभि' इति सूत्रप्रणयनात् । भ्रमणशब्दो हि बौद्धपरिवाजकेष्वेव प्रसिद्धः । तत्रापि च भ्रमणादिगणे भ्रमणाशब्द-
स्त्रीलिङ्गः पठ्यते । स्त्रीणां सन्वासप्रहणमपि बौद्धैरेव परिनालितम् । बुद्धभाष्य
भगवान् यीशुत प्राक् सप्तम्या शताब्द्या जात इति तन्मतप्रचारादर्वाचीनोऽयं
पञ्चम्या चतुर्थ्या वा शताब्द्या भवेत् ।

२ 'पञ्चदशतौ वर्गं वा' (५।१।६०) इत्यस्मिन् तद्विते पाणिनीय सूत्रम् ।
तेन पञ्चानां वर्गं पञ्चत्, दशानां वर्गं दशत् इति सिद्ध्यति । विकल्पे च
पञ्चक, दशक इत्यपि भवति, अयं च पञ्चानां दशानां च वर्गं प्रचाराय
बौद्धपरिवाजकेष्वेव प्रचलित इति बौद्धानां महावगमग्रन्थे स्पष्टमुल्लेखः, पञ्चत्
दशदिति शास्त्रावपि तत्र निर्दिष्टौ । तेषां साधनायैव पाणिनेः प्रयत्न इति सुतरां
बुद्धादर्वाचीनत्वमस्य सिद्ध्यति ।

३ पाटलिपुत्रनगरनिर्माणं बुद्धदेवस्य जीवितावस्थायामेवास्थितिं बौद्धग्रन्थेभ्यः
प्रतीयते । तस्य नगरत्वप्राप्तिः, तत्र राजधानीप्रतिष्ठापनम्, तदुत्तरं पाणिनि
जातः । तत एव तद्वर्चितस्य ग्रन्थस्य नन्दराजधान्यां पाटलिपुत्रे परीष्णं
सम्भवति, इति बुद्धदेवाद् द्विजयतान्दीपरत्वमेवास्य सम्भाव्यते । तस्मात् पञ्चमी
चतुर्थी वा शताब्दी सुयुक्तोऽस्य कालः ।

४ नन्दराज्ये पाणिनीयव्याकरणस्य वा परीक्षा उक्ता, बौद्धग्रन्थे च यत्
पाणिनेर्नन्दराज्येन सख्यमुपवर्णितम्, तदप्येवमुपपद्यते । नन्दराजस्य चतुर्थ्या
पञ्चम्या वा ईशात प्राक् शताब्द्यामेवेति हासिकैरवधारणात् ।

५ क्षीयप्रभृतय आङ्गशत्रु वदन्ति, यद् 'इन्द्रवरुणमरुतवर्चस्त्रिमृडिमारण्यय-
वयवनमातुलाचार्यागामानुक्' इति सूत्रे यवनशब्दोपातो दृश्यते । इह यवनशब्देन
माहम्मदा परिचितुं शक्यन्ते, यतो ह्यनन्तरप्रवर्तकस्य श्रीमहम्मदमहभागस्य
जातस्य चतुर्दशेवेयं शताब्दी । पाणिनिस्तु ततो बहुपूर्वज इति । तस्माद्
यूनानदेशवास्तव्या एवेह यवनशब्देनोपात्ता इति स्फुग्मेव । यूनानदेशीयानां
परिचयश्च 'प्रेट अलैगण्डर' सिकन्दरस्य आस्ताकमगकालादेव भारतीयैः प्राप्तः
इति सिकन्दराकमभादेर्वर्गोऽयं ईशात पूर्वं चतुर्थी शताब्ध्येव पाणिनेः कालो भवितुं
महति, न ततः प्राप्तिः ।

ता एता अर्वाचीनत्ववादिना युक्तयः । प्राचीनत्ववादिनस्तु नैता दृढा
मन्यन्ते । एवमुत्तरयन्ति च—

(१) भ्रमणशब्दोऽयं बौद्धोपज्ञम्—शतपथब्राह्मणे १४ काण्डे ७ अध्याये
१ ब्राह्मणे २२ कण्डिकायामपि स्पष्टं भ्रममाणत्वम्, तत्र हि सुदुष्यवस्थयानि
रूपप्रसङ्गे सर्वोपाधिविनिवृत्तिप्रतिपादने (अत्र पिता अपिता भवति, माता

अमाता, लोका अलोका, देवा अदेवा — — — — — अमगो अममग तापसो
अतापस) इत्यादि भूयते । इह परिभाषकाभिप्रायेणैव अमणशब्द प्रयुक्त इति
स्फुट शास्त्रभाष्यादिषु । सन्यासश्च याज्ञवल्क्यस्य तदुपदेशान्मैत्रेयाभाषापीहैव
काण्डे (बृहदारण्यकोपनिषत्सु) भूत इति अमणापदेन वा न बुद्धदेवादवाचीनत्व
शक्य कल्पयितुम् । किं बौद्धमतमपीदं न शाक्यसिंहादेव प्रवृत्तम्—अपि तु
यहुप्राचीनम् । ‘कथमसतं सञ्जायेत’ इत्यादिना उपनिषत्स्वेव बौद्धमतानुवाद-
निकारणयोर्दर्शनात् । वाल्मीकीयरामायणादावपि स्वयं रामेण बौद्धमतस्थोल्लेख-
करणात् । बौद्धग्रन्थेष्वपि शाक्यसिंहोऽयमन्तिमो बुद्ध स्मर्यते, ततः पूर्वं
प्रादुरभून् पृथ्वो बुद्धा इति स्फुटमेव । ततश्च बौद्धमतप्रचारादवाचीनत्वे
पाणिने सिद्धेऽपि ■ शाक्यसिंहादवाचीनत्वं कथमपि सिद्धयति । वस्तुतस्तु
ब्राह्मणशब्द अमणशब्दश्चेति द्वावपि शब्दौ विज्ञानमूलकावतिप्राचीनौ ।
ब्रह्मशब्दो हि ‘ज्ञान’ पर्याय, अमणशब्दश्च क्रियापर्याय । तत्र ब्रह्मैवेदं सर्वमिति
य आतिष्ठते, ते ब्रह्मैकाग्र्यवादिनो ब्राह्मणा, क्रियैव (अम एव) सर्वमिदम्,
नातोऽन्यद् ब्रह्मास्तीति येऽभ्युपगच्छन्ति, ते अमैकाग्र्यवादिन अमणा ।
ज्ञानैकाग्र्यवाद अमैकाग्र्यवादभानादेः कालात् प्रवृत्त इति अमणशब्दापारेण
कालनिर्णयोऽयं वैदेकवरिभाषानभिज्ञानामेव शोभते, न तु विवेचकानाम् ।

(२) पञ्चदशदादिशब्दा पञ्चानां दशानां च वर्गे शाक्यसिंहारपूर्वमपि
प्रवृत्ता स्युः, पूर्वमेषां प्रक्रियामेवानुसृत्याधुनिकैरिन्द्रेस्तथा वर्गा विरचिता
स्युरित्यपि बहुलं सम्भाष्यते । बहुत्र बौद्धे प्राक्तनी प्रक्रियानुसृता स्फुटं प्रतीयते ।
तस्मान्नेदमपि दृढं प्रमाणम् । यथा च नन्दराजशब्दीनां काले विप्रतिपत्तिः,
तथा भगवतः शाक्यसिंहापरपर्यायस्य बुद्धदेवस्य कालेऽपि पौराणिकानां विप्रति-
पत्तिरस्त्येवेति शाक्यसिंहात्परमकावेऽपि पाणिनेरविप्रतिपन्न कालो न सिद्धयत्येव ।
भौदेवसहायत्रिेदिप्रभृतय इतिहासविवक्षणां सर्वमपि आधुनिकानां युक्तिभि-
रपश्यन्ति, सहस्राधिकवर्षप्राचीनतां च तदभ्युपगतकालापेक्षया तत्तेषां साधयन्तीति
कोऽयं यूरोपानुगामिध्वेददहनरो विश्वासः ।

(३) यदा कथासरित्सागर इतिहासविषये न प्रमाणं मन्यते, बौद्धग्रन्थोक्तञ्च
पाणिनिर्मात्रं पाणिनेराचार्याद् भिन्नं ग्रन्थमुपगम्यते, तदा पाटलिपुत्रपरिचयोऽपि
पाणिनेर्न सिद्धयत्येवेति पाटलिपुत्रनिर्माणकालेन तत्कालावधारणमपि न दृढम् ।
नन्दराज इव पाटलिपुत्रनिर्माणेऽपि पौराणिकदृशा महती कालविप्रतिपत्तिरस्त्येवेति
ततोऽपि न कालनिर्णयं सुशक्यः ।

(४) नन्दराज्ये पाणिनिग्रन्थरहीति राजशेखरादीनां क्विदन्तीमात्रो
स्तेन । नन्दराज्यकालेऽपि च महासन्देशास्पदमितीयमपि युक्तिः सिधिल्ल्याया ।

(५) यवनपरिचय आर्याणां सिद्धन्तराक्रमणान्तर्मेवेति तु महदुपहासा-
स्पदम् । श्रीकृष्णकालेऽपि काल्यवनवृत्तमथुराक्रमणरमरणात्, महाभारतयुद्धेऽपि
च यवनादिनैः निवृत्तनात्, तस्मादतिचिरन्तनोऽयं यवनपरिचयो भारतीयानाम् ।

एवमर्वाचीनत्वप्रतिपादिका युक्तयः सिद्धिना एव प्रतीयन्ते ।

इदानीन्तनेषु विवेचनेषु श्रीसरयनरसामभ्रमिमहाभाग श्रीयुधिष्ठिरमीमांसक
भ्रान्तिप्राचीनतावादी । एतौ हि 'श्रृङ्गन्धकवृष्णिबुद्धम्यध', 'वाहुदेवार्जुनाभ्या
बुध्' 'गविपुष्टिभ्या रियर' 'राजे खड्ग' (जनमेजय) इत्यादिश्लेषेषु महाभारत-
निर्दिष्टानां व्यक्तीनां च नामोल्लेखात् तथोद्भूतव्यक्तिनामसाधनप्रयत्नाच्च महा-
भारतयुद्धपरमरक्षन्तु पाणिनेर्मन्येते, परं किञ्चित्परमवचनेव साधयत । तत्रापि
सामभ्रमिमहाशयः —

श्लेषेषु यन्मु सादेषु ग्रन्थेषु च भूतल ।

कृतेर्गतेषु वयोनाममन्त्रं बुद्धपाण्डवा । (१-५०)

इति राधनरङ्गिणीवचनमप्रतिहत प्रमाणं मन्वानं कृतेरऽस्यां शताब्द्याम्—
वीरुलिङ्गात् प्राक् चतुर्विधयो च शताब्द्या पाणिने प्राटुर्मात्रमभिमन्यते ।
श्रीयुधिष्ठिरमीमांसकस्तु राधनरङ्गिणीवचनस्य पुराणादौ कल्पितनुमोदितत्वा-
न्निर्मूल्यमेव तस्य मन्वानं कृते प्रारम्भ एव महाभारतयुद्धमभिमन्यमानं
कृतेऽस्मृतीयस्यां शताब्द्याम्, वीरुलिङ्गात् पूर्वमूर्तिद्वयां शताब्द्या पाणिनेप्राटु-
र्मात्रं मन्यते । सोऽयमवान्तरोऽनयोभेदः । प्राचीनतरसाधने युक्तयोऽपि चानयो
विभिन्नप्रायः । तत्र सामभ्रमिमहाशयस्यैता युक्तयः, यत्रागिनिरव प्रयनो
व्याकरणप्रणेतारः, तेन यत्र यत्रापि व्याकरणनाम स्मर्यते, तस्य सर्वेषां ग्रन्थेष्वोऽ-
यं प्राचीनं, निरुक्तकृतो यास्काद्, अन्येभ्यश्च वेदाङ्गग्रन्थनिर्मातृभ्यः प्राचीनोऽ-
यम्—तस्मादत्यवरगरवमस्य नैव सम्भवति । प्रधानभूता चेय तस्य युक्ति—यद्
व्यासपुत्रस्य पुत्रस्य वैयासकिरिति नाम श्रीभागवतादौ पठ्यते, न च वैयासकिशब्द-
पाणिनीये एवै विद्यते, वार्तिककृता तु 'सुधातुरकृत् च' (४।१।९७) इति
पाणिनीये सूत्रे 'व्यासदशगुणिपादचतुर्गुणालविश्वानां चेति वक्तव्यम्' इत्यपसंख्येय-
वैयासकिशब्दः साधितः । तेन स्फुटमिदं प्रतीयते—यद्वासापुत्रस्य शुकस्य याज्ञ-
प्रसिद्धिरभवत्, वैयासकिशब्दः च न प्रचारल्लोके, तावदेव समुपेत पाणिनिः, तत्र
एव तेन वैयासकिशब्दसाधनाय न कृतं प्रयत्नः । वार्तिककृद्वद्वान् प्रचक्षितं स
शब्द इति तेन प्रयत्नः कृतः । तदित्यं व्यासात् किञ्चित्परमन्वन्तं पाणिने-
मुपविदधतीति ।

ता एता सामभ्रमिमहाशयस्य युक्तयोऽपि सिद्धिलप्राया एव । यतो हि
पाणिने पूर्वमपि वृत्तिना व्याकरणान्यासनेति दृष्टान्तिर्युक्तिभिः प्रविपदितं पुरस्ताद-

स्वामि । यास्कात्पूर्वमन्त्रत्वमपि स्थाण्डिले प्राक् । किं च पाणिनिकाले अप्रचलिता एव शब्दा वार्तिककृता अन्वाख्याता इत्यपि पूर्वमेव दृढतरं निराकृतम् । एवमभ्युपगमे तु महती निष्कृष्टा स्यात्, अथवा मन्त्रशब्दयोः साधना यमपि न दृश्यते पाणिने प्रयत्नः, वार्तिककृतैव तु 'स्याम्नोऽकार' 'भवार्थे तु क्षुग् वाच्य' इति शब्दौ तावन्वाख्यातौ । ततश्च महाभारतयुद्धे मुप्रतिष्ठिताद्वीरा दशरथामतोऽपि पूर्वमन्त्रः पाणिनेरभ्युपगन्तव्यः स्यादिति मन्त्रदभ्युपगत महाभारत-युद्धादर्वाचीनत्वमपि न सिद्धयेत् । 'गवियुधिष्या स्थिर' इत्यादिसूत्रनिर्माणं च निरालम्बनं भवेत् । पृथोदरादित्वकल्पना त्वम्यत्रापि समाना । किं च 'बाह्य' 'दैव' 'दैव्यादिशब्दा अपि 'देवाद्यजौ' 'बहिषष्टिलोपो यज्ञ' इत्यादिभिर्वार्तिकैरेव सिद्धयन्ति, अतिप्राचीना, श्रुतिषु भूयमाणा अपि । तस्माद्याक् प्रसिद्धा अपि बहवः शब्दा अनवधानेन अल्पप्रसिद्धा पृथोदरादित्वमिमानेन वा पाणिनिना त्यक्त्वा, वार्तिककृता त्वन्वाख्याता इत्येवानुमानं सम्यग् भवति । ततश्च वैयासकिपदाधारेण क्रियमाणा कल्पना अतिशिथिला ।

अथ युधिष्ठिरमीमांसकमहाशयस्तु यास्कशौनकपिङ्गलव्याडिप्रभृतीनां पाणिनि समकालिकत्वं महत्प्रकारमप्या प्रतिपादयन्, अस्य प्रातिशाख्यकृत शौनकस्य नैमिषादौ स्मृतात् पुराणानां श्रोतुश्च शौनकस्यैक्यमभ्युपगच्छन्, तस्य जनमेजय-कालिकत्वं च प्रसाधयन् अर्थादतनयपरिमितमायुश्च तस्यामिमन्वानं, शौनकसम कालिकत्वादेव पाणिनिमप्येतावत्प्राचीनं साधयति । ता एता अस्यापि महाशयस्य मुख्य भद्रामात्रसारा नैतिहासिकानां प्रमाणरत्नत्राणां पुरःस्थातुमुत्सहेरन् । यतो ह्यनेके शौनकाः शौनकप्रणीतेभ्य एव ग्रन्थेभ्यः सिद्धयन्तीति प्रातिशाख्य प्रकरणे प्रागस्वामि मुप्रतिपादितम् । किमन्यत्—शौनकप्रणीतायामेव बृह-देवतायाम्—

'काष्ठीवन सर्वमिति भगवानाह शौनक' (बृ. दे. ३।१५२) इति शौनकस्य भगवानिति विशेषणं सामभूमिमहाशयेन निष्कालोचने प्रदर्शितम् । न हि स्वयमेव विशेषणं भगवानिति कश्चिदनुमत्तो वदेत् । मन्त्रद्रष्टाऽप्यस्ति शौनकः, मन्त्रद्रष्टापि, वेदाङ्गप्रातिशाख्यकृदपि, यास्कादर्वाचीनो बृहदेवताप्रणेतापि । नैषा सर्वेषामेक्यं कश्चिदपि प्रतिष्ठितश्रेष्ठोक्तं समाख्येत् । तस्माद्यदा बहवः शौनका अभ्युपगन्तव्या एव, शौनक इति गोत्रनाम अनेकास्तु अतिविभिन्नकालास्तु व्यक्तियुः प्रतिष्ठितम्, तदा पुराणानां श्रोतुं प्रातिशाख्यकर्तुं च शौनकस्यैक्यप्रकल्प-नमपि कल्पनामात्रमेव भवेत् । टीकाकृतो निष्पुमिरस्य—

शौनको एहपतिर्वै नैमिषीयेस्तु दीक्षितैः ।

दीक्षास्तु चोदितं प्राह सने तु द्वादशाहिके ।

इति शास्त्रावनारोक्तिरपि चेतिहासिकान्धकारकालप्रसूता किंवदन्तीमूलिकैव न प्रमाणकोटिं प्रवेष्टुमीष्टे । अर्धशतत्रयामु प्रकल्पनमपि च कल्पिबुगप्रारम्भे सर्वप्रामाणिकग्रन्थविरुद्धमिति कल्पनाचातुरीमेव ख्यापयन्नेतिहासिकं तथ्यम् । यास्कादीनां समानकालिकत्वमपि न प्रमाणैः सिद्धयतीति प्रागेव प्रत्यपीपदाम । 'पाणिनिर्दाक्षीपुत्र इति भगवता भाष्यकारेणाख्यात , व्याडिरपि दाक्षायण इत्युक्तं , तस्माद् व्याडिरय पाणिनेर्मोदुल' इत्यादिकल्पना अपि बादरायणसम्बन्ध स्मारयन्तो विनोदायैव प्रभवन्ति न तत्त्वान्वेषणनिष्कर्षाय । गोत्रनाम्नामतिविभिन्नकालेष्वप्येक्यदर्शनात् , तदापारेण कालकल्पनायाः कथमपि दृढरासम्भवात् । तथैव वालुपुराणादौ पाणिनिगोत्रस्मरणमपि नास्य आक्षरणाचार्यस्य पाणिनेः कालनिर्णयाय सशुभपुच्छं भवेत् , गोत्राणामतिविभिन्नकालेष्वनुवृत्तिदर्शनात् । आक्षरणप्रयेता पाणिनिरिति यदि पुराणेषु काष्णुक्तं स्यात् , तर्हि निश्चेतुं शक्यं स्यात्तदीय काल । तादृशं तु किमपि प्रीमासकमहाशयेन—नोद्भूतमिति सन्देहात्सदमेज्ञायापि पाणिनिसमयः ।

ममस्तिष्ठ प्रतिभाति—यत्पाणिनेः कात्यायनस्य च समये चतुष्षष्ट्यताब्दी-परिमितेनान्तरालेनावश्यं माध्यम् , तथैव कात्यायनस्य पतञ्जलश्चापि समये तावदन्तरालम्बन्धमपेक्षयते । तत्र सन्ति हेतवः —

१—पाणिनिना 'पुराणप्रोक्तेषु ब्राह्मणकल्पेषु' इति सूत्रे ब्राह्मणानामपि पुराणप्रोक्तान् विशेषणान् दत्वा याज्ञवल्क्यदृष्टस्य क्षतपथब्राह्मणस्य नवीनत्वं व्यञ्जितमिव । अन्यथा विशेषणदानवैयर्थ्यप्रसङ्गात् । कात्यायनेन तु तत्र 'याज्ञवल्क्यादिभ्यः प्रति पेश , तुल्यकाञ्चवात्' इति क्षतपथस्यापि समानकालिकत्वमेव ब्रूयता नवीनत्वं नो-रीकृतम् । अतश्च स्पष्टमिदं विज्ञायते—यत् पाणिनेः समयः याज्ञवल्क्याज्जात्यन्तमर्वाक्यम् । तस्मिन् काले याज्ञवल्क्यस्य नवीनत्वप्रसिद्धिरासीदिति । कात्यायनकाले तु सा नवीनत्वप्रसिद्धिस्तिरोहिता , याज्ञवल्क्यस्यापि अन्यब्राह्मणप्रवक्तृणांमिव प्राक्तनत्वमेव प्रसिद्धं जातम् । नैतावद् वैयर्थ्यप्रसङ्गः चतुष्षष्ट्यताब्दीव्यवधानेन विना सिद्धयतीति प्रथमो हेतुः । यस्तु शुषिष्ठिरप्रीमासकमहोदयेन समानकालिकत्वकथनात् कात्यायनस्य याज्ञवल्क्यसम्बन्धित्वं तत्कुलजस्य बानुमिनम् , तदेतदुपहासार्थमिव । न हि कस्यनित्कुलजः सम्बन्धी वा नवीनः प्राचीनः ख्यापयितुं सततो मवेद्यपार्थवादी । एतद्विधानुमानेन तु कात्यायनस्थानाप्तत्वं व्यन्येतेति । तस्मात् कात्यायनकाले याज्ञवल्क्यस्यापि पुराणत्वप्रसिद्धिरेव जाता—इत्येव वक्तव्यं स्यात् । अतश्च व्यवधानाधिक्यमवश्यमुररीकर्तव्यम् ।

२—पाणिनिः संहृतमाषां माषापदेनेन व्यग्रहरति । तेन तस्य काले संहृतमाषैव माष्यमाणासीत् , माषा-त्तरप्रवृत्तिः' न यमूव , अल्पोयसी वा यमूव इति स्फुटमनुनीयते । कात्यायनस्तु 'लोकतोऽर्थप्रयुक्ते शब्दप्रयोगे शास्त्रेण धर्मानियम'

इति वदन् भाष्यकाररीत्या 'समानायामर्थोक्तौ शब्दैश्चाप्यशब्दैश्च शब्देन धर्मं नियमं कियते' अर्थात् साधुशब्दैरेव व्यवहारे धर्मो भवति, नासाधुशब्दैर्व्यवहारे इति सङ्गतभाषाया धर्मजनकत्वमात्रेण उक्तं बोधयति । तेन तस्य काले अप्रशब्दधरिताया भाषाया बाहुल्येन प्रवृत्तिरासीदिति स्फुटीभवति । अथ भाष्यकारस्तु 'सन्त्येकैकस्य शब्दस्य बहवोऽप्यवस्थाः, यथा गोशब्दस्य गावो गोणी गोता गोरोतन्निस्त्यादयः' इति वदन् धर्मनियमज्ञानि 'याज्ञे कर्मणि स नियमः अन्यधानियमः' इति यज्ञकर्ममात्रे व्यवस्थापयन् स्वकाले व्यवहारार्थनपभ्रष्टभाषाणामेव प्रयोगमभिव्यज्यति । नैवतत्त्वज्ञानेन समयेन सम्भवति-इति त्रयाणामेषां सुमहता कालव्यवधानेन अस्मद्वरमाख्यम् ।

३—पाणिनिर्गोचारदेशवाचीनि घेनेहासिकानामैकमस्य प्राक् प्रादश्याम । कात्यायनपदञ्जली तु प्राग्देशवाचिनौ । तेन पाणिनिकाले गान्धारप्रदेश, तत्सम्यन्त पञ्चनदप्रदेशो वा विद्याकेन्द्रमासीदिति प्रतीयते । विद्याकेन्द्रे एव एतादृशानां अथानामुद्भवः सम्भवतोति । कात्यायनपदञ्जलिकाले तु प्राग्देश एव विद्याकेन्द्रतामापेति प्रसङ्गमेव । इयं ध्वनानि नालरकालसाध्या ।

४—पाणिनिमुक्ताणामुपरि अनेकानि वार्तिकानि प्रागपरि विरचितान्यासन्, तदनन्तरं कात्यायनेन शोषो वार्तिकपाटो विरचितः । तथैव वार्तिकस्यापि माध्यान्तरं प्रथमममृतं तदनु पाटञ्जल माध्यम्, इति युधिष्ठिरमीमांसकमहोदया साधयन्ति । एतत्सर्वं यदि दृढं निश्चितं स्यात्, तर्हि इदमपि कालव्यवधानबाहुल्याय पर्याप्तं भवति प्रमाणम् । किञ्च प्रातिशाक्त्यानि इयन्ति प्रादेग पाणिनि कात्यायनयोरन्तराः एव विरचितानीत्यस्मान्नि साधितपूर्वम्, ततोऽपि कालव्यवधानाधिक्यमेव शक्यमनुमादुम् ।

तदित्ये भाष्यकारः पटञ्जलेरीगुलिष्ठः पूर्वं द्वितीयस्यां शताब्द्यां जातः, कात्यायनस्तृतीयस्यां चतुर्थ्यां वा पाणिनिश्च चतुर्थ्यां पञ्चम्यां वा इत्युक्त्यानां नामैनेहासिकानां विनिर्गमो न सम्यग् बुद्धावुसारोऽस्ति । कस्मिन्दिनि प्रत्यस्य एव विस्तृतव्याख्यानपद्धत्या नालरवशां कालेन शताब्दीमात्रेण सम्भवतीति विचार्ये शृङ्खले । तस्मादस्माकं मते भाष्यकारः पटञ्जल्येव इत्युक्तं प्राक्तन्यां द्वितीयस्यां शताब्द्यां जातः, तर्हि कात्यायनः प्राक्तन्यां सप्तम्यां शताब्द्यां, पाणिनिश्चान्ततः प्राक्तन्यां द्वादश्यां शताब्द्यां जातो भवेदिति सम्भावनाम् । यदि नन्दराजकालः अस्तत्पुरातनः गेचनरीत्या इत्यतद्व्याख्यायितव्यासकः, तदा नन्दस्य पाणिनेश्च सन्त्ये प्रकृतैर्नयकारैरुक्तिविना सत्यया निश्चयति । यदि तु अर्वाचीनैति शतैकदृष्ट्या नन्दराजोऽपि प्राक् चतुर्थ्यां शताब्द्यामभवति सत्यम्, तदा नन्दस्य पाणिनेश्च सम्भवत्या केवलं कालपतिकेव, पाणिनेस्तथावाचीनत्वा

सम्भवात् । आस्ताच्चाग्नौ, इदमित्यग्नौ कालनिर्णयं कस्यापि सुष्ठुकर, यैरपि क्रियते, तैरपि साहसमात्रमेवानुष्ठेयते, कालमेतावदेव वक्तुं शक्यम्, यस्याग्निनिर्माणान् माप्यकारादन्ततः, सहस्राब्दीपूर्वमवोऽनस्य स्वीकार्य इति ।

अथ कात्यायनदेशकालो ।

अथ कात्यायनस्य देशकालनियमे तु न स्फुटं किमपि निष्ठाप्यते । ऐतिहासिके रपि एतद्विषये स्फुटं निश्चेतुं न पारितम् । कात्यायनः, वरहमिह इत्यादीनि नामान्यपि बहुतरदेशकालव्यवहितानामनेकासां यत्कीनां सम्माध्यन्ते—इति सोऽयं देशकालनिर्णये महान्तरायः । कात्यायनो हि सुस्थायुः श्रौतसूत्रकार एव, सोऽपि प्राचीनः सम्माप्यते । प्रातिशाक्नोऽपि कश्चित् कात्यायनः, पाणिनेः स्युःशक्तिः कारोऽपि च कात्यायनः, स्वर्गारोहणकालनिर्मातारि च कात्यायनः उच्यते । तदन कस्य कस्यैक्यं को वा मित्र इति जल्पोऽयं प्रश्नः । तथैव वरहमिहः एकं पौष्टिक्येन स्वीयेऽर्थसाग्रे राजनीतेराचार्यत्वेन स्मृतः । एकश्च विश्वस्य समाया ननु स रत्नेष्वपि स्मर्यते, वारहमिहः कात्यायनः चापि तत्र तत्रोद्धृत्यते—इति त्रयाण्यैक्यं भिन्नं वा सुदुर्लभं वक्तुं सुष्ठुकरम् । एतेतावदेव शक्यतः वक्तुम्—वरहमिहासिखागरे पाणिनिः कात्यायनयोः समकालिकश्च परस्परं निन्देयः शत्रुप्राथम्येनैकश्च यदुपनिबध्यते, तत्तु प्रायेण कालानिर्णये प्रतीयते । उक्तरीत्या पाणिनिः कात्यायनयोर्बहुकालप्रधानमेवानुमीयते । यच्च कथासरित्सागरे कौशाम्बीनिवासित्वं कात्यायनस्योक्तम्, कौशाम्बी च प्रनागसन्निहितमेव सम्मावयन्त्यैतद्वाचिनः, तदेतदपि अनुसरन्मनसि । माप्यकारो हि 'प्रियतद्विला दाग्निगात्रा, यथा लोकैः वेदे चेति प्रयोक्तव्ये यथा लौकिकेनैदि केचित्ति प्रमुञ्चते' इत्यादिना दाग्निगात्रत्वेन दागिङ्कारानुपहसति । तेनातेन इत्थेन प्रमाणेन कात्यायनस्य दाग्निगात्रत्वं स्फुगीभवेति । ततश्च प्रमाणप्रान्तवाचित्वं न तस्य सम्भवति । यदि तु कौशाम्बी दक्षिणप्रान्त एव इति मन्त्रेति हि सम्मनति कौशाम्बीवासित्वम् । माप्यकारसमने कुत आरभ्य दाग्निदेशो गम्यते स्म, इत्यपि निश्चेतुं दुःशक्यम् । सत्प्रामाण्येनैश्वर्योऽयं कात्यायनस्य न पूर्णतया निपातुं शक्यः । दाग्निगात्रं च आग्नीदित्येनानन्दान् माप्यरात्या निश्चिनः प्रतीयते ।

अपारस्य कालत्रये यौगुष्टित एतत् पूर्वं चतुर्थी यथाहो तस्य काल इति केचित्वाश्चात्पर्यैरिति हासिकैर्निर्णीतम् । इदं प्रमाणं तु तत्र न किमप्युपलभ्यते, केचित्तु 'पाण्डोद्वर्ग' इति वाचिकङ्कणात् पाण्डुराज्यपरिचयः कात्यायनस्योक्तः, पाणिनेस्तु तदर्थं प्रयत्नाद्वर्णान् पाण्डुराज्यपरिचयस्तस्य नास्तीदिति सम्भावयन्ति । परं सर्वमन्तव्यद्वानुमानमात्रम् । पाणिनेः परतया एव शब्दः कात्यायनेनोपलब्धः इति मूलमूतं सिद्धान्त एव सरिक्कप्रमाणानि खण्डित । पाण्डुराज्यस्य स्थानं कालोऽपि चर्यावधि सम्यक् न निश्चितः । तस्मान् कालस्य अन्यत्वं निश्चयो नास्ति ।

अस्मन्मते कौटिलीयेऽर्थशास्त्रे ये राजनीतिराचार्या परिगणिता, तेषूक्तो वररुचिरय मेव स्यादिति विशेषेण सम्भाव्यते । पाणिनिप्रकरणोक्तरीत्या अस्य कात्यायनापर पर्यायस्य वररुचे कौटिल्यपूर्वमवतत्सम्भवात् । माध्यकृत पतञ्जले कात्यायनस्य च काले चतुष्पञ्चशताब्दीव्यवधानेनावय भवितव्यमिति प्रोक्तमेतदस्माभिः । सत्यव्रतसामश्रमिमहाशयोऽपि चैतदेव साधयति । तत्रेदमपि प्रमाणं तेनोपन्यस्तम्, यद् वार्तिककृता स्त्रीप्रत्ययसिद्धयर्थं समाशब्दात्क्रियमाणे प्रत्यये यदनुबन्धासञ्जनं सुपसंख्यासम्, तद् माध्यकृता 'कथं स्त्री नाम सभासु साध्वी स्यात्' इत्युक्त्वा प्रत्याख्यातम् । तेनेदं शक्यतेऽनुमातुं यत् कात्यायनकाले सभासु स्त्रीणां साधुत्वम्—अर्थाद् अकृतत्वादिना भागग्रहणं प्रचलितमासीत्, माध्यकारकानां तु तन्निवृत्तमिति । एतद्विषयं सामाजिक परिवर्तनं नाल्पेन कालेन सम्भवतीत्यनयोक्तुं पञ्चशताब्दीव्यवधानेनावश्यं भाव्यम् । अस्माभिरपि भाषापरिवर्तनविषया तदेतत्साधितमव । तस्मात् यीशुस्तिष्ठत पञ्चशतक्या वा शतक्या अर्वाङ् न सम्भवति कात्यायनकाल इत्यनुमिनुम । कथासरित्सागरे तु नन्दराज्यकाले स्थितं पाणिनिं समसामयिकं एवायमुक्तं इति लिखितपूर्वमतत् । वरय चैतिहासिकदृष्ट्या न प्रामाणिकत्वमित्यपि चोक्तिरिति—पूर्वम् । इदमपि स्मर्त्यम्—सरूपसूत्रे 'द्रव्याभिधानं व्याङ्गि' इति व्याङ्गिनाम कात्यायनं स्मरति । तेन व्याङ्गिना पाणिनिसूत्र—व्याख्यास्व सप्रश्नो निर्मित इति यदि सत्यं तर्हि तस्मात्परम्परानेव कात्यायनेन भजितव्यम् । तस्मात्पाणिनेरस्य च विशेषेण कात्यायनवचनमावश्यकमेव ।

पतञ्जलेर्देशकाली

अथ माध्यकारस्य पतञ्जलेषु काङ्क्षितं अस्ति दृढं साधनम् । पाणिनिना हि भगवता भूतार्थे लकारप्रत्यय निहितम्—लृट्, लृङ्, लिट् चेति । तत्र भूतसामान्ये लृट्, अनद्यतनभूते लृङ्, परोक्षानद्यतने लिङ्गिति सूत्रोक्ता व्यवस्था । तत्रानद्यतने लङ्गिति सूत्रे 'परोक्षे च लोकविज्ञाते प्रयोक्तुर्दर्शनविषये' इति वार्तिककृतोक्तम् । तत्रोदाहरणप्रत्युदाहरणे आह माध्यकार—अरुणयवनं साफलम्, अरुणयवनो माध्यमिकम् । प्रयोक्तुर्दर्शनविषये इति किम्—'जघान कसं किल बाभ्रुदेव ।' इति । एतद् व्याख्यातवान् कैयट । 'अननुभूतत्वात् परोक्षोऽपि प्रत्यक्षयोग्यतामात्राभवेण दर्शनविषय इति विरोधाभासः' । उद्योतकृत्वागेशश्चात्रैव व्याख्यातवान् 'माध्यमे जघानेति—कसवधो हि नेदानीन्तनप्रयोक्तुर्दर्शनयोग्योऽपीत्यर्थः । अरुणदित्युदाहरणे तु तुल्यकालं प्रवर्तेति बोध्यम्' । सर्वस्यास्येदं तात्पर्यम्, यद् या घटना सत्यं न दृष्टा, परं स्वकाल एव जातस्य दर्शनयोग्या लोकप्रसिद्धा च, तस्या बोध्याया पाणिनीरीत्या अदृष्टस्य परोक्षत्वात् लिङ्गं प्राप्तं, परं तत्र 'लृङ्' प्रयोक्तव्य इति वार्तिककृता संसम्मतिः प्रदर्शिता ।

तत्र च पतञ्जलिना माध्यह्ना 'अरुणचयनं साकेतम्, अरुणप्रबोधो माध्यमिहाम्' इत्युदाहरणद्वयं दत्तम् । तेनेदं स्फुटीभवति-यद्यवनहृतं साकेतावरोधो माध्यमिकावरोधश्च यद्यपि पतञ्जलिना स्वरं न दृष्टं, अथापि पतञ्जलिस्मृत्यामपि कदाचिद् दर्शनयोग्यो लोकप्रसिद्धश्चेति तत्र लङ्कारप्रयोगोदाहरणं तेन दत्तम् । अथायं साकेतावरोधो माध्यमिकानरोधश्च यवनहृतं कदा वमूवेति ऐतिहासिके सुस्पष्टमत्र निर्णयः । ऐतिहासिकदृष्ट्या यीशुख्रिस्त ३२७ वर्षेभ्यः पूर्वम् अलेग्जेंड्रस्य (अलेग्जेंडरस्य) आक्रमणम् । तदनन्तरं चन्द्रगुप्तः राज्ञः काले सिल्यूकसनामा यवनो भारतमाचक्राम । चन्द्रगुप्तः पराजितश्च मरुत्या तस्मै दत्त्वा गत इति सुप्रसिद्धा घटना । तस्यैव सिल्यूकसनाम्नो यवनस्योत्तमधिकारी 'मीनाण्डर' नामाऽस्या यवनं पुष्पमित्रराज्यकाले पुनर्नगरं तमाचक्राम । स हव्यं यद्यपि मथुरापर्यन्तं नवायात, परं तस्मिन्नायकैरयोध्या विंशत्यवसोऽपि पूर्वस्या दिशि बहुदूरपर्यन्तमाक्रमणं कृतम् । अनन्तरं तेऽपि तत्रावस्थापितमराठा परावृत्ता । सोऽयं साकेतावरोधः । एतत्सदृचारिण्येव च सैन्यपद्धतिरेका चित्रकूटं (चित्तौड़) प्राप्तोऽपि गता । तत्र च चित्तौषसमीपे वर्तिनी माध्यमिका नगराणि तयाऽप्रातते साधितमैतहासिकं । अहमदनगरस्य उत्तमस्मरणीयाया गंगोद्वितायामपि प्राप्यते । तत्र 'मनद' इति 'मीनाण्डरस्य' नाम निर्दिष्टम् । स्फुटीकृतमेव तन्नाम भारतीयैः परिकल्पितमिति ऐतिहासिका मन्वते । अत एव 'मनद' नामैव तस्यैव स्मृतिपाठ्याया शिष्या लम्बुद्रा अपि मथुराप्रान्ते स्मरन्त्यः । ततश्च सुविदमिदं बातं यत् पुष्पमित्रराज्यकाले एव यवनस्य साकेतानरोधकाग्रे माध्यमिकानरोधकालश्च । स एव च माध्यह्नारस्य पतञ्जलस्य समयः । महामाष्ये 'पुष्पमित्रं याचयामह' इत्युदाहरणमुपलभ्यते । तेन पुष्पमित्रपुरोहितोऽश्वमेधस्य बह्वेऽभिप्रयन्ति । शत्रुसमा, चन्द्रगुप्तसमा, इत्युदाहरणद्वयान्नामद्रुगुप्तपरमत्समस्य शिष्यत्वेन । पुष्पमित्रसमयमाधुनिकानां मैनिहासिकानां दृष्ट्या यीशुख्रिस्त पूर्वा द्वितीया शताब्दी । पौराणिकदृष्ट्या तु यीशुख्रिस्त पूर्वं सदृशान्दीताऽपि पुरातनं पुष्पमित्र इति सोऽयं मनमद सर्वत्रैव जागर्ति, न च बहुभिन्नोऽस्तिन् स विवाद उत्पन्नयितुं शक्य इति प्रागव न्यन्दयाम । तस्मात् पुष्पमित्रराज्यकाले य कोऽपि वा मरुत्, स एव पतञ्जनः काल इति निर्णयमत्रा ननाम ।

दशोऽप्यस्य 'गोनद' । स्वयमेव माध्यह्ना स्वमनामिनिवेशेन तत्र तत्रोपन्यस्यता 'गोनदीवस्थाह' इत्युक्तम् । यद्यपि क्वचिन्नहाशया परममनमदम्, अन्य एव कश्चिद् गोनदीय इत्यत्र भवति, परं प्रामाणिक्याद्याह्नो गोनदीयपदेन समनमेवोपन्यस्यति येषामुपलब्धं । वयमपि च तत्र तत्र माध्यह्नारस्यैव दृष्ट्या नाम्याह्नो मन्मेवानुमोदामहे । तेन गोनदीभिन्नो गोनदीयो माध्यह्नार

इति स्फुटीभवति । गोनर्ददेशश्चाय 'गोडा' इति प्रसिद्ध प्रान्त इति दहवो मयन्ते । पुष्यमित्रस्य यद्यपि प्रधानमूला राजधानी पाण्डिपुरमासीत्, अथारि अयोध्यायामपि तेनोपराज्यस्थान स्थापितमित्यप्यैतिहायिका विवृण्वन्ति । ततश्च 'गोवा' प्रान्तनामिन पतञ्जलेस्वम्भनरययोध्याया बसता पुष्यमित्रेण सम्मन्य । पुष्यमित्रेण च अश्वमेधराजस्याद्यनुष्ठान कृतमिति प्राप्तेभ्योऽभिलेखेभ्यो हरिवंशादिभ्यश्चापि प्रसिद्धयति । एवञ्चैषु महत्सु यज्ञेषु पतञ्जलिस्तदो महानिद्रान् सम्मिच्छितो बभूवति क पत्न्यानुमन्येत । अन्ये तु 'गोनर्द' स्थानमुज्जयिनीप्रान्ते मध्यदेशेऽभ्युपगच्छन्ति । यस्य प्राकृत नाम गोनर्दमित्यासीत्, व्यापारिणाञ्च तत् केन्द्रस्थान बभूव । पुष्यमित्रादीना शुङ्गराज्याना च मूलस्थान 'विदिशा' नगरी । यैदानीं खालियरराज्ये 'मिल्वा' इत्याख्यायते । तदेवमभिजनस्थान सामीप्यात् पुरातन एव पतञ्जलिपुष्यमित्रयो सम्भ- इति तेषामभिप्राय । काशि-कादिषु व्याकरणग्रन्थेषु तु प्राग्देशेष्वेव गोनर्दस्य गणना कृतेति गोडाप्रान्तमेव गोनर्दपदेन वयमधिकं सम्भावयाम ।

इत्य इदं प्रमाणैर्निश्चितयो पतञ्जलिदेशकाल्यो पुनरपि केचिद्विप्रतिपद्यन्त एव । तत्र सामभूमिमहाशयो नेदमनुमन्यत, स तु अल्हेन्द्रान्नमगात् प्रागेव शुद्धकालाच्च किञ्चिद्वर्षाक प्रायेण पञ्चमी शताब्दी (ई. पू) पतञ्जलिकाल मन्यते । तत्र चेमे हेतवस्तेनोपन्यस्ता —

१ अमिमन्पुराज्यकाले चन्द्राचार्यादिभिर्विजुनप्रापस्य महामाष्यस्य पुस्तकमेक मुद्रुलंभ कश्मीरेष्वानीत तैरेव च तस्य प्रचरस्सत्य कृत इति राजनरङ्गिण्यानुक्तम्—

चन्द्राचार्यादिभिर्लब्ध्वा देश तस्मात्तदागमम् ।

प्रवर्तित महामाष्यं स्वं च व्याकरणं कृतम् ॥

राजतरङ्गिणीतरङ्ग १ श्लो० १७६ । हरिणा च वाक्यपदीये, कश्चिद् विशेष उक्तः—

पूर्वतादागम लब्ध्वा माष्यबीजानुसतिभिः ।

स नीतो बहुशालत्वं चन्द्राचार्यादिभि पुन ॥

(वाक्यपदीय-२।४८२)

अमिमन्पुराज्यकाले च अस्ति पाश्चात्याना विप्रतिष्ठि । विल्हर्जमहाशय यीशुख्रिस्त ४२३ वर्षेभ्य पूर्वममिमन्पुराज्यकाल मन्यते । बोयलिङ्गमहाशयश्च यीशुत शताद् वर्षेभ्य पूर्वम् । प्रिस्मिण्डोदय यीशुत ७३ वर्षेभ्य पूर्व तद् राज्यावसान मन्यते । लासेन-महाशयश्च यीशुत ४० वर्षेभ्य पश्चान्नमन्यते । तदत्र बोयलिङ्ग्प्रिस्मिण्डमहाशययोर्मत प्रायेण सवदतीति तत्रैव विश्वसिति साम भूमिमहाशय । तथा च यीशुख्रिस्त शताद् वर्षेभ्य पूर्व दूरत दाक्षिणात्यपर्वत

प्रान्ता-महामाध्यपुस्तक कश्मीरेषु गतम् । ईदृशस्य च महतो मन्त्रस्य प्रान्त्य-
देशे विरचितस्य दाक्षिणात्येषु तस्मिन् काले प्रचारो यदा चाप्यद्यत्वादिषु
नालीरिक्तमपि यान्तावनम्, तदनु च तस्य विरोध, इत्येतदयमन्ततः निचतु-
दशना-दीप्तमवोऽवश्यमपेक्ष्यते । तस्मात् यीशुख्रिश्चत् पूर्वं पञ्चम्या शताब्द्या
अर्वाक् महामाध्यकारसमय कदापि न भवितुमर्हतीति ।

० 'चङ्कलादिम्यश्च' (४२।७५) इति सूत्रे पाणिनिना साङ्कलनगरस्य सत्ता
प्रकटीकृता । तच्चेदं नगर अञ्चेन्द्राक्षमगकाञ्च तेन विनाशितमित्येतिहासिकी
प्रसिद्धिः । महामाध्यहृता च तत्र सूत्रे तद्विनाशविषये किमपि नोक्तम् । यदि
हि महामाध्यहृतात् पूर्वमेव साङ्कलनगरविनाशोऽप्रविध्यन्, तर्हि ईदृशी प्रत्यक्षा
घटना तेनादृश्य तत्र निरुद्धा-साङ्कलनगरमिदानीं स्वस्तमिति ।

१ अञ्चेन्द्राक्षमगकाञ्च नगरस्य प्रसिद्धा सुदप्रवणा जातिर्विनाशितेभ्यः
स्थापितं यवनदेशीयैरितिहासिकैः । महामाध्ये तु 'एकस्मिन् सुदप्रवितमित्यु-
दाहरणं दृश्यते । यदि हि अञ्चेन्द्राक्षमगकाञ्च महामाध्य विरचितमिति
मन्त, तदानुपदमेव पराजिताया विनश्वराया च तेष्विजयशीलस्य न कदापि
तत्र वर्तितं स्यात् । तस्मादञ्चेन्द्राक्षमगात् प्रागेव महामाध्यस्य निर्माणमिति ।
ता एता प्रधानस्तस्य मुख्य । 'पुष्यमित्र याज्यामहे' 'चन्द्रगुप्तसभा' 'पुष्य-
मित्रसभा' 'अरुणयवन साकतम्' इत्यादीन्मुदाहरणानि तु स्वकल्पितान्येवति-
सामर्थ्यनिर्वाहणायोक्तवन्ति । यथा व्याकरणग्रन्थेषु देवदत्तयशस्वादीनि कल्पितान्येव
नामानि तत्र ततोदाह्रियन्ते, तथैव पुष्यमित्रचन्द्रगुप्तादिनामान्यपि तदात्रै-
ककल्पितान्येव महामाध्यहृतोदाहृतानि । अत्रास्तु तन्नामका राजानोऽपि बभूवुरित्येव
कल्पयितुमुचितम् । पुष्यमित्रो हि यीशुत् प्राग् द्वितीयस्या शताब्द्या जात-
इत्येतिहासिकाना मतम् । ततश्च एकशताब्दीमात्रे समये महामाध्यस्य
युद्धदेशे प्रचरन्तद्विलोपश्चापि नैव सम्भवतीति न युज्यते पुष्यमित्रकाले माध्य-
निर्माणम् । किञ्च महामाध्ये 'अनुसोण पाण्डिपुत्रम्' इत्युदाहरणं दृश्यते ।
कुमुदपुराणपुराण पाण्डिपुत्रञ्चेदं बुद्धदेवकाञ्च एव वाचयितुमुत्तमम्, बुद्ध-
यवन 'महोदध नगर मन्थिष्यतीत्याशोयि दत्ता । तच्चेदं प्राक् शोणतीरे
निवासीन् तदनु च तत् परित्यज्य गङ्गातीरे स्थापितमित्येतत्तत्रैव बौद्धग्रन्थेषु
प्रतीयते । इत्थं च यावदञ्जलीरे आसीत्पाण्डिपुत्र तावदेव महामाध्य निर्मितमिति
ततोऽपि महामाध्यस्य अर्वाचीनता न सम्भवतीति ।

२ एता अप्रामाण्यमहाराजस्य मुख्य उपरक्षितद्वयस्यैव तत्रैव स्थित-
मुच्यते । पुष्यमित्रचन्द्रगुप्तयोर्नामनी स्फुट महामाध्ये दृश्यन्ते । पुष्यमित्रस्य
याज्जकरणमपि तत् प्रसिद्धयति । यवनजन सात्रेतावरोधो माध्यमिकावरोधश्चापि
यदेतिहासेभ्यः प्रमाणीभवति तदा सर्वमिदं कल्पितमित्युक्तिरुपशमयैव

श्रेयाकाम् । एवमप्यपि तु कस्यापि ग्रन्थस्य कालनिर्णयं कदापि न सम्भवति । सर्वत्रैवमुच्यते । कल्पनायां कागलक्ष्यवसमनात् । तस्मात् ता प्रबलतरा युक्तम् । 'सकलदिन्यथ' इति सूत्रे माध्यमेन न दृश्यते, तदा क्वचिन्नर च सर्वानाथैव भाष्यकारस्तत्तुन व्याचक्षीते तदप्युहास्यदम् । न हि भाष्य मैतिहासिको ग्रन्थः, यथैवावद्या धना अन्त्यमन्त्रिस्तेन । छुद्रकातिविपरेडनि ऐतहासिकैरन्यथैव प्रमाणितम् । माल्वा छुद्रकाश्चेति वातिद्वय पञ्चनदप्रान्ते सुप्रसिद्धमासीत् । तयोश्च सर्वत्र पुत्रादिषु साहचर्यमनव बभूव । परमत्सेन्द्रस्या अन्त्यकाले तेन सह पुढावतरे तयोः साहचर्यं केनचिदेतुना न जातम् । ततश्च मातुः पृथग् पुत्र इवम्, छुद्रैश्च पृथक् । ते एते जातौ तदा विनष्टे हरिनि भारतायै तिहासिकैः खण्डितम् । अत्र तयोः स्थोदशान्तरेषु निवास स्फुटं सिद्धयति । छुद्रका एतान्त-सदा पराजिता इत्यपि जायसवा-महोदयो नातुमनुन । यदापि यूनानदेशीया स्वल्पिन इतिहासे छुद्रकाणां पराजयं वदन्त, परनिदमप्यैतहासिकैरन्ये यद्युद्धान्ते छुद्रकस्य वसम्मानं समाप्तु भोज्यादिकं यूनानदेशीयैरुपहितं स्म । न हि पराजितानामेवविधं सत्कारं सम्भवति । तस्माद् युद्धे सविरेवसीत्, तत्र च यन्नैतिहासिकैर्यवनानां स्यो भारतायैश्च छुद्रकाणां जय उद्घोष्यते स्म स्मरन्तुमीरते । तत्र भारतीयमतनेका सुख्य महाभाष्यकृता 'एकाकिमि' छुद्रकैर्हितम्' हरयादाशुदाहनम् । तादृशेन विधिविधयिना महावीरेण सन्धिरपि नूनं न्य एवेति चित्तमिच्छुक्तिर्न विरुद्धा । अत्र 'एकाकिमि' इति पदं माल्वासाहचर्यबोह व्यञ्जयत् स्फुटमेव अल्पे प्रमुद्रकना स्मरयति, तेन अ-सेन्द्राकनादनन्तरं महाभाष्यनिर्माणं सुस्फुगीभवतितराम् । पण्डितपुत्र चापि किन्तुततन नगरम्, गङ्गाशोणसङ्गमसन्निधाने निवासितम् अनुयोगमित्यनुक्तमिति च उभयपार्श्वे एतदपिदुमयपि दृश्यते । गङ्गाशोण सङ्गमश्च पूर्व यत्र सीत् ततोऽप्येधिनस्या दिश्यागत इति प्राचीनानिर्णयनामि निद्वयति । तस्मात्तदापि अनुयोगनिपुक्तं कथमपि विरुद्धा । अभिनन्दपुराण काले कन्नौरेषु भाष्यपुराणकामनमवशिष्यते । परमभिनन्दपुराणकाल एव यदा न निश्चितस्तदा तदाधारेण कथं पञ्जने आनर्निर्माणं दृढं स्यात् । यदि तस्मिन्महोदयस्यैव मतं सत्यं स्यात्, यीशुवृषादनन्तरं आभिनन्दपुराणकालं विदुः स्यात् तदा पुष्पनिनादनन्तरमपि द्वित्रिंशत्सादी-वषाणं सम्भव्यत एव । किञ्च नैव राक्षतराज्या न वा हरिणा प्रचरानन्तरं महाभाष्यविशेष उक्तः । पूर्वं देशान्तरेषु प्रचारं तदनं विरोध इति कल्पनामात्रमिदम् । इदमपि सम्भाव्यते यत् पूर्वं महामाध्यचारो नैव जातः, वैश्वित्यञ्जलि-शेष्ये शुरोर्धीय तत् पुस्तकदेशान्तरेषु नीतं तदेव च कथञ्चिद्वाचार्यादनि प्राप्तम् । प्रचारस्तु तैरेव प्रभातः इव इति । अस्यां च कल्पनायां शताब्दीव्यवधानमात्रमपि पर्याप्त

भवति । तस्माद् दृढतरप्रमाणाऽप्येऽनुमानसाधकानि प्रमाणाणीमानि दुर्बलान्येवेति पुष्पमित्रराज्यकाल एव पतञ्जलिकाल इति मन्यामहे । स तु काल सीदश इति विप्रतिपत्तिर्न शक्यतेऽत्र समाधातुमिति निवेदितपूर्वम् ।

तदेव व्याकरणप्रधानाचार्याणां पाणिनिकात्यायनपतञ्जलीनां देशकालविषये यथोपनिधि यथाशक्यं च विवेचितम् । एषा चाचार्याणां 'यथोत्तर मुनीनां प्रामाण्यम्' इति मट्टोजिदीक्षितप्रभृतयो वैयाकरणा आहुः । पाणिनिस्वरूपे यत्र कात्यायनेन कानिद्विप्रतिपत्तिः—प्रदर्शित्वा उपसंख्यानानादिकं वा कृतं तत्र कात्यायनस्यैव वचनं ग्राह्यम् । तद्वचनसंस्कृता एव प्रयोगा साधुत्वेन मन्त्राणां । यत्र च कात्यायनवचनानि स्वयमेव भाष्यकारेण कथितं प्रयोगं समर्थितं, वार्तिकं वा प्राभाष्यात् तत्र भाष्यकारवचनमेवानुसृत्य प्रयोगाणां साधुत्वं अनुसंधेयमिति तदा शयः । एतेन भाष्यकारस्य प्रामाण्यं सर्वोपरिस्थितमिति सिद्धं भवति । यथा 'न बहुव्रीहौ' इति बहुव्रीहिसमासं सर्वनामसङ्घाप्रतिषेधं कुर्वत एषकारस्य मते बहुव्रीहवचनानामपि सर्वनामस्वामावे तत्रान्तरं भवतीति 'एषा पिता यस्यैषादि' विप्रदे स्वार्थिके कप्रत्यये 'त्वाकपितृक' इत्येव प्रयोगं साधुतयाऽऽप्नुयगन्तुं युक्तं प्राप्नोति । यत्र भाष्यकारेण 'गोमर्दायस्त्वाह ध्वकस्वरौ तु कर्तव्यौ मत्स्यकं मुक्तसंशयम्—स्वकपितृको मकरितृक इत्येव भवितव्यम्' इति स्वीकृतम् । तत्र भाष्यकाराऽनुपगता एव प्रयोगा साधुतया मन्त्राणां इत्याधुनिका वैयाकरणा मन्यन्ते । इत्यमेव च 'व्याख्यानतो विशेषप्रतिपत्तिर्न हि सन्देहादलङ्घ्यम्' इति परिभाषयाऽपि सिद्धयति । व्याख्या तस्यैवानया पूर्वसन्देहनिवारकस्वरूपस्य प्राबल्यस्य बोधनात् । भीमन्तो दाधिमथाद्यास्तु 'यथोत्तर मुनीनां प्रामाण्यमिति' श्रुतेः । पाणिनिरेव भगवान् मुख्यप्रमाणमूत इति तदाशयः । आचार्याणां दृष्ट्या तदेव युक्तम् । स्वयमेव भाष्यकारादयः पाणिनिवचनं सर्वोपरिमानं प्रमाणयन्तीति । आधुनिकैराकरणदृष्ट्या तु व्याख्यानरीत्येव व्याख्येयस्य तात्पर्यप्रतिपत्तिरमरात् भाष्यरूपव्याख्यानमेव मुख्यं मन्त्रे—इत्युभयोः सामञ्जस्यम् । प्रोभाषादर्शनभाष्यकृता भीमरस्वामिनाऽपि दशमेऽध्याये अष्टमे पादे चतुर्थे सूत्रे प्रसङ्गादिदमुक्तम्—'सद्वादिरात् पाणिनेर्वचनं प्रमाणम् असद्वादिराद् न कात्यायनस्य' इति । नञ्समासेन नित्येन मन्त्रित्वं विकल्पितेन चेति तत्र विचारः । पाणिनिर्निभाषाधिकारकरणात् तद्वीर्या विकल्पं सिद्ध्यति, वार्तिककारेण ॥ 'वा वचनानर्थक्यं च स्वभावसिद्धत्वात्' इति निभाषाधिकारचण्डनं कृतम् । तद्वीर्या नञ्समासी नित्यं सिद्ध्यतीति पाणिनिवचनमनुसृत्य विकल्पित एव समासो मन्त्रित्वं इति स्वस्वामिनोऽभिप्रायः । अस्ति विकल्प इति विकल्पाऽऽप्नुयगमात् पाणिनिः सद्वादिति तेन स्थापितं, नास्ति विकल्प इति कथनाच्च कात्यायनस्यासद्वादोऽप्युक्तम् । वस्तुतस्तु कात्यायनस्य तेषामभिप्रायः, समासविकल्पो

न विधिसाधक, अपि तु स्वमावृत्तिश्च । एकाध्यामावो व्यपेक्षा चेति द्विविधावि-
शब्दस्य वृत्तिर्वस्तुस्थितिधीना । यो हि व्यपेक्षया प्रयोक्तुमिच्छति स राज-
पुरुष इति पृथक्पदधर्ति वाक्यमेव प्रयुज्यते, यद्वैक्यार्थाभावेन प्रयोक्तुमिच्छति
स राजपुरुष इत्येकपदतो प्राप्य प्रयुज्यते इति व्यर्थम् । तत्र सुद्धादिस्वासादिभिर-
कल्पना । स्वीकृतमिदं तत्रैव दुष्प्रकाया मट्टपादे । ।

इदं तु वार्तिकानां भाष्यस्य च पर्यालोचनया बहुधा प्रतीयत एव-यत्
वार्तिककार एतद्धन पाणिनेन्यूनताप्रदर्शनमेवाभिलष्य वातिकरूपभ्राष्ट्याकरणे
प्रवृत्त । महाभाष्यकारस्य तु पाणिनेर्निराकरणमेव दृश्यते प्रवृत्ति । अत
एव 'प्रमाणभूत आचार्यो धर्मविप्रपाणि शुचाववकाशे प्राङ्मुख उपविश्य महता
प्रयत्नेन सूत्राणि प्रणयति स्म, तत्राशक्त्य अर्णोपायनयकेन मेवितु किं पुनरियता
सूत्रेण' (अ १ पा १ स १ भा ३) इत्यादिकमनेकत्र तेनोद्धृतम् । अत एव
कथासरित्सागरे पाणिनिकाव्यायनयोर्त्रिद्वयपूर्वक परस्परशास्त्रार्थविवद्वनयपि प्रवृत्ता ।
यद्यपि श्रीबालमुवेदधरणप्रभृतय वार्तिककारस्य न्यूनता-प्रदर्शनबुद्ध्या विद्वेषबुद्ध्या
वा प्रवृत्तिरिति भूत्वा विमनायन्ते, अलुक्लुब्धयैव व्याख्यातरूपाण्येव वार्तिकानि
तेन विरचितानीति ते मन्यन्ते । परं किं कुमा वयं यदा भाष्यकार एव तथा
वदनयति, तदाऽभ्युपगन्तव्यमेवेदं भवति । तथाहि-प्रत्याहारादिके 'अ इ उण्'
सूत्र एव 'अकारस्य विवृतोपदेश आकारप्रद्वयार्थ' इति वार्तिक विवृण्वतो
भाष्यकृता स्पष्टमुक्तम्-—आहोपुरुषिकामात्रं तु भवानाह सवृतस्योपदिश्यमानस्य
विवृतोपदेशोद्यते इति, वयं तु ब्रूम, विवृतस्योपदिश्यमानस्य प्रयोजनमन्वा-
रयायत इति' । अत्र आहोपुरुषिकेति पद स्फुमेव वार्तिककृतोऽहकारपूर्विका
प्रवृत्तिमवाचये । तथैव 'भृन्नुक्' सूत्रभाष्यान्तेऽपि 'स एन सूत्रभेदेन लृकारो
पदेश ग्लुराद्यर्थं सन् प्रत्याख्यायते कैषा महतो दशस्तम्बात्स्त्रादुद्धृतम्' । एव
परिहास स्फुमेव काव्यायनस्य न्यूनताविष्करणरूपा प्रवृत्तिमभिव्यनक्ति । किमन्यत्,
सर्वमपि भाष्य पर्यालोच्यतामाधिक्येन न्यूनताप्रदर्शनरूपाणां वार्तिकानां निराकरण
मेव भाष्यकृता कृतम् । सूत्राखरैरेव वार्तिकार्थंगमाय च प्रयतितम् । अथल्पानि
वार्तिककृत उपसङ्ख्यानानि तेन स्वीकृतानि ।

महाभाष्य चेद वार्तिकानामेव व्याख्यानमिति शक्यते वदितुम्, वार्तिक
मेवावलम्ब्य भाष्यस्य सूत्रं प्रवृत्तिदर्शनात् । स्वातन्त्र्येण सूत्राणि तु कचिदेव
व्याख्यातानि । येषु सूत्रेषु वार्तिकानि न दृश्यन्ते तत्र भाष्यमपि प्रायेण न
दृश्यत एव । इदमपि वैलक्षण्यं व्याकरणेऽनुसन्धेयम्-यदन्यत्र मीमांसा-वेदान्त-
न्याय-योग दर्शन-प्रभृतिषु भाष्यस्य व्याख्यानभूत वार्तिकम्, इह तु वार्तिक
व्याख्यानरूप भाष्यमिति । अस्यापि इदमेव तात्पर्यं प्रतीयते यत् सूत्रेषु

उक्तानुक्तदुरुक्तचिन्ता कात्यायनस्यामीषाऽमूर्त् । एत एव तेन स्वीयस्य ग्रन्थस्य
वार्तिकमिति नाम कृतम् । 'उक्तानुक्तदुरुक्तानां चिन्ता यत्र प्रवर्तते । त ग्रन्थ
वार्तिकं प्रादुर्भाविकम् । मनीषण'—इतिवार्तिकव्युत्पत्त्यात् । इदं च प्यतिदुष्कर
मानसितं यत् कात्यायनकृतं स्वतन्त्रो वार्तिकः इदानीं नोपपद्यते । भाष्यमेव तु
एषा वैश्ववार्तिक्याः समीकृत । परं नायं पञ्च सर्वथाऽप्रतिद्वन्द्वो गदितुं शक्यते,
यतो हि स्ववाक्यमपि यत्र चारुवाक्ये तद् भाष्यं मन्त्राति भाष्यव्याख्या वदन्त्यमि
मुक्ता । 'सुप्रामो कर्तते यत्र वाक्ये 'सुप्रामोक्तिमि । स्वयदानि च अगन्ते
नान्य भाष्यविशेषो नितु' । इत्येते च महामाष्ये बहुत्र सथैव यत् महामाष्यकृत
पूर्वमाहवाक्यमुक्तं तस्मिन्निवरणं पितुते इति । तेन कुत्र महामाष्य
स्यैव तत्तत्प्राहक वाक्यं कुत्र वा वार्तिककृतस्तथा वार्तिकमित्यदिष्वहुयको
निर्णयः । 'वक्तव्यं न नक्तव्यम्' इत्यादिभाष्यस्यैव कथंचिन्निर्णयः समाप्यते,
परन्तु तथापि बहुत्र विप्रतिषेत्तिर्न निवर्तत एव ।

स्ववाक्यमपीत्यत्र नान्यभाष्यपरिभाष्या बहो विप्रतिषेत्तिः प्रवृत्ता । यथा
'अयं शब्दानुशासनम्' इति यद्भाष्यकारस्य आदिमं वाक्यं तत्प्रथमवेति
केचित्समाधायका मन्वते । साधयन्ति च तदेव महत्कारणम् । यत्र तु तेषां
आन्तर्गतं मन्मते यतो हि भाष्यकारः स्वयम् 'वृद्धिरादैच्' सूत्रे वृद्धिपदं मङ्गलं
यमाह । 'अनुवाचनदुरुक्ता हि न विधेयमुदीर्यते' इति नियममनुसृत्य
पूर्वमुदीर्यकथनं तदनु विधेयकथनमित्यस्याचार्यस्य शैली । यथा 'इको याचि,
अहं सगो दीर्घः' इत्यादि । तथैव सप्तमोच्चरि 'अदेह् पुनः' इत्यादिषु पूर्व
मुदीर्यकथनं तदनु विधेयकथनमिदमेव रीतिरुच्यते । तथैव च रीत्या सप्तमोच्चरिनामो
नित्येति भाष्यकृता सिद्धान्तिः । तत्रैव शब्दा 'कथं वृद्धिरादैच्' इति अत्र
पूर्वं विधेयनिर्देशं कथमिति प्रदर्शयति । तत्रोत्तरयति भाष्यकृत—'एतदेकमा
चार्यस्य मङ्गलार्थं सूच्यताम्, भाष्यक आचार्यो महत् शम्भोऽप्यत्र मङ्गलार्थं
वृद्धिपदमादित प्रयुज्ते । 'मङ्गलदीने हि शास्त्राणि प्रयते वीरपुरुषाणि च
मन्त्रिणि आयुष्मत्पुरुषाणि च अप्येतारश्च वृद्धियुक्ता यथा स्तुरिति । एतस्य
भाष्यस्य दुर्लभाया यानि 'अयं शब्दानुशासनम्' इति वाक्यस्य सूत्रसाधकानि
प्रमाणान्युपपद्यन्ते तान्यनित्यं गति । ब्रह्मणे च सिष्टा आदिभूतत्वेन 'वृद्धि
रादैच्' इत्येव परम्परया पन्ति । तदेतदपि मुख्यं प्रमाणं मन्तव्यम् । तथैव 'सिद्धे
शब्दार्थसङ्गच्छे' इति वार्तिकं सिद्धशब्दोऽपि मङ्गलवस्तुभा भाष्यकृता व्याख्यात ।
तस्मात् 'रजोहासमन्वन्देहा प्रयोजनम्' इत्येतदादिमं वार्तिकं ये मन्वते
तेनैव भ्रान्ता एव प्रणीयन्ते । किञ्च 'वृद्धिरादैच्' इति वृद्धिपदेन सूत्रकृतो मङ्गलम्
'सिद्धे शब्दार्थं सङ्गच्छे' इति सिद्धशब्देन च वार्तिककृता मङ्गलम् इति व्याख्यानं
पतञ्जलिः स्वयं महामाष्यस्यास्य मङ्गलं न कुर्वादिति नेतुमुपपद्यते । तस्मात्

‘अथ शब्दानुशासनम्’ इत्यथशब्देन तेन मङ्गल कृतम् इत्येव सम्प्रगमाति ।
 व्याख्यात च प्रधानध्यात्यात्रा कैयटन ‘भाष्यकारो विवरणकारत्वाद् व्याकरणस्य
 साम्नात् प्रयोजनमाह ‘अथ शब्दानुशासनमिति । प्रयोजनप्रयोजनानि ॥ रक्षो
 हादीति पश्चाद् ‘इत्यन्ते’ इति । एतेनोभयमपि भाष्यकारवास्यमिति कैयटमत
 स्फुटीभवति । यादृशी च भाष्यकारस्य शैली, यद् धार्तिकमुल्लिख्य तदनु तद्वा
 क्यनुवादेन ‘कर्तव्य’ ‘वक्तव्यम्’ इत्यादि वदति, तथा ‘रक्षोहागमलध्वसन्देहा’
 इत्यन न दृश्यते इत्येतदपि तस्य धार्तिकत्वाभावे बीजम् । यत्तु-मीमांसकविषय
 माजा श्रीयुधिष्ठिरमहाशयेन, सङ्कृत-व्याकरणेतिहासे प्रोक्तम्-आदिशब्दो
 भाष्यकारस्य न सर्वादिबोधक, अरि तु भिन्निन् परतोऽपि विद्यमाने मध्यगोऽप्यादि
 शब्द प्रयुज्यते । एवमेवान्यशब्द मध्यगशब्दश्चापि तस्य व्यभिचारी । तत्र
 निदर्शनं च ‘मूवादयो धातव’ इति सूत्रे ‘मूवादीना वकारोऽय मङ्गलार्थं प्रयुज्यते’
 इति धार्तिकं तद्भाष्यं च । ‘मूवादय’ इति सूत्रं हि नाद्य नान्तिम न वा
 मध्यगम्, प्रथमाध्यायस्य तृतीयपादादौ वर्तमानत्वात् । तथापि च वाशब्द
 मङ्गलार्थत्वनोक्त तत्समर्थनञ्च ‘मङ्गलादीनि मङ्गलमभ्यानि मङ्गलान्तानि शास्त्राणि
 प्रयन्ते’ इत्यादिरीयैव कृतम् । तस्मात् तस्यादिव मध्यगतत्वं वा भाष्यकारेणा
 प्रयुगलतम् । तनैव सिद्धमिदं यदादिशब्दा मध्यगशब्दो वा सर्वादिमूते सर्व
 मध्यगे वा प्रयुज्येतेति नैव नियमः । ततश्च ‘अथ शब्दानुशासनमि’त्यस्य सूत्र
 श्वाभ्युपगमेऽपि ‘वृद्धिरादैच्’ इति वृद्धिशब्दस्य मङ्गलार्थता न विरुद्धयते ।
 ‘रक्षोहागमे’त्यस्य धार्तिकत्वेऽपि च ‘विद्धे शब्दार्थसम्बन्धे’ इति सिद्धशब्दस्यापि
 मङ्गलार्थता युज्यते एव । तदिदमितिहासमीमांसकस्य वचनं बालानामभ्युपहासाय
 भवेत् । ‘सति हि परस्मिन् यस्मात् पूर्वो नास्ति स आदि, सति च पूर्वस्मिन्
 यस्मात् परो नास्ति सोऽन्य’ इति स्वयमेव भाष्यकृता आद्यन्तयोर्लक्षणं कृतम् ।
 तच्च स्वकीयं लक्षणं स्वयमेव न मन्यते-इत्यहो तस्यासता समर्थिता । ‘मूवादय’
 इत्यन यद् वशब्दस्य मङ्गलार्थत्वमुक्तम्, तस्य तु धातुपाठमङ्गलार्थत्वं प्रतीयते ।
 सर्वो हि धातुपाठो ‘मूवादयो धातव’ इति सूत्रेण स्पष्टीत, ततश्च समाह्वये
 सूत्रे कृतं मङ्गलं धातुपाठस्यैव मङ्गलं स्मृतमिति तदभिप्रायः । सम्भवेच्च मध्य-
 गशब्दस्य व्यभिचारित्वमपि, आद्यन्तौ विहाय सर्वेऽपि मध्यगा वक्तुं शक्यते ।
 आद्यन्तशब्दौ तु व्यवहारे शास्त्रे च नियतौ न शक्तिरुपमहन्तः । ‘वृद्धिरादैचि’ति
 सूत्रे हि ‘एतदेकनाचार्यस्य मङ्गलार्थं मध्यगताम्, भाङ्गलिक आचार्यो महत्
 शास्त्रोपस्य मङ्गलार्थं वृद्धिशब्दमादि प्रयुङ्क्ते’ इति स्पष्टमादिशब्दो भाष्यकृतो
 पाठः । नैव ‘मूवादयो धातव’ इति सूत्रे आदिशब्दोपादानं दृश्यते । एवमेव
 विद्धिशब्दविषयेऽपि ‘महत् शास्त्रोपस्य मङ्गलार्थं सिद्धशब्दमादित प्रयुङ्क्ते’
 इत्यादिशब्दप्रयोगो दृश्यते । तस्मात् ‘वृद्धिरादैचि’त्यतः प्राक् सूत्रकल्पना ‘विद्धे

शब्दायं सम्बन्धे' इत्यत आग वार्तिककल्पना च न कथमिति प्रामाणिकी मन्त्रि
महति । नैर्मन्यकृद्भिस्त्वयोल्लिखित तद्भ्रान्ताप्यमादाद्वैत्येव मत्तस्य स्यात् । भाष्य
कृतस्तुत्याया तेषां प्रामाण्यामावात् । अथापि सर्वेषु पुस्तकेषु व्यवहियमाणेषु
अध्यायाद्यङ्गेषु प्राथम्यमेव 'वृद्धिरादेर्' सूत्रस्य दृश्यते इति 'अथगन्धानुशा
सनमित्यस्य सूत्रश्रवण्यना सर्वप्रामाणिकविद्भेदस्यास्तीति वाच्यम् । तस्माद् भाष्य
कृतं किं स्वकीयं शक्यं किं वा वार्तिककृतं वावर्तिकम् इति निर्णयो दुश्कर एवा
पतितः । भाष्यकारश्रीमन्वाक्यानन परोक्षं कथञ्चित् निर्णयत एवऽभियुक्तैः ।
सिद्धान्तभोग्यरादिषु तु बहुत्र वार्तिकानि स्वल्प-तरणामिव प्रारिक्तानि दृश्यन्ते ।
केवलमर्थसम्बन्ध एव तत्रानुसृतः । मन्त्रु नाम, वार्तिकस्यैव प्रामाणिकस्यो
द्धारोऽवश्यकः । कर्तव्येषु मुष्यतया निष्ठनीति अवसरमन्वेष्टव्यम् ।

इह तु असंक्षिप्तमेव, यदद्यत् पाणिनीयस्य व्याकरणस्य पादयो प्रतिष्ठा
दृश्यते, यथा च शास्त्रेषु व्याकरणस्य मुख्य स्थानं गण्यते, सोऽयं सर्वोऽपि
कात्यायनस्य, भाष्यकृत पञ्चञ्चदश प्रभावः । महामप्य न के उ व्याकरणनिबन्ध,
अपि तु सर्वगम्येति शास्त्राध्यानि विषयगतानि स्थान स्थानांश्च उपरिक्त विदे
वितानि । लौकिका व्यवहारा, प्राकृता इतिहासा, आन्तरिका धर्मा, दर्शनानां
सिद्धान्ता, गूढतमानि विज्ञानानि चेति समन्तमहमप्ये कृतपरिश्रमेस्त्वम्यक्
परिचेतुं शक्यते । एवमिषया विवेचनमेव सङ्कटस्य व्याकरणशास्त्रमिति प्रतिष्ठा
गतम् । न च पञ्चकलारव सरगम्भीरा प्राच्यतमा भाषाऽपि कस्याप्यन्यत्र
प्रत्यक्षतो भाष्ये विधिना निरक्षिता । तस्मात्तदभाष्यमिदमलौकिकं यन्तु सस्कृत
धातुमयमन्दिरस्य मुख्यं शिष्टावमानमित्यत्र न उदेहः । आदित्ये त्विह यद्य
समयो भाष्यकारस्य निर्णयत स आधुनिकस्य भौतिकज्ञानस्य न तादृश
प्रचारसमयं शक्यते निर्णययितुम् । भारतीय वैदिकं विज्ञानं तदात्र विद्यमानमेव
सम्मान्यते, तयानि विज्ञानस्यानि गूढतमा सिद्धान्ता महामप्ये तत्र तत्र
प्राप्यन्ते । यथा 'स्थानेऽन्तरतम' इति सूत्रे 'अचेतनेऽपि-ज्येष्ठे' शिरो धातुदेग
गत्वा नैव तिर्यग् गच्छति, नोर्ध्वमारोहति, पृथिवीविकारं पृथिवीमेव गच्छत्य
न्तर्यत । तथा वा एता आन्तरिक्षं भूना आस्तासां विकारो धूमः, स
धूम आकाशे निवाते नैव तिर्यग् गच्छति, नार्वागवरोहति, अव्यधिकारोऽय एव
गच्छत्यान्तर्यत । तथा प्योनिषो विकारोऽर्चिरागच्छदेशे निवाते मुमन्त्रश्च
नैव तिर्यग् गच्छति, नार्वागवरोहति, प्योनिषो विकारो प्योतिरेव गच्छत्यान्तर्यत
इति । इह हि सजातोवाक्यैरपि सिद्धान्तं स्पष्टतया कियद्विदक्षित इति वैज्ञानिका
विद्वांस एवायं प्रमाणम् । यमाकर्षणसिद्धान्तं न्यूटनमहाशयदेनापि कृत पाश्चात्या
मन्यते, स भारते यीशुख्रिष्टोऽपि पूर्वं निरूप्य प्रचलित आसीदिति नालं गौरव
भारतस्य । अनन्तरं सिद्धान्तोऽयम्—

‘आवृष्टिश्चिच्छ मही तथा यत् सस्थ शुभ स्वाभिमुख स्वशक्त्या ।

आवृष्यते तत्पततीव भाति समे समन्तात् ॥ पतस्त्रियं खे ॥

(सिद्धान्तशिरोमणी)

इत्यादिना भास्कराचार्यप्रभृतिभि स्वशब्दैरेव स्पष्टीकृत् इत्यन्यदेतत् ।

एवमन्यत्रापि तेन तत्र द्रव्यम् । शब्दविज्ञान्तु पदे पदे महाभाष्ये जाग
र्येन । अनेकत्र तु भाष्यकृता नरूपित विज्ञान व्याख्यावृद्धिरपि न बुद्धम् । तेन
च भाष्यकारस्याशय एव तैर्गते पातित । तत्र निदर्शन ‘त्रियम्’ इत्यधिकार-सूत्रस्य
भाष्यम्—

सकृत्तभाषायामचेतनबोधका खट्वा-वृक्षादिशब्दा अपि तत्तल्लिङ्गमात्रोऽभ्यु
पगम्यन्ते । तत्र वैज्ञानिकहेतुमुपदर्शयन् महाभाष्यकारो भगवान् पतञ्जलि —

सस्त्यानप्रसवौ लिङ्गमास्थेयौ स्वकृता-तत ।

सस्त्याने सत्यायतेऽतः स्त्री सूते सप् प्रसवे पुमान् ॥

इति तार्तिक व्याचष्टाण आह ‘आधिकरणसाधना लोके स्त्री, सत्यायत्यस्यां गर्भं
इति, कर्तृसाधनश्च पुमान् सूते पुमानिति । इह पुनश्चय भावसाधनम्=सस्त्यानं
स्त्री प्रवृत्तिश्च पुमान्, कस्य पुन सस्त्यान स्त्री प्रवृत्तिर्वा पुमान् । गुणानाम् ।
वैषाम्, शब्दस्पर्श-रूप-रस-गन्धानाम् । सर्वाश्च पुन मूर्तय एवमात्मिका
सस्त्यानप्रसवगुणा शब्दस्पर्शरूपरसगन्धानाः । यत्रात्पीयोषो गुणास्तत्रावरतत्रय
शब्द स्पर्शो रूपमिति, रसगन्धौ न सन् । प्रवृत्तिः तत्त्वमपि निश्वा, न हीह काचिदपि
स्वस्मि नात्मनि मुहूर्त्तमप्यवतिष्ठते, वर्द्धते वा यावदनेन वर्द्धितव्यम्, अपायं न वा
युज्यते, तत्त्वोभय सर्वत्र, यद्युभय सर्वत्र, कुतो न्यवस्था, विवशात । सस्त्यानविष-
याया स्त्री, प्रसवविषयायां पुमान्, उभयविषयायां नपुंसकम् इति । अस्याभिप्राय
स्तु एव—यत् सवत्र यज्ञप्रक्रियाविषया आदानप्रदाने प्रवर्तते । सर्वमपि पदार्थं
जात दृश्यमान न कदाप्येकस्वरूपम्, परिवर्तमानमेव त्विद सर्वमुपलभ्यते । परिवर्त-
मानमपि च नैकान्तत सत्ता जहाति । तदिद सर्वं यज्ञकृतम् । स्वीयानां भावा
नाम यत्रार्पणम्, अयतश्च भावानामादानमितीयमादानप्रक्रिया यज्ञ । यथा
प्रदीप प्रकाश सर्वत्रार्पयति, तैश्वर्यवाधानसमादत्ते, मल बल च सर्वत्र प्रयोज्य
यति । तथैव वृक्षा अपि मूल-जलमाददते, प्रसूनफलादिक च ददति वात्वादिष्वपि
च स्वप्रभावमयन्ति । इष्टका-प्रस्तरादिष्वन्यत्र जडेष्वपि प्रक्रियेयं सर्वत्र प्रवर्तते ।
तत एव नश्य पुराणस्य सर्वत्रैव जायते इति विमाध्यम् । सोऽयमादानप्रदाना
परंपरायोऽनान्तादभाव । तत्रादानविषयायां स्त्रीलिङ्गशब्दस्तत्र प्रवर्तते, प्रदान
विषयायां पुंलिङ्गशब्द, तात्पर्यविषयायां नपुंसकलिङ्गशब्द इति । पर कैयट
महाभाष्यो यज्ञप्रक्रियाविषयमभिलक्ष्यैव शब्दस्पर्शरूपेण स्वकृतमपि भाष्य,

कृतो विवरणं गौणं मत्वा गुणशब्दस्य सात्वतप्रसिद्धं सत्त्वाद्यर्थमुपगम्य तदुपचयाप-
चयौ च काल्पनिकौ मत्वा सर्वौ वैज्ञानिकप्रक्रिया तिरोदधाति । नामेशमट्टाद्याश्च
तदेवानुसरन्ति । विज्ञानप्रक्रियायां देशे विशेष एवात्रापराध्यतीति न प्रश्नार्हम् ।
एवमेव 'उच्चेष्टदात्त' इति सूत्रेऽपि शब्दोत्पत्तिप्रक्रिया या वैज्ञानिकी महामाष्य
कृतोक्ता, सा व्याख्याकृद्भिरन्यथैव नीता । उच्चेष्टव नीचेष्टव चेदमन्यवस्थितम्,
यदेव एकस्य कृते उच्चेष्टदेवापरस्य कृते नीचेष्टवतीत्याशङ्क्य गानायामदाह
प्यादिना क्रियमाणामपि व्यवस्थामनवस्थिता निरूप्य 'सिद्धन्तु समानप्रक्रम
वचनात्, सिद्धमेतत्, कथम्-समाने प्रक्रम इति वक्तव्यम् । क पुन प्रक्रम,
उर कण्ठ शिर इति' इत्येव मुख्य समाधानमुक्तम् । वर्णानां हि द्विविधानं
स्थानानि पाणिनीयविज्ञादौ दर्शितानि, सवनस्थानानि, आस्यान्तर्गतस्थानानि
च । बुद्धयर्थान् समर्थ्यामना प्रेरतेन मनसाऽभिहत कायाभिर्यदा शारीर
माकृतं प्रेरयति, तदा स वायु उरसि, कण्ठे, शिरसि वा मनोऽभिप्रायानुकूल
मेव वृत्तिप्रथमं करोति, तान्येतानि त्रीणि सवनस्थानानि शिक्षायामारम्भ एव
स्पष्टीकृतानि—

मकृतस्तुरसि चरन् मन्द्र जनयति स्वरम् ।

प्रातः सवनयोग त उन्दो गायत्रमाभितम् ॥ ७ ॥

कण्ठे माध्यन्दिनयुग मध्यम त्रेष्टुमातुगम् ।

तार तार्तीयसवन क्षीपय्य जागतातुगम् ॥ ८ ॥

एव त्रिषु प्रक्रमेषु क्रमेण मन्द्रमध्यमतारा स्वरा भवन्तीति प्रतिपाद्य
भनन्तरम्—

‘सोदीर्णो मूर्ध्यभिहतो वक्त्रमापद्य माकृत । वर्णान् जनयते’

इति भास्यस्थानेषु वर्णोत्पत्तिरुक्ता । उरसि कण्ठे शिरसि वा वृद्धिस्तुरभि
प्रायातुसारेण केन्द्र प्रकल्प्य पुनर्वीथुस्तस्मात्केन्द्रादुत्थाय मूर्ध्वपर्यन्तं गच्छति,
ततश्चाभिधातमासाद्य मुखे प्रातस्तस्तस्थानसङ्ग-येन वर्णान् जनयतीति स्फुरोऽभि
प्राय । आस्यगतस्थानेष्वपि ‘अथौ स्थानानि वर्णानाम्’ इत्यादिना उर कण्ठ-
शिरसि स्थानानि शिक्षायामुक्तानि, तान्येतानि सवनस्थानेष्वपि पृथगमृतानि,
अथैव हि कण्ठाजीचैस्तनो भाग ‘उर’ इत्युक्तं, दन्तानां मूर्ध्ना च शिर इति ।
तन ह्र, झ, इत्यादिषु इकारस्य उर स्थानमुक्तम्—केवल्स्य तु इकारस्य कण्ठ्यार
मित्यादि सर्वे तथालोच्यम् । सवनस्थानानां च स्पष्टीकरणमत्रऽपि शिक्षायाम्—

प्रातः पठेच्चिरदमुर स्थितेन स्वरेण शार्दूलवतोपमेन ।

मध्यन्दिने कण्ठगतेन चैव वक्त्राहसकूजितसन्निभेन ॥

तारं तु विद्यात् सवनं तृतीय शिरोगतं तच्च सदा प्रयो-ज्यम् ।

मथूरहसान्यमृतस्वराणां तुल्येन नादेन शिरस्थितेन ॥

प्रत्यात्ममनुभवविद्धं चेदम्—स्वतामर्ष्यानुसारं कदाचित्कश्चिदुच्येवदति,
कदाचिन्नीचैः, कदाचिच्च सनेन स्वरेण इति । सोऽयं भेदः सवनस्थानकृत एव ।
तान्येतानि सवनस्थानान्येव प्रक्रमशब्देनोक्तवा भाष्यकारेण उच्येत्सन्नीचैस्व-
योरव्यवस्थायाः समाधानं कृतम्, यद्यथाविधौ यस्योपक्रमः, तत्र यदुच्ये-
स्तदुदात्तमिति विज्ञातव्यम्—कामं तदन्वापेक्षया नीचैर्मवतु, न तेनास्माकं
प्रयोजनमिति । परं कैयटमहाशयः सवनस्थानानामात्मस्थानानां च भेदमविचा-
र्यैव भाष्ये स्पष्टमुक्तम् 'उरः कण्ठं धिरः' इति स्थानत्रयमथानामपि स्थानानामु-
पलक्षणं मत्वा तत्र च प्रत्येकं स्थानेषु काल्पनिकमनुभवविद्धं सिद्धुश्रयमुरीचकारे-
त्येकदेशितापराध्यति । एवं महामाध्यस्य गूढा आशया व्याख्याकृता
कृपया अन्यथैव नीता इति निदर्शनमात्रमिदम्, सम्यगालोचने बहुत्रैव
प्रतीयेत ।

इदं त्रकारमार महामाध्यस्य कैयटमहाभागस्य नैव विस्मर्तव्यम्—यद्
बहुत्र महामाध्यं तद्व्याख्ययैवाचारमारुह्यैर्बुध्यते, यदि नानविध्यत् कैयटकृतं
व्याख्यानम्, तर्हि दुरवबोधमेव महामाध्यं बहुनामविश्वमिति । यद्यप्यस्या
अपि व्याख्या महामाध्यस्य बह्वयः सन्तीति भीमुधिष्ठिरमीमांसकमहाशयेन
संस्कृतव्याकरणशास्त्रयेतिहासे स्फुरोक्तम्, हरिविद्म सेतुन्तु कैयटः स्वयमा-
लम्बनत्वेन स्मरति, तथापि ता अनुजलम्बा अप्रचलिता वा, प्रसिद्ध प्रामाणिकं
व्याख्यानन्तु कैयटस्यैव भाष्यप्रदीपाख्यमेव । हरिवैज्ञानिकमूर्धन्य इत्यत्र न
संदेहः, तदीयाद्वाक्यपदीयग्रन्थात्तयावगतेः, तन्त्रशास्त्रेष्वपि च तन्मतस्य
मान्यताप्रसिद्धेः, परं तद्व्याख्यायाः क्रियाविदेशयो जननपुस्तकालये प्राप्तोऽ
स्ति । ततश्च तत्प्रतिदिपि पञ्चापविध्वविद्यालयेनापि आनाम्न स्वकीये पुस्त-
कालये रक्षिता ततः कैभिरिदंभिरपि प्रतिगताः कृता । प्रचारस्तु तस्या
अद्यावधि नास्ति । स्वल्पपरिमाणैव च सा लब्धा इति भाष्यार्थावबोधकृते
कैयट एवाद्यावधि शरणम् । अस्य च कालः दशमी एकादशी वा घटान्दी
येतिहासिकैर्मन्यते ।

धर्मशास्त्र-खण्डः

(अत्र खण्डे—१ चानुर्वच्यम्

२ प्रमातृपतिव्या धर्मालोचनम्

३ स्पर्शादौ शास्त्रीया व्यवस्था

४ पितृविवेक

एते चत्वार प्रबन्धा निवेशिता । अन्तिम पितृविवेकोऽपूर्ण एवोपलब्धो
यद्यपि, पूर्वपक्ष एव विद्यतेऽत्र, नतुत्तर पक्ष , तत्रावश्यमुत्तरमाकाङ्क्षेयु पाठका ।
पर दौर्भाग्याच्छिन्त्यमायातेषु पितृचरणेषु न सजाता भूतरेतदीया । वैदिके
खण्डे पितृविवेकाख्योऽपि लेख एताद्वेषयक एव । तेनैवात्र विषये सिद्धान्तपक्षोऽव
धेय । अयं तु यावानुपलब्धस्तावन् प्रसार्यते । सभावितै पूर्वपक्षेऽस्तु परिचय-
स्यादेवानेनेति—संपादक)

चातुर्वर्ण्यम्

इह हि वक्ष्ये इदानीं चातुर्वर्ण्यविषये लौकिकानां शास्त्रविदुषा च विप्रतिपत्तयः भूयन्ते—‘नासीत्पुरा भारतोऽस्य तिसमये वर्णविभागप्रथा, अर्वाक् काले तु मतिभ्रंशादल्पयैर्जनैः सैषा समुकल्पिता, एतन्मूलिकैः चेयमालोक्यतेऽतितराम्भवति—तस्मात्तुदूरमुत्सृज्य तामिमां सम्पादनोया भारतोऽस्य इत्याहुः केचन स्वतन्त्रप्रज्ञादेतिहासिकमन्या । ‘यद्यप्यासीत्पुरा वैदिकेऽपि काले वर्णविभागः, परं सोऽयं कर्मविभागमूलक एव तदास्वे प्रचलितो न तत्प्रतिभात्रसमनियतमासीद्वर्णानां वर्णत्वम्, जन्मनाय वर्णविभागस्तु भुतिरमृत्यननुमत वैश्वदत्तपञ्चराधुनिकैरेव प्रचारित इति समुल्लेखार्हं एव’ इति वदन्ति बहवो वैदिकमानिनः । ‘पुरा कर्मणैवासीद् व्यवस्थितिर्वर्णानाम्, इदानीन्तु जन्मनैर्वोररीकृता सा समीक्षादष्टैः समाजसरक्षकैः’ इत्यभ्युपगच्छन्त्यनेके मध्यस्थाः । ‘इदानीमिव आसृपेराप्रलयाच्च योनिनैव व्यवस्थिता वर्णाः, सर्गकाल एव गगवत् आदिपुरुषस्य मुखबाहूरुपादाद्विभिन्नानामेव ब्राह्मणादीनामुत्पत्त्यभ्युपगमात्’ इत्यातिष्ठन्ते सनातनधर्माग्रहिणः ।
ब्राह्मणधर्मियविशां दृष्ट्वा च परन्तप ।
कर्मणि प्रविमृक्तानि स्वभावप्रमर्शैर्गुणैः ॥

[श्रीभगवद्गीता]

इति तु व्यवस्थापयन्ति धर्ममर्मनिष्ठाः । साभिरेताभिर्विप्रतिपत्तिभिर्व्याकुलीभूत इवेदानीं समाजः, यथा कथमपि वा प्रवर्तन्ते तत्त्वविद्वांसो नोपशिक्षिता— इति भारतीयधर्मं प्रधानभूतायां दर्शयित्वायास्तत्त्वनिर्धारणमिदानीं सर्वेषामपि विदुषा कर्तव्यं नाम, येन तत्त्वज्ञानान्न अत्रिता स्युरल्पमतयोपि न च वेयाकुलीमुपेयास्तमाजबन्ध इति । तद्वयमप्येतदाकल्प्य गभीरतरेऽपि विषयेऽस्मिन् यथामति प्रवर्तयामो लेखनीं कर्तव्यमनुबन्धानां, आशास्महे च मनुष्यबुद्धि-सुलभमत्रोपजायमानं प्रमादपरिहोचयेयुः कदवापरवशा महान्त इति ।

तत्र ये तावत् सर्वविद्यानां बीजरूपतया सर्ववाक्यमादि भवत्येन सर्वद्वारी-क्रियमाणास्तु भुतिषु वर्णभेदप्रपञ्चममाना अपि तदशस्य प्रसिद्धादिना पुरा वर्णभेदमेवापलपन्तोऽवनतिसाधनता च तस्मिन्नारोपयन्तो निष्कारणं प्रद्वेषमात्मीयतनाविष्कुर्वन्ति, न ते किंचिदपि प्रतिदत्तुं शक्याः । येन वा साधनेन प्रत्युत्पन्ता-मेते—वर्णभेदप्रमाणत्वेनोपन्यस्तानां सर्वेषामेव वाक्यानां प्रविशायमानत्वात्—शब्दप्रमाणमन्तरा च पुरास्यार्थस्य व्यवस्थापयितुमशक्यत्वात् । अन्नतिसाधन-त्वमुन्नतिसाधनत्वं वा सम्भवति वर्णव्यवस्थाया इति तु लौकिकी दृष्टिमवलम्ब्य

सत्यवसरे विवेचमिच्छाम । तदिदानीं वर्णव्यवस्थितिरियं कृमना कर्मणा वेति
कथमासीत्पुरा, कथंच सैयमिदानीमभिमतम् स्मृतिकाराणाम्-इत्यस्मिन्नेव
विप्रतिपत्तिविषयीभूते विषये भूतिस्मृती अवलम्ब्य किञ्चिद् विविच्यते ।

तत्र सूष्टे प्रभृति जन्मनैव वर्णव्यवस्थितिरिति वदन्ति केचन शिद्धान्त,
प्रमाणयन्ति च तत्र —

ब्राह्मणोऽस्य मुखमासीद् बाहू राजन्य कृत ।

ऊरु तदस्य यद्वैश्य पद्भ्यां शूद्रो अजायत ॥

इत्याद्या भूती । अत्र हि चतुर्थपादसाहचर्येणादिपुरुषस्य भगवतो मुखाद्
ब्राह्मण आसीदित्यादिरेकार्यं, ब्राह्मणो मुखमासीदित्यानुक्तिस्तु कार्यकारणयोर
भेदोपचारमूलिकैव । भवन्ति ह्यस्यैवायंस्यानुगामिन्य स्मृतयः, तथा हि—

लोकानान्तु विबुधैर्यथै मुखबाहूपादत ।

ब्राह्मण क्षत्रिय वैश्य शूद्र च निरवर्तयत् ।

सर्वस्यास्य तु सर्वस्य गुणैर्यं स महाधृति ।

मुखबाहूपाङ्गानां पृथक् कर्माण्यकल्पयत् । (मनु) ।

विप्रक्षत्रियविदशूद्रा मुखबाहूपादश्च

वैराजापुरुषाज्जाता य आत्माचारलक्षणा ।

(भीमागवतम् स्क० ११ अ० १७)

वक्त्राद्यस्य ब्राह्मणा सप्रभृता

स्तद्वक्षस्त क्षत्रिया पूर्वभागै ।

वैश्याश्चोर्वोर्यस्य पद्भ्या च शूद्रा

सर्वे वर्णा गानत सम्प्रसृता । (चा०पु० अ० ७१)

ततः कृष्णो महाभाग पुनरेव युधिष्ठिर ।

ब्राह्मणानां शत भेष्टं मुखादेवावृजत् प्रभु ।

बाहुभ्या क्षत्रियशतं वैश्यानामूह्यत शतम् ।

पद्भ्या शूद्रशतं चैव केशवो भरतर्षभ ।

स एव चतुरो वर्णान् सत्प्राच महातपा ।

अध्यक्ष सर्वभूतानां धातारम्भरोत् स्वयम् ।

(महाभा० शा० प० २०७ अ०)

इत्यादि सर्वत्रैव पुराणेषु द्रश्यम् । तथा च स्पष्टं विद्वमेतत्—सूष्ट्यादौ
भगवत आदिपुरुषस्य मुखाद्येवामुत्पत्तिस्ते तद्वशोद्भवत्वाच्च भवन्ति ब्राह्मणपदवाच्या-
'सर्वेण्य सर्वगोष्ठ आचरन्ते हि सजातय' स्मरणात् एवं भगवतो बाहुभ्यां
वैश्यामुत्पत्तिस्ते तद्वशोद्भवत्वाच्च क्षत्रिया, ऊरुभ्यामुत्पत्तिनास्तद्वशोद्भवत्वाच्च वैश्या,

पादजातास्तद्वंशोद्भवाश्च शुद्धा इति । तत्तच्चोत्पत्तिरुक्तैवेयं वर्णव्यवस्था-विधातु-
नियोगात्तु ते मुक्तादिजाताः स्वस्ववर्णोचितानि कर्माणि प्रतिपद्यन्ते-ये तु स्वो-
चितानि कर्माभ्यङ्ग्याणां अन्यधर्मान् प्रपद्यन्ते ॥ इमेऽवश्यमीश्वराहाविमुक्ता
दण्डमाप्नो भवन्ति । श्रुतिस्मृतिभ्यां तयार्थस्यावगमादिति शब्दैकप्रमाणानां
यथाभूतप्रतिपत्तयामृजूनो पन्थाः ।

अत्रापरे तर्कशब्दप्रमाणान्तराणि चास्याय प्रत्यवतिष्ठन्ते, नेय वर्णव्यवस्था
योनिभूता भवितुमर्हति, अपि तु गुणकर्मभूतैव, समाजोपनिषदा च । यदि हि
जन्मभूता स्यात्-अवश्यं भारतनिर्विशेषं सर्वेष्वेव (युरोपादि) देशेषु समुप-
लभ्येत । न खलु भगवतादिपुरुषेण भारतीयै एव समुत्पादिताः, न स्वयंदेशीयाः-
इत्ययमर्थः शक्यते केन चिदभिषाट्टम्-अभिहितो वा रमसात् समीक्षादक्षैः
प्रतिपत्तुम् । यदि तु तेऽपि भगवतोत्पादितास्तर्हि स्युर-स्य मुखशाङ्खाद्यन्यतमजाता
इति प्रवेष्टव्या अन्यतमे वर्णे, न तु तत्तद्योपलभ्यन्ते-धर्मशास्त्राण्यपि ह्यस्माकमार्यदेश
एव वर्णधर्मान् बोधयन्ति न तु सर्वत्र । यत्तु केचिदामहपरतन्त्राः प्रतिपादयेयुः-
अस्येव देशान्तरेष्वपीयं वर्णव्यवस्था, तत्रापि वैज्ञानिकानां सैनिकानां व्यापारिणां
सेवकानां च विभागस्य सुप्रथिततरत्वात्-तदेतद्विपरीतम् । यथा हि गुणकर्मानुरो-
धिनी समाजभूता च सर्वोन्नतिसाधनीमृता प्रचरति तत्र वर्णव्यवस्था-तथैवेयमा-
सीत्पुरास्मात्स्वपीत्येवास्माकमभिप्रायः, न त्विय प्राकृतिकी (ईश्वरभूता) भवितु-
मर्हति, तथात्वे तथोपलब्धेरेव सर्वत्रावश्यकत्वादिति ।

तस्माद्विशानोन्नतिमधिहृदयरमण्यपूर्वपुरुषेष्वत्तरोत्तरमुन्नतिसाधनार्थं विभज्य कार्यं
करणाय समाकल्प्यव्यवस्थारूपेणैवेयं प्रचारिता वर्ण-व्यवस्थेति मुख्यप्रमधिगम्येत
विचारदक्षैः । अभिहितं चेतदेवमेव श्रुतिस्मृतिभिरपि, तथा हि "देवविद्यः
कल्पयितव्या इत्याहुस्ताः कल्प्यमाना अनु मनुष्यविद्यः कल्प्यन्ते" । (ऐ. मा.
१-२-३) इत्याद्याः श्रुतयो मङ्गला कल्पनाप्रसूता वर्णव्यवस्थितिमाचक्षते ।
स्मृतिषु तु-

न विशेषोऽस्ति वर्णानां सर्वे ब्राह्ममिदं जगत् ।

ब्रह्मणा पूर्वसृष्टं हि कर्मभिर्वर्णना गतम् ॥ (महाभारते)

इत्याद्यास्तु स्पष्ट कर्ममूलको जातिविभाग इति प्रतिपादितम् । एवं
धर्मराजेतापि युधिष्ठिरेण नहुषवंत्रादादिषु सर्वत्र गुणकर्ममूलक एव जाति-
विभागोऽभ्युपगतः- (महामा० ब० प० अ० २८०)

युधिष्ठिरः

सत्यं दानं क्षमा शीलमानृशंस्यं तपो पूजा ।

इत्यन्ते यत्र नागेन्द्र स ब्राह्मण इति स्मृतिः ।

सर्प (नहुष)

चानुवर्णैः प्रमाणं च सरप च ब्रह्म चैव हि ।
शूद्रेष्वपि च सत्यं च दानप्रमोघ एव च ।
आनृचास्यमहिषा च षृणा चैन युधिष्ठिर ॥

युधिष्ठिर

शूद्रे तु यज्ञवेत्स्त्वम् द्विज तच्च न विद्यते ।
न वै शूदो मयन्लूद्रो ब्राह्मणो न च ब्राह्मण ।
यत्रैतल्लभ्यते सर्प । वृत्तं च ब्राह्मण स्मृतं ।
मनैतत्त मवेत्सर्प । त शूद्रमिति निर्दिशेत् ।

सर्प

यदि ते वृत्तनो राजन् । ब्राह्मण प्रसमीप्सितं ।
वृथा जातिस्तदायुष्मन् । कृतिर्यात्त विद्यते ।

युधिष्ठिर

वानिरस्य महासर्प । मनुष्यत्वे महामते ॥
सङ्करासर्ववर्णानां दुष्परीक्ष्येति मे मति । इत्यादि ।

एवमेव यच्चतुर्भिश्चिरसवादेऽपि—(म० भा० व० प० ३१३ अ०) ।

यक्ष

राजन् । कुलेन वृत्तेन स्वाध्यायेन भुतेन वा ।
ब्राह्मण्यं क्व न भवति प्रब्रूह्येतस्मिन्निमित्तम् ।

युधिष्ठिर

भूय यक्ष । कुलं ताव । न स्वाध्यायो न च भुतम् ।
कारणं हि द्विजत्वे च वृत्तमेव न संशय ।
वृत्तं यत्नेन संरक्ष्य ब्रह्मणेन विरोधत ॥ इत्यादि ।

अथालोक्यतामर्यं श्रीशिकुषर्मव्याघसनादोऽपि (म० भा० व० प० अ० २१२)

शूद्रयोनीं प्रजातस्य सुदुर्गुणानुपतिष्ठत ।
वैदयत्नं लभते राजन् । क्षत्रियत्वं तथैव च ।
आज्ये वर्तमानस्य ब्राह्मण्यमभिजायते—इत्यादि

स चायं कर्ममूलको वर्णवेत्तागोऽपि नासीत्पुनः कृतयुगे प्रचरित—अपि तु
बहो । कालादनन्तरं परिकल्पित इत्यपि स्फुटतरमभिहितं वायवीये महापुराणे
(अ० ८) ।

अप्रवृत्तिं कृतयुगे कर्मणो क्षुमपापयो ।
वर्णाभ्यव्यवस्थाश्च न तदासन् न सकर ।
अनिर्गच्छेद्युक्तास्ते वर्तयन्ति परस्परम् ।
तुल्यरूपायुष सर्वा अव्यमोत्तमवर्जिता ।

तदनन्तरं तत्रैव त्रेतायुगप्रस्तावे—

ससिद्धायां तु वार्त्तिषां ततस्तासां स्वयमुव ।
मयादा स्थापयामास यथारब्धा परस्परम् ।
ये वै परिग्रहीतारस्तासामासन् दिघात्मका ।
इतरथा कृतप्राणा स्थापयामास छत्रियान् ।
उपतिष्ठन्ति ये तान् वै धावन्तो निर्मयास्तथा ।
सत्यं ब्रह्म यथाभूतं ब्रुवन्तो ब्राह्मणाश्च ते ।
ये चान्देध्यबलस्तेषां वैश्यसकर्मसंस्थिता ।
क्षीनाद्या नाशयन्ति स्म पृथिव्यां प्रागतन्द्रिता ।
वैश्यानेव तु तानाहुः क्षीनाद्यान् वृत्तिसाधकान् ।
शोचन्तश्च ब्रह्मन्तश्च परिचर्यासु ये रता ।
निस्तेजसोऽल्पवीर्याश्च क्षूद्रास्तानब्रवीत्तु स । इत्यादि ।

एव भीमागवतेऽपि (११ स्क० १७ अ०) ।

आदौ कृतयुगे वर्णा नृणां हस, इति स्मृत ।
कृतकृत्या प्रजा जात्या तस्मात्कृतयुगं विदुः ।
त्रेतामूले महामागः प्राणामे हृदयात् नयी ।
विद्या प्रादुरभूत्तस्या अहमास त्रिवृन्मय ।
विप्रक्षत्रियविट्शूद्रा गुलवाहूरुपादजा । इत्यादि ।

ततश्च त्रेतायुगे सप्रवृत्तेश्च वर्णानां व्यवस्थितिं कथमभ्युपगम्यता योनिविद्धा ।
युगे युगे पुनः पुनरीश्वरस्य क्षत्रव्यवस्थानाया अद्यावत्कार्यत्वात् । तस्मादवश्यं
युगकर्मभूतैव सत्यमिति स्फुटं सिद्धयति ।

किं च संस्काराभ्यभिदं वर्णानां वर्णव्यवस्थित्येकनुस्तेनोपरीकुर्वते सर्वेऽपि धर्म-
सूतकाराः ।

‘जन्मना जायते शूद्रः संस्काराद् द्विज उच्यते’

‘स्वाध्यायेन जपेर्होमैश्चैविद्यनेष्यया मुते ।

महायज्ञैश्च यज्ञैश्च ब्राह्मण्यं क्रियते तनुः’

इत्याद्युक्ते । अत एव तु षोडशवर्षाभ्यन्तरेऽनुपनीतस्य ब्राह्मणकुमारस्यापि
नेत्रे ब्राह्मणत्वमभिमन्यन्ते—प्रतिपद्यन्ति च ब्राह्मणानां तेन सह सन्धमपि ।

नैनत्सर्वं योनिवृत्ते वर्णविभागे भुषणम्—अपि तु तत्तद्वर्णनितकर्मकरणानुसृत्य संस्कृतस्यात एव तत्तद्वर्णनितकर्मयोग्यतामात्रस्तत्तद्वर्णनितकर्मस्युपगमः उद्भि रमुनि कारेभूतं स्पष्टमस्युपगता कर्मवृत्तेव वर्णव्यवस्थेति निष्पत्त्यातमात्रोच्यन्तु मुनिय । अत एव च—

‘ब्राह्मणो भविरा पीरवा ब्राह्मणादेव हीयते’

इत्यादिवचनेर्विपरीताहारविहारसम्बन्धेनापगताया कर्मयोग्यताया तत्तद्वर्णोद् भ्रष्टप्रतिपादनमपि स्मृतिकाराणां सगच्छते । न चैभिर्नचननात् प्रायश्चित्तोपपत्तेश्च भिषेता—न तु आतिभ्रष्ट इत्याप्रहीतव्यम्, कामकृतपुत्रागनाम्वासाद्यौ प्रायश्चित्तस्यापि प्रतियिद्धतया स्पष्ट आतिभ्रष्टस्यैव गोधिनत्वात् । योनिवृत्ते तु वर्णविभागे योनेराशरीरजातमपगमासमवेन आतिभ्रष्टव्यवस्थेव स्मृतिकाराणां स्फुटं व्याकुल्येन । अथ ये प्रमाणजातमुपस्थापि वर्णविभाग योनिवृत्तमेव स्थापयितुमाप्रहमहि—तस्मिन् प्रमाण्यैव प्रष्टव्या—इदानीं विप्रधर्मानुयायित्व यवनरश्च वा प्रतिपन्नाना ब्राह्मणकुमाराणां ब्राह्मणत्वं प्रतिपेक्षन्ति भवन्तो न वा । आद्ये क्षापगत तस्य ब्राह्मणजन्यमिति पृच्छान् । अन्ते तु कुपु परिपालयन्ति भवन्ति उनातनार्प धर्मविद्धा वर्णं यदस्यामित्येव प्रमदे । अस्माकं तु ब्राह्मणोचितकर्मयोगे प्रतिपद्यमानस्यैव ब्राह्मणत्वेन यवनत्वादिसवीकारे च नादधर्मशा दुरोज्झितत्वेन नास्येव तस्य ब्राह्मणत्वकथावीति समीचीनतयेव लोकरिपिनि सविद्या । तस्माद्यदि सुगूढं निरीक्ष्येन—तत्तर्हि आत्मा पौरुषादिकी कथा, इदानीं लोकस्थित्यापि कर्मकृत एव वर्णविभाग सविद्वद्भेदिति विचारणीय मन प्रमिषाय ।

ननु च मो अस्ति तावदुत्तमस्य वर्णस्यावरणप्रतिपत्तिरार्थधर्मं सुपठिद्धा, अवरस्य तु वर्णस्योत्तमवर्णप्रवेशे शास्त्रविद्वदो लोकविद्वदश्च । कर्मकर्मलपान्तु वर्णव्यवस्थायामस्याप्युचितत्वमापद्येतेति चेत् सत्यमापद्यत एव । परमिदानीन्तना प्रहमहिल्लोकविद्वद एवायमर्थो न तु पुरातनेतिहासविद्वदो न वा शास्त्रविद्वद इति स्फुटं प्रतिपत्नीम । तथा हि—सर्वस्मृतिङ्गनूर्धन्योऽयं मतवान् मनु स्फुटमवरवर्णस्याप्युत्तमत्वमनुजानाति ।

शत्रो ब्राह्मणतामेति ब्राह्मणत्वेति शत्रुताम् ।

अत्रियाज्जातमेवन्तु विद्याद्वैतयात्तयेव च ॥ इति

इतिहासलङ्घनेन च शत्रुमवरवर्णस्याप्युत्तमवर्णतावाप्ति प्रविद्वमति । ऐतरेय कर्मतो हि कवयस्यैलूपस्यातन्तावरवर्णस्यापि द्विजोत्तमत्वावाप्तिर्मन्त्रदृष्टवरूपमृषित्व चाभ्यायते—

“श्रुपयो वै सरस्वत्यां सधमासत । ते कवयस्यैलूप सोमादनधन्, दास्या पुत्र कितवोऽब्राह्मण कथ नो मध्ये दीक्षितेति । तं बहिर्धन्वोदवहन्नेन विपासा

इन्द्र, सरस्वत्या उदकं मा पादिति, स बहिर्धन्वोदूढं पिपासया त्रिषु एतदपोन^१
पत्नीयमपरयत्” ।

इत्यादिना प्रबन्धेन । एवं महर्षेर्मंगवतो विश्वामित्रस्यापि बहूनां सुतानाम
नार्यत्वमाप्नातम्—

“इत्युदन्त्या बहवो मवन्ति वैश्वामित्रा दस्यूनां भूयिष्ठा” ।

(ऐत० ७-१-६)

तथा च ररष्ट भोतेतिहासञ्ज्ञेन तुल्यन्यायादुत्तमवर्णस्यावर्णस्यावस्त्वप्राप्ति
स्वरवर्णस्योत्तमवर्णप्राप्तिश्चेत्युमान्प्रथमं प्रतिपद्येते । पौराणिकमप्यनल्पेनाहम्बरेण
सर्वत्रोपनिष्यमानं प्रसिद्धतममिदं बलिष्ठविश्वामित्रयोः कृपास्थानं क्षत्रियकुलोद्भवस्य
विश्वामित्रस्य ब्राह्मणत्वावाप्तिं प्रतिपादयत्येव । ये स्वत्र तपोऽतिशयवत्तेनाश्रित
यन्नामुरीकुर्वाणा ब्राह्मणत्वं चरन्मात्रेण बीज एव विश्वामित्रस्य ब्राह्मण्यं ब्रुवाणा
वा नैतेनेतिहासेनोच्चार्यमभ्युपगच्छन्ति तेषां कृतेऽन्यान्यपि बीतिहोत्रादीनामूष
मपुत्रादीनां चाख्यानां बहूनां पुराणेषु दृश्यन्त एव । किञ्चेदमालोक्यता
तावत् कुत्सैव वर्णपरिवर्तनम्—(भी मा० ९ स्क २ अ)

नृगवशं प्रस्तुत्य—

उरुभवा सुतस्तस्य देवदत्स्ततोऽभवन् ।

ततोऽग्निवश्यो मगगानग्नि स्वयमभूत्सुत ॥

कानीन इति विख्यातो सातृकप्यो महानृपि ।

ततो ब्रह्मकुलं जातमाग्निवश्यायनं नृप ॥ इति ।

तदमेऽपि—

नाभागो दिष्टपुत्रोऽन्य कर्मणा वैश्यता गतः ।

मन्मन्दनं सुतस्तस्य वरप्रतीतिर्लब्धनात् ॥

इत्यादि ।

हरिश्चो च प्रथमे पर्वणि (११ अ.)

नाभागारिष्टपुत्रो द्वौ वैश्यौ ब्राह्मणता गतौ । इत्यादि ।

बहुशैवमुपपद्यते कृत्स्नस्यापि कुत्सस्य कर्मणा वर्णपारवर्जनमिथ्यालोचनीयं तत्र
तत्र सुधीवरे । ननु च भोक्तृपञ्चादिना महापुरुषप्रसादादिना वा विशिष्टेनैव
हेतुना ब्राह्मण्याद्येभिष्यल्लभ्य इत्यादिति चेदास्तां कथमपि । न खलु हेतुसत्तास्माभि
प्रतिशिष्यते, योनिहेतुमेव न ब्राह्मणत्वादि न सिद्ध्यतीति निष्पञ्चातमुच्यते ।
तच्च क्षत्रादियोनिजानां ब्राह्मणत्वाद्यवाप्ते कथमपि सिद्धौ सिद्धमेव । वस्तुतस्तु
“कर्मणा वैश्यता गतः” इत्यादिस्मरणाद् हेतुनरकल्पनस्य न्याय्या । यथा हि

१ अपोनप्नीय नाम वैदिक सूक्तम् ।

१० च० सु०

कर्मवैगुण्यादुत्तमवर्णस्य स्वस्माद्वर्णात्प्रयुक्तिस्तथा कर्मसाद्गुण्यादुन्नततिरप्यङ्गोक्तं-
न्येवेति न्यायसिद्धोऽयमर्थः ।

किं च योनिवृत्ते वर्णानां परस्पर भेदे गवाश्वादीनामिव ब्रह्मध्वजादीनामपि
विशेष प्रत्यक्षमुपलभ्येत, न तु तत्तथोपलभ्यते । उपपन्नत एव स्वभावादिभेद
इति चेत्तदपि न । तस्यापि न्यमिनस्य भेदस्य शतशो न्यमिचरितत्वात् । दृश्यन्ते
हि बहवः शूद्रा अपि ब्राह्मणोचितशीलानुद्धिनिमवाच्यपेताः, बहवश्च ब्राह्मणा अपि
निदान्त बुद्धिहीना अवृतमायादिपराश्च । तत्तादृशप्रकृत्यनुपपन्नवर्णत्वमेव तेषामेष्ट-
मित्येव तु पक्षोऽस्माकम् । तत्तद्वर्णन्योऽव्यक्तात्मवतामपि हि तत्तेषां दशाक्षाद्व्यवर्ण-
तानियमनादेव नैयाकुलीमनुभवति समाज इदानीम् । तथा हि पूर्वोपदिष्टतन्निधो
ब्राह्मण स्वीकारितोऽपि बलाद् ब्राह्मण्यं न तदुचितकर्मसु काञ्चिदप्युन्नतिं साधयितुं
भीष्टे, योग्यताविरहात् । शूद्रस्तु तथाविध उत्कृष्टकर्मसु कुशलोऽपि न तावत्समाजे
नानुपपद्यते-इति पतितेयमुन्नतावर्गला सर्वतोमुखी । तस्मात्समाजमुन्नमयितुकामैरपि
गुणकर्ममूलक एव जातिविभागोऽभ्युपगन्तव्यः, शास्त्रविद्वद्भ्यः स एवति सिद्धम् ।

ननु च भौ आस्ता तावदुन्नतिकथा, शास्त्रसेद्वत् नु विषयस्यास्य साहसे-
नै-लोद्भाषयति, 'ब्राह्मणोऽस्य मुखमासीद्' इत्यादिपूर्वोपदिष्टताभिर्गोनिवृत्त वर्णभेद
स्फुटमभ्युपगच्छन्तीमि भुतिस्मृतिमि स्फुटं विरोधादिति चेद् भ्रान्तिमानमेतत् ।
तासां भुतिस्मृतीनां योनिभेदोपदर्शने तात्पर्यानुपपत्त्ये ।

अपि तु अस्य विद्वद्रूपस्य भगवन् परमात्मनो, ब्राह्मणो, मुखमिव मुखम्
सर्वदिग्भूतं जगति प्रधानभूतं इति यावद्, आसीत् (अस्ति) (विद्योपजीवित्वे-
नाभ्यर्हिततमत्वात्) । तथा राजन्यं, वाहू इव बलप्रयोक्तृत्वात् । एवमेव वैश्य
ऊरु इव, कृष्यादिनान्नादिद्रव्येण संचित्य सर्वेषां पोषणकरत्वात् । तथैव शूद्र
पादादिव, सर्वानुगमिन्त्वाद्-इत्येवमर्थप्रतिपादन एव भुतितात्पर्यम् । 'पद्भ्यां
शूद्रो अजायत' इत्येवमुक्तिसंज्ञोपचारिक्येव, भव-मते पूर्वतनपादचित्तपक्षोपचरि
तार्थत्ववदित्यवसेपम् । युक्तभाष्यमेतत्, अन्यथा को हि नाम वैदिको विद्वान्
मुखवाहायवयववतो मनुष्यसदृशपरमात्मनः सृष्टिरियमुपधातेति सर्वथा विज्ञान
निबद्धमर्थं अर्धयति ।

‘अपाणिपादो जन्नो ग्रहीता,’

इत्याद्यामि भ्रतिमिहि परमात्मनोऽवच्छेदमेव रूपं प्रतिपाद्यते, न तु सावयवम् ।
किं च परमात्मानमेवानभ्युपयन्तो ग्रीमासकादयः कथं श्रुतेरस्यास्तार्यमुपवर्णयेयुः ।
तस्मात्पूर्वोक्त एवार्थो न्याय्यः ।

दृश्यते चैवविधानां श्रुतीनां बहुधोपचरितार्थत्वम् । तथा हि-

‘गायत्र्या ब्राह्मणं निरवर्तयत्, त्रिष्टुप् राजन्यम्, जगत्या वैश्यम्, न
केनचिच्छन्दसा शूद्रं निरवर्तयत्’

इत्यस्ति ब्राह्मणम् (भृति) । नैनस्मात्किञ्च गाय या नामाष्टाक्षरपाद-३-दसा ब्राह्मणशरीरं समुत्पादितमिष्यमर्थं केनापि प्रेक्षाया भक्ष्यते, अपि त्वग्निदैवतस्य ब्राह्मणस्याग्नि-उन्दो गायत्र्येव मुख्यतया समुत्पाद्येयादर्थं औपचारिकीय भृतिरिति सुप्रतिपन्नं सर्वं । एवमेव—

‘अर्द्धं वै प्रजानतेरात्मनो धैर्यमासीदर्द्धं माल्यम् । यद् धैर्यं सोमो वै स, ततो ब्राह्मणमस्तुजत । यन् माल्यं सुरा वै सा, ततो राजन्यमस्तुजत,’

इत्यस्या भूतेरपि धैर्यप्रधाना सोमपायिनश्च ब्राह्मणा, क्रोधप्रधाना सुरा पायिनश्च राजन्या इत्येवमर्थं एव तात्पर्यम्, न तु वस्तुतो धैर्यनामकेन केनचिद्भूतना प्रजापतिशरीराधभागेन ब्राह्मणशरीरनिर्मितिवोधने । तथा च तथैव पूर्वोक्ताया (ब्राह्मणोऽस्य मुखमासीद्) भूतेरप्युक्त एवार्थे तात्पर्यमिति निर्विवादं निष्पन्नवातिनाम् ।

इत्थं च तदनुगामिनीनामुपदर्शितमन्वादिमृतीनामप्यत्रैव तात्पर्यमवसेयम् । यदि तु स्मृतिषु सर्वत्रोत्पन्नजातसम्प्रसूतादिपदप्रयोगेण सस्य मनुष्यरूपस्य परमात्मनो मूलादिजाता एव ब्राह्मणादय इत्याद्येन—उद्दि—

एवाभसो जघनतो ब्रह्मचर्यं हृदो मम ।

यन् स्थानाद्रग्ने वासो न्यास शीर्षाणि सस्थित ।

वर्णानामाभमाणा च जन्ममूढ्यनुसारिणी ।

आसन् प्रकृतयो नृणा नीचैर्नोच्चोत्तमोत्तमै ॥

(ओमा० स्क० ११ अ० १०)

इत्यादिप्रामाण्यादाभमाणामपि परमात्मनस्तत्तदङ्गजातत्वं सिद्ध्येत् । न चाभमाणा योनिवृत्त्यननुमन्यते केनापि स्मृतिविदा, नापि शक्यते ऽनुमन्तुम्—स्मृतिष्वेकस्यैव पुरुषस्य कालभेदेन चानुराभस्योपदेशात् । ततश्चावश्यमस्या उपचरितार्थत्वेनैव स्वीकार्यमिति तुल्यन्यायाद्वर्णविषयेऽप्येवविधस्मृतीनामुपचरितार्थतैव युक्ततामवगाहते ।

‘कर्मभिर्वर्णना गतम्’

इत्यादिस्मृत्यन्तरतिहासाद्यनुरोधाच्च तथैव प्रतिपत्ति साधोयसीत्यलमतिविस्तरेण । इत्थं च शमादिगुणानूक्तो निवायज्ञादिकर्ममूलक एव चायं जातिविभाग समाननोरनिर्गदो न तु प्राकृतिक इत्ययमर्थं सुष्ठु सहायित, इदानीमपि च तस्य तथैव प्रचार उन्नतिषाधक, न चात्र कोऽपि शाल्लविरोधगन्ध इत्यपि सम्यक् प्रतिपादितमेवेति समीक्ष्यता समीक्षादधे । सोऽयमप्यत्र बहुमिरेवेदानीन्तरैर्विशिष्टप्रचैरप्यनशीलित इति ।

अत्रैवममिदम्पदे—न तावदस्य वर्गविभागस्यैकान्ततो गुणकर्ममूलकत्वमभ्युपगन्तुं शक्यम्—इन्द्रादिषु देवेषु, गवाद्यप्रपृथिषु पशुषु, वृक्षगुल्मवृक्षादिषु जडेषु,

गायत्र्यादिषु छन्दसु चेत्यादिसर्वरुदाथेष्वेवाप्रतिहत वर्णविभागस्य भुतिस्मृत्या दिव्यमनुगतात् । तथाहि दिङ्मात्रमुपदर्शयते—

‘ब्रह्म (ब्राह्म) वै बृहस्पति’ (ऐतरेय०) ‘यान्येतानि देवत्रा (देवेषु) रुद्राणि इन्द्रो वरुण सोमो रुद्र पर्जन्यो यमो मृत्युरीशान’ ‘स विश्वमनुवत—यान्येतानि देवजातानि गगन आख्यायन्ते—वसवो रुद्रा आदित्या विश्वदेव मरुत इति (इत्यादि शतपथ०)

पद्यार्थ—ब्रह्म वा अन्न, रुद्र वा अश्व, देव्य च रुद्र चानु राक्षस’ (श ५)

बृधादिषु—‘ब्रह्म वै पलाश, (श ५)

‘रुद्र वा एतदोषधीना यद् दूर्वा’ (ऐत)

छन्दसु—‘गायत्ररुद्रा ब्राह्मण’ (ऐत)

इत्यादि तत्र तथान्वेष्यम् । सन्ति चैनदनुगामीनि बहूनि पुराणादिवाक्यानि । तथैव ज्योतिषे महानक्षत्रादीनां विवक्षिते सोमाद्योषधीनां चारिण वर्णविभागं सुविख्यात इति स्पष्टं तत्तद्विदाम् । तथा च सर्वरुदाथेषु समन्वितेय वर्णविभागस्य व्यवस्था कथं वा प्राकृतिकी न स्यात् । गुणकर्ममूलके हि वर्णविभागेऽङ्गुपेते क तादृजस्य पलाशस्य वा शमादिगुणानामप्ययनादिकर्मणा वा सम्बन्ध इति सर्वमद भुतिस्मृत्युक्तं व्याकुप्येत । तस्मात्सन्ति केचन स्वाभाविका यमां ब्राह्मणत्वादिसंयोगा, येषां सत्तया देवमनुष्याणां पशुत्यादीनामपि च स्वाभाविक एव वर्णविभागोऽयमुपपद्यते—इत्युक्तानेनाप्यवश्यमनुपपत्तयम् ।

किं च कर्मभेदादेव जाति (वर्ण) भेदस्य उपपत्त्युक्तं प्रेक्षादत्त इदं प्रष्टव्या—जातिभेदात्पूर्वमेव तत्प्रयोजकं कर्मभेद एव कुत कारणान् प्रवृत्तः । समानेन प्रवर्तितं कर्मविभाग—इति चेत्, इन्वेदं पृच्छाम—कुत समानेन निष्कारणमेव कश्चन पुरुषा अध्ययनादिपूतृकर्मसु नियोजिता, केचन तु सर्वरक्षणभार समर्थं भूपतित्वमारोपिता—अपरे तु सेवादावरकर्मणि प्रवर्तिता । न ह्यन कर्मविभागं पूर्वं निर्वाच्य एव प्रवृत्ते भवेदिति शक्यते केनापि समीक्षन्त्येन सम्भावयितुम् । तेषां तेषां पुरुषागमभेदजनैव तत्तत्कर्मसु प्रवृत्तिरिति चेन्न तु कस्य नामोद्दिष्टकर्मण्यपहाय स्वादावरकर्मस्वभेदविनिर्भवेत् । चे ॥ समाप्तं नेतृत्वभाजं ब्राह्मणानामव शिरशि कल्हभारमिममुपन्यस्य सुखा नन्दिते—रेव यथच्छ्रमत्याचारेणोत्सृष्टकर्मणि स्वायत्तीकृत्य परे पुरुषा अवरकर्मसु निजि मुक्ता इति, त इमे निमील्य नेत्रे यत्किमपि प्रत्यन्न उपेक्ष्या एव विचारदक्षे । वर्णविभागात्पूर्वं ब्राह्मणानां समाजनेतृत्वाया एव तावदतभाव्यत्वात्, ब्राह्मणा दिवर्णविभागे हि कर्ममूलक इति य आदिह्यन्ते त एव प्रथमं कर्मविभागे

ब्राह्मणानां हेतुस्तु कथं ब्रूयुः । कर्मविभागस्य ब्राह्मणत्वस्य तन्मतेऽप्रसिद्धत्वात् । तस्माद्योग्यतान्निषेध परीक्ष्यैव ते ते मनुष्या स्वस्वोचितकर्मसु समाजेन प्रवर्तिताः, स्वयं वा सादृश्ययोग्यतया तत्र प्रवृत्ता इत्येवात्र युक्तमुत्तरं स्यात् । तथा च योग्यतायां स्वभावानतिरेकात् स्वभाविक (प्राकृतिक) एव वर्णविभागोऽत्रापि सिद्धः । कर्मविभागस्तु वर्णविभागमूलको न तु कर्मविभाग इति स्फुटं सिद्धम् । एतदर्थप्रतिपादकमेतद् पूर्वोक्तं भगवद्वाक्यं न विस्मरणीयम्—

ब्राह्मणश्चित्रियविशा शूद्राणां च परन्तप ।

कर्माणि प्रविमृश्यान् स्वभावप्रभवैर्गुणैः ॥ (गीता)

ननु च भो आस्तामेतदेवम्—किमेतावता सिद्धमिति चेत्सर्वमपि न समेति हिद्वयम् । स्वभावनूत्के हि वर्णविभागेऽभ्युपेते स्वभावस्थानादितयानपायितया च वर्णविभागोऽप्यमनादिरविनश्यत् तावत्सिद्धः । किं चेद्वरस्य जगत्कर्तृवदादिनां वैदिक्यमनुयायिनामस्माकं तत्तज्जन्तुस्वभावोऽपि नूनमीश्वरकृत इति तन्मूलकस्य वर्णविभागस्येदं तत्त्वमपि सुतरां सिद्धमापन्नम् । तत एव च—

‘चातुर्वर्ण्यं मया सृजम्’

‘तेषां कर्माणि यमांश्च ब्रह्मा तु व्यदधात् प्रभुः’ ।

इत्यादीनि जगदीश्वरस्यैव वर्णविभाकरूपप्रतिपादकानि सर्वाणि भूतिस्मृति वाक्यानि साधु संगतानि । मूलकर्मण्येव कर्तृत्वव्यवहारस्यौचित्यात् । एष एव नूनं कर्मसु धातुकृतो नियोगः—यत्तत्तत्कर्मानुक्रमप्रवृत्तिसंपादनम् । तस्माद्विधानैव सर्वे वर्णा स्वव्यवहारेण नियोनिता इत्येवाभिप्रयन्ति शास्त्राणि । अस्य च प्रकृत्यपरपर्यायस्य स्वभावस्य ऋज्वेनादिसर्ववस्तुसाधारण्येन सर्ववस्तुषु वर्णभेदप्रतिपादनमपि मूर्धाणां न कथमपि विरोधमियतीति द्रष्टव्यम् । ननु तथापि कोऽयमप्यन्तश्चमनुष्यादिवाधारण इत्येव कृत स्वभावविशेषो येन सर्वत्रैव तत्र वर्णविभागः प्रवर्तते इति चेद् बहुभिरुक्तान्साध्यमेतद् । नैतदञ्जना शक्यमाराधुपदं शयितुम् । अथदगाहनव्यान्तरेवैतदवबोधम् । अथापि तु दिङ्मात्रमुपदर्शयते—ब्रह्मेति शब्देन तादृच्छ्रुतास्मि परिभाष्यते, क्षरमिति चेद्वायुः, विडिति च विश्वेदेना, शूद्रशब्देन तु पूषा । एत एव च परस्परविलक्षणशक्तिमन्तो देवाः सर्वशस्य जगत् उपादानानि सन्तीति स्पष्टं भूतिविदाम् । तथा च यत्र यत्र पदार्थोऽस्य ब्रह्मणोऽग्ने प्राधान्येन सवन्धः सोऽयम् ब्राह्मण, अत एव चायं ब्राह्मण आत्मनः । अग्निच्छन्दसां गायत्री च अस्य सवन्धः प्राधान्येन । अग्नेरष्टौ वसवः, गायत्र्या अपि प्रतिपादमष्टावक्षराणि—अत एव ब्राह्मणानामप्यष्टमे वर्ण उपनयनं नियतम् । एवमेवाग्रेऽप्यालोचनीयम् ।

अथेन्द्रादिदेवानां यत्र यत्र प्राधान्यं त इमे क्षत्रिया । विश्वेषां देवानां च यत्र मुख्यत्वं ते वैश्या । पूष्णं सम्प्रचेन्न च शूद्रा इति । उच्छोऽयमर्थः शतशे चतुर्दशे काण्डे (बृहदारण्यके) तथा हि—

‘यान्देवानि देवना क्षत्राणि’

इत्यादिपूर्वोक्तं देवेषु चर्चिभागं प्रतिज्ञाय तेषां देवानां सम्प्रदादेव मनुष्ये क्षत्रि तद्विभागं स्पष्टमुक्तं—

“तदेतद् मम अत्र विदुः शूद्रमन्तव्यमिनेव देवेषु ब्रह्मामवद् ब्राह्मणो मनुष्येषु क्षत्रियेण क्षत्रियो वैश्येन वैश्यः शूद्रेण शूद्रः”

इत्यादिना । प्रकरणान्तोऽपि (शतपथ एव) भक्त्या ब्राह्मणादीनामभिर्देवताभिः सम्बन्ध उपदर्शितः, शूद्रस्य तु तत्रादेवोक्तम्—

“प्रजापतिरकामयत,—प्रजायेयेति । स मुपनस्त्रिभूतं निरमिमोत, तमग्निर्देवता अम्बसृज्यत—नामग्री छन्दो, रथन्तरं काम—ब्राह्मणो मनुष्याणाम् भज पराणाम्, तस्मात्ते मुख्या—मुखतो ह्यसृज्यन्त । उरुषो बाहुभ्यां पञ्चदश निरमिमोत—तमिन्द्रो देवताम्बसृज्यत, त्रिष्टुप् छन्दः, बृहत्साम, राजन्गो मनुष्याणाम्, अवि पराणाम्—तस्मात्ते वीर्यान्तो वीर्यादप्यसृज्यन्त । मध्यतः सप्तदश निरमिमोत, तं विदरदेशं देवता अम्बसृज्यन्त, जगती छन्दो, वैश्यं साम, वैश्यो मनुष्याणां गात्रं पराणाम्, तस्मात्ते आधा (भोग्या) अत्रघानादप्यसृज्यन्त, तस्माद् मूयांशोऽयमग्नौ भूयिष्ठा हि देवता अम्बसृज्यन्त । पक्ष एकविंश निरमिमोत, तमनुष्टुप छन्दोऽयं सृज्यत, वैराजं साम, शूद्रो मनुष्याणामभ्रं पराणाम् । तस्माच्चौ भूतवृक्षानिगावश्च शूद्रश्च । तस्माच्छूद्रो यथेऽनवकलुषो न हि देवता अम्बसृज्यत, तस्मात्तदा उपजीवते, पक्षो ह्यसृज्येताम्”

इह हि शूद्रस्य देवतासम्बन्धभावादेव यथेऽप्यसम्बन्ध उक्तः । वैश्यानां च बहुलदेवतासम्बन्धाद् बाहुभ्यामुक्तम् । तत्तदङ्गैश्च उदात्तैश्चक्षुषा चानादि—

‘ब्राह्मणेऽस्य मुखनासीद्’

इत्यादिमन्त्रनूत्कमेव । इह च तत्सारमर्थम्—यथा मनुष्यशरीरे चक्षुः इमा विशिष्टाश्च प्राधान्येन चक्षुर्यङ्गान्याभ्यवन्ति—शिरो ज्ञानशक्तिः, वक्षः पद्माश्रमशक्तिः, उदरः समग्रशक्तिः, पादौ च परिवर्त्यशक्तिः । विज्ञानानुनोदितोऽयमर्थः अत एव च शिरसि दुर्गं ज्ञानशक्तिरपि दुर्गं भवति, वक्षसि चक्षुरपि च चेतसि शिर एव आन्तःस्वतोऽपि परीक्ष्यते पराङ्का मातुका, शनेन्द्रयाश्चपि च प्रायेण शिरोभागेवाभितानि । एव च यन्त्रयोगोऽत्र बाहुनाथो वक्षसि च आन्तिमुत्पादयतीति सुविदितमेव । मध्यभागस्थितमुदरं चैन्द्रयाश्चमादिकं सद्यः

मयायोग्य सर्वशरीरे विमज्जते । पादावपि च सर्वशरीरस्य परिचर्यामिष्टदेशप्रापणादि
रूपा विधत्त इत्यतिरोहित लौकिकानामपि । तथैव खलु भगवतो विश्व (विराट्)
रूपेश्वरस्य शरीरमूलेऽस्मिन्नखिले जगत्पति यत्र विश्वानशक्तिं प्राधान्येन विद्योतते
त इमे ब्राह्मणा भगवत शिरो (मुख) रूपा । पराक्रमशक्तिमन्त क्षत्रिया वक्ष्य
छन्दसा । कृष्णादिनागादिवं सुचक्षुः सर्वजगत्गोषका वैश्यास्तु मध्य (कूर्म)
स्थानीया , एवमेव परिचर्याप्रवृत्त्या शूद्रा पादा इवति भावयन्तु भावुका
विपश्चेत । अथापि तत्तदवयवस्य एषमुत्पत्तिश्रुते कोऽभिप्राय इति चेदुच्यते ।
जगत्स्रष्टारमीश्वरमभिमानमानानां औघमैकशरणानामस्माकं जीवोऽयमीश्वरस्याद्य
एव, अस्य च सर्वा शक्त्योऽरीश्वरशक्तिरन्या एव । एव च मनुष्याणां तत्तदङ्गे
पुण्यमाना इमा (श्रुतिका) अतस्त शक्त्योऽपि नून सर्वसमष्टि (विश्व)
रूपस्य भगवत परिकथिततत्तदङ्गजन्या एवाभ्युपगन्तव्या — गत्यन्तराभावात् ।
तथा च तत्तच्छक्तिवैशिष्ट्येन सम्पन्नमिदं ब्राह्मणत्वाद्यापि शक्यविनाभावात्तत्तदङ्ग
जन्यमेवेति पुक्तिपुक्कमनुशास्त भगवान् वेदपुण्य । सान्तोऽयमर्थ भीमागवते
ऽपि—

(३ २६० ६ अ०)

मुखोऽर्जत ब्रह्म पुत्रस्य कुरुद्वह ।
यस्तन्मुखत्वाद् वर्णां नुप्योऽमूढ ब्राह्मणो गुरु ॥
बाहुभ्योऽर्जत क्षत्र क्षत्रियस्तदनुवत ।
यो जातश्चापते वर्णान् पौरुष कर्णस्थितत् ॥
विशोऽर्जन्त तस्योर्बोर्लोकवृत्तिकरीर्विभो ।
वैश्वस्तदुन्नवो जातः नृणां य सपत्न्यस्त ।
पद्भ्यां भगवतो जज्ञे गुभ्रूषा धर्मभिक्षवे ।
तस्या जात पुत्र शूद्रो पद्वत्स्या तुष्यते इति ॥ ३३३ ॥

इह हि पूर्वोक्तरीत्या शक्यपरपर्यायाणां तत्तदवृत्तीनां तत्तदङ्गेभ्य उत्पत्तिमुप
पाद्य तदनुवर्तनाद्वर्णां वर्णत्वमुक्तम् । तेन च पूर्वोक्तमेव तात्पर्यं दृढीकृतमिति
सुस्पष्टं भावनीयमेतद्विषयिभिरै । तावदेवाश्रयस्त शक्त्यो मनुष्येषु तासामन्यादि
देवतानां सम्बन्धविशेषादेवाविर्मन्तीति वैदेवानां दर्शनम् । ब्राह्मणादिशब्दाश्च
मैत्रासु शक्तिश्च नियता — अथ स्वर्गादिस्मर्यधनियता एव । अन्यादिदेवानां
च सर्वेष्वेव पदार्थेषु सम्बन्धनुरागन्तव्यमनतो महर्षयः सर्वत्रैव वर्णावभागे
प्रतिजानन्ते—इति नाध्यतां भावुकै ।

ननु च भो मुक्तमेवैतत्प्रतिपादितम्—आस्ता एवमाग्नेदाद् ब्राह्मणादिजाति
मेद । स्वभावस्य च तत्तदैवतसम्बन्धादेवास्तु मेद , स च दैवतसम्बन्धवैलक्षण्य
विशेष ईश्वरकृत एव निष्ठतु, तेन च वर्णमेदस्यापीश्वरकृतत्वं सादमुपपाद्यताम् ।

अथापि तत्तत्स्वभावपरीक्षणैः तांस्तान् तत्तत्कर्मसु विनियोज्य तेषामाहारविहारादि
भेदव्यवस्थापनरूपोऽयं लोकप्रचलितः स्थूलस्तु वर्णविभागो नूनं समाजकृत एवा
भ्युपगन्तव्यः । तत एवास्य भारतवर्षमात्रप्रचरितस्वमभ्युपगम्यते, समृद्धविशाले
स्तत्तत्स्वभावपरीक्षणदर्शने भारतीयैः स्वकीये देशे स्वस्वोचितानि कर्माणि विभज्य
तत्तदनुकूला आहारविहारादयोऽपि परीक्ष्य नियमिता इति बहो कालापुरैश्चात्र
सुदृढतामापन्नो वर्णविभागः । दशान्तरेषु तु पुरा तथाविधविधानविरहान्नैव
परीक्षाधर्मावमासीदिति सत्यपि स्वामानिक विभागे स्थूलोऽरमोदशो विभागो
न तत्र प्रचलितः । अत एव च त्रैतारम्भे वर्णविभागप्रतिपादकानां वायु
पुराणादिवचनानां

‘कर्मभिवर्णता गतम्’

इत्यादिभारतवचनानां चाभ्युपगम्यते गतिः । एवविधस्य स्थूलस्यास्य
विभागस्य त्रैतारम्भे ऽयमभ्युपगमे ह्यवभावात् । अस्य च कर्मविभागोत्तरमेव
निष्पत्त्यात् । मूलविभागस्य स्वभावभेदस्यैवेक्षरकृतत्वेनानदिताभ्युपगमात् । तथा
चान्ततो वर्णव्यवस्थिते समाजकृतत्वे सिद्धे अधुनापि समाजं ब्राह्मणाद्युचितस्वभाव
एव ब्राह्मणादिरनुमन्यताम्—न तु ब्राह्मणाद् ब्राह्मणा प्रभूतमात्र एवाधरस्वभावो
ऽपि ब्राह्मणः, क्षात्रजस्तु क्षात्रप्रवृत्तिरपि क्षात्र एवेति प्रतिपाद्य साधीपधीत्येतास्माकं
मभिप्राय इति चेद्विभ्युक्तान् प्रत्येवमाचक्षते ।

आध्यात्मनमतिपुरातने काल इक्ष्वरकृत वर्णविभागमनुष्ठाय समाजस्यैव
तत्तद्गणकतन्त्र्यताहारविहारादिप्रवर्तकत्वाभ्युपगमः, समञ्जस्ता च तत्र एव—

‘कर्मभिवर्णता गतम्’

इत्यादीनि वचनानि । अथापि तु तदानीमेव किञ्चित्कमयातन्तरमव वा

‘कारणगुणा कार्यगुणानारम्भते’

इति प्राकृतिक नियममनुबन्धानमर्हामहिमशालिम् समाजनेतृभिर्मर्हसिभिस्तत्त
द्वशाजानां तत्तद्गणैश्च सुदृढं नियमितम् । नहि ‘विता क्षत्रियः, पुत्रस्तु क्षात्रः, पुत्रस्तु
ब्राह्मणः’ इति यथामिदृशि प्रवर्तमाना समाजव्यवहारी विशुद्धसेव्य बहुकाल
तैरुपक्षिता, अपि तु वर्णव्यवस्थितिप्रवृत्तिवमनन्तरमव

‘सर्वेभ्य उर्णांशु आयन्ते हि सजातयः’

इति नियमोऽप्यव्यभिचारितः प्रवर्तितः । पश्यन्ति हि ते महाब्रह्मावा—
मधुरादाम्रवीजादुरादितस्तत्कर्मधुराण्येव फलानि सप्रयोजति, अम्लात्तु योजादुरा
दितोऽम्लान्येव, रक्तात्तु रक्तमैव वल्गमभ्युपवायते—पीतात्तु पीतम्; तथैव खलु
शमप्रधानाद्यश्वयनादिकर्मप्रवणाद् ब्राह्मणादुराजं मुनोऽपि तथाविधमेव योग्यतो
विन्देत्, ■ तु तथेतराम् । यद्यपि तु लक्ष्यतेऽस्य नियमस्याऽस्य व्यभिचारः, अप्यापि

तु सोऽय हेतुनिरोपजन्य क्वचिदेव स्यात्—स च विशिष्टकारणप्रभव कान्तिस्को
न्यभिचार प्राकृतिक नियम न भङ्गकुमीष्टे । तत एव तु समुपेक्ष्य कान्तिरक्रमं
व्यतिक्रम योनिस्त्वन्ध एव वर्णविभागे प्रधानो हेतुस्वररीकृतो विज्ञाननेधैरस्मत्पूर्व
पुरुषे । बहून्येतदर्थप्रमाणकानि प्रमाणानि, तथा हि—पूर्वमुपदर्शिता कवधो
पाख्यानभूतिरेव तावदर्थमिमं सुदृढमवबोधयति—शत्रो हि कवधो दीक्षा प्रविष्ट
इति सावेश महर्षिभि स बहिष्कृत, अहो समाजनियमभङ्गकारिणि कवधे महर्षाणां
मुतीक्षण दण्डविधानम्—यद्

‘अन्नैर्न पिपासा हन्तु’

‘सरस्वत्या उदक मा पात्’

इति निर्णये प्रदेशे स निश्चित । कर्मण एव वर्णविभागे हेतुताम्युपपन्नो
महानुभावा मुस्तव्यमिदमालोचय-तु-यदि कर्मानुरोधिन्येवावस्थितिर्वर्णानां तदाख्ये
महर्षिभिरभ्युपगम्येत तत्तर्हि किमिति दीक्षा प्रविष्ट स वराक एव तिरस्कियेत ? किमिति
तस्य दीक्षाप्रवशाभिष्वेयैव स सवहुमान ब्राह्मणवर्णे न प्रवेशयेत ? तस्मात्तस्मिन्नपि
काले सुदृढतरो योनिवृत्त एवासीद् वर्णविभाग, तत एव चान्नरवर्णोऽयमुत्तमकर्मा
प्यनुतिष्ठासन्नवर्णोऽस्ति द्विजपुङ्गव । अनन्तर तु समुद्भूतानन्यसाधारणप्रखरतर-
विज्ञानशक्तिरपोनज्जीयसूक्तद्रष्टा स कवध ऐलूषो महर्षिभिर्ब्राह्मणवदभ्यर्हणीयतामापा-
दित—इत्युक्तगुणसम्बन्ध एव तत्र कारणम्, न तु तथाभूतस्तेन नियम शक्यते
कल्पयितुम्—यद् ब्राह्मणकर्माप्यनुतिष्ठासन्नेव ब्राह्मण स्यादिति । उक्तगुणवन्ति ॥
वस्तुनि सर्वान्यपि प्राकृतिक नियममतिक्रम्येव तिष्ठन्ति—नहि गोमय पूतलमिति सर्वमपि
पुरीष तथापि स्यात्, न वा वरद्वी सर्वत्रोपादेयेति सर्वमपि मास सर्वत्रोपादेय
स्यात्, न च दक्षिणमणिरसख्यमूल्य इति सर्वोऽपि तथैव भवेत् । तस्मात्कुतश्चिद्विशिष्ट-
कारणादधिगतोऽदृष्टतमगुणसम्बन्धोऽयमैलूष कवधोऽपि न सामाजिक कुल्कमागतवर्ण
विभागनियमं भङ्गकुमर्हति, प्रवृत्त तत्तादृशगुणामिदमेव पूर्वं तस्य ब्राह्मणत्वानवा-
ति-व-यवस्था द्रव्यत्वेऽप्यप्योच्यन्तु निद्रात । ततश्चोपाख्यानेनानेन सिद्धमेतत्—
ऐतरेयधृते प्रकाशात्पुनैव कुल्कमागतावस्थितिर्वर्णानां सुदृढतामयासीदिति । तथैव
स्तु भगवतो विवकाभिन्नराप्तापाख्यानेनायमेवार्थ सिद्ध्येत्—ब्राह्मणत्वमभीष्टम्
हि स भगवान् तत्तादृशमनन्यसाधारण वर्णसहस्राणि तपस्तेपे, न स्वमीप्सामात्रेणैव
समन्नाप ब्राह्मण्यम् । तेन हि ततोऽपि पूर्वतरमेव सुदृढवासीद् योनिवृत्ता व्यस्थिति
वर्णानामिति सुखापिगम्यमेतत् । यदि हि तदाख्ये तत्तद्वर्णोचितकर्माभिष्वेयेव
तत्तद्वर्णत्वे कारण स्यात्—तर्हि ब्राह्मणकर्माप्यनुतिष्ठासन्नेव ॥ भगवान् ब्राह्मणत्वेनो-
ररीकियेत, न त्रेतावत्तपस्तदर्थमपेक्ष्येत । न च ब्राह्मण्ययोग्यताधर्मादनाथमेव
तपस्तेन समनुष्ठितमिति भ्रमितव्यम्—आस्ता नाम योग्यता, अनितरसाधारण्या
विशिष्टमायामपि योग्यताया समुद्भूताया न तस्य ब्राह्मणत्व समाजप्रमुखे

वैशिष्ट्यादिभिरभ्युपगममिति स्पष्टं तदाख्यानविदाम् । सुमहत्तरतप समनन्तरन्तु
तस्य ब्राह्मणस्य सप्तसिद्धयस्तपःसम्बन्धमूलिकैवति न सा नियममवस्थापयितुमीष्टे,
उक्तगुणसम्बन्धस्य प्रकृतिनियमातिक्रमकारिताया उक्तत्वात् । ततश्च विद्वा
मित्रादपि भगवन्तः पुरस्तादेव कुलक्रमगतैवासीद्वर्णव्यवस्थेति संसिद्धम् ।
सर्वबाहुमयादिमूलाया भगवत्या ऋक्संहितायाश्च बहुतरसूक्तद्रष्टव्यं भगवान्
विश्वामित्रः, यदि तस्यापि काले योनिवृत्तौ वर्णभेद इतिहासेन सुप्रतिपद्यते—
तत्तर्हि कुतोऽनादित्वमस्य न व्यवहरेम । ततः प्राक्तने तद्वृत्तानां प्रमापकस्थैरनुप-
लब्धे । तस्माद्वर्णभेदोचित्त्यायोरादीयमानान्युपाख्यानानीमानि वर्णभेदस्य
पुरातनतन्त्रव्यवस्थावबोधयतीति सुस्पष्टम् भाष्यन्तु विरक्षित । एतेनेतराण्यपि
पौराणिकानि वर्णविनिमयबोधकानि तद्वृत्तानि ध्यात्वा तानि, तनारि कश्चिद्
दम्यह्णीयसमगुणसंसर्गोदेव वर्णपरिवृत्तेरभ्युपगमात् । अत्र एव स्वनेकपुगसंबन्धिनि
वृत्तमेऽप्यापाणामिति वृत्तं द्विजाण्येवास्य वर्णविनिमयस्य निदर्शनानि, यदि तु
तत्तत्कर्माभिदक्षिणवर्णभेदे प्रमाण स्यात्तदा किमतावतामेव गणनीयानां वर्णपरिवृ-
त्तिरुक्ता स्यात् । वयन्तु पश्याम—यदि पुरैव वर्णभेदः सुदृढः न नियम्येत तत्तर्हि
एवविधानां वर्णविनिमयानां नामनिर्देशावापि पुराणमपर्याप्तं स्यात् । तदेव
ललितवृत्तनिबन्धा निगन्तानि यः प्रकृतेर्विलक्षणं नूत्रमिवावति, वर्णविनिमयस्यापि
कानिश्चिदस्तत्र तत्रैतिवृत्तेष्वनिश्चय इति कानिश्च एवायं सङ्गुणसम्बन्धमूलकं सङ्गतेरम-
नं तु सामाजिकनिश्चयसिद्ध इति वाटमनुनीयेत विचारदधे । तथैव ललितत्रय—

‘तद्य इह रमणीयाचरणा अभ्याशो ह यत्ते रमणीया योनिमत्सरघरन्—
ब्राह्मणयोनि वा क्षत्रिययोनि वा वैश्ययोनि वाध य इह कपूयचरणा अभ्याशो ह
यत्ते कपूया योनिमत्सरघरेणू-व्ययोनि वा सूकरयोनि वा चण्डालयोनि वा’ ५।१०,

इति पुनर्भवविषयिणी छान्दोग्यश्रुतिर्ब्राह्मणादियोनिं प्रशङ्कती योनिवृत्तं
ब्राह्मणात्वादि स्पष्टमभ्युपगच्छति । तस्माद्योनिवृत्तस्य वर्णभेदस्य समाजनिश्चयनित्वाभ्यु-
पगमेऽप्यतिपुरातनकालिक एव सोऽयं नियमो न स्वर्वाचीन इति श्रुतं सहायितम् ।

अथ योऽमरसङ्गुणस्य घादपि केषांचिदभ्यर्हितवर्णप्रवेशप्रचार इति वृत्तेनानु-
मितं सोऽप्यतिपुरातन एव समये शक्यतेऽनुमातुम् ।

तदुत्तरन्तु प्राचीनतमेऽपि रामायणमहामारतादिकाले नैव कथमपराधीद्वर्णैरे-
नियमः, अत एव समनुष्ठितप्रबलतरत्रियकर्माऽपि भगवन् पश्युरामो ब्राह्मण इत्येव
परिपूर्यते रम भगवता रामेण, सकलधनुर्धरायुधश्च भगवान् द्रोण इत्येव वा नैव
ब्राह्मण्यं विजहौ । उत्तमवर्णोऽन्तः न तप समनुतिष्ठन् शम्भूकः शूद्र इति भगवता
रामेण निधनमेव प्रापित — इत्यादीनि बहूनि पुराणेष्वभ्यन्तेऽस्याप्यस्य प्रमापका
नीतिवृत्तानि । अयं चालोच्यता महामारतस्य अनुशासनिके पर्वणि मीधनयुधिष्ठिर
सवाद —

युधिष्ठिर (प्रश्न)

नान्यस्त्वदन्यो लोकेषु प्रष्टव्योऽस्ति नराधिप ।
क्षत्रियो यदि वा वैश्य शूद्रो वा राजसूतम् ।।
ब्राह्मण्यं प्राप्नुयाद्येन तन्मे व्याख्यातुमर्हसि ।
तपसा वा सुमहता कर्मणा वा श्रुतेन वा ।
ब्राह्मण्यमयं चेदिच्छेत्तन्मे ब्रूहि पितामह ।

भीष्म (उत्तरम्)

ब्राह्मण्यं तात दुष्प्राप्य वरं ह्यत्रादिभिर्निमि ।
परं हि सर्वभूतानां स्थानमेतद्युधिष्ठिर ।।
बह्वीस्तु सस्रन् योनीर्नायमान पुन पुन ।
पर्याये तात कस्मिंश्चिद् ब्राह्मणो नाम जायते ॥

इति । (अ १७)

इह हि स्पष्टमेव भगवता सर्वधर्मरहस्यनिष्ठातेन भीष्मेण जन्मान्तर एवावर-
वर्णानां ब्राह्मण्यलाभो न तु कश्चिदप्येकस्मिन्नेव जन्मनीति स्पष्टमेवोद्घुष्टम्,
जन्मान्तरे च ब्राह्मणत्वाद्यवाप्तेरुक्तिरपि पूर्वोदशितच्छान्दोग्यश्रुतिमूलिकैव ।
अनन्तरं च तेन भगवता मतङ्गस्य शूद्रस्योपाख्यानमाख्याय हटीकृतोऽयमर्थः,
स हि मतङ्गो ब्राह्मणत्वमभीप्सन् ब्राह्मणोचितसकलगुणगणसंवृतो महत्तर तपश्चचार-
तदुक्तं तेनैव सुरराजमिन्द्र प्रति—

इदं वर्षसहस्रं वै ब्रह्मचारी समाहित ।
अतिष्ठमेकपादेन ब्राह्मण्यं नाप्नुया क्वम् ।
अहिंसादममास्थाय कथं नार्हामि विप्रताम् ।

(आ० प० अ० २६)

स चायमेवविधोऽप्येतदेवन्द्रेणोत्तरित —

भेष्टता सर्वभूतेषु तपोऽर्थे नातिवर्तते ।
तदप्रथं प्रार्थयानस्तन्मचिराद् विनशिष्यसि । इति ।

तदित्यं मतङ्गेन सुमहत्तपस्यताऽपि नैनाधिगतं ब्राह्मण्यमिति । उपाख्यानेनैतेन
सुरराजमिन्द्रं भवति—यद् बहुतरतपोऽनष्टानादिनाप्यतिपूर्वमेवाभ्यहितवर्णस्त्वावासि
प्रचरितासीत्—तदुत्तरवदवस्थोत्कृष्टवर्णत्वं सर्वथैव प्रनिषिद्धम् । ततश्चाति
पुरातन एव रामायण महाभारतादिकानि कुलक्रमागतेयमन्वयस्थितिवर्णानां सुदृढत्वं
मुपगतेति साधु संसाधितम् । यत्तु यद्ययुधिष्ठिरसर्वादे करतलमलङ्कयितधर्मरहस्ये
नापि युधिष्ठिरेण कर्मण एव द्विजत्वहेतुमुक्तम्—तदिदं कर्मण प्रशसनमात्रम् न
॥ युधिष्ठिरकाने कर्महेतुको वर्णविभाग सम्भावयितुमपि शक्यः, द्रोणादीना

ब्राह्मणत्वव्यवहारविरोधापत्ते । पूर्वोक्तमीशवाक्येनात्यन्त विरोधाच्च । श्यष्टीकृतधो परिष्ठात्—‘वृत्त यत्नेन संरक्ष्य ब्राह्मणेन विशेष्य’ इति वदता तेनैव महात्मना स्वकीयोऽभिप्राय । यत्नतो हि ब्राह्मणेन स्वकर्मपरायणेन भवितव्यम् अन्यथा निन्द्यत्वमस्यापद्येत्येष एव तदभिप्राय । एवमेव नहुषेण सवादेऽपि यत्सत्यशीलादिप्रियिष्ठस्य ब्राह्मणत्वमाख्यात युधिष्ठिरेण—तस्याप्येतैश्चनैश्चमो ब्राह्मणः परीक्ष्य इत्येव तात्पर्यम्—‘नन्वेतत्—

जातिरन महासर्वं मनुष्यत्वे महामते ।

सकृदास्तेर्वर्णानां दुष्परीक्ष्येति मे मति ॥

इति वदता सत्रैव श्यष्टीकृतम् । आरभ्ये हि तदा ऋषये युगे बहूनां व्यभिचारादिप्रवृत्त्या वर्णसंकरबाहुल्येन जातिमात्रेण ब्राह्मण उतकृष्ट शक्य परीक्षितुम्—अपि तु सत्यधर्मादिगुणानवलोक्यैवोत्कृष्ट ब्राह्मण्य निश्चयेनैवमिति तदभिप्राय । एव धर्मव्याघादिसवादेऽपि चत्वादिगुणोत्कर्षचकन एव तात्पर्यं भवत्येवम् दृढतत्प्रमाणान्तरानुगुण्यादिति मायता माधुर्ये । मदा हि स्वकीय वर्णाचित कर्म परिषिज्य वर्णोत्तरोचितकर्मणा विजीविष्यन्तमनुनं मावान् वासुदेव —

‘भेयान् स्वधर्मो विगुण परधर्मात् स्वनुष्ठितात् ।

स्वधर्मे निधनं भेयं परधर्मा मयावद्’

‘तत स्वधर्मे क्लीर्ति न हिंसा पापमवाप्सरसि’

(भगवद्गीता)

इत्यादिभिर्वचनपातैर्निवारयामास भविष्यत्तमाप ‘स्वधर्म’ इति युद्ध कारया मास च, तरिमन्त्रेव महाभारतराले कर्मणैव वर्णव्यवस्थितिर्मुचिष्ठिरादिभिर्धर्ममं विन्निबध्नतेति को नाम विचारशील सम्भावयेदपि । वर्णविभागहेतुक एव कर्मविभागो, न तु कर्मविभागहेतुको वर्णविभाग इति सुस्पष्टमतद्वयवद्गीतासु तात्पर्यम्—अतएव स्वर्गस्य ब्राह्मणोऽन्वितमेष्ट्यादिपरिग्रहं पापमिति निषिद्ध । तस्मात्तदात्वेऽतिदृढमूलाया योनिजनवर्णव्यवस्थाया सुतरां संसिद्धौ पूर्वोक्तवचनानामुपदेशितार्थ एव तात्पर्यम्—न तु गत्यन्तरमिति स्फुट समीक्षादधानाम् । ततश्च पुराणमदाभारतादीना कुलक्रमागतवर्णान् स्थितावेव तात्पर्यं स्पष्टं संशयितम् ।

स्मृतयस्तेवमुखनैव ॥ मुचिद्ध वर्णविभाग स्फुट प्रतिपादयन्ति—

सर्ववर्णेषु तुल्यासु पानीयस्तयोनिषु ।

आनुलोम्येन सम्भूता जात्या जेयास्त एव ते ॥

(मनु अध्याय १०)

सर्वेभ्यः सर्वेणाहुः जायन्ते हि सजातयः ।

(याज्ञवल्क्य)

उत्पत्तिरेव विप्रस्य भूर्तिर्धर्मस्य शाश्वती ।

स हि धर्मोऽयमुत्पन्नो ब्रह्मभूयाय कल्पते ॥

ब्राह्मणो जायमानो हि पृथिव्यामधिजायते ।

ईश्वरः सर्वभूतानां धर्मकोशस्य गुप्तये ॥ (मनु अ० १)

ब्राह्मण्यां ब्राह्मणेनैव उत्पन्नो ब्राह्मणः स्मृतः ।

(हारीत)

जन्मना ब्राह्मणो ज्ञेयः संस्कारैर्द्विज उच्यते ।

विद्यया याति विप्रत्वं भोविषस्त्रिभिरेव च ॥ (अत्रि)

किं च स्वस्ववर्गोचितार्थ्ययनादिकर्मविरहितस्यापि ब्राह्मणादेर्वैगुण्यमात्रं मन्यते, ब्राह्मणत्वं तु सामान्यतोऽभ्युपगम्यत एव स्मृतिकृद्भिः—तदेतदाह भगवान् मनु—

यथा काष्ठमयो हस्ती यथा चर्ममयो मृगः ।

यश्च विप्रोऽनघीयानस्त्रयस्ते नाम विभ्रति ॥

यथा घण्टोऽफलं स्त्रीषु यथा गौर्गवि जपला ।

यथा चाग्नेऽफलं दानं तथा विप्रोऽनुचोऽफलः ॥ (अ० २)

अनघनघीयानस्यापि विप्रस्य नाममात्रेण विप्रत्वं सुस्पष्टमुक्तम्, न चैतच्छ्रुत्वा विद्वद्दर्शनमेवमन्तरा कथमपि धरेत्—कर्मण एव जातिहेतुत्वेऽनघीयानस्य विप्रशब्दवाच्यताया एव दूरापेक्षत्वात् । किं च ब्राह्मणेषु विदुषा भेष्यनाचक्षणां (१।६७) भगवान् मनुस्मृत्युचोऽपि ब्राह्मणत्वमभिप्रेत्येव । सर्वस्मृतेषां सनश्च भगवान् व्याकरणमहाभाष्यकारोऽपि नञ् सूत्रे प्रासङ्गिकीं स्मृतिमिमांसाद्वयहार—

तप भुतं च योनिश्चेत्येनद् ब्राह्मण्यकारकम् ।

तप भुताभ्यां यो ह्येनो जातिब्राह्मण एव स । इति ।

इहानि तप भुतयोनिनि यं शिष्टस्य मुख्यं ब्राह्मणत्वम्, तप भुतविहीनस्यापि केवलं ब्रह्माकुलसंस्तुत्यै जातिमात्रेण ब्राह्मणत्वमिति स्पष्टमभ्युपगच्छन्त्या स्मृत्या जातेर्मुख्यता द्योतितेव । भाष्यकृता चात्रैवविधे ब्राह्मणे यद्यब्राह्मणशब्दकारि प्रयुज्यते तर्हि स उपचारादेव, तुल्याचारादिनिशिष्टेऽपि योनिविरहिते तु ब्रह्माभावावनिवन्धनो मुरत्येव शराब्राह्मणशब्द इत्यनिदधता एतन्नेव योने प्राधान्यमुररीकृतम् । एवमुक्तमधर्मादनुतिष्ठतामवरगणानामुत्कर्षे स्फुटं प्रतिषेधति भगवान् मनुरेव—

अनायंमार्गं कर्मणिनाये चानायं कर्मिणम् ।

अप्रपायं त्रिवीदाता न समो नासमाविति ॥ (अ० १०)

इह किञ्चिदर्थमप्यनुतिष्ठन् शूद्रस्य विगुणार्थसमरूपमपि कथञ्चित् प्रतिपिष्यते-
किं पुनरार्थम्, कथञ्चित्समत्वं तूभयोरपि निषिद्धाचरणकर्तृत्वादेवाम्युपेतमिति
स्पष्ट टीकास्तु । भगवान् पराशरोऽपि सुस्पष्टमाह—

दुःशीलोऽपि द्विजः शूद्रो न शूद्रो विजितेन्द्रियः ।

कं परित्यज्य दुष्टं गां दुरेच्छीतवर्नीं स्त्रीम् ॥

अवश्यमपि दुःशीलस्य द्विजस्य पूज्यत्वोक्तिः कैमुतिक्रियायामूलिकैवेति मन्यते
तथापि तु योन्युत्कर्षे एव महर्षीणामेव तात्पर्यमासीदित्येतन्न शक्यं कथमप्य-
क्षेपम् । उक्तध्यायमर्थो भगवान् मनुनापि राजधर्मेषु—

अविदाश्चैव विदाश्च ब्राह्मणो दैवतं महत् ।

प्रणीतश्चाप्रणीतश्च यथाग्निदैवतं महत् ॥

(अ. १) इति ।

अथैव दूरे तिष्ठन्तु वर्णविनिमयः, स्वधर्मं परित्यज्य परधर्मं निवेदयमानानां
प्रवृत्तपातकसंज्ञं प्रपञ्चयामास भगवान् मनुरेव द्वादशोऽध्याये—

स्वैभ्यः स्वैभ्यस्तु कर्मभ्यश्च्युतवर्णा ह्यनापदि ॥

पापान् सस्य ससारान् प्रेष्यता यान्ति शत्रुषु ॥ इत्यादिना ।

तदेव विषयबुदाहरणम् — सर्वत्रापि स्मृतिषु कर्मनैव वर्णभेदसिद्धान्तः सुप्रतिष्ठित
इति नेह दुरधिगमं प्रेक्षावताम् । यत् स्मृतिषु वर्णानां संस्कारजन्यस्योक्तत्वात्
संस्काराणां च कर्मयोग्यतासंपत्त्यर्थमेवोपयोगात्, कर्मयोग्यताया एव वर्णभेद-
मूल्यं प्रस्थापितम्, तदेतन्नास्माकमशतोऽपि प्रतिकृष्यम् । यतो हि न यत् कर्म-
योग्यताया सुखवर्णहेतुता कथमपि चारयाम — 'योनिर्विद्या कर्म वेति त्रयं
ब्राह्मण्यकारणम्' इत्युक्तत्वात्, कर्मविरहितानां चातिब्राह्मणादीनां बहुतरनिन्दा-
स्मरणम् । तत एव वर्णानां मुख्यवर्णवर्षपक्षे सम्प्रेक्ष्यन्त एव संस्काराः । इमे तु
संस्कारा ब्राह्मणादिदुःश्लोकाग्नेष्वेव तत्तत्कर्मयोग्यतामाविर्भावयितुं प्रवर्तन्ति—न ॥
एतच्चिदत्रेऽप्यभिनवा तादृशी योग्यतामाधातुमिति स्पष्टं प्रतिजानीमहे । इहा हि
लोके संस्कारा मान्द्यमुपगतेषु मणिमौक्तिकसुखार्थादिष्वेव क्षुत्पित्तत्रायाभावविषादयन्तः,
न तु लोहप्रस्तरादिष्वपि तादृशी क्षुत्पित्तमिनवाप्रुत्पादयन्तः । तस्माद् ब्राह्मणादि-
कुलजनानामेव मुख्यब्राह्मणत्वादिसिद्धये सम्प्रेक्ष्यमाणा अपि संस्कारा न शूद्रेष्वपि
ब्राह्मण्यजनयेदुरिति स्मृतितात्पर्यं शक्यमुपपादयितुम् । अत एवाचरजानामुत्तमं
वर्णाचितां संस्कारां स्मृतिषु निषिद्धा एव, तत्र तेषां फलाघायकत्वाभावादिति
विभाव्यतां भावुमै । किं च—यैर्वर्जिकानुद्दिश्य विहितेष्वप्येव संस्कारेषु तत्तद्वर्णोचितः
प्रतिनियम आभीयते स्मृतिवृद्धिः—तथाह मनुर्नामकरणे—

मङ्गल्यं ब्राह्मणस्य स्यात् धनवियस्य बलान्तिम् ।

वैश्यस्य धनसंयुक्तं शूद्रस्य तु जुगुप्सितम् । इत्यादि ।

अस्मिन् च ज्ञातमात्रस्य शिष्योद्देशमेऽहनि नामकरणकाले किं तस्य ब्राह्मण-
त्वादिसाधकं भवितुमर्हति, श्रुते योनेः । न हि गुणकर्मादीनां विज्ञानस्य कदापि
तदात्वे शक्यसंभवा । तस्माद् ब्राह्मणादिकुलजानामेव ब्राह्मणाद्युचितं नाम
स्मृतिष्वभिप्रेतमिति संस्कारप्रकरणादपि जन्मसिद्धत्वेमेव वर्णानां प्रसिद्धयति । तथैवो-
पनयते तत्तद्गणानां दण्डमौज्यादिप्रतिनियमोऽप्यत्रानुसन्धातव्यः ।

यच्चैतद्विपरीताहारविहारादिसंबन्धादघःपातेन स्मृतिषूपपन्नमानेन कर्मयोग-
तैव वर्णभेदे मुख्यो हेतुरित्युल्लेखितम् तदप्युक्तयुक्तेरेव प्रत्युक्तम् । कर्मयोग्यताया
मुख्यवर्णभेदे हेतुतयाऽस्माभिरप्यभ्युपगमात्—तस्याथ मदिरापानाद्युक्तप्रत्यवायसंघाते
ऽपगमात् तत्तद्गणानां ब्राह्मणत्वादेः प्रत्यवस्योपपत्तेः । नाममात्रेण तु कथंचिद्
ब्राह्मणत्वादिक्रमेण न शक्यमपलपितुम् । इतरेषां तु ब्राह्मणादीनां दोषसम्पर्क-
भीतानां न ते संभवहार्या भवन्तीति पतिता एवाख्यायन्त इत्यास्ता तावत् ।
यस्मिन् वर्णानामथ पातादेव दण्डान्तात् समुन्नतिरप्यवरवर्णानामनुशासनाभिलष्यते
तदेतदन्यायम् । विनिगतस्येव समुन्नतेः क्वापि स्मृतिष्वनुक्तत्वेनाप्रामाणिकत्वात् ।
सुभो हि विनिपातः, सुदुर्लभा तु समुन्नतिरिति प्राकृतिकोयमर्थः । तस्मा-
त्कुतश्चिद्विशिष्टहेतोर्विनिपात इव कुतोऽपि हेतोः समुन्नतिरवरवर्णानां स्मृतिषु कुत्रापि
नोक्तेति न स्मृतिसिद्धोऽयमर्थः ।

किं च—‘योनिर्विद्या कर्म चेति त्रयं ब्राह्मण्यकारणम्’ इति स्मृतिमुदाहृत्य
ब्राह्मणादिशब्दानां वृत्तिर्भाष्यकृतैव भगवताऽभ्युपगता । समुदायश्चायमेकविनाशोऽ-
प्यपैतीति युक्त एवायं वर्णानां तत्तद्गणत्वापगमः । न त्वेकविरहेऽपि समुदायः
शक्यते कथमपि व्यवहर्तुमिति न युक्तोऽभिनववर्णसमुत्पादः । तथा हि—
ब्राह्मणकुलप्रसूतत्वेन योनिविशिष्टोऽपि कश्चिद् व्यक्तिविशेषो विद्याकर्मणी यदि
ब्रह्मात्, विद्याविशिष्टोऽपि वा कर्मपतितः स्यात्, मुरापानादिभिरुत्कृष्टविद्या-
कर्मयोग्यतानेव वा समुच्चिन्ध्यात्—तच्च हि न तस्मिन् योनिविद्याकर्मणा समुदायः
प्रतिष्ठित इति सोऽवश्यं ब्राह्मण्यात् पतितः स्यात् । योनिमात्रस्यैकस्य वा सत्त्वेऽ-
पि त्रितयसमुदायस्य वस्तुमशक्यत्वात्—ब्राह्मणशब्दस्य च त्रितयसमुदाये निवृत्त-
त्वादिरूपपन्नं ब्राह्मणादियोनिजानामपि पातित्यम् । यस्तु ब्राह्मणकुलेऽनुत्पन्नतया
योनिविरहितोऽप्युत्तमा विद्यां संस्कारवशादधिगच्छेत्, यमनियमादिवृत्तप्लेषु
कर्मैव चानुरक्तः स्यात्, सोऽयं द्वितयसत्त्वेऽपि योनिविशिष्टत्रितयसमुदाया-
भावादेव न ब्राह्मणमाप्तुं शक्नुयादिति नोपपन्ना वर्णानामस्मिन् जन्मन्युत्कर्षा-
वाप्तिः । एतेन ब्राह्मणस्य श्लेष्ठादिधर्मान् प्रतिपन्नस्य श्लेष्ठादिवदेव ब्राह्मण-

धर्मं प्रतिपन्नानां यवनादीनामपि ब्राह्मणत्वादि तुल्य-यापादुनितमिश्राद्यन्तु
 क्लृप्तापादयन्तो निरस्ता । समुदाये ब्राह्मणादिशब्दानां प्रयोगस्येभ्यश्चात्
 समुदायस्य च योन्वाद्य यतमविरहेऽप्युपपादयितुमशक्यत्वादिति भाव्यता भातु
 कैर्मन प्रणिधाय ।

अथ यदेतदुच्यते—योनिवृत्ते वर्णविभागो गवाश्वादीनामिव ब्राह्मणशत्रिया
 दीनामपि परस्पर भेद प्रत्यक्ष समुपलभ्येत, न ॥ तत्तयोपलभ्यते, सर्वेषामपि
 वर्णानामैकरूपस्यैवोपलब्ध्ये, ततश्च नास्त्येव वर्णानां योनिवृत्तो भेद इति तत्तु
 ७३म् । गवाश्वादीनामिव योनिवृत्तस्य वर्णानां परस्पर भेदस्यास्माभिरप्यनभ्यु
 पगमात् । प्रकृतिभेद एव हि तेषामादौ विधातुकृत, तदनुसृत्यैव च कर्मभेदा
 दुपपन्नोऽयं जातिभेदः ।

‘कारणगुणा कार्यगुणानारमन्ते’ ।

इति प्राकृतिकेन नियमेन योनिभेदमूलकता नीत इति भूतिस्मृतिभिरसङ्ग-
 साधयाम । तस्माच्च मनुष्यवृत्तातेरवान्तरा एवैते ब्राह्मणत्वादिभेदा स्युः, न
 तु गवाश्वादीनामिवैकान्ततो जातिपार्यन्त्यमभिपातु सांप्रतम् । अवान्तरास्तु
 भेदा सर्वैरपि (मनुष्यतिर्यंगादि) जातिषु बहुता समीपकैः समुपलभ्यन्ते न च
 तेऽपि परस्पर सकीर्यन्ते भवन्ति च तेऽपि बहुधा योनिभिर्जा इति तद्वदेव
 वर्णभेदस्याप्यभ्युपगमे क्षत्यभावः । यो ह्येषा वर्णानां वर्णस्यप्रयोजको नैसर्गिको
 भेद आख्यातः स किञ्च परीक्षमाणे सर्वत्रैव समुपलब्धुमुद्यकः । न च स्वरूपभेद
 एव भेदप्रयोजकतयादरणीयो न तु प्रकृतिभेद इति काचिद्वाजाशक्तिः । तस्मा
 त्प्रकृतिभेदनियतेऽपि वर्णानां भेदे योनिभिर्जा न शक्यमपलपितुम् । अथ सोऽयं
 प्रकृतिभेदोऽपि वर्णानां नियत नोपलभ्यत एव, इहना ब्राह्मणानामत्यल्प
 मदीनां, क्षत्रियाणां कातराणां शूद्राणां च कुशाग्रधिपणानां वीर्यवता च प्रत्यक्षमुपल-
 भ्यमानत्वात् इति यदि कश्चिदाक्षिपेत्तदेतदप्यविचारात् । इदानीं हि कालदीपा
 च्छिथिल्लतामुपगते स्वस्ववर्णाभिमाने परित्यक्तेषु स्वस्ववर्णोचितेषु कर्मसु सुदूरमुत्सा-
 रितायां क्षात्रमर्यादायां भ्राममात्रपरिचयेषु वर्णेषु क्लिप्तमुपगते च स्त्रीणां यथार्थं
 चारित्र्ये दुरवस्थेयमुज्जृम्भते, न तु यथाविधि प्रवर्तमानेषु वर्णेषु कदाचिदप्येतदेव
 स्यात् । अवश्यं हि ब्राह्मणस्य ब्राह्मण्योचितप्रकृतय एव सुता समुत्पद्येरन्
 मधुरादाम्रवीजादुत्पन्नस्य तरोर्मधुराणि फलानीवेति प्राकृतिक एव नियमः ।
 प्राकृतिक नियममनुसृत्यैव चार्याणां धर्ममर्यादा प्रतितिष्ठन्ति । यस्तस्य
 प्राकृतिकस्य नियमस्य कचिदुपस्थेयं व्यभिचारः, स किञ्च हेतुविशेषजन्य
 कादाचित्क एव स्यात्, न च काचित्कस्य तस्यवृत्ते समाने प्रवर्तनीया नित्वा
 ददुरवस्थेति न्याय्यं पथा । तस्मात्समाजमुन्निनीषद्भिर्वर्णानां यथाशास्त्र प्रवृत्ता
 वेव प्रवर्तनीयम्, येन समूलमुमूल्येत दुरवस्थेयम्—ब्राह्मणक्षत्रियादिसुताश्च

ब्राह्मणनियानुचित्रप्रकृतय एव स्युः । न तु क्वाचित्कस्य व्यक्तिकमस्य कृते सत्यपि समाजस्य मुख्यवस्था समुत्साहणीयेति कश्चिद्व्याप्यलोऽनुमन्येत । ततश्चाद्य त्वे समुपलक्ष्यमाणोऽयं वर्णानां प्रकृतिविनिमयः कर्मदोषजन्य एवेति नैतस्माद्वर्णानां नियता प्रकृतय एव न सन्तीति शक्यं साधयितुमियुगपादितम् । अथ त्विदानीमपि कथंचिद् ब्राह्मणानामेव लोकं विद्याधिक्यं वैश्यानामव च धनाधिक्यं सुसुदृढमदोगेयं सतीत्यमस्मद्वक्तव्येषु समीक्ष्यैरिति कृतं विस्तरणम् ।

यत्तु कश्चिद्व्याचक्षते—सृष्टिप्रकरणे सृष्टिविभागमुपपादयन्नि सर्वैरपि शास्त्रकारैरेकविधत्वमेव मनुष्यसृष्टेरुच्यते—न तु तिरंगादिषु नानाभेदा इव मनुष्येष्वपि ब्राह्मणादिभेदास्तत्रोच्यन्ते । तथा च सात्याचार्य ईश्वरकृष्ण सृष्टिभेदानाह—

अष्टविकल्पो देवस्तैर्यग्योनश्च पञ्चधा भूतिः ।

मानुष्यश्चैकनिधः समासतो भौतिकः सर्वम् ॥ इति

इह हि चतुर्दश वेधे भूतसर्गे देवसर्गस्य ब्राह्मणाश्चाप्येन्द्रपैत्रगान्धर्वयक्षराक्षसपैशाचभेदैरष्टनिधैश्चमाख्यातम्, तैर्यग्योनस्य च मनुमृगक्षेत्रीसुपस्थावराणां भेदात्पञ्चविधत्वमुक्तम्, मनुष्यसर्गे तु नैव ब्राह्मणादयो भेदाः प्रतिपादिताः, अपि त्वेकनिधत्वमेव तस्याभ्युपेतम् । तथैव ऋजु मागस्तादिषु सर्वेष्वपि पुराणेषु सृष्टिविभागं न कुत्रापि मनुष्यसृष्टेश्चतुरो विभागानुपलभामहे । ततश्च नायं वर्णविभागः सृष्टेरादितः प्रसिद्धो न वा योनिसिद्ध इति प्रतिपद्यामहे इति । तदेतत्सर्वंमतिरन्वयीयम् । मनुष्यसृष्टेर्हि अवातरा भेदा ब्राह्मणादय इत्यवोचाम । न च सर्वेऽप्यवान्तरा सृष्टिभेदाः कुत्रापि परिगण्यन्ते, न वा शक्यन्ते परिगणयितुम् । अङ्गं हि समालोचयन् मवान्-य इमे पञ्चविधास्तिर्यञ्च व्याख्याता—किमेषु न सन्ति शतशोऽवान्तरा भेदाः ? न वा ते योनिसिद्धा सृष्टेरादिनः प्रसिद्धा वा ? ततश्च सतामेव गोमहिष्यादिभेदानामुपेक्षया तत्र प्राधान्यमात्रविश्लेषा यथा पशुशब्देनैकेनैव सर्वास्तानुपसृष्ट्वा पञ्चविधत्वं निरश्चानुपपाद्यते—तथैवेदं रजः प्राधान्यमात्रविवक्षयाऽवान्तराणां ब्राह्मणादिभेदानां उपेक्षया मनुष्याणामप्येकविधत्वमुपपन्नमिति नैतावता योनिः सिद्धत्वं वर्णानां हीयेत । रजः प्राधान्यं चापीदमापन्निकम्, देवाद्यपेक्षया सत्त्वं मात्रायास्तिर्यगपेक्षया च तमोमात्राया मनुष्यसामान्ये न्यूनतया तत्र सर्वत्रैव रजः प्राधान्यव्यवहारात् । सन्ति तु १२ २१ प्राधान्येऽपि सत्त्वादितारतम्यकृता बहवो भेदाः, तन्मूलकत्वमेव चेत् ब्राह्मणदीनामस्माभिराख्यातमिति न विस्मर्तव्यम् । कारकां चेत्मा व्याचक्षाणस्तत्र मवान् वाचरतिमिश्रो ब्राह्मणादिभेदानामप्यपि कथायास्तात्पर्यमपि सुस्पष्टमन्वाह—

‘संस्थानस्य चातुर्वर्ण्येकविधत्वादिति’ ।

संस्थान हाव्यवसनिवेश, न किंल सोऽयमेव चतुर्वेदि मित्यने—प्रकृत्य एव
स्वेदा मित्रन्ते, संस्थानमेदादेव चेह भेदा विवक्षिता—इति न ब्राह्मणादिभेद
परिगणनमिह कृतम् । एकमेव तत्तत्पुराणेष्वपि भेदाविवक्षाऽनुष्ठानेया कास्त्र्येन
भेदानां परिगणनस्य कुत्राप्यशक्यत्वात् । यावतो भेदा यत्र परिगणितास्तत्राप्य
घान्तराणां शतशो भेदानां संभवात्, अघान्तरभेदेष्वेव च ब्राह्मणादीनामपि
प्रवेशात्, बहुन तु पुराणेषु सूत्रिभिर्भागेऽप्युक्ता एवैते भेदा, उपदर्शितानि च
तद्वाक्यानि दिव्दुष्मात्रमादाधेवेति विरम्यतेऽन तदुपदर्शनात् । ततश्चानया सृष्टि
विभागेऽनुकस्यापि न वर्णानां योनिसिद्धयः आहन्तु शक्यमिति विवेचयन्तु
विचारदक्षा ।

यत्तु योनिसिद्धमेदेषु गवाध्यादियु नान्यकार्यमन्य शक्नोत्यनुष्ठातुम्, न
चैषा भेदविज्ञाने बालोऽपि सरोते, प्रायज्ञेनैव भेदस्य सुप्रतिपद्यमानत्वात्, नाप्येतेषु
विजातीयेषु पुरुषैर्विजातीया स्त्रिय सन्ततिमारब्धुमीशते । योऽपि कश्चिदश्वतरादि
सकरजातीय उरस्यते सोऽप्यय द्वाभ्यामस्यन्त विजातीयो भवेत् । न स्वेताश्वभेदं
ब्राह्मणश्रुतिमादिषु, तद्य हि सुसिद्धिं शूद्रोऽपि ब्राह्मणकार्याणि कर्तुं शक्नुयात्,
न च कर्मभेदविज्ञानमन्तग कश्चिदप्येषा भेद प्रतिपद्येत, भवन्ति च वर्णान्तरेष्वपि
वर्णान्तरचरन्या सन्ततय सरूपा एव । ततश्च नैव जातिभेदोऽहंति योनिसिद्धो
भवितुमिति क्वचिदातिषन्ति, तदेतदतिरमवादविज्ञानाच्चेति ब्रूमहे । अत्रापि
वर्णान्तरकार्याणां यथावद्वर्णान्ते सपादयितुमशकरत्वात् । ननु च मो हस्यन्त एव
बहुव शूद्रा अपि ब्राह्मणकर्माणि, इति चेदहं किमिदं ब्राह्मणकार्यमवधार्य तत्र
मयन्तो वदन्ति—शूद्रा ब्राह्मणकर्माणि इति । आलोक्यता धतिस्मृतिषु ब्राह्मण
कर्माणि—

“यश्चैव ब्राह्मणो विद्यात्तस्य देवा आरुन् चो ।” (भृति)

“देवाधीनं ब्रह्मसर्वं मन्त्राधीनाश्च देवता ।”

ते मन्त्रा ब्राह्मणाधीनास्तस्माद् ब्राह्मणदेवता । (स्मृति)

ततश्च प्रवर्तमान प्राकृतिक जगच्चक्रमेतद्यथारद्विज्ञाय सचेष्टमन्यथा प्रवर्त
येत्तदिदं ब्राह्मणकार्यम्, नेदानीं ब्राह्मणा अप्येतदनुष्ठातुं शक्ता इति चेत्ता
स्माकमिय वर्णव्यवस्था एतत्तमयार्थमेव प्रस्तुता, सार्वकालिकी तावदेवेत्य
वोचाम । अहो ! यदा हि किञ्च वय सर्ववर्णानां कानि कर्माणीति
मनागप्यालोचयितुमशक्तास्तदा कवचारमयमस्माकं वर्णपरिवर्तनाप्रह औचित्यं
विदेत । न च यथान्तकश्चिदपि कर्तुं न शक्नोतीति व्यक्त्यैव समुत्तारणीया, प्रस्तुत
यथा । कर्मप्रवृत्तये व्यवस्थां मुह्यत नियमयितुं प्रवर्तनीयमिति कृत विस्तरेण । वर्ण
भेदपरिज्ञानं तु कर्मभिरेवेति युक्तमेव, वर्णभेदस्य प्रवृत्तिभेदमूलकत्वात्—प्रवृत्तिभेदस्य

च कर्मभेदानुमेयत्वात् । इहापि च विजातीयकन्या सन्ततिरश्वतर इव आत्यन्त
रत्वमेव भजत इत्यालोक्यता स्मृतिषु । वस्तुतस्तु नाथ वर्णभेदोऽस्माभिरपि गवा-
श्वादिभेदवदिष्ट इति ध्यारयातमेव बहुश पूर्वम् ।

अथ यदेतद् वर्णानां कर्महेतुत्ववादिना मूर्द्धामिषिक्त प्रमाण—

‘शूद्रो ब्राह्मणनामेति ब्राह्मणमेति शूद्रताम्’

इत्यादि मनुवचनम्, तच्च प्रकरणानभिज्ञानां प्रतारणामात्रमित्युपहासयैव
प्रेक्षावताम्, अणसकप्रकरणे हि—

शूद्रायां ब्राह्मणाज्जात भेयसा चेत्प्रजायते ।

अभेयान् भेयसी जाति गच्छत्यासतमाद्युगात् ।

इति स्वयं पूर्वं प्रकृत्य मनुना तदभिहितम् । अस्य च पूर्वस्य श्लोकस्याप्यमर्थं —
ब्राह्मणाच्छूद्रकन्यायामुपपन्न पारसवारयो वर्णं पूर्वमभिहितं, स चापि मातृदोषा
दभेयान् । पितृसम्बन्धादि तरिमन् ब्राह्मण्यम्—मातृसम्बन्धात् शूद्रत्वमिति वर्णा
न्तरमन्वेषे कथञ्चिद् ब्राह्मणशब्देन शूद्रशब्देन चेत्युभान्यामेव शक्यते व्यपदेश्य
मुपचारात् । स स्वयं भेय सदर्कात्समे जन्मनि (जन्मनि) भेयसी पितृत्वस्या
जातिमापद्यते । तथा हि—तज्जातीया कन्या ब्राह्मणेन चेद् विवाहिता, तत्कन्यापि
च पुनर्ब्राह्मणेन, तत्कन्यापि ब्राह्मणेनेत्येव क्रमेण सप्तमी कन्या ब्राह्मणेन विवाहिता
शूद्र ब्राह्मणमेव जनयति । सप्तमे हि युगे मातृदोष समूलमपैति, वैजिक च
ब्राह्मण्यं सुस्पष्टमुदेति । अत्रान्तरीमूतास्तु तां कन्यां सकरमेव जनयन्ति, मातृ
दोषस्य कथं चिदनुवृत्तेरिति । इह च कन्यापरम्परैवाभिप्रेता न तु पुत्रपरम्परेति—

‘प्रजायते’

इत्येतत्मात्रदादधिगम्यते । प्रज्जननं हि क्रिया एव समर्थति न पुत्रस्येति ।
तदेव भेय सदर्कात्समे जन्मनि शोणितानुवृत्तस्य शूद्रस्य निवृत्तस्य च । तावत्तैव
च ॥ तस्य सङ्करजातीयस्य शूद्रभाष्योऽपि ब्राह्मणत्वे परिणत, इत्यभिप्रेत्य—

‘शूद्रो ब्राह्मणतामेति’

इत्युत्तरद्वन्द्वपादोऽभिहितः । अथ यदि ब्राह्मणाच्छूद्रायामुत्पन्नस्य तस्य
सकरस्याभेयस्यैव सवयं स्यात्, तत्कन्या यदि शूद्रेणैव विवाहेन, तत्कन्याऽपि
च शूद्रेणैवत्यादि, तदा बहुभिर्जन्मभित्तस्य पितृसम्बन्धादनुवृत्त ब्राह्मण्यं समूलं
विनश्येत्, मातृरनुवृत्त शूद्रत्वमेव च तस्य नियतमन्तिष्ठेत् । तावत्तैव तस्य ब्राह्म
णादोऽपि शूद्रत्वं परिणत इत्यभिप्रेत्य—

‘ब्राह्मणस्यैति शूद्रताम्’

इति पूर्वोक्तश्लोकस्य द्वितीयः पादोऽभिहितः । अयमेव च न्यायः धर्मि-
वैश्यसंकरेणप्युत्तराद्येनातिदिश्यते—

‘धर्मियाज्जातमेवन्तु विद्याद्वैत्याच्चथैव च’

इति । धर्मियाच्छूद्रकन्यायामुत्पन्नोऽपि सङ्करविशेष एवमेव धर्मियैर्मयो भूय-
सम्बन्धमापद्यमानः धर्मियत्वमनुकिन्द्रेत, शूद्रेस्तु सम्बन्धमाप्नुन् धर्मियत्वं
विजहातीत्याद्यहम् ।

एतदेवोक्तं भगवता यादवकल्पेनारि—

‘जात्युत्कर्षो युगे ज्ञेयः पञ्चमे सप्तमेऽपि वा’ इति ।

तत्र ब्राह्मणात्प्रमियायामुत्पन्नस्य वैद्याच्छूद्रायामुत्पन्नस्य वा भेदः सप्तम-
पञ्चमे एव जन्मनि पितृपुत्र्यवर्णोवाति, विप्रकृष्टस्य शूद्राया ब्राह्मणादुत्पन्नस्य तु
सप्तमे जन्ममुत्कर्ष इति व्यवस्थितो विकल्पः सुस्पष्टं मिताक्षराकृता व्याख्यातः ।
तथा च स्मृत्यन्तरसंवादादर्णसङ्करप्रकरणाच्च मनुप्रोक्तस्य तस्य श्लोकस्योक्त एवार्थः
संभवति, न तु प्रकरणविकटः पूर्वापरविकटश्च सामान्येन शूद्राणां ब्राह्मणत्वावाति
रूपस्तदर्थो न्याय्यः, न च कथं प्रकरणमालोचयता निरामेहेन केनचित्प्रेशावता
सोऽयं भद्रातुम् । वर्णसङ्करप्रिये तु यस्मिन्ब्राह्मण्य तस्मिन्नुत्पन्नमाधीचदेनेदं
महता कालेन भेदसम्बन्धमात्तदोप निरूप्योद्भूतमिति न तत्रामिन्ब्राह्मण्यो-
त्पत्तिश्चाह्वाऽपि लक्ष्यपदा । बीजसम्बन्धादेव हि स्त्रीध्वरवर्णास्थिपि जातानां बहूनां
महर्षीणां समुज्जलितं ब्राह्मण्यमाधीदिति भगवता मनुनाप्युक्तम्, इतिवृत्तेष्वपि
चोपलभ्यते । न च सामान्यतः शूद्रस्य ब्राह्मणत्वावतीकोऽपि दृष्टान्त इति प्रागेवा-
क्षोचाम । यथा च प्रकरणान्तरेण भगवता मनुना योनिष्वेव वर्णव्यवस्थामुपेता
तथैतदसङ्कल्प्यमेतावधायाम । एव च तदविकटं एवार्थोऽत्र न्याय्यः स्यान्न तु
पूर्वापरविकट इत्यालोच्यम् । तथा च शूद्रो ब्राह्मणतामेतीत्यादिरनं श्लोकः शुक्-
शोणितानुवृत्तस्य ब्राह्मणत्वादेरङ्गीकरणात्कर्महेतुकरत्वादिनां प्रसृतं परं प्रतिकूलः
न तु कथमपि वर्णाणां योनिष्वेवत्वाधक इति स्वप्नेतस्मावितम् । यदि हि कर्म-
निमित्तिकैव व्यवस्था वर्णानामप्राप्तिरेता स्यान् तत्तर्हि ब्राह्मणेनोदमात्रैव शूद्र-
कन्या ब्राह्मणी स्यादेवेति तत्प्राणां शुद्ध ब्राह्मण्यसंदिग्धो कोऽयं सप्तमपञ्चमादि-
जन्मसङ्कर्षावातिविचारः ।

यदि हि ब्राह्मण्यन्तनिरपि केचन क्षेपदोषास्तस्मिन् जन्मनि शुद्धं ब्राह्मणत्वमा-
प्नोति तदा केव कथान्देया भ्रात्या शूद्राणां ब्राह्मणत्वावाप्तेरिति । तस्माच्छूद्रो
ब्राह्मणतामेतीत्यस्माद्रचनायोनिष्वेव वर्णं व्यवस्थितिः सुहृदतामाप्नोतीति निर्वि-
वादमेतत् ।

यत्, केचिदाग्रपरतन्वा शूद्रो ब्राह्मणतामेतीत्यस्य यथाश्रुत पूर्वापरविरुद्ध विपरीतमेवार्थं समर्थयितुम्—

‘शूद्राया ब्राह्मणाजात’

इति तत्पूर्वतनमपि श्लोकमन्यथैव व्याख्यातुमुद्युज्यते, तथा हि—‘ब्राह्मणा शूद्रायामुत्पन्न भ्रष्टेयान् कथञ्चिद् ब्राह्मणीमुताग्रिष्ठोऽपि यदि भ्रष्टा-
कल्याणेन—धर्माचरणेन, प्रजापते—युज्यते, तदा सप्तमे युगे—वर्षे, भ्रष्टेयो—पितृतुल्यां
जातिमापद्यते । सप्तमो ह्ययं वर्ष उपनयनकालमुपगच्छति, तत्र स्वकाले
कृतोपनयनस्य, वेदाध्यायिनस्तस्य नास्ति द्विजकुमारेभ्यः कोऽपि विशेष इति
तात्पर्यम् । उपनयनवशादेव हि शूद्रास्तु शूद्रोऽपि वा शक्नोति ब्राह्मणी
भावेतुम्, अतुरनीतरु द्विजकुमारोऽपि शूद्र एव स्यादिति । अयमेव वचन
स्यास्य व्याख्याऽर्थं, युगशब्दस्य अन्वयार्थत्वे हि नास्ति किमपि मानम्,
वर्षवाचकता तस्योपपद्यत एव, अयनयुग्मरूपत्वादर्थस्य, वर्षावयवश्चतुर्मासादिरपि
मासयुगादियुग्मरूप । अष्टमेऽब्दे उपनयनस्योक्तत्वाच्च सप्तमादर्थं एवात्र युग-
शब्देन प्रहीतुमुचित । किं च ।

“तपोबीजप्रमावैस्तु ते गच्छन्ति युगे युगे ।

उत्कर्षं चापकर्षं च मनुष्येस्विह जन्मत ।”

‘परमाद्बीजप्रमावेण तिर्यग्जा रूपयोऽभवत् ।

पूजिताश्च प्रशस्ताश्च तस्माद्बीजं प्रशस्यते ।”

इत्यादिना भगवता मनुनैकस्मिन्नेव जन्मनि साङ्ख्येणोत्पन्नानामुत्कर्षावाप्ति
राख्याता, इष्टान्ते समर्थिता च । सेय सप्तमे जन्मन्मुत्कर्षमभिप्रयच्छिर्भवद्भिर
एतत् विरोधिता स्यात् । तस्माच्छूद्राया ब्राह्मणाजात इत्यादेर्महोक्त एवार्थो
न्यायः, शूद्रो ब्राह्मणतामेतीत्यादिस्तस्य श्लोक-पूर्वणासम्बद्ध स्वातन्त्र्येणैव
शूद्रमात्रस्य कर्महेतुका ब्राह्मणावाप्तिमन्वाहेति । तदेते सर्वमनर्गलप्रलपितम् । प्रजा
यतस्तत्त्वार्थानालोचनात्, प्रपूर्वकस्य जनेर्गोमग्रहणार्थं एव प्रसिद्धतया युज्यत
इत्यर्थस्य नितान्तमसामञ्जस्यात् । अष्टमस्य वर्षस्योपनयनकालतया स्मृतिप्रसिद्धत्वेऽ
पि सप्तमस्य तादृशकालोपलक्षकत्वं नानामावाच्यम् । इदं च भवान् पृष्ठो व्यचष्टाम्,
गुणकर्ममूलक एव जातिविभागे शूद्रायामुत्पन्नतामात्रेण कथं नाम तस्याभ्रष्टस्त्र
ममवता मनुनाभिहितम् । सप्तमादर्थोऽर्थाभ्रष्टप्रयोजकानि कानि तस्य समवन्ति
गुणकर्मणि । सर्वेऽपि च यदा भवदुत्करीत्योपनयनादूर्ध्वमेव भ्रष्टस्त्वमापद्यन्ते, तदा
किमिह तस्यैव विशेषानुकीर्तनास्त्वभिहितम् । उपनयनाच्चावोक् कामचारस्य
क्षीरकण्ठस्य तस्य भ्रष्टस्त्रमभ्रष्टस्त्रवानुकीर्त्य किं विवक्षितम् । तस्मात्सर्वथैव
दृष्टार्थपरिकल्पन इहादाहृजिमात्रमन्याय्य चेति विवेचयन्तु विवेचका । तथैव किल—

'शूद्रो ब्राह्मणतामेती'

स्यादिवचनस्य पूर्वेष्वान्वय विन्तिष्ठत्वात्तन्व्येगार्थप्रकटनमपीदमनवधेय प्रेक्षा-
वताम् । स्वातन्त्र्ये ह्यस्य वर्णव्यवस्थितिप्रकरण एव पाठोचित्येन सकारप्रकरणपाठ-
स्यासङ्गतिप्रसङ्गात् ।

किं च शूद्रो ब्राह्मणतामेतीत्यादिकं केवल प्रतिज्ञावाक्यमिदं हेतुविशेषानुक्ते
हेत्वशो साक्षादक्षे न शक्तमर्थं व्यवस्थापयितुम् । केन हेतुना किल शूद्रो ब्राह्मणता-
मेति । कुतो वा ब्राह्मण शूद्रतामेतीति हेतोरवश्यमपेक्षणात्, तस्य च हेतुविशेषस्य
प्रकृतश्लोके ऽनभिहितत्वात् । न च गुणकर्मनिरोधादित्यस्य हेतुराक्षेपलभ्यः स्यादिति
शक्यं वक्तुम्, तस्य सर्वथा प्राकरणिकत्वामावेनाक्षेपे प्रमाणाभावात् । ततश्च
भेयसा चेत्यजायते इत्ययं पूर्वश्लोकोक्त एव हेतुरिहाभिसंबध्यत इति सर्वथास्य
शूद्रोक्तस्य पूर्वसम्बन्धिताया अनिवार्यत्वाद्युक्त एवार्थोऽयं न्याय्यः, न तु पूर्वापर-
विरुद्ध सर्वेषामपि शूद्राणां ब्राह्मणत्वानामिरूपः ।

अनार्याणां समुत्पन्नो ब्राह्मणात्तु यदृच्छया ।
ब्राह्मण्यमप्यनार्यात्तु भेयस्य वेति चेद्वेत् ॥
ज्ञातो नार्यामनार्याणामनार्यादायो मयेदुगुणैः ।
ज्ञातोऽप्यनार्यादायांमनार्य इति निश्चयः ॥
तावुमावप्यसंस्काराविति धर्मो नवस्थितः ।
वैगुण्यान्मनः पूर्वं उत्तरं प्रतिलोमकः ॥

इत्यादिना तदुत्तरमेव मगवान् मनुर्जन्मन एव वर्णत्वे हेतुतामभिप्रेति, ततश्च
कथं पूर्वमनैकहेत्या शूद्रस्य ब्राह्मणत्वावाप्तिमभिदधीत । इह चानार्यसंस्कारजातानां
संस्कारस्यैवानुचिततामिष्टानाटुपनयनेन ब्राह्मणत्वमेषा सिद्ध्यतीत्यादि पूर्वश्लोकार्थं
कल्पयन्त इतोऽपि निश्चिता वेदितव्याः । यत्तु युगशब्दस्य जन्मार्थत्वे नास्ति
मानसित्वाधिपत्तिः, वर्षार्थकत्वेऽपि तन्मूल तुल्यम् । वर्षार्थकत्वं सर्वथैव मानादुप-
लब्धे । अयन्तुम्नरूपत्वाच्च युगशब्दप्रयोग इति तूपाहावास्तवम्, मासादिध्वनि-
पञ्चयुमादिरूपेषु तत्प्रयोगादत्ते । सतमे युगे—आर्येण वरेण सम्बन्धे, शूद्राया-
मुत्पन्नः कन्यारूपो वर्ण इदं ब्राह्मणत्वमवाप्नोतीति मनुकार्येऽप्युपपत्तेर्वक्तुं शक्य-
त्वाच्च । प्रजायत इति पदं च मनुकार्ये ॥ तत्पर्यग्राहकमस्तु । मन्दपे ॥ साहसा-
तिरिक्त नास्ति किमपि वात्पर्यग्राहकं नाम । अयं यदेतन्ममे जन्मन्मुत्कर्षावाप्ता
वन्मुपगताया—

'तपोवीजप्रभावेभ्यु'

इत्यादिना दृष्टान्तसमर्थितमेकस्मिन्नेव जन्मन्मुत्कर्षावाप्तिकथनं मगवतो मनी-
र्विरुद्धमेतेत्यभिहितम्, तदप्यनालोचनविजृम्भितम् । तपःप्रभावेणैव हि मगवतां
व्यासादीनानेकस्मिन् जन्मन्मुत्कर्षावाप्तिः, तपोविरहितानान्नु सामान्येन सतम एव

जनन्युत्कर्ष इति व्यवस्थाया स्फुटं भासमानत्वात् । अत्रापि च बीजहेतुत्वस्योक्तया जन्मन एव वर्णत्वहेतुता सर्वथैवाश्रितेति न निश्चिन्तव्यम् । तथा च मनुस्मृत्य वचनद्वयस्य यथाव्यवस्थानिर्णयं सर्वांगीकृतस्तस्मिन् एवार्थं समुचिततर इति प्रत्यपादयाम ।

“धर्मचर्यायां जन्मो वर्णं पूर्वं पूर्वं वर्णान्तरयते जातिपरिवृत्तौ”

“अधर्मचर्यायां पूर्वो वर्णो जन्म जन्म धर्ममापद्यते जातिपरिवृत्तौ”

इतीदमावस्तम्बचक्रमपि मनो समानार्थमनुलोमव्यवस्थैव क्रमगोष्ठ्यावाप्तिमाहा, जात परिवृत्ताङ्गत्वेन ज्ञेयं मूयं मूयं स च सतीति तदर्थोक्तिरात् । जन्म जातिरिति जननार्थकज्ञानिदोपादानादहं धर्माचरणेन जन्मान्तर उत्कर्षावाप्तिशेषक इत्युक्तम् । यतो जन्मान्तर उत्कर्षकर्तृत्वावाप्तेरपनिपदादप्रामाण्यं प्राक् समर्थितत्वात् । इह जन्मोदोदयोवाप्तौ स्मृत्युपगतायां शास्त्रान्तराणि विरुध्ये न, इह च जातिपरिवृत्ताविति पदमन्तरात्मनर्थकमापद्येत्स्थलमतिशायतेन परवादेन । तथा च सर्वथा जन्मजन्मव्यतिरेकविमर्शमनुपपन्नस्य स्मृतयो न कथमापगुणकर्मनूतिरिति वाच्यत्वात् इत्यन्तर्धाने बहुधा प्रपञ्चेन स्फुटमेतद्व्यसाधितम् ।

अथ यत्केचिदाचक्षते—सत्यकामस्य जायत इत्येवमपुत्रस्यापि सत्याभयणेन ब्राह्मणत्वदर्शनादगुणकर्ममूला एव जातिरिति पुरासीत्युच्यते इत्यनुमीयते । तथा हि छान्दोग्योपनिषदि सत्यकामस्यैव भयने—अबालाया पुत्र सत्यकामो नाम कश्चिद् ब्रह्मर्षिमिच्छन्मानसं गौं पश्यन्त्युत्तमं तां तु त्वैवमुत्तरमन्वाह—

“बह्वृक्षं चरन्ती परिवारिणी यौवने त्वामलभे, स हनन्तु वद, यदगोत्रं त्वमसि अबाला तु नामाहमस्मि, सत्यकामो नाम त्वमसि, स सत्यकाम एव जाबालो भवेथा ।”

इति । अनेन च यौवने बहुपरिवारिणीरात्रोवासानवशेषकमोक्षरूपं अबालाया स्फुटमव वेद्यात् प्रतीयते जान, अधमन्यथा भर्तृगोत्रं सा न विजानीयात् । किं वा बहुवृक्षं चरती परिवारिणीत्यनेनात्र विवक्षितं स्यात् । तथा च वेद्यापुत्रत्वमेवात्र सत्यकामस्य सतिद्रुम् । स चायमेवविध सत्यकामो गौतमनेत्येव ब्रह्मवर्णेन वस्तुनिष्ठं गौत्रं तेन प्रणे यथावन्नात्रोक्तमेव निवेदयाञ्चक । गौतमस्तु तेन सत्येन सन्तुष्टः प्रत्युवाच—

‘नैतद्ब्राह्मणो विदुर्मुहति, शमिष सोम आहर, उर त्वा नभ्ये न सत्यादगौ ।’

इति । तथा च विज्ञायापि सत्यकामस्य वेद्यापुत्रत्वं केवलं तस्य सत्यरूपविशेषगुणाभयणेनोपनयनं भगवता गौतमेन कृतमिति जित् सर्वथा गुणकर्ममूलकेन वर्णविभागेन । एवमेकस्यैव सन्ततौ चातुर्वर्ण्यं समुत्पन्नमिति पुराणे बहुधा स्मर्यते—

पुत्रो वृत्तमदस्यापि सुनक्षो यस्य शौनकः ।

ब्राह्मणा क्षत्रियाश्चैव वैश्या शूद्रास्तथैव च ।

(हरिःशे)

पुत्रो वृत्तमदस्य च सुनक्षो यस्य शौनकः ।

ब्राह्मणा क्षत्रियाश्चैव वैश्या शूद्रास्तथैव च ।

एतस्य वशे सम्भूता निचित्रा कर्मनिर्दिष्टा ।

(वायुपुराणम्)

एवमन्यनाप्यनसन्धेयम् । तथैव च बहुना वृत्तमददीतइत्य काश रम्ममभूतीनां
वर्णपरिवर्तनं पुराणेषु स्मर्यते, उपदिशितं च पुरस्तादपि बहुधा इति नेह विस्तर
भयात्प्रतन्यते । तथा चैतेन सज्जे स्फुटं कर्ममूलक एव वा तेषामागं भूतिपुराणा-
दिकांशेषु प्रसिद्धयतीति तदपत्त्या साहसमात्रमिति ।

तदेतदपि सर्वं पूर्वमुक्तोत्तरत्वेन पिष्टपेक्षणमात्रमपि सक्षेपेण किंचिद्विहा-
य्युच्यते । सत्यकामस्य आशालस्य तावदिय कथा तदास्वे मुहुरा जन्मकृता
वर्णव्यवस्थितिमेवावबोधयति, यदा हि गोत्रशानादिना ब्राह्मणकुलोत्पन्नतां सम्यक्
परीक्ष्य गुरव शिष्यानुपनयन्ति स्म, तदा कैश्च कथा गुणकर्ममूलकस्य जानिबिभागस्य ।
मबलुपगत एव चेज्जातिनिभागस्तदा प्रचरित स्यात्तदा किमिति गौतमेन सत्य
कामो गोत्रं पृच्छयेत् । किमिति तस्येवामात्रेणैव ब्राह्मणेषु प्रवेद्य सोऽय
नोपनीयेत् । तस्माद्गोत्रप्रश्नोऽयं किं सुनिश्चितं जन्मन एव वर्णव्यवहृतां तदात्वेऽव
बोधयति । जन्मकृत एव वर्णविभागे मुहुरे सम्भवति कित् गोत्रप्रवरव्यवस्था ।
अन्यथा तु गुणकर्मनिरोधेन यत्किञ्चिद्विद्वत्कुलोत्पन्नस्यापि ब्राह्मणत्वादिसमवेन कथं
नाम गोत्रप्रवरेषु समनियता व्यवस्था प्रचलति । गोत्रप्रवरव्यवस्था चैवमाभूतेरा-
स्मृतेर्भाविहितेति सर्वत्र तत्र जन्मकृत एव वर्णविभाग प्रसिद्धिमापद्यते । यत्तु
पश्चाद् गोत्रमविशयापि सत्यव्यवहारसङ्ग्रेहं भगवता गौतमेनोदनीतं सत्यकाम,
तदिदमसाधारणेन सत्याभयणनं तस्य ब्राह्मणवीजजन्यत्वमनुमायेते बोद्धव्यम् ।

‘नैनद्ब्राह्मणो वक्तुमर्हति’

इत्यादिना सत्यमापणेन ब्राह्मणत्वानुमानस्य स्फुटप्रबोधनात् । ब्राह्मण-
त्वानुमानं चेद तत्र ब्राह्मणजन्यत्वानुमानमेव वक्तव्यम्, उपनयनादिकां तरिन्तु
स्वतो ब्राह्मणत्वासम्भवात् । बीजप्रमावेण च केचन विशिष्टगुणभाजस्तत्रैव जन्मनि
ब्राह्मणत्वादिना व्यवहियन्ते स्मेत्युक्तमेव पूर्वम् । वस्तुतस्तु चवालायां वेदयात्र
प्रकल्पनमपीदं नैकान्तत आमागिकं भवितुमर्हति स्पष्टं तथोक्तेरभावात् । ‘अधियीन्
बहुधा परिचरन्ती (तत्कार्यं एव नियुक्ता) अहं यौवन एव स्वामप्राप्तम्,
(तदुत्तरन्तु त्वत्किञ्चिद्विरहात्) न गोत्रप्रश्नायादकाशो मयाधिगतः’ इत्यपि

अवालोक्तेनात्ययसम्भवात् । आस्ता नाम कथमपि, न तूपनिषत्काले योनिङ्गता वर्णव्यवस्था कथयानया प्रतिबद्धु शक्येति प्रतिपादितमेतत् । यथा चोपनिषत्सु—

ब्राह्मण्योनि वा क्षत्रिययोनि वे

त्यादिना योने प्राधान्य स्पष्टपददर्शितं तथा निदर्शितमेव पुरस्तादिति नेह पुनः पेटुमुचितम् । यच्चेद शौनकस्य कुले चत्वारोऽपि वर्णाः समुत्पन्ना इति पुराणानि प्रमाणयता समर्थितम् तदपि नास्माकं प्रातिकूल्यमावहति । एकस्यैव विभिन्नवर्णासु भार्यासु चतुर्णामपि वर्णानामुपपत्तेः सुतरां सम्भवात् । आसीत्किञ्च पुरा उत्तमस्यापि वर्णस्यावरेषु वर्णेषु विवाहः, स्मृतिप्रसिद्धत्वादस्यार्थस्यापत्तिरपि न शक्यतात् । ते चैते सङ्करजाता कश्चिद्वैशिष्ट्यापिनृवर्णाः, सामान्येन तु मातृ सहस्रवर्णा एवा गण्यन्ते यपि प्रसिद्ध स्मृतिषु । सत्यमेवविद्यो विवाहः कलौप्रतिषिद्ध इत्यन्यदेतत् । अतिपरातने च सृष्ट्यादिकाले केषाञ्चिदुत्कृष्टगुणाविभवन्धातृर्ण-परिवर्तनमप्यासीदित्युपपादितमथस्तात् । अतिमनुसृत्य तदात्थ एव किञ्च सर्वे धर्मा विशिष्टप्रकृतैर्महर्षिभिर्नृवस्यापिता इति सर्वेष्ववश्यमभ्युपगन्तव्यमेव, सृष्टेः पुरानुष्ठा-तुणामेवामावे धर्मव्यवस्थाया अभित्तिविज्ञायमाणत्वात् । व्यवस्थाप्रारम्भे च कियन्त विशाला मवस्थेव तत्र भिन्नुत्पलेति कः प्रशाशिलो नानुमन्येत । ततश्च तदानीन्तनीं हविष्यवृत्तां निरृङ्क्ष्वामुपादाय धर्ममानेऽपि समये सर्वधर्माणामुपह-ननमिदमत्ययं भवतामिति नाम । तस्मात्सृष्टयुगे कथानिदेव वीतहव्यादीनां केनचिद्विशिष्टकारणेन वर्णपरिणामे पुराणानुवर्णितेऽपि तदुत्तरं सुदृढं व्यवस्थानसिद्धतया नेदानीं तथा कर्तुमुचितं स्यादिति सुमुखममालोचयन्तु सुखियः । ये तु महानुभावा बृहदेष्टादिवर्णितानां मन्त्रसूक्तादिद्रष्टृणामृषीणां समयेऽप्यभ्युपगम्य वर्णव्यवस्था पुनरप्याधुनिकस्वमेव तस्यामारोपयन्ति त इमं आग्रहपरतन्त्रां सर्वथा प्रणम्या । मन्त्रद्रष्टृणां समयोऽपि चेदधुनापदव्यवहार्यस्तदा कोऽयं प्राक्तन समय इति दुर्विरोधमिदं प्रेक्षावताम् ।

यच्चेयं स्वमतोपपन्नकृतया वज्रसूचिकोपनिषत् प्रमाणीकियते—तत्र दामदमाद्यु-पनस्यात्मस्वविद एव ब्राह्मणव्यवस्थापवादितरगात् । तदिदं परीक्षकप्रणयानामतिथ-पितमुपहासास्पदं कार्यम् । प्रसिद्धेषु शतपथादिब्राह्मणेष्वपि पूर्णतया ऽनाश्रयस्त्रिर्वज्र-सूचिकोपनिषत्प्रमणीकरणमिति सत्यं त्रितितमाग्रहेण । लेखरिपाभ्येन किञ्च लेखद्वयनिष्ठाभा-वैरस्याधुनिकत्वेन शक्यतेऽस्योद्भवम्, स्ववभाषि चाम्बुपगम्यते तथैव । ततश्च किं तदुल्लेखेन विवक्षितं प्रयोजनमिति जानन्तु त एव । आस्ता वा तस्यां ग्रामाण्यम्, अथापि तूपनिषत्सु ज्ञानकाण्यस्यैव मुख्यतया प्रतिपाद-यिषितत्वादात्मविज्ञानमुपस्तोतुमात्मविद एव तत्र ब्राह्मणवमाख्यातम् । तच्चेदं मुख्यं ब्राह्मणरत्नमस्तु तत्रैव, व्यावहारिकं तु ब्राह्मणत्वमितरत्रापि नैवानया प्रति

पेक्षु शक्यम्—ब्राह्मणोद्देश्येन विहितानां सर्वेषामपि भौतस्मार्त्तादिकर्मणा किलोपापत्तेः । तत्रोक्तलक्षणस्य ब्राह्मणस्य प्रयोजनाभावेन कर्मस्वधिकारासिद्धे तत्रैव च ह्यनार्यतोक्ते कर्मोपधिकारस्य स्फुटं सूचितत्वात् । नाप्यब्राह्मणानां ब्राह्मणत्वावाप्तिप्रत्याशाऽनयोपनिषदा कार्या, अब्राह्मणानामनधिकारेणैव तादृशयमदमादिसफलम् आत्मतत्त्वज्ञाने चाप्रवृत्तेरिति नास्ति कोऽपि विरोधः । एव याददमहाभारतस्य पञ्चदश पुन पुनरुदाहृतम्—

ब्राह्मणं पटनीयेषु च तमानो विकर्मसु ।
दात्मको दुष्कृतं प्रायः शूद्रेण सदृशो भवत् ।
यस्तु शूद्रो दमः सत्ये धर्मे च उत्तरोत्थितः ।
तं ब्राह्मणमहं मन्ये वृत्तन हि भवद्भजः ।

तदपि नूनं निषीतमेव क०३ रत्नसादुदाहृतम् । पूर्वपक्षे हि पटनीदेश्वरि कर्मसु च तमानस्य ब्राह्मणस्य शूद्रसादृश्यमात्रमभिधीयते—न तु सशूद्र शूद्रत्वमुरीक्रियत न वा ब्राह्मण्यं प्रतिषिध्यते । कर्ममूलके हि जातिविभागे शूद्र एव स इति किमिदं शूद्रसादृश्याभिधानम् ? उक्तं प्रायः च प्रशस्तगुण शूद्र ब्राह्मणमहं मन्ये इत्येवोक्तम्, न तु लोकेऽपि स ब्राह्मण एवेति ख्यातम् । अहं मन्ये इत्युक्त्या च स्फुटमाशेष एव बोध्यते—मृगनहं च शूद्र मये, ज्योत्स्नाच वलिता च रात्रिं दिवस मये इत्यादौ । आशेषस्य च सादृश्य एव पर्यवसानम्—इति नैन्द प पूर्वस्मादतिरन्त्यते । एतत् तत्र नीचोच्चसादृश्याभिधानं कर्मणामुपस्तुतये तत्राद्यायावदोपनायोक्तमेवेति व्यमप्युररीकुर्म । न हि योनिमानसगतैर्ब्राह्मणादभिः परित्यक्तकमानुष्ठानेरेव भावमिति मतमस्माकम् । सर्वथापि तु कर्ममूलक एव विभागो जातीयो न सिद्धयति, योनेरपि आसत्त्वबोधितत्वेनाभिधानादित्येव वयमभिप्रेतः । यदि हि कर्ममूलक एव विभागः स्यात्तदा बहुदाहृतैश्च वाक्येषु विकर्मणो ब्राह्मणं पन्नादेवित्येव, ब्राह्मणशब्देन धर्मनिष्ठानपरस्य च शूद्रशब्देनाभिधानमव कथं स्यादिति द्रमकुलितनेत्र विचार्यता तादृशस्य पक्षपातम् । यदा हि विकर्मस्त्वपि ब्राह्मणत्वादिकर्मस्युपगम्य केवलं नि दामात्र तेषां तत्राभिप्रेयते—तदा किमित् परं तदाहं योनिसेधे जातिविभागे प्रमाणं स्यात् । बहूनां चैवावधानं वाक्यानां पुरस्तादेवोदाहृतानि व्यवस्थापितानि चैत्युपरम्यतेऽत्र विस्तरमिषा ।

तदित्यनुपनिषत्सृष्टिपुराणादिषु सर्वोत्पत्तिमूलक एव जातिविभागोऽभ्युपेत इति बहुधेतुः प्रसाधयाम । अत्र तु ये तावदित्यं प्रत्यक्षमिच्छन्—न वयं स्मृतिपुराणादीनां, ब्राह्मणानां, तद्वाक्यानामुपनिषदाणां प्रामाण्यमन्वयं प्रवर्तमाने । अतिमूलकान्देव तु तद्वाक्यान्नुपगम्यकृतयोदाहराम । अतिविशदे चारो सर्वये

धामप्रामाण्यमेवापेक्षणीयम् । भुतिपदवाच्यासु चासु श्रुगादिसहितासु नैव योनि
मूलक चातुर्वर्ण्यं काष्ठपुष्पल्लभामहे इति सस्त्वपि तत्रान्येषु द्यतश्च प्रमाणेषु न तदुर
रीकृतं पारयाम, भुतिपरतन्त्राणां स्मृत्यादीनां स्वातन्त्र्येण प्रमाणभावासंभवात् ।
ततश्च धृत्यनुगत एवार्थं व्यवस्थापनीया ब्राह्मणस्मृत्यादयो ग्रन्थाः, स्फुट दिष्टस्य
चांशस्याप्रामाण्यमेवोपगन्तव्यमिति नैतदवलम्बेन योनिसिद्धौ जातिविभागोऽभ्युप
गन्तुं साधतम् इति । तान् प्रतीत्यमुत्तरणीयम् । यदि हि सहितावलम्बेनैव प्रवर्तन्ते
ऽत्रमन्तस्तदा नूनं गुणकर्ममूलकोऽयं जातिविभागः कोपलब्ध श्रीमान्, न हि
केनचिदपि मन्त्रेण गुणकर्ममूलको जातिविभागः स्फुटं साधयितुं सुशकः । कर्णधारोपि
स भवनामिममर्थमुपगृह्णयितुं बलादाकृष्याकृष्याऽनार्थं कथमप्यसम्भवं त्यपि ब्राह्मण
स्मृतिवाक्यान्वेषोदाजहार—

‘ब्रह्म हि ब्राह्मण’ ‘क्षत्रं हीन्द्र’ ‘क्षत्र राजन्य’ ।

इत्यादीनि ।

इत्याचख्यौ च—ब्रह्मणा वेदेन परमेश्वरस्योपासनेन च ब्रह्म वर्तमानो विद्या
द्युत्तमगुणयुक्तः पुरुषो ब्राह्मणो भवितुमर्हति । तथैव क्षत्रियकुलम्, यः पुरुष
इन्द्र परमैश्वर्यवान् शत्रूणां भयकरणाद्युद्धोत्सुस्तत्रैव प्रजापालननगररक्षत्रियो
भवितुमर्हति’ इत्यादि । एतानि च ब्राह्मणवाक्यानि नाब्राह्मणेऽपि गुणकर्मयोगाद्
ब्राह्मणत्वविधायकानि भवितुमर्हन्ति, प्रसिद्धार्थमपेक्षितवद्वयव्यतिरेकस्य सप्तमिव
ब्राह्मणक्षत्रियादिगुणानां स्थापकत्वात् ।

‘ब्राह्मण एवविधो भवति’

‘क्षत्रिय एवविधो भवती’

इथाद्येव किल वाक्यानामेवा तात्पर्यम्, न तु यः कश्चिदेवविधः एवास्तु
ब्राह्मण इत्यर्थं किमपि प्रमाणमुपपश्याम । अस्तुतस्तु यः एषा वाक्यानां मुख्य
स्वारसिकोऽर्थः स पुनस्तादुपपादित एव—

‘ब्रह्मणोऽग्निदेवतायाः सम्बन्धेन ब्राह्मण्यम्, बलदैवतस्येन्द्रस्य च सम्बन्धेन
क्षत्रियत्वम्’

इत्यादिरूपः । सत्यपि चास्मिन्नर्थे यथा कारणगुणा कार्यगुणानारम्भन्ते इति
न्यायेन योनिसिद्धेर्वावस्थितिवर्णानां प्रतिद्वयति तथैतत्सर्वं पुरस्तादेवोपपत्ति
मित्यास्तामेतत् । श्रुगादिसहितासु तु गुणकर्ममूलकस्य वर्णविभागस्य स्फुटं प्रति
पादकं न किमपि मानमुपपश्याम । प्रायत—

‘ब्राह्मणोऽस्य मुत्रमासीत्’

‘पद्म्या शूद्रो भजायत’

इत्याद्या भूति स्पष्ट योनिसिद्धमेव विभाग वर्णानामभ्युपगच्छत्येव । अर्थान्तर
परत्वमस्या भूतिरिति चेत्किं तत्र मानमिति पृच्छाम ! स्वतः प्रमाणभावा हि

भगवती श्रुति कुत इयमर्थान्तरपरत्वमुपनीयते । त्वयाऽप्यर्थान्तरपरत्वमेवास्या
व्यवस्थपितमिति चेद् ब्राह्मणसृष्ट्याद्येकवाक्यतया वममर्थं व्यवस्थापयाम । भक्ता
तु केवल श्रुतीना प्रामाण्यमभ्युपयताऽर्थान्तरपरता दुरमुपगमा । यन्वेदमर्थान्तर
मभ्युपगतमृगभाष्यम् मेकायाम्—

“अस्य पुरुषस्य मुक्त ये विद्यादयो मुख्यगुणा सत्यमापन्नोपदेशादीनि
कर्माणि च सन्ति तेभ्यो ब्राह्मण आसीदुत्पन्नो भवतीति, बलवीर्यादिलक्षणाभितो
राजन्य क्षत्रियस्तेन कृत आशक्त आसीदुत्पन्नो भवति, कृषिध्यापारादयो गुणा
मभ्यमाश्वेभ्यो वैश्यो वणिगज्जनो ऽस्य पुरुषस्योपदेशादुत्पन्नो भवतीति ब्रह्म,
पद्भ्या पादेन्द्रियनीचस्त्रमर्थाञ्जडबुद्धिवादगुणस्य शूद्र सेवागुणविशिष्ट परा
धीनतया प्रवर्तमानोऽजायत जायते इति वेद्यम्” इति । इतोऽर्थात् परमेश्वरस्य
विद्यादिगुणैभ्यो ब्रह्मादिषु विद्यादिगुणानामुत्पत्तिं प्रसिद्धयति । तत्रैत्यमनुष्यते—
न खलु भवत्यने जीवोऽयमीश्वरस्याद्य ईश्वरादुत्पन्नो वा, जीवप्रकृतीश्वराणां वस्तुत
पृथग्भूतानामेव निर्यात्वस्य भवद्विरुपगतत्वात्, ततश्च कथं वैश्वरस्य विद्यादिगुणै
भ्यो जीवस्य विद्यादिगुणानामुत्पत्तिः । कारणगुणानामेव कार्यगुणोत्पादकताया
प्रसिद्धत्वात् । उपदेशद्वारेण जीवे समुत्पादिता परमेश्वरेणैते गुणा इति चेत्तथा
सति मुख प्राप्तम इत्याद्युपचारासम्भव प्रथमो दोषः । उपादानगुणानामुपादेय-
गुणैरभेदोपचारस्य दधनेऽपीतरन तथात्वासम्भवात् । विद्यादीनां चोपदेशे कथं
चिद्वेदत्वोपाप बलव्यापारादीनामुपदेशे हेतुसंगन्धस्याप्यभावाद् बाहू राजन्य
इत्याद्युपचारा सर्वथाऽसंगतार्था प्रसजन्त । क्व चेमे बन्बुद्धिवादो गुणा
शूद्रस्योपदिष्टाः । इत्यपि प्रदर्शनीयमापतति । सति च समानेऽप्युपदेशो कुत
कचिदेव केषाञ्चद् गुणानां वैशेष्याध्यादुर्भाव इत्यपि कारणासम्भवाद् दुर्बलम् ।
स्वमावाप्तन तत्र विमिन्नानां गुणानामुत्पत्तिरिति चेत्स्वभाव एव तत्तर्हि तत्तद्गुणत्वे
हेतुर्नेश्वरोपदेश इतीश्वरादुत्पादिकमेवामसंगत प्रसक्तम् । न चेशानीन्तनेभ्यस्तत्त
ङ्गैभ्य ईश्वर साक्षादुपदिष्टतीति तद्गुणानामीश्वरगुणजन्यत्वासम्भव एव । तस्मा
न्मदुक्तपूर्वं एवार्थोऽस्य मन्त्रस्य स्वारसिकः । ईश्वराश्वरज्ञजीवस्य तद्गुणानां
मीश्वरगुणजन्यताया सुतरां स्वारसिकत्वात् । सा र्व्व्य जीवगुणानामीश्वरगुणजन्यता
स्रष्टादौ स्वत एव, तदुत्तरन्तु पित्रादिपरम्पर्यैव पुत्रादिषु तत्तद्गुणोत्पत्तिरिति
योनिस्तिष्ठ एवायमापतितो वर्णविभागः ।

ननु च भो किमतद् भूयो भूय उद्बुध्यते-विद्यादिगुणजन्या पुत्रादिषु
ते ते गुणा इति, अन्तर विद्यादि मत्तपिद ते कर्त्तव्ये इति । शरीर
माननिष्ठो हि पुत्रपित्रादीनां कार्यकारणभावो, न कथमपि जीवनिष्ठः । पुत्र
जीवस्य पितृजीवजन्यताया केनाप्यनभ्युपेतत्वात् । ततश्च स्थूलशरीरगता केचन
गुणा पित्रादीनां पुत्रादिषूपसकाम्यन्तु नाम, विद्यादय शक्तिविशेषास्तु नैव

कस्यापि कुत्राप्युपसक्रमितुमर्हन्तीति निरूपयत्तिकोऽयं योनिसिद्धो वर्णविभाग इति चेन्मैत्रं बोचः । नास्ति यद्यपि जीवानां परस्परं कार्यकारणभाव इति सत्यमेतत् गुणा अपि त्विमे वर्णत्वप्रयोजकतया भवद्विरभ्युपगम्यमाना न हि जीवमाननिष्ठा भवितुमर्हन्ति, परमात्मजीवात्मनोरुभयोरपि केवल्योर्निर्गुणत्वस्यैव वेदान्तसिद्धान्त-सिद्धत्वात् । ततश्च शरीरत्रयविशिष्टे त्रितयान्यतमविशिष्ट एव वा जीवे ते ते गुणा व्यास्येयाः । तत्र यद्यपि स्थूल एव शरीरे मुख्यः पितृपुत्रयोः कारणकार्यभावः, अथापि तु मृगमदनासितवसन इव सौरभं सूक्ष्मादिशरीरशक्तिविशेषा अपि पुत्रादिष्ववश्यमुपसंक्राम्यन्तीति प्रत्यक्षसिद्धो दुरप-हवोऽयमर्थः । अत एव च—

‘वाच मे स्वयि दधानि’

‘मनो मे स्वयि दधानि’

इत्याद्या भुतिरपि संगतार्था भवतीति कृतं बहुना । ततश्च सर्वयोपपत्तिसिद्धो मन्त्रसिद्धभार्य मे वर्णाणां योनिकृतो विभागः । अन्यत्रापि च बहुत्र वर्णाणां विभागः भूयते मन्त्रेषु, ब्राह्मणादीनां क्रमिक उक्तयोरिति तत्र तत्र भूयत एव—

यत्र ब्रह्म च क्षत्रं च सम्यञ्चौ चरतः सह ।

तं लोकं पुण्यं प्रसेधं यत्र देवाः सदाग्निना ॥

(अ. २०. २५)

न ब्राह्मणो हिंसितव्योऽग्निः प्रियतनोरिव ।

सोमो हारय दायाद् इन्द्रो अस्याभिद्यस्तिपाः ॥

(अ. ५. १८. ६)

तथा च मन्त्रभागस्य पर्यालोचनादऽपि जन्मसिद्ध एव वर्णविभागः प्रवि-
दयेत्,—ननु गुणकर्ममूलके जानिभेदे तत्र किमपि मानमुपदर्शयितुं शक्यम् ;
कुहवतामापन्न एव हि विभागे ।

‘ब्राह्मणोऽस्यमुलम्’ ।

‘पद्म्या शूद्रो अजायत’

‘न ब्राह्मणो हिंसितव्यः’

इत्यादयो व्यपदेशाः प्रवर्तितुमर्हन्ति नेतरथेति स्वयमेवं तावदालोच्यत
दरमुकुटितनेत्रम् ।

शान्तिरुक्तान्तर्यमूर्धन्याः पाणिनिमुनिप्रवृत्तयोऽपि चेमे ब्राह्मणादिशब्दव्यवहारं
जन्मसिद्धमेव द्रष्टव्यं । तथाहि—मगवान् पाणिनिस्तावद् ब्राह्मणशब्दसंसिद्धये—

‘ब्राह्मोऽजाताविति’

पयुंदस्यन् ब्राह्मणशब्दस्य जातिवाचकत्वं स्फुट्येवाम्बुपैति । कारथायनोऽपि—

‘शूद्रा चामदसृर्वाजाति’

रिति वातिके शूद्रपदस्य जातिवाचकत्वमभिदधत् पुनयोग्यावृत्तये क्रियमाणेन जातिग्रहणेन शूद्रभार्याऽप्यशूद्रजातिर्भवतीति स्फुटमुपदर्शयँश्च जन्मसिद्धमेव वर्णविभाग वाचिकमेनाम्यनुजानाति ।

‘सृष्टाख्यातनिगोह’

जातिव्यञ्जन वृत्त्यादिषु सगमयतो

‘योनिर्विद्या कर्मचे’

एवादि पूर्वोक्ता स्मृतिमन्यत्रोदाहरतश्च भाष्यकृतस्तु कैव कथा गुणकर्ममूलक वर्णविभागाभ्युपगम इति । अथोच्येत—आरोपिना एवैत आचार्यांगामेषा ब्राह्मणा द्विषु जातिव्ययहारा इति, तत्रेय प्रसिद्धकल्पम्, सन्तु नामारोपिता एव, सत्यमारोप किहेतुक इति पृच्छाम । न खलु सादृश्यमन्तरारोप कारि दृष्टचर । तत्तत्कर्मविशिष्टेषु बहुषु ब्राह्मणादिष्वेकबुद्धिप्रयोजकत्वमेव जातिसादृश्यमिति चेत्तदेतदबोधनिमित्तम् । कर्मणां स्वत एवैकबुद्धिप्रयोजकतयाभ्युपगमात्तत्र जातिवारोपे स्थारस्यानुपपत्त्ये । जातिगुण क्रिया यद्वत्ता चेति चातुर्विध्यमाहु र्भाष्ये शाब्दिकाचार्या, अत एव शब्दानामपि चातुर्विध्यमेवाभ्युपगत भगवन्निर्भाष्यशब्दादिभि । यदि कर्मैव प्रवृत्तिनिमित्तमवलम्ब्य ब्राह्मणादिशब्दा इमे प्रवर्तन्—तत्तर्हि क्रियाशब्दात्वमेषा प्रसज्येत न तु जातिशब्दाव कथमपि । न हि यदुक्तं पाचकेषु समानबुद्धि प्रयोजकत्वपीय पचिक्रिया जातिरित्यनुमन्यते केनापि सचेतसा । ततश्च जननसिद्धत्वमेव जातिसादृश्य ब्राह्मणादीनां निर्दिष्टा वपुरीकार्यम् । यथाप्यय कर्मकरेषु लोहकारादिषु जातिव्यवहार सोऽपि जनन सिद्धत्वनिवन्धन एवेति कृतमतिशयितेन विस्तरेण ।

तदित्य मन्त्रब्राह्मणोपनिषत्स्मृतिपुराणसत्रमाध्यादिभि सर्वैरपि जन्मसिद्ध एव विभागो वर्णानां प्रसिद्धयतीति बहुधैतद् विचारितम् ।

अथैव श्रुतिस्मृयादिभि प्रमाणै प्रसाधितेऽपि जन्मसिद्धे ब्राह्मणादिजाति-विभागे ये तावद्वर्णविभागेऽप्यविश्वसन्त केवलाभिरपक्षिभिरेव धर्माधर्मविनिर्णये कृतसनादा मुन्त्रवाचनतिहेतुतां जातिविभागेऽस्मिन्नारोपयत प्रत्यवतिष्ठन्ते, तान् प्रत्यपि किञ्चिद्वक्तुमिच्छाम । तत्र तावद्वर्णविभागफलमूनमिद विमज्य कार्यकरण कथमपि नावनतिसाधक प्रत्युतोक्तत एव परमुपयुज्यमानमिति समतिपद्येत सर्वैरपि प्रज्ञाचक्रे । न हि परस्परमङ्गाङ्गिमाधमननुप्राप्तानि विद्यावत्कल्यापारादिकार्याण्येके नैव पुरुषेण शक्यानि सर्वाणि प्राप्ताव्येन स्यादयितुम् । यद्यपि एवमत सर्वा अपि शक्य सर्वत्रैव कार्येषु कथञ्चन समपेक्ष्यन्त इति सत्यम्—व्यापारे कलविद्ययोस्तोऽपि विद्याया विदुषोऽपि च योगक्षेममात्रकृते वलव्यापारादीनां शुभ्रायामपि च सर्वेषामपेक्षाया सुस्पष्टमनुभवसिद्धत्वात् । न खन्यायामेकांततो

विरह एवैवशक्तिवृत्तानि कार्याण्यमुदयमागदयितुमर्हन्तीति । अथपि तु प्राधान्याप्राधान्यवृत्तः सुमदान् विरोध सर्वैवानुसन्धेयः । न हि प्राधान्येन सर्वा अपि शक्त्य कचनैकस्मिन् विद्याधनासादयेषु, न च तत्तच्छब्दिताध्यानि प्रधान-कार्याणि क्षिप्रद्वयेक एव रूपादयितुं प्रशस्येत । यस्तुमचित्कदाचिदालोक्यते सर्वज्ञानमि शक्त्यानेकत्र विद्यायां सोऽयं महान्निमित्ताप्रयोजक क्वचित्पुनश्चमान त्वेवाप्रकृत इति प्राकृत्यवस्थायामपरिगम्य एव । प्राकृतास्तु वैशिष्ट्यमावोऽपि जना गुणभावेनान्या शक्त्यवयवोऽप्येकैकशक्तिकार्याण्येव विदधानास्तत एव च पर वैशिष्ट्यमाप्नुवन्त उपलभ्यन्त इति सर्वेषामपि दशगोचरोऽयमर्थः । सर्वज्ञानमि चात्ता प्रधानशक्त्या प्राधान्येनैव निरुद्यतस्तद्देशानामुपेतौ प्रयोजक इति तत्सिद्धये ऽवश्य विषय्य कार्यकरणमेव समवेक्षित मवति । अत एव च सर्वेष्वप्युत्तरेषु नमाहु च देवेषु समालम्बयत इय विमर्श कार्यकरणरित्येव । न हि ह्यपि विद्यावल-भ्यारादीन्येकैकालम्बयन्ते, विमर्शैव त्वन्यम्बन्त इति । शिष्याम्यपि च तानि तानि विमर्शैव सर्वं सर्वं समायन्ते । ततश्च सर्वज्ञानविभागस्य मुत्ता शैलीय तावन्न कथमपि विरुद्धा स्यादुपपत्तेरुपपत्तेशीलाना वा । केवलम्विदमवशिष्यते विचारयितुम् जन्मविद्वत्वनस्य वांछातिविभागस्य यद्भारतायैक्षिरादुपगम्यते, तदिदमुन्नताधुरमुक्त ततो विरुद्ध वेति । तत्र सर्वोन्नतेर्विरुद्धोऽयं जननहेदो आतिविभाग इति बहूनामधुनिकानां बुद्धिः । अनुकूल एव त्वयुन्नतेरिति पुरातनपथरिशीलिनोऽभ्युपयन्ति । तथा हि उन्नतिविरोधिनाऽस्मिन् जननहेदो आतिविभागे फलबलाद्वा कल्पयत उपपत्तिरुत्पत्ता । यदि ह्यजननमिदानीं मास्तमव लोक्य सत एव तद्देवताऽस्मिन् आतिविभाग आरोप्यते तर्हि तदिदमन्याय्यं विपरीतं च । यदा हि सर्वशक्तिवृत्तिमात्रो भारतस्य सर्वज्ञपूर्णं समुत्पत्तिरासीदिति सर्वैरपि समुद्रमुप्यते तदापि (पुरातने काले) ब्रह्मोऽपमासीज्जन्मविदो आति विभाग इतीतिहासादिभिः प्रथमदयाम् । यदिहि आतिविभाग एवावमुन्नते प्रतिबन्धकोऽभविष्यत्-कथंकार तत्तर्हि पुराणस्य भारतस्योन्नति समवेक्ष्यत । प्रायुत येदानीमिवमवलोक्यतेऽवन्ते परा काष्ठा तेय वर्षविभागशैथिल्यनूलिकेवेति शक्यतेऽनिधातुम् । यत एव प्रभृति तत्तद्गणोचितेषु कार्येष्वीदासीन्यभालम्बित भारतोपेक्षत एव मुग्धमिनेनिबद्धाः पारम्पर्यशृङ्खल्येति क एतन्निवेदेषु शक्तु यादिनिहासतत्त्वान्वेषक । वांछनीदासीन्ये तु हेतुर्बोद्धादिविविधमतमचार इति विज्ञानस्येव विद्या ।

इदं तावदाधुनिकानां केषाचनमहानुभावानां परम्पराराम्य यदिने तत् स्वामित्वधर्मप्रचारमनि-भ्यन्तस्तदभ्यवृत्तानेव साप्रतिकीमवन्नति भारतस्योद्-धोषयन्तीति । अत एव केचन विधननां पुनश्चाह काम्यमानास्तदमात्रादेव भारतमवनमन्ति । परे तु प्रतिमा एव प्रतिदिष्टस्तदचोया एव शिरसि सर्व

वर्णविभागेऽस्मिन्मूलभूततया बहुधाः प्रागेव समुद्द्युष्टमिति तद्विहाय प्रकृति-
विरुद्धयादृक्कनिवन्माभ्युपगमे किं निदानमिति चिन्त्वमिदम् । यत्तु वदन्ति-
अनेकशोऽनुभूतव्यभिचारोऽयं नियमः, बहुनामेव ब्राह्मणादिकुलजातानां ब्राह्मणादि-
योग्यनानुपपत्तेः, इहानुच्चारवर्णानामप्युच्चतरयोग्यनोपपत्तेः । अत एव ॥ परित्या-
ज्योऽयं धर्मसिद्धो जातिविभागः, अयं गाना तत्तत्कर्मसु प्रवेशनेन योग्यानां च
प्रवेशप्रतिबन्धेन तत्तत्कर्मनोक्ते प्रत्याद्याया अपि दूरापेक्षत्वात् । किञ्च सत्कुलजनन-
मात्रेण कृतार्थमन्यास्तान्मात्रेण चाभ्यर्हामिवाप्यल्प-शब्दा उच्चार्णो न द्योचितेषु
कार्येषु कथमप्यवदधतीति सेयमपि दुरवस्था धर्मकृताजातिविभागादेव । कर्मकृते
विभागे कर्मणामवस्थाविषयेतैव भवेदादरकामुक्तानामिति नायं दोषः प्रसरेत् । न
च योनिमात्रगतिता उत्तममन्या वर्णा अवर्णेषु वाङ्मात्रेणाप्यादरं दर्शयितु-
मुरीकुर्वन्तीति च वराही पारस्परिकप्रेमकथा । परस्परप्रेमवञ्चिताभ्यामवतमनै-
क्यमत्रलभ्यमाना भवन्तरेव भवन्ति भोज्या इति समुत्तराणमेवायमर्थः धर्मसिद्धो
जातिविभाग इति ।

अत्रेव प्रतिबुद्धव्यम् । अवश्यं कर्तमानेऽस्मिन् समये दुर्दैववशात्प्रभूता
इमे दोषाः, समुत्तरणीयाश्चेतऽवश्यमुन्नतिकामुक्तेरिति सर्वेऽप्यभ्युपगच्छन्ति विचार-
दृष्टाः । केवलम् तु दोषमार्गं समुत्तरार्थं रक्ष्यं रक्षणीयमिति मतिमता पन्थाः ।
न तु दोषा समूता इति ध्वस्तयेव समुत्तरणीया । अव्यवस्थाया हि
दोषाः प्रसरन्तीति दोषानपनेतुकामैर्व्यनस्या रुढं नियम्या, न तु कथञ्चनाव-
शिष्टापि सा समूहमुन्मूल्येति केनापि प्रेक्षावतानुमन्येन । समाजवत्कारस्तावदेदानीं
नव्यानामिव प्राक्तनपरिपाटीप्रगयिनामप्यभीष्टित एव । उभाभ्यामपि च संस्काराय
यतोऽप्यवश्यमेकास्त्रेयः । न ह्यन्तरेण यत्न केनारि प्रकारेण यत्किञ्चिद्विधोऽपि
संस्कारः नैतस्यतीति । तथा च तेनानेन यत्नेन पूर्वसिद्धैव सुव्यवस्था नियम्यताम्,
न त्वद्यापि स्थितायास्तस्याः प्रथमं समुत्तराणे तदुत्तरं चाभिनवायाः प्रवर्तने द्विगुणो
यत्नभरः शिरस्यारोप्यतामिति मतिमता दर्शनम् । पूर्वसिद्धसुव्यवस्थाप्रचारे च
मुनियने स्वधर्मावलम्बनेऽवश्यमेव तत्तत्कुलेषु तत्तद्योग्यताभाज एव सुताः समुत्तरे-
रन् । उपपत्तिरिदस्य प्राकृतिकस्य नियमस्य व्यभिचारस्तावदवश्यं दोषादिभ्रम
एव वक्तव्यः । न सन्ति ब्राह्मणादिषु मुत्ताः स्वस्वोचितशक्तिसंस्कारा इत्येव ते
सुतादिषु नासादयन्ति विकासम् । अस्यामपि तु दुरवस्थाया बहुधाः कुलसंस्कारा
अनुवर्तमाना एवानुमूयन्ते इति सुस्पष्टमनुभवदशागाम्-प्रतिपादितं च प्राग-
पीदम् । कर्मणा च तत्तद्गोचितानामवस्थानुष्ठेयत्वमस्मच्छाश्वेय सुदृढं
नियमितमिति यथार्थधर्मप्रचारे कार्यं कर्मात्स्यदोषोऽनुविन्देत्यदमपि । आस्ता
च कर्मात्स्यानां समाजकृतः परिभव इति तदपि शास्त्रानुकूलमेव । न च
यथार्थभूताया व्यवस्थितौ वर्णानां पारस्परिकविद्वेषकथापि कथंचित्यचलेत् । यत्

ययमीश्वरेणोत्पादितास्तदेव कर्मास्माभिरवलम्ब्यमिति ययार्थविश्वरूपानामवर वर्श-
नामीर्ष्यानुदयात्, प्रश्रुताव्यवस्थायामेव प्रसरति विद्वेषकारणी भूता सेयमीर्ष्या ।
उत्तमवर्णरूपवर्णेषु दशनीय सौहार्दमेव तदधीनपहुतरकार्यमादौ । न हि भोजना-
लैक्य एव सम्भवति सौहार्दम्, न चावरवर्णेषु प्रकम्पीया घृणेति कोऽपि वर्णविभा-
गोपयुक्त शास्त्रविदो नियम । आलम्ब्यता ययार्थधर्मपरायणै सर्वैरपोद भूति-
वाक्यम् ।

ययेमां वाच कल्याणीमावदानि जनेभ्य ।

ब्रह्मराज-याम्या शूद्राय चार्याय च स्वाय चारणाय ।

सर्वेभ्य एव कल्याणी याहु निगद्येत्याशापयति भगवानृषि । तस्मादुप-
पत्त्यापि नास्ति कोऽपि विरोधोऽहिमेन वर्णविभाग इति शिवम् ।

तदित्यमुपपत्त्यापि धातुवर्ण्यस्य युक्तता ।

प्रदर्शितैव दिङ्मात्रमल सुविदुषा कृते ॥ १ ॥

वस्तुतो धर्मतत्त्वानामुपपत्त्या विद्वन्मनम् ।

न शास्त्रापेतया याव्य मतिमात्रमुत्पत्त्या ॥ २ ॥

सुविचार्य ततो धीरै भुतिस्मृत्यनुमोदित ।

सम्यगालम्ब्यतामस्या भगवान् व प्रसीदतु ॥ ३ ॥

प्रमीतपतिकाधर्मालोचनम्

इह लघु लोकान्तरगतपत्रिकाया न्रिया ओ धर्म इति जिज्ञासाया—
‘मृने मनैरि ब्रह्मचर्यमन्वारोदण वा’

इत्यादि वचनजातमनुस्त्वाना सनातनार्यधर्मानुयायिनो विद्राष्टस्तावद् ब्रह्म
चर्यानुस्त्वेव ता स्नान् धर्मानुपकल्पयन्ति, तत्र तु विप्रतिपद्यमाना केचिदिदा
नीन्तना विचक्षणा पुनरप्युद्वाह तासामनुमन्वते । आयतते च विषयेऽस्मिन्नव-
स्थिति समादृत्येति बहुभिरथ विद्वत्प्रकाण्डैर्बहुधा विचारितो विचार्यमाणश्चापि
नियम एव पुनरपि विचारनक्रमारोपणीय एव । तत्र तावत्केचन धूर्तप्रकल्पितेयमिति
समस्तस्य धात्वात्मयोदा समाजान्तरनिदर्शनैस्तर्कावष्टम्भैश्च बहुविधैः पुनरुद्वाह
विषयानां प्रमाणयितुमुद्युज्यते, तदभाजमेव च समाजविलम्बहेतुपुररीकुर्वते स्वतन्त्र
प्रण । अपरे तु धर्मशास्त्राणि कथंचिद्व्याप्यमानवन्तोऽपि तत् एव समर्थं साधयितुं
समर्थाः । तत्राद्यानां मग तर्कावष्टम्भैरेव परतो विचार्यम्, धर्मशास्त्राणि ॥
विषयेऽस्मिन्ननुकूलानि प्रतिकूलानि चेति तावद्विविच्यते । तत्रानुकूल्यवादिनां
विषय विमर्श्यते समुदाय । तथाहि कचित्तावदविशेषात्सर्वोक्तमपि विषयानां
पुनरुद्वाहो धर्म एवत्यातिष्ठन्ते । अप्राप्तपुरुषसंगानामज्ञतानामेव तु पुनरुद्वाहो
धर्म्य इत्यपरे प्रतिजानते । अन्ये तु पुनरुद्वाह प्रतिषेधन्तोऽपि नियोगेन सन्तःपु
र्यादन सर्वदा धर्म इति ब्रुवते, तदेतन्मतं तत्र क्रमेणैवेहालोच्यम् । ये चैषाम-
वान्तरा बहुधा भेदास्तेऽपि तद्विवेचन एव स्फुरीमस्तिष्यन्ति ।

तत्र सर्वविधानामपि विषयानां पुनरुद्वाहमप्युपगच्छन्त आयास्तावदाहु
प्रमीतदर्शनानां पुरुषाणामिव प्रमीतमर्तृकाणां योषितामपि पुनरुद्वाहस्तुल्यन्यायेन
समुचित एव, उभयोरपि त्रिवर्गं (धर्मोर्थकाम) ससाधने परस्परापेक्षत्वात् । ये
तु केचिदाधुनिका पुरुषाणां पुनरुद्वाहमनुबानन्तोऽपि योषिता त मतिवेधितुं
समर्थाः त इमे स्फुटं पञ्चातमहमहिता न्यायमुत्सृज्य तास्त्वपाचरन्तीति क.
प्रेक्षावान्तरानुमन्नेन । न हि भ्रुतय स्मृतय इतिहासा वा पुनरुद्वाह स्त्रीणां सर्वथा
प्रतिषेधन्ति, अपि ॥ तत्र तत्रानुमन्यन् एव । तथा हि भ्रुतिस्तावत्—

उदीर्घं नार्यमिजीव्लोकमितामुनेतनुपरोष एहि ।

हस्त्रामस्य दिशिषोस्त्वमतत्पत्सुबं नत्त्वममिचवमूय ॥

(श्रु० स० म० १०. २. १८. ८)

मृत्स्य एतु स्त्रीर उग्रविद्याया एन्या देवरादिमिहत्यापने विनिमुक्त एव
मन्त्र । तयोक्त एव—‘तानुत्पापयेदेव , पतिस्थानीयोऽन्तेवासी, जरदासी वोदीर्घं

नार्यभिजीवलोकमिति' (आ० शृ० सू०) अस्यार्थस्तु 'हे नारि इतामुम् (मृतम्)
एत (पतिमुद्दिश्य किं) शेषे (स्वपिपि) उदीर्ष्य (उत्तिष्ठ) जीवलोकम
भिलक्ष्य उपैहि (पुनरस्मिन् जीवलोके प्रवृत्ता भवेति यावत्) । (इदानीं)
त्वं हस्तग्राभस्य (पुनस्ते हस्तं ग्रहीष्यत, तवोद्गाहं करिष्यत इति यावत्)
दिधिषो (गर्भनिघाट) पत्यु (भविष्यतस्ते स्वामिन) एतद् जनित्वम्
(आयास्वम्) अभिसवमूय (प्राप्ताऽसि) ।

मृतमिमं पतिमुत्सृज्योत्तिष्ठ, यं कश्चित्त्वाममिच्छति तस्य पत्युःतरस्य सवधं
चाप्नुहीति स्फुटं एवास्यायमाशयः । तथा चान् पुनर्द्वाहं भृतौ स्पष्टं विहितं
एव । अन्यच्च —

कुहस्विहोपा कुहवस्तोरश्विना कुहामिष्विष्व करत कुलोषतु ॥

को वा शयुना विधवेव देवर मर्यं न योषा कुणुते सधस्थ भा ॥

(श्रु० १० ४० २)

मन्त्रोऽथ यद्यपि देवताविशेषावश्विनौ विषयीकृत्य प्रवृत्तः, अथापि दृष्टान्त
विधयाऽत्र द्वितीय उद्गाहो विधवानां सूच्यत एव । तथा च मन्त्रस्यास्वायमर्थः—
'हे अश्विनौ युवां रानौ क्व भवथ, दिवा च क्व भवथ, क्व वामिप्राप्तिं कुर्वथ,
क्व वसथ । को यजमानः सहस्थाने (यथा) युवा आहूयते—परिचरणार्थमात्मा
मिमुखीकरोति । तत्रैव दृष्टातद्वयमेतत्—यथा विधवा शयने देवरमभिमुखीकरोति,
यथा वा सर्वाऽपि योषा मनुष्यमभिमुखीकरोति तद्वत्' इति । तथा च स्पष्टं
मरिचनपि मन्त्रे विधवाया पुरुषान्तरानुवृत्तिरुक्ता । न चात्र देवरस्यैवानुवृत्तिः
कर्णनान्नियोगपरत्वं मर्यं धटेत, न तु विवाहपरत्वं—विवाहस्य येन केनापि
पुरुषेण सह आयमानतया तत्र देवरानुवृत्तिनियमामावादिति श्रमिताभ्यम् ।
देवरशब्दस्यात्र यौगिकत्वेन द्वितीयवरसामान्यबोधकत्वात् । तदाहेतुमन्त्र एव
निरुक्तकारो भगवान् यास्क 'देवर कस्माद्, द्वितीयो वर उच्यते' इति ।
तस्माद्देवरशब्दस्यात्र द्वितीय पुरुष एवार्थः, तथा चास्य मन्त्रस्यापि विधवोद्गाह
बोधकत्वं निर्विवादम् । तथैव किल विवाहकालिनेन्द्रप्रार्थनयाऽपि बहुपतिरथ स्त्रीणां
सूचितम्—

'इमा त्वमिन्द्र मीद्व सुपुत्रा सुभगा वृशु ।

दशस्या पुत्रानाषेहि पतिमेकादश वृधि' ॥

(श्रु० १० ८५ १५)

अत्र हेकादशपर्यन्तं योषितं पतयो भवतीति सूच्यते । न चात्र दशमि
पुत्रैरेव पत्युरेकादशसंख्यापूर्णं न्याय्यम्—उपरिपतत्वात् तयानैक एव पतिरिति
पठ्यतीति वाच्यम् । विजातीयैः पुत्रैः पत्युरेकादशत्वसामञ्जस्यविरहात् । वजातीयैरेव

क्लिप्त सजातीयसख्यापूरणमुन्ति न तु विजातीयेन । न ह्येको ब्राह्मण एकश्च
प्रस्तर इति स्योऽय द्विरन केनचित्प्रकल्प्यते । पुत्राणां चाधिकानामसौष्टवसम्भावात्
तत्रैकादशनियमाध्दनात् । तस्मात्पतिगतैरयमेकादश सख्याः, ततश्च सिद्धयत्येव
पुन पुन स्त्रीणामुद्वाह इति निर्विवादमेतत् । अन्यच्च—

या पूर्वं पतिं हिन्नायान्य विन्दते परम् ।
पञ्चौदन च तावज्ज ददातो न वियोज्यते ।
समानलोको भवति पुनर्मुना पर पति ।
यो ३ ज पञ्चौदन दक्षिणा व्योतिष ददाति ।

(अथर्व० २ अनु० २ सू०)

इह पूर्वं पतिं परित्यज्यान्यमाश्रितवर्ती पुनर्मूषदपरिभाषिता प्रति बलिप्रदाना
दिष्व विधीयते उच्यते चोत्तरस्मिन् पुनर्मुनां सालोक्यमपि तत्पते । तेन च सुस्पष्ट
प्रसिद्धयत्येव भुतिकालेऽपि विधवानां पुनरुद्वाह इति विवेच्यता विद्वद्भिस्तुल्य
पक्षपातम् ।

किं च 'तस्मादेकस्य बहुभ्यो जाया भवन्ति, नैकस्यै बहव सह पतय' इतीयं
ब्राह्मणभूतिरपि सह शब्दोपादानाद् युगपदनेकपतिवत् नारीणां प्रतिवेद्यन्ती पर्याये
गानेकपतिकेवमनुजानातीव, सर्वदापि पत्यन्तरनिषेध इत्यमाणे सहस्रादवैयर्थ्यं-
प्रसङ्गात् । तस्मादितोऽपि पतिविरहितानां स्त्रीणां पुनरुद्वाह प्रसिद्धो भवति ।
मन्त्रे च स्वयं पत्युदेव तस्यासामर्थ्यादिदद्याया पत्नीं प्रति परत्यन्तरकरणानुशासन
भूयते 'अन्यमिच्छस्व सुभगे पतिं मत्' इति । ततश्च भुतिसिद्धोऽयं विधवानां पुनरु-
द्वाह सर्वथा धर्म्य इति स्पष्टमतत् सिद्धम् इह च 'विषवाविषालुका भवति' इति
निरुक्त्याख्यानानुरोधेन पालनादिकर्तृविरहितैव विषवाभिप्रेयते, तेन च सप्तपि
स्या पति प्रनञ्जेन देशान्तरविरप्रवासन बलैरन्यपातिस्पादिना वा न पालनादिषु
क्षमं स्यात् सापीह विधयेव विवाहन्तराधिकारिणीति विज्ञेयम् । तदेतत्सर्वस्पष्टमेव
निवृत्त स्मृतिषु, तथा च 'कौ पाराशरी स्मृति' रिति न्यायेन विशेषतः कलियुगो
चित्तानेव धर्मान् विवृण्वन् भगवान् पाराशरस्यावदाह—

नष्टे मृते प्रव्रित्ते क्नीवे च पतिते पतौ ।

पञ्चस्त्रापलु नारीणां पतिरन्यो विधीयते ॥ इति ।

अत्र नष्टभिरादपरिहात वृत्तान्तं प्रोषितं । तद्विषये च प्रतीक्ष्यकालावधिमपि
नारद स्पष्टमुपशदयति—

अश्वात्तदोषेगोदाया निर्दोषा नान्यमाश्रिता ।

वन्धुमि साभिवोक्त्या निर्वन्धु स्वयमाश्रयेत् ॥

नष्टे मृते प्रमृजिते क्लीव च पतिते पतौ ।
 पञ्चस्वापस्तु नारीणा पतिरन्यो विधीयते ॥
 अथैव दर्शयुदीक्षेत ब्राह्मणो प्रोषितं पतिम् ।
 अप्रसूता ॥ चत्वारि परतोऽय समाभवेत् ॥
 क्षत्रिया षट् समास्तिष्ठेदप्रसूता समाश्रयम् ।
 वैश्या प्रसूता चत्वारि द्वे वद्वे त्विनरा वसेत् ॥
 न शूद्राया स्मृत कालो न च धर्मव्यतिक्रम ।
 विरिषतो प्रसूताया क्रिया सद्वत्तत् स्थिति ॥
 अप्रवृत्तौ स्मृत काल एव प्रोषितयोयिताम् ।
 जीवति भयमागे तु स्यादेव द्विगुणो विधिः ॥
 प्रप्राप्तवृत्तौ नारीणा वृत्तिरप्यत्र प्रजापते ।
 अतोऽन्यथमते क्लीगमेव दोषो न विद्यते । (नारदस्मृतिः)

अप्रवृत्तौ-प्रोषितस्य वार्तायामभयमाणायामेयोऽण्डवर्षादिक कालो नियमितः, जीवतो वार्ताया भयमाणायान्तु तद् द्विगुण काल स्यात् । तदुत्तरं तु सर्वेषामन्यस्य पत्युरभयण न दोषावहम्, मृत प्रमृजित क्लीव पतित पत्नीना च पापन्तराभयण धर्म एवेति स्पष्टमनयाऽपि स्मृत्या ख्यातितम् । नारदस्मृतिभ्येय मनुस्मृत्यानेकार्थानां विवरणमिति तदुपक्रम एव स्पष्टमभिहितम्, ततश्च भगवतो मनोरथ्यनुकूल एताव मयं । इह प्रतिपादिता चैव प्रोषितस्य कालप्रतीक्षा सचेपेण भगवता मनुना निदर्शिता—

प्रोषितो धर्मकार्यार्थं प्रतीक्ष्योऽथैव नर सन् ।

विद्यार्थं यद् यद्योऽर्थं वा कामार्थं जीवतु वत्तरान् ॥

इति । तदुत्तरं चान्य पतिराभयणीय इत्यर्थानुगुणान् नारदस्मृतिसंवादाच्च प्रसिद्ध्यत्येव । ततश्चैव देशानुमत्या पञ्चस्वप्वापस्तु पुनरुद्वाहोऽय भगवतो मनो स्पष्टमभिमतं सिद्धं । कात्यायनस्तु भगवानन्यथाप्यकारणेषु पुनरुद्वाहमाह । तथा च तदीय वचनम्—

स तु यद्यन्यथातीय पतित क्लीव एव वा ।

विक्रमंरथ सगोत्रो वा दासो दीर्घायोऽपि वा ।

रुदापि देया सान्यस्मै संप्रावरणमूढता ।

इह चान्येनोदाप्यन्यस्मै देदेति वचनस्वरस्यातिशब्देरेव पुनरपि दातव्यं विद्म भवति, तेन च विवाहात्पूर्वमेव क्लीवादीनां प्रतिपद्यीतायामपि भार्याणां स्वरव नैकोत्पद्यते । विवाहादुत्तरान्तु क्लीवपतितमृतादीनां पूर्वप्रवृत्तजननि स्वर, विनश्यति । ततश्च पूर्वस्य स्वामिनः शिवादेरेव तत्र स्वत्वमिति तस्यैव वामदानेऽधिकार इति

विज्ञायते । एतेन पितु स्वरस्य पूर्वप्रदानेनैव विनाशात्पत्युच्चासत्त्वाद्विधवाया प्रदाने कस्याप्यधिकारो न सिद्ध्यतीत्याद्यनगलं प्रबलपन्तो निरस्ता वेदितव्या । स्मृत्यानु-
कृत्यात्पितुरेव प्रदानाधिकारसिद्धे । 'परतोऽन्य समाभयेत्' इत्यादि नारदस्मृत्य-
क्षरानुगुण्यात् पत्यन्तरकरणे स्त्रिया एव स्वातन्त्र्यमिति सिद्ध्यति । तदेवैतदाह
देवलोऽपि—

नष्ट प्रवर्जित क्लीब पतितो राक्षसिन्विषी ।
लोकान्तरगतो वापि परित्यज्य स्त्रिया पति ॥
मृते भर्तारि जीवे वा स्त्री निन्देतापर पतिम् ।
सन्तरयनाधार्यतया न स्वातन्त्र्येण योषित ॥

(शूद्रकमण्डरे)

अत्राप्यपरपतिवदने स्त्रिया एव कर्तृत्वोक्त्या तत्स्वातन्त्र्यं ध्वन्यत इव । ततश्च
बालायाः पितरैव पुनः प्रदानं प्रौढायास्तु स्वातन्त्र्येणैव पुनः पत्यन्तरमित्यादि
व्यवस्थानुदन्वेयाः । न च स्त्रीणां विवाहे संस्था स्वातन्त्र्यं नास्त्येति भ्रमितव्यम्—

'गम्य त्वमाद्य दातॄणां कन्या कुर्यात् स्वयं वरम् ।' (याज्ञवल्क्य)

'श्रुतुनयमुपास्यैव कन्या कुर्यात्स्वयं वरम् ।' (विष्णु)

इत्यादिभिः स्मृतिवचनैः प्राप्तवयरक्तानां स्त्रीणां स्वात्मप्रदाने स्वातन्त्र्यस्यापि
बोधनात् । सर्वथापि तु पुनरुद्धाह पतिविरहितानां स्त्रीणां स्मृतिसिद्ध इति स्पष्टं
मेतत् प्रतिपादितम् ।

एवमितिहासपुराणादिभिरप्यर्थ एव शक्यते साधयितुम् । तथा हि महाभारते
नलोपाख्याने तावन्नष्टपतिकायाः पतिव्रताशिरोमणेरपि दमयन्त्या पुनः स्वयंवरार्थं
पत्रिकाप्रेषणम्, तद्वगव्यं राज्यं श्रुतुपर्णस्य तद्विवाहार्थमागमनं, तेनैव सहायातस्य
पूर्णपतेर्नलस्य दमयन्त्या समागमश्चेत्यादि सर्वं सुस्पष्टमभिहितम् । तेन च तस्मिन्
अपि काले स्त्रीणां पुनरुद्धाहं आसीत् प्रचलितं इति स्फुटं शक्यमनुमातुम् । कथं-
मन्यया दमयन्ती पत्रं तादृशं प्रेषयेत्, कथं वा स राजविरभूतपूर्वां तादृशीं कथां
भ्रूय्यात् । न च दमयन्त्या नलान्वयणाच्चैः स प्रयत्न आरब्धस्तथा च नातस्तया
प्रचारं प्रसिद्ध्यतीति वाच्यम् ।

आस्तां दमयन्त्याः कथमपि स प्रयत्नः, श्रुतुपर्णस्तु राजर्षिं प्रातः स्मरणीयः
कथं तादृशो धर्मोदपेतेऽर्थं बुद्धिपूर्वकं प्रवर्तत । तस्मादवश्यं विधवानां पुनरुद्धाह-
हस्तदात्वं धर्मवेनैव शक्यते स्मेति निर्दिष्टादमस्मादाख्यानात् प्रसिद्ध्यति । अत्यन्तं
धर्मपरायणस्य पाण्डवस्यार्जुनस्य परपूर्वाया नागकन्याया उलूपा स्वीकरणं
कथाभ्येतद्वोध्यस्येव—तदुक्तम्—

अर्जुनस्यात्मजं भीमानिरावाक्याम वीर्यवान् ।

मुताया नागराक्षस्य जातं पार्थेन धीमता ॥

पेरावतेन सा दत्ता ह्यनपत्या महात्मना ।
पत्यौ हते तुपमैर्न हृन्ना दीनचेतना ॥
नार्यार्ये तां च ह्यग्राह पार्यं कामव्यानुगं ।

एवमेष समुत्पन्न परस्त्रेष्टुर्जुनात्मज । इति (म० भा० मीमं०)

किंच स्त्रीणां पुनर्भूतप्रख्यापकस्मृतीनां द्वादशविधपुत्रप्रतिपादकस्मृतीनामपि
च पर्यालोचनेन पुनर्दिवाहस्य पुराग्रन्तरितरव शक्यमनुमातुम्—

अक्षता च क्षता चैव पुनर्भूँ कष्टृता पुनः ।
इति ह्याह भगवान् याज्ञवल्क्य । वृत्तिष्ठोऽपि च—

‘या च क्लीबं पतिततुल्यं वा भर्तारमुत्सृज्यान्व पतिं किन्दते मृते वा—
पुनर्भूँवति’ इति ।

तथा चाक्षीदेव पुरा योषिता पुनः संस्कार इति क एतत् प्रविष्टेऽपि शक्यनुयात् ।
ननु मो भस्ति पुनर्भूँप्रतिपादन शास्त्रेषु, निन्दापि तु तासां तत्र तत्र स्मर्यते
एवेति नैतेन पुनर्दिवाहस्य घर्मस्य प्रविद्धं मन्योति केनैव बोधः । कथंचिन्निन्दा
भन्योऽपि स्त्रैरिणीम्यस्तासां वैलक्षण्यप्रतिपादनस्य तत्र तत्र जागृकत्वात् । त्रैविध्यं
हि पुनर्भूँणां चातुर्विध्यं च स्त्रैरिणीनामन्वाह भगवाच्चारद—

परपूर्वां क्षियस्तन्न्या सप्त प्राक्ता यथाक्रमम् ।
पुनर्भूँक्षिविधा तासां स्त्रैरिणी तु चतुर्विधा ॥
कर्म्यैश्चाक्षतयोनिर्था पाणिग्रहणदूषिता ।
पुनर्भूँ प्रथमा नाम पुनः संस्कारकर्मणा ॥
देवघर्मनिषेधेन स्त्री शुद्धिर्था प्रदीयते ।
उत्पन्नसाहसान्धस्मै सा द्वितीया प्रकीर्तिता ॥
असलु देवेषु स्त्री बान्धवैर्या प्रदीयते ।
सर्वर्णाय रुपिण्डाय सा तृतीया प्रकीर्तिता ॥
श्रीं प्रसूताऽप्रसूता वा पत्यादव तु जीवात ।
कामात्ममाश्रयेदन्य प्रथमा स्त्रैरिणी तु सा ॥
जीमारे पतिमुत्सृज्य वा तन्न्य पुरुषं क्षिता ।
पुनः पत्युर्ग्रहं वायात्सा द्वितीया प्रकीर्तिता ॥
मृते भर्तारि तु प्राप्तान् देवादीनपात्य या ।
उपगच्छेत्सर कामात् सा तृतीया प्रकीर्तिता ॥
प्राप्ता देवादनकीता क्षुत्पिपासाटया च या ।
तवाहमित्युपगता सा चतुर्थी प्रकीर्तिता ॥ इति ।

इह हि तावदुत्तराणिपादितचतुर्विधस्वैरिणीभ्यः पूर्वप्रतिपादितानां विविधानां पुनर्भूणां वेत्क्ष्यन् स्फुटमेवानुमूयते । तच्चेद वेत्क्ष्यन् सस्कारनिबन्धनमेव वक्ष्यम्, सरूता पुनर्भू, असस्मान्स्तु स्वैरिण्य इति । सस्कारस्वयं शास्त्रैकमूलं कथं नाम शास्त्रादत्यन्तं विरुद्धे कर्मणि प्रवर्तते । तस्मान्नास्त्येव पुनरुद्वाहरैकान्तेन शास्त्रविद्वत्त्वम् अनुकल्पमात्रं विदं स्यात् । ब्रह्मचर्येणावस्थानं हि विधवानां प्रशस्यतमम् तदभावे तु विवाहोऽपि शक्य एव विधातुमिति । मुख्यकल्पातिक्रमणमूलिकैव चात्र कथंचित्संशयमानतो निन्दारमयं इति सर्वं समञ्जसम् । तस्मात्पुनरुद्वाहोऽयं नात्यन्तं शास्त्रविद्वद् कर्म, अपि अनुकल्पमात्रमित्यतोऽपीदं सिद्धमेव । अत एव द्वादशविधेषु पुत्रेषु पौनर्भवोऽपि परिगण्यत एव तत्र तत्र ।

या पाषा या परित्यक्ता विधवा या रन्देऽपि ।

उत्सादयेत्पुनर्भूत्वा स पौनर्भव उच्यते ॥ इति ॥ (मनु)

अधनाया क्षताया वा जात पौनर्भवः सुतः ।

(याज्ञवल्क्य)

अस्यापि च पौनर्भवस्य व्यभिचारमात्राया कुण्डगोलकाभ्यां भेदं सुस्पष्टमेव स्मृतिहताममिमं, कुण्डगोलकयोर्दीर्घभागानर्हत्वात् अस्य च दायमागेऽधिकारस्य स्फुटं तत्र तत्र प्रतिपादनात् । ततोऽपि हि नास्त्येतत् पौनर्भवमुतोत्पादनमप्यन्तं शास्त्रविद्वद्, अनुकल्पमात्रं स्वेतदित्यपरोक्षमेतत् । सर्वथाऽपि चैवविधायि स्मृतिभिरितिहासिनृदृष्ट्या पुरा प्रचरितस्य विधवोद्वाहस्य नैव शक्यं प्रतिषेद्धुम्, तथा सत्येवविधवर्णनस्यैव तत्रापञ्चमयोग्यताभावप्रसङ्गात् । स्मृतिहतामपि च काले यदाशीत्यन्तरितं पुनरुद्वाहस्तदा कृतमिदानीन्तनानां तत्तिरोधायसेनेति विचार्यतामनागेतत् ।

अथ चेत्त्रिद्विदुच्छृङ्खला द्वाधमैतिहासिकरीत्या पुराणादिषु प्रचारयामस्तदा नैव विधेयं धर्मविरोधस्योपलक्ष्योऽप्यवतिष्ठते नाम । तथाहि—असौ तावन्महाभारत आदिपर्वणि (१०४ अ०) मइषेदीर्घतमस एकाभ्या, सेय सुस्पष्टमवरोधयति तत्र पूर्वं स्त्रीणां यथेच्छकामचारापरपर्यायमनावृत्तत्वं । दीर्घतमसैव तु मइषिणा स्त्रीयभाषाकृतकादतिक्रमाद् दुहितेनैकपतिमर्यादेयं प्रवर्तितेत्युक्तं तत्रैव—

‘अद्यप्रभृति मर्यादा मया लोकं प्रतिष्ठिता ।

एक एव पतिर्नार्या याञ्जीव परायणम् ॥

मृते जीवात वा तस्मिन्नापरं प्राप्नुवाचरन् ।

अभिगम्य परं नागे पतिष्यति न सशयः ॥ इति ।

इत्थं चैकानातेन पुरुषेण कृतेयमेकपातकत्वं यस्यैव तावत्कथं नाम धर्मो भवितुमर्हति, अपौरुषेयप्रतिवाक्यविहितमेव क्लियार्थं धर्मं इत्युपगच्छन्त्यार्था, अतः

एव चानादिस्वमार्यधर्माणां । पुरुषेण तु कनचिद्व्यवहितोऽर्थो यदि धर्मत्वेनानि
गम्येत तत्तर्हीदानीन्तनैर्बहुभिराप्यै प्रत्यर्थात्मानोऽयं विधवोद्वाहोऽपि कुतो न दृश्यते
धर्मत्वेनेति विचार्यता यावद्दूरमुकुञ्चितनेत्रम् । तस्मात्सम्यक्तामनुदध्यैव बहुपतिकृत्वा
नारीणां समाप्ते प्रतिषिद्धं न । धर्मेण सह कोऽप्यस्य सम्बन्ध इति सिद्धनेत्रम् ।
प्रमीतरतिष्ठानान्तु योषिता पुनरुद्वाहोऽयं न तदात्वेऽपि प्रतिषेद्धं पारित सामा
विधैरपि कलियुगारम्भपर्यन्तमयं निश्चल्युह प्रचरति स्तेनो बोधयन्ति पुराणेषु
दृश्यमानानि कल्पित्यवचनानि—

उदाया पुनरुद्वाहं पदेष्टाश्च गोवधं तथा ।

कलौ पञ्च न कुर्वीत भ्रातृजाया कर्मण्डलुम् ॥

इति हेमाद्रिष्ठनाया चतुर्वर्गचिन्तामयौ परिदृश्यमानं वचनमिदं सामान्येन
निर्बृत्तविवादानां स्तेना पुनरुद्वाहं प्रतिषेधयति पुरातनेषु मुनेषु प्रचरितं तस्य
सुहृदमनुमापयति ।

‘दत्ताश्रिताया कन्याया पुनर्वानं परस्य च’

इमान् धर्मान् कलियुगे वर्णानाहुस्त्विषादिकम् तु वचनजातमक्षताया अपि
पुनरुद्वाहं प्रतिषेधयति—एवमव—

‘देवराच्च सुतोरगतिर्मधुपर्कं पशोऽप’

इत्यादिवचनानि नियोगमपि कलौ प्रतिषेधयति । यदिदमत्र रहस्यं स्फुटं
मन्वासते यत्पुरातने काले धर्मत्वेन सामानिधैर्यक्षमाणा लोकोत्पयोगिनोऽ
पीमेऽर्था क्रमेण वैष्णवमवलम्ब्य कलियुगोत्पन्नेरल्पप्रथे स्वधर्मात्पराधर्मेर्जनैर्यत
कुतोऽपि कारणान् स्वार्थविधातमाद्यङ्कनानेवंलाङ्घ्योन्मत्प्रशान् प्रतार्य प्रतिबद्धा इति ।

इतिहासा अपि ननु निष्पक्षपातमालोच्यमाना द्रष्टव्येपुरिमात्मनमिति । अस्ति
हि महाभारतस्योद्योगपर्वणि गालस्यैकारवायिना, तत्र यथातिदुहितुर्मधिष्या
पतिचतुष्टयस्वीकारस्तेष्वधतुर्गा सुनानामुत्ततिस्तदुत्तरमपि च पित्रा स्वयवरावि
धिनोद्वाह्यमानायास्तस्या अनिच्छन्त्या अरण्यप्रस्थानमुपात्तातम् । यस्तु प्रहृता
यास्तस्या पुन पुन कन्यास्त्वामस्तथ प्रतिपादित, सोऽयमर्थं सर्वथा प्रहृति
विरुद्ध इति न अद्वेय प्रेक्षाकृतम् । केवञ्चतु पुरुषान्तरपरिग्रहस्तदानीं नापी
धर्मविरुद्धतया परिगण्यमान इत्येव तारकालिङ्गी स्थितिरात्मानेनानेनानुमेया ।
तथैव सत्यवतो-कुन्ती-द्रौपदीप्रमृतीनां प्रातःस्मरणीयानामपि सुप्रसिद्धानुपा
त्तयानानि पुरुषान्तरपरिग्रहस्यादूपगीयत्वमनुमापयितुमलम् । ननु च भो नैता
विधवा, यदेतासां निदर्शनेन पुनरुद्वाहं विधाना समर्थयितुमशक्यवितोऽपीति
चेन्न कथं निदर्शनेरेभिर्विधवोद्वाहं समर्थयामहे । पुरातने काले नापीत् स्त्रीणां
पुरुषान्तरपरिग्रहोऽत्यन्तमधममित्येव तु पूर्वानुमितमर्थं द्रढीकृतम् । तथा च समाजा

जुरोधेनैव कश्चिद्विद्वात् प्रवर्तितेय मन्वेदेकप्रवृत्त्यवस्थोक्ते सनातनजुरोधेनै-
वेदानीं परिवर्त्य ता प्रचाराणीय उद्वाहो विषयानानि युक्तं भवति । यथा तु
सनातन इदानीन्त्यावयवत्वं विषयानां पुनश्चाहस्य, तथैतद्युक्तिप्रवृत्त्यावसरे
निपुण प्रतिपादयिष्याम । तदित्य सर्वविधविषयानां पुनश्चाह समर्थयमानानां
मत्तुपदर्शितम् ।

अत्रैव केचिदेकदेशिनोऽनन्त्यानामेव विषयानां पुनश्चाहमभिप्रेयन्ति न
सर्वाणाम् । पूर्वोक्तशब्देष्वेव 'सन्त्यनाशार्थ' 'प्रज्ञाप्रवृत्तौ नारी' 'वृत्तिरेश
प्रज्ञापते' इत्यादिस्मृतादीरेक्यम् । चातान्ता हि त्रियोऽनन्त्यादिनां
शङ्क्यन्ति यापयितुमिति न तासां नान्तरक उद्वाह । नापि च चातान्त्या
नार्यस्तथाविधानमवाप्तानां भवन्ति । पुनश्चाहप्रकारे च तासां चातान्त्या
अपि त्रियोऽप्येव सहैव पुनश्चाहप्रकारेण भवेदुतिरिति पूर्वस्य पशु सन्त्युक्तेऽ
प्रवृत्त्यादिना शोधवाहुल्यमप्यनाशकमनन्तम् । एवमन्त्यानां दुस्वस्यापि बहुत्र
प्रवृत्तैव विरलमत्र चातान्त्यानां स्त्रीमुद्रोदरोऽपि भवन्तीति न तासां विवाहेऽ
त्यन्तं निर्बन्धनीयम् । इत्यादि तु तासां दृष्टदोषाप्रवृत्तौ कश्चिदन्तन्तानो वा
न वा पुनश्चाह, अनन्त्यानां तु सेऽप्यन्तर्य निर्बन्धात्यन्तनीय, तासां नुद्वाह
एव बहुविधानर्थमवाप्तात्, न अनन्त्यानां विषयानां नुदरनेपमनाश्रयति दुस्वम् ।
धार्मिकमन्त्यैरपि च विनृकर्मार्थं सन्त्यविष्टेदमुरीक्रियमात्रेणैव सेऽप्यन्त-
मन्त्य इति दिङ्मात्रनेतृत्वान्तरवादिनाम् । त एतेऽपि प्रथमस्यैव पक्षस्यैव
देशिनोऽनुवचात्तया ।

अथ द्वितीयस्य सन्देहस्य सर्वविधनिश्चयानां उद्वाहप्रचार उदासीनेऽप्यन्त
पुनश्चाहप्रवृत्त्यानां पाणिप्रवृत्त्यानां विषयानां पुनश्चाह निर्बन्धा
त्यन्तारयितुं बद्धपरिहर । एषा ह्येवमन्त्यादिनां प्रतिपत्तिः, विषयानां स्त्रीणां
धर्मत्रय तावदुपदिष्टं स्मृतिषु-पुनश्चाहो वा, ब्रह्मचर्यं वा, अन्नारोहणं वा ।
तदेतन्मतेन सम्पक् प्रवृत्त्यादि मन्त्या पराधरेण ।

नष्टे मृते प्रवृत्तिं कर्तव्यं च पठिते पौ ।

पञ्चस्वपशु नारी । पत्न्यो निधीरते ॥ ३० ॥

मृते मन्त्रे या नारी ब्रह्मचर्यवते स्थिता ।

वा मृता मन्त्रे स्त्री यथा ते ब्रजन्ति ॥ ३१ ॥

जित कथ्योऽर्धश्रेयी च यानि लोमानि मनवे ।

वान्मन्त्रा ब्रह्मचर्ये नारी यादुराहते ॥

एषु चैकत्रैव क्रमेणोपदिष्टेषु त्रिषु प्रकारेषूत्तरोत्तरस्त्योत्तमस्य स्वर्गादिफलविशेषा-
नुकीर्तनाद्भासत पराशरस्यानुमत प्रतीयते । तत्र सर्वोत्तमत्वेनानुमतऽस्यान्वारोहण
स्येदानीं राजप्रतिपिद्धतयासमवेऽपि सम्बति पूर्वोक्त प्रकारद्वितयम् । तत्र चेय
व्यवस्था या तावत्स्वर्गादिफलार्थिनी भर्तृव्यकाराधिनी लौकिककारणान्तरवशवदा वा
शक्नोत्यनुपालयितु ब्रह्मचर्यं सा सुखमनुगल्यतु । या तु न शक्ता तथा विधातु
सा सत्यावश्यकत्वं आपद्धर्ममनुबध्य विनास्यता नामान्येन पुरुषेण सट् तत्सबन्धिभि ।
इतरद्विधाधनर्यापेक्षया विवाहप्रसयैवोत्तमत्वात् । इदं तावद्विधवाविषये यावत्प्राप्त
पुरुषससर्गा केचन पाणिग्रहणरूपािता सा तावद्विधवापदवाक्यैव भवितु नार्हतीति
तस्यास्तु कुमार्यो इवावश्यकतमो विवाह । न हि विवाहमन्त्रप्रयोगमात्रेण
कन्याया कन्यात्व निवर्तते, अपि तु मन्त्रप्रयोगपूर्वकं पुरुषससर्गादेव । तदेतदुक्त
मात्रमेव तत्र नञ्ता भगवता व्याकरणमहाभाष्यकृता घनञ्जलिमुनिना 'कन्याशब्दोऽ
य पुतामिसम्बन्धपूर्वके सप्रयोगे निवर्तते' इति ।

कन्याया कनीन च (४। १। ११६) इति सूत्रभाष्यम् ।

अत्र हि पुरुषसप्रयोग एव कन्याशब्दनिवृत्तिर्दक्षिता, न तु मन्त्रप्रयोगमात्रेण ।
“शास्त्रोक्तो विवाहोऽमिसम्बन्धस्तत्पूर्वके पुरुषसयोगे कन्याशब्दो निवर्तते” इति च
स्पष्ट माप्य विवृण्वान कैयनोपाध्याय आह । ततश्च शाब्दिकाचार्याणामेषा मतेना
प्राप्तपुरुषसयोगा कन्यैवेति हि तद्विवाहे प्रतिबन्धक स्यात् । यौक्तिकोऽनुभवविद्व
भाष्यमेवार्थः, कुतो हि नाम पुरुषसयोगमन्तरैव कन्यात्वं विनश्यत् । मन्त्र
प्रयोगाद्या सर्वा अपि क्रिया प्रधानभूतसयोगनिवृत्त्यर्था इति प्रधानामाये कथ
ता फलत्वं स्यु । अत एवस्मृतयोऽप्येकमुखेनाक्षतानां पुनरुद्गाहमुद्घोषयन्ति ।
तथा हि—

सा चेदक्षत्योनि स्याद्वतप्रत्यागतापि वा ।

पौनभवेन भर्ता सा पुन सस्कारमर्हति । (मनु)

पाणिग्राहे मृते वारं केवल मन्त्रसंस्कृता ।

सा चेदक्षत्योनि स्यात्पुन सस्कारमर्हति ॥ बसिष्ठ ।

उद्गाहितापि सा कन्या न चेत्सप्राप्तमैथुना ।

पुन सस्कारमर्हति यथा कन्या तथैव सा ॥ नारद ।

याद सा बालविधवा बलात्पत्न्याया क्वचित् ।

तदा भूयस्तु सस्कार्या एहीता येन केनचित् (ब्रह्मपुराणे)

यद्यप्यप्राप्तपुरुषससर्गा न विधवा, तथापि लौकिकी रयातिमनुबध्यौपचारि
कोऽप्रप्रयोग । विदेश गतेऽपरिहृतवृत्तान्तेऽपि सत्यावस्था विवाह उक्त —

वरयित्वातु य कश्चित्प्रणश्येपुरुषो यदा ।

श्रुत्वागमास्त्रीनतीत्य कन्याय वरयेद्वरम् ।

॥ (कात्यायन पराशरश्च)

अत्र हि नष्टे मृत इत्यादाविव नाशशब्दाद्यो निदेशगमनेनापरिज्ञातवृत्तान्तता, मरणार्थकत्वे तावत्कारप्रतीक्षाया अनुपयोगात् । न चात्र वस्तिवेति भवणाद्वाग्दत्तापरमिदम् वाचा स्त्रीकारस्यैव वरणत्वादिति अमितव्यम् । तावन्मात्रे श्रुतयपर्यन्तमुपासनस्यानर्थरूपत्वात् । आवश्यको हि स्त्रीणामृतकालात्पूर्वमेव विवाह इति बहुचः स्मृतिहृता डिग्दिभः । ततश्च वक्ष्यं वाचाभ्युपगममात्रेण श्रुत-
अपर्यन्त विवाहः प्रतिषिद्धः स्यात् । कन्यास्नातन्वयमपि चेतो वचनात् 'कन्या वरयेदिति' कर्तृत्वनिर्देशेन प्रतीयमान विवाहात्पूर्वमनुपपन्नतरम् । तस्माद्वरयि स्वेत्यस्य विवाहोत्पत्तेरित्यर्थः । एवं न केवल मन्त्रा कन्यात्वनिवृत्तौ कारणमित्य-
त्रापि स्फुटीभवति—

वरश्चेत् कुलशीलाम्वा न युज्येत कथंचन ।
न मन्त्राः कारणं तत्र न च कन्यामृतं भवेत् ॥
समाश्रित्य तु ता कन्या बलादक्षतयोनिकाम् ।
पुनर्गुणवते दद्यादिति शातातपोऽप्रवीत् ॥

(शाततपः)

अत्र मन्त्रा विवाहमन्त्रा एव, पूर्वं वाग्दानादौ मन्त्रानुपयोगात् विवाह-
मन्त्रेभ्यः पूर्वं क्षतयोनिस्वसंभवाभावेनाश्रययोनिकामिति पदस्वारस्यमहापक्षेभ्यः ।
ततश्च यदा वरस्य वैगुण्येऽप्यक्षतयोनिकायाः 'कन्यायाः पुरुषान्तराय प्रदानं न
विरुद्धं स्मृतिहृता तदा कैत्र कथा प्रणाशादाविति विभायता भाङ्गकैः ।
पराशरेणाप्युक्तमेतदेव—

हीनस्य कुलशीलाम्वा हरन् कन्या न दोषभाक् ।
न मन्त्राः कारणं तत्र न च कन्यामृतं भवेत् ॥

(प० मा० आचार काण्डे)

तदित्थं पुरुषसंयोगविरहितस्य मन्त्रप्रयोगमात्रस्य नास्ति कन्यात्वनिवर्तक-
त्वमिति संसिद्धम् । अत एव मनुस्मृतिव्याख्यातुमूर्धन्य आसतमः कुल्लूकभट्ट-
महाशयोऽपि "वा क्षतयोनयो वैवाहिकमन्त्रैः संस्क्रियमाणा अपि यस्मादपगत-
धर्मविवाहादिशालिन्यो भवन्ति, नासौ धर्मो विवाह इत्यर्थः ।"

इत्यादिकं वदन् क्षतयोनिविवाहस्यैवाधर्मत्वं मनोरमिमतमुपदर्शयन्नक्षतयोनीना
पुनरुद्वाहमनुजानातीव । याज्ञवल्क्योऽपि च भगवान् 'अक्षता च क्षता चैव
पुनर्मुं संस्कृता पुनरिति' वाक्ये क्षतायाः पृथगक्षतां शास्त्रं निर्दिश्यन् तस्याः पुनः
संस्कारयोग्यतायां प्राधान्यमभिव्यञ्जयति । नारदोऽपि च विविधानु पुनर्मुं
प्रथममश्रयमेवोपबन्धं स्तथाधान्यमुखीकरोति । विष्णुश्च "अक्षता पुनः संस्कृता
पुनर्मुं" इत्यक्षतामेव पुनर्मुं वदन्वाह । पुनर्मुंश्च पुनः संस्कारादेव भवतीत्यस्याः

पुनः संस्कार सर्वेषां स्मृतिवृत्तामभिप्रेतः प्रतीयते । ननु च भो त्वन्मते तु
कन्यात्वमेवाधनायामवस्थितमिति पुनर्मूलं तस्याः कुतस्त्यम् ? पुनर्मूलस्वीकारे
स्वस्या अपि स्मृतिदृष्ट्या निन्दितत्वमेव जातमित्यन्यविधविधवाभ्यो निर्विशेषप्र-
सक्तिरिति चन्मैवम् । पूर्णमपि संस्कृता पुनरपि संस्त्रियत इति पुनः संस्कार
मात्रेण पुनर्भूषणप्रवृत्तेः । निन्दापि पुनर्भूगा स्मृतिदृष्ट्या पुनः संस्कारमात्रेण
कथंचिदप्यनुयोष्या । सा च संस्कृतसंज्ञायाः किं निन्ध्यूनतायामेव पर्यव-
स्यतीति न तत्रान्नात्रेण मुख्यपक्षे विवाहसहित्यरूपं ब्रह्मचर्यमाश्रमविधिं विहितं
शङ्कनीम् । स्फुटमात्रा कन्यात्वात् स्मृतिवृत्तादिमिरभ्युपेक्षत्वात्, कन्यानां विवाह-
सहित्यस्य शास्त्रिनियमविच्छेदत्वाच्च । अस्या च पूर्वोक्तवाक्यादिभिर्नोस्ति परं
पूर्णस्वत्वमिति । पत्रादेः स्वत्वस्यानपायात्प्रदानमप्यस्याः उपपन्नतरम् । यत्तु—

“प्राग्विग्रहणका मन्त्रा नियत दारव्यञ्जनम् ।

तेषां निष्ठा तु विशेषा विद्वद्भिः सप्तमे पदे (मनु १२६)

इत्यादिवचनान्यनुसंध्य सप्तपद्यन्तरमेव पूर्णं परं स्वत्वपत्रादेः स्वावनिवृत्तिं,
कन्यात्वनिवृत्तिं चाभ्युपगच्छन्ति केचित्तदसत् । विवाहसंस्कारोपयुक्तानामेव
मन्त्राणां निष्ठापरपर्याया पूर्णं सप्तमपदेऽभिहितत्वात् । निवृत्ताया हि सप्तपद्या
विवाहसंस्कारः पूर्णो भवति, स चायं संस्कारो कन्याया बोद्धुं स्त्रीत्वसंपादन-
त्पदसंतीत्येवास्मादधरातुगुणे तात्पर्यम् । न तु विवाहमानेषैव परं स्वावनिवृत्तिं
कन्यात्वनिवृत्तिर्वा शक्यापादयितुम् । पूर्वोक्तवचनजातविरोधापत्तेः । किं च सप्त-
पदीमात्रेण भार्यात्वनिष्पत्ताविमान्यपि वचनानि स्फुटं वाङ्मये—

कन्यादानं शचीयोगो विवाहोऽथ चतुर्विधः ।

विवाहमेतत् कथितं नाम कर्मचतुष्टयम् । (भाविपु०)

विवाहे चैव निवृत्ते चतुर्थेऽहनि रात्रिषु ।

एकत्वमागता भर्तुं विष्टे गोत्रे च एकैः । (किलित)

चतुर्थीहोममन्त्रेण सङ्गमासहृदयेन्द्रियैः ।

भर्ता समुप्यते पत्नी तद्गोत्रा तेन सा भवेत् । (बृहस्पति)

एतानि हि वचनजातानि चतुर्थीकर्मनन्तरमेव परं पूर्णं स्तवमनुशासति ।
सप्तमे पदे एव तु दारव्यनिष्ठायां तानीमानि स्फुटं विद्वधेः, भृत्यानुगुण्य चैषां
वचनानाम्—भ्यते हि चतुर्थीहोममन्त्रेषु—“प्राणैस्ते प्राणान् सदधामि, अरिषु
भिरिस्तेऽरिष्वीनि सदधामि, मासैस्ते मासान् सन्दधामि, स्वचा ते त्वच सदधामि”
इत्यादि । एतेनेह चतुर्थीकर्मणैव तावदेव पत्या पत्न्या संपादनीयं भवतीति
सुस्फुटं प्रतीयते, तेन च सप्तपद्या नास्ति दारव्यनिष्ठेति सुव्याख्यातम् । न चास्ती
तर्हि चतुर्थीकर्मणि दारव्यनिष्ठा तथापि विधवानामुद्गाहे तवाभिप्रेते किमायातमिति

चेच्छ्रूयतामवधीयता च । चतुर्थोऽपि यासा नामृचयामृतानां बालविधवानां पुनरुद्वाहस्तु निष्प्रयूह प्रसाधित । अथ चैषा भार्यात्वनिष्ठानुबोधकाना मन्त्राणा परस्परविराधेनार्थान्तरपरत्वप्रसक्तया चोपकारकत्वमात्रमेया कर्मणा भार्यात्वसंपादने, निष्पत्तिस्तु सप्रयोगादेवत्यपि सुसाधम् । तेन चाश्रुतानां निषवामासाना पुनरुद्वाहो मदभिप्रेत सिद्ध । युक्त चैतत्—न हि चतुथाकर्मोपयुक्तमन्त्राणा प्रयोगमात्रेणैक्य रुसिद्धिरिति तद्विहितप्रक्रियानुष्ठाननैव । ततश्च परस्पर त्वङमासादियोगेऽप्यपुरुष मंत्रक्य जायते—पत्यु पूर्ण स्वत्वमुत्पद्यते, क-यास्व च निवर्तते न तु पुरुषप्रयोग शू-यास्वक्षतासु क-यास्व निवृत्तम्, ऐक्य वा पत्या जातमित्येष एव शास्त्रार्थः ।

[उत्तरपक्ष]

तदिह परस्परपदमर्दाद् विप्रचित्पत्तिजर्तरीभूत जीर्ण वसनलण्डमिव प्राञ्चमन्यै परि णतप्रज्ञाविरहितैरितस्तत् समामृष्यमाणतया ब्रुत्यत्प्रायमुत्तमप्रज्ञाना कृते—‘स्वरूप व्याक्रियैव पराक्रियेति’ -यायेन स्वरूपतोऽनूदितमपि शब्दतोऽर्थतश्च व्याहृत विधदोद्वाहमत मा भूत् कोमलप्रज्ञाना प्रज्ञाभ्रान्तिजनकमिति भूयोऽपि क्रमेणा लोचयितुमुपक्रम्यते ।

(श्रुतिव्यवस्थाप्रकरणम्)

तत्र या तावदादौ श्रुतिव्यवस्था—

उदीर्घं नार्याभिजीवशोकमितासुमेतमुपशेष एहि ।

इतमामस्य दिविषीस्तवेद पशुर्जनित्वमभि सवभूय ॥

(श्रु० स० म० १०-१८-८)

नैषा पुनरुद्वाह विधवाना साधयितु कथमप्युपपद्यते । विवाहविधेरत्र लेखतोऽप्यदर्शनात् । इह हि “उदीर्घं” इति “एहि” इति च विधी, तौ चोत्थानमा गमन च विरत्ता न पुनरुद्वाहम् । अत एव च मन्त्रलिङ्गानुसारिणा सूत्रहता-प्युत्थापन एवेय विनियोजिता । “तामुत्थापयेद्देव” (भा० पृ० सू०) इत्यादिना सूत्रेण । आपस्तम्बोऽपि “प्रेत चित्तिमारोप्य, इय नारीति प्रेतपत्नी प्रेतसमीप नीत्वा, उदीर्घेति मन्त्रेण प्रेतपत्नीमुत्थाप्य तत् सुवर्णमिति प्रेतहस्ते सुवर्णेन समृज्य” इत्युत्थापन एवास्या विनियोगमाह । मृतस्य पशुरुपस्यायिनी शोकाकुला भार्या देवादिरुत्थापयेदित्येव तत्तात्पर्यम् । तथा च विनियोगानुरोधेनाऽप्युत्थापनमेवेय श्रुतिर्विदध्यात्, न तूद्वाहकयामपि । अथ प्रकरणमपि परीक्षामहे—तत्र श्रुत्येदसहिताया तावद्दशमस्य मण्डलस्याष्टादश सूक्तान्तमूर्तोऽष्टमोऽय मन्त्र, सूक्तञ्चेद मृत्युसम्बन्धमेव विपयो करोति । तथा चानुक्रमणिका—“पर मृत्यो सकुमसुक (श्रुति) चतस्रो मृत्युदेवता—परा धात्री, परा स्वाष्ट्री, परा पितृमेधा” इति । तदित्थ पितृमेधोऽस्य मन्त्रस्य दैवतमिति पितृमेधसम्बन्धेनैव क्रियाविशेषोऽय विधित्सित स्यात् । न च मृतस्य पत्न्या

पुनरुद्वाहोऽपि पितृमेघस्यैव सम्बन्धो, तदाह एव वा समुत्सृज्य सङ्कल्पादि
पूर्वमेवासी विधेय इति कोऽपि सचेत्ता एतदनुमन्येत । इतश्च पूर्वेषु मन्त्रेण—

इमा नारीगविषवा सुतलीराजनेन रर्तिषा सविद्यन्तु ।
अनधवेऽनमीवा सुतना आरोहन्तु जनयो योनिमम ॥

इत्यन्यासी सध्वाना गृह्णारीणा वृत्ताकनेना । एहप्रवेशनमाभासनविहितम् ।
इत उत्तरेण च—

घनुहंस्तादाददानो मृतस्यास्मै क्षत्राय कर्त्तसे दत्तम् ।
अत्रैव त्वमिह वय सुवीरा विश्वा रक्षौ अभिमातीर्षयेम ॥

इति मृतस्य हस्ताद्वनुष आदान विधौ, ततश्च मृतस्य स्कारेऽनन्तरं प्रकाशते
को नाम विवाहस्य प्रसङ्ग इत्यालोचयन्तु मनाक् सुधियः । तस्मात् 'हे नारि !
मृतस्य पति । उदीर्ष्व उत्तिष्ठ, जीवलोकममि जीवानां स्थूलशरीरविहितानां लोक
यमलोकं प्रति, इतास्तु गतप्राण, एतं पुरुष, त्वम्, उपरोधे तस्य समीपे तिष्ठसि,
तन्नोचितमिति भावः । यद्वा जीवलोक जीवता पुत्रपौत्रादीनां लोक स्थानमभिलक्ष्य
उपैहि । गतप्राणमेतं किमुपरोध इत्येव भाष्यमनुसृत्य व्याख्येयम् । यतस्तत्र इति
गृहीतवत्, दिधिषोर्गर्भस्य निषातु, तवास्य परतु (सम्बन्धि) इदं वर्तमानम्,
जनित्व जायातम्, अभिसम्भूय प्राप्तवत्यसि, अनुभूतवत्यसीति वा । पूर्वं
जीवनोऽस्य जायातव स्वयाऽनुभूतम्—यदाऽयं गर्भनिधतासीत् । इदानीं तु
मृतस्यास्य समीपोपस्थानं तवाऽकिञ्चिद्भ्रू' मित्यर्थः इत्यास्य मन्त्रस्य स्फुटमाभास
करमेव प्रतीतिषिद्भुञ्चिततमञ्च, न तु विधवोद्वाहवार्तानेशोऽप्यत्र प्रतीयते नाम ।
भाष्यकृत सायणाचार्यास्तु भर्तुरनुगमनविधायकरत्नस्य व्यञ्जयन्तीव । यतस्तैर्ना
ख्यातमुत्तराहं यस्माच्च हस्तप्राप्तस्य पाणिग्राह कुर्वतो दिधिषोर्गर्भस्य निषातुस्त
वास्य परतु सम्बन्धादागतमिदञ्जनित्वं जायातवमभिलक्ष्य सम्भूय—सम्भूतास्य-
नुमरणनिश्चयमकार्षीस्तरमादागच्छेति ।

अथर्वसंहितायाञ्चास्मात्तस्य मन्त्रस्यास्यानुमरणविधायकता प्रकरणादपि स्फु
टमिव प्रतीयते, तथा हि तत्रत्य सन्दर्भं (अथ० १८ का० ३ अनु० आरम्भे)
'पूर्वत एव पितृमेघे प्रकाशते—

इयं नारी पतिलोकं वृणानां निषद्यत उप त्वा मृत्यं प्रेतम् ।
घर्मं पुराणमनुपालयन्ती तत्स्यै प्रजां द्रविष्यञ्चेह वेदि ॥ १ ॥
उदीर्ष्व नार्यभिजीवलोकमितासुमेतमुपरोध एहि ।
हस्तप्राप्तस्य दिधिषोस्तवेद एतुर्भेत्तिचमभिसम्भूय ॥ २ ॥
अपस्य सुवर्ति नीयमाना जीवा मृतस्य परिणीयमानाम् ।
अन्वेन यत्तमसा प्रावृतासीत्प्राक्तो अपाचीनमनय तदेनान् ॥ ३ ॥

प्रज्ञानत्यज्ये जीवलोक देवानां पन्थामनुसञ्चरन्ती ।

अयन्ते गोपतिस्त नुपस्व स्वर्गं लोकमधिरोहयैनम् ॥ ४ ॥

अत्र हि प्रथमं मन्त्र “आगया (श्रुत्वा) चितो भार्यां प्रेतेन सह संवेशयेत्” इति सूत्रानुसारेण भार्यायाश्चिति संवञ्जनं निनियोज्य व्याचरन्मुग्धवाच्यार्था— ‘इयं-पुरो तिनी, नारी-स्त्री, पतिगैकम्-पत्या अनुष्ठितानां यागदान होमादीनां फलमूत स्वर्गादिस्थानं, वृणानां-सहधर्मचारिणीत्वेन समजमानां, हेमर्यं । मरणधर्मन् मनुष्यं । प्रेतम्—अस्माद् मूलोकाद्विनिर्गतम्, एवा उपनिषद्यते—संश्लेषे निनरा गच्छति । अनुमरणार्थं प्राप्नोतीत्यर्थः । कस्माद्धेतो पुराणपुरातनप्रवादशिष्याचारसिद्ध धर्मं सुवृत्तमनुपाल्यन्ती । आनुपूर्व्येण सप्रदायाविन्दे देन पालनमनुपालनम् । स्मर्यते हि—

मर्तारमुदरेधारी प्रविण सह पायकम् ।

बालग्राही यथा सर्वं बलादुदरते विलात् ॥

तस्यै अनुसरणं कृतस्यै स्त्रियै इहास्मिन् मूलोके जन्मान्तरे लोकान्तरेऽपि प्रजा पुनरपि प्रादिकां द्रविणं धनं च चेहि प्रयच्छ । अनुमरणप्रभावाज्जन्मान्तरेऽपि स एव तस्या पतिर्मन्वतीत्यर्थः । [माधवीय भाष्यम्]

तदनन्तरम् उदीर्घं नारीति भार्यामुद्दिश्यैव पत्युरनुगमनं विधीयते । श्रुत्येदमाश्रयमनुसृत्य मन्त्रार्थं प्रागभिहितं एव । तदुत्तरं चापश्यमिति स्फुटं पतिमनुगच्छन्त्या पतिप्रताया वृत्तमुपवर्णयते । नीयमाना पत्या सह प्राप्तरमाणा, जीवा जीवन्तो, युवति, मृतेभ्यः मृतमुद्दिश्य (छन्दसि व्यस्ययेन बहुवचनम्) परिणीयमानाम्—समर्प्यमाणामहमपश्यम् । यदियमधेन तमसा शोकाख्येन, प्रावृणा-आच्छादितेवासीत्—तत् तस्मात्, एनां प्राक्तं पूर्वस्मात् स्थानात्—अपार्ची-लोकान्तराभिमुखीभनयमिति, तदेवरपुत्रादिराह । उत्तराऽप्यतो भूयसे निर्वचनाया स्यैवार्थस्य—हे अश्वदे-निष्ठापे-जीवानां लोक स्वर्गं प्रज्ञानती, देवानां मार्गमनु सचरन्ती (स्वर्गानिव्रत्यमाहात्म्याद्) एव योऽयं ते गोर्वाच इन्द्रियाणां वा पति स्वामी तं नुपस्व-सेस्व । स्वर्गं लोकं चैनमपि प्ररोहय, इति भार्यामेवोद्दिश्य वाक्यम् । पतिप्रतामाह-त्येन तत्पतिरप्यश्रय स्वर्गं सुखमनुभुङ्क्त इति हि स्फुटं स्मृतिपुराणेषु ।

तदाह भगवान् व्यास करोतिकाख्याने—

पतिव्रता सप्रदीप्त प्रविशेत् हुताशनम् ।

तत्र चित्राङ्गदधर मर्त्तोर सान्त्वयत ॥

ततः स्वर्गं गत पथी भार्यया सह सगतः ।

कर्मणा पूजितस्तत्र रमे च सह भार्यया ॥

स्मृतिश्च ।

ध्यात्माही यथा सर्पं बलादुद्धस्ते विलात् ।

तदुद्धृत्य सा नारी सह तेनैव मोदते ॥

तदित्यमथर्वसंहितायाः सन्दर्भशुद्ध्या मन्त्रस्यास्यानुगमनविधाशक्ता एक्य-
भूतेव । ततश्च यदेतत् 'बीवलोक्मभिलस्य उपैहि-बीवलोके पुनः प्रवृत्ता भव, इत्त-
प्राप्तस्य-इत्तं ग्रहीष्यतः दिधिपोस्त्वयीदानीं गर्भं निघातुमिच्छोस्तव पापुः पुरुषान्त-
रस्य अनित्यं जायात्वं त्वया प्राप्तमिति यथेच्छं व्याचक्षते, साधयन्ति च पुनरुद्वाहम्-
तत् सर्वथाप्यसमञ्जसमनुचितं हेयमेव प्रेक्षावताम् । उपदर्शितप्रकरणविरोधात्,
अथर्वसन्दर्भविरोधात्, विनियोगसूत्रविरोधात्, दैवतानुक्रमणीविरोधात्, ब्राह्मण-
ध्वेदविधिविधेरनुपलम्भात्, माध्यविरोधात्, अक्षरस्वारस्यविरुद्धत्वाच्च । इदं अनि-
त्यमभिसन्दर्भयतीति हि दर्शमानं जायात्वं लक्ष्यीकृत्यते, तच्च मृतस्य पूर्वस्य एतुरेव
सम्बन्धि, ननु पुरुषान्तरसम्बन्धि, तस्येदानीं यावदनुत्पन्नत्वात् । यदि हि पुरु-
षान्तरनिरूपित जायात्वमुत्तरसमभविष्यत्, कुतस्तर्हीयं मृतस्य कश्चिदस्थायित्वम् ।
'त्वमेतत्पुनर्नित्य' इति तैत्तिरीयाणामध्ययनेऽपि 'एतद् जायात्वमिति पूर्वोक्तायो
न व्यभिचरितः । किंच "अमि उदभूवेति नाथं विधि", लोडाद्यदर्शनात्-अनुवाद-
सम्बन्धम्-मृतकालनिर्देशात् । ततश्च यत्पुरा प्राप्त जायात्वं तदेवात्रानूयते, न
त्वमिनं पुरुषान्तरनिरूपितं तद्विधीयते । नहि पुरुषान्तरस्य जायात्वं साद्य यावत्
प्राप्ता, अथ यदि प्राप्ता, नाथ तर्हि विधिप्राप्तप्रापकाभावाद् इति नात्र पुरुषान्तर-
परिमहक्या कथमपि सामञ्जस्य समस्तुते ।

अत्राहुः—

पुनर्मूर्ध्नि रुद्रा द्विस्तस्या दिधिषु पतिः ।

स तु द्विजोऽग्रे दिधिषु सेव यस्य कुटुम्बिनी ॥

(अम० को० मनुष्य व० ५८६)

इति कोशादिधिषुपदस्यात्र पतिर्निशेषणत्वेन भ्रुतस्य पुनर्विवाहकर्तृपरत्वमेवाप्य-
क्षीयेत, अस्तु वा छान्दसहस्वत्वेन, तवेत्यस्य विशेषणं तत्, पुनर्मूर्धायाः
पुनर्विवाहसरकारमाप्स्यन्त्यास्तव पत्युरित्यर्थसामञ्जस्यात् । उभयथाऽपि रुद्रार्थेन
पुनर्विवाहोऽप्यर्थतः सिद्धो भवति, इतरथा दिधिषुपदस्य रुद्रार्थभङ्गापत्तेः । आहुष
लौकिकाः "रुद्रियोगादुत्पत्नीयसीति" "रुद्रियोगार्थमपहरतीति" च । मीमांसका अपि
च शास्त्रप्रसिद्धपदार्थप्रामाण्याधिकरणे प्रसिद्ध एव पदानामर्थः कल्पनीयो न ।
व्याकरणादिसहाय्येनाप्रसिद्धवर्तिकश्चिदर्थकत्वं कल्प्यमिति स्फुटं व्यवस्थापयन्ति ।
तदाह—'चोदितं तु प्रतीयेताविरोधात् प्रमाणेन' । (मी० सू० २ । ३ । १०) इति
सर्वं व्याचक्षाणः शबरस्वामी—'अपि च' निगमादिभिरर्थे कल्प्यमाने अव्यवस्थितः

शब्दार्थो भवेदिति । लोकवेदयोः शब्दैक्याधिकरणे च वेदे लोकभिन्नार्थता प्रतिषेधन्ति । तथा च सूत्रम्—

प्रयोगचोदनाभावादर्थैकत्वमविभागात् (मी० सू० १ । ३ । ३० ।) इति निषादस्थयरथधिकरणे रथकाराधिकरणेऽपि च रुढ्यर्थे लाघवाद् रुढिरेवादर्थेऽप्येति स्फुटो मीमांसकसिद्धान्तः । 'परंतु भूतिसामान्यमात्रम्' (मी०-सू० १ । १ । ३२) इत्यादौ तु व्यक्तिविशेषकेतिताभा सन्नानामेव भूतावयान्तरपरता प्रतिपाद्यते, नतु रुढशब्दानामैकान्तिकोऽभावः । ततश्च लौकिककोशसाहाय्येन दिधिषुपदस्याप्यर्थे प्रबलपुष्टे भूत्यैव प्रकरणादिभ्योऽनिबलीयस्या पुनर्विवाहः प्रसाधितो भवति । प्रकरणमपि च न न प्रतिकूलम् । 'इय नारीति' मन्त्रस्यापि पुनर्विवाहप्राक्कावात् । इय हि तस्य समीचीना व्याख्या 'हेमत्स्यं, हेसजीव पुण्य ! पतिलोक पतिमुख वृणाना कामयमाना इय नारी, प्रेत प्रक्षेपेण लोकान्तरमितं पतिं (विहायेति शेषः) यद्वा मृत पतिमनु तदनन्तर यदि पतिस्थान वृणाना, त्वा उपनिषद्यते प्राप्नोति पुराण प्राचीनम् अनादि धर्म पुनर्विवाहरूप स्वीकुर्वती, तस्यै अस्मिन् लोके प्रजा सन्ति द्रविणं धनं च धेहि देहीति' । द्रविणसन्तरथादिप्रार्थना च स्फुटमस्या व्याख्यायामेवानुकूला, मृतमुद्दिश्य तथा प्रार्थनाया सर्वथा असामञ्जस्यात् । अयं तैत्तिरीयारण्यके (६ प्र १ अनु) भुवस्तस्यैव मन्त्रस्य (उदीर्घशेषादेः) मधिवीर्यभाष्यमन्त्रस्मदनुकूलम्—'न हि "इय नारी" "उदीर्घं नारि" "मुक्ते" हस्तादाददाना मृतस्य' 'धनुहस्तादाददाना मृतस्य' मग्निं हस्तादाददाना' इत्येव मन्त्रसन्दर्भः । 'त्वं हस्तामस्य पाणिमाहवत', दिधिषो पुनर्विवाहेच्छोः, पशुः, एतद् जनिष्व जायास्वम् , अमि वरमूय आभिमुख्येन सम्यक् प्राप्नुहि' इति च माधवीय भाष्यम् ।

तथाच पुनर्विवाहेच्छोः पर्यन्तरस्य भार्यात्वं स्फुटमत्र त्रियमुद्दिश्य भाष्यकृता विहितम् । अमिषवभूयेति लिट्श्च व्यस्येन लोडर्थकता तेनेवाम्भुपगतेति सोऽयमपि विधिर्नानुवादः । इत्यस्यप्रकृत्यापि चाशालायनेन (तान्त्र्यापदेदेवरः पतिस्था-नीयोऽन्तेजाही अरहासो) वेति देवरस्य पतिस्थानीयतामभिदधतात्प्रवक्तृकत्वं चास्य मन्त्रस्य विदधता पर्यन्तरकरणमुक्तप्रायमेव । देवर इति हि द्वितीयो वर उच्यते इत्यवोचाम ।

ततश्च सुष्टं ससिद्धमस्य मन्त्रस्य पुनर्विवाहप्रापकत्वमिति ।

तदेतत्सर्वमपि मनोराज्यविज्ञप्तिमात्रम् । प्रमाणाभाससंदग्धत्वात् । तथा हि—

(दिधिषूशब्दार्थः)

स्यादप्येतदेवं यदि हि दिधिषूपदस्य शास्त्रेषु पुनर्मसमानार्थद्वारे हृदं प्रमाणं स्यात् । तदेव तु नोपन्यास्यते । प्रसुत विपरीतमेव स्मरन्ति स्मृतिकाराः । तथाहि—

भगवान्मनुस्तावच्छास्त्रप्रकरणे निषिद्धवाक्येषु स्वप्रयुक्तं दिधिपूषतिपदं न्य व्याच-
क्षणं आह—

“भ्रातृभृतस्य भर्त्याणां योऽनुरज्येत कामत ।

धर्मेणापि नियुक्तायां ॥ ज्ञेया दिधिपूषति ॥”

(मनु० ३ । १३७ इति ।)

ततश्च धर्मनियोगे धर्ममुख्यं च कामत प्रवृत्तस्य पुरुषस्य दिधिपूषतिश्च ततो
स्त्रयास्त्वर्थदिधिपूषत्वमुपरब्धं भवतीति न प्रकृतमन्त्रे सादृशरूढार्यमहणसम्भव ।
तस्यार्थस्य प्रकृतेऽन्वयासम्भवात् । नहि नियुक्तस्य त्यक्तमर्यादस्य मन्त्रेऽस्मिन् ग्रहणे
किमपि प्रमाणमस्ति, येषस्य मुख्यपरपुरेव भूतौ ग्रहणौचित्यात् । तदर्थोऽप्युपगमेऽपि
च ‘दिधिषोस्तव’—धर्मेण नियुक्तायास्ततस्त्यक्तमर्यादाया कामेन प्रवृत्तायास्तव,
पर्युत्तिर्यर्थं स्यात्—कथं चायं समजस, न हि मर्यादाभुरक्तमभुतिरेव बोधयेनाम ।
ततश्च नास्ति मनुक्तार्थस्यात्र कथमपि सम्भव । अथ स्मृत्यन्तरेऽप्ययमेव दिधिपू-
षण्डार्थो निरूपित—

“व्येष्टायां यजनृदाया कन्यायामुद्धतेऽनुजा ।

सा चाग्रेदिधिपूषेया पूर्णा तु दिधिपू स्मृता ॥

(मिताक्षरावीरमित्रोदयादिनिबन्धेषु लौगाभिर्देवैश्च)

एव च यथा ज्येष्ठे भ्रातर्यनूढे कृतविवाह कनिष्ठा परिवेत्तृशब्देन, स षष्ठेऽथ
परिवेत्तिशब्देन धर्मशास्त्रे परिभाष्यते, तथैव व्येष्टाया भगिन्यामनृदाया विवाहिता
कनिष्ठा भगिनी अग्रदिधिपूषदेन सा व्येष्टा च दिधिपूषदेनात्र परिभाषिता ब्रह्मणा ।
‘पुत्तिरप्यस्मिन्नर्थे प्रदक्षिताऽभियुक्ते’, “दिधि धैर्वै स्थितिः”—इति (शब्दकल्पद्रुमे)
अर्थैर्यवद्यात् पूर्वमूढेति यावत् । भगवान् गौतमोऽपि ‘परिवेत्ति-परिवेत्तृ-पर्याहित-
पर्याधाग्रमेदिधिपूषति—दिधिपूषतीना सत्त्वर प्राकृत ब्रह्मचर्यधर्म’ इति परिविद्यादि
प्रकरण एव दिधिपूषतिं निर्दिशस्तत्समानं च प्रायश्चित्त प्रकल्प्य तुक्तार्थमेव दिधि
पूषदं स्फुटमभिप्रेति । तथैव च प्रायश्चित्तप्रकरणे वशिष्ठोऽपि । तदित्येव विवाहक्रमवैर
रीत्य निमित्तीकृत्य परिभाषितस्यास्य रुदस्य शब्दस्य नैवास्ति प्रकृतमन्त्रे कोऽप्युप-
योग इति पांशुल्पादोऽप्येतद्विजानीयात् । आप्तानां च तत्रभवता स्मृतिकाराणां
विरुद्ध कोशोऽमरेणामिहितं पुनर्मूलो रूढार्थं कथङ्कारं प्रामाण्यकोटिमारोदुमी
यति । शिष्टानां हि शब्दार्थं प्रमाणम्—सदेतदुक्तम्—

“शास्त्रस्या वा तन्निमित्तत्वात्” (मी० सू० १ । ३ । ९)

इति मीमांसासूत्र व्याचक्षणेन भाष्यकृता शबरस्वामिना “य शास्त्रस्यानां स
शब्दार्थः । के शास्त्रस्या शिष्टा । तेषामविच्छिन्ना स्मृति शब्देषु च वेदेषु च ।
तेन शिष्टा निमित्तं भूतिस्मृत्यवधारणे, इति । शिष्टाश्च यथा तत्रभवन्तो मनुगौत

मादयो मर्त्यस्य तथा नावममर । ततश्च पुनर्भूयन्ता दिधिपूतस्य कोशे प्रति
पाद्यमाना सर्वथाऽप्रामाणिका । ननु च भो यथा मनूक्ते देवस्यायुक्ते चार्थे भिन्न
प्रवृत्तिनिमित्तद्वय तथैव कोशोक्तमपि पुनर्भूयन्त्यतः प्रवृत्तिनिमित्त शब्दस्यास्य
प्रकल्प्यताम्—तेन स्यादित्यपि शब्दस्य स्वार्थान्तरमिति चेत्तदयुक्तम् । तथा
भूतार्थे प्रमाणाभावात् । शास्त्रे ह्यत्र परिमाणितोय शब्दो न लौकिक, लोकव्यवहारे
प्रयोगानुपलब्धम् । यत्र च परिमाणितस्तत्र यथा विवृतस्तदर्थक एवाभ्युपगन्तव्यो
न त्वपर्यन्तर मनसैव कल्पनीय किमपि । किमन्यन् साक्षाच्छ्रुत्याः प्रमाणाः स्मृत्य
नुमोदित एव शब्दार्थो ध्वन्यते । तथा हि तैत्तिरीयब्राह्मणे (३ का० ४ प्र०)
पुरुषमेघमुपक्रम्य “ब्रह्मणे ब्राह्मणमालभते, क्षत्राय राजन्यम्, मरुद्भ्यो वैश्यम्,
तरुत शूद्रम्, तन्मते तत्करम्, नरकाय वीरहणम्, पाप्मने क्लीबन्” इत्याद्युक्त्वा
“मन्त्रे नारम्, गेहायापरीतन्, निर्मुक्त्यै परिवर्त्तन्, आर्त्ये परिविदानम्,
आराध्यै दिधिपूतम्, पश्चाद्य म्रियन्” (४ प्र०) इत्यत्र आभ्यातम् । एष
पञ्चाह पुरुषमेघ इत्याद्युक्तम् । अत्र चतुर्थ्यन्ता देवता द्वितीयान्ता पशव,
आलभत इति संज्ञानुवर्त्तते । ब्रह्मब्राह्मणज्ञात्यभिमानो देवस्वरस्यै कचिद् ब्रह्मवर्च-
सयुक्त ब्राह्मणमालभते । आराध्यै कर्मासिद्धिप्रतिबन्धाभिमानिन्यै दिधिपूतमालभते,
इत्यादि व्याचक्षते मध्यङ्गम् । अत्र च परिवर्त्तिपरिवर्त्तन्या अनुपनिषद्भ्यो
दिधिपूतशब्दस्तत्साहचर्येण विवाहकर्मवत्प्राप्तमेव निमित्तोक्तम् प्रवृत्त स्यादि
ति स्फुटं शक्यमभिधातुम् । यत्तु “आराध्यै दिधिपूतम्, इत्यत्रैव दिधिपूतमात्रे
अप्यनुपातमुपनिषत्तोऽनेनैव भुतिप्रमाणेन पुनरुदाह सिद्धाद्यधिष्ठितं महत्मानोऽ
र्थोऽनिष्ठास्त इम सर्वथा प्रणम्या एव । अभ्युपगतेऽपि दिधिपूतस्य पुनरुदाहरत्वे
कथमनया भूत्या पुनरुदाह आगतो भवतीति पृच्छाम । दिधिपूतप्रयोगेणैव तादृ
शब्दव्यवहारस्य शिष्टानुश्रुतिव्यवधानादिति चेन्नारपदमुरपतिपद कथं वपद चाप्यत्र
प्रकरणे प्रयुक्तं न पश्यसि ? तस्मिन् शास्त्रादुक्तव्यवहार कनीवतापि च भूत्य
नुमोदितो शिष्टानुश्रुतिो भवताम् । आस्तामप्रकृता एवविधा प्रलापा । प्रकृते
तु पुनरुदाहरत्वे दिधिपूतस्य भूत्यापि विरुद्धमसाधयाम । वस्तुतस्तु कोशकृतोऽ
भरतिइत्याप्यत्र तात्पर्यान्तरमेव समुज्जेयम् । तथा हि—एवविधिविवाहकर्मवैरीत्य
विषये पुनरुदाहो अस्मिन्नेन प्रायश्चित्ततया विहित ।

“परिविदानं कृच्छ्रान्कृच्छ्रौ चरित्वा तस्मै दत्त्वा पुनर्निविशेत्, तामे
वेषपद्मेन, अप्रादिधिपूतं कृच्छ्रं द्वादशरात्रं चरित्वा निर्विशेत्, ता चेवोपय-
च्छेत् । दिधिपूतं कृच्छ्रान्कृच्छ्रौ चरित्वा तस्मै दत्त्वा पुनर्निविशेतेति (बति-
ष्ठस्मृतिः) ।

परिविदानं ज्येष्णे आतर्पणद्वारापरिमृष्टे स्वयं कृतदार कनिष्ठ कृच्छ्रा
तिहृच्छ्रौ पुनर्विशेदौ विधाय—तस्मै ज्येष्ठाय ता स्वभार्या दत्त्वा—गुह्ये मैक्ष्यामव

निवेद्य-पुनस्तदनुज्ञया निविशेति विवेहेत्, तामेव पूर्वपतिपत्नीना भायां ज्येष्ठाय वाह्मात्रेण निवेदिता पुनर्गृहीयात् । इति पूर्वस्यार्थः । उच्यते च तन्मनुष्यनिव बन्ध मित्रमिश्रः ।

“अग्रेदिधिपूषतिः कनिष्ठापतिः कृच्छ्रं कृत्वा ता ज्येष्ठामन्योदा समुद्रहेत्, दिधिपूषतिज्येष्ठापतिः स्वोदां ज्येष्ठा कनिष्ठापतये दत्त्वा स्वयमन्यामुद्रहेदिति” (वीरमित्रोदये विवाहप्रकरणे) ।

अभ्युक्तं चानपि परित्रेणादाविव निवदनमात्रम्, पुनश्च तथैव स्वयमूढया पुनर्विवाहः । सर्वथापि पुनः सस्कारोऽत्र प्रायश्चित्तनया विहितो न शक्योऽपलपितुम् । ततश्च वा दिधिपू सा द्विवारमूढा भवति, वैधस्वेऽपि चास्य विवाहस्य पुनः सस्कारमात्रं निमित्तीकृत्य पुनर्मृगन्दोष्यवश्यमत्र प्रवर्त्तेति तदभिप्रायेण वेदममरसिद्धेन “पुनर्मृदिधिपून्दा द्विः रिशुपनिबद्धम् । तदित्यनुक्तप्रकारेण द्विरुदत्त्वादिति दिधिपू सर्वापि पुनर्मृमंथति, पुनर्मृल्ल सर्वा दिधिपून् भवति, विवाहक्रमवैपरीत्यमन्तरा पुनर्विवाहेऽपि दिधिपूदा प्रवृत्तः । तथा च कश्चित् सामानाधिकरण्यं च कर्त्तव्येऽधिकरण्यं चानयोः शब्दयोर्लभ्यम् । सामानाधिकरण्यमात्रमादायोपपत्ता कोशव्यवहृतिः । एवमेव मनुक्तमपि नार्थान्तरम् । किन्तु—यथैत्रोऽग्रे दिधिपूषतिज्येष्ठामन्योदा समुद्रहन् परपूर्वाया पतिर्भवति, मर्यादा चातिक्राम्यति, तथैव नियुक्तोऽपि देवरादिर्यदि परपूर्वाया पतिर्भवै मर्यादा च जलान्तर्गता तथामूते साहचर्येण दिधिपूषतिपद भगवता मनुनाऽऽमेपद निरूप्य प्रयुक्तम् । तदित्येव सर्वत्राप्येकार्थ्येनैव सामञ्जस्येऽनेकार्थ्यफलदनाऽऽननुगमरोपपराहतेति निपुणमिदं विभाव्यता परीक्षकैः । एवविधस्य च परिभाषितस्य दिधिपूषदस्य पितृनेषक्रियाया सामान्येन निनियुक्ते प्रवृत्तमन्ये नास्ति सम्बन्धसम्बन्ध इत्यगत्या रुद्धव्यर्थमुत्पद्य भाष्यकाराद्यभिमतो योगार्थ एव शरणीकरणीय आपतितः ।

प्रयुक्तं चान्यत्रापि धौगिके धारणाद्यर्थ एव दशतस्यां दिधिपूषदम् ।

‘अश्वाद्यो न ये ज्येष्ठस्य आशयो दिधिपवो न स्य मुदानव’

(ऋग्वेद १० म० ५८ सू० ५ म०)

इति हि माहते सूक्त ‘ये मृतोऽश्वा इव ज्येष्ठा, आशवः शीघ्रगमना, दिधिपवो न दत्त्वा धारका इवे’ त्येवरीत्या धारणार्थक एव दिग्निपुशब्दो वाक्यायते । “मातुर्दिधिपुमन्त्रव स्त्वुर्गोः मृगोतु न । आतेन्द्रस्य कृत्वा ममः” (ऋ० सू० ६ म० ५५ सू० ५ म०) इति च पौष्णे मन्त्रे ‘माननिर्मात्रा रात्रेर्दिविपुपति, पूषणकन्त्रवम्, स्वमुद्रपसो आरश्च पूषा नोऽस्माक स्तोत्राणि मृगोतु’ इत्यादिरीत्या सामान्यतः पर्यर्थक्रमेव दिधिपूषद सर्वरूपसूरीक्रियते व्याख्यातमि ।

गत्यन्तराभावात् । अन्यथापि च श्रोमागवते “ब्राह्मणी वीक्ष्य दिधिषु पुरुषादेन भविनम्” (१ स्क० ९ अ० ३४ श्लो०) इति कल्माषपासकथाया गभीरानेन्दु पतिरेव दिधिषुपदेनाभिहित, परिभाषितस्य तत्र ग्रहणे पूर्वापरसम्बन्धे । तदेव मन्यत्र बहुत्र यौगिकेऽर्थे एव प्रयुक्त पदमिदमिहापि तथैवोपगन्तु साप्रतम् । ततश्च दिधिषुपदमात्रावलम्बेन क्रियमाणमिदं साहसमभित्तिचित्रायितमेव । इदमपि न विरमणीयम्—पुनर्मूपदमिव परिभाषित दिधिषुपदमपि निन्दार्थकत्वेनैव स्मृति कोशादिपूपात्तमिति । ततश्च तस्याविधार्यस्य भुतावाग्रहेण ग्रहणेऽपि निन्द्यग्वहारस्यान्ववसर्गमात्र भूत्या बोध्येत, न स्वयं विधि स्यात् । विधिसंस्पृष्टेऽर्थे निन्द्यत्वा सम्भवात् । अथ विधिसंस्पृष्टादिव नास्ति निन्द्यत्वमित्येव ब्रूमह इति चेत्तथास्तु स्मृतकोशाद्यभिमतकृत्यार्थता दिधिषुपदस्य परित्यक्ता भवेत् । तैनिन्द्येऽर्थे एव प्रयुक्तत्वात्—भ्राद्धार्हतानिषेधप्रायश्चित्तधर्माभिधानात् ।

परित्यक्ते च तदभिमतोऽर्थे स्वस्त्वित्यर्थे न स्यात् किमपि प्रमाणमित्येकमभि सधिरुतोऽपर व्यक्ते । किं च अथर्वसंहिताया दिधिषोरित्येव पाठ इति तत्र नास्त्येष योगातिरिक्तस्य कस्यापि रुद्धिर्यस्य समव । दिधिषुपदस्य रुद्धिर्यानु पश्ये । तच्छास्त्रैकवाक्यतया चान्यत्रापि योगार्थकतैवोचितेत्यलमतिमात्रं मुदितमर्दनेन ।

अथ यदिदमिय नारीतं पुरतनमत्र व्याप्यान्तर स्वग्यानुकूलमित्युपन्यस्तम्, तदस्यापातरमणीयम् । ‘प्रेतत्वा उपनिषद्यते’ इति स्फुटं प्रतीयमान सामानाधि करणमपलप्य प्रेत विहायेत्येच्छिकशेषकल्पनाया भद्राजहरेव भद्रेयत्वात् । न हि सुन्दर बालकमानयेत्यादौ सुन्दर बहि, बालक चानयेत्येवमर्थं प्रकल्पयन् कश्चिद् दृष्टत्वर । न वा ग्राम गच्छेत्पादौ ग्राम दह, अरण्यं च गच्छेति शेष केनापि क्लृप्तम् । सर्वव्यवहारवैयानुलीप्रसङ्गात् । विहायेति शेष प्रकल्पयस्तत् कर्मणो द्वितीयान्तता ल्यबलोप इत्याद्यनुशासनविरुद्धामनाकलयश्च मुहुं खलु वैयाकरणो भवान् । ‘प्रेतं पतिमनुत्वा उपनिषद्यते’ इत्यपि नि सारम् । उत्तरार्द्धं घट्टस्यानुरसगस्यैवमाकृष्यान्वय सम्बन्धकल्पनाया वैदिकशैली विरुद्धत्वात् । तस्मात् प्रेतत्वा उपनिषद्यते—इति मृत पुरुषमुद्दिश्योक्तिरेव व्यायसी । मर्त्येति सशोधनमपि मरणधर्मतामावेदयस्तत्रैव समञ्जसम् । न च मृतस्य सशोधत्वाऽऽ समव, ‘पूषात्वेताव्यावयतु’ ‘अत्रैव त्वमिह न्य मुचीरा’ इत्यादिषु पितृमेघ मन्त्रेषु सर्वत्रैव मृतस्य सशोधत्वावगमात् । पितृमेघप्रक्रमेऽन्यस्य कस्यापि पुरुषस्य सशोधत्वाप्रकल्पना त्वियमेकातत प्रकरणविरुद्धा । उक्तं च भगवता यास्कैः “न पृथक्त्वेन मन्त्रा निर्वक्तव्या प्रकरणस्य एव तु निर्वक्तव्या”, इति न हि कथंचिदेकमन्त्रस्याऽऽर्थान्तरप्रदर्शनमात्रेण प्रकरणानुकूल्यं प्रदर्शितं भवति । पूर्वापरसर्वार्थादिधारणाधीनत्वात् प्रकरणस्य । ततश्च पूर्वमुत्तरत्र च

प्रक्रान्तरस्य मृतसंस्कारस्यैव सम्बन्धेनैतस्याथा वक्तव्य । न च पुष्पान्तरकर्तृको निषवाया पुनरुद्वाहो मृतसंस्कारसम्बन्धीत्यवोचाम । किं च 'भाषया चितौ भाषां प्रेतेन सह संवेद्ययेत्' इत्येव कौशिकमृतानुगतेन विनियोगेनापि भाष्यधृतेन स्त्रियाभितिसंवेदान मन्त्रस्यास्य निषय इति तदनुकूल एवार्थो वाच्य स्यात् । प्रकरणमृत्वाचननुरूप्य यस्य कस्यापि यत्किञ्चिदर्थकल्पने तु सर्वेष्वनर्थव्यवहाराभ्युत्थैव प्रसाधिता स्युरित्यन्यत्र विस्तरेणामिषास्याम् । किं चात उत्तरस्मिन्नुद्दीप्तैति मन्त्र मृतस्य सविधे शयाना एतन्नी समाश्रास्यते, (इतामुमेतमुपशेष) इत्यथस्य भवद्विरपि तथार्थकताया एवोपगमात् । यदि तु सा पूर्वमेव पुष्पान्तरमुपनिषत्ता (प्राप्ता) कुतस्तर्ह्युत्तरमन्त्रे मृतस्योपशयनाभिधानम् समाश्रासनं चेति विचार्यता मनाश्च दूरमुकुलितनेत्रम् । किं चान्यत् पुष्पान्तरपरिग्रहस्यास्य 'विधौ पुराणमनुपालयन्तीति' सनातनवर्मस्थाभिधानमपि युक्तिविरुद्ध स्वीयोक्तिविरुद्ध च । आपदधर्मताया एव विधोद्वाहस्य त्वदीयैरप्यभ्युपगतत्वात् । मृतमुद्दिश्य द्रविणसन्तत्यादिप्रार्थना तु यथा न प्रतिकृता तथा पुरस्तादुपवर्णित एतन्मन्त्रभाष्य एव सुस्पष्टम् । यद्वा—'प्रजा—सन्ततिं द्रविणं च पूर्वं वर्त्तमानमेव चेदि धारय—अनुजानीहीति यावत्' इति धारणार्थकस्य धातो प्रयोगसामञ्जस्येनार्थ उपकल्प्यताम् ।

पूर्वं द्रविणसन्तत्यादौ अनुमुख्य स्वरम्, त्रिषा भर्तृपारतन्त्रात्, इदानीं तु भर्तृसम्बन्धादस्या एव नार्यास्तत्र स्वरानुपस्यत इति तदनुशा भर्तुं प्राप्यते । ततश्चोपपन्ने सूत्राद्यविरुद्धेयैऽर्थान्तरकल्पने विदग्धमनमात्रमेतत् । यदपि भाषवी यस्य तैत्तिरीयभाष्यस्य एकशानुतूल्यवस्थापन तदप्यभिप्रायानवबोधात् । 'पुनर्विवाहेचोरेतद् जनित्वा जायास्वमाभिमुख्येन प्राप्नुहीति' तावद् भाष्यकृतोक्तम् । तदिदं जायात्वं न पुष्पान्तरसम्बन्धि, तस्योत्पत्त्यमानस्येतच्छब्देन निर्देशायानात् । नहि पुष्पान्तरस्य जायात्वं तस्यामेतन्मन्त्रप्रयोगात् प्रागुपपन्नं यदेतच्छब्देन वर्त्तमानतया निर्दिश्येन । निर्दिष्टं च भाष्यकृता तथैव । तेन च स्पष्टमेतत्—न पुष्पान्तरस्य जायास्वविधाने भाष्यकृतस्यात्यर्थम्, किं तर्हि, तस्यैव मृतस्य पापुल्लोकान्तरे पुनरपि स्वामेव जायामिच्छतो यज्जायात्वंमेतत्तस्य वर्त्तमान तदेव पुनरप्यनुमरणेन प्राप्नुहीति" स्फुटतरोऽयं भाष्यार्थः । अनुमरणप्रमादेन पुनस्तेनैव पत्या सा संयुज्यत इति पूर्वमवैतदवोचाम । इहापि च मरद्वाजवीधायनकला सूत्रानुसारिणा भाष्यकृतैव "अथास्य भाष्यमुपसंवेद्ययि—इयं नारीति, तां प्रगिगतं संवे पाणावभिषाद्योत्थापयति—'उदीर्य नारीति मुक्तेन हस्तौ समाष्टि" इत्यादिना उत्थापनमात्रे मन्त्रस्यास्य विनियोग उक्तो न तु पुनरुद्वाहकथायामपि । ततश्च कल्पमृत्वाचननुमत स्वीयवैदायवैदमाष्यविरुद्धं च पुनरुद्वाहमेतं कथमत्र परमास्तत्रमनान् भाषवाचार्योऽभिदध्यादिति मुग्धीभिरेवालोक्यम् । यदपि

अनिसवभूयेति लिगे लोड्यकत्वेन विध्याप्रयगं तदपि न विचारसहम्,—एव
विधेषु मन्त्रेषु विधित्वकल्पनाया मीमांसकैरुक्तो निरस्तत्वात् । तथा हि—भगवान्
जैनेनिस्तावद् मन्त्राभिधायकराधिष्ठणे—

‘विधिमन्त्रयारैर्नार्थमैकशब्दात्’

(मी० सू० २।१।३०) इति सूत्रेण ब्राह्मणान्निव मन्त्राणामप्यविशेषेण
विधायकत्व—पूर्वप्रतीकत्वं तदुत्तरेण—

“अथ वा प्रयोगस्तान्मन्त्रान्मन्त्रोऽभिधानत्राची स्यात्”,

(मी० सू० २।१।३१)

इति सूत्रेण तत्तत्प्रयोगे विनियुक्तानां मन्त्राणामभिधायकत्वमात्रमनुष्ठानम्
विधायकत्वं प्रातपेक्षति । “तस्मान्न मन्त्रगो भावशब्द एवजातीयको विधायकः”
इति च तदीय भाष्यम् । एवजातीयकत्वेत्तत्त्वमसु विनियुक्त इत्यर्थः । विनियुक्तश्च
मन्त्रोऽयमपि कल्पसूत्राद्भक्त्यापन इति न ततोऽधिकमर्थं विदध्यात् । इमां च
विधिशक्तप्रतिपक्षकतामनुगमयन्तस्तत्रमन्त्रो धार्तिककृतो मृदुपादास्तत्रवार्तिके
प्रकृतश्चाख्याया—

‘देशमाख्यातशब्दानां यच्छब्दाद्यवस्थानात् ।

विधिशक्तिः प्रत्यक्षेण ते सर्वत्राभिधायकाः” ॥

इति सामान्यतोऽभिधायक्यच्छब्दोपहितत्वमन्त्रविमर्शं यद्विशब्दादिकं
च विधिशक्तिप्रतिबन्धकानाहुः । अयमेव च प्रकृतोऽपि मन्त्रे “नारी” इत्यामन्त्रण
विमर्शः, तत्समानश्च तद्वत्तोऽपि । तेन नत्र विधायकत्वमत्र । अप्रैतत्सुत्र
विज्ञानां शास्त्रदीपकाकृत पायसंरथिमिभा अपि ‘यानि च निमित्तादिप्रति
पादनेनाख्यातान्तरैरेकनाक्यता गतानि तान्मुदाहरणम् । आमन्त्रणविमर्शे
वन्त्रमिदुवधोविधयत्वात्, वेदे च वक्तुरनावादिषेधान्निमुञ्चानभिमुखपुत्र-
साधारणत्वाद्विद्वत्समावेनामन्त्रेण विधायकत्वम्’ इति प्राहुः । प्रकृते च
मन्त्रे ‘उदीर्ण’ ‘एही’ रथनयो राख्यातयोर्निमित्तमत्र प्रतिपाद्यते “अभि सवभूये,
ति । ‘यतस्तत् पूर्वं विधियोरैवस्य वनित्वमभिसवभूय । न त्विदं मृतशरीरं ते
परितो हेतोरुत्तिष्ठेति’ इत्यस्येन भाष्यकदादिमिर्यंहित्वम् । ‘नारी’ नि
चामन्त्रणविमर्श इति चामिमुखमुद्दिश्य प्रतिपादनमिति सर्वस्या अपि विहित
प्रतिपक्षकसामग्र्याः सूत्रेऽपि विधिरकल्पना शोभते मीमांसानभिधानानेव वरानिति
कृतमनलज्जनेन । अथैव सत्तुदीर्णेत्यपि विधेर्न स्यादिति चेन्नास्तरेव च विधि,
कल्पसूत्रोक्तविधेरभिधायक एवैव मन्त्र इति स्फुटोऽप्यत्र मीमांसारिशोभिन्याम् ।
तदनवच्छेदो तु कृते ‘उदीर्ण’ वि विधिः प्राग्बोचाम सामान्येन । तस्मादभि
सवभूयेति लिगे लोड्यकता दूरतरमपास्ता । यदपि ‘पतिस्थानीयो देव’ इत्याश्व

त्यानोक्त्या द्वितीयस्य पर्युदेवरश्मिदवाच्यस्य पतिस्थानीयतामुपेक्ष्य पुनर्विवाह
प्रसाधनं तदपि कुशकाद्यावलम्बनम् । पतिकर्तृकपुसवनादिप्रसक्तसंस्कारेषु
प्रातिनिध्यमात्रेण पतिस्थानीयताया व्याख्यातृद्विरूपवादितत्वात् । देवरश्मिदस्य च
सामान्येन द्वितीयपत्यर्थकतानुपदमेव प्रतिपेत्यते । साधित चानुपदमेव स्वरूपं
ग्रहणीचिरं पूर्वंपक्षे सोपपत्तिकमिति स्वरूपार्थोभिधायकतैव देवरश्मिदस्य सर्वथा
समुच्चिता । पापुनितरक्षणादिकार्यकारित्वादिनापि च पतिस्थानीयत्व स्वरूपदम् ।
न हि पतिस्थानीय इति पापु सर्वाणि कार्याण्यपि तेन विधेयानि । 'मातृवन्
परदारेष्विति' नहि सर्वे परदारा विदुष्योऽपि भवन्ति । किं च यदि द्वितीयो
वर एव देवरस्तर्हि नूनं च पतिरेव, तस्य किमिति पतिस्थानीयता स्वरूपता विदिता ।
तस्मादेवंविधार्थप्रकल्पना नितरां शास्त्रार्थगन्धशून्यानामेव सङ्गच्छन्ते । इदित्य
कथंचिदापातत संभवति मन्त्रस्यास्य पुनरुद्धाहार्ये सवयोरपत्तिभिः प्रतिपक्षे येन
विदुषामुपहासाददीमृताऽभिज्ञमन्याना याद्विच्छिन्नी हठादाकृष्यार्थप्रकल्पना 'हे
(विधये) नारि एत गतामु गतप्राण मृत विवाहित पति (त्यक्त्वा) अभिजीवणेक
जीवन्त (देवर द्वितीयवर पतिम्) एहि प्राप्नुहि । उन्मोये-तस्यैवोपरेये (सन्तानो
त्पादनाय वर्तस्व) (तसन्तान) इत्येवमस्य विवाहे सङ्गृहीतइत्यस्य पर्यु
'स्यात्' । (यदि नियुक्तपत्यर्थो नियोग इत्यस्ति) दिधिषो तस्यैव सन्तान
भवेत् । तदेवम् इदमेव विधवायास्तव, जनिष्ये सन्तानं भवति । हे विधवे विगत
विवाहजीवस्य पर्युभेतन्नियोगकरणार्थ एव) उदीर्ष्व—(विवाहितपतेरमरणानन्तर
मिम नियोगमिच्छ) तथा अभि सवभूथ—सन्तानोत्पत्तिं कुर्यात् मुक्तं सपुत्रा
भवेति, । श्रुदेवादिभाष्यभूमिका, नियोगप्रकरणे) सा स्वल्पकपाक्षपथैव पराकृता ।
यद्वच्छाया तत्तद्व्याख्याय यत्किञ्चिदर्थप्रकल्पनं नामेदं क उच्येता अनुमन्येन ।
यथाहि कश्चिद् 'अग्निमीले पुरोहितम्, यस्य देवम् चजम्, होतार सनघातमम्'
इति मन्त्रस्यास्य 'अग्निं पृष्टु धिन्, अह त्वामीडे, पुरोहितं यस्य मग्ने देव
प्रकाशमानमृतिवज्जहि, सनघातमम् अतिशयेन धनव त होतारमुल्लुण्ठे' स्यादि
यत्किञ्चिदर्थं प्रकल्पयेत्—स एवायमप्यध्वा । रफुः परस्परं प्रतिभासमानसम्बन्धानि
पदानि याद्विच्छिन्नोपकल्पनया स्वबुद्धयेकान्यथा योज्यन्ते इति कथमसौ वेदार्थः ।
स्वरूपेण किमप्येतद्वेदमित्युपायोप्यत इति सत्यम् । तदाहुनष्टपादास्तन्प्रतीक
(१ अ० २ पा० ७ सू० व्याख्यायाम्) "यदि सन्तरानुपात्ताऽप्यर्थोऽस्मदादि
भिरेव कल्प्यते, यस्मादत्र प्रयत्नेन धारयामस्तस्मादस्य पुरुषार्थतेति, तथा सत्या
मचोऽष्टवशेन प्रामाण्यमनुपगतं स्यादिति" । इह युक्तेऽप्ये उदीर्ष्वेतस्य नियोग
मिच्छति सर्वथा प्रमाणविरुद्धोऽर्थः । त्यक्तपति, देवपति, सन्तानोत्पादनादिसादि,
चाप्रामाणिशोऽप्याहार । जनिष्यमिति सन्तानार्थोऽत्राचक्षम् । 'यमो जातो यमो
जनिष्ये जात कनीना पतिजनीनाम्, (श्रु० १ म० ६६८) इत्यादौ "कन्यकानां

धारो वरपिता, यतो विवाहसमयेऽनौ लाक्षादिद्रव्यहोमे सति तासां कन्यात्व
निवर्तते । तथा कनीना आयाना कृतविवाहानां भर्ता पालयिता, यतोऽयमनुष्मिन्
योगे फलं प्रयच्छतीत्येवमादिना आचार्यकृतेनैव कृतिशब्दस्य व्याख्यातव्य
त्वात् । अनेनैव कनित्वमुपलक्ष्यमानमिति व्यख्यामनुसृत्य सन्तानार्थकता सम्भवेत्
सोऽयं भिन्न आचूदात्तो कनित्वशब्दस्त्वप्रत्ययान्तः । प्रकृते च त्वप्रत्ययान्तोऽयम
न्तोदात्त इति शकुं वैपयम् । तथैव च—इतामुमुशोपे—इति शकुं भावमानस्या
न्वयस्य परित्यागः । उपशोपे—इति स्वरसामञ्जस्यादिनाकृतस्य लिङन्तस्य सुबन्तत्वं
प्रकल्पनमिति दोषघ्नतः कृषिय एव परामृशन्तु । कृतनसि विस्तरेण । अदित्य प्रथमो
मन्त्रस्तावद्विरुद्धार्थे व्यवस्थापितः ।

अथ यदिह मन्त्रान्तरं विधवेद्वाहे प्रमाणमित्युपन्यस्यते—

कुह स्निहोपा कुह वस्तोरश्विना कुहामिदित्वं कृतं कुहोपतु ।

को वा शयुना विधवव देवमयं न योषा कृणुते सद्यस्य वा ॥

(श्रु० १०-४०-२)

तदपि नार्थस्थितसाधनाय प्रभवति । अनुक्रमगिकायामभिदैवतत्वन
दोषायां काहीवत्या आर्षत्वेन चानुकान्ते 'यो वा पारप्तेत त्रीणि त्रिभिर्भवे
अयं' (भा० श्रु० सूत्र, ४, १५) इति भगवताश्रयायननं प्राप्तवन्तु
वाक्काश्वनशब्दयोर्विनिमुत्तेऽस्मिन् मन्त्रे न हि किमपि लिङादिकं भूयते—येन
पुनश्चाहो विधीयेत नापि निष्पत्त्यै सम्भवति, तादृशसामान्या अभवात् ।
अथ 'शयुना विधवव देवमयं' इत्युपमानेन 'यथा विधवा—मृतमर्तुका शयुना—
शयने, देवमभिमुखीकरोती' इत्ययमनं तादृशव्यवहारानुरूपत्वा सम्भवेत्येव
विध्याक्षेपः, इति चेदपि क्वचिच्चिन्तना—अन्तु यथा कथावाद्वाच्याक्षेपः, न त्वय
पुनश्चाहविधिः । पुनश्चाहो देवमयं बोद्धाह इति नियमे प्रमाणा—रूपे । विवाहोत्तर
तस्य देवशब्दव्यवस्थानुपपत्तेश्च । नियोगस्तु 'देवराज्ञा सविष्ठाज्ञा स्त्रिया सत्यक
नियुक्त्या' इत्यादि स्मृतिप्रामाण्यादुपोधादास्त देवस्य प्राधान्यम् । तदपि च
नियोगे क्षेत्रस्वामिन एव स्वस्मिन्निमित्तान्ते स्मृतिकारा इति देवशब्दोपपत्तिरपि ।
तस्माद्वियोग एवास्या उपमायां सामञ्जस्येन तृतीये पक्षे मवेदस्य मन्त्रस्य
कथं चतुःपक्षगतो न तु प्रथमे । अगोच्येत—देवशब्दोऽयं प्रकृतमेव मन्त्र
व्यावृत्तयेन मन्त्राणां यास्तेन 'देव इत्येव द्वितीयो वर उच्यते' इत्येवं
निरुक्तं (नि० ३० ३ पा० ३) तथा च नहि देवशब्दो मर्तुमन्त्राति
रुद्ध भूतावरोक्तम्यते, अपि तु द्वितीयस्याभिप्रायक—उपपत्तिरिति निरुक्तप्रमाणं—
द्वितीयस्य वरस्य विवाहमन्तरोपसम्मानतया स्फुम्भवेदनव द्वितीय विवाहनव
बोधयेदिति । तदेतदप्यर्थनिवशोधनित्वात् साहसमाश्रम् । निरुक्तमर्थनिवशोधनात् ।

(निवृत्तश्रुतचिरदृश्यम्)

न हि निवृत्तश्रुत शब्दश्रुतसि प्रविष्ट प्रवृत्तिनिमित्त व्यावृत्ति, अपि तु यथैव
 न शब्द प्राकृतने प्रवृत्तते, तदनुगुणं श्रुतचिन्मय शब्दस्य निवृत्तश्रुतेश्चिद्व्यवृत्ते ।
 निवृत्तचिन्मयश्रुतसि हि 'अथ नय परीक्षेत' 'निवृत्तश्रुतो हि वृत्तश्रुतो भवति' इत्यादि
 श्रुतश्रुतश्रुत तदनुगुणं (२ अ० • ५०) । तत्रेदमाहुः—एव श्रुतसि
 शब्दस्य येन कलाप्रयोगविशेषो मुद्रितः सम्बन्धः सर्वोपि सदेतुः इति प्रतिगमते तत्र
 मन्तो नैवृत्ता । चिरन्तनसंज्ञितश्रुतसि शब्दश्रुतसम्बन्धस्य निवृत्तश्रुतानुगते ।
 तत्रैव सन्तव तेषु तेष्वर्थेषु क्वचिदन्विष्टेया यात्रिनेचीहृत्य ते ते शब्दास्तेष्वर्थेषु
 चिरन्तने संक्षिप्ता । त एव धर्मा धनत श्रुतान् श्रुतादयनोदररीत्या इति
 तदर्थमप्य निवृत्तश्रुतश्रुतश्रुतं नाम । ते तु शब्दप्रवृत्तिनिमित्तमृता धर्मा
 यद्यन्तरं श्रुतश्रुतस्यन्ते, कामानुगम्यन्ता नाम । ननु तावता स शब्दश्रुतसि
 प्रवृत्तेव । अथश्रुतश्रुतो हि शब्दप्रयोग, अथहारश्च चिरन्तनप्रविष्टिश्चिन्मय
 चिन्मय इति । अथ एव प्रथमाध्याने 'सर्वोपि नामान्ताध्यानधर्मा' इति प्रतिगमते
 "अथ चेत् सर्वोपि नामान्ताध्यानधर्मा नामानि स्युः, य कथं तत् कर्म इत्यन्तं सर्वं
 तावत् तथाचारीन्, कथंचनाध्यानमनुवीत-अथ स वचनीय इति, यत्
 त्रिद्विचिन्मयाचूतं तदिति", वैशाखरणात् पूर्वश्रुत, "परशाम समानधर्मा नाम
 धर्मप्रतिगमनधर्मान्, नैकधर्मान्-यथा तत्र परिगमको जीवना मूमिब इति"
 इत्येव समाहितो मगवता निवृत्तश्रुता, न तस्युगमन । सर्वोपि प्रातिगमिकाणां
 श्रुतश्रुतश्रुतश्रुतश्रुता यत्र यत्र व्युत्पत्तिविद्वधर्मयोगस्य सर्वमेव तत्र श्रुत
 प्रवृत्तिश्चिन्मय, तथा च 'अष्टत्रिध्यानधर्मस्य' इति श्रुतश्रुतश्रुतश्रुतश्रुतश्रुत
 श्रुतश्रुति मनुष्याणां श्रुतश्रुत प्रवृत्तेनेति पूर्वश्रुतश्रुत । तत्रैव च पदश्रुतश्रुत
 श्रुत, चेति श्रुतश्रुतश्रुतश्रुतश्रुतश्रुत श्रुतश्रुतश्रुतश्रुत, तत्रैव तत्तदन्तर्मात्रेण न
 सर्वं प्रवृत्तते-सर्वोपि श्रुतश्रुतश्रुतश्रुतश्रुतश्रुत श्रुतश्रुतश्रुतश्रुतश्रुत, अथानि न स
 तावत् भवति । सर्वोपि च काल काले मुद्रितश्रुतश्रुत परित्यज्य दधान्तर प्रवृत्ति,
 ननु तावता परिगम्यते । इत्यादि । तथाच यत्र तत्र शब्दा अथश्रुतश्रुतश्रुतश्रुत
 वा तानर्थसम्बद्धा व्युत्पत्तिमयश्रुतश्रुतश्रुतश्रुतश्रुतश्रुत, ननु तावता सर्वोपि तथा
 श्रुतानां प्रयोगः शक्य आत्मानविदुम् । 'अन् हि धर्म परीक्षक परीक्षो ननु
 श्रुतश्रुतश्रुतश्रुतश्रुतश्रुत प्रमुता परीक्षकम् । सर्वोपि समाने धर्मसम्बन्धे क्वचिदेव शब्द
 प्रवृत्त यत्र नान्यथेयं शब्दश्रुतश्रुतश्रुतश्रुतश्रुत एव हेतु स्यात् । यैरिन् श्रुतश्रुत शब्दा
 श्रुतश्रुतश्रुतश्रुतश्रुतश्रुत वा, वैशेष्याचतदर्थयोगे वत्तास्त्रास्तदप्रवृत्तम् । इदं तु
 श्रुतश्रुत-श्रुतश्रुतश्रुतश्रुतश्रुत इति यत्र श्रुतश्रुतश्रुतश्रुतश्रुतश्रुत प्रवृत्तते-तत्रैव 'श्रुतश्रुत निवृत्त'
 निवृत्ते श्रुतश्रुतश्रुत, ननु यदेव श्रुतश्रुत निवृत्तश्रुत कथादि, तदपि गृह्य भवति ।
 अतस्तदर्थश्च यैव सन्ततिरूपेण वृत्ते प्रवृत्तश्रुतश्रुत, अतस्तत भवति' इति श्रुतश्रुत

दनीय, ननु नीचैर्विषयैर्द्वयत्वादिभिरपि तावतापत्य स्यात्-इत्येव भगवतो
याम्भस्य सुखम् आशयः । अत एव च 'अन्यद्दि शब्दानां व्युत्पत्तिनिमित्तम्'
इत्याहुरभियुक्ताः । तथा च देवशब्दोऽपि यत्रैव भर्तुर्भ्रातरि व्यवहारसिद्धः,
अतिस्मृत्यनुमोदितश्च, तत्रैव 'द्वितीयो वरः, इत्येव व्युत्पाद्यः स्यात्, ननु द्वितीये
वरे यत्र कुत्रापि देवशब्दप्रयोगो युज्येत व्यवहारविस्वादादिति निपुण भाष्यतां
भावुकैः । भर्तुर्भ्रातरि द्वितीयवरात्वं तु 'पुत्रवनादिकर्मसु पतिप्रातिनिध्यात्-इति
क्रीडालापादिषु भर्तुरपरस्य तस्यैव प्राप्त्यादित्यादि, पूर्वस्मिन् मन्त्र एव
व्याख्यातम् ।

उपपादितोपि च भवतेत्येव देवशब्दप्रयोगे पुनः परिणीताया विधवाशब्द-
प्रयोगानुपपत्तिर्मन्त्रे, नहि 'विधवनात्' विधवनाद्वेत्यादियास्कोका धर्मा परिण-
योत्तर इत्या सम्भवन्ति । भूतपूर्वाभाष्येण त्वगतिकगति । अथ चाप्यत्र 'देव-
कर्मणा द्वितीयो वर उच्यते', इत्येष न साम्प्रदायिको निरुक्तपाठः, अपि तु कैश्चि-
दिदानीतनैः प्रक्षिप्त इति स्फुटमुपगतं तैस्तैर्विवेचकैः । अत एव च 'देवो दीव्यति,
कर्मैति व्युत्पत्त्यन्तरमत्रैव निरुक्ते देवशब्दस्योपलभ्यते । पूर्वमेका व्युत्पत्तिमभि-
धाधानन्तरं द्वितीयापि व्युत्पत्तिरभिहिता स्यान्निरुक्तकृतेति चेदनु नाभिजानावि-
निरुक्तशैलीम् । बहुषोऽपि व्युत्पत्तय एकस्य शब्दस्यैकत्रैव 'एव वा, एव
चेति, रीत्या निरुक्तकृताभिधीयते । ननु मध्ये शब्दान्तरं व्युत्पाद्य पुनः
सिद्धावलोचनमप्यायेन पूर्वतनशब्दव्युत्पादनं निरुक्ते दृष्टचरं कापि । इह तु देव-
कर्मणादित्यादिपाठोत्तरं विधवाशब्दनिरुक्तिस्तदनन्तरं च पुनर्देवो दीव्यतिकर्मैत्या-
द्युक्तिरिति स्फुटं पूर्वतनस्य प्रक्षिप्तत्वम् । अत एव च प्राचीनेषु बहुषु पुस्तकेषु
तादृशपाठानुपलब्धे, देवो दीव्यतिकर्मैति तु सर्वत्रोपलब्धम् । किं च सर्वत्रैव
मन्त्रेषु मन्त्रपाठक्रममश्लक्ष्म्यैव शब्दा निरुक्तकृता व्युत्पादिता, इह तु 'विधव-
देवरम्', इति पूर्वभूत विधवाशब्दपरित्यग्य पूर्वं देवशब्दव्युत्पत्त्यभिधानमिति
तमानसमञ्जसम् । विधवाशब्दव्युत्पादनानन्तरं 'दीव्यतिकर्मैति' व्युत्पादनमेव
स्वाचार्यशैलीसिद्धं सर्वानुमोदितं चेति निर्विवादमेतत् । ततश्च क्रीडालापाद्युपयुक्ते,
भर्तुर्भ्रातरि देवनादेव देवशब्दप्रवृत्तिरिति व्युत्पत्तिमवलम्ब्यापि साहसमिदमभिसि-
चित्रायितमेव । तस्मादभियोगेऽस्य मन्त्रस्य कथञ्चित् प्रामाण्यसमवेऽपि पुनरुद्वाहे
न सम्भवेत्येव प्रामाण्यमित्याहुः ।

(दृष्टान्तेन विधिप्रवरूपनानौचित्यम्)

वरतुतस्तु नियोगेऽपि न समकृत्यस्य मन्त्रस्य प्रामाण्यम्, विध्यभावात् ।
उपमा तु लोकसिद्धव्यवहारानुवादिकैव मनेन तु विधायिका । सर्वत्र हि सिद्धेन
वस्तुना सिद्धं वा साध्यं बोधनीयते न हि साध्येन । तस्मादभिस्तुतावेव मन्त्रता

‘स्वर्ग्यम्’, ‘विधवेव देव’ मित्युपमा तु लोकव्यवहारमेवानुवदति, न तु किमपि विधत्ते । अथ तथापि तादृशो व्यवहार भुतिविद्वद्दृष्ट्याऽप्युपगत भवतीति चेन्नैतन्नि-
 पुण पश्यति, भूत्या विहितमेव भवेच्छ्रुतिविद्वद् न तु भूत्यानूदितमपि भूतिविद्वद् ।
 अत एव ‘चोदेनाल्लग्नो यो धर्म’, इति भगवता वैमिनिना विधिवाक्यप्रकाशितस्य
 वार्थस्य धर्मत्वमाख्यातम् । न चोपमादीनां सर्वत्र विधाद्येवैकत्वमभिप्रेयन्ति मोमां
 सका । ननु यावता भूत्या तादृशस्य व्यवहारस्य विद्वद्भिरनूदितम्, तावतैव
 धर्मत्वं तस्य सिद्धमायम् । न ह्यधर्म्यो व्यवहार भूत्यानूयते, भूत्या चानूदितस्यापि
 व्यवहारस्य धर्मत्वमप्युपगतन्तव्यमेव भवेत् । किं । शिष्टाचारस्यापि धर्म प्रामा-
 ण्यमनुमानन्ति धर्मसूत्रकाराः, तथा च भूत्यानूदितस्य व्यवहारस्यातिपुरातनत्वं
 सिद्धौ शिष्टाचरितत्वादपि भवन्नियोगस्य प्रामाण्यमिति चोत्तरमेतदनर्थकम् । यत्र
 कुत्रचित् प्रविष्टेनापि व्यवहारेणोपमानिर्वादे तस्य सार्वत्रिकत्वकल्पने, शिष्टाचरित-
 त्वप्रकल्पने वा प्रमाणाभावात् । यथाहि विधाद्युद्देश्यताकच्छेदकाच्छेदेन विधे-
 याङ्ग्यं कल्प्यते, न तथानुगदे तत्कल्पने किमपि प्रमाण पश्याम । तथा च योऽयं
 द्वितरेषु शूद्रारम्भसत्त्वादिषु प्रविष्टयति नियोगव्यवहार, यो वा प्रतिषेधशाल-
 मतिकामनया द्विजलिना अपि कदाचन सम्भवेत्, एव भूतो दृष्टान्तव्यानूदित-
 न तु तावता तस्य भवेदधर्मत्वम् । विधिर्यार्थमावेन धर्मत्वादिदे । चिरन्तना
 एव व्यवहारा भूत्यानूयन्त इत्यपि निवारम्, भूतमश्वमभिप्रेतौ त्रिविधा-
 नामपि व्यवहाराणां भूत्या प्रतिपाद्यत्वात् । अवश्य हि वेदमित्यस्ववादिनि-
 रिदिमिथ्येनामुपगन्तव्यम्—अन्यथा वेदस्यानादिरुभङ्गावत्ते । इयमेव च वेद-
 प्रतिपाद्येषु यज्ञ-राज्यसमाज-व्यवहारादिषु गतिरित्यास्तामेतदमहत्तम् । किं च
 नायमपि नियमो धर्म्यो एव व्यवहारा भूतावनूयन्ते, भूतावुक्तमात्राणां व्यवहारा-
 णां वा भवेदधर्मत्वमिति । पश्यामस्तु सर्वथा धर्मविरुद्धतया सर्वदरीकृतानामपि
 व्यवहाराणां भूतावनूवादम् । तथा हि—

‘उदीरय पितरा धार भा भगमियस्यति ह्येतो ह्यत्त इष्यति ।

विपत्तिं वि विस्सवते मवस्तविष्यते अमुरो वेपते मती ॥

(श्रु० ७ वा० ११), (अथ० १८ का० १ अ० १ सू०)

इति वाङ्मयार्थनापरे मन्त्रे ‘धार भा भगम्’ इत्युपमया कारव्यवहारस्य
 वदन्त्यतः । एतदधिकृत्य व्याचख्यौ तत्रमवान् यास्काचार्य —

‘आ इत्याकार उपमार्थ, “धार भा भगम्” धार इव भगम् । ‘स्वमुर्जाट
 शूतो न’ उपसमस्य स्वसारमाह । अपि तस्य मनुष्यधार एवामिमेत स्यात्,

‘स्त्रीमस्तथा स्याद्—भवते ।

(निब० ३ अ० १६ सू०)

तेन च जारो—जरायिता आदित्य, भग—भजनीय, भौममान्तरिक्ष वा रस यथा प्रेरयति तथेति, प्रसिद्धो जार स्त्रिया भग यथा प्रेरयति ग्लानरूपा करोति तथेति चार्थद्वयमत्र पलितम् । तत्र द्वितीये यास्काभिमतोऽर्थे सुस्पष्टो जार व्यवहारः । तथैव च—

‘प्रमिनती मनुष्या युगानि दोषा जारस्य चक्षमा विमाति,

(ऋ० १ म० ९२ सू० औषसे सूक्ते)

इत्यादावपि बहुबानूयमान उपलभ्यते जारव्यवहारः । यथा च व्यवहारा नुवादादमात्रेण विधिप्रकल्पकानां ‘योषाभि प्रियो जारोऽनुगन्तव्य’ इत्यपि विधि प्रकल्पनीय स्यात् । भृत्यनूदितानां च व्यवहाराणां धर्म्यत्वमेवाभिमतं मानैर्नारव्यवहारोऽपि धर्म्य इत्यप्युपगम्येत । ननु ‘जस्यतीति जार’ इति ‘पुत्तिम नुरुध्य यौवनादिजारके मुख्ये पत्यावेव प्रयुक्तोऽयं जारशब्द इति नासद्व्यवहार आशयानया सिध्येदिति चेत्—तर्हि ‘विधवेव देवरम्’ इतीहापि ‘दीव्यति—रमते’ इति ‘पुत्तिमनुरुध्य मुख्य पतिरेव वाच्योऽस्तु, विशिष्ट प्रेमातिशयेन पुरस्कृता धनो यस्या श्वेव च सौभाग्यवती भवतु विधवाशब्दप्रतिपादोति नैवात्र कोऽपि नियोगादिकल्पनावसर सम्भवेत् । ‘मर्यं न योदे’ति पुनरुक्तमेव सति स्यात् न इति चेदस्तु मर्यं देवर विधवा योषा इवेति सामानाधिकरण्येनैवान्वयः, उरमार्थकनकारद्वयप्रयोगस्तु सादृश्यदाकार्यं भवतु । भवतु वा ‘मर्यं—मरणधर्मा गमध कुक्कुर वा यथा योषा बहवा शुनी वाऽभिमुखीकरोतीति’ द्वितीयेयमुपमा शब्दानां रुढिरेव सति विरोधिता स्यादिति चेन्ननु तथापि जारशब्दस्य रुढि विरोध शिरसि पतित एव अभियुक्तव्याख्यातवचोविरोधभाष्युभयोस्तस्य एवेति । अथ च—

‘यमो ह जातो यमो धनिश्च जार कनीना पतिर्जनीनाम्’

(ऋ० १।६६।८)

इति याग्ये मन्त्रे ‘कनीना—कन्यकानां जार—इति विशेषणदत्तात् कन्यका जारत्वमपि धर्म्यमित्यभिमान्येत ।

आ ते कारो मृगवामा वचासि यथाथ दूरादनसा रथेन ।

नि ते न सै पीप्यानेव योषा मययिव कन्या श्वश्रु चैते ॥

(निरु—२ अ)

इति मन्त्रे च ‘मर्यायेव कन्या परिश्रवनाय निनमा इति वा’ इत्येव यास्का चार्थेण व्याख्यातामुपमामनुसृत्य कन्यापरिष्वङ्गस्यापि धर्मत्वमापद्येत ।

‘निमिर्द्धां चरत एक या सह प्र प्रवासेव वसत’

(ऋ० ८।२२।८)

इति चादिर्देवतेन मन्त्रेण द्वावधिनौ निमिरश्वैश्चरत, एकया च सह वसत, प्रवासे यथे' ति माधवाचार्ये कृतभाष्येण प्रवासे द्वयो पुरुषयोरैकया स्त्रिया सह सवासो धर्मः' इति प्रकल्पनीय स्यात् ।

‘एथगमन् पतिकामा जनिकामोऽहमागमम् ।

अथ कनिकद्वया मगेनाह समागमम् ।

(अथ० का० २ अनु० ५)

इति चोत्तिमङ्गोमनुसृत्य पतिकामाया स्त्रिया, आयाकामस्य पुरुषस्य च षडधी कामयमानस्याश्वस्येव तत इत आदिष्टन, प्रशस्य धर्म्यमित्यवधार्येत । किं च—

धृतव्रता आदिष्या इषिरा भारे मर्कतं रहस्रिवाग'

(ऋ० १२१।१)

इति मन्त्रं 'रहसि-अन्यैरशते प्रदेशे सूत इति रहस्र्—अभिचारिणी, सा यथा गर्भं पातयित्वा दूरदेशे, परित्यजति, तद्वत्—हे आदिष्या आग, मदारे-मत्तो कर्तुं कुर्वन्' इति भाष्यकृता माधवाचार्येण व्याख्यातमनुसृत्य पुण्यान्तर-अभिचारस्य तज्जनिगर्भपरित्यागस्यापि च धर्म्यत्वं दुर्निवारमेव सति स्यात् ।

यस्मा शृणु यस्य जायामुपैमि यं याचमानो अभ्यैमि देवा ।

ते वाच वादिषुर्मोक्षरा यदेवपनी अम्बरधावधीत ॥

(अथ० ६, १०, ११८, १)

इत्यस्मिन् मन्त्रेऽम्बरसा प्रार्थको ऽक्ता स्वस्मिन्नेवामृगधारण परेषां स्त्रीषु गमनं च व्यवहरतीति तावता तदुभयस्य धर्मत्वं केन वार्येत ।

किमन्यत्—“अत्रा णता दुहितुर्गर्भमाधात्” (निह० ४ अ० उद्धृतो मन्त्रा भाग) ।

“प्रजापति इवा दुहितरयभ्यध्यायत्” (ऐतरेयब्रह्मणे)—

इत्यादिक रूपकोषनिबद्ध व्यवहारमापाततोऽवलोक्य वचनाऽप्यनुच्चारणीयस्य कस्यापि दुष्टतस्य धर्म्यत्वं कश्चिदल्पधीरवधारयैत् । अन्यच्च—

सुवां मृगेव वारणा मृगण्यवो दोषावस्तोहं विद्या निहयामहे ।

(ऋ० १०।४०।४)

‘मृगण्यवो हिंसा, मृगानिव वयं सुवामाह्वयाम’ इत्यध्विस्तुतिपरे मन्त्रे ‘मृगण्यवो मृगानेव’ इत्युपमयाऽनूदितो मृगयाव्यवहार कथं न धर्म्यः स्यात् ।

अथवा हि मूरिदास्तत्रा वा विजामातुस्त वा श्यालात् ।

अथा सोमस्य प्रयती दुवम्भामिद्राग्नी स्तोम जनयामि मव्यम् ॥

(ऋ० १/१०९/२)

इति च मन्त्रे विजामातेति शब्ददाक्षिणायाः श्रीतापतिमाचक्षते, अमुषमात एव वरोभिप्रेत इति तत्रभक्तो यास्त्रस्योक्तमनुसृत्य 'यस्मै कन्या दितिरता' स कन्यादानात् प्राक् तदर्थं द्रविणं ददाति, स्यात्वा वा यावद् ददाति, ततोऽपि शयनेऽमिमुलीकरोति तत्कालनमानपरायणा भवति, न तु भर्तारमनुगच्छतीति "वाल्सवर्धनं मुक्त्वा बालापरा न गच्छती" त्यादिस्मृत्यनुकूलं प्रथमोऽर्थः । दीव्यति—रमते, इति देवर पूर्णं पतिरव, ते यथा विधवा शयनेऽमिप्राप्यर्थं मनुगच्छति अनुम्रियते, इत्यनुमरणविधायकस्मृतौना तथाभूतसदाचाराणां चावधौ घको द्वितीय उरमार्थः । यद्वा 'दिविरैश्वर्यवचन' इति पङ्क्तिविद्यतीति सूत्रभाष्ये प्रामाण्येन भरणसमर्थं पिता भ्राता पुत्रः प्रत्यनुजो वा देवर, त यथा विधवामि मुनीकरोतीति—

पितृमातृमुनभ्रातृश्वभ्रातृश्वरमानुजे ।

हीना न स्याद् विना भर्ता गृहणीयाऽन्यथा भवेत्

(याज्ञवल्क्य)

इति स्मृत्यनुकूलोऽपि तृतीयोऽर्थः । 'दीव्यति—इष्टे इति देवर साक्षादीश्वर एव, ते यथाऽमिमुली करोति विधवा, केवलमीश्वरमाराधयतीति तद्वर्तमानं बोधकं क्षतुर्धोऽयमर्थः । "विजामातेत्यसमात एव वरोऽभिप्रेत" (नि० ६/१/१) इति यास्त्रोक्तमेव निश्चयाख्यानमनुसृत्य वि - अमुषमात पाणिग्रहणेन पूर्णं पतिमावमप्राप्तं, घको यस्या सा विधवात व्याख्यया वाग्दत्तानियोगबोधको मन्वाद्यनुकूलं पञ्चमोऽर्थः । तदित्य समंति स्मृत्याचाराद्यनुकूलोऽर्थपञ्चके केवलयाऽन्यैषोपमया विधवानु यदेच्छमाचरेतुमभीक्ष्णन्तं कथं न साहसिका । रुद्ध्यादिमङ्गापत्याऽनमिमता इमेऽर्था इति चेन्नतु पूर्वोदाहृतमन्त्रेषु यदेच्छ व्याख्यास्यतस्तत्रापि दुर्निवार एव रुद्ध्यादिमङ्ग । पूर्वोदाहृतमन्त्रेष्वपि रुद्ध्याद्यानु कूल्येन व्याख्याने ॥ तत्र तत्रोक्ता जारत्नोरादिव्यवहारा अपि घर्मा प्रसजन्ते । अनुवादमात्रेण न तेषां धर्मस्य विषयभावादिति चेत्समं प्रकृते विधवोद्वाहेऽपि नैव धर्मस्यम् । तस्मात्सर्वथाप्यसामञ्जस्येन नेयमुपमा विधवोद्वाहं नियोगं वा कथमपि घर्मस्येव बोधयितुं प्रमत्तीति सम्यगेतत् प्रत्यपीपदाम् ।

अस्यापि मन्त्रस्य यदिदं निरङ्कुशानामुन्मत्तप्रलपितमिवोत्पन्नायितमिव वा स्वतन्त्रं व्याख्यान्तरं तदपि परिणामप्रेक्ष्यस्तत्ताण्डित्यपरिचायनाय स्वरूपप्राप्त्यैव पराक्रियेति न्यायेनानुदितव्यं तद्यथा—'हे (अग्निनी) विवाहितौ स्त्रीपुष्पौ युवा (कुह) कश्मिन् स्थाने 'दोपा' रानौ 'वस्तो' अस्य, (कुह०) अधिना दिवसे क

वास कुरुषु (द्वाभिः) कुदामिष्व प्राप्तिं कुरुत कुरुत (कुदोपतु) क युवयो
 निजस्थानं वासो (।) स्ति । (को वा शयुत्रा) शयनस्थाने युवयो वासि ।
 इति स्त्रीपुरुषौ प्रति प्रदनेन द्विचनोच्चारणेन चैकस्य पुरुषस्यैकैव स्त्रीय कर्तुं
 योग्यास्ति, तथैकस्या स्त्रिया एक एव पुरुषश्च, द्वयो परस्पर सहैव प्रीतिर्भवेत्
 कदाचिद् वियोगव्यभिचारौ भवतामिति शोच्यते । (विधवेव देवरम्) क केव,
 यथा देवर द्वितीय वर नियोगेन प्राप्ता विधवा इव । अत्र प्रमाणम् देवर
 कस्माद् द्वितीयो वर उच्यते (निरु० अ० ३ ख० १५) विधवाया द्वितीय
 पुरुषेण सह नियोगकरणे आशास्ति, तथा पुरुषस्य च विधवाया सह । विधवा
 स्त्री मृतकस्त्रीकपुरुषेण सहैव सन्तानार्थं नियोगं कुर्यात् कुमारेण सह तथा
 कुमारस्य विधवाया सह (।) च । अर्थात् कुमारयो स्त्रीपुरुषयोरेकवारमेव
 विवाह स्यात्, पुनरेव नियोगश्च । नैव द्विजेषु द्वितीयवार विवाहो विधीयते ।
 पुनर्विवाहस्तु खलु शुद्धवर्ण एव विधीयते, तस्य विद्याभ्यवहाररहितत्वात् ।
 निमोगिनौ स्त्रीपुरुषौ कथं परस्पर वर्ततामित्यत्राह (मर्यं न योषा) यथा
 विवाहित मनुष्य (सधस्ये) समानस्थाने सन्तानार्थं योषा विवाहिता स्त्री
 (कृणुते) आकृणुते । तथैव विधवा विगतस्त्रीकश्च सन्तानोत्पत्तिकरणार्थं परस्पर
 नियोगं कृत्वा विवाहितस्त्रीपुरुषवद्वर्तयताम्” इति (ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका-
 नियोगावपये पृ० २२२) तदस्मिन् त्रिद्वचेतश्चमत्कारबहे स्वैरव्याख्यानं
 अभिशब्दस्य विवाहितस्त्रीपुरुषार्थकत्वे किंवा प्रमाणम् किंवा स्त्रीपुरुषयो शयन
 स्थानविहासयः वेदप्रवक्तुरीश्वरस्यावस्य वाकिमपि प्रयोजनम्, किं च विधवेव
 देवरम्, मर्यं न पोषेत्युपमाद्वयाभ्यामुपमेयम्, कथं च विधवेव देवरमिति तावदाह
 तोपमानमावस्य स्वयमपि चोपक्रमे उपमानतयैव व्याख्यातस्य शेषे मर्यं न पोषे
 त्येतदुपमेयत्वमवलम्बनम्, का च मध्येमध्ये समुद्गुणानां राजाद्यानां शान्दी गति
 रित्यादि सर्वनिदमगैरिकप्रसङ्गो व्याख्यातानुग्रहव्य, कथं च तदाशवैरुपेयन
 विधवोद्वाहाय यावद्वैरुवैम-विचेष्टन्त इति च तदीया अनुग्रहव्या । मन्त्रस्य
 ॥ प्रामाणिकमर्थं निरुक्तकृतोऽभिसन्धिश्च प्रागेव व्याख्यातयाम हस्तुदरम्यते
 विस्तरात् ।

अयेद प्रमाणान्तरं विधवोद्वाहसमर्थकित्वेनावतारयन्ति—

या पूर्वं पतिं विद्याऽयान्य किन्दते परम् ।

पञ्चोदनं च तावज्ज ददातो न वियोपत ॥

(अथ० ६ अ० २० १ २ १ २७)

तदमे च—

समानलोको भवति पुनर्भुक्ता परं पति ।

योऽज पञ्चोदनं दक्षिणा षोडश ददाति ॥

अध्यायीदमेव प्रतिपद्यन्—न भूयतेऽत्र पुनरुद्वाहविधिल्लेशतोऽपि । पञ्चौदन-
प्रशसाप्रकरणे समाम्नातयोस्तत्रैव मुख्यतात्पर्यवतोरनयो पूर्वस्मिन् मन्त्रे पूर्वं पति
परित्यज्यान् धनवर्ती स्त्रिय तत्पतिं चोद्दिश्य पञ्चौदनमिश्रिताब्जदानं विधीयते, अवि-
योरश्च तत्फलत्वेनानुवर्ण्यते । उत्तरस्मिन्पि पञ्चौदनमिश्रिताब्जदानं सदक्षिणमनुष्ठितवन्
पुनर्मूर्ध्नि पुनर्मूषालोक्यरूपफलसम्बन्धो विधीयते । सालोक्य चात्र समानस्थानत्वम्,
समानमुखत्वं समानोपमोगृह्यत्वं वा । मुखे स्थाने उपमोगादौ च लोकशब्दप्रयोगस्य
बहुशः श्रुताधुपलभ्यमानत्वात् । सदित्य पर्यन्तरानुसरणं केवलमत्रानूदितम्, न तु
प्राधान्येन तद्विहितम् । एव च यथा 'इयेनेनामिचरन् यजेते' त्यादौ यद्यभिचार-
मिच्छेत्तदा इयेनेन यजेनेत्यर्थके विधिसंस्पर्शमन्तराऽभिचारस्य नास्ति कथमपि धर्म-
त्वमिति सुस्फुटं निर्णयति पूर्वतन्त्रे (मीमांसायाम्) ।

कार्यकारणभावमानं तु तत्र भ्रूशवाद्याप्यते इयेनयागं शत्रुमारणसाधनमिति ।
तथैव खलु इयेनाधिकरणन्यायेन प्रकृतेऽपि विधिसंस्पर्शमन्तरा नास्ति पर्यन्तरवेदनस्य
धर्मत्वम्, कार्यकारणभावमानन्तु भ्रूया बोध्येत पर्यन्तरमनुगता पञ्चौदनेनाविमुक्ता
भवतीति । यदेव खलु भ्रूया विधीयते तदेव धर्मं स्यान्न तु भ्रूयानूद्यमानपि धर्मं
स्यादित्यसकृदशौच्यम् । विधीयमानस्य चापूर्वबोध्यत्वमेव, न च प्रकृते मन्त्रे पर्यन्तर-
वेदनमपूर्वं बोध्यते 'या परं दिन्दते' इति यन्त्रमुदादिना केवलमनूद्यन् एवेति न
परोक्षमिदं पण्डितानाम् । तस्मान्न समवति विधवोद्वाहविधानेऽनयोरपि मन्त्रयो-
पामाण्यम् ।

ननु च यो यदि न स्वात्तरयन्तरानुसरणं धर्म्यं तर्हि मन्त्रे भूयमाणोऽयं पञ्चौ-
दनविधिः क्वाकश्च विन्देत् । न ह्यधिकारसंपत्तिमन्तरा कश्चिद्विधीः प्रवर्तते, अधि-
कारिविशेषणतया चात्र पर्यन्तरवेदनं पुनर्मूर्ध्नि चानुभूयते, तच्चेदमुभयमपि
धर्ममार्गादपेक्षितमिति ब्रवीष्ये, तथा च भूतिस्मृतिप्रामाण्यवादिनामास्तिकानां धार्मि-
काणां विध्यधिकारसंपत्तिसेवासम्बन्धिनीतिः प्राप्त विधिवैयर्थ्यम् । सोऽयं विधिरेवानुप-
पद्यमानं पुरुषान्तरवेदनं स्त्रिया पुनर्मूर्ध्नि च पुरुषस्य स्वाधिकारितारुपत्तये
रथकाराधिकरणन्यायेन प्रकल्पयेत् । 'कथंस्तु रथकारोऽग्निमादधीते' ति हि विधी-
रथकारेण विद्यासम्बन्धमन्तरानुपपद्यमानो विद्या तत्र प्रकल्पयतीति नैव निरोद्धो
मीमांसकानां धर्माधोश्च, तथैवाधिकारिताप्रकल्पनं केनात्र विधेर्वार्येण इति चेन्नैतत्
भ्यगनुपपद्यन्ति भवन्तः । यथा हि इयेनयागादौ 'मा हिंस्यात् सर्वा भूतानी' ति
प्रतिषेधं तीरक्रोधाक्रान्तस्वान्ततयातिक्रान्त एव भवत्यधिकारी, त च यागविशेषम-
नुतिष्ठेत्तत्फलमुपभुञ्जानोऽप्येषा उत्तरकालेऽवश्यमनयेन मुख्यत एव, धर्मातिक्रमणात् ।
अत एव च इयेनयागादेर्धर्मत्वं चारयितुं 'वेदप्रतिषाद्यं प्रयोजनवदयो धर्मः' इत्य-
र्थपद लक्षणे निवेशयन्तो जैमिनीयाः, अनर्थं च इयेन ब्रुवते । तथैव तुल्यन्यायात्
प्रबलकामगवशीकृता पुनरुद्वाहप्रतिषेधशास्त्रे शिष्टाचारं चातिश्रान्तैव पुनर्मूर्ध्नि तथैव

प्रतिषेधशास्त्रमतिक्रान्तत्वात्तत्र भवनोऽनाधिकारिणौ । इत्थमेव सामर्थ्येऽधिकारि तावत्तये पुनरुद्वाहविधिप्रकल्पनस्या तैगौरवप्रस्तत्वात् प्रदर्शयिष्यमाणपुनरुद्वाहनिषेधवाक्यविरोधापत्तयः । यथा च पञ्चोदनानुष्ठानेन तत्सम्भूतावियोगसिद्धावपि नव देवोत्तरकाले प्रतिषेधातिक्रमगृह्यकोऽनर्थ इति सुस्पष्टं विभाव्यताम् । रथकाराधिकरणे हि न विधिभ्रान्तः सन्नवति वेदाध्ययने प्रवृत्तिस्तिथ्याद्याधन कल्प्यते । इदं तु रागात् एव पुरुषान्तरानुसरणादौ सिद्धा प्रवृत्तिरिति न तदर्थमपि दत्तनश्रावण उपकल्प्य । ननु च रागनोऽतिक्रान्तप्रतिषेधा पुनरपि निषिद्धयेन सुष्येतोक्तं कुत स्तस्यास्तत्पतेर्वा शास्त्रविहितकर्मस्यधिकारः, पतितानां शास्त्राधिकारबहिर्भूतत्वात् । तथा चाधिकारिणोऽभावात् पुनरपि निषिद्धयेन प्रसक्तमिति चेन्नैतदेवम् । सर्वानि पातित्ये निषादस्यपत्यधिकरण्यायेन कर्मविशेषे विधिनैवाधिकारस्य कल्पनीयत्वात् । यथा हि 'निषादस्यपति याजयद्' इति विधिरनुरपदमानतया वर्णश्रय बहिर्भूतस्यापि निषादस्य कर्मविशेषेऽधिकारिता प्रकल्पयति तद्वेदायमपि विधि कर्मविशेषे पुनर्भूतेश्वधिकारिता प्रकल्पयिष्यतीति सामञ्जस्यत्वात् । न चैकमप्यपूर्व कल्पना शिरसि पतितैवेति पञ्चान्तरानुसरणमव धर्मत्वेन कल्प्यतामिति श्रमिन्भवम् । अपूर्वविधिप्रकल्पनापेक्षयाऽधिकारितामानप्रकल्पने लाघनस्य सुस्पष्टत्वात् । वचनान्तरविरोधस्य चान कल्पऽनवतारात् । अस्तु च प्रायश्चित्तादिनिषिद्धये पतितादेरेवाधिकारित्य भूतिस्मृत्याचारसिद्धमिति तद्वेदावापि अर्थात् पतितस्यैव पुनर्भूतेश्वधिकारिताऽस्तु । तथा हि—मन्त्रविद्वन्मुख्य प्रायश्चित्त एव मगवता कौशिकेन विनियुक्ते—

यस्मा श्रूय यस्य जायामुपैमि य याचमानो अभ्यैमि देवा ।

ते वाच वादिषुमोत्तरा महेवजो अप्सरतावर्षाम् ॥

(अथ० ६, १२, ११८, ३)

इति प्रागुदाहृते मन्त्रे पारदारिकादेरेव अधिकारित्व सिद्धयति, स्मार्तेषु च द्वादश वार्षिकदिश्रुतेषु ब्रह्महादे मुरापादेरेव चाधिकारित्य सर्वसिद्धम् । ननु प्रायश्चित्तस्य पापापनोदकत्वाद्भवतु तत्र पापिनामेवाधिकारिता, तत्कर्मविधिभ्रान्तरा पापापनोद नस्याशक्यत्वात् । कर्मन्तरेषु तु पतिना किमिति शङ्केषाधिक्रियते । एवं हि शिष्टैकसमाभ्यगोयना शास्त्रस्य भवते, पतिरित्यपि च कर्मसु लोका प्रोत्साहिता भवन्ति इति चेद्विपरीतमिदं दर्शनम् । येऽपि खलु प्रहृन्ता तमोहुक्ला काममोघ लोमादिनाऽनमिमवनीये कशीकृता सात्त्विकराजसादिषु कर्मसु सर्वथा प्रवर्तमानाः शक्याः, ये वा देहात्मवादे एव पर विश्वस्ता परलोकसम्बन्धमन्त्रोऽनभ्युपगच्छन्त एव परलोकैकपलेषु कर्मसु न प्रवर्तन्ते तेष्वपि परमकारणिकेन शास्त्रेण स्वस्वमित्थ पितानुक्तेषु दण्डफलषु तामग्नादिभ्यः कर्मसु कार्यकारणमावविशयमनुबोध्य प्रवर्तता कथञ्चित्स्वमर्यादाव चेदनुप्रवेश्यन्ते । एवं हि दण्डप्रत्ययेन शास्त्र विश्वगत क्रमगा

इष्टान्तेऽपि कर्मसु प्रवृत्त्यन्ति, शास्त्रविधिमाभिताम् प्राकृतिकं तमोबाहुल्यं शनैः
शनैरपहास्यन्तीति । तस्मादेतादृशतमोबहुल्लोकानुग्रहाय प्रवृत्तं तदर्थमेवोपयुज्यते
एवंनिर्धे शास्त्रम् । स्वप्रवृत्त्या विधिप्रतिषेधशास्त्रमतिक्रामतश्चापि तानेव पुनः
पुनरनुग्रहसुदृढ्या स्वविहितकर्मसु अधिकारमन्वोघ्नावबोध्य प्रवर्तयति, गुडबिहिक-
यैव हि बालान् कटुकौषधपाने प्रवर्तयन्ति मिषवराः कारुणिकाः । शिक्षानान्तु
प्रवृत्त्यैव शास्त्रेषु विश्वसतो प्रतिषेधशास्त्रातिक्रमणमीताना पारदार्यं पुनर्भूतत्वादिषु
प्रवृत्तिरेव न जायत इत्यधिकारसपत्तिविरहान्नैवविधानि कर्माणि तेषूपयुज्यन्ते ।
अधिकारिनिशेधमत्सेऽपि न पारदार्यादीना धर्मत्वमिति व्यवस्थापितमेव किं प्राक् ।
न च शिक्षानामधार्मिको प्रवृत्तिरिति नात्र किमप्यसमञ्जसमापद्यते नाम । अत एव
च ताम्रतानपि लोकाननुग्रहीतुं शास्त्रविधौ च कथंचित्तान् प्रवर्तयितुं मारण मोहन-
दशीकरणादीना दूषतविजयादीनामपि चाभ्युपायमूताः प्रयोगविशेषास्तत्र तत्र
विधीयन्ते तथा हि ।

इमां खनाभ्योषधिं वीरुघा दलवत्तमाम् ।

यथा सपत्नी बाधते यथा सविन्दते पतिम् ।

(अथर्व० ३ । ४ । १८ । १)

इति मन्त्रे सपत्नीबाधनस्य तद्विशेषस्य पर्युः पुनः प्राप्तेऽभ्युपायः भवते ।
कृत्स्नमपि सुकमिदं पूर्वोक्तपर्यालोचनया सपत्नीबाधन एव व्यवनिष्ठते । मन्त्रलिङ्ग-
मनुसृत्य च कल्पसूत्रकृता नम्रमशता कौशिकेनापि सपत्नीबाधनाभ्युपाय एवेदं
विनियुक्तम्—‘इमां खनामीति वाणापर्णी लोहिता जाया द्रव्सेन सनीय शयन-
मनु परिकिरति’ (कौशिकसूत्र ४ । १२) इत्यादिना । ‘इमां खनामीति
तृतीयस्कन्धेन सपत्नीबाधकर्मणि वाणापर्णींश्च चूर्णे लोहितवर्णां जाया चण्डुदकेन
समिधय अभिमन्त्र्य सपत्नीशयने परिकिरेत्’ इति चावतारितं माध्यकृता
माधवाचार्येण । न च सपत्नीबाधनं भवेदभ्युपायमपि तत्र प्रवृत्तायास्तदभ्यु-
पायो विधीयत एव ।

उत्तुदस्तेषुत्तुदतु मा धृषाः शयने स्वे ।

इषुः कामस्य या भीमा तथा विध्यामि त्वा हृदि ॥

आधरिणां कामशल्यामिषु संकल्पकुल्मलाम् ।

ता सुमनर्ता कृत्वा कामो विध्यतु त्वा हृदि ॥

(अथर्व ३ । ५२५ । १-२)

इदं न सूक्त मन्त्रनिङ्गनेवानुसृत्य आवशीकरणे कल्पसूत्रकृता कौशिकेनर्णिना
विनियुक्तम्—“उत्तुदस्तेषुत्तुदतु मा धृषाः शयने स्वे, एकविंशतिं प्राचीनकण्टकानलकृताननू-
क्षानादधाति । सितानकाण्डया हृदये विध्यति” (कौशिक० सू० ४ । ११) इत्या-
दिना ।

यथा वृक्ष लिङ्गज, समन्तं परिपश्ये ।

एवा परिष्वजस्य मा यथा मा कामि यन्ते यथा मन्वापगा अस ।

(अथ० ६ । १ । ८ । १)

इदमपि सूक्तमर्थानुसारेण स्त्रीवशीकरणशोधकम्, तत्रैव भौते विनियुक्तं च ।

उन्मादयत मरुत उदन्तरिक्ष मादय ।

अग्न उन्मादया स्वमसौ मामनुशोचतु ॥

(अथ० ६ । १३ । १३० । ४)

“देवा ग्रहिण्युत स्मरमसौ मामनुशोचतु” ।

इतीदमपि सूक्तं स्त्रिया उन्मादन-विषये देवान् प्रति प्रार्थयते । कौशिकेन (कौ० सू० ४ । १२) तत्रैव विनियुक्तं च ।

स्वप्नु माता ह्यप्नु पिता ह्यप्नु खा स्वप्नु विश्वति ।

ह्यपन्वस्यै ज्ञात्य स्वप्नवयमभितो जन ॥

(अथ० ४ । १ । ५ सू०)

एष खलु स्वप्नप्रयोगः । इदं सूक्तमवतारयति भाष्यकृन्माधवाचार्य — ‘सहस्रमृङ्ग’ इति सूक्तेन स्थभिगमने तस्य स्तत्परिहरवर्तिना च स्वापनार्थमुद्गातृ सपात्य अभिमन्त्र्य तेन शयनशालां प्रोक्ष्य शेषमभ्य-नरक्षारेभिनयेत् । घृणित हि — ‘सहस्रमृङ्ग इति स्वापनम्, उदयात्रेण सगतवता शाला संयोज्यापरस्मिन् द्वारपक्षं न्युज्जति’ (कौ० सू० ४ । १२) इति । इदं च स्वापनमुन्मादन वा परदारसक्तं स्वैवोपयुज्यते—इति नैतद्विशिष्य प्रतिपादनार्हम् । न हि परदाराभिगमनं धर्मं, अथापि तदासक्तस्य तदमुपायो विधीयत एव ।

उद्भिदन्ती सजयन्तीमध्वरा साधु देविनीम् ।

गृहे कृतानि कृण्वानामध्वरा तामिह ह्वे ॥

(अथ० ४ । ३८ । ३८ । १)

सा न कृतानि सीपती प्रहामाप्नोतु मायया ।

सा न पयस्वयेतु मा नो जैश्वरिदं धनम् ॥

(पूर्वोक्ते सूक्ते ३)

अत्र द्योते विजयप्राप्त्यर्थमध्वरसामाह्वानं मन्त्रार्थं प्रतीयते । कृत्यसूत्रकारश्च मगवान् कौशिकस्तत्रैवास्य सूक्तस्य विनियोगमाचष्टे । ‘पूर्वोस्वापादासु गर्तं खनति’ इति प्रकम्य ‘उद्भिदन्ती सजयन्ती, यथा वृक्षमश्वनि, इदमुपाय,— इति वासितानक्षान् निर्दिशति, (कौ० सू० ५ । ५) इत्यादिना ।

यो न शपादक्षपत क्षपते यत्र न शपात् ।

दुने पद्मिवाक्षाम तं प्रयस्यामि मृत्यवे ॥

(अथ० ६ । ४ । ३७ । ३)

केनचित्कृतस्य मारणाद्यभिचारस्य प्रत्यभिचारोऽयम् । “यो न शपात्—इत्यनया अभिचारकर्माणि विद्युदतवृज्जना एकादश समिध आदध्यात्” (कौ० सू० ६।२) इति तद्विनियोगमाह कल्पसूत्रम् । न हि मारण प्रतिमारण वा धर्मः, अद्यापि प्रतिषेधमतिक्रम्य तत्र प्रवृत्ताना तदभ्युपायो विधीयत एव ।

“कलीव कलीव त्वाकर ऋध्रे वग्न त्वाकरमरसारस त्वाकरम्”

(अथ० ६।१०।१६८।३)

ये ते नास्मौ देवकृते यथोस्तिष्ठति वृण्यम् ।

ते ते भिनन्ति शम्ययाऽमुष्या अधिमुष्क्यो ॥

(पूर्वोक्त सू० ४)

सूत्रकृताऽभिचार एव विनियुक्तयोरनयो परस्य क्लीवतासमादनमर्थं प्रतीयत एव । न हि चैवविधानि कार्याणि धर्माणीति शक्यत कनाप्यभ्युपगन्तुम् ।

तथा सत्यधर्मशब्दार्थस्यैव श्लोपापत्तेः । अस्मात् क्रोधलोमादिना य स्वयमेव कर्मस्व-विधेयु प्रवर्तते न शक्यते प्रतिषेधशास्त्रेण निवारयितुम्, सप्रति तत्तदमीषितसिद्धयशयमात्र शास्त्रेण विधीयते, पातकन्तु तत्तदनुचितकार्यकरण प्रयुक्ते नियतमेव । तन्तत्कार्याणां शास्त्रेणाविधानात् । उपायमात्रस्य विधानात् । यदि शास्त्रेण नापि कश्चित्पापो बोध्येत, अद्यापि स कथमपि दशमीषित साधयेदेव, तीव्रतरमाकिरशत् । शास्त्रनिधिर्वर्द्धितं सर्वपापमान मन्यमानस्तु स विराय पतेदेव, स्वमनीषामात्रेणोपायान्तराश्वारचयैश्चानर्थान्तराप्यप्युद्गापयेत् । शास्त्री येरेवोपायैर्व्यवहरेत् क्रमेण शास्त्रेणुचीयमानविधासो विधिप्रतिषेधशास्त्राणि सर्वो यन्पि विश्वस्य प्रायश्चित्तादिना वीतकल्मस सदाचारोऽपि स्यादित्येवामिसन्धि काशगिरस्य शास्त्रस्यत्यल प्रसक्तानुप्रसक्तता ।

तथा च वशीकरणदेवनाद्युपायवत् पुनर्वास्तव्यतेश्चाविशोगसाधन कर्ममात्रमत्र विहित प्रतिपत्तव्यम्, न तु पुनर्निवाहस्य धर्मस्व दोषासस्पृष्ट- वाऽत्र सिद्धयति तस्य शास्त्रेणानिहितत्वादिति चिरमिदं दूरमुकुलितनम्रमनुसन्धेयम् । यदि तु धर्मस्व तनाप्रहेणाभ्युपगम्येन, तत्तर्हि पूर्वोक्तदक्षित वशीकरण देवन मारणकलीवकरणादिष्वपि धर्मस्व दुर्निवारमेव प्रसज्येतेति ।

केचित्तु कस्मैचिद् वाचा दत्तायास्तस्य वरस्य कस्याचिद् विपत्तौ पुन पुरुषान्तरं धर्ममनुसृत्य विवादितया एवाय पञ्चीदनविधिः । पति विद्वत् एवमा, पुन अपर पति विन्दते इति पूर्वपतिलभमात्रानुकीर्तनात् । लाभश्च वाचा दत्ताया वाप्यभिमानमात्रेणोपपन्न एव । अस्तु वा ‘भिचारणार्थकस्य विदेरिद रूपम् । तथा च पूर्व पतिस्त्वेन निचार्योन्तर पर विन्दते एवमेति वागदत्तादियतैव सुखमुपपद्यते । व्यापपातव्या च शास्त्रीय नियममनुसृत्य पुनर्भू स्मात् प्रकरणे ।

तद्विषयतयैव मन्त्रद्वयमिदमुपशदनीयम् । यस्य नस्यापि बिध्यधिकारितात्तामे सर्वथ
तत्पक्षरूपनस्यानायव्यक्तत्वात् । ततश्च सामञ्जस्येनैव मन्त्रद्वयमिदं धृतिरमृत्विरोधेन
न्यवस्थापयन्तीति, अथार्थान्तरं वा व्याख्यास्याम । या पूर्वं पूर्वकाले, अपूर्वमिति
नित्यत्वा मिलक्षणं स्वाभिमतमिति पतिविशेषणं वा, पतिं नित्यं लब्ध्वा अथ पति
वेदनानन्तरम्, अन्य तदतिरिक्तं पुरुष, परं विन्दते पश्येन लभते परमेव
आनातीत्यर्थः । अस्तु वा 'विचारणार्थकस्य विदेर्विकरणस्यस्येन च्छान्दसेन
विदन् इति रूपम् । तेनान्य परमेव विचारयति हनपापेन सध्यगनुरक्ता मन्त्रेण
येन पतिवैतैव पूर्वोद्धेन स्यात् । तथा च परपुर्वियोगमवहिष्णुतामुद्दिश्य 'पञ्चोद्भन
च तावन्नम्' इति पञ्चोद्भनविधानम्, अवियोगस्य च सत्त्वत्वेनानुवर्णनं समचसमे-
वोपपन्नम् । द्वितीयेऽपि मन्त्रे 'पुनश्चुवा पुनर्भवति जायत इति तथाभूतया द्वितीय
पत्न्या इति यावत्, पर उत्पद्य धर्मशील, पति, समानलोको भवति, न कदापि
वियुज्यते' इत्येवमर्थके पुरुषस्यैव द्वितीयो विनाह कथमपि सिद्धयति न तु क्षिया ।
न चैन पुनर्मूलाब्दस्य रुटिर्विरुद्धेत, भूतो तस्य रुदरावे प्रमाणाभावात् ।

सनादिव परिभूमा विरूपे पुनर्मूना युवती स्वमिरेवै । (ऋ१।१२।८)
इत्यादौ हि सर्वत्रैव पुन पुनर्जायमाने भुवती रात्र्युपवसी इति पुनर्मूलाब्दायो यौगिक
एवाख्यायते । तथेवात्रापि, नन्वस्तु यौगिक एव द्वितीया स्त्रीति पुनर्मूलाब्दार्थः ।
तेन क्षिया पुनर्विवाह सर्वत्रैव न विवशीकरोति मन्त्रद्वयमिदमिति । अन्येऽपि स्वयं
मूलाः सुधीभिरर्थभेदा, युक्तायुक्तता च तयोर्विवेच्येति तृतीयमपि सम्मकं परोक्षित
प्रमाणम् ।

तद्विधमापातत कथचिद्विधवोद्वाहपरत्वेन समाप्यमानेषु मन्त्रेषु विस्तरेण श्रुतं
वास्तविकार्थबोधनेन तद्विधायकतया व्याख्यातेषु या काश्चन भूतय केवञ्च मन्द
मतीन् प्रतारयितुमुप-यस्यन्त तत्पक्षपातिभिस्ता अपि सत्त्वपतो याथाथ्ये व्यवस्था
प्यन्ते । तत्रैव विवाहकालिकी वरकर्तृवन्द्यप्रार्थना—

इमा त्वमिन्द्र मीढ्व सुपुत्रा सुभगा कृणु
दद्यास्या पुत्रानाघेहि पतिमेकादशं वृधि ।

(ऋ १०, ८५, ४५)

अस्यार्थः—मीढ्व—सेचनकर्तृ । इन्द्रा त्वमिमा स्त्रिय सुपुत्रा सुभगा च कृणु
कुरु । अस्या दश पुत्रानाघेहि—उत्पादय, एकादश च पतिं वृधि कुरु, रक्षेति याव
त् । देवा एव मनुष्याणां रक्षितास्तत्तच्छक्तिप्रदातारश्चेति वैदिक दर्शनम् । 'देवा
नामिदवो महत् तदावृणीमहे वधम्' (ऋ ८ । ८४ । १) 'देवानां सख्यमुपसे-
दिमा न्य देवान आमु प्रातरन्मुखीवसे' (ऋ १ । ८९ । २) इत्यादिभिर्भूयोभि
र्मन्त्रैर्वहुशो देवकर्तृकस्य रक्षणस्य प्रार्थ्यमानत्वात् । देवनामेव चाध्यात्ममपि तत्त

चतुर्धप्रयोजनानात् । तथैव चापि विष्णुदधीश्वरादिन्द्रात्तत्त्वो दद्यापुत्रोत्पादन
योग्या प्रवचनशक्तिः, क्रिया गर्भधारणशक्तिः पत्युश्चिरजीविता च समाध्यात इति
नात्र विमप्यधिकं वक्तव्यं पश्याम । न ह्यस्मिन् मन्त्रे पुनर्विवाहस्य नियोगस्य वा
गन्धमाश्रमस्य प्रतीयते-इति स्फुटमङ्गरमुल्लानामपि । यत्तु पत्यौ श्रूयमाणेयमेकाद
शतवरा सञ्जातीयैः परिभिरैव पूरणीया, न तु विजातीयैः पुत्रैरिति पत्युरेकादशाव
सिद्धये पुनरुद्वाहो नियोगो वावश्यमुरीकार्य इति, तदेतदस्वन्तमुपहासाय प्रेम्भाव
ताम् । 'प्रयो वयं गृहे निवन्ताम', एकोऽहम् द्वितीया माता, तृतीयश्च पितृत्याद्या
पामर प्रसिद्ध व्यवहारे रिटस्तुतयस्त्वोक्त्या ॥ हि कश्चिदपि नीन् । पतन् प्रतिपद्यते ।
न वा 'एमे मे द्वे महिष्यौ, तृतीया च गौ' इत्युक्ते तिस्रो गाव एव लोकेऽनुपप्यन्ते
केनचिदपि । शास्त्रेऽपि 'श्रुत्वेद मगवोऽध्वेमीत्याद्युपक्रम्य 'इतिहासपुराण पञ्चम
वेदाना वेदम् (छन्दोग्योपनिषत् ७ प्रश्न १ ख) 'वेदानध्यापयामास महामारत
पञ्चनान्' इत्यादौ विजातीयैरेव सख्या पूयते, अवबुध्यते च सम्यक् तथैव सर्वैरिति ।
ततश्च सञ्जातीयैरेव सत्त्वापूरणमिति कुतस्तस्योय नियम । तस्माद् 'दद्यास्या
पुत्रानाधेहि' इत्युपस्थिता पुत्रसख्या पतिस्त्यग्राभ्यमागानामनुपस्थिताना दद्याना
पत्नीनां प्रकृत्यन सर्वधैवाप्रामाणिकम् । न चात्रैकादशपतय श्रूयन्ते, किन्त्वका
दश पति । पूरणप्रत्ययान्तशब्दोपादानात् । ततश्चैकादशस्य पत्युरेव कल्प
मनेन विधानेन द्वितीयादीनां दद्यामान्ताना पत्नीनां किं विधायकमस्तु । कश्चेद
विवाहे प्रार्थयते वा आचार्यो, ब्रह्मा, ऋषीः, अन्यो वा तत्तत्स्थन्वी । न ताद्
ऋषीः, तस्या 'अस्या पुत्रानाधेहि' इति प्रथमपुरुषत्वेन श्रूयमाणत्वात् ।
नानि वरस्य युज्यत इय वक्ता एकादशपतिप्रातिप्रार्थनामुखेन स्वस्याविष्मिन्न
यमसदनमनप्रायना । आचार्यब्रह्मादयोऽन्ये वा वरवक्त्रिण कथमेतत्
प्रार्थयन्ताम् । भूयो भूयो विवाहे दक्षिणाधिक्यदोषेन प्रार्थयन्ते चेद् ब्रह्मादयः क
एषा इताश्चानमन्विषा प्रार्थनामनुमन्येत । अहो ! यत्र विवाहे आयुष्मानस्तु
मे परिषन्ता ज्ञातयो मनः 'मया पत्या वरदश्रियेषा स पुत्रान् विदावहे
ऋषीः । अनेन मृत्युरमृत ॥ आगान्' 'मया पत्या प्रजावति त्वं जीव शरद
ज्ञातम्' 'बोवेम शरद ज्ञानम्' 'अयोश्चक्षुरसतिघ्नेधे' 'बोवपत्नी पतिलोक
शिरा' इत्यादिभिः, प्रतिपदननुप्राप्यनं मङ्गल वरवक्त्रोश्चिरजीविता च 'अस्मेव
त्वं स्थिरा भव' 'एता पत्या तन्त्रे वसुधैव' 'प्रुवाली पं कुल इयम्' सा
नामनुमता नः' 'यदिह हृदय त्वं' इत्यादिभिश्च शतशोऽप्यागमिता प्रार्थ्यते
ऋषीः, तत्रैवनामेकादशपति-प्रार्थनादुपन्यस्यता सम्यगुरदक्षित बुद्धवैभवं,
परा तु शास्त्राधरोत्पन्नविधिमुष्टेन ।

यत्तु व्यावृत्ते ईश्वर आशापद्यति । हे इन्द्र विवाहितपते । मीट्व-
हे वीर्यदानकर्त । स्वमिमा विवाहितस्त्विदं (वीर्यतकेन) गन्धुकां बुरु । तां)

सुपुत्रा श्रेष्ठपुत्रवर्ती सुमर्गा अनुत्तमसुखयुक्तां वृणु कुरु । अस्यां विवाहितस्त्रिया दश पुत्रानाधेहि उत्पादय । (नातोऽधिकमिति । ईश्वरेण दशसन्तानोत्पादन स्यैवाज्ञा पुरुषाय दत्तेति विशेषम् । तथा) पतिमेकादश कृधि (हे स्त्रि त्वं विवाहितपति एहीत्वैकादशपतिपर्यन्त नियोग) कुरु । (अर्थात् कस्या विदा पत्न्या दशपत्यां प्राप्तायामेकैकस्या अभावे सन्तानोत्पत्त्यर्थे दशमपुरुषपर्यन्त नियोग कुर्यात् । तथा पुरुषोऽपि विवाहितस्त्रिया मृताया सत्यां सन्तानाभावे एकैकस्या अभावे दशम्या विधवया सह नियोग करोति । इच्छा नास्ति चे मा कुरुताम्)” इति । सेष व्याख्या मन्त्रानुक्तस्वकपोलकल्पितार्थसद्व्या मुलमस्तीति वक्तव्यम् । इति न्यायमालम्ब्य प्रवृत्ता कुमारार्णामपि यद्यप्युपहासायैव तथापि कौतुकायैव मनाक् परीषते कचिद्विशेषमर्थमभिधातुम् ।

(वेदमन्त्रार्थशैली)

भवति तज्जु वेद ईश्वरेणैव सर्वशक्ति सर्वशरवादि वैशिष्ट्येनोपदिष्ट इत्यस्ति कानो दृढतमो विद्वांसस्तथापि तत्परयता तत्तेषामृषीणा बुद्धितेनैवमविर्भूतस्तन्मुखादि-नि सूनश्चेति तत्तन्मन्त्रार्थानुसन्धानकाले स ऋषिरेव यच्छ्रुत्वेनानुसन्धेयो भवति । अत एव मन्त्राणां रक्षाध्याये कर्मणि वा विनियोगे तत्तद्विद्वत्तत्तस्मिन्मन्त्रगमाभ्य पनामनति “यो ह वा अविदिन पश्यन्द्दोदेत्तब्राह्मणेन मन्त्रेण याजयति वाध्यादयति वा, स्यान् व-र्छात गते वा पात्यते, प्रमोयते वा पापीयान् भवति, तस्मादेतानि मन्त्रे मन्त्रे विनाद्” इत्यादिभूतिषु ।

अविदिष्व ऋषि ऋन्दो देवत शीगमेव च ।

योऽन्धः पापयेज्जपेद्वापि पापीयान् जायते ॥ ४ ॥

इत्यादिस्मृतिषु, ‘एतान्यविदिष्व योऽधीतेऽनुवृत्ते, जयति, जुहोति यजते याजयते तस्य ब्रह्म निर्वायं यातयाम भवतीत्यादि शुक्ल्यजुर्वेदीयानुक्रमणिकादिषु च । तत्र ऋषयो मन्त्रद्रष्टार, येषां मनसीश्वर्येणया मन्त्रार्थं मन्त्रा वा आविर्भूता । तदाह ब्राह्मणप्रभाषेन निरुक्तवृद् भगवान् यास्क ‘ऋषेर्वेदशेनात्, स्तोमान् ददशैत्यौपमन्यव । तद्यनेनास्तपस्यमानान् ब्रह्म स्वयम्भुव्यानर्षत् ऋषयोऽमवरस्तदधीणामृषित्वमिति दिशायते (ब्राह्मणम्) (निरु अ २ ख. १२) अन्यत्रापि च ।

यत्तेन वाच पदवीयमाथस्तामन्वन्दिन्दृष्टिषु प्रविष्टाम् इति ।

(ऋ. १०।७।१३)

‘मन्त्रेषु कर्माणि कव्यो यान्यपश्यन्तानि श्रेताया बहुधा सन्ततानि’ इति च । (मुण्डकोपनिषत्) ।

“तद्वा श्रूयः प्रतिबुद्धिरे, य उ तर्हि श्रूय आसु” (शतस्ये २।२।१।१४)
 ‘साक्षात्तधर्मां श्रूयसो बभूवुः’ (निरुक्त १ अ.) इत्यादिषु च तत्तदर्थोरोक्ष-
 द्रष्टृत्वमुक्तमृषीणाम् । ॥ एते मन्त्रादिद्रष्टारोऽनुक्रमणिकादिभूपनिबद्धाः ।

देवता च मन्त्रप्रतिपाद्योऽर्थः । तदुक्तं निरुक्ते ‘यत्कामं श्रुयिष्ये देवताया-
 मार्यपत्यमिच्छन् स्तुतिं प्रयुक्छक्ते तद्देवता’ ॥ मन्त्रो भवति’ इति (निरु.अ.७.७.१)
 आर्यपत्यं स्वप्रयोजनामिसम्बन्धमित्यर्थः । ततश्च यथा लौकिकेषु वाक्येषु सम्मगर्थ-
 विज्ञानाय वक्तुर्वचस्पत्यं च ज्ञानमावश्यकं भवति तथैव मन्त्रेष्वपि सम्मगर्थविज्ञानाय
 वक्तुश्चैवं वचस्पत्यं दैवतस्य च विज्ञानमावश्यकमित्येव मन्त्रार्थनिर्वाचकानां दृष्टिः ।
 तथा च तत्तन्मन्त्रदर्शकस्य श्रुतेरेव वक्तृत्वमभिसम्बन्धाय मन्त्रार्थं प्रवर्तितव्यमिति
 सुस्फुट एवावयवमर्थः । कर्मसु विनियुज्यमानानां तु मन्त्राणां प्रयोजनं स्वल्पैव तद्व-
 च्छृणुमनुसन्धात्तस्य स्यात्, तत एव तत्तत्कर्मफलानां स्वस्मिन्ननुसन्धानमुपपद्येत ।
 मन्त्रदर्शकेन तेन तेन श्रुतिगात्रनुष्ठितान्येव तानि कर्माणि, स खलु येन येन
 विधानेन यथा यथानुसन्धानेन यथा वा स्तुत्या स्वस्य कर्मणः फलेनामिसंबन्धस्तथैव
 सर्वमप्यस्मदादिभ्योऽप्युपदिदेशेति तन्निष्कष्यास्मदादिभिरपि स्वस्य वक्तृत्वमभि-
 मन्वमानैस्तथैव स्तोतव्यम्, तथैव भावयितव्यम्, तथैव चानुसन्धातव्यम्, येन
 फलेनामिसंबन्धीयाम् । ईश्वरोक्तवानुसन्धाने नु नेश्वरस्य फललिप्सा, न वा तेन
 तानि कर्माण्यनुष्ठितानि इति तत्तन्मन्त्रार्थवैपाकुल्यं प्रसज्येत । वेदार्थनिर्वचनमेव
 हि लक्ष्योद्देश्यं प्रवृत्तेन भगवता यास्केनापि वेदप्रतिपाद्यान् विषयान् सक्षेपतः
 समुदघातयता ‘अथापि स्तुतिरेव भवति नाशीर्वादः’ ‘अयाप्याद्योरेन न स्तुतिः’
 ‘अथापि शपथमिच्छाथौ’ ‘अथानि निन्दाप्रदाते’ इत्याद्यभिधायान्ते ‘एवमुच्चावचैर-
 भिप्रायेष्टुर्षीणां मन्त्रदृष्टयो भवन्ति’ हरपुसंहृतम् (निरु. दैव. का. १ अ.-
 ३ ख.) । तेन मन्त्रदर्शकानामृषीणामभिप्राया एव वेदार्थनिर्वचने सहकारिणः,
 तन्मुखादेव मन्त्राणां विनि सुतरादिति स्फुट एव तस्य सिद्धान्तः ।

ब्राह्मणेष्वपि चैतरेयादिषु मन्त्रार्थमवतारयितुं ‘तद्देवदृष्टिः पश्यन्नप्यनूवाच’
 इत्यसङ्गदभिहितम् । तेन मन्त्रार्थनिर्वचनकाले श्रुषीणामेव वक्तृत्वमनुसन्धातव्यमिति
 ननु स्थापितमेव । युक्ततरं चेन्तु । घन-पुन-शत्रुनाद्यादियाचनापरागा, पूर्वा-
 परकालसम्बन्धबोधकानां, वक्तृषु क्रोध द्वेषादिविधारबोधकानां, वक्तृषु दुरितादि-
 सम्बन्धं विदुषुवादिष्वम्बन्धं च स्थापयतां, स्वस्मिन्नज्ञानादिसम्बन्धं विविधधर्मसम्बन्धं
 च प्रकाशयतां, नामग्राहं प्रश्नस्तुतियाचनावभिदधता, पास्तारिकं संवादमाचक्षतां,
 शनथाद्यर्थकानां च मन्त्राणां नदीश्वरस्य वक्तृत्वमभिसम्बन्धाय सामंजस्येनार्यं उपपद्येत ।
 एवमर्थका एव प्रादेण वेदचतुष्टया मन्त्राः, दिङ्मानं तूदाहरिष्यामः ।

‘मुच्यता महमासीम्वा मुनर्चा मुत्तेन मुध्रु कर्माभ्यां भूयासम्’ (निरुक्तो-
 द्दृष्टो मन्त्रभागः)

ता व शर्मं दशमरात्रय सन्नि, विधातुं दाशुषे यच्छाधि ।

अस्मभ्य तानि मस्तो नियत रवि नो धत्त वृषण सुवीरम् ॥

(ऋ० मं० १ सू० ८५ मन्त्र १२)

मा नो वधीरिन्द्र मा परादा मान प्रिया भाजयानि प्रमोदी ।

आवहा मा नो भगवच्छक निर्भेन्मा न पात्रा भेत्सह स्वानुपाणि ॥

(ऋ० स० १। १०४। ८)

इत्याद्या प्रार्थना । यदुक्तं जैतारण्य तत्र, क एतत्सर्वं प्रार्थयते इंधर
श्रुति, इदानीन्ता (कर्मसु) मन्त्रोच्चारयता वा । तान् श्रुतिरिदानीन्तनो
मन्त्रोच्चारयिता येत्येव युक्तमिति सुगमं पथा । प्रार्थयितुरेव चारमच्छ्रद्धा
व्या, तत्रैव च वक्तव्यानुसन्धानेन सामञ्जस्यमर्थस्य ।

अभिमन्त्रि पुरोहित यदस्य देवमृषिभ्यम् होतार रत्नधातमम् ।

(ऋ० १। १। १)

इत्याद्या रजुतय, सव एव मन्त्रा मायेन स्तुतिपठिता । स्तोत्ररेवात्रा-
प्यरमच्छ्रद्धाव्या वक्तव्यानुसन्धानं च युक्तिम् ।

अभि पूरैमिन्द्र विमिरीह्यो मृतनैव । (ऋ० १। १। २)

अनु मस्तस्यौक्यो हुवे तुविप्रति नरम् । ये ते पूर्व पिता हुवे ।

(ऋ० १। १०। ९)

आभोग्य ॥ यद्विन्दन्त ऐतनापाका प्राशो मम केचिदाप्य ।

धीधन्वनासभरितस्य भूमतागच्छत सविदुर्दाशुषो एहम् ॥

(ऋ० १। ११। १)

किवात्या यत्तमवा भवति वा भ्युधुर्वाध नृन् शुञ्छान् ।

(ऋ० १। १२। १०)

निष्ठीमथ पारयथ सन्नुद्राणुनधमशनं चक्रपुङ्गवा ।

(ऋ० १। १२। ८)

इत्यादिषु वरप्रदेशया पूर्वकालोऽप्ययं एकमवभासते । स च द्रष्टव्यामृषीणा
मदेशयैव पूर्वं यमवेकसु कर्तुं जगदीधरस्यादेशया ।

ये मां क्रोधयन्ति स्पृता इस्मिन् मशका इव ।

तावह मये दुर्हिताः जने अल्पशाम्निव ॥

(अथ ४। ३६। ७)

योऽरमार् द्वेष्टि यं क्वं द्विष्मस्तस्य एवं प्रायेणाप्यायस्य ।

का वयं व्याशिषीमहि गोभिरथै प्रजया पशुभिर्पैर्हर्षनेन ॥

(अथ ७ का ८१। ५)

न विद्वन् निनीमन्ति न विद्या योग्यमन्ते ।

न वक्तुं चरन्ति (श्रु० १० । १३४ । ७)

एतन्निष्ठं बहुत्र हस्त्यङ्गनमभिमन्त्रं ननु त्वं कर्मकरीषं च प्रकथयते ।
नैतद्विद्वन्निनीमन्ति न विद्या योग्यमन्ते ।

अथ ह ततो निवृत्तमन्त्रेण नना ।

नानाधिपते वस्तुवैयर्थ्यं ना इव वस्तुनम् ।

इन्द्रजिह्वो पक्षिणः । श्रु० ७११३ । १

इत्यर्थो इत्यत्र स्वतन्त्रं दुर्निष्ठं निर्विकल्पकं चार्थित्वं प्रकथयन्ते, 'इदं त्वं
पृथग्वन्निनीमन्ति न विद्या योग्यमन्ते' इति पुनश्च योष्यं च निरात्म्यं पूर्वज्ञानं निवृत्तं
ता नो विद्वन्निनीमन्ति न विद्या योग्यमन्ते ।

(अथ० भा० ११७)

य एवा देवलो मनत्रे बहुवेदं यन्ति ह्यववाहन ।

य एवा नेषातिषिष्यन्त्युत्र य वृषा यदुनस्तु ॥

(श्रु० ११६११)

कदाचो वा ब्रह्म कृष्णनन्दारे तेषां कुप्युते हवन् ।

(श्रु० ११७१२)

यन्ति कर्मनिर्दिष्टे मावत पुनश्चिना ।

(श्रु० ११७१३)

अथैतत्तु इन्द्र गोमन्त्रिज्ञानमोक्षा नमता हरिभ्यान् ।

कुप्युते वचनामता न प्रामाण्यं विना वस्तुवैयर्थ्यम् ।

(श्रु० ११६१५)

इत्यदिषु वाच्ये मन्त्रेषु श्रुतेषां नानाप्रमाण्यं च धृति-मार्थना-प्रवृत्ति-
विकल्पकमन्ते । कथं चतुर्दशस्कन्धवर्णनाम्ने समवेत् ।

एवम आनिर्विद्वन् कथिता स्तोत्रो तु न । (श्रु० ११२१८)

आ त्वेता निषादतेग्रन्थे प्रकथित ।

तत्राद्य स्तोत्रमहत् । (श्रु० ११४११)

परेह विप्रमस्तुतमेन्द्र पृच्छा निश्चितम् ।

यस्ते कथिष्य आ जम् (श्रु० ११४१४)

इत्यदिषु प्रकथ्य एव उवाच प्रत्यभिष्टावते ।

(यजुर्वेदं प्रति श्रुतिः)

अथा मुरीय यदि यातुधानो अस्मि यदि वायुस्ततपपूरुषस्य अथा स वारैर्द
शभिर्विद्युया यो मामोद्य यातुधानेत्याह ।

(ऋ० ७।१०४।१५)

इत्यादौ च शपथ उल्लिख्यते । कुत अतिसमुद्रावगाहनेऽस्मादद्या शक्ति ,
स्वयमालाभ्यतामधिक जिज्ञासुमि । सर्वमप्येत मन्त्रद्रष्टृणामृषीणा कर्मसु दीक्षिताना
वा वक्तृत्वमनुसन्धाय मन्त्रार्थकरण समुपपद्येत, न तु जगदीश्वरस्य वक्तृत्वमनुसन्धाय
कोऽप्येवामर्थं स्यात् । ननु जगदीश्वर एवास्मदादीनेव स्तोमेव प्रार्थयितुमेवमूलं
लितु च शिष्ययतीति न तस्य वक्तृत्व हीयत इति चेन्ननु को द्रुते नेश्वर
शिष्ययतीति । सर्वथैवाद्यक्तोऽल्पशब्दाय जीव ईश्वरपरतन्त्रो न ह्यन्दिदुमप्यल
तदनुग्रहमन्तरा किं पुनर्विज्ञाननिधिमेवविध वेद द्रष्टु कर्तुं वा । ततश्चेश्वरप्रेरण
यैवाधिगतो वेदो महर्षिभिरिति निरस्तसदेहमजुष्य इदम विधसिम । देवान्
मुखादीश्वरेण प्रकृतिता मन्त्रास्त एव तद्वक्तार श्रूयय, तेषामेव चाकिरियमित्य
नुसन्धाय तत्तन्मन्त्रार्थ उपपद्यत इत्येव केवल प्रतिपादयाम । अस्मच्छब्दा
दिना च तत्तन्मन्त्रसम्बन्धेनानुक्रमणिकादिपूकाना तेषामृषीणामेव ग्रहणम्,
कर्मणि मन्त्रप्रयोक्तृणां प्रार्थनादिषु वक्तृत्वमनुसन्धीयत, स्वसम्बन्धेनैव तत्त
इत्यनु प्रार्थ्यमानत्वात् । ततश्च य इदानीन्तना 'ईश्वर आज्ञापयती' त्याद्य
वतार्य मन्त्रार्थे प्रवर्तन्ते ते नितान्त भ्रान्ता । लौकिकेभ्योप वाक्येषु वाक्य
प्रयोक्तृस्तदभिप्रेतस्य (कविनिषद्वक्तु) वा कस्यचिद्वक्तृत्वानुसन्धानमर्थबोध
काले दृश्यते, न तु प्रेरयितु कस्यचित्सत्त्वेऽपि तदुक्तिरव केनाप्यवधार्यते । अस्मच्छ
ब्दादिना च तयोरेवोभयोरन्यतरस्य ग्रहणं भवति, 'मदीय पुत्र आगत' तेनो
क्तम्—'मम शिरसि पीड' त्यादौ । यस्माज्जगज्जियन्तु प्रेरकत्वेऽपि न तस्य वक्तृत्व
मन्त्रार्थेऽनसन्धेयम्—अपि तु श्रुत्यादीनामेव । सर्वेषा मन्त्राणामेकया शैल्यार्थ
निर्वचनसम्भवे कञ्चिद्वोक्ति कचिदीश्वरोक्ति कचिदन्यस्य कस्यचिदुक्तिरिति
निष्प्रमाणस्य वैयर्थ्यस्य नितरा कल्पयितुमशुक्तत्वात् । न ह्यपदर्शितमन्त्राणामी
श्वरोक्तिरत्वेऽनुपगते सम्भवति क्यमप्यर्थं शङ्क प्रत्यपादयाम । अत एवेश्वरोक्ति
स्वमभिसन्धायाथे प्रयतमानाना कचिदीश्वर आज्ञापयति, कचिच्चेश्वरप्रेरिता वय
न्म—इति स्वेच्छापरिकल्पित प्रमाणरहितमर्द्धजरतीय पदे पदे शिरसि पतितम् ।
किमप्यत् एकरिन्नेव सूक्ते कचित्कस्यचिद्वक्तृत्वमाभितम्, कचिच्च कस्यचिदिति
तद्भाष्य पर्यालोच्यतामपरोक्षमिद विलक्षण चरितम् । अस्माक तु ईश्वरस्य
प्रेरकत्वम्, वक्तृत्वम् । श्रुषीणामवेत्यभिसन्धाय प्रवर्तमानाना न कचिदपि शैली
भङ्ग । देऽपि ह्यु 'सगच्छन् सवदच्च' समानी व आ कूनि समाना हृदयानि
व' इत्यादय उपदेशा ईश्वरप्रदक्तृत्वत्वेन परैरभिसंहितास्तेऽपि श्रुषीणामीश्वरप्रे
रगोपदेशकत्वमाश्रित्य सःऽपि सम्यगुपपद्यते । आत्ताश्च तत्रभवतो माधव

महीधरप्रभृतयो वेदभाष्यकृतः सर्वत्रैव श्रुत्यादीनां वक्तृत्वमनुसन्धाय मन्त्रार्थे प्रवृत्ता इत्यन्मनया प्रसङ्गपतितया बहुतरं नितन्यमानया कथया ।

ततश्च प्रवृत्तेऽपि (इमा त्वमिन्द्रमीदृक्) इति मन्त्रे ईश्वर एतदनुशास्तीत्याद्युपक्रम्योपन्यस्तं व्याख्यानं सर्वत्र न भेदेयमेव प्रेषावताम् । अरि तु कर्मण्यस्य विनियुक्तत्वान्मन्त्रस्यास्य प्रयोक्ता विवाहकर्ता वर एव श्रुतिणा वक्तृत्वानभिमतोऽत्र प्रार्थकत्वेनानुसन्धेयः । न च स स्वातिरिक्तमेकादश पतिं स्त्रियाः प्रार्थयेतेति पूर्वमुपपादितमेव विस्तरेण । एवम् 'इन्द्र' 'मीदृक्' इति पदभ्यां विवाहितपते संशोधनमपि निरर्थकं प्रश्रितमभेदेयं प्रेषावताम् । इन्द्रवशनाभ्यादीनां विश्वश्रगानामेव देशानां मन्त्रेषु स्तुतिर्न मनुष्याणामेव तत्तन्नामभाक्तमित्यस्य सर्वसमत्वात् । स छलिन्द्र इव दुष्पूषितो यो 'इन्द्रस्य तु वीर्याणि प्रबोचम्' (श्रु० १।३।२।१)

इत्युपक्रम्य भ्रातृवैव भगवतां वृत्तवृत्त-स्थावरजङ्गमाधिपतित्वादिना संकीर्तित । यश्च 'तेन्द्राहते पक्ते घाम किंचन' इति सर्वत्र व्यापक्येन मन्त्रे स्तुतः 'स जना स इन्द्रः' (श्रु० २।१२ सू०) इति च बहुभिन्नलक्षणैरुपपादितः । 'वायुर्वेन्द्रो वान्तरिक्षस्थान' (नि० ६० अ० ७) इति भगवता यास्केन वान्तरिक्षस्थो य व्याख्यातः ।

सप्तस्य श्रुद्विरस्यगन्मभ्योतिश्मृता अमूम ।

दिवं पृथिव्या अध्याह्नमविदाम देवान् स्वर्गोति ।

'चित्र देवानामुदगादनीकम्'

इत्यादिषु बहुषु मन्त्रेषु एकुट देवानामिन्द्रादीनां दिवि वान्तरिक्षे वा स्थिति-राख्यातेति मनुष्याणामेव देवत्वकल्पनं किमन्यत् स्यात्प्रमादात् । वेदस्यानादि-तामङ्गभयादितिहासम् वेदेषु नाम्युपगच्छति, विवाहकर्तृमनुष्यादीनां संशोधनं स्वयमुपगच्छति मन्त्र इत्यहो ते बुद्धिकौशलम् । मनुष्याः किमु भूतेः पूर्वमेव ज्ञाताः ? विवाहाश्च किं पूर्वमेव प्रवृत्ताः ? अथ मन्त्रिभ्यन्तोऽपि भ्रात्या लक्ष्मी-कृतास्तर्हि कुतो न मनुष्यविशेषाणामितिहासा अपि लक्ष्मीकृताः ? अल्पज्ञा किमु भूतिर्न तान् विजानातीत्यहो भूतौ भक्तिः । अथ 'इमा त्वमिन्द्र मीदृक्' सुपुत्रा मुमगा वृषा । दद्यास्या पुत्रानावेदि' इति पादत्रयमीश्वरेण पुरुषं प्रत्याहृतम्, 'पतिमेकादश वृषि' इति चतुर्थस्तु पादः स्त्रियं प्रत्याहृत इति केन स्वप्ने सर्वशस्त्रं मवानुषदि ? यदि चेधरस्य सामान्येनेय-माशा, तर्हि कुतोऽस्यापद्धर्मत्वम् ? कुतो वा नैकादशभिः पतिभिर्व्यभिचरन्ती मुशीला वराक्री निम्रुलेयमीधराशया इति पतितेति न विगीयते ? आस्तामिदं तुपकुट्टनम् । नायमपि मन्त्रः कथमपि प्रमाणं विध्वोद्वाहे इति मयापितम् ।

अथ नद्या प्रवाहपतिता कुशकाशमन्त्रमध्य विजीविषव इव परे निधवोद्गाह समर्थयितुं कामा इह मन्त्रवृत्तमवलम्बन्ते ।

‘अन्यांगच्छस्व सुभगे पतिं मत्’ ।

व्याख्यादिना क्लीबत्वादिना वा अशक्ततामुपगत पति स्त्रिय रिरसमाना मिदमाह ‘सुभगे सौभाग्याभिगणिषि, मत् मत्त, अन्यमपर, पतिमिच्छस्व, अह रिन्दानीमशक्तस्तव मनोरथाना प्रपूरग’ इति तदीया व्याख्या । नैतत्कृतबुद्धि मिर्दष्टिपथमभ्युपनेतुमर्ह प्रमाणम् केवल पूर्णो मन्त्र प्रकरण चैवदीयमालोच्यम् ।

श्रुत संहिताया त्रिल दशमे मण्डने दशममिद सूक्तम् ‘ओचित्तल्लाय सखरा ववृष्या’ मित्यादि । यत्प्रकृत्याख्ययतेऽनुक्रमिकायाम् ‘ओचित् वदूना (विशति) (चतुर्दश मन्त्रा इह सूक्त इति भाव) वैवस्वतयोर्मयम्यो सवाद । षष्ठ्ययु ग्मि (षष्ठ्या श्रुत्वा, अयुग्मिश्च प्रयमारुतीयादश्रुग्मिरित्यर्थ) यमी मियु नार्थ यम प्रोवाच स ता नवमीयुग्मि (नवम्या युग्मिश्च) रनिञ्जन् प्रत्या चष्टे’ इति । तथा च भ्रातृभगिन्योर्मयम्योऽसक्तिरूपमिद सूक्तम् । पूर्वमेकयर्चा यमी बालिशतया भ्रातर यम स्वोरयमार्थं प्रार्थयने अथ परया अभिशो यमो भ्रातृभगिन्यो परस्पर विवाहे दोषमुपदर्यं तदुक्तिं निराकरोति । अयमेव तावदनु क्रमगिकायामुक्तोऽर्थो—

किं भ्राता सद्यदनाथ भवति किमु स्वया यन्निश्चुतिर्निगच्छात् ।

काममूला बह्वेतद्रपामि तन्वा मे तन्व ॥ विष्टुवि ॥ ११ ॥

(यस्मिन् भ्रातरि सति भगिन्यादिक्रमनाथ भवति, तेन किम्, यस्या च भगिन्या सया भ्रातर निश्चुतिर्दुःख निगच्छति तथा भगिन्यापि किम् । कामेन मूला मूर्च्छिताहमेतद्वहु रूपामि प्रलपामि, मे तन्वा तन्व स्वशरीर सविष्टुवि सयोजयेति यमी) ।

न वा उ ते तन्वा तन्व सरष्टव्या पापमाहुयं सत्तार निगच्छात् ।

अयेन मत् प्रमुद कल्पयस्व न ते भ्राता सुभगे वक्ष्येत् ॥ १२ ॥

(यम)

अलो वतासि यम नैव ते मनो हृदय चाविदाम ।

अन्या त्रिल स्वा कश्येव युक्त परिष्वजाते लिङ्गव वृक्षम् ॥ १३ ॥

(यमी)

अन्यमूषु १५ यम्यन्य उ स्वा परिष्वजात लिङ्गव वृक्षम् ।

तस्य वा त्व मन इच्छा स वा तवाधा कृणुष्व सविद सुमद्राम् ॥ १४ ॥

(यम)

इत्येवमादिभिरेतत्सूक्तप्रतितामिभृन्मिनरपि सुस्पष्टं प्रतीयते । आतृमगिन्योरेवेमे
उक्तिप्रत्युक्ती तत्र चानौचित्यादेव भ्रयारयान न स्वयच्छनयेति नैव दुरवबोधश्च
क्षुभ्रतामर्थ । निरुक्तकारोऽपि च भगवान् यास्क एतत्सूक्तसम्बन्धिनम्, अन्यमूत्र
इत्यादिमन्त्र व्याख्याण आह “यमो यम चक्रमे, तां प्रत्यानचक्षेथाख्यानम्”
इति । (निरु० दे० का० ५)

अथ काविमौ यमीयमाविति चेत्संवायिनौ सूर्यपुत्रौ क्षरीरिचिरो यौ चेतनौ
देवावियेतित्हासिका मृगु । अह्यंम, यत्रिर्यमी न तयो कदापि समागमो
भवतीत्यत्र सूक्ते स्मरारितमिति रुरकरसिका । सहजातौ आतृमगिन्यावेव ताभ्यां
शब्दाभ्यामुच्येते, न हि तयोर्विवाह शिष्टानुमोदित इत्येतल्लोकमात्रनिष्ठा ।
बृहदारण्यके हि प्राणविशेषाणामेव देवत्वमाख्यातमिति प्राणविशेषावेव यमीयमौ,
न च तयो कदापि एकत्रावस्थितिर्भवतीति सोऽयमेवार्थो रूपरविधया आतृमगिन्यो
रुद्राह प्रतिषेद्धमत्राख्यात् इति विज्ञानकुशला । अतिगभीर देवविज्ञानमिदं
नाम्ना-परे लघुनिबन्धे प्रपञ्चयितुमर्हम्, आतृमगिन्यो सवादरूपेणैवाप्रोक्तिप्रत्युक्ती
इति तु मन्त्रार्थव्यालोचकैर्नोपलभितुमर्हं कथमपि । तदित्थं सर्वथा आतृमगिन्यो
सवादरूपतया सिद्धेऽस्मिन् सूक्ते दशमीयमुक्—

आ धा ता गच्छानुत्तरा युगानि यत्र जामय कृणवन्नजामि ।

उपवेर्हहि वृषभाय बाहुमन्यमिच्छस्व सुमगे पतिं मय ॥

‘यत्र येषु कालेषु, जामयो मगिन्यो, अजाभ्यभ्रातर पतिं कृणवन् करिष्यन्ति,
तान्युत्तराणि युगानि कालविशेषा, आगच्छान् आगमिष्यन्ति (इतो भाविनि
समये स्त्रिय पतिवरण करिष्यन्तीति भाव) (देवसृष्टिकाले मैथुनसम्बन्धाया प्रजाया
अजावादिष्य भविष्यत्कालोक्ति समवेत) परमादेवं तस्माद्धे सुमगे त्वमिदानीं
मत्तोऽन्य मर्तारमिच्छस्व कामयस्व तदनन्तर वृषभाय तव योनौ रेत सेक्ये पुण्या
यास्मीय बाहुमुपवर्हहि शयनकाल उपवेर्हण कुरु’—इत्येतदीया भाष्यकृन्माधवोक्तं
समीचीना व्याख्या । निरुक्तकृतापि च व्याख्यात एष मन्त्र —‘आगमिष्यन्ति
तान्युत्तराणि युगानि यत्र जामय करिष्यन्त्यजामि कर्माणि । (जाम्यतिरेकनाम,
बालिशस्य वा, असमानजातीयस्य बोधजन) उपवेर्हि वृषभाय बाहुम्, अन्य
मिच्छस्व सुमगे पतिं मदिति व्याख्यातम् । (निरु० अ० ४)

जामिशब्दार्थं विनिश्चेतुं प्रवृत्त एष निरुक्तग्रन्थ । तथाभिमापितेषु त्रिविधेषु
असमानजातिसोषकोऽत्र जामिशब्द इति भविनीमाह, आतृरसमानजातीया स्त्री
त्वाद्भगिनी भवति इति व्याचष्टे माध्वकृद् दुर्गाचार्य । येषु जामय —भगिन्य,
आतृणाम् ‘अजामि’ योभ्यानि मैथुनसम्बन्धीनि ‘कर्माणि’ करिष्यन्ति । कल्पियुगान्ते
हि तादृश सङ्करो भवति, न चेद् कल्पियुगं वर्तत इत्यभिप्राय—इत्येतदीया

दुर्गाचार्यकृता व्याख्या । अस्त्युभयोर्व्याख्ययोरज्ञानिच्छद्वयै मतभेद , अथाप्युभे यथानि भ्रातृमन्योरेवाय सञ्वाद इति प्रकरणाधुनमभिज्ञानिच्छादिसिद्धोऽयमर्थो न शक्यते कथमप्यन्यथा कर्तुम् । आह हि निरुक्तकृत 'न पृथक्त्वेन मन्त्रा निर्वक्तव्या , प्रकराश्च एव तु निर्वक्तव्या' । इति ।

ततश्च यथा 'आग्नेन् पुरुषं पशुन्' (पुरुषसुक्ते) इति मन्त्रखण्डमात्रमु पादाय कश्चिदुपस्थाता पशुत्वेन बन्धन धर्ममाकर्ण्येत्—न तु पूर्वोत्तरप्रकरणार्थमनु सदध्यात्—तथैव नन्वयमज्ञमात्रमुपादय नियोगादिसाधनादभ्युदयान्मन्त्रात् । न तु कथमपि विधवाविवाहे न्ययोगे वा लोचतोऽपि मन्त्रसामञ्जस्यमिति कृतं कृतकद्वन्द्वेन ।

अथैतदपरमप्यप्रमाणैश्चिद्वलम्ब्यते—

उत यस्मत्तयो दद्या स्त्रिया पूर्वं अब्राह्मणा ।

ब्रह्मा चेदस्तमग्रहीत् स एव पतिरेकधा ॥

(अथर्व० ५।४।१७।८)

रक्षणार्थस्यास्य मन्त्रस्य न हि यद्यपि विधयोद्वाह साक्षात् प्रतिपाद्य , अथापि तु अनेकैः पतिभिर्विवाह इतः प्रसिद्धयतीत्येवमपि मनागालोच्यते ।

अथर्वसंहितायां खण्डे पञ्चमं काण्डे (चतुर्थेऽनुवाके) 'तेऽविदन् प्रथमे'त्या दिक्कमस्ति सप्तदश सूक्तम् । यद्गोहरणेऽभिचारकर्मणि विनियुक्तं भागवता श्रीशैकेन— 'तेऽवदन्निति नेतृणां (गवानहर्तृणां) पदं वृक्षति, अन्वाह' (कौ० औ० सू० ६।२) इत्यादिसूत्रेण । अस्मिन्नेव सूक्ते ब्रह्मजायाविषये बहुक्त्वा ब्राह्मणप्राश सत्यरूपेणोपक्रमान्तम्—

उत यस्मत्तयो दद्या स्त्रिया पूर्वं अब्राह्मणा ।

ब्रह्मा चेदस्तमग्रहीत् स एव पतिरेकधा ॥ ८ ॥

ब्राह्मण एव पतिर्न राज्ञ्यो न वैश्यः ।

तत् सूर्यं प्रब्रून्नेति पद्भ्यो मानवेभ्यः ॥ ९ ॥

पुनर्वै देवा अददुः पुनर्मनुष्या अददुः ।

राजानं सत्यं एहाना ब्रह्मजयां पुनर्ददुः ॥ १० ॥

इत्यादि । तदत्र विनियोगबोधकश्रौतस्य पर्यालोचनया पूर्वोत्तरमन्त्रपर्यालोचनया च पूर्वोक्तं मन्त्रे स्त्रीरुदेन प्रकरणात्तत्वेनविशिष्टा स्त्री (स्त्रीगवी) प्रतिपाद्यत इति प्रतिभाति । 'वदे स्त्रिया स्त्री'विशिष्टाया गो (घेन्वा) पूर्वं अब्राह्मणा दद्यापि पत्यो मनेषु, अथानि चेद्ब्रह्म-ब्राह्मण, इत्यमग्रहीत्—(इत्यमग्रहण-मत्र स्त्रीकारमात्रं निश्चितम्—ऋगाया) तदा स एव तस्या पति-स्वामी मन्तव्य (८) । राज्ञ्यवैश्यादिसमवायेऽपि गवादेर्धनस्य ब्राह्मण एव मुख्य-

पतिर्भवति इति सूर्य एव भगवान् सर्वभ्यो मानवेभ्यो बोधयति (१) अत एव ये ब्राह्मणद्रव्य गवादिषु पृच्छन्ति देवमनुष्याद्यास्त पुर्नरेव प्रश्नपुच्छन्ति राजाना अपि पृष्टीत ब्राह्मणद्रव्य सत्य परीक्ष्य पुनर्ददति दापयन्ति च (१०) इत्युपपद्यतेऽत्र मन्त्रार्थः । अत एव च सूक्तस्योपान्त्ये मन्त्रे—

नारमै पृश्निं विदुहन्ति येऽस्य दोहमुपाशते ।

यस्मिन् राष्ट्रे निरुध्यते ब्रह्मजायाऽचिन्त्या ॥ १७ ॥

इति दोहनं गोविद्धमूतमेव स्पष्टं भूयते । ये क्षत्रा, अस्या ब्राह्मणस्य गो, दोहमुपाशते, यत्र च राष्ट्रे ब्रह्मजाया ब्राह्मणस्य गो, निरुध्यते, अस्मै पृश्निं न विदुहन्ति, पृश्निरादिस्थो भवतीति भगवान् यास्क, तेनादित्य न विदुहन्ति पृश्निस्तत्र न भवति तेन पापेनेति तात्पर्यम् । अन्ते च—

नास्य धेनु कल्याणी नानडवान् सृष्टे धुरम् ।

विजानिर्यत्र ब्राह्मणो रात्रि वसति पापया ॥ १८ ॥

इति गोविरहितो ब्राह्मणो यत्र वसति, सत्र कल्याणी धेनु, धूर्वोऽनर्द्धाश्च न भवति तस्माद् ब्राह्मणाय गो प्रदेयेत्, इति तात्पर्यमुपपद्यते । सदित्थमत्र सूक्ते स्त्री जायादिशब्दैर्धेनुबोधने सर्वं समञ्जसम् ।

सर्वं स्व ब्राह्मणो मुञ्चते स्रजस्ते स्व ददाति च (मनु)

राजा एभ्रा निधिं दद्याद् द्विभ्योऽर्घं द्विष पुन ।

विद्वानरोपमादद्यात् ॥ सर्वस्य प्रभुर्यतः । (याज्ञवल्क्य)

‘अर्हार्थे ब्राह्मणद्रव्यम्’

इत्याद्यास्तु स्मृतिषु यद् ब्राह्मणस्योत्कृष्ट स्वरव, इदं द्रव्यस्यानपहार्थता च प्रतिपाद्यते—सर्वसंभवेतदादिभ्रुतिमूलकमेवेति । स्त्री जायादिशब्दानां पानीनाचकृत्ये तु गोऽपहारप्रकरणेऽप्रक्रान्तार्थता प्रथमो दोषः । ‘ब्राह्मण एव रतिर्न राजन्यो न वैश्य’ इति च क्षत्रियवैश्यादीनां सर्वथाप्य ववाद एव प्रसज्जेन, तेषां पतित्वस्य भ्रुत्या प्रतिषिध्यमानत्वात् । ‘राजान पुनर्ददु’ इति स्वाप्यनुपपन्नम् परस्त्रीग्रहणस्यैव राजा सर्वथा अप्राप्ततया पुनर्दानविधेरसम्भवात् । गान्धर्व्ये ॥ क्षौरादिभ्यो राजस्तदग्रहणमुपपद्यत एव । ‘येऽस्या दोहमुपाशते’ (म० १७) इति च सर्वपाऽनुपपद्यमानार्थकमेव भवेत् । ‘विजानिर्यत्र ब्राह्मण’ (म० १७) इत्याद्यपि विपरीतार्थकम्, यत्र यत्र ब्राह्मणो वसति तत्र तस्मै छाया प्रदेयेति कल्पनापातप्रसङ्गात् । तस्मात्तद्वदुक्तिमनुसृत्य गोऽपहार निनियुक्ते सूक्ते स्त्रीजायादिशब्दैर्धेनुरेव बोध्येति नास्य मन्त्रस्य प्रकृते कोऽपि संशयः ।

अथापि कश्चित् प्रसङ्गात् राज्ञास्त्रीविषयवत्त्वमेवाप्य व्याख्यारयेतामिहेन, तथापि किं भवता मन्त्रेणानेन साधनीयम् । ‘यस्या दद्यापि पूर्वं पतय स्यु,

अथापि यदि ब्राह्मणस्ता एहाति तर्हि स एव मुख्य पतिर्भवति, तथा च सर्वेषां दारापहारे ब्राह्मणानामधिकार सिद्धयेन्, न चैतदिष्ट स्यात्कस्यापि । पूर्वपूर्वं पतिमरणे क्रमेणैकादशपतिकरणन्तु न व्यभारि मन्त्रादस्मात्प्रम्यम्, अस्य मन्त्रस्य क्वल ब्रह्मणोत्कर्षस्यापक्त्वन विवाहविधायकादशपतिविधायकत्वानुपपत्ते । तथामृतेऽप्ये कल्प्यमाने ब्रह्मणपदस्यानुयोगात् । सर्वेऽपि हि भवन्मते पर पर पतिरेव मुख्यो भवेतीति किं ब्राह्मणग्रन्थेन । उत्तरस्य च मन्त्रस्य न किमपि तात्पर्यमुपपद्येत । तस्माद् 'यदि पूर्वं दशम्योऽप पतिम्यो (मविध्यद्वयस्या पतिशब्दप्रयोग) अब्राह्मण्यो वाग्दान भवेत् अथापि यदि ब्राह्मणो हस्त एकीयात् तर्हि ॥ एव पतिमन्तव्य' इति ब्राह्मणाय कन्यादानस्य प्राशस्त्यमय मन्त्रो बोधयेन्नान्या कापि कल्पना सामञ्जस्येनोपपद्येत । उत्तरार्द्धे 'हस्तमग्रहीत्' इत्युक्त्या च पूर्वेषां पतीनां हस्तग्रहणपर्यन्तसंस्कारामावो गम्यत इति वाग्दानस्य प्रदानान्येव ते भवेषु ।

तथा च—'इत्तामनि हरेत्पूर्वाच्छ्रेयाश्चेद्वर आत्रनेत्'

इत्यादिना यावत्कन्यादिभिस्तदुक्तस्य वरस्य लामे वाग्दत्ताया पूर्वस्माद् दारापहारेऽस्मात् अत्रदानरूप उक्तं, सप्तपद्यान्तु जाताया निष्ठा विवाहस्योक्ता, तदेव मन्त्रादप्यस्मात्प्रम्यम् । ब्राह्मणपदस्योत्कृष्टब्राह्मणपरत्वात् । क्षत्रियकन्या-दीनां वा ब्राह्मणकलामस्त्योत्कृष्टता पूर्वतिहासदृष्टा मन्त्रतात्पर्यविधयास्तु, विधवो द्वाहस्य तु नास्त्येव कोऽप्यत्र सवन्ध इति स्वयमेव विचार्यम् ।

केचित् पूर्वें दश पतयोऽब्राह्मणा, ब्राह्मणपदस्योपच्छगतादमनुष्ठा अर्था देवा भवन्ति, अनन्तर च ब्रह्मा-ब्राह्मणादि कश्चिदुक्तो हस्त यो एहाति, स एव मुख्य यावज्जीवन पतिश्चकार्यनिर्वाहको भवति—इति मन्त्रार्थोऽनाच्छते दश देवाश्च—

इन्द्राग्नी द्यावापृथिवी मातरिषा मित्रावरुणा ।

भगो अश्विनोमा । बृहस्पतिर्मरुता ब्रह्म सोम

इमो नारी प्रत्रया कर्षयन्तु (अथर्व १४ १ ५४)

इति मन्त्रोक्तान् सित्रया पतीनाहु । एते च दशदेवा 'सोम' प्रथमो विविदे' इति व्याख्यास्यमानमन्त्रोक्तानां त्रयाणां देवानामवाङ्मूता त्रिस्तरणे निर्दिष्टा इति न कश्चाद्विरोधः । 'ब्राह्मण एव पतिर्न राज्ञ्यो न वैश्य' इत्युत्तर-मन्त्रोक्तस्य च ब्राह्मणस्यैव पतित्व मुख्यम्—क्षत्रियादिषु तु गौगम्—तेन क्षत्रियादिभिः कदाचिन्नयोगादिकनापद्यनुवितमपि, ब्राह्मणानां तु न क्वाप्यय दृष्टो धर्म इत्यादिरीत्या प्रकरणमनपेक्षयात्र व्यवस्थापयन्ति । अस्तु यथाकथञ्चित्, विधवो द्वाहेन तु न कोऽपि मन्त्रस्यास्य सवन्ध इति सुरिषीमृतमिदम् ।

अथ ये—

अधोरचक्षुरपतिष्म्येधि शिवा पशुभ्यः ।

सुयमा सुवचो । प्रजावतो वीरसुदेवकामा ॥

स्योनेममभि माहृत्य सपर्यं । (१०, ८१, ४४)

इति विवाहविधौ विनियुक्ते मन्त्रे 'देवकामे' ति पद दृष्ट्वा देवरण विवाह-
नियोग वा धर्म्यमाकल्पयन्ति, ते तु 'पुत्रकामे' ति दृष्ट्वा पुत्रेणानि सहावाच्य-
मकर्म कारयिष्यन्तीति दूरत एव ते प्रणम्या । इयं मार्गा देवरमपीच्छतु,
देवरा मे भवन्तिस्वराशास्तु, देवरेषु स्निग्धा भवतु, मा देवविरोहिणी भूदित्येव
मन्त्रेण प्रायेणीषमिति तु स्थूलविद्यामपि सुखनावशोऽप्येव । प्रवृत्ते विवाह
कर्मणि देवरमसीय नियोगार्थं कामयनानिति तु वरकर्तृकैवाद्यसा क्रियन्तिन्दते
सामञ्जस्यमिति विचार सहृददेत्येव निश्चित्य तूष्णीमाह्वयः । तदित्थं विधवोद्वाह
काले स्वामीश्वरमर्पकत्वेन समाभिता भृत्यो याथ र्थेन व्याख्याता ।

अथाग्रहमहिल्लया वैराकुलीमुरन्ता इव ये खानु रते खमन्त इव
केन्द्रिपरितप्रभा विह्वार्यामघायीम्यपि कानिचिच्छ्रुतिवाक्यानि स्वराश्वर्यकत्वं
नाश्रुते । तान्यपि मनाक् कोटकाय पर्यागेष्यते । तत्र कवेत्—

नैकस्यै बहव सह पतय' (ऐ० ब्रा० १० अ० १० ल०) इत्येतोयश्रुतौ
सहस्रं सहस्रं साहस्रं मिधायकत्वेन हृत्पदार्थः व्याख्यातः 'दृष्ट्वा दृष्ट्वा
स्त्रिया बहव पतयो न मन्ति' 'तेन मिने तु कालं बहवो भवन्ति' व्याख्या
मुद्रायन्ती विधवोद्वाह समर्थयन्ते । अतो दुःसाहचिका । तस्माद् दीर्घेन
सप्तमेव ददितव्यम् (ऐ० ब्रा० १ अ० ६ ल०) इति श्रुतेर्गोत्रधारणामात्र
काले परिकर्मणोऽन्यत्र मिथ्यावादविधाने तस्मै किमु भवन्तोऽवधारयेषु ?
'इच्छातो न पीडनीय' इति श्रुतेर्मात्राकर्मान्योऽन्यत्र पीडनीय एवमेव किमु
भवता बुद्धिरप्यवस्यति ? मुद्रास्तेषु महापात्रमभिन्त्यमाना स्मृतिकारा किमु
मुवर्गातिरिक्त द्रव्यमपहर्तुमनुजानन्ति ? वयस्तु परमात्र दीक्षितस्य सप्तवदनाधि
सत्पवदन यदा कृतया ग्राहयन्ति, न तन्वन्नास्तत्रमपगाभ्यनुज्ञाया तात्पर्यम्, अन्य
प्रापि यदि कश्चिदस्य वदेत्, अवश्यं त्वं प्रत्यवेयान् । रोगार्तस्य पीडने मुद्रास्तेषु
च पात्रवद्वत् स्थाप्यते, अथवापि पीडनेऽन्यद्व्यस्तद्वेपि चास्त्येवाधर्मः—तथैव
'नैकस्यै बहव सह पतय' इत्यनुवादेनानि सामान्यान्त्येवमातिपता हृत्पदाल
बहुवचनपरिग्रहस्य रन्तप्रतिषिद्धता पात्रवद्वत् वा ०५ ख० ५०, मिनेऽपि तु काले
सप्तवद्वत् एव स एति कल्पनाया न्देव वचनं प्रतिकूलम्, दूरे त्वनेन वचनेन
विधवोद्वाहस्य धर्मत्वप्रकल्पना । ननु वचनान्तरेणैव द्रव्यस्य सप्तवद्वत् पात्र
काले निश्चितं, न तदाहते प्रमाणमिति चेत्—इहापि यथा वचनाद्व्यवस्थानु
जानन्ति तथैव व्यवस्थाप्यतान्, व्यवस्थेयस्य वचनस्य शरत्प्रवृत्तिः ।

वस्तुतस्तु वचनमिदं सर्वदा बहुपतित्वं प्रतिषेधतीति विषयो द्वादशाधिकानां परं प्रतिवृत्तम् । यथा हि प्रकरणमेतदीयम्—

‘शृक् च वा इदमग्ने साम चास्ताम्, सा-यव नाम शृगासीद्, अमो नाम साम । सा वा शृक् साम उवावदद्-मिथुनं समवाव प्रजात्यै-इति । नेत्यब्रवीत् साम-‘प्यायान् वा अतो मम महिमति’ । ते द्वे भूत्वोपावदताम्, ते न प्रति चन समवदत् । तास्तिष्ठो भूत्वोपावदन्, तत्तिसृभिः सममवत् । यत्तिसृभिः सममवत्—तस्मात्तिसृभिः स्तुवन्ति, तिसृनिर्दृगायन्ति, तिसृभिर्हि सामं समितम् । तस्मादेकस्य बहुषो ज्ञाया भवन्ति, नैकस्यैव बहव सह पतय । यद्वै तत् सा चामश्च सममवता तत्त्वामामवत् । तत् साम्नं सामत्वं ।’ इतीयमाख्या विद्वा भूयत ऐतरेयब्राह्मणे (१२ अ० १२ ख०) ।

अयमत्राभिप्रायः—बहुषः शृच एकेन साम्ना साम्प दिदन्त । साम्नो हि रोयतना महास्तस्य जालरिच्छेदः, शृच पाठे स्वर एव तदपेक्षयापेक्ष्यते काः । अस्यास्य साम्नं पुरुषसमृत्वा च क्षोरः परिदृश्य तद्दृष्टान्तेन बहुषः क्रिय एकस्य पुरुषस्य समवति, एकस्य साम्न इव अमितास्तिस्रः शृच, बहवस्तु पुरुषा नैकस्या क्रिया समवन्ति, एकस्या शृच इव बहुनि सामानीति स्थापित आया । तदथ दृष्टन्त न कदाचिदपि कालमेव वा कालैक्ये वा शृच एकस्या बहुनि सामानि मवन्तीति तुल्यन्यायात् क्रिया अप्येकस्या न कदाचिदापि पुनर्पैर्वहुनिर्भवति । ‘नैकस्यैव बहव सहपतय’ इति सहस्यन्द्भाष्यं सहस्य वचनोऽप्यनुगृह्यतात् । तेन सहस्य एकविधा बहव पतय एकस्या न भवन्ति, वक्ष्यमाणं सोमन्धर्वाद्यस्तु न मनुष्येण सहस्य देवतात्, तेषां च पति तत्स्योरचारिकत्वात्, तेन तेषां बहुनामनं सत्त्वं न सति । ये वा पालकत्वेन पतय उच्यन्ते, पितृभ्रातृनुनादयस्तेऽपि न पाणिग्रहीया समाना, तेषां पति तत्स्यान्यविधत्वात्, प्रजोत्पादकं पुरुषस्तु पतिर्दाज्ञावनेक एव क्रिया धर्म्य इत्येव तारभ्यं भुते ।

अतएव तैत्तिरीयसंहिताया सहस्यन्द्मन्तरेणैव भूयते यदेकस्मिन् मूप द्वे स्थाने परिभूयति, तस्मादेको द्व ज्ञाये निन्दते यन्नैका स्थाना द्वयोर्मूपयोः परेभ्ययति तस्मान्नैका द्वौ पौ निन्दते, इति ।

(तैत्ति० स० ६ का० ६ प्रश्न० ४ अनु० ख२)

इह हि मूपस्थानादृष्टान्तेनोक्त एकार्यं समर्थितम् । यत्तु हेकस्मिन् मूप द्वे स्थाने बध्येत, एका तु स्थाना न क्वापि द्वयोर्मूपयोः भवते । तथैव पुरुषस्यैकस्थानेनैव अग्निस्त्रियो भवति, स्त्रियस्तत्रैकस्या न पुनर्पैर्वहुनि कदापि योगः समवति । इह नैव सहस्यन्द् उवाच इति सर्वदैव सर्वथैव पतयप्रतिषेधोऽस्मादुज्जीयेत ।

दृष्टान्तेऽपि च नैऋस्मिन् काले नाप वा भिन्नयो काल्योरका रचना एते कदापि
यूपयोर्द्वयोर्बध्यते । तस्मादेव काल कालभेदेन वा नैव स्त्रिया एकस्या पतिद्वयमपि
भूतिरनुमन्यत इति का कथैकादद्यानाम् । एतत्त्वद्वितैकवाक्यतया च पूर्वोक्ताया
मैतरेयब्राह्मणभुतावपि नहि सद्यच्चदस्तुत्यङ्गान्वचन, इतरथा ह्येका संघाति
पतिद्वय प्रतिषेधति अपरा चैऋस्मिन्नेव काले प्रतिषेधतीति भूयोर्विस्वादा
प्रसज्येत । तस्मादेकवाक्यत्वय दृष्टातालुगुण्याय च सर्वकालसम्बन्धेनैव पतिद्वय
प्रतिषेधः प्रारम्भमस्या भूतेर्बोध्य इत्येतद्विरुद्धा सर्वाप कल्पना भूतिविरोधादेवा
प्रामाण्यरतं निखननीयेयल पल्लवितेन ।

अथैतानपि विवाहविधौ वरकवृत्तेभ्यारणे विनियुक्तान् सुसंस्त पुनश्चाहप्रति-
षेधकरानपि मन्त्रान् केचन साधकस्ये नोपस्थापयन्ति

सोम प्रथमो विविदे गन्धर्वो विविद उत्तर ।

तृतीयो अग्निष्टे पतिस्तुरीयस्ते मनुष्यजा ॥

(ऋ० व० ॥८५॥ ४०)

सोमस्य ज्ञाया प्रथम गन्धर्वस्तेऽपर पति ।

तृतीयो अग्निष्टे पतिस्तुरीयस्ते मनुष्यजा ॥

सोमोऽददद्गन्धर्वाय गन्धर्वोऽदददग्नेये ।

(अथ० १४।२ अनु २ वृ०)

रयि च पुत्राश्चादादग्निर्महमयो इमान् ।

(ऋ० १०।८५।४१)

इत्यमत्र व्याचक्षते—ईशः स्त्रिय प्रतिषेधयति । 'हे स्त्रि । ते प्रथम पतिर्द्वौ
विविदे—प्रातः, स सुकुमारत्वादितुल्ययोगात्सोमतादृश्यत्वेनोपवादिषेय । उत्तर,
द्वितीयश्च यो नियोगेन विवाहान्तरेण वा प्रातः, स एकस्या स्त्रिया पूर्वं सपुत्रत्वा
त्कामकलाप्रावीण्येन गन्धर्वपदेनाभिधेय । अथ दस्त्यैव तृतीय प्रातः, सोऽस्तु
ज्ज्ञातायोगादग्निपदेन वाच्य । अथ तुरीय इत्युल्लसगम्, चतुर्थमारम्यैकादश
पर्यन्ता ये पतयस्ते मनुष्यजा भवन्ति, मनुष्यपदेनैव साधारणेनाभिधात्यर्थः ।
एष एवार्थः उत्तरयोराप मन्त्रयो शब्दान्तरैरभिहितः । तथा च प्रथमस्य पत्युः
सोमस्य, द्वितीयस्य गन्धर्वस्य, तृतीयस्याग्निजज्ञा, तुरीयप्रभृतीनां च सामान्या
मनुष्यसञ्ज्ञेति स्फुटमभिप्राय मन्त्रस्योपलब्धेः पुत्रस्य ह्युत्पत्तये स्त्रिया साधयितुं
संनयन्ति ।

इत्यमत्र समालोच्यम्—उक्तार्थपर्यालोचने क्रमेण द्विवैक्या समुज्यमानान्
पुरुषानुद्दिश्य सोमगन्धर्वादिसञ्ज्ञा भूत्यानया विहिताः स्तु । किमर्थं तदिदं सञ्ज्ञा

विधानमिति पूजाम् । सञ्ज्ञा हि सर्ववस्तूना व्यवहाराय विधीयन्ते बहुत्र तत्त
द्विधिसौकर्याय वा शास्त्रकारा रक्षांश्चे काश्चित्सञ्ज्ञा परिभाषन्ते—पाणिनिरिव
गुणवृद्ध्यादिसञ्ज्ञा ।

न चात्र लोकेऽन्यत्र शास्त्रेषु वा तादृशपुरुषविषये सोमगन्धर्वान्यादीन्
व्यवहारान् पश्याम । न हि क्वचिदपि कश्चिदपि त्रिवाहित प्रथमं पतिं सोमपदेन
संबोधयन् दृष्ट, नियुक्तं वा गन्धर्वान्निपदाश्राम्, नापि शास्त्रे दृष्टतया व्यवहार
क्वापि । न च अत्रापि तथाविधान् सोमादीनुद्दिश्य क्वचिद्धर्मांतरं विधीयमान
दृष्ट येन पाणिन्यादोनामिव परिभाषाप्रकल्पनं समाध्येत । ततश्च व्यर्थमिदं सञ्ज्ञा
विधानं कथं भृतिसरम्भगोचरं स्यात् । कथं वा व्यर्थं प्रायैव विधिप्रलापशतसदृश्या
भूतिरीश्वरप्रणीतेति गौरवास्पदं स्यात् । किं च नामान्येव केवलं भूत्याऽनया
विधीयन्ते, उत पत्यन्तराभिगमनमपि तदाक्षितम् । अन्ते पत्यन्तरमनभिगच्छन्ती
यावज्जीवमेव पतिपरायणा भूतिविरुद्धकारिणीति पतिता भवेत्, न चैतदिष्ट
भवदीयानामपि । इच्छन्त्या नियोगं भूतिविधेय इति चेन्नैतन्मन्त्रे भुतम्, तत्र
हि स्फुटं सर्वविषयिणी भवेदियमाशा । तथा च सध्यामनुपासितेव ब्राह्मणादि
नियोगमकुर्वाणा योषिदवश्यं पतेदिति साधुधार्मिकोऽश्वानुसृतः स्यात् । नाम
मात्रविधानपक्षे तु पत्यन्तरविधाने न भुतेर्ध्यापार इति कथं विधवोद्वाहो वा
नियोगो वा सिद्धिमनेन मन्त्रेण विन्देत । असति पत्यन्तरे कस्य भवेन्नामेति तदर्थं
पत्यन्तरमाक्षेप्यमित्येव विधा तु कल्पना 'कुहस्विहोषेति' 'यापूर्वं पति'मिति
च मन्त्रव्यवस्थायां सुदूरमुत्थिता पूर्वम् । या शास्त्रमतिक्रामन्ती व्यभिचरति,
तत्रापि नामविधिसंभवात् । दृश्यते हि चौरवारादीयपि नामानि शास्त्रेषु न
हि तावता तत्कार्यानां धर्मैश्च भवतीनि । तथा च विधिविवेकशून्यतया मन्त्रोऽयं
मनर्थकप्रलाप एव प्रसज्येत । तदिदं भूतिवचनानां स्वारस्य कुत्रेति कुशळप्रज्ञा
विचारयन्तु ।^१

स्पर्शादौ शास्त्रीया व्यवस्था

इह खल्विदानीमस्पृश्यतया शिष्टसम्प्रदाये शहीतानां केषाञ्चित् चर्मकारा दीनां प्रतिलोमसकरजातीयानां विषमिभिः समाजसद्योषकमानिभिश्च कपञ्चित् बुद्धिभेद प्रापितानां, यवनखैशदिभिः समं व्यवहरतामपि केषाञ्चित् वर्णाभ-मानुयायिनां स्वेभ्यसभ्यवहार्यतामालोक्य हिन्दूसमाजान्तर्गतत्वे त्वेषामप्यमानमिव विभाव्यता हिन्दूसमाज परित्यज्य मत्तान्तरं प्रविशिक्षणा परितोष व्यवस्थाप्य तेषां हिन्दूसमाजान्तर्गतत्वरक्षण्येन गोरक्षकता सुस्थिरकृतुमस्ति कश्चिच्छास्त्रानुमतं पन्था न वेति बहुशो हिन्दूसमाजहितैषिभिः यथितान्तरेर्विचार्यते । तत्र च किमिदमसंभवहार्यत्वमस्पृश्यत्वं वा श्चास्त्रानुमतमास्ते न वा ? सत्त्वेऽपि चैव विधास्वापस्तु सापवादं नित्यं वा ? अपवादोऽस्तेत् कीदृश्या ? केषु च स्थानेषु कथं विधा संभवहार्यता कथञ्चिच्छास्त्रानुमतमव्यते ? कथं विधानि च संभवहारे प्रायश्चित्तानि स्मर्यन्ते इत्याद्या बहुना जिज्ञासा समुत्तिष्ठन्ते लोकानाम् । तत्र तावदाहुः केचिदिदानीन्तना यत् सर्वेषामपि मनुष्याणां समानाधिकारतायां भौचित्येन कस्याञ्चिज्जातिविशेषस्य सर्वार्थाप्यसंभवहार्यतायां प्रकल्पनं नितरां न युक्तिसहम् प्रश्रुतं तज्जात्युपमर्दनं द्वेषमूलकोऽयमवसाचारः । नाप्ययं भौतो धर्मः, तत्र—

‘सगच्छन् सर्वदन्तं स वो मनासि ज्ञानताम्’ ।

‘समानीव जाकृति समाना हृदयानि च’ ॥

‘समानो मया सह बोद्धव्यमात्रं’

इत्यादिभिर्वचनजातैः समानस्यैवाधिकारस्य प्रतिपादनत्वात् परस्परं सह मास सहभोजनोपदेशाच्च । स्मृतिषु तु क्वचित्तथाविधवचनान्युपलभ्यमानानि धृतिविक्रदतया न प्रमाणकोटिमारोद्धुमीक्यते, अपितु द्वेषपक्षपातादिवशीमूतै र्वर्चनैः प्रकल्पितानि परित्यागार्हाभ्येव । तस्मात् समानमेव सदासन सहभोजनादिभिः सर्वे सह यथेच्छं सम्बन्धवर्तन्म, येन पारस्परिकप्रेमवृद्ध्या समुन्नतिरस्मत्समाजस्य सञ्चिद्येदिति ।

तदिह श्रुतिस्मृत्यनुयायिनो धार्मिका न समन्यन्ते । आहारनिद्राभयकोपकामादिषु केषुचित् कर्मषु सर्वमनुष्य साधारण्येन हिस्तेभ्यः कनौधेभ्यः भेदप्रयोजकस्य योनिहेतुकस्य योभ्यताभेदस्य प्रत्यक्षं परिदृष्टत्वात् । स्पर्शादि संभवहारे परस्परप्रभावसकमस्य विज्ञानानुमोदितत्वाच्च । न ह्ययमसंभवहारो

नाम कथंचिदपि परेष्वन्याचार, अपित्वच्चवर्गानां स्वप्रभावशस्त्रादिसंज्ञा
फलक आत्मसयम, च्चेद शक्तिसंज्ञा वर्गव्यवस्थोपयोगितया समाजहिता-
यैवेति न कथंचिदपि पक्षगते द्वेपे वा पर्यवस्यति । अत एवोच्चवर्गानां
प्रतिलोमसङ्करैः सव्यवहारेण न प्रतिलोमसङ्कराणां कोऽपि दण्ड स्तप्यते,
अपित्वच्चवर्गानामेव प्रायश्चित्तमिति कथमिदमनानाचारतया परिश्रमताम् । तत
एव च नेयमसंशयदायता पास्तारिकधनं सर्वरङ्गोद्देशेनानुष्ठीयमाना पास्तारिके
प्रेम्णि कथमपि प्रतिबन्धकतामाप्नुयात्, कर्त्तव्यपात्रस्य विरोधजनकताया
दूरापास्तत्वात्, भोजनस्वर्गादिसंभवहारस्य प्रीतिप्रयोजकताया व्यभिचारितया च ।
द्वेषादिर्षुर्द्धिमेदस्तु च क्लाननुमते परित्याग एव । न चेदमसंशयदायत्व
मशास्त्रीयमिति शङ्कितव्यम् ।

न तैः समयमन्वष्टेत् पुत्रयो धर्ममाचरन् ।

व्यवहारो निरस्तेषां विवाहः सहस्ये सह ॥

(वर्गसङ्करप्रकरणे मनु-१०।१२)

न सप्तैव पतितैर्न चण्डाणैर्न मूर्खैर्नादित्यैश्च ।

भारसत्तागतात् पतितेन सहान्द्र पतति,

यह यानाशनाभ्याम्, योनिभौतसन्धत् सद्य एवेति ॥

(वि० ५०)

न श्लेष्ठाशुच्यघातैः सह समादेत ।

(गौतम अ० १।१)

एकशय्यासन भाण्डं पङ्क्त्यन्निभक्षणम् ।

याजनाभ्यासनं योनिस्थं च सह भोजनम् ॥

नवधा सङ्कर प्रोक्तो न कर्त्तव्योऽप्यनैः सह ।

(बृहस्पति)

सत्पारस्पर्यनिष्ठासत् सह शय्यासनशानात् ।

याजनाभ्यापनाद्यौनात् पापं सक्रमते नृणाम् ॥

(देवम्)

पञ्चदशस्तनैः सम्प्राया दशने च दोषः ।

(आतस्त्र्यम्)

इत्यादिनि शतश स्मृति वन्नैः सव्यवहारस्य स्फुटं प्रतिदिशन्तः ।

'नित्ये त्वनपेक्ष स्यादस्ति ह्यनुमानम् ।'

तत्रान्त्यावसायिनामपेक्षयान्त्यजाना संव्यवहारे प्रायेण प्रायश्चित्तस्तत्र-तत्र स्मर्यते । चाण्डालस्याश्नत्स्य गृहनिवासे िशते द्वादशदिनं व्रतं गृहदाहादिभ्यः, कामतश्चान्द्रायणं पराको वा अन्यजानां तु तथा निवासः तद् न च गृहदाहः, चाण्डालानामन्त्यजानां चोच्छिष्टभक्षणं चान्द्रायणम्, चाण्डालस्त्रीषु कामतो गमने शुक्लतल्पसमः, सङ्कटगमने कामतः कृच्छ्राब्दम्, अकामतस्तु चान्द्रायणद्वयम्, अन्त्यजास्तु तु कामतश्चान्द्रायणद्वयम्, अकामतस्तु चान्द्रायणम्, चाण्डालान्नं भोजने चान्द्रायणद्वयम्, अन्त्यजान्नभोजने तु चान्द्रायणम्, चाण्डालोदकपाने षड्रात्रव्रतम्, अग्नये तदधम । चाण्डालभाण्डस्योदकपानं क्षुद्रिपूर्वके स एव त्रिप्रस्य अन्त्यजभाण्डोदकपानं तु ब्रह्मकूर्चोपवासः । उच्छिष्टास्य चाण्डालस्पर्शं कामतः प्राजापत्यं, अकामतस्त्रिरात्रव्रतम्, गाय-यष्टमहस्रजरोऽपदाशतयप पञ्चगव्यं च, अन्त्यजन-नृत्तिष्ठेन स्पर्शं कामतस्त्रिंशत्, तैत्तिर्युच्छिष्टैश्चिच्छिष्टस्य स्पर्शं षड्रात्रम्, इरादे प्रायश्चित्तविशेषस्य तत्र-तत्र स्मर्यमाणत्वात् । किं च प्रायश्चित्तमयूले प्रायश्चित्तविवेके च शूल्पाणिङ्गते चाण्डालाद्यपेक्षयान्तरानां संव्यवहारेऽर्हं प्रायश्चित्तमिति स्फुटमेव मुख्येन व्यवस्थापितम् । स्पर्शविषयेऽपि चाण्डालस्य साक्षात् स्पर्शं सचेत् स्नानमिति सर्वेषामेव स्मृतिकाराणामुपदेशः —

दिवाकीर्तिमुदक्या च पतितं सूतिका तथा ।

द्यव तत्सृष्टिर्ग्नौ चैव सृष्ट्या स्नानेन शुद्ध्यति ॥

(मनु)

चाण्डालपुलकसम्लेच्छभिल्लपारयिकादिकान् ।

महापातकिनश्चैव सृष्ट्या स्नायात् सचैल्ल ॥

(मयूखदूधृतमाश्वत्थवचनम्)

चाण्डालस्पर्शाने चैव सचैल्ल स्नानमानरेत् ।

(पराशर)

इत्यादि । कामतस्तु चाण्डालस्पर्शः—

पतितं सूतिकामन्त्रं द्यव सृष्ट्या च कामतः ।

स्नानं सचैव सृष्ट्याग्निं घृतं प्राश्य विशुद्ध्यति ॥

इति विशेषोऽपि वृत्त्यतिना दर्शितः । अग्निस्पर्शो महाव्यादृतिहोम इति मयूखकारादयः । वचनेऽस्मिन् तत्पदं चाण्डालाभिप्रायकमिति सर्वेषामपि निबन्धकाराणामभिमतम् । अथ शास्त्रमनादृत्य कामतोऽग्निनिवेशेन स्पर्शः—अकामतोऽग्न्यासे वा कैश्चिद् सचैल्लमन्मोऽवगाहोत्तीर्णान्मुपसृष्ट्य गाय-यष्टशतं जपेत्, घृतं प्राश्य पुनः स्नात्वा । प्रयच्छेत् ।

(च्यवन)

रजस्वला स्त्रिका वा चाण्डाल पतित तथा ।
 पालङ्गिन विकर्मस्थ शैव स्पृष्ट्वाप्यकामत ॥
 गोमयेनानुलिप्ताङ्ग सवासा जल्माविशेत् ।
 गायत्र्यष्टशत जपवा धृत मांस्य विशुद्ध्यति ।

(वृद्धहारीत)

इत्यादिर्विशेषोऽप्यभिहित अथ तु विशेष वर्गाभिमोक्षमादर्शरक्षिणा साम्नी
 नामस्यस्तपवित्राणां व्रतस्थादीनां वा सम्भाव्यते, सचैत्यनानमात्रस्यैवेदानीं
 द्धिष्टसमावाहकतत्त्वदर्शनात्, मन्वादिभिस्तथैव प्रतिपादितत्वाच्च । सर्वाङ्गीये
 चाण्डालस्यो विरात्रमपि पूर्वोक्तगुणवतां व्रतयज्ञादिस्थानामेव च सम्भाव्यते
 इति हृत प्रपञ्चेन । चाण्डालस्पृष्टेन चेतनभिन्नेन क्त्वादिना स्वर्गो भाव
 मनाच्छुद्धि, एककाल एवैकस्तस्तराद्यासने तु साक्षादस्पर्शेऽपि स्नानमेव ।

एकधालां समारुढचाण्डालादिर्यदा भवेत् ।

ब्राह्मणस्तत्र निवसन् स्नानेन शुचितामियात् ॥

(आपस्तम्ब)

मूढ सस्तरे वाऽसस्पृष्टश्चनपि तान् प्रपतो मन्यते ।

(आपस्तम्बसूत्र शूलपाणिपूतम्)

इत्यादि वचनात् । अथ चाण्डालस्पृष्टेन मनुष्यादिना चेतनेन स्वर्गो तु मत
 भेद, भावमनमात्रमिति केचित्—

‘सस्पृष्टस्तैरपस्पृशेत्’

(याशकल्क)

इत्यादिवचनात् । अशक्तविषयमेतद् वचनम्, अशक्त्यभावे तु तत्रापि
 स्नानमेव, ततोऽपि स्नानम्, चतुर्थेऽपि स्नानमिति बहवो निबन्धकृत । इदं
 सर्वम् त्यागसाधिस्यर्शे, रजकचर्मकाराद्यत्यजस्यर्शे तु—

यमोर रजक वेश धीवर नटमेव च ।

एतान् स्पृष्ट्वा द्विजो मोक्षदाचमेत् प्रपतोऽपि सन् ॥ (धर्त)

रजकश्चर्मवृन्चैव व्यासबाणोपजीविनौ ।

निर्णेजक सौनिकश्च ठरु शैलूषकस्तथा ॥

मुखे भगस्तथा आ च वनिता सर्व-र्णगा ।

चर्मी ध्वजी वध्यचाती प्राग्यशूकरकुक्कुटौ ॥

एभिर्यदङ्ग सस्पृष्ट शिरोवर्चे द्विजातिषु ।

तोयेन धातनं कृत्वा आचान्त शुचितामियात् ॥ (आतातप)

इत्यादि वचनान्यवलम्ब्य अकामतः स्पर्शो आचमनमात्रम्, कामतः स्पर्शे स्पृष्टाङ्गुलानपूर्वकमाचमनम्, शिरस्पर्शे तु स्नानमिति श्रुत्याणि प्रायश्चित्त-
विद्वेके व्यवस्थापयति मयूखेभ्येवमेव । मिताक्षराकृदादयस्तन्त्यञ्चस्पर्शनं विचार-
यन्त्येव । इत्थं च—

चण्डालं पतितं व्यहगमुन्मत्तं शवमन्त्यजम् ।

सुचिका सुतिका नारीरेजसा च परिप्लुताम् ॥

श्वकुक्कुटवराहाश्च ग्राम्यान् सस्पृश्य मानवः ।

सचैल सशिरः स्नात्वा तदानीमेव शुद्धयति ॥

(मयूखे शातातप.)

इत्यादिषु यत्त्वचित् अन्यञ्चस्पर्शं स्नानमुक्तम्, तन्त्रिस्पर्शविषयतैवोप-
सर्तव्यम् कर्मकालपरतया यायजूकविशिष्टब्राह्मणपरतया वा नेयम्, पूर्वोक्त-
वचनैकवाक्यत्वात् । तथैव च व्यवस्थापितं श्रुत्याणिमयूखकृदादिभिः । कश्चित्स्व-
न्यपदमन्त्यजपदं वा चण्डालबोधनायापि प्रयुक्तमुपलभामहे—

तथाहि—

पतितं सुतिकामन्त्यं शव स्पृष्ट्वा च कामतः ।

स्नात्वा सचैल स्पृष्ट्वाग्निं घृतं प्राश्य विशुष्यति ॥

(बृहस्पतिः)

इति वचने, चण्डालपरमेवाम्बपदं मयूखादिषु निबन्धेषु व्यवस्थापितम् ।

अन्याजानां तु गमने भोक्षणे संप्रमापणे ।

पराकेण विद्युद्धिः स्याद् भगवानक्षिराब्रवीत् ॥

इति पराशरभाष्याभूते च वचनेऽन्यजपदं चण्डालपदतथैव विद्वान्भो-
जयन्तीति । तदित्थं अन्यजशिरसि स्पृष्टे स्नानम्, चण्डालेन तु यथाकथं-
चित्स्पर्शेऽपि स्नानमेव व्यवस्थाप्यते । अतएव नैमित्तिकस्नानप्रकरणे प्रायेण-
निबन्धकृद्भिश्चण्डालादिस्पर्शेऽप्येव स्नाननिमित्तकोपात्, न तु सर्वान्यञ्चस्पर्शं
इति । यत्तु व्यासेन—

चर्मकारी मटो मिष्ठो रजकः पुष्करो नटः ।

वरथो मेदचाण्डालो दाशदण्डकौनिकः ॥

एतेऽन्यजाः समाख्याता ये चान्ये च गवाशनाः ।

एषा समापन्ता स्नानं दर्शनादर्करीक्षणम् ॥

इति बह्वन्यजानुक्त्वा सर्वेषां सम्पापेऽपि स्नानमुक्तम्, यद्वा तथैव
पाठभेदेन—

वर्द्धनी नाभितो गोन आधाय कुम्भकारक ।
 वणिश्रितातकायस्य मालाकार कुटुम्बिन ॥
 वरगे मदचाण्डालदात इतरत्र दौलका ।
 एतेऽन्यत्रा समाख्याता य चान्ये च वाचना ।
 एषा सम्भाषणात् स्नान दर्शनादकंतीक्षाम् ॥

इति वर्द्धनीनाम्निगोपकुम्भकारमालाकारादीनामन्त्यश्रु गणनेना सौदा
 समापगमात्रेऽपि स्नानमुक्तम्, तत्र समापये सङ्कताना मायामिति निश्चयान्तर
 सत्रिङ्गणाङ्गयोरप्यवधानस्यानितमुक्तो परस्पर कर्णे यद्वाशुभाषा एतेव स्नान
 निमित्तत्वा व्यवस्थारणीयम् । सामान्यभूत परस्पर व्यवहारात्रेऽन्यत्र प्राय
 श्चित्तस्य बहुभि स्मृतिवृद्धिरपदिष्टत्वात् । तथाहि—

श्वराक वाणि चाण्डालश्चिद्वि सम्भाषते यदि ।

द्विजसमापग कुयोद् सावरी ॥ सङ्कतपत् ॥

(इति पराशर.)

द्विजसमापगमात्रे गायत्रीवर इति विक्रम मघने श्याचे इति ।
 हारीतश्चापि—‘गायत्री वा जपेत्’ इति मुष्पष्ट द्विजसमापग-गायत्रीसङ्कतयो
 विकल्पमाह ।

‘चाण्डाल्यश्चने समाधाय दर्शने च दोष । तत्र प्रायश्चित्तमङ्ग-हनमङ्ग-
 रश्चनम्, समाधाय ब्राह्मणसमाधा, दर्शनं व्योतिषा दर्शनमिति ।

(आस्तस्य, मुमन्त्रच)

स्नान्तरेष्वप्येव द्रष्टव्यम् । तथा च चाण्डालकर्मणोऽपि यदा
 सम्भाषणान्त्र प्रायश्चित्तत्वन स्मृतिकाराणामभिमतम् एहि सामान्यव्रतमापगमात्रे
 स्नान कथं युक्तिवह स्यात्, अन्त्यजाना चाण्डालपेत्तया द्वैगुणेनोत्कर्षस्य
 दर्शितत्वात् । किञ्च—यदान्तपञ्चशेषेष्वङ्गालनपूर्वस्नानचननानामुदधितम्,
 स्मृतिवृद्धिमितम्—एता सम्भाषणान्त्रे स्नानकृत्वा दूरापास्या सन्नात् प्रायश्चित्त
 गीर्वात्रिमित्तगौरवमुन्नेयमिति न्यायेन यथोक्तसम्भाषणशब्दं उनेय ।
 तत्र च युक्तमेव स्नानमिति । इह च स्मृन्तरश्रु मन्त्रद्वयेन निर्गताना गोप
 नाभित-वणिक् कायस्यमालाकारादीनामन्त्यश्रु गणनाज्ञातन्तराभिप्रायेण स्यात्,
 प्रसिद्धयन्ति हि बहुत्रैकनामैवान्वा दान्य, वायस्य इति हि प्रशिक्षिता सत्रिङ्ग
 म् एतद्भूता चातिरूपमिधीयते, कर्ममशोधका, नरावरणहराश्च प्रतिगेन
 सकर्षशेषानि कायस्य इतरमिधीयते, नात्रिा अपि सति केचिदुक्त्वा, सन्ति
 कचिन् नीचकर्मभरा प्रतिगेमन्तानोऽपि । तथैव गोपवणिक् मालाकारादयोऽप्य
 कचिदन्यत्रा प्रसिद्धास्य व्यस्यो विवक्षणा एव कचिदश्रु तथा प्रसिद्धा भवतु ।

व्यासवाक्येऽन्यथानन्दम्—‘अन्तर्मदो ऽन्तर, अन्त्यान्नायतेऽन्तरम्’ इति व्युत्पत्त्या
शूद्रस्नानान्प्रशोधकं वा स्यादिति कृतमनङ्गत्वात्प्रसङ्गेन ।

अथ यत् स्नानान्तेन शूद्रनात्रस्नानं स्यात् नित्यं ननुवादिषु निषेध उक्त
स्तत्र च स्नानमभिहितम्, तच्च सध्याग्निहोत्रपूजादिर्कर्मकाले, व्रतस्यस्यो
न्निष्ठादिदशाविशेष एव विद्येते, न तु पञ्चनहायशायधिकारित्वेन भोगान्न-
त्वेनाद्रंसीरिगादेर्विशिष्टयोर्मन्त्रमन्थनेन च स्मृतेर्ऋत्नी स्वीकृतानां पावाद्-
द्विषितानां सर्वेषामपि शूद्राणां स्नानान्तेनासृज्यत्वे सम्भवति, तथा सति सर्व-
व्यवस्थावैराकुल्यप्रवृत्त्या । अत्र एव मदनपात्रिवात प्रायश्चित्तविशेष-स्मृति
तत्त्वादियु रौडमहानिबन्धेषु न क्वचिदपि स्नानान्तेन शूद्रागमसृज्यता व्यवस्था-
यिता, न वा तत्सर्वं स्नानं प्रायश्चित्तयोक्तम् । यच्च निजशुद्धता शूद्रस्य
स्नाननिषेधे—

‘अस्वर्गा ह्याहुति सा स्याच्छूद्रजनकं प्रीता ।’

इति मानवीय ऋग्यजुः—तदपि ब्रह्म-यस्य शूद्रस्नानं प्रतिषेधदशाविशेष
एव प्रागुक्ते स्नाननिषेध एवपि, न तु सर्वत्र ।

अनुविष्टेन शूद्रेण स्नानं विधीयते ।

तेनोविष्टेन ससृष्टः प्राधान्यं ज्ञातव्यम् ॥

इति पराशरवचनं चेन्विष्टेन शूद्रेणेविष्टस्य द्विजस्य वा स्नानं प्रायश्चित्तम्
वदतीति स्फुटनेन माधवाचार्येण व्यसनादम्—

“यद्यप्यनुविष्टेनोविष्टशूद्रो शूद्रविशेषात्तथा भूतौ, तथापि विधीयमान-
स्नानप्राधान्यानुकारेण विप्रैर्ऋतौ शौचनीनौ” इत्यादि वचनात् ।

तथा चोविष्टस्यस्नानेन तद्वचनं प्रतिषेधति, न तु शूद्रस्नानमात्रम् । तथैव
च शूद्राणिरप्याह—

शैवान् पाशुपान् सृष्ट्वा लोकपतिरनास्तिहान् ।

विकर्मस्थान् द्विषामशूद्रान् सवासा वचनाविशेषम् ॥

उच्छिष्टं ससृष्टेद् विप्रो मय शूद्रं पुनोऽप्युच्यते ।

अहोपात्रोपितं स्नानं पञ्चान्तेन शुद्धयति ॥

इति शाठ्यवचनमपि चेन्विष्टस्यैव स्नानं प्रतिषेधति न तु सर्व-
कालिकम् ।

शूद्रं सृष्ट्वा निषादं च पुदपेदाचननाद् द्विजम् ।

तदानीन्तनानादत्तं प्राप्यान्तेऽस्तेनोच्यते ॥

इति प्रायश्चित्तमयूखधृत गार्ह्यवचन च—

एहक कुक्कुटं काक इवशूद्रात्यावसायिन ।

दृष्ट्वैतानाचमेद् कर्म स्पृष्ट्वा तान् स्नानमाचरेत् ॥ इति—

मयूखधृतेनैव वचनेन कर्मकालविषयतयोपसहृणीयम् । 'कर्म इति कर्मकाले' इति मयूखेनैव व्याख्यातत्वात् । अन्यावसायग्रभृतीनां तु स्पर्शप्रतिषेधो न कर्मकालविषयतयोपसहृत्तुं शक्य बहुस्मृतिवचनव्याकोपप्रसगात् । अश्वच्छूद्रास्य जपरमेव वा वचनयोरनयो शूद्रपदमस्तु—अन्यथादीनामपि शूद्रवर्गेऽन्तर्भास्य सर्वसम्मतत्वात् । अत एव शूद्रकर्मणावश्यवेडाप स्रष्टुमुक्तम् । यत्तु याज्ञवल्क्य—

'विकर्मस्थान् द्विजाग्र शूद्रान् सवासा जलमादिशेत्' ।

इति शूद्रस्पर्शे स्नानमाह—

तद्वासादिभिन्नशूद्रपरम्, निषुत्तपर वा । (शूद्राजानिहृचविधिद्वन्नासगपर वेदधर्म) अन्यथा—

'मूल्यकर्मकरा' शूद्रा दासी दासस्तथैव च ।

स्नाने धरोत्तरकारे एहकर्मण्यद्विता ॥

सद्यः स्वर्गो गमंदासो भक्तदासस्तृक्षान्मुखि ।

इत्यादि विरोधादिनि । शूल्याणिना चान्यत्रापेक्षया शूद्राणां त्रैगुण्येनोद्वेग उक्तः, तद्यदाऽन्यत्रस्पर्शेऽपि स्पृष्टाङ्गकालनपूर्वकमाचमनमेव, तदा दूरे शूद्रस्पर्शे स्नानं कर्मम् । तथा च यज्ञशूत्रादिकाल एव सामान्येन शूद्रस्पर्शनिषेधो न । तु सार्वकाधिक इति मुनिष्पन्नमिदमिति कृतं प्रवक्तानुप्रसक्तचिन्तनेन । तदिदम्—सामान्येन साक्षादन्यत्रस्पर्शे अकामकृत आचमनमात्रम्, कामकृते तदङ्गकालनपूर्वकमाचमनम्, धिरस्पर्शे स्नानम्, परम्परासम्भवे त्वन्त्यजानां न कचिदोष उक्तः । चाण्डालस्य तु यथा कथंचिदपि साक्षात् स्पर्शे सचेल-स्नानम्, कामकृते व्याहृतिहोमाद्यपि, अचेतनपरम्परास्पर्श आचमनमात्रम्, चेतनपरम्परास्पर्शे त्वशक्तस्याचमनमिति, शक्तस्य तृतीयपर्यन्त स्नानमिति प्रामाणिकनिबन्धव्यवस्था सप्रपञ्च निदर्शिता ।

अथैतस्य स्पर्शदोषस्यापवादः स्मर्यते—

ग्रामे तृमयस्तुष्ट्यात्राया कल्हादिषु ।

ग्रामसदूपयो चैव स्पृष्टिदोषो न विद्यते ॥

(शातातप)

ग्रामे—राजमार्गादाविति तद्व्याख्यानं मदनपारिजाते—

देवयात्राविवाहेषु यज्ञेषु प्रकृतेषु च ।

उत्सवेषु च सर्वेषु स्पृष्टास्पृष्टि न दुष्यति ॥

(मदनपारिजाते धट्त्रिंशत्)

परिहितस्य कार्यसिन्नु च्छस्य च स्पर्शं साक्षात् स्पर्श इवेति ।

देवयात्राविवाहेषु यज्ञप्रकरणेषु च ।

उत्सवेषु च सर्वेषु स्पृष्टास्पृष्टि न विद्यते ॥

(अग्नि)

तीर्थे विवाहे यानाया सम्रामे देशनिष्क्रे ।

नगरग्रामदाहे च स्पृष्टास्पृष्टि न दुष्यति ॥

अपहृष्टि च दृष्ट्या सामये पीडिते तथा ।

मातामित्रगुणोद्देशे निदेशे वर्तनात्तथा ॥

(बृहस्पति)

कूपकुण्डे शिलालण्डे नौकाया गजमस्तके ।

विवाहे तीर्थयात्राया स्पर्शदोषो न विद्यते ॥

(व्यासपात्)

सल्लग्नेषु तु काष्ठेषु सल्लग्नेषु तृणेषु च ।

सल्लग्नेषु च पर्णेषु स्पर्शदोषो न विद्यते ॥

(स्मृतिस्मरणसमुच्चये)

आसनं शयनं पानं नावः पथि तृणानि च ।

चाण्डालपतितस्पृष्टं मास्तेनैव शुद्ध्यति ॥

(बोधायन)

अत्रासनं च्छभिन्नं काष्ठकटादिशयनं च वस्त्रविरहितं शय्यामात्रमिति युक्तं प्रतिभाति । चाण्डालादिस्पृष्टपूर्वांसनादेरनन्तरं स्पर्शेन दोषः, एकासनोपवेशने तु दोषः उक्त एव प्रागिति । यत्तु वचनान्येताभ्यां विधेयवत्सेरस्वरे न साक्षात् स्पर्शवादादपि ■ 'यं ब्राह्मणेन स्पृष्टं इति प्रत्यक्षज्ञानं नास्ति तद् विषयकाणि' इति मतम्, तत्र रोचयामहे । 'स्पृष्टास्पृष्टि न दुष्यति', 'स्पर्शदोषो न विद्यते' इति स्फुटमुक्तस्य स्पर्शदोषप्रतिषेधस्यैव मानामावात् ।

'वानशस्तमम्बुनिर्गिकमश्नात् च सदा शुचि' इति सामान्येनैव वचनेनाशते स्पर्शे दोषप्राप्तेरेवाभावात्तत्रापवादवचनवैयर्थ्यप्रसङ्गाच्च तावन्मात्रापवादत्वे हि बहुनीमानि वचनान्यश्नात्तदनुवादानि प्रसज्यरूपिणि, अनुवादकत्वे लक्षणप्रामाण्यमेतु समारोपितं स्यात् । न च सम्भावन्त्याशतावनुवादकत्वमनुमन्यन्ते

मीमांसादशाः । किं चैवं देवयात्राविवाहादिषु नास्त्यसातस्य स्पर्शस्य दोष इत्यन्यत्राज्ञातस्यापि दोषत्वं प्रसज्येत, कथं च सर्वथा ज्ञातस्य प्रायश्चित्तमनुष्ठायता शिष्टैः, सर्वदा दोषसम्भावनया सततप्रायश्चित्तपरैर्वा भाव्यमिति सर्वकारान्तर-
 रोच्छेदप्रसङ्गः । किं च सर्वत्रैष्ववतरेष्वज्ञानं न सम्भवति, नौकायां, संगमे, पीडितादौ च तथाविधस्याज्ञानस्याप्रसक्तेः । न च रोगाक्रान्तः कश्चिच्छाण्डाल-
 त्वादिना विशेषणाज्ञान एव रक्षणीयो न तु ज्ञात इति, कश्चिदपि धर्माभिज्ञो धर्माभिमानो वाऽन्युपगच्छेत् । सततमेवापन्नरक्षणस्य धर्मशास्त्रैर्मुक्त्यक्तव्यतयो-
 द्युष्टत्वात् । ततश्चैकमेव वचने कश्चिदंशोऽज्ञातदोषाभावात्तुवादकः, कश्चित्तु
 सर्वस्पर्शापवादक इति वाक्यभेदप्रसङ्गो दुर्बलरो दोषः स्यात् । अत एव भीरधु-
 नन्दनमहाचार्यैरुक्तवाणिप्रामाणिकमूर्धन्या अविशेषेण स्पर्शदोषापवादकता वचना-
 नामेषामिच्छन्ति । ततश्च स्पर्शदोषापवादकत्वमेव वचनानामेषां मुख्यवस्थित
 मन्यामह इति तु धर्माभिरेव विचार्यतामवधानेन । तदेषा वचनानामवलम्बेन
 राजनीतिसम्बन्धिनीनां सामाजिकीनां धार्मिकीणां च समानाणामुत्सवेषु न प्राप्नोत्येव
 स्पर्शदोषः, 'उत्सवेषु च सर्वेषु' इत्यविशेषणाजिणा स्पर्शदोषस्यादोषितत्वात्,
 यत्रैवंविधबहुसमुदायसम्मवस्तन सर्वत्र स्पर्शदोषापवादे सिद्धे द्रव्यव्यायेन सभा-
 स्वप्यपवादप्रसरस्य वारयितुमशक्यत्वात् । तथा च सामाजिककर्तृव्यधर्माद्युप-
 देयार्थं यत्रावश्यकता, तत्रावश्यमस्पृश्यानामप्यधिकारः सभाप्रवेशस्य देयः,
 एकासनपरिहारस्यावश्यकत्वेऽपि विभिन्न एकतमे प्रदेशे तेषामवस्थितौ धर्मकोप-
 शांकानवतारात्, तत्र गच्छता यथा कथञ्चित् वनागते साक्षरत् परस्परया वा
 तत्स्पर्शोप्यपवादवचनाभयेन तत्र दोषानुत्पत्तेः सिद्धत्वाच्च । ये तूत्तमवर्णाभिमन-
 यीदादशैरक्षिणस्तादृशसमाम्यो विनिर्गता स्नानाचमनादिकं प्रायश्चित्तमन्तरेण
 चान्तरपरितुहास्तथा विधातुमिच्छन्ति, ते विदधत यथेच्छं प्रायश्चित्तम्, दोषा
 भावस्य शास्त्रेण सुहृद्वुष्या लोकार्थमनुशास्त्रेऽपि प्रायश्चित्तमनुतिष्ठता दोषस्या-
 बोधितत्वात् । अनुशासकानामतिक्रमण्ये हि न पातकोत्पत्तिशक्ता, प्रपुत्र यक्ष-
 प्लुतमादशरक्षणप्रयुक्तं गौरवमेवेति न कस्याप्यत्र विवादः । येषां स्वपवादवाक्येषु
 विश्वसतो चेत्सि न मनागपि शंकातंककलेशः, तेषां न तत्र प्रायश्चित्तयोग्यता,
 अधिकारदानं तु तद्वदुद्दिमेदं निराकृत्य तेषां स्वधर्म रक्षणाय सर्वेषामन्यावश्यकमिति
 सर्वे चतुरस्रम् । यत्र तु कर्मकारादिषु विशेषेण दोषः स्मर्यते, तत्र सर्वेषामपि
 स्पर्शपरिहारः, ज्ञाते वा स्पर्शे प्रायश्चित्तानुष्ठानं युक्तमेवेति । तथेवाधुनिकेष्वाल-
 लभायादिविद्यालयेषु, यत्र विद्यादाने नास्ति वर्णाभिमन्यवस्थाप्रयुक्तः कोऽपि
 नियमः, समुत्पन्न यथाध्येतुं प्रभवन्ति । विधर्मिणा कुमारा अपि, तत्रैषामन्यज-
 ज्ञातीनां कुमारा अपि भृत्याद्यतिरिक्तं किमप्यधीरश्चेद् न तत्र दोषं पर्याप्तः ।
 विधर्मिणामपेक्षयैषा कथमप्यवस्थाभावात्, प्रत्युत गोस्वकृत्वेन भेषत्वादिति ।

किञ्च द्विजकुमाराणां तादृशविद्यालयेषु प्रवेशः केवलमापदमर्ममनुसृत्यैव वाच्यः,
इतरथा वेदमनघोतवता विवेकमापादानरूपकलाशिक्षायां प्रविशताम्—

योऽनघैरथ द्विजो वेदानन्यत्र कुरुते भ्रमम् ।

स जीवन्नेव शूद्रत्वमाशु गच्छति सान्वयः ॥

इत्यादिस्मृत्यनुसारेण—

‘न पठेद्यावर्नो भाषां प्राणैः कण्ठगतैरपि ।’

इत्यादिशिष्टप्रसिद्धस्वनानुसारेण च पानित्यप्रसङ्गात् । आपदि चापोदित
एव स्वर्गदोष इति तेषां धर्मरक्षणबुद्ध्या तत्र विद्यालयेष्वनुज्ञाप्रदाने नावतरति
दोषशङ्का । अत्रापि देवामुक्तधर्मादर्शाभिलाषिणा म्लानिर्मनसि भवेत् तैरधीत्य
इत्यावृत्ता कुमारा स्नानाचमनादिना शोधनोपा इत्यास्ता तावत् ।

अपारपृश्यत्वेनाभिमतानामप्यशिक्ष्याधिप्रभृतिरागमूतानां स्थगितव्यता तदा
पद निवार्य परिरक्षणं तु सर्वथाप्यवश्यकत्वं व्यमेव । तस्य मुख्यधर्मशास्त्र—

श्रान्तसवाहनं रोगिपरिचर्याश्रुराचनम् ।

पादशौचं द्विजोच्छिष्टमार्जनं गोप्रदानवत् ॥

इति भगवता याज्ञवल्क्येन निर्विरोधं रोगिपरिचर्याद्वैतकर्मरूपपानात्—

नाभिरक्षन्ति ये शक्ता दीनं चातुरमाभितम् ।

भार्तं न चानुकम्पन्ते ते वै निरयगामिनः ॥

(पराशरमाधवधूर्त स्कन्दपुराणवचनम्)

इत्यपरक्षिप्तः पतकभवणात्—

चाण्डालो वा श्वपाको वा काले यः कश्चिदागतः ।

अन्नेन पूजनीयश्च परत्र हितमिच्छता ॥

चाण्डालोऽथवा पापं शत्रुर्वा पितृघातकः ।

देशकालाम्युपगतो मरणीयो मतो मम ॥

(अपराकं विष्णुधर्मोत्तार.)

इत्यादिषु स्पष्ट चाण्डालादीनां हितकरणभरणत्वादीनामाख्यातत्वात् । तस्मा-
द्यापदि मनुष्यमात्रस्य यथाशक्ति रक्षार्थं प्रयत्नमावश्यको धर्म इति निर्विवादम् ।

अथ—

‘ब्राह्मणं क्षत्रियो वैश्यः शूद्रो वा यदि वेतरः ।

विष्णुमक्षिसमायुक्तो ज्ञेयः सर्वोत्तमोत्तमः ॥

(स्कान्दे)

मा हि पार्थ व्यपाभिरव येऽपि स्यु पापयोनय ।

क्षियो वैस्यास्तथा शूद्रास्तेऽपि यान्ति परा गतिम् ॥

(भगवद्गीतासु)

किरातदूणाप्रपुच्छिन्दपुच्छसा

आमीरकका यवना लसादय ।

येऽये च पापा यदुपाभयामया

गुण्यन्ति तस्मै प्रमविष्णवे नम ॥

(श्रीभागवते)

इत्यादिभिर्भूयोभिर्वचनैर्मगद्वक्तृकौ मनुष्यमात्रस्याधिकारः सुस्पष्टं सिद्धयति,
मतेष—

भ्रवण कीर्तन विष्णो स्मरण पादसेवनम् ।

अर्चन वन्दन दास्य सख्यमात्मनिवेदनम् ॥

इति पुष्पार्चिता विष्णो मातृश्लेष्मवल्क्षणा ।

क्रियते मगद्वक्तृकया तन्मन्येऽर्चीतमुत्तमम् ॥

इति नवाङ्गानि स्मर्यन्ते—इति स्मरणोपयोगिविष्णुप्रतिमा रचनानादावपि
मनुष्यमात्रस्याधिकारः सिद्धयेदेव ।

चतुर्वर्गैस्तथा विष्णुः प्रतिष्ठाप्य सुहार्थिभिः ।

इति च देवीपुराणे सर्वेषां वर्णानां विष्णुप्रतिष्ठापनेऽप्यधिकार उक्तः,
किंपुनर्वर्धने । ब्राह्मणादीनां पुण्या प्रतिमा नान्देन स्पृष्टव्या इत्यादिनियमा
स्तथापि विशिष्टप्रतिमान्त दूरतो वर्धनेऽधिकारो न केनापि निवारयितुं शक्यते ।
तथा च विशिष्टेषु मन्दिरेषु दूरे छायापानशकाविहिते स्थाने स्थितिं प्रकल्प्या
नवजाना देवदर्शनाधिकारः प्रवेद्यो येन मत्स्यवदेन मुसरकारसिद्धौ धर्मान्तरसिद्धौ
धर्मान्तरप्रवेशशका तेषां समूलभ्रूमूल्येत भवयागमायिर्बं च तेषां भवेदिति ।
तथैव तथा स्वधर्मोद्देशेऽपि धार्मिकैरवश्यमवधेयमेव, धर्मज्ञानमन्तरेण धर्म
पालनस्याशक्यत्वात्-तत एव च धर्मान्तर ग्रहणशक्कोदयात् । विधर्माणो हि
ब्रह्मा प्रकारोत्पा सर्वानपि मनुष्यान् स्वीय धर्मं बोधयेन्ति अथ-तूदासीना इत्येव
धर्मान्तरेऽस्मदीयानां प्रवेश आपतति । न चायं धर्मोपदेश सर्वकल्याणसाधक
कथमपि शास्त्रविरुद्धः —

‘एव एव चरित्रं शिञ्चेरन् पृथिव्या सर्वमानवाः’ ।

इत्यविरोधेन ब्राह्मणात् सर्वमानवानां धर्माश्लेषाग्रहणस्योपदिष्टत्वात् । धर्मसर्वध
प्रतिषेधस्तु भौतोपनयनादिनिषयतयैव नेय इति ।

अथ कूपसम्बन्धे तु स्मृतिषु निबन्धकृतमपि च मृतद्वैधमिहामाति, तथाहि
द्रव्यशुद्धिप्रकरणे—

अन्यैरपि कृते कूपे सेतौ वाप्यादिके तथा ।
तत्र स्नात्वा च पीत्वा च प्रायश्चित्तं न विद्यते ॥

इति शातातपवचनमुदघृत्य 'चाण्डालादिकृते तडागादौ तु न दोषः, इति
मिताक्षराङ्गद्वयवस्थापयति । कूपशब्दस्य मिताक्षरायामनुपादानेऽपि वचने तस्य
तदभावात् वचनाबन्धिन्यां व्यवस्थायामादिपदेन कूपग्रहणस्य नाप्राप्तात् ।
तेन च चाण्डाल कृते कूपादापि यदि न दोषस्त्विह चाण्डालसृष्टे तस्मिन् दोषवृत्त्या
दण्डापूर्विकाभ्यायेनैव दूरापास्ता ।

खलक्षेत्रेषु यद्वान्य कूपापीषु यत्नम् ।
निमोज्यादपि तद् मास्य पञ्चगोष्ठगतं पयः ॥

इति बोधायनवचने, तत्तमानार्थके—

खलक्षेत्रगतं यान्यं वापीरूपगतं जलम् ।
अमोच्यादपि तदग्राह्यं पञ्चगोष्ठगतं पयः ॥
प्रयास्वरूपे कूपे च सौरे द्रोण्या जलं क्रोशविनिर्मुक्तं वा ।
इवपादुचाण्डालपरिग्रहेषु पीत्वा जलं पञ्चगव्येन शुद्धयेत् ॥

(आपस्तम्ब)

चाण्डालपरिग्रहीतं यदश्नानादुदकं पिबेत् ।
तस्य शुद्धिं विजानीयात् प्राजापत्येन निःशयः ॥

(अगिरा)

इत्यादिषु स्वीकृत परिग्रह-परिग्रहीतादि शब्दस्मरणमुपरच्यते । एषा शब्दानां
तत्तत्त्वामिकाश्च एव प्रयोगसामञ्जस्यात् । सर्वार्थमुत्कृष्टं च कस्यापि स्वामित्वामात्रा
देवारण्यकेषु कूपेष्वदोषः स्मर्यते—तत्र प्रायेण दण्डानामेव सद्भावाभिभवत् ।

अत एव च—

कूपेकपानदुष्णा ये तथा ससर्गदूषिता ।
सर्वाङ्गेनोपशसेन पञ्चगव्येन शोधयेत् ॥

इति सर्वार्थस्मृत्यवचनमपि च पराशरस्मृतिमाभ्ये माधवनान्यत्रस्वामिक कूपे
एहकूपादिपरतामेव नीतम् ।

अत्यज्ञैः स्नानिता कूपास्तडागा वाप्य एव च ।

एषु स्नात्वा च पीत्वा च प्राजापत्येन शुद्ध्यति ॥

इत्यापस्तम्बवचनमपि च पराशरस्मृतिमाभ्ये माधवनान्यत्रस्वामिक कूपे
स्नानाद्यभ्यासे प्रायश्चित्तबोधकत्वेन व्याख्यातम् । 'चाण्डालपरिग्रहीतं यदश्नानादुदकं

पिबेदिति' प्रागुक्तं च वचनं चाण्डालेन भाण्डं गृहीत्वा स्वीकृतस्य चत्वर्यं पाने प्रायश्चित्तबोधकमिति माघवेनैव व्यवस्थापितम् । 'चाण्डालवानवापीषु इत्यादिकं चापि पूर्वोक्तं वचनं चाण्डालस्वामिकवाप्यादिभिपयकमेवमिति माघवेनैवोक्तम् ।

चाण्डालकूपभाण्डस्य नरः कामज्जलं पिबेत् ।

प्रायश्चित्तं कथं तत्र वर्णो वर्णो विनिर्दिशेत् ॥

चरेत्सातपनं विद्याप्राजापत्यं तु मूमिषं ।

तदध्वंस्तु चरेत् हि यः शस्त्रं विनिर्दिशेत् ॥

इत्यापस्तम्बवचनमपि कूर्कस्यनचाण्डालभाण्डइत्यादिषु पाने प्रायश्चित्तबोधकमिति माघबोधिप्रैति । तत एव च—

चाण्डालकूपस्थं तु यत्तोयं पिबति द्विजः ।

तत्क्षणात् क्षिपते यस्तु प्राजापत्यं समाचरेत् ॥

यदि न क्षिपते तोयं शरीरं यस्य जीर्यति ।

प्राजापत्यं न दातव्यं बृहत् सातपनं चरेत् ॥

चरेत् सातपनं विप्रः प्राजापत्यमनन्तरं ।

तदध्वंस्तु चरेद्देवः पादं शूद्रस्तथा चरेत् ॥

इति पराशरवचनैरेकवाक्यतापस्तम्बवचनानामुपपद्यते । उभयत्र समप्रायश्चित्तस्मरणात्—पराशरेण च स्पष्टं श्रुतस्य प्रतीयते ।^१



पितृविवेकः

इह खलु पञ्चयज्ञानुष्ठानमार्याणां धर्मैककीर्तितानां प्रधानो धर्मः, तदन्तः-
पातो चैव प्रात्यहिकमासिकवार्षिकादिविविधभेदमिजः आद्यापरपर्यायः पितृयज्ञ इति
नैतत्परोक्षं विदुषाम् । तेन यज्ञेन तर्पणीयाः क इमे पितरः । केषां प्रीत्यर्थमिदं
आद्यमितीदानीं विवेचयितुमावश्यकम् । बहुधा विप्रतिपत्तेस्तत्र सद्यदर्शनात् ।
तथा हि—य इमे रितृपितामहादिशब्दा जनकादिवाचकत्वेन लोके निरुद्धास्त
एव यथाक्रमं आद्यप्रक्रियाया स्मर्यन्त इति कृत्वा तत्रापि तेषां जनकादिवाचकत्वं
साव्याप्तम्, तत्र च तेषां श्रीवतामेव पितृशब्दादिवाचकत्वमङ्गत्वादिहैव भद्रा
(भक्ति) पूर्वकं विप्राद्यभ्यर्हणं आद्यमिति केनिदवाचीना अभिप्रयन्ति । लोक-
न्तरगतान् विप्राधीनुद्दिश्य यद्दीयते तच्छ्राद्धमिति तु स्मार्तप्रक्रियानुसाराणां प्राचा-
रणि । ततश्च विप्रतिपत्तेः संशय्यते—क इमे पितरः, केषां च प्रीत्यर्थं आद्यमिति (१)

अथ केचिदिदानीन्तना रुद्धिन्प्यवहमानाः ‘पान्तीति. पितरः’ इति व्युत्पत्ति-
मेवानुसन्धाना रक्षकसामान्ये एव पितृशब्दप्रयोगमाचक्षते—अत एव—

अरुचचतुषस, पृथिनरमिय उधा विभर्ति भुवनानि वायुः ।

मायाविनो ममिरे अस्य मायया नृचक्षुः पितरो गर्भमादधुः ॥

(ऋग्वेद ६. ८१. १.)

इतिमन्त्रं व्याचक्षाणो वेदभाष्यकार सायणाचार्योऽपि पितरः पालका देवाः
पितरो जगद्रक्षका रक्षयः’ इति पालकत्वसामान्येनैव सर्वरक्षणीनां पितृत्वमुपपादया-
मास । बहुत्र च मन्त्रेषु पालकत्वसामान्येन पितृशब्दः प्रवृत्तः । युक्तं च रक्ष-
कागामन्त्रादिभिरभ्यर्हणमिति य इमे चौतद्युग्मश्वेभ्यः प्रजाः परित्रायन्ते तदुद्देश्यक
एव पितृयज्ञस्तत्र तत्र विहितो न तु लोकान्तरगतविप्राद्युद्देश्यक इति तेषां विप्रति-
पत्तिः । ततश्च जायतेऽयं संशयः—क इमे पितरः केषां वा प्रीत्यर्थं आद्यमिति (२)

मृतकभ्रातृवादिनोऽपि च केचन ‘नामपुत्रस्य लोकोऽस्ती’त्याद्यनुरोधात् पितृ-
शब्देनैव तानामेव पितृमितामहादीना आद्येन वृत्तिमाचक्षते । अपरे तु स्वस्वकर्मा-
नुरोधेन तास्मा योनोन्मगतानामेव तेषां वृत्तिमभिप्रयन्ति । तदाह देवच.—

देवो यदि पिता ज्ञातः शुभकर्मानुयोगतः ।

तस्यान्नममृतं मूत्रा देवत्वेऽप्यनुगच्छति ॥

गान्धर्वं मोग्यरूपेण पशुत्वे च तृणं मवेत् ।

आद्यान्नं वायुरूपेण नागत्वेऽप्यनुगच्छति ॥ इति ।

तयानयाऽत्राभ्युदितत्वा विज्ञादते संशय, क इमं सिद्धं देवा वा
प्रीत्यर्थं भादमिति (३)

तत्र च शास्त्रेषु सर्वप्रकरणे सिद्धा भूता तावच्च स्वाहमेव धृतं स्मरते
च, तथा हि—

देवा निर्यो मनुष्या मन्ववर्णरम्भ वे ।

तच्छास्त्रादरे सर्वे दिवि देवा दिवि भिन्ना ॥

(अथर्व ११. १. २७)

सत्तनत्रानिद्यामेव सन्तोऽप्या वरुदे तनुम् ।

निरुक्तमन्वमानस्य निरुक्तस्य चरिरे ॥

तन्मन्त्रं निरुन्तु स्या तन्मन्त्रं च प्रभु ।

सा चोत्पुष्पमत्स्यस्या दिननक्तान्तरस्यति ॥

निष्पुष्पान् । (१. ५)

वाग्निद्यायादिषु तु सम्पादयितुं देव निरुक्तान्तरचित्ता संस्था च देवा
भवत्स्मितिहिता ।

सखा । चतुर्वर्तिष्मिन्मत्ता प्रकीर्तता ।

पराधीतिरसत्ता यथा बर्हिषदो दिवा ॥

शयादिना मन्ववर्णरुपे वरुदेवता यामुत्पुष्पमन्त्राह—

द्वारष्ट निद्यानाम मन्ववर्णरुपेऽपुष्पान् ।

नामान् सर्वान् दुर्नाम निन्ना च पुष्पान् ॥

इति । (१. २७)

यदि त्वम्भोकाद्येता एव निरुक्तेऽपि तैस्मिन् नैव देवा सर्वेऽपि इत्युत्पुष्प-
रम्भधारयत । अनिहिता तु सर्वत्र सन्तोऽप्येवैतत्तदिति सहायते क इमे निरुक्त,
केषां वा प्रीत्यर्थं भादमिति (४)

निरुक्तमन्वमानस्य च चतुर्वर्णरुपे विदितेति, तत्र तावद्भवता
मन्त्रेभ्य निरुक्ता मन्त्राणां चतुर्वर्णरुपेभ्यः—

मनोहैरुक्तमन्त्रं वे मन्त्रादयः सुता ।

वेदान्तोऽपि सर्वेषां पुत्रा निरुक्ता मन्त्रा ॥

निरुक्तमन्त्रा सन्तोऽपि मन्त्राणां निरुक्त मन्त्रा ।

व्यभिक्ताद्याश्च देवानां मातेषां नोद्विष्टा ॥

सोमना नाम विद्या मन्त्राणां इति ॥

वैश्वानरमन्त्रा नाम सुतान्मन्त्रा मुक्ता ॥

शनादिना (मनु० ३ अ०)

अपरत्र ॥ वस्वादिरूपत्वमेवमाचार्यो—

वसून् वदन्ति तु पितॄन् रुद्राभ्येव पितामहान् ।
प्रपितामहास्तयादिष्यान् भुतिरेषा सनातनी ।

(३. २८४)

वस्वादयभ्ये प्रसिद्धा देवाः । न तु मृतानां पितॄणा मरीच्यादिपुत्रत्वं वस्वादि-
रूपत्वं वा कथमपि संभवतीत्युत्पद्यते संशयः क इमे पितरः, केषां प्रीत्यर्थं भाद्र-
मिति । (५)

तथैव पि०णामेषामृतुरूपत्वमपि दृष्टम्—“ऋतव पितरः” (शतप० भु०)

‘ऋतवः पितरो देवा इत्येषा वैदिकी भुतिः’ ।

(बाणपुराणे)

मासाभ्य पितरो जेषा ऋतवश्च पितामहाः ॥

संवरस्यः प्रजाना च सुष्ट्वैकः प्रपितामहः ।

(भाद्रपदपुराणे)

मगवान् मनुषि च भाद्रप्रक्षियाया—

‘षड्रत्नं नमस्कुर्यात्पितॄन्नेव च धर्मवित्’ ।

(३. २१७)

इत्यभिदधत् पितॄणामृतुत्वं व्यञ्जयतीव । महीधरोऽपि—

‘नमो वः पितरो रसाय नमो वः पितरः शोषाय ।

यज्ञः सं (२. ३२)

इति मन्त्रभाष्ये पितॄणामृतुत्वं ध्यान्वयः । कथन्तु मृतानां पितॄणामृतुरूपत्वं
सम्भवेदिति संदिह्यते क इमे पितरः, केषां प्रीत्यर्थं भाद्रमिति (६)

ऋषिभ्यः पितरो जाता पितॄभ्यो देवमानवाः ।

देवेभ्यस्तु जगत्सर्वं चर स्यान्ननुपूर्वजः ॥

(३. २०१)

इत्याचक्ष्णो मगवान् मनुः पितॄन् देवानामपि जनकस्त्वमभिप्रेति, देवानां
च मनुष्यादिसकलजगत्कारणत्वमन्वाह । ततश्च कथमितः प्रेतानां मनुष्याणां पितृत्वं
संभवेत्, मनुष्यसत्त्वादपि पूर्वं तत्कारणानां देवानां ततोऽपि च पूर्वं तत्कारणानां
पितॄणां प्रसिद्धेः । तस्मात् सुहृदोऽयं संशयः—क इमे पितरः, केषां वा प्रीत्यर्थं
भाद्रमिति (७)

अधेयमितरथैव पितॄणामृतुत्वं भ्रूयते शतपथभूतो—“महाहविषा ह वै देवा
वृधं जघ्नुः, ते नो एव धृज्यायन्त—देवजेषां विजितिस्तोम् । अयं यानेवैषा तस्मिन्
संग्रामेऽघ्नंस्तान् पितृयज्ञेन समैरयन्त—पितरो वै त आसंस्तस्मात् पितृयज्ञो नाम ।

तद्वसन्तो ग्रीष्मो वर्षा - एते ते ये - यथायन्त । शरद्धेम् त शिशिरस्त उ ते यान् पुन समैरयन्त" (१ का० ६ अ० १ ब्रा०) इति । इह हि पूर्वं वृत्रेण हताना देवविशेषाणामेव शिष्टेदेवै पितृयक्षास्त्वेन कर्मणा पुन समागतानां पितृत्व व्याहृतम्, तदुत्तर चैषामृतुस्त्वमेव प्रागुक्तमुपसंहृतम् - न तु कथमरीत प्रेतानां मनुष्याणां पितृत्वं भुतमिति समुदेति सशय - क इमे पितर केपा वा ग्रीत्यर्थं भाद्रमिति (८)

अथ सत्रेवाग्रे पितृविशेषाणां नामनिरुक्तावयथैवेद प्रतीयते - "तथै सोमेने जानास्ते पितर सोमवन्त, अथ ये दत्तेन पस्वेन लोक जयन्ति ते पितरो बर्हिषद, अथ ये ततो - यतरश्चन यानग्निरेव दहन् स्वदयति ते पितरोऽग्निष्वाचा एत उ ते ये पितर" इति । इह हि सोमयज्ञदानाग्निहोत्रादिकारिणां मनुष्याणामेव पितृत्वमाख्यातम् । "अग्निरेव दहन् दहन् स्वदयती" सुक्त्वाग्नि दग्धाना मृतपुरुषाणामेवेह पितृत्वं युक्तमुक्तमिति तु न भ्रमितव्यम् । तथा सति सदैवामेव पितृणा मन्मतेऽग्निदग्धत्वाविशेषादिभ्याग्नयस्यासंगतत्वापत्ते । तस्मात्सोमयागदानादिविरहिते केषनाग्निहोत्रिणि गौण एवविध प्रयोग इत्यवश्यमुप गन्तव्यम् । ततश्च तेषामिधानां मनुष्याणामेव पितृत्वमत्र द्वापितं भवतीति विप्रतिपत्ते सशय्यत एव - क इमे पितर, केपा वा ग्रीत्यर्थं भाद्रमिति (९)

हरिवशे तु पितृणामुत्तिविष्यं विन्त्यगैवापवायते - (अ० १७)

देवानमुजत ब्रह्मा मा यक्षयन्तीति भार्गव ।

तमुत्सृज्य तथात्मानमयनस्ते वल्गपिन ॥ २१ ॥

ते शप्ता ब्रह्मणा मूढा नृशशा दिवौकस ।

- न इम किंचिद्विजानन्ति ततो लोकोऽप्यमुष्यत ॥ २२ ॥

ते भूय प्रणता शप्ता प्रायाचन्त पितामहम् ।

भनुग्रहाय लोकानां ततस्तानब्रवीदिदम् ॥ २४ ॥

प्रायश्चित्त चरुर्ध वै श्वमिन्वाये हि व कृत ।

पुत्राश्च परिपृच्छन् ततो ज्ञानमवाप्स्यथ ॥ २५ ॥

प्रायश्चित्तक्रियार्थं ते पुनान् पप्रच्छुः प्रचेत् ।

तेभ्यस्ते प्रयतात्मान शशमुस्तनयास्तदा ॥ २६ ॥

प्रायश्चित्तानि धर्मशा वाह्मन कर्मजानि वै ।

शसन्ति ब्रह्मन् नित्यं चक्षुर्ग्यामरि नियथ ॥ २७ ॥

प्रायश्चित्तार्थतत्त्वज्ञा लब्धशशा दिवौकस ।

गम्यता पुत्रकाश्चेति पुत्रैककाश्च ते तदा ॥ २८ ॥

अभिगतास्तु ते देवा पुत्रवाक्येन निन्दिता ।

पितामहमुपागच्छन् सशयन्देदनाय वै ॥ २९ ॥

ततस्तानब्रवीदेवो यूय वै ब्रह्मवादिन ।
 तस्माद्यदुक्तं युष्माकं तत्तथा न तदन्यथा ॥ ३० ॥
 यूय शरीरकर्तारस्तेषां देवा भविष्यन्ति ।
 ते तु ज्ञानप्रदातारः पितरो वो न सशयः ॥ ३१ ॥
 अन्योन्यं पितरो यूय ते चैवेति न सशयः ।
 देवाश्च पितरश्चैव तद्ब्रूष्यध्वं दिवौकसः ॥ ३२ ॥
 ततस्ते पुनरागम्य पुत्रान्बुद्धिदिवौकसः ।
 ब्रह्मणा ऽभिषदेष्टा प्रीतिमन्तः परस्परम् ॥ ३३ ॥
 यूय वै पितरोऽस्माकं यैर्दयं प्रतिबोधिताः ।
 धर्मं शास्त्रं च कामं क्रोधं वरो व प्रदीयताम् ॥ ३४ ॥
 यदुक्तं चैव युष्माभिस्तत्तथा न तदन्यथा ।
 उक्ताश्च यस्माद्युष्मामि पुत्रका इति वै वयम् ॥ ३५ ॥
 तस्माद्भवन्तः पितरो भविष्यन्ति न सशयः ।
 यानिष्ट्वा तु पितॄन् भ्रातॄन् क्रिया काश्चिरकरिष्यति ॥ ३६ ॥
 राक्षसा दानवा नागा फलं प्राप्स्यन्ति तस्य तत् । इत्यादि ।

अनेन च प्रकरणेन देवानां पुत्रा देवविशेषा एव स्वपितृभ्यो विद्याप्रदानेन
 पितृवमापुरिति स्फुटमेव प्रतीयते । भगवता मनुनापि सञ्ज्ञेयं, सूचिनोऽयमर्थः —

अभ्यापयामास पितॄन् शिशुराक्षिरसं कवि ।
 पुत्रका इति होवाच ज्ञानेन परिणयः तान् ॥
 ते तमर्थमप्रबुद्धा तं देवानागतमन्यवः ।
 देवाभ्येतान् समेत्योचुर्न्याय्यं व शिशुवृत्तवान् ॥
 अशो भवति वै बालः पिता भवति मन्त्रदः ।
 अशु हि बालमिवाहुः पितेत्येव तु मन्त्रदम् ॥

(म. स्मृ. अ. २)

इत्यादिना । ततश्च त्रिशिष्टविद्याशास्त्रिणां मन्त्रार्थानुपदिशतामेव केषाञ्चिरेव
 विरोधागामितरेषां वा पितृवमिति प्रसिद्धयेन तु सामान्यतो मृतपुरुषाणामिति
 समुदेति सदेहः—क इमे पितरः, केषां वा प्रीत्यर्थं भ्रातृमिति । (१०)

अद्यापि च पिण्डपितृयज्ञप्रक्रियायां भूतौ—“आयन्तु न पितरः सोम्याशोऽग्नि-
 प्वात्ता पथिभिर्देवयानैः” (य० सं०)

“सर्वास्मान्मम आवह पितॄन् हविषे अत्तवे” (अय० सं०)

इत्यादिषु मन्त्रेष्वानाहन्तलिङ्गदर्शनात्पितॄणां यजमानसन्निधौ प्राप्तिः प्रतीयते—
 तेनच देवा इव भवन्ति केचन पितरोऽपि विलक्षणशक्तिमन्तश्चेतनविशेषाः, मोक्षार्थक
 प्रक्रियामनुसरन् मन्त्रमयादिविग्रहा वा—इति प्राप्नोति । पूर्वोक्ते “तस्यान्नममृत

भूत्वा देवत्वेऽप्यनुगच्छति” इत्यादिभिः स्मृतिवचनेषु यद्यमानदत्तस्यानस्यैव, विवृणो संनिधौ प्रातिः प्रतीयते-इति पूर्वजन्मनि यद्यमानपित्रादीनां तत्तद्योनिगतानामेव पितृत्वं भवेदिति प्राप्नोति । तत्र बहुविधामिरतिभिर्विश्रुताभिर्विप्रतिपत्तिभिः सुहृदोऽयं संशयः क इमे पितरः केषा वा प्रीत्यर्थं भादमिति । (११)

तद्विषयं भुविस्मृतिप्रामाण्येन पितृदारायनिर्वचनस्यावश्यकत्वे प्रसक्ते केचिदिदानीन्तनास्त्वावदिष्यमानि श्रन्ते-मृतान् प्रविच्छादोनुद्दिश्य प्रतिमासं प्रतिरत्नर वा रिण्णादिप्रदानं ब्राह्मणादिभोजनं चेति सर्वथा प्रमाणशून्यत्वादुत्तरपत्तिविह्वला-व्याधानकल्पित एवायं केषांविदाधुनिकस्मार्तानां पन्थाः । तथा हि—स्वकृतमेव कर्म स्वैवेवोपमुच्यते इत्यस्ति तावद्दीधराशसिद्धः सर्वथाऽप्यभिवारितः प्राकृतिको नियमः सर्वत्र तैर्यिरेरमुपेतः । प्रतिषादितं हि यद्यमानस्यैव कर्मफलोक्तत्वं महताद्वारेण पूर्वमीमाणायान्, उत्तरेषु चैव सर्वत्रापि दार्शनिकैः । इह तु पुत्रादयः कर्मकृतं, पित्रादयश्च तत्फलमात्र-तानि सुस्पष्ट नियमस्यास्य अतिक्रमः प्रथमो दोषः । इतश्च प्रेतोऽयं अन्तु स्वकृतकर्मोत्तरस्यापितास्ता योनीवत्परिष्क-स्तदारव एव शरीरान्तरमुपगच्छतीत्युक्तं भवितुमिति तु तद्यथा तृणव्यायुक्ता तृणस्यान्तं गतवान्यकममाकम्प्यात्मानमुत्संहस्येवमेवायमात्मेदं शरीरं निहत्याम-विद्या गमीयः शान्त्यमाकममाकम्प्यात्मानमुत्संहस्यति, (बृहदारण्यकोपनिषदि ७.४.३) इति भूतिः ।

‘ब्रह्मंस्तिष्ठन् पदैकेन यथैवैकेन गच्छति ।

यथा तृणम्लूकेन देही कर्मगतिं गतः ॥ (भी माग० १०, १)

इति तदनुगामिनी स्मृतिश्च तृणम्लूकानिदर्शनेन जीवस्य पूर्वदेहमपरि-चक्षत एव देहान्तरसम्बन्ध बोधयन्ती देहान्तरप्राप्ती कालविश्रम्भं वारयति ।

जीर्णानि वासांसि यथा विहाय नवानि ण्वृणाति नरोऽपराणि ।

एवं शरीरानि विहाय जीर्णान्यन्यानि स्याति नवानि देही ॥ (म. गी)

इत्यादावपि बाधोदष्टान्तेन कृतित्वेव देहान्तरपरिग्रहः स्मर्यते । देहान्तरमुप-गतस्य च देहिनी यथावमैवावधानादयस्तत्र तथैव विधात्रोपपाद्यन्ते इति प्रत्यक्ष-मेतदनुभवामः । न हि कानि केऽपि अन्तर्बोद्धाचल्यमानाः यौर्वमवीयपुत्रादि-कृतं भादमपेक्षमाणाभ्यासामिरनुमूयन्ते । मवेयुश्च केचिदस्मदादीनामपि पूर्वजन्म सम्बन्धिनः पुत्रादय इति तत्कृतं भादं वयमपि कदाचित्स्मभेमहि, ‘आयन्तु नः पितरः’ इत्यादिभिर्मन्त्रैराहूताश्च तदन्तिकमुपसरेम नत्वेतदेवं कदाप्यनुभवाम इति नान्देऽपि जीवास्तथानुभवन्तीति रसद्वष्टान्तेनैवाप्यवस्थामः । तथा च देहान्तर-सम्बन्धमुपगतान् जीवान् प्रति भादविदमप्रयोवकं सिद्धमेव । यदपि मनुष्य-शरीरेष्वविद्य केचन पिशाचाः शुद्धिमर्थयमानाः अयन्त इति तदर्थमेव भवे-

च्छादमिति चेपि समादध्यस्तदप्येददुष्यन्नवञ्चनामात्रम् । निशाचानां तदा
 वेद्यानामपि च विद्याविहीनश्राम्यजनमात्रभक्ष्यत्वात् । लोकञ्चनामेव परमं पुरुषार्थं
 ममिमयमानानामन्यञ्जीवनीपायविरहितानां कस्यांचिदल्लभूर्तानां मायामात्रमियं
 निशाचलीलेति च एतदुक्तिं प्रमाणकोटौ प्रवक्ष्येत् प्रशाचनम् । अम्युपगमवदेऽपि
 च देशमेव सितरं निशाचवमुपगतास्त एव भादं कुर्वन्तु, अन्ययोनित्पितृ
 काणां तु भादमिदं सर्वथा व्यर्थमेति नैतन्नित्यकर्मतयावस्थापयितुं शक्येत । न
 हि सर्वेषामेव सितरं निशाचत्वमुपयान्तीति चाप्रत वस्तुनः, इतरशर्वविषमभूत्सु
 विलेपप्रसङ्गात् । न च निशाचत्वमुपयान्तीति चाप्रत वस्तुनः, इतरशर्वविषमभूत्सु
 मानामात्सु सन्ति देहान्तरसर्वशेषकपूर्वोत्पत्तिस्मृतिविरोधापत्तेः, कर्मानु
 सारिणी जीवगतिश्चैव सति विरोधिता स्यादिति यत्तद्विद्वेत् । तथा च क्षया
 होत्तर दशदिनवयस्य गन्तव्यस्थलनार्थं दशगात्राभिव्येयं निष्ठादिप्रदानम्,
 मृतस्य निश्रान्ते पञ्चमहादिभिः सरोजनय सन्निहोद्धरा निष्ठाद्युपपत्तिशून्या
 सर्वा अपीमा भुतिस्मृतिरिह द्वा कुक्ष्यना निरस्ता वेदितव्या । जननान्तरेषु
 गात्राणां पुत्रशोभिनादिभिरेवोत्पादनोपपत्त्यात्, स्वकर्माग्न्यनुसृत्य यत्र कुक्ष्याप्य
 बहिष्यै पितामहादिभिः पित्रादीनां सरोजनय भादयतेनाप्यशक्यत्वाच्च । न च
 कापि भूतौ मन्त्रादिस्मृतिरपि वा गात्राद्युपपत्तिरेवविद्याभिरितेयल्लभप्रामाणिक
 प्रकल्पनाल्लग्ननायात्तेन । अम्युपगतेऽपि च सर्वेषां क्षेत्रानां क्षियकालपरिमिते
 मेतरे नैव भादं नाम कर्म नित्यं विधेत्, तत्तद्योनिप्राप्तेरनन्तरमस्वाप्रयो
 जकृताया प्रतिपादितत्वात् । नित्यमेव तु भादमभिप्रेयन्ति स्मृतयो न तु नियतका
 लमिति नैव मृतपित्राद्यर्थं स्यात् । ननु सो नित्यसितरं इमे वत्सादयो देवास्तत्त
 द्योनोत्पत्तिजानपि मृतान् निश्रान्तेन उपगन्तीति वयमभिप्रेम—उदेतदुक्तं भगवता
 याज्ञवल्क्येन—

बभूवुः सतिहता सितरः भाददेवता ।

प्रोगयन्ति मनुष्याणां पितृनाम्येन सर्वज्ञा ॥ इति ।

प्रत्यक्षविद्वद्चेत्, देवा एव सन्वेतेऽस्मदादिभ्यः अन्नाद्युपहरन्ति सर्वत्र ।
 स्यादिदेवानामेव अन्नश्चक्रवर्तकचोरागमात् । न सन्नश्चक्रवर्तकचोरागमात् । न सन्नश्चक्रवर्तकचोरागमात् । न सन्नश्चक्रवर्तकचोरागमात् ।
 ननु कुक्ष्येषु कश्चिदपि कृष्यादिवन्यमन्नमोक्षोत्पत्त्युत्तमं, देवाश्चैतेऽस्मदादिभि
 र्यद्वैराधिपता एवोपयाग्यनुकृञ्जामिति सन्तिस्तरं समर्थितं एषोऽर्थो भगवद्गीतासु—

‘देवान् भावयतामेन ते देवा भावयन्तु व ।

परस्परं भावयन्तं भयं परमवाप्स्यथ’ ॥

‘अन्नाद्भवन्ति भूतानि पञ्चान्यादन्नसम्भव ।

यथाद्ववति पञ्चन्यो यद्द कर्मसमुद्भव’ ॥

‘एव प्रवर्तित’ चक्रं नानुवर्तयतीह य ।

अथायुग्निद्रियारामो मोघ पाथं स जीवति ॥

इत्यादिना-अन्यथापि च स्मृतिषु ‘आहुत्याध्यायते सूर्य’ इत्यादिना । वस्तु वदन्ति तु पितृनिर्वादिना न भगवता मनुना देवानामेषां आद्रेऽपि सपदा नस्व नन्वमुपगतमेव । तथा च आदयज्ञेनास्मदादिमिरागाधिता इम आदिषा दयो देवा एव । पञ्च-यादिद्वारात्राद्युत्पाद्यास्माक पित्रादीस्तत्र तत्रावस्थितानधु पतपयन्त्येवेति किमनुपपन्नमिति चेदहो प्राप्यन्ति भवन्त । अवश्य वस्वादित्यादि देवानामेषा जगच्चक्रप्रवर्तकश्च सांप्रत वक्तुम्, न तु तत्र प्रवर्तनाया किमपि हेतुम्य मुपपादयितुं शक्यम्, नैवम्यमन्त्रा च व्यर्थमेवेद आह नाम कर्म । सूर्यादयो देवा हि सामान्येनैव जगदिदमुपकुर्वन्ति न तु आदकर्तुरधिकं तदकर्तुरप्य वा फल प्रदातुमीद्यते, जडात्वात्, सर्वसाधारण्येनैवैषा प्रवृत्तेरनुभवसिद्धताच्च । एतच्च आह निधाता तदनिधातापि च तुल्यमेव फल यदि लभेयाताम्-इत तर्हि शशशरीरो-द्वर्तनायमानेन निष्कलप्रयासेन आद्रेण नामानेन कर्मणा । न चेदपि वय आह कुर्याम, अवश्य तदपीमे सूर्यादयोऽस्मत्पित्राद्यधर्ममन्त्राद्युपहरेयुरेव निर्वाहणायैव किल जगच्चक्रस्य परमेश्वरेणैव उत्पादिता इति, ततश्च किमस्माक आहविधानेन फलमिति कृताधिस एवैवद्विचिन्वन्तु । न चाय नियमस्तत्रास्थातु शक्यो यच्छ्र देऽस्मद्वत्त-मन्नपानाद्यस्मत्पितर एवोपमोक्षयतीति चेतनस्य हि कस्यचिन्मापकस्य सत्वे तद्यथा भवेदाप । अचेतनास्तु सूर्यादय इत्यसङ्गदवाचाम । ततश्च जगदुपकारमुदयैव हवनादिषु प्रवृत्तिः कथचिच्छ्रेयसे स्यात्, पित्राद्युपमोगमुद्दिश्य प्रदानं त्विदमात्मन परेषां च प्रतारणमात्रमेवेति निरायतां विज्ञे ।

अथापि कैचन ब्रूयु मन्त्रसामर्थ्येनैवास्मद्वत्तमन्नपानाद्यस्मत्पित्रादीनुपस्थातु महतीति, त एतेऽपि ननु शीघ्रमज्ञान मन्त्रेश्वारोपयन्तीत्युपेक्षया एव । न हि मृतेभ्य पित्रादिभ्योऽन्नपानाद्यनुप्रापयामीति कस्यापि मन्त्रस्यार्थं शक्यते सऽप दशयितुम् । यदि च भवेदेवविध मन्त्रेषु वस्तुप्रापणसामर्थ्यं तर्त्तर्हि बीजद्रव्योऽपि विदेद्यावरितेत्य इष्टेभ्य किमपि वस्तु मन्त्रेण संप्रेष्य परीक्षणीय तदेतत् । सोऽयमत्र कर्मणि प्रत्यवतिष्ठमानाना चिरन्तन प्रवाद ।

मृतानामिह चन्तूना आह चेत् तृत्तिकारणम् ।

प्रस्थितानां हि चन्तूना वृथा पायेयकल्पनम् ॥ इति-

किञ्च मृतेभ्योऽनुप्रदीयमानमिदं पिण्डाद्यजैश्च यथापूर्वमर्वास्थत पदपाम इति किं कुत्र मन्त्रेण नीतम् ? गोब्राह्मणादीनामुदरसात्कृतमेव त्विदमग्नादि पिष्टुन् समुपेयादिति नात्र कल्पनामात्रे किमपि बीजमनुप्रपन्नयामोऽन्यथाद्यानात् । एतेनैवान्निक्षेपादिसाम्यमध्यवापादयन्तो निरस्ता वेदितव्या । अप्यो प्रक्षिताना हि

इविषा ह्यमीभूयान्तस्त्रिादिग्नन विज्ञानानुमोदितमपि स्यात्, ब्राह्मणादिभुक्ता नान्तु कान्यश्च गमन समग्रदात विविच्यता किञ्चित् । तस्मादुपगतिविरोधनास्तेव मन्त्रेषु तथाविधं सामर्थ्यम्, न च काऽपि मन्त्रो मृतभ्रातृ कथञ्चिदप्यनुकूल इति यत्किञ्चिदेतन्मन्त्रसामर्थ्यं तथापन नाम । किञ्च नेह मृतभ्रातृ नाम कर्म वेद सिद्धमनादिति स्फुटं ख्यापयति पुराणेषूपम्यमानाख्यायिका । तथा हि महाभारत स्यानुशासनिके पर्वाणि—

“केन सकलित्त भ्रातृ कस्मिन् काले किमात्मनम् ।

भृशञ्जिरसके काले मुनिना कनरण वा” ॥

(अ० ९१)

इत्येव मुचिष्ठिरेण पृष्ठं पितामहो भीष्म आह स्मेतिहास पुरातनम् । स्वायम्भुव स्यात्रैवैशे दत्तत्रैवसुतो निमिनां तपस्वी स्वदुष्टे भीमति निषनमुग्याते भृश शोकातुरमानसोऽमावास्यायां ब्राह्मणानाहूय पुत्रस्येष्टमन्त्रपानाद्यभोजयत् । ततश्च दक्षिणामेधु दमेधु नामगोत्राद्युदाहरन् पिण्डस्थारनमन्त्रनुविदधे, कृत्वा तु सर्वमेतत्कर्म पश्चादनुत्तमरं चिन्तयामास च—

अकृतं मुनिभिः पूर्वं किं मयेदमनञ्जितम् ।

कथं नु शापेन न मा दहेदुब्रह्मणा इति ॥ इत्यादि ।

तदनु तु समात्तरतप्रभवान् मगवान् वशप्रवर्तकोऽपि सर्वमप्येतद् ब्रह्मणैव पुरा इष्टम्, तदेतत्कर्म भयताद्य प्रवर्तितमिति मा भैषेद् भवानिथादिना परितोष्य गत इति । ब्राह्मपुराणेऽपि समुपलभ्यते उपरिहरा सेयमाख्यायिका, उच्छ्रब्ध तत्राप्येतदेव नुत्तप्तेन निमिना नारद प्रति—

शोकस्तेऽप्रभावेण एतत्कर्म मया कृतम् ।

न च भूत मया पूर्वं न देवैश्चर्याभिः कृतम् ॥

भयं तीव्रं प्रविशामि मुनिशापास्तुदाहृतात् । इति ।

तयानयाख्यायिकया, स्फुटते त्रसिदध्यति, यत्पुराऽस्य कर्मणो नासीच्चर्चापि कञ्चित् । शोकानुत्तप्तेन तु निमिना पुत्रस्नेहात्तदिष्टमन्त्रपानादि तत्प्राप्तिरुदया ब्राह्मणैर्म्य प्रदत्तम् । सेयमज्ञानजन्यस्नेहवदाना नैरुगिणी प्रवृत्तिर्न त्वेव धर्मो मन्त्रिमहति, गतानुगतिकतया तु लोकैः सेयमेव प्रमाणीकृतेति मोहविलसितमेतत् । यदि स्वनादित्तिदा भगवती श्रुति कर्मेतदभिप्रेक्ष्यत् तत्तदि मुनिः स निमिर्न च भूत मया पूर्वं न देवैश्चर्याभिः कृतमिति न म्यघास्यत् । तत् एवाभगम्यते नेह भूतिसिद्ध कर्मेति ।

अनन्तरं तु यदिदं ‘ब्रह्मणैव पुरायं त्रिभिर्दृष्टं’ इति ख्यापितं, सेयं शैली पुराणानाम् । अर्वाकप्रवर्तितमपि हि कर्म पुरातनतममेवात्र ख्याप्यते । ब्रह्मणा

तु यद्यपि विधिर्दृष्टः स्यात्, कथं न तर्हि तत् पुरातनैश्वर्येभिरुपागतं स्यात् ।
 अस्याश्चाख्यायिकायाः सत्यमुगीयत्वाख्यानमपि पुराणशैलीप्रतिद्वयम् । वस्तुतस्तत्र
 कृतनैरख्यानवशंवदेरेव कर्मोदमतुप्रवर्तितम्, केवलं तु कर्मणोऽस्य भौतत्वामाव
 एवाऽऽख्यायिकायाऽनया साधनीयः । भौतत्वामावे च सिद्धे सर्वानुपादेय-
 मिदमुपपत्तिविद्भूत मृतभाद्र नाम कर्मोति सिद्धमेव । अभ्युपगते चारिम्न
 कर्मणि पापपरायणा अपि जना पुत्रादिकृतेन भाद्रेण सुखं रोगं रक्षयामह इति
 निश्चयः स्यात् । स्वर्गमाप्नोताम्येषां पुत्रादिषु इष्टिणाभावादिनाऽसम्भवादि
 वा भाद्रे नरकमीकृतामापयेरानिति महतीय समाजदुरवस्था प्रसङ्गः । तस्मान्नैव
 लभ्य भाद्रसंप्रदानमृता मृता पित्रादयः, न च तथा प्रीत्यर्थमिदं भाद्रं नाम
 कर्म । के तर्हि पितरः भाद्रसंप्रदानमृता इति चेत्तत्रैवमहुः । अनेकधाऽपि पितृशब्द
 प्रविद्यति, सन्ति ननु पितृपितामहादिशब्दा जनकादिषु निरुद्धा, अस्ति च
 'प्राप्तीति पितरः' इति नैस्त्वानो विवृतिमुपजीव्य पात्रकृतसामान्येन पितृशब्द
 प्रयुक्तः । सोऽपि तत्स्करादिविविधमौलिभ्यः प्रजा परिपालनार्थं वक्ष्यामिषु विविधा
 विष्कारादिभिर्जगदुपकुर्वन्तु विविधप्रियाचणेषु च पितृशब्द स्थाने प्रयुक्तः । त
 इमे मनुष्यपितरः । क्वचित्तु पात्रकृतसामान्यविशेषैव जडेभ्यश्चैव वाचादिषु
 वसन्तादिषु सूर्यकिरणादिषु वाय्वग्नाग्नाग्निना भवेदपि पितृशब्दः प्रयुक्तः । स त्वपि
 पितृशब्दः सर्वेषां पितृशब्दः, पात्रकृतसामान्येनैव स्य प्रयुक्तः । अति
 शब्दत्वं स्वस्याचक्षणा सर्वथा भ्रान्तः, पितृनामिकायाः कस्याश्चनापूर्वभातेऽप्यु
 पागमे मानाभावात्, पत्नीनि पितर इत्यादिनिवृत्तिरिषोधाच्च । तत्र इमं उभयविधा
 मनुष्यपितर आख्यातास्त एवास्माकं पितृशब्दे (भद्रे) संप्रदानमृतास्तेषामेव
 च प्रीत्यर्थमिदं भाद्रं नाम कर्म । युक्तं हेतुत्वं—वार्द्धक्यमुपगतानां जनकादीनामुप
 कारकाणां रक्षकादीनां चाभ्यर्हणस्य सर्वथा समुचितत्वात् । तत्र यस्मिन् गृहावस्थिता
 एव पितृपितामहादयः स्वयमुपासयितुमशक्ताः पुत्रादिभिरुत्तरादिना भद्रापूर्वकं
 मध्यर्च्यन्ते स प्रागल्भिक भाद्रः । उक्तोऽयमपि स्मृतिवृद्धिः—

‘कुपोदहरह भाद्र पितृभ्यः प्रीतिमक्षयाम्’ ।

‘अन्नं पितृमनुष्येभ्यो देयमप्यन्वहं अयम्’ ॥ श्रुतिना ।

ये च वानपरायणमगताः पितृपितामहादयो वने निवसन्ति, ये च द्वितीयास्त
 स्करादितः परित्यजितः पितरस्तेषां भद्रायाऽभ्यर्चनस्यान्वहमशक्यतयाऽमाचारवाया
 मपराद्धे विशिष्य तदर्थं भाद्र उक्तः । तस्मिन् हि कालोऽवश्यं ते सर्वेऽपि समानाभ्य
 भद्रायाऽभ्यर्चनीया मोक्षनीयाश्चेति । अनेन हि पुत्रादेः सुखं मङ्गिस्तथा च सुपुत्रता
 ख्यातिता स्यात् । ज्ञानोपदेशादिना च ते पितरोऽस्याप्युपकुर्वन् । रक्षकस्तु पितर
 प्रतिपदमेवोपकुर्वन्तीति युक्तैः प्रत्युपचिन्तयित्वा तेषामभ्यर्हः । अत एव च त्रिपुरुष
 मेवेदं भाद्रं विधीयते सर्वत्र । पितृपितामहापितामहानेवोद्दिश्य विधीयमानत्वाच्छा

दस्य । आदयोऽप्येन हि पुरुषेणान्तर्लब्ध एव पूर्वपुरुषा शक्यन्ते जीवन्त उप-
लभ्युम् । इदं प्रतितामहादीना हि जीवनामुपलम्भोऽसम्भवप्राय एवेति । ये तु मृतानां
आदमाहुस्ते त्रिपुरुषोद्देशकत्वं आदस्योपस्था व्यनस्यापयितु सर्वथाप्यशक्ता ।
तथैव खल्विमे आदप्रशस्तं दक्षिणमयन शरद्वत्, कृष्णः पक्षोऽमावास्या तिथिर
पराहो दिक्प्रभाग इत्याद्या समयविशेषा अप्यस्मिन्नेव कल्पे सम्यगुपपद्यन्ते ।
तथा हि सर्वत्रैवात्र विशिष्य विचारे प्रवर्त्यमाने स्फुटमेवेद परिलक्ष्येत यदापूर्व-
मागो दैव कालः, अपक्षीयमाणस्तु पितर इति शास्त्ररदस्यमिति । उत्तरस्यां दिश्य
यमानस्य भगवतो मरीचिमालिन समधिकमुपनीयते तेज इति स दैव कालः ।
दक्षिणस्या तु दिश्ययमानस्यात्तरोत्तरमगच्छीयत एवेति स एव विशिष्य विश्व
काल आख्यात । तत्सम्बन्धादेवद शरदोऽपि विन्यक्त्याख्यातप्रायमेव । कृष्ण
पक्षोऽमावास्या तिथिर्ध्वेन चन्द्रसम्बन्धेन विन्ययम् । शुक्लपक्षे हि क्रमिकानुन्नतिम-
धिक्येऽन् पूर्णायां पूर्णस्यैव विद्योतते भगवान् कुनुदवन्धु । कृष्णे तु पक्षे प्रत्यहम
पक्षीयमानोऽमाया नामरैषनामेवानगाहते । सर्वतोऽन्धतमसपरिण्याप्ते च सपश्यत
रजनीति स एवाख्यात विन्य कालः दस्यमेव प्रातरारभ्य प्रतिक्षगमधिकाधिक
प्रसरति चण्डमानो प्रदीप्तितामन्वाहमेति सोऽय दैव कालः । तत्सम्बन्धपराङ्मार
भ्यानुष्णमुपपद्यमेनोपयातीति सोऽय नियमित पितृणा कालः, इत्यनेन तत्रतत्र सर्व
जालोच्यम् । अस्य च स्फुटमयमेवामिगयो यद्विद्याबलादिभिरायौवनमुपनीयमा
नारतत्र तत्र प्रपद्यतयशसो जना भवन्ति देवरादाभिधेया । तदुत्तर तु वार्धक्येऽ
पक्षीयमाणरत्नाविविधका मन्त्रतीम एव पितर । अत एव हि 'पुत्रासो यत्र पितरो
मन्त्रा' इति भगवती श्रुतिः पुत्रागामेव कालेन पितृरप्राप्तिमाह । त एवैते
स्वयमशक्ततामुपगता पितृत्वेनार्चनीया पुत्रादिभिः । ते ते समयविशेषाभावि
तेषा प्राकृतिकसर्वपदाथोऽभ्युदयशिक्षाया पुन पुनस्तरस्तरणेन ब्रह्मदीक्षाराधन-
प्रवृत्तये च नियमिता इति जीवतां भादे स्फुटोरपत्तिः । ये चाप्येते रक्षकाः
पितर आख्यातास्तत्सम्बन्धेनापि सम्यगेवेशयतेऽय समयादिनियमः, बह्म-
न्यकाररजनीविशिष्टयाममावास्याया तिथौ तस्करादिमीतिवाहुल्येन रक्षकाणाम
निशदेनापक्षगतत्वेन तदभ्युदयशिक्षाया अक्षरकरगीरत्वात् । 'कार्यकारणतन्म्ये
भवन्ति हि स्फुट एव लौकिको न्यायः । यदा हि यदपक्षा तदा सोऽप
भवदममम्यत्वं इति । तमोवाहुल्यदेव चाऽमावास्याया प्रकाशार्थं त्रिधुदा
द्याविष्काःपक्षोऽपि पितरः सुखरामपेशन्त एव । अराराहकालोऽपि रात्रि
सन्निहितत्वादेव पितृभादेऽपेक्षणीयाया ख्यातः । रात्रावैव विशिष्य रक्षका
णामपेक्षाविद्धे । तदारव एव नन्वस्मदादिगृहे कृतमेवना रत्रिपुरुषा कथ
रात्रावस्मानुपेक्ष्यन्ते । रात्रौ विशिष्य रक्षकाणामपेक्षितत्वादेव च रात्रेऽपि विशिष्य
पितृसम्बन्धस्याप्यत्र शास्त्रेष्वाख्यात उपगन्तो चक्षितव्यः । अत एव च रात्र्याया

पितृप्रसूतिरिति नाम व्यपदिशन्त्यामिधानिना । सन्ध्याया एव च पितृणामुत्पत्तिमा चक्षते पुराणानि । सन्ध्यामेवारम्य रक्षकाणां प्रवृत्ते सर्वस्यास्योत्पादकरत्वात् । शरदतुरूपय यच्छ्राद्धे विशिष्याद्वनस्तदिदं तदाख्ये धान्यादिसमुत्पत्तिं बाहुल्येन बहुतरोगप्रचारादिना च रक्षकाणामधिकापेक्षासत्त्वादेनोपपत्तिमन् । वानप्रस्थाश्रमिणामपि चारुष्ये निवसतां पितृणां वर्षासु गृहे समानाश्रयार्हणं दुष्करमिति शरदि विशिष्य तच्छ्राद्धमुपनिबर्तितम् । मृतआद्यदिनसु सर्वस्यास्य कालादि विशेषस्योपपत्तिश्चास्त्वाने वदमौना एव मवेयुरिति जीवनामेवोपपत्तिश्चिद्विद्भादम् ।

योऽप्यय आदौ नामास्मिन् कर्मणि पितृसम्बन्धेन स्वघाशब्दो बहुधा प्रयुज्यते, स्वघाशब्दप्रयोगमन्तरेण च आद्यस्यैव वैगुण्यमभिप्रेत्यते, तदपि कल्पेऽस्मिन् सम्यगुपपन्नं द्रष्टव्यम् । स्वघाशब्दस्य हि शब्दशास्त्रमनुसृत्य विविच्यमानस्य 'स्वाशक्तिधनादय एवे आत्मात्मनोयादयो वा धीयन्ते धार्यन्ते यया सा स्वधेति' विप्रहेण स्वसम्बन्धिप्रविणुषकत्वादिरक्षणपरं पितृणां (रक्षकाणां) कर्मसु शक्तिरिति । तथा चानया रीत्या स्वघाशब्दोऽयं भवेत्पितृकर्मवाचक इति ।

विदुषामुपश्रयार्थादिशब्दव्यतिरिक्तानामेव उपाधिभूतो द्रष्टव्यः । स्वकर्मैदिष्ट्यबोधकोपाधिबोधितं न च भवेदेव सर्वस्यापि सचेनस्य ह्यर्थातिरिति तत् एवास्योच्चारणं पितृप्रीतिकरमिति तदुद्देश्यके कर्मणि आदौ नियमितम् । यद्वा 'स्वस्वीयमस्तिस्व दधातीति स्वघा प्रवृत्तिरिति स्वात्म-स्वधर्मादेर्वाचकोऽयं भवत्यस्वघाशब्दः । तथा च महामहिमसु विद्वत्सु रक्षकादिषु चोत्कृष्टस्वभावधर्मादिद्यालिषु युक्ततम एवास्य शब्दस्य प्रयोगः । चेऽपि च ब्रह्मवर्षादीन्लोनाभमान् यथावन्निव्यूढवन्त स्वकीया पितृपितामहादयस्तेऽप्ययमुत्कृष्टप्रकृतिधर्मादिबोधकतया सुप्रयुक्त एव । नैघण्टुकास्तत्र न स्वधामाहुः । तथाविधोऽप्ययमवश्यं स्वयमुपाजयितुमशक्ता वृद्धा पितरोऽनादिभिरभ्यर्हणीया एवेति शिक्षयितुं पुत्रादीन्निधमिषः आद्य इति सर्वस्याऽप्युपपन्नतरम् । यत्तु पुराणादिषु द्रष्टव्यं सुतां पितृणां काचन स्वधेत्याख्यायते ताददमेकस्या स्वघाया सर्वविधपितृपत्नीरय कथमुपपद्येतेति परोक्षोऽपमर्थं सुविदुषाम् । सहस्रयो हि पितर स्मर्यंते, बह्वक्ष तेषां गणा । ये चाप्येते प्रत्यहमुपयान्ति यमसदनं तेऽपि पितर एवाम्बुपगम्यन्त इति कथं सर्वयामेका पत्नी भवेत् । तस्माच्चदपि पितृपत्नीत्वं तदपीदं पितृणामुपाधिरूपतया तत्सहचरत्वेन तत्प्रसादकत्वेन च पत्नीगृहस्य एव पर्यवसितमिति जीवतामेव पितृणां सम्बन्धेन तदप्येतदुपपन्नं न तु मृतपितृणां कोऽपि स्वध एतेन सिद्ध्यति । यथाप्ययं यम पितृणां रात्यस्ति प्रवादोऽपि नास्माकं प्रतिकूलः । एतस्य सुतो यमो यमी चेति कीचन चेतनद्विधाविति हि पौराणिकानां पत्न्या

यद्यपि विद्वन्नेताऽप्यनेन, परं विशिष्टप्रज्ञास्तु पश्यन्ति यमो नाम दिवसः, यमी च रात्रिरिति । अन्योः सूर्यसम्बन्धेनैवोत्पन्नत्वात्सूर्यपुत्रतादिव्यवहारः । तदित्यमहोरात्रे प्रथमं प्रवृत्तो यमशब्दः क्रमेणाहोरात्र्याद्युपाध्युपहितस्य महाकालस्याप्यमूढवानकः । अत एव—

“वेत्स्वतं रुद्धमनं जनानां यमं राजानम्” ।

इतिदिभुतो यमस्य वैत्स्वतत्त्वमुक्त्वाऽपि ॥

“यमः परोऽदरो विवस्वान् ततः परं नातिपश्यामि किञ्चन”

इत्याद्ययमर्भुतो (१८।१।१२)

यमस्य सूर्यादनि परत्वमाप्नातम् ।^१



१. अपूर्ण एव सम्प्राप्तोऽयमपि लेख इत्यादावेवोक्तमनुसन्धेयं कृपया पाठक-महाभागैः—सम्यादकः ।

काव्यसाहित्यखण्डः

एतद् ग्रन्थरचयितृमिशिरामहाकाव्यप्रहसना रघुवशकुमारसंश्रिता
 जुनीयशिशुपालवधमहाकाव्यानामनेकसर्गाणामुपरि अवयव-व्याकरण-पाठ्या-
 भावार्थ इत्येतत्क्रमेण व्याख्या विहिता, तत्र भावार्थेषु पद्यानां स्वातन्त्र्येण सरलेन
 संस्कृतेनाशयस्तथा प्रस्तुत येन संस्कृतेनारूपपरिचिता अपि पद्यस्य भाव सम्प-
 श्यमान्तु पारयेयु । तत्र तत्र पद्येषु व्यंग्यार्थरूपेण ये त्रिगुणाश्चमत्कारा सन्ति
 तेऽपि भावार्थेषु प्रस्फुटीकृता कामपि कमनीया कान्तिमुद्गाटयति काव्यस्य
 लानामिति बहुभिर्बिम्बदुम्बित एते भावार्थसन्दर्भा अपि रचनादल्यामस्यामवश्य
 स्थापनीया इति प्रेरितेन मया निश्चिता—सम्पादक ।

रघुवंशे द्वितीयः सर्गः

कथासम्बन्धः

सूर्यपौत्रस्य मनुपुत्रस्यैश्वराकोर्महाराजस्य २२शो राजबिर्दिग्धीन प्रौढेऽपि वयसि सन्ततेरभावात्किञ्चने गुरोर्वैशङ्कस्य महर्षिराश्रमं गत्वा स्वस्यापुत्रताया कारणं प्रनीकारं च जिज्ञासते स्म । तेन च “हर्षलोकादागच्छता स्वया मार्गे कामधेनुं प्रमादाज्ज सहृन्ता, तत्र एव ते सन्तते प्रलिवन्ध । अधुना मदाश्रमं स्थां कामधेनुमुता नन्दिनीमाराधय, प्रसन्नाग्रानस्या कलिष्यति मनोरथः” इत्यनुशिष्ट । ततस्तदाज्ञया तत्रैवाश्रमे त्त्रिरर्गंशाढ्या समारणो वसतिं प्रकल्प्य राज्ञौ सुप्त इति प्रथममङ्गं गतम् । तदन्तरं वृत्तमुच्यते—

१.

दिलीप प्रातरेव कृत्स्न-वसानं नन्दिन्या वसु स्वस्थाने बद्ध्वा सुदक्षिणया गन्धमाख्यादिभिः पूजितां नन्दिनीं धेनुं वने १००३३ विदारार्थं मुमोच—

२.

यथा हनुति भुविनिहितमेव पवित्रमर्धमनुविदधती भुतिमनुगच्छति, तथैव पतिव्रताधिरोमगे सुदक्षिणानि ता गामनुवगाम, तस्या पादैः पवित्रे पथि स्वयमपि गन्तुं प्रवृत्ता भूवेति ।

३.

भूयति किञ्चिद्दूरं गत्वा-अनुयान्तो मिया सुदक्षिणा “परिश्रान्ता मा भूत्” इत्याश्रमं प्रति निवर्तयामास । स्वयं च येन प्रयत्नेन समुद्रमेकला कृत्स्ना पृथ्वी रक्षति स्म, तेनैव गायसि २२३ । यत् इयं गौराक्षपाणिनी साक्षात् पृथिवीव सभाविता । अस्या स्तनाभ्रं समुद्रस्वनं सम्भाविता, उभयोऽप्यं प्रदरवं मण्डपरितप्तं च सादरयमिति ।

४.

भूपतिः सः गच्छन्तमिनरमप्यनुचरवर्गं निरर्तयान्वकार । यतो व्रतनिष्ठ

अथ प्रजानामपि प्रमाते जायाप्रतिमाहृतगन्धमाभ्याम् ।

वनाय वीरप्रतिबद्धवक्त्रा यशोपगो धेनुमृपेर्मुमोच ॥ १ ॥

तस्यां खान्यासपात्रपात्रमपासुगना धुरे वीरनीया ।

मार्गे मनुष्येधरधर्मपत्नी भुतेरिवार्थं स्मृतिस्वगच्छत् ॥ २ ॥

निर्वस्य राजा दक्षिणा दयालुस्तां वीरभेरीं नुरभिर्यशोभि ।

पयोधरीभूतचक्रं समुद्रां जुगोष गौरुधरामिनोर्वाम् ॥ ३ ॥

व्रजाय तेनानुचरेण धेनोर्न्यपेधि श्रेयःपुन्यायिर्गम् ।

न चान्यत्स्वस्य शरीररक्षा स्वकीर्यगुणा हि मनो प्रसूनि ॥ ४ ॥

स्यास्य न प्रभावदर्शनार्थमनुचरापेक्षा, अत्रे कर्मणा स्तेनैव सपाद्यत्वात् ।
 सन्तरीररक्षार्थं ॥ न कदाप्यस्यानुचरापेक्षा ज्ञायते स्म, यतो मनुनराजा आत्मरक्ष
 णमात्मपराक्रमेणैव विदधते, पर त्रापेक्षन्त एव ।

५

दिलीपः कदाचित् क्रोमल्लृणमासानुयानयति स्म, कदाचिन्नलादिना गात्रं
 विवृण्व लङ्गं तिनोदयति स्म, वनमक्षिकाणां च दूरीकरणेन सततं रक्षति
 स्म । न च कुत्रापि यथेच्छ गच्छन्तीं तां निर्वर्तयामास इत्येव सेवायां प्रवृत्त ।
 सम्राट्प्येवमाराधयती यदो ।

६

यथा छाया छायावति चेष्टमान एव स्वयमपि तद्वच्चैष्टते न तु स्त वा,
 तथैव दिलीपोऽपि गतिं तत्तदवस्थानप्रस्थानोपवृत्तनादिभिर्या कुर्वन्त्यामेव स्वयमपि
 तास्ता क्रियाश्चकार न तु स्वयं तां कस्यामपि प्रेरयामास ।

७

नन्दिनी परिवचन् दिलीपो यद्यपिच्छत्रचामरादिशस्त्रैश्च त्यक्तवान्,
 तथापि केनचिदाहुतौ स्वयमायेन स्वाभाक्षिकेन राजतेजसा “रापेनायम्” इति
 हौकैरुन्मीयते । यथा गन्धर्वान्नालक्षितमदरेखोऽपि गन्ध्र आकारेणैव मत्त
 ह्यनुमीयते ।

८

द्वितीय इतस्तत्र प्रतीर्णान् स्वान् केशान् लतात-तुमिहर्षं सयम्य सपत्र
 धनुरादाय स मनश्छुतः स्म, तत्तत्पेक्षेय प्रतीयते स्म, यदयं कस्यानो दुष्ट
 जन्तूनां प्रजासुपद्रवकारिणाम् शासनाधमव बने भ्रमति, गोशशा ॥ तत्र व्याज
 मात्रमिति ।

आस्नादवद्भ्रं कवलैस्तृणानां बभूव्यनैर्दशनिवारैश्च ।

अन्वाहते स्वैरगतै स तस्या कृष्णात् समाराधनत्परोऽभूत् ॥ ५ ॥

स्थितं स्थितामुच्चलितं प्रयाता निपेटणीमासनबन्धवीर ।

जलामिलाषी जलमाददाना ज्ञायेत तां भूपतिरुन्मगच्छत् ॥ ६ ॥

स न्यस्तचिह्नमपि राजन्शर्नो तेनोविशेषानुमितां दधान ।

आसीदनाविष्कृतदानराशिरन्तर्मदावस्थ इव द्विपे द्व ॥ ७ ॥

लताप्रतानोद्ग्रथितै स बशैरधिप्यधन्वा निचचार दावम् ।

रक्षाऽपदेशान्मुनिहोमधेनोर्वन्वान्निनेभ्यश्चिद्व दुष्टकृत्तान् ॥ ८ ॥

९

यथा वरुणो जलमिन्त्येन समस्त वनस्पतिनामभिर्वर्षयति, तथैवा
यमनि महाराजो दिलीपो रक्षणशिक्षणादिना प्रजा परिपोषयति । अत एव वरुण
देवतुल्यस्य अवदाय वने भ्रमताऽस्य पार्श्ववर्तिनो वृद्धा अस्य दर्शनेन हृष्टाना
पक्षिणा कल्पा तै स्वागतमिव कुर्वन्तो जयशब्दादिनामनुचराणा कार्ये निर्व
रयामासुरति सम्भावते ।

१०

नगर हि राक्ष प्रचारे पौरकन्या एदेभ्यो लाजान् प्रक्षिपन्ति इत्याचार ।
स एव आचारोऽत्र कन्यानाममावेऽपि वायुनान्दोलिताभिलंताभिलोचनदृष्ट
पुष्पर्येण सशक्ति । अग्नि खलु वायोर्मित्रम् दिलीपधाम्निसदृश प्रमायेण
पूज्य अतएवदृष्टस्य मित्रस्यातिथीभूतस्य स्वागतं कर्तुं वायुना एता प्रेरिता
इति । महापुरुषस्य प्रयाणे शुभसूचकस्य मन्दस्य वायो प्रचार प्रकृतिविद ।
तत्र मित्रसदृशस्य राक्ष आतिथ्य हेतुतया निगूढमुपेक्षित कविना ।

११

यद्यपि कामुकधारिणो दिलीपद् बाह्यदृष्ट्या भय सम्भावितम्, तथापि
हरिणीनो मनसि त दृष्ट्वा भय न जानमिति—“विमलं कलुषी भवत्य चेत कथय
स्येव हितैषण रिपु च” इति न्यायेन ‘दयाशीलोऽय राजा नास्मान् हिंसात्’
इति हरिणो विश्वस्ता । तत एव च निर्भोका अतिशयेन मनोहारि घरीरमस्या
लोक्यालोक्य हस्तेषाणा विस्तारस्य साफल्यममन्यन्त ।

१२

इते विचरता दिलीपेन तत्र तत्र कुञ्जेषु वनदेवता दृष्ट्वा, रघुमुखादुच्चै
रक्षीर्लिंगान् च भ्रमन्, वायुना निस्वनतो यथा एव तत्र गाने वद्य
वाद्यतामाता अभून् ।

विस्तृष्टपार्श्वानुचरस्य तस्य पार्श्वद्विमा पाशमृता समस्य ।

उदीरयामासुरिबोन्मदानामालेकशब्द वयसा विरावे ॥ ९ ॥

महाप्रयुक्ताश्च महत्सल्लाम तन्मन्यमारादमित्तमानम् ।

अवाक्षिन् बाल्यता प्रसूनैराचारलजैरिव पौरकन्या ॥ १० ॥

धनुर्भूतोऽप्यस्य दयाऽऽर्द्रमावमात्यातमन्त करणेविशुद्धे ।

विनोक्तयथो वपुरापुरक्षो प्रकामविस्तारफल हरिष्य ॥ ११ ॥

॥ क्षीचकैर्नाहतपूर्णरन्ध्रे कूबज्जिपापादितयश्चकृत्यम् ।

गुभात्र कुञ्जेषु यश रघुन्वैरुद्रीयमान वनदेवताभि ॥ १२ ॥

१२.

सदाचरणेन परिपूतस्य दिलीपस्य आतरजनिना भ्रान्ति हृदय व्यस्तावन
शीतलो मन्दः सुगन्धिश्च पवनो विनोदयामास ।

१४.

दिलीपस्य वने प्राप्तिमात्रेणैव तस्यालौकिकप्रभावात् तत्र तत्र ह्यभावेन वने
प्रचलन् दावानलो व्यंगन-उरेणैव शान्तिमवाप । वृक्षा पूनपेक्षयाधिकं पुष्प
फलभाजोऽभवत् । सिंहादिर्विश्वन्तवो निर्वलमृगादिकान् नावाचन्तेति ।

१५.

सर्वं दिनं वने भिमिनासु दिक्षु परिभ्रम्य सायं समय आसन्ते गौरा
भमामिमुन्नी प्रस्थिता । सूर्यप्रभापि तथैवेति तयोरैकधर्मतया सदृशत्वं प्रतिपातम् ।
उभयोस्ताम्रवर्णतयापि सदृशता प्रतीयते स्म ।

१६.

आभ्रम् गच्छन्ती सा दिलोऽप्यनुजगाम । तेनानुगम्यमाना च सा अतु
ष्ठानानुगता भवेव सुगुप्ते । कर्मसु केवलं भवेव न कौशलहेतुः, किन्तु “यस्तु
क्रियावान् कुशलं स एव” इत्यभियुक्तोक्त्या अनुष्ठानानुगता भद्रा लोके
विशेषेण प्रशंसामहति । तथैव राजानुगता गोपी विशेषेण प्रशंसास्पद जाता ।

१७.

सूरोऽन्तमुपगच्छति तम प्रकारेण व्याप्तीभवति तत्कारणे स राजा क्वचि
वज्रलाशयेभ्यो निर्गम्य उतो वराहान्, क्वचिच्च स्वनीडेषु गन्तुमुत्सुकान् मयूरान्,
क्वचिच्च स्वैरविहारोद्दिश्य वृणहरितप्रदेशेषु विभ्राम्यतो मृगान् पश्यन् यथिष्टाभ्रम्
प्रति पथी ।

पृच्छस्तुपारैर्गिरिर्निर्झराणामनोकहाऽऽकम्पितपुष्पगन्धी ।

तमातपक्वलोन्तमनातपनमाश्चागूत पवन विधेरे ॥ १३ ॥

शशाम वृथयाऽपि विना दवाग्निरासीद्विशेषा फलपुष्पवृद्धि ।

ऊन न सत्त्वेष्वधिको दवाधे तस्मिन् वन गोप्तरि ग्राहमाने ॥ १४ ॥

सञ्चारपूतानि दिगन्तराणि कृत्वा दिनान्ते निलयाय गन्तुम् ।

प्रचक्रमे पल्लवरागताम्ना प्रमा पनङ्गस्य मुनेश्च चेत् ॥ १५ ॥

ता देवताधिरतिथिक्रियाऽर्थोन्वयवौ मध्यमयोक्तवाल ।

यमो च सा तन सता मतेन भदेव साक्षाद्विनिनोपजना ॥ १६ ॥

स पल्लवलोत्तीर्णैराहयूयान्पावासावृक्षोन्मुल्लवद्भिर्नानि ।

ययो मृगाभ्यापतितयादृतानि दशमायमानानि वनानि पश्यन् ॥ १७ ॥

१८.

दुग्धबाहुल्यात् स्थूलशोषसौ भारान्मन्दिनी, शरीरगौरवाच्च दिलीपः, शत्रु-
भावपि मन्दगामिनौ । मन्दा च गतिः शोभते-इति तयोस्तया गमनेन
मार्गस्यापि शोभामवदिति ।

१९.

सर्वे दिनं प्रियस्यादर्शनेन सुदक्षिणाया नेत्रयोश्चवास-इव खातः, तेन च
यथा कश्चन कृतोपवासः सञ्जातकष्टशोषस्तृष्णया करोत्यप्ययः रिदति, तथैव
सुदक्षिणाऽपि घेन्वा सहायान्त दिलीपं सुष्पातिशयेन निमेषमपि परित्यज्य
पपावि, सोऽकष्टं ददद्येति ।

२०.

दिलीपस्याग्रतोभूत्वा तरोवनात्प्रयागवञ्ज्तीं घेनुं सक्तुं यदा सुदक्षिणा
आभनात् क्रियन्ति पदानि सम्मुखे जगान्, तदा (दिलीपः पुरुषत्वाच्चेन्नैवतया
च दिवससदृशः, सुदक्षिणा तु स्त्रीत्वात् शोभ्यतया च राज्ञिसदृशीनि) तयोर्धर्मयो-
र्मध्यस्थिता ताम्रर्णा सा घेनुं दिनरूपयोर्मध्यस्थिता ताम्रर्णा सन्धेव व्यराजत ।

२१.

सुदक्षिणा तं नन्दिनी परिक्रम्य, प्रगम्य च अक्षणादिभिस्तस्या नन्दिन्या
भालमयसिद्धेर्द्वारं माता पूजयामास ।

२२.

वनात् परावृत्त्य स्वदासमालोकयितुमुच्छ्रमाणापि सा घेनुर्निष्क्रामावेन सुद-
क्षिणा विहिता पूजा स्वीचकार । तेन स्वदिपये तस्या प्रसन्नतामनुनाय-
सुदक्षिणादिलीपौ परमानन्दं प्रापतुः । यत्तच्च नन्दिनी-दद्याना महानुभावानां
प्रसन्नता भवितुमिच्छता परसिद्धिं सूचयति ।

भागीनमारोहह्रनप्रयत्नाद् दृष्टिगुंश्वाद्गुणो नरेन्द्र ।

समावन्धकृतुरञ्जिताभ्या तपोन्नावृत्तिर्भ्यं गताभ्याम् ॥ १८ ॥

बलिष्ठधेनोरनुयायिन तमावर्त्तमानं वनिता वनान्तरात् ।

पगौ निमेषालक्षपश्मनङ्क्तिरुदेदिताभ्यामिव लोचनभ्याम् ॥ १९ ॥

पुरस्कृता वर्त्मनि पार्थिवेन प्रत्युद्गता पार्थिवधर्मपत्न्या ।

तदन्तरे सा विरराव घेनुर्दिन्क्षसामघ्नतेव सन्ध्या ॥ २० ॥

प्रदक्षिणीङ्गर पयसिनी तां सुदक्षिणा काशतपावहस्ता ।

प्रगम्य चानर्चं विशालनखा मृङ्गान्तरं द्वारमिवार्थसिद्धेः ॥ २१ ॥

वत्तोत्सुकाऽपि सिन्धिता सव्यां प्रत्यमहीस्ते न नन्ददहुरौ ।

मत्तयोपगम्येणु हि तद्विधाना प्रसादविज्ञानि पुरजलानि ॥ २२ ॥

२३.

ततोवनादाश्रमं प्रातो दिगीः पूर्वमरुन्धतीश्रितं वशिष्टं प्रणनाम, तदनु
सायकान्निधीं सन्ध्यामुवावाञ्चके, अथ दुग्धदोहनानन्तरं भूमाशुगविष्टायास्तस्या
एव कामदुग्धाया नन्दिन्या परिचरयेत् सप्तरो वभूव । न च तदानीं तन्वेतवि
राजचिन्ता पदमकरोत्, यतः स पूर्वमेव स्वरिपून् उत्सादितवान् ।

२४

सुदक्षिणादिलीषाशुभावपि तस्या नन्दिन्या समीपे बलिद्रव्याणि मरुपाय
सादीनि दीपाश्च स्थापयामासतु । अथ तस्यां भूमाशुगविष्टायां सप्तरो स्वयम्
पुष्पाविशताम्, सुतायामरुपताम्, प्रातः पुनरस्थियायां चोरिपतौ तथैव पूर्वं
दिषसोक्तं सर्वमकुर्वताम् ।

२५.

उत्तेनैव प्रकारेण स पत्नीसहेतो दिक्षीर सन्तानं धर्मकविद्यतिदिनपर्यन्तं
रोसेवारूपं व्रतमकरोत् ।

२६.

द्वाविंशे दिने नन्दिनी दिलीपस्य मायं परीक्षितुमिषेय, 'सत्यमयं सद्गुरुः',
कृतिमा वा भक्तुरिति" परीक्षेत्तदा च गङ्गाप्रपातसमीपवर्तिन्यां हिमालयगुहायां
प्रविषद्य । अत्र हरितहरितो घासः प्रकट आसीत् ।

२७

"इमां नन्दिनीं प्रभावाद् व्याघ्रादयो मनसाप्याक्रमितुं न समर्थाः" इति
विचार्य निश्चिन्तो राजा क्षणं पवतशोभादर्शनसङ्कोऽन्यमनस्क आसीत्, परम
आन्तरे भक्तमाद्राशाऽष्टष्ट एव कश्चन दिह्यतामाक्रान्तवान् ।

शुभे रुद्राक्ष्य निरीक्ष्य पादौ समाप्य सा भ्यस्तं विधिं दिलीपः ।
दोहावसाने पुनरेव दोष्मिन्नेन भुञ्जीतन्नरिपुर्निधनगाम् ॥ २१ ॥
तामग्निवदन्यस्तबलिप्रदीपामन्वास्य गोसा शृङ्गिणीसहायः ।
क्रमेण मुतामनुसन्निवेशं मुतोत्थितां प्रातरनुदतिष्ठत् ॥ २४ ॥
इत्थं व्रतं धारयन् प्रजाऽर्थं सर्वं महिष्या महनीयक्रीते ।
सप्त व्रतीमुखिगुणानि तस्य दिनानि दीनोद्धरणोचितस्य ॥ २५ ॥
अन्देशुरात्मानुचरस्य भावः जिज्ञासमाना मुनिहोमधेनुः ।
गङ्गाप्रपातान्तर्विरुद्धशब्दं गौरीगुरोर्गङ्गरमाविवेश ॥ २६ ॥
सा दुष्प्रधर्मा मनसाऽपि हिंसैरित्यद्रिप्तोमाप्रहितेषण्येन ।
अलक्षिताभ्युपतनो नृपेण प्रसह्यसिद्धं किल तां चकष्य ॥ २७ ॥

२८.

विहेनाक्रान्ता नन्दिनी दुःखाकन्दनमकरोत् । तच्चाकन्दनं पर्वतगुहा
यामुञ्चै प्रतिश्वनितम् । ततश्च यथान्यमनस्कमधमध्वारोहो दल्लगामाकृष्य
कुमार्गोन्नितस्य मार्गमानयति तथैव दीर्घं तदाकन्दन नेत्रकिरणरुः ॥ दल्लगामाकृष्य
राशौ नेत्र पर्वताभिकर्त्य नन्दिन्यभिमुखमकरोत् ।

२९.

यथा गैरिकधातुना रक्तवर्णाया पर्वतस्थोर्ध्वमूमौ पुष्पितो लोम्वृक्षो लक्ष्यते,
तथैव रक्तवर्णा नन्दिनीमाक्रम्य स्थित प्रवन्नमूर्तिं सिंहोऽपि पर्वतात् परावृत्त
चक्षुषा दिलीपेन लक्ष्यते स्म ।

३०.

येन सर्वे रक्षसो बलद् विनाशिता, तादृशः ॥ शरणागतस्तक्षको
दिलीपः स्वसमक्षं गवि सिंहस्याक्रमणं दृष्ट्वा स्वपरामवममन्यत । अत एव स्वररा-
भवकर्तुर्बन्धयोग्यस्य तस्य सिंहस्य अधाय तूष्णीराद् राण निष्कासयितुमैच्छत् ।

३१.

यदा दिग्घ्नं पृष्ठभागे लम्बमानात् तूष्णीरात् बाणनिष्कातनाय स्वदक्षिण
हस्ताङ्गुलीः पुङ्खे योजितवान्, तदाङ्गुल्यस्तत्रैव सदेव निश्चेष्टा अभवन्,
बाणं बहिराक्रम्य नाशकनुवन् । अत एव यथा चित्रलिखितं वस्तु स्पन्दशून्य भाति,
तथैव दिलीपस्य दक्षिणहस्तोऽपि भाति स्म ।

३२.

स्वबाहोः प्रतिरोधेन दिलीपस्य क्रीधो बबूधे । न च समीपस्थस्यापि
सिंहस्य किमपि कर्तुं शक्तोऽभूत् । तेन यस्य सर्पस्य पराक्रमो मन्त्रेणैव धेन च
निबद्धः स्यात्, स यथा किञ्चिदङ्गुलीं स्वहृदय एव प्लवति, तथैव राजापि तेजसा
स्वयमेव मनसि जञ्जाल, अत्यन्तं लिखस्तप्यमान इवामवदिति ।

तदीयमाक्रमितमार्त्तं वाधोर्गुहानिबद्धप्रतिशब्ददीर्घम् ।

रश्मिभिरवादाय नगेन्द्रशक्ता निवर्त्तयामास नृपस्य हृदि ॥ २८ ॥

॥ पाटलाया गवि तस्थिवास धनुर्धरः केशरिण ददश ।

अधिरथकायामिव धातुमय्या लोम्रद्रुम सानुमतः प्रफुल्लम् ॥ २९ ॥

ततोमृगेन्द्रस्य मृगेन्द्रगामी अधाय बध्यस्य शरं दारणम् ।

जाताभिरङ्गो नृपतिर्निषङ्गादुद्धर्तुमैच्छत् प्रसभोद्धृतारि ॥ ३० ॥

वामेतरस्तस्य करः प्रहत्तुर्नैलप्रमामूषितच्छपत्रे ।

सक्ताङ्गुलि सायकपुङ्ख एव चित्रान्तराग्न इवावतस्थे ॥ ३१ ॥

बाहुप्रतिष्ठाविवृद्धमन्युरभ्यर्णमागच्छतमस्पृशद्भिः ।

राज्ञा स्वतेजोभिरदह्यतान्तर्भोगीव मन्त्रैषधिरुद्धवीर्यः ॥ ३२ ॥

३३.

दिलीपोऽमृतपूर्वै स्वमुनप्रतिरोधमनुभूय विरमय प्राप्त एव, पुनरपि स सिंहे
माननी वाचम, लभ्य तस्याधिकमाध्ययमुत्पादयन् त सम्बोधयामास ।

३४.

सिंहो वदति—हे राजन् । मा स्म कृथा कृथा भ्रमम्, यत प्रथमं तु
स्वमस्त्रचालन एवासमर्थं, यदि कथं चेच्छालयेयं, तथाप्यस्त्रपलान् हिसितुं शक्तमपि
तवास्त्र मम न किञ्चिदपि कर्तुं शक्नोति । यथा कृथाणामुत्पादने समर्थोऽपि
बायोर्वै न पर्यंतमुत्पादयितुं समर्थः ।

३५.

हे राजन् । नाहं सामान्य सिंहो य एव हन्या, अपि तु कुम्भोदर
निकुम्भनामानौ यौ द्वौ प्रसिद्धौ भगवत आशङ्करस्य गणौ, तयोरन्यतरोऽहम् ।
यदा शिरो वृषभ स्ववाहनमारोहुमि-उति, तदानीं तस्यात्युन्नतया मम पृष्ठदेशे
पाद न्यस्य तमारोहति इत मम सेवा ।

३६.

हे राजन् । समुपस्थितं देवदारुवृक्षमेतमप्यवलोक्यते । एष खलु शिवेन
पुत्रद मानितः । यतश्चाम् स्कन्दस्य अनन्वा पार्वत्या स्वकुचसदृशं पय
सदृशजलपूतैर्ह्रमकुम्भै सिक्तः । अतएवायमुभयोऽवमामहेश्वरयो स्कन्द-तु प्रियः ।

३७

एकदा कश्चनारण्यो हस्ती सर्वपानोदाय स्वगण्डस्थल्मरिम्न देवदारौ
घर्षयामास । तेनास्य चल्कश्चरुशक्तिमभूत्, तच्च हृष्टा पार्वती देवामुरस्रामेऽ
सुराणां शरैः क्षतं कार्त्तिकेय तिलोक्य यथा, तथैव शोकात्तुराभूत् ।

तमार्यंशु निग्रहीतधेनुमंतुष्यवाचा मनुवशकेतुम् ।

निस्नाययन्निवस्मितमात्मवृत्तौ सिंहोऽरुच्य निजगाद सिंहः ॥ ३१ ॥

अल मरीपालः । तव अमेण प्रयुक्तमप्यस्त्रमितो वृथा स्यात् ।

न पादपोन्मूलनशक्ति रह शिलोच्चये मूर्च्छन्ति मारुतरयः ॥ ३४ ॥

वैराग्यगौर वृषमारुह्यो पादापणानुग्रहपूतपृष्ठम् ।

अनेहि मा किङ्कराण्मूर्त्ते कुम्भोदर नाम निकुम्भमित्रम् ॥ ३५ ॥

अमु पुर पश्यसि देवदारु पुत्रीकृतोऽसौ वृषभ-जनेन ।

यो हेमकुम्भराननि सृताना स्कन्दस्य मातु पयसां रसतः ॥ ३६ ॥

कण्डूयमानेन कट कदाचिद्वन्यद्विषमो-मयिता स्वगत्य ।

अथैनमद्रेस्तनया शुशोच सेना यमालीटमिवासुरास्त्रैः ॥ ३७ ॥

३८.

यदा वन्यगनेनास्य देवदारोस्त-गुत्पाप्ता, तव आरभ्यैव वन्यगजानाम्
भोत्पुत्यादन र्थं महादेवो मम सिंहरूपं विधाय मामत्र न्ययोजयत् । आदिशच्च
माम् यन् 'तस्या स्वसमीपगतान्-प्राणिन व्यापाद्य स्वजीवनं निर्वोढव्यम्', न
पुनरिमं परित्यज्य भोजनाय कापि गन्तव्यम्" ।

३९

एकादश्यादिपर्यन्तं कृतोपवासो नना उरवानान्ते पारणा यथा विदधते,
तथा चिराद् भोजनानामान् कृतोपवासस्य मम पारणायै महादेवन
तृप्तिजननयोग्यं यौरनं प्रेषिता । राहुणा यथा चन्द्रमग्न्यामृतं प्राप्यते, तथा
मयेयं प्राप्ता ।

४०.

हे मुदिनी ! "क्षत्रियोऽहमिमां रक्षितुं नाशकम्" इति हेतोर्मां स्म घात
पदं ते चेतसि लज्जा । यत्तत्त्वया यावच्छत्रमिमां रक्षितुं प्रयासं कृत्वा शुद्धमक्तिं
प्रदर्शितैव । अस्यास्तु गोविनाशो जगदीश्वरेणैव रचितः, तथा च प्रतिविधातुमश-
क्तस्य तव का लज्जा ! न चाशक्ये वस्तुनि यशोहानिरपि । तस्माद् गृहं त्वया
गन्तव्यम् ।

४१

विहस्य वाक्यमिदं भूता "भीतिङ्करप्रभावान्मदन्त्रप्रतिबन्धो जान" इति
राज्ञा ज्ञानम् । तेन या पूर्वमात्मनि तस्यावशा प्रादुरासीत् "कान्ते मदस्त्र
यथै जानम्, विह माम्" इति सा निवृत्ता । सामान्यास्तरामशो व्रीडा जनयति,
न तु सर्वेश्वरादिति । अभिराक्षत्रेण विहस्य साम्याद् व्रीडाया योग्यता, पर
॥ शङ्करस्यानुभावेन कथित इव निवृत्तिः ।

तदाप्रभूयेव वनद्विजानी प्रासार्थमग्निजहमद्रिकुञ्जौ ।

व्यापारितं शूलमृता विधाय सिंहस्वमङ्गागतसंरवृत्तिः ॥ ३८ ॥

तस्यालनेषां क्षणितस्य तृप्त्यै प्रदिष्टकाल परमेश्वरेण ।

उत्तरिमता शोणितपारणा मे सुरद्विधआन्द्रमणी सुखेव ॥ ३९ ॥

म त्वं निजं विदाय लज्जा गुरोर्भवान्दर्शितं शिष्यमक्तिं ।

शक्तेन रक्ष्य यदशक्यरक्ष्यं न त्वयश्च शरुभृता क्षिणोति ॥ ४० ॥

इति प्रगल्भं पुरुषाचिराजो मृगाचिराक्षस्य वचो निशम्य ।

प्रत्यहृत स्त्री विविधप्रमानादात्मनश्च शिथिलीचक्र ॥ ४१ ॥

४२

यद्दिल्लीपो गां भक्षयितुमुद्यत सिंह इन्दु घनुषि बाण सधातु नाशकत्, तदिदं दिलीपप्रयत्नस्य प्रयत्नमेव वैफल्यम्, इतः पूर्वं कदापि तेन शस्त्रप्रयोगे निष्फलता नानुभूता । ततश्च वज्रप्रयोगं चिकीर्षुर्महेंद्रो महादेवप्रभावात् निश्चेष्टो यो दद्यामनुभूतवान् सैव दद्यादिल्लीपस्यापि तदवधरे जाता । तेन निश्चयः स बाह्मात्रेणोत्तरं दत्तवान् । अन्यथा परामर्शकतुरंगे शत्रियाणां शास्त्रेणोत्तरं नास्तम्, न बाह्मात्रेण ।

४३

हे मृगेन्द्र ! वयसि समर्थस्यैव वनस्यादरं प्रायेण सर्वथा भवति, किमपि कर्तुमशक्तस्तु यदपि वदति, तत्केवलं लोके परिहासयोग्यं मन्यते अत एव यदहं त्वां वक्तुमिच्छामि, तच्छ्रुत्वापि “अहो अशक्तोऽप्ययं वीर इव प्रत्यपति” “असम्मानं मेतत्कथनम्” इत्यादिरूपेण प्राकृतो जनो मामुपहसेत्, अतो न वाच्यमन्येष्टे वम् । किन्तु त्वं शिवसेवकत्वात् सर्वज्ञोऽसि, मम बाह्मनस्योरेकस्यापि शत्रुं प्रभवसि, अतस्तत्र प्रति वन्द्येष्टः । अनुक्रमेण त्वया ज्ञायते, तत् कथने को दोषः ।

४४.

हे मृगेन्द्र ! अस्य देवदारो समीपमागता प्राणिनस्तत्र भक्षयामि जगदीश्वरस्य भगवतः शङ्करस्य शासनं मया शिरसैव धार्यते, तेन “त्वमेतां कृपया त्यज” इति न वक्तुं शक्नोमि । किन्तु गुरोर्वचनाश्रमपि नोपेक्षितुं शक्तोऽस्मि । गुरुभ्रातृताग्निरिति गौरवस्य मुख्यं धनम्, इति साधनत्वात् एतदभावे भूतरूपहृदयोऽनुपलभ्ये स क्षयमग्निहोत्रं होष्यति ।

४५.

हे मृगेन्द्र ! एवं कृपया गो प्रातिनिधयेन मदीयं शरीरम् भुक्त्वा जीवनं निर्वह । इमां महर्षेणुं परित्यज । इदानीं सायं व्यातम्, एतस्यां लघुरात्र एतदागमनं सोत्कण्ठं प्रतीक्षमाणो भवेत् । स इमामहं कथं जीविष्यति ।

प्रत्यञ्जरीन्धनमिष्टुप्रयोगे तत्पूर्वमङ्गे तिथिप्रयत्नः ।

जडोक्तस्यैव कवीश्वरेण वज्रं मुमुक्षुस्त्विह वज्रपाणिः ॥ ४२ ॥

सर्वद्वेषस्य मृगेन्द्र ! कार्यं हास्यं वक्तव्यमदहं विबुधः ।

अन्तर्गतं प्राणभृतां हि वेदं सर्वं मवान्भावमतोऽभिधास्ये ॥ ४३ ॥

मान्ध्रं स मे स्वावरजङ्गमानां समंरियतिप्रत्यवहास्येत् ।

गुरोस्पीदं धनमाहिताग्नेर्नैवत्युस्तदादनुपेक्षणीयम् ॥ ४४ ॥

स एव मदीयेन शरीरवृत्तिं देहेन निर्वर्त्तयितुं प्रसीद ।

दिनावधानोऽसुखालक्षणां सिञ्जतां घेनुरियं महर्षे ॥ ४५ ॥

४६

राजं कथनं भवति विहं ईषद् विनहास । तदनु राजानमुवाच । हास्यकाले
निर्गतेस्तद्दष्ट्राणां विरगैर्गुहा धारो विनष्ट ।

४७

राजन् ! त्वं यत् सत्यमिदं कर्तव्यमिदमकर्तव्यमिति विवेकं न जानासि ।
यदेकस्या स्थीयस्या गो कृते स्वशरीरं मह्यं दातुमुद्यतोऽसि । अनेन ते साहसेन
एकपक्षे राज्यम् , नवीनमुपभोगोचितं यौवनम् , मनोहरं शरीरम् चैतत्सर्वमपि
एकपदे त्यक्तं स्यात् ।

४८

हे दिलीप ! यदि त्वं प्राणिषु कुराज्यतया गां रञ्जितुं स्वशरीरं मह्यमर्पयसि,
तर्हि मुधा ते विचारः । कुतः ? स्वद्विनाशे केवलमपि मुनिधेनुर्जवनदानेनानु-
कम्पिता स्यात् , किन्तु यामिस्व “प्रजानाय” इति व्यपदिश्यसे, तासवदीया
बहुप्राणिषकुला प्रजास्वदभावे बहुपद्रवैराकान्ता नितरा पीडिता स्युः । स्वयमेव
लज्जु तासां पितृवद्रसक इति अनेकान् पीडयित्वैकरक्षणं किं दयाधर्मः ?
“प्रजानाय” इति सम्बोधनेन प्रजारक्षणहेतुके जीवने न त्वं धर्मेण स्वतन्त्र इति
बोधयति ।

४९

हे नृप ! यदि गोत्रिनाशेन गुरुर्मह्यं क्रोश्यति, धार्यं च दास्यतीति तव
चेतसि भयम् , तर्हि तदपि व्यर्थमेव । यत एकस्या अस्या गो स्थाने कोटि-
संख्याका गावो भवता दातुं शक्यन्ते, अल्पस्थाने बहुं लब्ध्वा च तस्य क्रोध-
शान्तिर्देव ।

अयाधकार गिरिगह्वराणां दष्ट्रामयूखैः शकलानि कुर्वन् ।

भूय स भूतेश्वरश्चर्वती किञ्चिद्दहस्यार्थंपि वभाषे ॥ ४६ ॥

एकातपत्रं जगतं प्रमुखा नवं दयं क्रातमिदं वपुश्च ।

अल्पस्य हेतोर्बहुं दातुमिच्छति विचारमूढः प्रतिमासि मेत्सम् ॥ ४७ ॥

भूतानुकम्पा तव चेदियं गौरवा भवत्स्वस्तिमती त्वदन्ते ।

जीवन्पुनः शश्वदुपलवेम्य प्रजा प्रजानाय ! पितेव पासि ॥ ४८ ॥

अथैकधेनोरपराधच्छायाद् गुरोः कृशानुप्रतिमाद् विमोषः ।

शक्योऽस्य मयुर्मन्त्रता विनेतुं गां कोटिश्च स्पर्शयता घटोष्णी ॥ ४९ ॥

५०.

सिंह उपदिशति—राजन् ! तस्मात्पुत्रसन्तानमुपमुञ्जानेन त्वया स्वशरीर
रक्षणीयमेव । गोरूपेभ्योऽपि स्वर्गादानिस्तु न शङ्कनीया, यतः सम्पत्तेश्चालिष्व
मिन्द्रपदाच्च किञ्चिदपि भिद्यते, यदि तयो कश्चन भेदोऽस्ति, तर्हि स इयानेव
यदिद्रो भूतल न स्पृशति, राजा तु स्पृशतीति । (देवानां भूतलस्पर्शाभाव आगम
सिद्धः) । अन्यत्तु मुखैश्चर्षादेक समानमेव, ततश्च प्रत्यर्थं स्वर्गं राज्यं परित्यज्य
कोऽयं परोक्षस्वर्गं प्राप्ते प्रयत्न इति ।

५१

एवमुक्त्वा सिंहो यदा विरराम, तदा ॥ एव तस्य शब्दो गुहायामुच्चैः प्रति
ध्वनितोऽभूत् । तत्र कविकल्पेभ्यो यद्वाचि प्रेम्णा हेतुना पर्वतोऽपि “आत्मदेहरथ”
इति सिंहोक्तनुवदन् राजानं मरणव्यवसायान्निवारयति स्म

५२

एकत सिंहो हितमुपदिशता शरीररक्षणायानुशेषं कृतं, अपरस्तु तेनाक्रान्ता
गौ “किमिदानीमयं वदति, अपि मा मोचयति, शरीरं वा रक्षति” इति दीनया
दृष्टया तन्मुखं प्रेक्षते । एव सकटावसरेऽपि हृदिति स्वकर्तव्यं निर्धार्य राजा सिंहं प्रति
पुनर्ब्रूयात् ।

५३

हे सिंह ! स्वकर्तव्यं पालयत एव पुरुषस्यैश्वर्यमोगो जीवनं च इच्छते,
न तु कर्तव्यविमुखस्य लोकनिन्दितस्य । अयं हि लोके “क्षत्रा” इति व्यवहि
यामहे । क्षत्राद् न शत्रुं साधून् प्राणिनस्त्रायामहे इत्येष क्षत्रशब्दप्रवृत्तिरनाप्तः ।
तद्यदि सम्मुखे इत्यमानां गामुपपन्नं जीवनं रक्षेयम् तर्हि कर्तव्यविमुखो लोक
निन्दित इत्यस्मै, कृपया च तथा कति मे जीवनं राज्यं चेति ।

तद्रक्ष कल्याणपरम्पराणां मोक्षारमूबैश्वर्यात्मदेहम् ।

महीतलस्पर्शनिमात्रभिन्नमृद्धं हि राज्यं पदमैद्रमाहुः ॥ ५० ॥

एतावदुक्त्वा विरते भूमेन्द्रे प्रतिश्वनेनास्य गुहागतेन ।

शिलोचनोऽपि क्षितिपालमुच्चैः प्रीत्या तमेवाशंसमापतेव ॥ ५१ ॥

निशम्य देवानुचरस्य वाचं मनुष्यदेव पुनरप्युवाच ।

ये वा तदध्यासितकृतराक्षसा निरीक्ष्यमाणं सुतर्गं दद्यादु ॥ ५२ ॥

क्षत्रात्किल प्रायत इत्युदमं क्षत्रस्य शब्दो भुवनेषु स्मृतः ।

राज्येन किं तद्विपरीतवृत्ते प्राणैरूपमोक्षमलीमसैर्वा ॥ ५३ ॥

५४.

यस्त्वयोक्तम् “अथैकधेनोस्त्विवादि”, तदपि न, यत् अन्याथा दुग्धवतीना
होना गवा प्रदनेनापि महर्षे प्रसादनम् दुष्करम् । इयं हि नन्दिनी न केवल
दुग्धदोहनमाशोपयुक्ता, अपि तदौ कामधेनु । यद्यदपि कामयते, तत्सर्वमेवा
दोमि, अतो नास्या अन्यधेनुसादृश्यम् । नन्वीदृशी चैत्थं मद्रशगा इति मा
स्म शङ्केया, तस्या खल्वस्या उपरि महादेवप्रभावेणैव प्रहार कृत । अन्यस्य
नास्ति सामर्थ्यमिमां प्रहर्तुम् ।

५५.

अत एव हे सिंह ! एतस्या गो परिवर्ते तुम्यमह स्वशरीरमुपहरामि, उचित
मेवैतत्, न तु विचारमूढतालक्षणम् । स्वप्राणव्ययेनापि परस्य प्राणिन, विशेषेण
गो, तत्राप्येवविशिष्टया, तत्रापि च गुरुकर्मनिधन्या, रक्षणीयत्वाद् । एव च
सति तत्र व्रतान्तमोचनमपि न निरूप्येत्, गुरोर्विशिष्टस्याग्निहोत्रादिक्रियापि मुख्य
निर्वहेद् इति द्वयोरेव न शान्तिर्ज्ञानि । अहं च तथा सति स्वकृतं दयालनेन
कृतार्थम् ।

५६.

हे सिंह ! स्वमित्रतन्त्रस्तदप्येवदवस्य जानासि, यस्तेवको मौनमास्थाय पाणि
पादमस्तन्दयित्वा स्वयं काचिदपि हानिमनोदत्त्वा स्वामिघ्नं चेन्नाशयेत्, तर्हि
श्रीढावनतकचरो दण्डमयमीतश्च स्वामिनोऽग्रे स्यात् न शक्नोति । यद्यपि नामवि
ध्यत् तर्हि त्वमपि एवदेवदारुहृदयिव एव यत्नवान् नामरिष्य ।

५७.

हे सिंह ! यदि त्वं मां केनानि हेतुना “अवध्यम्” मन्यते, तत एव मम
देहरक्षणमुपदिशसि, तर्हि कृपया मे यद्यं शरीरं मां हिंसी । इदं तु भौतिकं पिण्ड
वपूराण्य काम स्वभोगनायोपयुक्तम् । निवेदिन खलु भौतिकेषु शरीरेषु नामहपरा,
यतस्तथा भूतविण्णरूपनादिनाशोऽनश्य भावी, यद्यं शरीरम् स्थिरं ते सर्वोत्तमा
रक्षन्ति ।

कथं तु शक्योऽनुनयो महर्षेर्विश्वाणनाच्चान्यपयस्विनीनाम् ।

इमामनूनां गुरोरेवेहि रुद्रीवशा ॥ प्रहृतं त्वयाऽस्त्याम् ॥ ५४ ॥

सोऽयं स्वदेहापैवनिष्कयेन न्याय्या मया मोक्षयितुं भवत्तः ।

न पारगा स्याद्विहता तवैव भवेदलुप्तश्च मुने क्रियाऽर्थः ॥ ५५ ॥

भवानरीदं परवान्वेति महान् हि यत्नस्तव देवदारी ।

एषां निषोक्तुं हि शक्यमग्रे विनाश्य रक्ष्य स्वयमक्षतेन ॥ ५६ ॥

स्मिन्पक्षेऽप्यस्तव चेन्नतोऽहं दश शरीरे भव मे दयालु ।

एकान्विषयसिद्धिं मद्रिधानां पिण्डेष्वनास्था खलु भौतिकेषु ॥ ५७ ॥

५८.

हे सिंह ! परस्परमालाप एव सौहार्दस्य हेतु । तत्रापि च वने, (वने साहचर्यस्य मैत्रीलक्षणेषु गणनात्) । स चालापो वने सन्निवृत्तयोरावयोर्बोत एव । अत एवेदानीं स्वमह च सुहृदो भवन् । सुहृदो मे पूर्वोक्ता प्रार्थना न स्वया विफलकरणीया । यतस्त्व मृतनाथस्येश्वरस्मानुग—इति भवाटरो सौहा र्थवैरूप्य न सम्भाष्यत एव ।

५९.

दिलीपस्य प्रार्थना स्वीकुर्वन् सिंह “यथा भवते रोचते, तथैव भवतु”, शशुवाच । “किमर्थं सख्य ददाति देहम्, उत वाङ्मयमिदम्” इति परीक्षणे तत्तात्पर्यम् । तत्क्षण एव राज्ञो बाहुरपि प्रतिबन्धरहितो जा० । “अपनीते बन्धने प्राकृतजनवत्पुनरप्ययं शस्त्रचालनायाविशे यतेत, उत प्रतिशामनुस्मरन् शरीरमपयेत्” इति परीक्षणे तात्पर्यम् । अथ स दिलीपस्तु शस्त्रादिकमेकत परित्यज्य स्वप्रतिशानुसार स्वदेहं सिंहस्याग्रे न्यपातयदेव । यथा कश्चित्साधारण मांसप्रासमविज्ञ एव दद्यात्, तथैवाजिनस्य सुप्रसन्नस्य दिलीपस्य देहदानमिति ।

६०.

सिंहस्याग्रेऽधोमुख शयानो राजा “एष मयि निपतित सिंह” इति सिद्धाक्रमेण निश्चायति स्म । पर सिंहस्तु न निपतित, तत्स्थाने पुष्पवृष्टस्तद्देहोपरि निपतिता । तत्रैव हिमगिरिगुहाया स्थिता सवादमिममाकर्षयन्तो विद्याधरा राज्ञो महत्त्वेन विमुग्धा पुष्पाणि ववृषुरिति ।

६१

अथ नृपति, “क्षर ! उत्तिष्ठ” इति मधुरा गिरमुखधृत्योदतिष्ठन् । उत्थितश्च धीर स्रवन्तीं स्वमातृसदृशीं नन्दिनीमपश्यत् । सिंह तु नापश्यत् ।

सम्बन्धमाभाषणपूर्वमाहुर्वृत्तं स नौ रुक्कत्योर्नान्ते ।

तद् मृतनाथानुग । नार्हसि त्व सम्बन्धिनो मे प्रणय विद्वन्तुम् ॥ ५८ ॥

सयेति गामुक्त्वते दिलीप सख्य प्रतिष्ठम्मविमुक्तबाहु ।

सन्त्यस्तशस्त्रो हरये स्वदेहमुपानयतिषण्डमित्रामिषस्य ॥ ५९ ॥

सरिमन् शये पालयितु प्रजानामुत्तम्यत सिंह निपातमुग्रम् ।

अवाहूमुत्थस्योपरि पुष्पवृष्टिं पशत विद्याधरस्तमुक्ता ॥ ६० ॥

उत्तिष्ठ वरतेत्यमृतायमान वचो निशम्योत्थितमुत्थित सन् ।

ददशं राजा जननीमिव स्वा गामग्रत प्रसन्निधी न सिंहम् ॥ ६१ ॥

६२.

अतर्कितोपतनया पुष्पवृष्टया सिंहास्यादर्शनेन च राजा विस्मय गत । नन्दिनी च तदा तमित्यमुवाच । हे परोपकारिन् दिलीप ! मयैव कपटसिंहमुखाद्य तव भक्त्यै परोक्षा कृता । दस्तुतस्तु मां वशिष्ठप्रभावेण सर्वजीवनाशको यमोऽपि पीडयितु न समर्थः । भन्देया हि कञ्जन्तूना ॥ कथैव का ।

६३.

हे दिलीप ! गुरौ भक्तिं मद्दिष्येऽनुकम्पा च निरीक्ष्य निरतिशय प्रसीदामि । अतस्त्वं मत्सकाशात् स्वाभिमतं वरं प्रार्थयस्व 'एषा धेतुं दुग्धातिरिक्तं किं दद्यात्' इति श्रव्या न शङ्किष्यन् । यतोऽहं प्रसन्ना सती यथेच्छं कामानपि पूरयितुं शक्नोमि ।

६४.

धेनूनां वरयाचनायै प्रारतोऽतिव्याम्य शौर्यशाली स दिलीपो बद्धाङ्गलिभूत्वा वशप्रवर्तकं यशस्विनं पुत्रं वरत्वेन याचितवान् । दिग्गन्तविभान्तजैत्रया कल्पद्रुमाद् याचकेभ्योऽभिलषितं वितरीतुं समर्थो अपि श्रृणुष्ययापाकरणाय देवानामग्रे याचनार्थं हस्तौ प्रसारयन्तीति कथेरानूतम् ।

६५.

नन्दिनी पुत्रामिलापणे तस्मै नरेन्द्राय 'तथास्तु' इति वरं प्रादात् । तदुपायरूपेण च एकस्मिन्पत्रपुटके ११कीयं दुग्धं दुग्ध्या पातुं तामाशपयामास ।

६६.

हे मातृकल्पे ! नन्दिनि ! यथाहं प्रज्ञाम्यो रक्षणानन्तरं न्याम्य पञ्चांशं स्वोपभोगार्थमाददे, तथैव वरयानाद् गुरोरग्निहोत्रीययोगाश्चावशिष्टं मदर्थं न्याम्य तव

॥ निरिमत् धेतुर्वाच साधो ! माया मयोन्नाभ्यं परोक्षितोऽसि ।

श्रुतिप्रभावाभयि नान्तर्कोऽपि प्रभुः प्रहर्तुं किमुतान्यहिंसा ॥ ६२ ॥

भक्त्या गुरौ मध्यनुकम्पया च प्रीताऽस्मि ते पुत्र ! वरं वृणोष्व ।

न कलानां पयसां प्रहृतेष्ववहि मां कामदुधा प्रसजाम् ॥ ६३ ॥

तत् समानीय स मानितार्थो हस्तौ स्वहस्ताब्जितवीरशब्दः ।

वशस्य वत्तीरमनन्तधीर्तिं मुदाक्षिणायां तनयं ययाचे ॥ ६४ ॥

रत्नानकानाय तथेति कामं राज्ञे प्रतिक्रुष्य पयस्विनी सा ।

दुग्ध्या पयः पत्रपुटं मदीयं पुत्रोत्पन्नमुद्धरति तमादिदेश ॥ ६५ ॥

वशस्य होमार्थं विधेयं शेषनृपैस्तु शमाधिगम्य मातः ।

औधस्यभिञ्जामि तवोपभोक्तुं पञ्चांशमुर्व्यां इव रक्षिताया ॥ ६६ ॥

पय पास्यामि, तदपि च गुरोराज्ञयैव अन्यथाऽननुज्ञातं गुरुद्रव्यं विरेपतश्च यथाय
तच्चाराप्रागुपभुञ्जानस्य मे पानित्यप्रसङ्ग इति ।

६७.

“वसस्य होमार्थविधेश्च” इति राज्ञो वचनमाकर्ण्य ऋषिष्ठधेनु पूर्वतोऽप्यधिकं
तुतोप । “यथा निरकाले, तथा सम्प्रकालेऽप्यथ धर्मं रक्षति” इति धर्मनिष्ठाया
स्तोपदेतुत्वात् । ततश्च हिमालयगुहानस्तेन साकं श्रमं विनैवाधममाजगाम ।

६८.

मुखे चन्द्रवदुज्ज्वलं लक्ष्मीं दत्तुं स दिलीपो नन्दिन्या करदानवृत्तं पूर्वं ऋषि
ष्ठाय पश्चान् सुदक्षिणायै च मूर्चिनवान् । परन्तु तस्य तत्सूचनं विष्टपेक्षेण ज्ञातम् ।
यतो ऋषिष्ठः सुदक्षिणा च दिलीपकथनात्पूर्वमेव मुखप्रसादेन तद्वृत्तमभिमनुजाम् ।

६९.

दिलीप स्वगुरोर्ऋषिष्ठस्याभ्यनुज्ञां प्राप्य करवृत्तादग्निहोत्रहोमार्थाभ्यां ऋषिष्ठं
नन्दिन्या पयोऽतितृष्णाया पयौ, यथास्य यथासि नितरां तृष्णा, तथैव श्वेततया
यद्य सदस्यो प्रसादभूते तरिमान् पयस्यपि बभूव । ऋषिष्ठः कर्म सम्पाद्य तात्कालभूतं
यथावेदं पयोऽग्नेन प्राप्तमित्यपि यद्य सादृश्यमभिमन्धेयम् ।

७०.

प्रभाते यदा सुदक्षिणादिलीपो पारणां विहितकृतौ, तदा ऋषिष्ठो मार्गं दिष्टं
परिहाराय प्रस्थानकालोचितं स्वस्तिवाचनं विधाय तौ तदीयां राजधानीं प्रति
प्रैषयति स्म ।

७१.

राजा दिलीपः क्रमशो बहिम्, ऋषिष्ठम्, तात्परानीमकन्धतीम्, स्वर्गां धेनु

इत्थं क्षितीशेन वम्बिष्ठधेनुर्विज्ञापितां प्रीततरां यभूव ।
तदन्विता हैमवताश्च कुक्षे प्रत्यायथावाश्रमन्त्रणेण ॥ ६७ ॥
तस्या प्रसन्नेऽनुमुखं प्रसादं गुरुर्नृपाणां गुरव निरयः ।
प्रदर्शयित्वानुमितं प्रियायै यद्यथ वाचा पुनरुक्तयेव ॥ ६८ ॥
स नन्दिनीमन्त्रयमन्दितात्मा सद्वत्सलो करदुताऽरेयम् ।
पयौ ऋषिष्ठेन कृत्याभ्यनुजं क्षुभ्रं यशो मूर्त्तमिनातिवृष्य ॥ ६९ ॥
प्रातर्दयार्थोक्तप्रनपारणाऽन्ते प्रास्थानिकं स्वस्त्ययमं प्रमुञ्च ।
तौ दम्पती स्वा प्रति राजधानीं प्रस्थापयामासु वशी ऋषिष्ठः ॥ ७० ॥
प्रदक्षिणीकृत्य हुतं हुताद्यमनन्तरं मर्चुरकन्धती च ।
धेनुं सवर्गां च सृष्ट्वा प्रतरये सन्मङ्गलोदप्रतरप्रभावः ॥ ७१ ॥

च प्रदक्षिण परक्रम्याभ्रमात् स्नां पुरीं प्रति प्रस्थान चक्रे । प्रतिष्ठमानस्य तस्य तेज पूजपरिक्रमगस्वस्तिवाचनादिना मङ्गलचारेणास्तुत्कृष्टमभूत् ।

७३

दिलीप - मुदक्षिणा सह रथमा ह्य जगाम । स रथ पुनप्रातिलक्षणस्वीय मनोरथसदृशोऽभूत् । यथा रथस्य ध्वनि कर्णयो सुखकर, मनोरथस्य भ्रमणमात्रमपि कर्णसुखदम्, किं न रथो विशिष्टतया मार्गं न प्रतिहन्यत इति सुखस्रोऽभवत्, मनोरथोऽपि प्रतिबन्धरहितो जात इति सुखकर । रथ समग्रीभि पूर्ण, मनोरथोऽपि पूर्ण सम्पन्न इति । यस्य मनोरथ पूर्णोभवति, न मार्गभ्रम न बाधते, हर्षणोल्लसित सोऽनायास गच्छतीति पूर्णस्य मनोरथस्यापि रथस्यैव गमनसाधन स्वमभिहितं कविना ।

७३

पुराविनशिराददर्शनेन दिलीप प्रपु नितरामुत्कृष्टता आसन्, अत एव स पुत्रप्रातिवर्धनरूप नवममुदय प्राप्य यदा स्वपुत्री प्रववश, तदा तेषादरेण तत्तद्वत् । तस्य शरीर तदा सत्तानार्थं कृतन मनेन दृश्यमासीत् । स दिलीपस्त दानीमेवमशोभत, यथा लोकहितार्थं स्ना कश्च देवशो दस्या क्षीणो नवोदितो द्वितीयाचन्द्र, ओषधीना नाथमिषुक्त्या चन्द्रस्य सोमरूपता श्वन्यते । तेनच देवपानयोग्यता । देवा कृष्णस्य चन्द्रकण पिवन्ति, तन च वृष्यादि लोकहित जायते इति पुराणोक्तिः ।

७४

दिलीपो यदा पुर प्रविशेत्, तदानीं तत्र पौराण मनेपूजार्थं रात्रियपताका उदङ्घोषत । नगरवातिनश्च तस्याभिनन्दनं चक्रुः । अयं स पूर्वं गुरोराभ्रम गच्छन् मन्त्रिणां हस्ते समर्पित राज्यभारं पुन स्वहस्तगतमकरोत् ।

श्रीनाभिरामध्वनिना रथेन स धर्मस्त्रीसहित सहिष्णु ।
यथावदुद्घातमुखेन मार्गं रथेन पूर्वेन मनोरथेन ॥ ७२ ॥
समाहितौलुबधमदर्शनेन प्रजा प्रबाध्यन्तकृशिताङ्गम् ।
नेत्रे प्लुस्तान्मनस्तुन्नर्नशदय नाथामौषधीनाम् ॥ ७३ ॥
पुरन्दरार्थं पुरमुत्पत्ताक प्रदिश पौरैरभिनयमान ।
भुजे भुजहोन्द्रसनान्धार मूय ॥ भूमेरुनाससञ्ज ॥ ७४ ॥

१ ते च सोम पपुर्देवा पयादेगानुपूर्वश — इति पुराणम् ।

७५.

विडिचिदितानन्तर दिगीरकुलत्रिद्वये मुदक्षिणा गर्भे दधार, तत्रोपमा, यथा
अग्निमहर्षेणयनयोदपन्न चन्द्ररूप तेजोवृत्त्यको घत्ते, यथा वा वह्निना क्षिप्त महा
देवस्य कार्तिकेयरूप ज्योतिर्गङ्गा दधार, तथेति । पूर्वं शार्वत्या वह्निना पुनर्मङ्गलादि-
भिर्मङ्गलत शङ्करस्यवीर्ये घृतमितिपाण्मातुरस्य कार्तिकेयस्योत्पत्तिकथा द्रष्टव्या । किं
च यतस्तद् गर्भजात एव शाल्को राजपदमारोहयति अत एव “अष्टाना लोकपा-
लाना वधुरीरयते नृप ” इति मनुवचनानुसारमिन्द्राद्या अष्टौ दिक्पाञ्चरत मर्म
स्वरवायोरनुज्ञानु ।

इति खण्डशे द्वितीय सर्ग ।



अथ नयनसमुत्थ ज्योतिरेतिव यौ मुरसिदिव तेजो वह्निनिष्ठस्यभैरवम् ।
नरयनिकुलभूत्येगर्ममाधत्त राशी शुक्भिरभिनिविष्ट लोकपालानुभावे ॥ ७५ ॥

रघुवंशे त्रयोदशः सर्गः

कथासम्बन्धः

दिलोपपुत्रस्य रघोर्महाराजस्य वंशे साक्षाद्भगवान्महारायणो रावणत्रासितानां देवानां प्रार्थनया रामरूपेणावततार । सोऽयं भगवान् पितुराज्ञया राज्यं परित्यज्य वनं गतो वनाद्वायं भगवती सीतामपहृतवत् तं रावणं सकुटुम्बं युद्धे जघान, तद्भ्रातरं च स्वशरणागतं विभीषणं शरण्यो लकाराभ्येऽभिषिषेच । अथ भाग्यया सीतया, लक्ष्मणेन, सुहृदा वानरराजन सुग्रीवेण, तदनुयायिभिरन्यैर्बानरपुङ्गवैर्विभीषणेन च साकारार्थमनुगच्छता स पुष्पकं विमानमाख्या स्वपुरीमयोध्यां प्रतस्थे इति द्वादशसर्गस्मात् । तदुत्तरं वृत्तमुच्यते ।

१

अथ भगवान् रामचन्द्रो विवति पुष्पकेन गच्छन्-समुद्रोपरि प्रातः प्रियया सीतया विभ्रमगोष्ठीविनोदमिच्छन्-तां समुद्रं प्रदर्शयन्नेवमाह ।

२.

हे सीते ! इमं जनिधिं पश्य, यं यद्यं मलयाचल्पयन्तं मया निर्मापितेन महता समुद्रा मध्यस्थितेन द्वयोर्भागयोर्बिभक्तं इव निरतिशयं फेनायमानञ्च तथा शोभते, यथा मध्ये तिष्ठता छायापथनं विभक्तं शरदि निर्मलं तारकितं नम ।

३

हे सीते ! एष लल्लवैतिहासिका आहुः, यदेकदास्मत्पूर्वजो महाराजः सगरोऽभ्रमेधेन यन्ते स्म । भगवान् कपिलो भ्राम्यन्तं यक्षियमञ्चं रसातलमनयत् । अतस्तदवधमायं यतमाना महाराजसगरमुता शमासुर्गमन्वन् । तत आरभ्यैवायं जलनिधिरियन्तं महा तमरकारं दधौ ।

४.

इतः समुद्रादेशाप आवृष्य सूर्यरश्मयोऽम्भस्य गर्भं दधति । तेनैव काले वृद्धिः

अथात्मनः शब्दगुणगुणञ्च पदं विमानेन निगाहमानः ।

रत्नाकरं वीक्ष्य मिथः स जाया रामाग्निधानो हरिरित्युवाच ॥ १ ॥

वैदेहि ! पश्यामलयाद्विभक्तं मत्समुद्रा फेनिलमम्बुराशम् ।

छायापथेनेव शरत्प्रसन्नमाकाशमाविष्टतचाक्षताम् ॥ २ ॥

गुरोरियमो कपिलेन मेघे रसातलं सङ्गमते तुरङ्गम् ।

तदर्थमुर्वामन्दारयद्भिः पूर्वं क्लिप्तं पारधितो न ॥ ३ ॥

गर्भं दधत्यम्भस्योऽस्माद्विवृद्धिमत्राश्नुक्ते वसुनि ।

अविधनं नमिषौ विभर्ति प्रह्लादनं चोत्तिष्ठत्यनेन ॥ ४ ॥

कीयते । एष एव महान्त सनराशि स्वान्तरे पोषयति । एतस्यैवोदरे विद्युदिति प्रसिद्धोऽग्निस्तिष्ठति, विद्युतो जलादेवोत्पद्यमानत्वात्, समुद्रस्य च जलराशिस्त्वत्वात् । लोकलोचनरञ्जनभ्रन्दोऽपीत एव जम्भ लेभे, समुद्रादेव चन्द्रस्योत्पत्ते पुराणे प्रसिद्धत्वात् ।

५.

अथैकोपि विष्णु मास्यकुम्भोदिनानावताररूपेण, ब्रह्म विष्णु शिव रूपेण, स कायंभूतभौतिकरूपेण, नानेकधा विवर्तमान, सर्वत्र व्यापकश्च 'इत्थं भूतोऽयम्' 'इयदस्य परिमाणम्' इति च न शक्योऽवधारयितुम्, तथैवैकोऽपि विभिन्ना कारेण विपरिणममानो दद्यमु दिक्षु व्याप्तोऽय महानम्बुराशि, परिमाणेन स्वरूपेण च सर्वथा दुष्परिच्छेद । समुद्रो हि कदानित्तरङ्गनालासकुल, कदान्निश्च प्रशान्त इवावलोक्यते, वर्णाश्रयस्य विविधा काले कालेऽनुमूयन्ते, बाष्पमेवादि रूपाञ्जावस्थामयमेव घत्ते-इतीदृक्तयावधारण न शक्यम् । दद्यमु दिक्षु व्याप्ततया चोपत्तावधारण न शक्यमिति द्वेधानवधारणे क्रमेण द्वय हेतुत्वेना-न्ति ।

६.

कल्पान्ते लोकान्तर्हृत्स्य योगनिद्रामास्थितो भगवान् विष्णुरस्मिन्नेव जल निधौ शेते । अत्र क्षायान चेम नाभिकमन्स्थितो ब्रह्मा स्तौति । यद्यपि कल्पान्ते विष्णो क्षयनमन्तरिक्षम्पे समुद्र एवोपपद्यते, मृतस्य जलस्य पूर्वमेव विनाशे तदा जलरूपसमुद्रासम्भवात्, तथाप्युभयो समुद्रयोरभेदाव्यवसायेनेद निरुक्तिमिति न विरोधः ।

७.

यथा शत्रुप्रीक्षिता राजान स्वस्त्रानिमित्त मध्यस्थ धर्मप्रधान राजान क्षरण-मुपयान्ति, तथैवेन्द्रेण स्वशत्रुणा पञ्चन्द्रेदादिभिरभिभूता पर्वता इममम्बुराशि-मात्मरक्षायै प्रपद्यन्ते ।

इन्द्रो हि पर्वतानां पक्षादिष्ठनलि, तद्भयेनोद्धीय अनान्त प्रविष्टाना तेषां पञ्चन्द्रेदमय निवर्तत इति भावः ।

तः तामवस्थां प्रतिपद्यमान स्थिते दश व्याप्य दिक्षो मरिम्ना ।

विष्णोरिवास्यानवधारणीयमदृक्या रूपमियन्तया वा ॥ ५ ॥

नाभिप्रसृष्टाम्बुदहासनेन समुत्थमान प्रथमेन धाना ।

अमु युगा-तोच्चितयोगनिद्रा सदृश्य लाकान्पुरुषोऽस्मिन् ॥ ६ ॥

पञ्चिन्दिदा गोत्रभिदास्तगन्धा शरप्यमेन शतशो महीश्वरा ।

वृषा इवोपप्लवित परेभ्यो धमात्तर मध्यममाश्रयन्ते ॥ ७ ॥

८

वराहावनारे भगवान् विष्णुर्धदेमा भुव रसातलादुज्जहार, तदानीं प्रलय हेतुना समेधितमस्य निर्मलं जलं पृथिव्या अग्रभागमावृण्वत्तया शोभमानं लक्ष्यते स्म, यथा वराहेण कृतोद्वाहयाऽनया पृथिव्या लज्जारक्षार्थं मुखावगुण्ठनं घृतं भवेत् । अन्यापि नक्षत्रिणीता लज्जया मुखमगुण्ठयति इति प्रसिद्धम् । मृहूर्तमाश्रमिय शोभासीत्, तदुत्तरं ॥ भगवता वराहेण पृथिवीयमुपरि स्थापितैव ।

९.

वेगात् द्रवन्तीनां नदीनां भुवस्पाग्नभागजलं झटिति सागरे प्रदिशति तरङ्गं चालितं च सागरजलं तामु नदीनां किञ्चिद्विप्रदिशन्ति, तत्रैव कचिद्विप्रैकते यथा इमा नद्यः स्वाधररसं पिपासवे रसपतटेऽस्मै स्वयमेव समुद्राय स्वप्नानमर्पयन्ति, अयमपि च समुद्रः स्वाधर पादुकामभ्यः स्वप्नानीम्यो नदीभ्यः स्वयमेव तरङ्गरूपमधरं निवेदयति, एकमेतेषामसाधारणं दाम्भ्यमाभाति । अन्यत्र पुष्पा एव प्रियाणामधररसं पिबन्ति, इह तु परस्परं पानमिष्यन्त्यसाधारणत्वं मज्जिनाथ आह । परस्परं स्वयं समर्पणमनन्यसाधारणमिति तु युक्तमाभाति ।

१०.

अमी तिमितामानो महामत्स्या त्वमुजानि वादाय, तेषु लुद्रमत्स्यादिसहितं जलमापूर्यं यदा द्रोष्ठुष्टं मेलयन्ति, तदानीं मुखावरोधेन तेषां भुवस्यमुदकं शिरदिउद्वैगेनोर्गामि भूतका अलग्नशोभां दर्शयति ।

११

सीते ! पश्य वमेनोच्छ्रान्तिमकरैर्द्विधा विभक्ता समुद्रफेना एतेषाम् (मकराणाम्) उभयोः कपोलयोः ससर्पन्तं श्वेतवर्णसाम्यात् कर्णचामरं द्वाभाति । मकरा महत्त्वेन गजसदृशा, गजानां च प्रशस्तानामलङ्कारार्थं कर्णयोस्वरं चामरे बभूवेति इति वराहवचनमत्रापि फले सम्यादितम् ।

रसातलादादिमवेन पुष्पा भुवः प्रयुक्तोद्वाहनक्रियाया ।

अस्यान्तममं प्रलयप्रवृद्धं मुहूर्तवक्त्राभरणं धमूच ॥ ८ ॥

मुक्षार्पणेषु प्रकृतिप्रज्ञात्मा स्वयं तरङ्गाधरदानदक्षः ।

अनन्यसामान्यकृतनृत्तिं पितृवसौ पाययते च सिन्धू ॥ ९ ॥

ससर्पन्मादाय नदीमुजाम्भं सम्प्रीत्यन्तो विवृतानन्तरात् ।

अमी शिरोभिस्तिमस्य सरन्ध्रैर्हृत् वितन्ति जलप्रवाहान् ॥ १० ॥

मातङ्गनक्षैः सहस्रोत्पलद्विभिन्नान् द्विधा पश्य समुद्रफेनान् ।

कपोलसंस्थितया य एषा वेति कर्णलणचामरत्वम् ॥ ११ ॥

१२

वायुमासेवितुं तटमुपेता इमे समुद्रस्या महान्तो भुजगा वर्णाकारश्याम्नात्
पूर्वं तरङ्गा एवेति प्रतीता अपि सूर्यकिरणसम्बन्धात् सुस्पष्ट प्रकाशमाने
पगामगिभित्तरङ्गेभ्यो भेदे विदे भुजगा इति यावन्ते ।

१३

प्रिये ! पश्यसि पुर — तरङ्गवेगात् जित एष शङ्खसमूह प्रवालेषु पश्यन्,
तेषामङ्कुरेषु प्रोतवाञ्छित तत्रैव तिष्ठति, भूयो भूयस्तु तरङ्गपरिचालि कथं
चिन्तयेत्पश्यामति । तत्रैव सभावये, विद्रुमेषु तवाधरसादृश्येन ततोऽपगमने षडस्य
शङ्खसमूहस्यापि क्लेश इति । अधरस्पर्शेषु हरयुक्त्या 'कामोर्मिवेगात् तवाधरे
क्षितस्तत्रैव च रागाच्चिरममृतमास्वादयन् स्थित प्रोत इव, वनेततया शङ्खसदृशो
मदीयो दन्तसमूहस्ततः क्लेशादिकापसरतीति' विनोदार्थं बहोवृत्त स्मर्यते ।

१४.

जलपात्राणोव मेघा समुद्र गच्छा ज्ञात एहन्तीति लोकप्रसिद्धिः, तामास्था
योऽगते सन्द्राद् जन्मादातुं प्रवृत्त एष धन, आवर्तवेगाद् भ्राम्यति । भ्राम्यतेतेन
एष समुद्र तथा प्रतीयते यथाय मन्दरेण गिरिणा पुनरपि प्रमथ्यते । देवासुरै
रेकदा मन्दरपर्वतेन समुद्र प्रमथ्य चतुर्दश रत्नानि लब्धानि इति पुराणप्रसिद्धिः ।
मेघगिर्यां सादृश्य चापि कविसप्रदाये प्रसिद्धम् । तन्मूलकं पुन प्रमथनमत्रो
पक्षितम् । देवासुरकर्तृकप्रमथनादिक यत्ताप क्षीरसमुद्रस्य, तथापि कविसप्रदाये
सर्वेषाम् समुद्राणामेक्यमेवेत्यविरोधः ।

१५.

एष समुद्रो नीलवर्णश्याम्याद्रतुल्यरूपेण दृश्यमानस्वाद्य लोहचक्रवदामाति ।
किं चास्य तन्मुपाभिता सन्ततीषा तमालवनपङ्क्तिर्नूरावृत्तरा चक्रमान्ते सत
तमालिन्यरेखावत् प्रतीयते ।

बेलानिलाय प्रसृता भुजङ्गा मरोर्मिस्फूर्णमुनिर्दिशेया ।

सूर्याशुसम्पर्कसमृद्धरागैर्व्यज्यन्त एतं मणिमि पणस्थे ॥ १२ ॥

तवाधरस्पर्शेषु विद्रुमेषु पर्यस्तमेतत्सहस्रोर्मिवेगात् ।

ऊर्ध्वाङ्कुरप्रोतमुख कथञ्चित्स्नेहादपश्यामति शङ्खयूथम् ॥ १३ ॥

प्रवृत्तमात्रेण पयाति पातुमाकर्तव्याद् भ्रमता घनेन ।

आमाति भूयिष्ठमय समुद्र प्रमथ्यमानो गिरिणैव भूय ॥ १४ ॥

दूरादयश्चक्रनिभस्य तन्वी तमालनालीवनराशिनीत्य ।

आमाति बेल लवणाम्बुराशोर्धाराभिचक्षेव कङ्कुरेखा ॥ १५ ॥

१६.

समुद्रतटे वायुनोद्धीय धानकीमुखे सनम्य केतकोपधराय विलोक्य रामं
कथयति—हे आपताधि ! वेलानिल कतकपरागैस्ते मुखमल करोति । यद्यपि
मुखालङ्कारमिदं मदीय कर्तव्यम् , परमेय वेलानिलो चेत्ति, यद्दीर्घं नियोगेनाहं
तवाधरान निरनिशय सत्तृष्ण अतरव स्वहस्तेनालङ्कारये कालक्षेप सोढुममर्थं ,
। तत एव मदीय कर्तव्यमेव स्वयं सम्पादयतीव ।

१७

यद्य विमानवेगान्महूर्तमात्रकालेनैव विस्तीर्णस्य समुद्रस्य तटं प्राप्ता स्म ,
यत्र मिनाम्य शुक्तिपटलं मौक्तिकपटलं किङ्कीर्णमस्ति, पलनप्राञ्च पूगवृक्षा भेगिण्यो
हृदयन्ते ।

१८.

हे मृगनयने ! मनाक् स्वपृष्ठदिशि दृष्टिपातं विधेहि, पूर्वं समुद्रोपरि गच्छ
द्विरस्त्रमभिर्नश्वैव परितो दृश्यते स्म, इदानीं तु समुद्रोऽस्त्रमभिर्यथा यथा दूरे
स्थप्यते, तथा समुद्रे दृष्टिं निपातयद्विरस्थ्य प्रतीयते-यद् वनरुहिता भूमि मध्ये
समुद्रमध्याद् ध्वनिस्तरति । वेगवधानमारुढेन भूमिवृक्षादिषु गतिं प्रतीयते
इति स्वामाविष्कम् ।

१९

सीते पश्य । एतद् विमानं यथाऽहमिच्छामि तथैव चलति । कदाचिद् भूमे
रायूर्ध्वं प्रवर्ति, कदाचित्ततोऽधो भवति, कदाचिच्च ततोऽप्यधो भूमे समीप
मिवागच्छति । भूमेरुपर्यन्तरिक्षे पक्षिणा मार्गं, तत ऊर्ध्वं मेघानाम्, ततोऽ-
प्युपरि देवविमानानाम् । इदं तु सर्वेष्वपि मार्गेषु यथेच्छं गच्छति ।

वेलानिल केतकरेणुमिस्ते सम्भावयत्याननमायताधि ।

ममार्धम मण्डनकालज्ञानेर्वेत्तीव शिवाधरवदतृष्णम् ॥ १६ ॥

एते यद्य सैकत्रमित्रशुक्तिपटस्तमुक्तापटलं पयोधे ।

प्राप्ता महूर्तेन विमानवगात्कूलं पलावर्जितपूगमात्म ॥ १७ ॥

कुरुष्व तावद्वरमोहं पश्चा-मार्गे मृगप्रेक्षिणि दृष्टिपातम् ।

एषा विदूरीमन्त समुद्रास्तकानना निधत्ततीव भूमे ॥ १८ ॥

ध्वनिपथा सञ्चरते सुराणां क्वचिदुपानना पतरा क्वचिच्च ।

यथाविधो मे मनसोऽभिरुष प्रवर्तते पश्य तथा विमानम् ॥ १९ ॥

२०.

त्रिपथगातरङ्गतन्मकेण शीतल, येरावतगण्डसम्भर्काच्च मदवारिवत् सुगन्धिधैव
मन्द मन्द प्रवहन् समीरस्तं मुखे—मध्नाहन्नित घर्मोदक शोधयति ।

२१

हे क्षीते ! यदा स्वया कौतुकेन ग्वाधमार्गाद् दृष्ट निस्सार्य मेघ दृष्ट,
तदानो तस्माद्विद्युन्मण्डल प्रकाशते स्म, तेन तस्मिन् द्वितीय वलयरूपमावरण
न्यस्तमिव ।

२२

अमी तपरिवन राक्षसमयादाभमस्थानानि परित्यज्य पुरा इतस्ततः प्रयाता,
इदानीं तु राक्षसविनाशाद् दण्डकारण्य भयरहित मत्वा स्वस्थानेषु पुनर्नवनवा
पर्वशाला निर्माप तेषु निवसन्ति । राक्षसविनाशादेवमेतेषां सुख जातमिति ।

२३

अपि प्रिये ! अत्र मृषां स्वामन्विष्यता मया तव चरणात्पतित नीरवनेक
नूपुर प्राप्तमासीत् । तस्य नीरवत्वे कारणं च त्वच्चरणविन्दवियोगदुःखमेव मया
सम्भावितम् । नूपुरं हि पादस्थ पादसञ्चालने शब्दायते, पादाद् भ्रष्टस्य तु
नीरवता विद्धैव, तत्र हेतुवत्प्रेक्ष्यते ।

२४

हे भीरु ! रावणो येन पथा स्वामपहर, त पन्थानं विशासमान मां दयालव
इमां लतां अवोभयन् । यद्यपि बागाशां नास्ति, तथापि यथा कश्चिन्मूकोऽपि
दृष्टचेष्टया तथा शालानां पल्लवास्तस्यां दिशि नमस्कृत्योऽवोधयन्नेव, तद्वत्गमन
दिश्येवासा पत्राणि नतान्यासन्ति । यद्वा—यस्मिन् मार्गे एव गता, तत्र लता
नियोगदुःखानुभवा आसन्, तास्तथाविधा दृष्ट्वा मे तन्मार्गशोध समबन्धि ।

असौ महेन्द्रदिपदानगन्धिलमार्गगाभीविनिमर्दशीत ।

आकाशवायुर्दिनयौवनोत्थानाचामति स्वेदलतामुखे वै ॥ २० ॥

दूरेण वानायनलम्बितेन स्पृष्टस्तस्या चण्डि कुतस्त्रिधा ।

आमुञ्चतीवावरणं द्वितीयकुट्टिनविलुहलयो घनस्ते ॥ २१ ॥

अमी जनस्थानमपेक्षविध्न मत्वा समारब्धनोटजानि ।

अध्यासत चीरभूतो यथास्व विरोजितान्याभममण्डलानि ॥ २२ ॥

सैषा स्थली यत्र विचित्रता तां भ्रष्ट मया नूपुरमेकमुर्व्याम् ।

अदृश्यत त्वच्चरणविन्दविनेषदुःखादिव वद्धमौनम् ॥ २३ ॥

स्वं स्पर्शा मीरु यतोऽपनीता त मार्गमेतां कृपया लता मे ।

अदृशयन्वक्तुमशक्नुस्तथा शालामिराजितपल्लवामि ॥ २४ ॥

२५.

इतस्ततस्तव मार्गमन्विष्यन्तं नामकलोक्य हरिष्यो दर्माङ्कुरचरणमुपेक्ष्य
दक्षिणदिशि स्वदृष्टिनिपातेन, “धीतो कश्चिदक्षिणस्या दिशि निनाय” इत्येवं
मह्य तव मार्गमन्वयन् । त्यक्तकृत्वा हरिष्योपि तद्गमनदिश्येव द्रष्टव्य
आसन्निति सारः ।

२६.

एतत्पुरो मास्यक्तः पर्वतस्य गगनकुम्भे शृंगमानाति । यत्र वर्षोरम्भे यदा
मेघैर्नव जल वृष्टम्, तदानीमेव मेघदर्शनाद्दीपित स्वद्वरहमसहमानेन मयाप्य-
श्रुजल वृष्टम् अत्रैव वर्षा प्रारब्धा इति तात्पर्यम् ।

२७.

ग्रीष्मे शुष्कप्रायेषु अलग्नसु नववर्षोरम्भे किमपि शीरमं प्रादुर्भवति,
कदम्बकुसुमानि च फुल्लन्ति, मयूराश्च नृत्यन्तः केकाः कुर्वन्ति, सर्वेन्द्रियावर्ध-
कमेतत्सर्वद्वारीयनतया त्वद्वियोगार्त्तस्य पर्वतेऽस्मिन्नभिवसतो मे अस्त्वधमूत् ।

२८.

अपि मीढ ! पूर्वमावयोः सहस्रियतो यदा घनगर्जितमुदीर्गं भवति स्म तदा
एवं एतेन मीढा सकम्प मामाश्लिष्टवती, एव पूर्वाभूतं त्वदाश्लेषं स्मारयन्ति
घनगर्जितानि दृष्टीयनतया वियोगकाले मयातिबलेनैव शोदानि ।

२९.

ग्रीष्मे शीरतेवशाः सम्ततायाः पृथिव्या वर्षासु धारासंपातसेकेन वाष्पमुद्-
गच्छतीति । स्वाभाविकी वस्तुस्थितिः । धूमाकारेण तेन वाष्पेण युक्तानि नव-
विकृतिरक्तकन्दलीकुसुमानि दृष्टुऽहं विवाहसमये होमधूनाकणयोः ॥१॥ लोचनयोः
शोभा स्मरन् विरहव्यामनम्भवम् ।

मृगयश्च दर्माङ्कुरनिर्घेषास्तवागतिर्गं सनशोषयन्माम् ।

स्वापारमयो दिशि दक्षिणस्यानुत्पन्नराशीनि विलोचनानि ॥ २५ ॥

एतद्विरेर्मास्यक्तः पुरस्तादाविर्मवम्बरलेखि शृङ्गम् ।

नव पयो यत्र घनैर्मया च त्वद्विप्रयोगाभु सभं विवृष्टम् ॥ २६ ॥

गन्धश्च धाराहतपल्लवाना कादम्भमर्षोद्भूतकेसरं च ।

स्निग्धाश्च केकाः शिबिनां वभूतुर्यस्मिन्वह्निनि निना त्वयामे ॥ २७ ॥

पूर्वाभूतं स्मरन् च यत्र कम्पोत्तरं मीढ ! तदीयमुदम् ।

गुहाविसारीष्यन्दिदाहितानि मया कथञ्चिद्विपन्नगर्भितानि ॥ २८ ॥

आसरं सत्कृतिवाप्ययोगान्नामलिणोयत्र विमिश्रकोशैः ।

निडम्बराना नवकन्दलैस्ते विवाहधूमाकणलोचनधीः ॥ २९ ॥

३०.

पुर एतत्सन्गात्तर आमाति । एतत्सङ्घे दञ्जुअनराविः घोमते । अत्र
ओडन्तस्तरला सारथा अत्रि दूरवदेतुना दृष्टियमनोपदायान्ति, एतदेतन् रम्ये
हरये दृष्टिभिराय निवद्धा तिष्ठति ।

यथा कश्चिन् पथिकोऽध्वलेदापनोदात्त एताद्यनुपगम्य कथ्थातिवृष्टि,
तथैव दूरदस्नाध्वदेयादत्र पन्नासरसि निगतिता ने दृष्टिः अन्तानोदाय तत्कथं
निवृत्तीति सम्भाव्यते ।

३१.

हे सीते ! अत्र पन्नासरसि क्रीडन्ति, प्रेम्णा परस्परमुग्धवरागमर्पयन्ति एक
वाकमिषुनान्यक्लेष्य स्वद्विरहव्यथितोऽहम् “अहो एतेषा सौभाग्यम्, यद्यहमपि
प्रियया न व्यथोक्ष्ये, तर्हिमेव सानन्दं व्यहरिष्यम्” इति खेकण्ड साध्यदुः-
मिवाचिन्तयम् ।

३२.

स्वद्विरहभ्याकुलोऽहं त्रामविष्यन् यदा स्तनसदृशभ्या कुमुदपुञ्जकाभ्या
विनतामिमाम् पन्नासरस्थितामशोक्तामपश्यम्, तदा सादृश्यात् सीता प्राप्तेते
बुद्धिर्मे जाता । सया च प्रेरित आदिङ्गितु यावदहं कामये, तावत्स्नानमो मां
“नेयं जानकी” इति सखेद् निवारयामास ।

३३.

विमानचलने विमानलम्बिनीनां क्षुद्रघण्टिकानां स्वनं श्रुत्वा सादृश्यात् स्तूप-
शब्दभ्रान्त्याकाशमुत्तनय इमा गोदावरीस्थाः वारसपङ्क्तयस्तथा शयन्ते, यथा
मन्ये तव स्वागतं कर्तुं सम्मुखमायान्ति ।

उपान्तजानीरवनोरगूढान्यात्कोकपारिप्लवसारसानि ।

दूरावलीर्णां पिवतीव खेदादमूले पन्नासल्लियानि दृष्टिः ॥ ३० ॥

अत्राविषुक्तानि रथाङ्गनाम्नामन्योन्यदत्तोत्पलकेसरानि ।

इन्द्रानि दूरान्तरवर्तिना ते मया प्रिये ! दृष्टव्यमीक्षितानि ॥ ३१ ॥

इमा तणाशोकत्वा च तन्वीं स्तनाभिरामस्तरकामिनीनाम् ।

स्वप्राप्तिबुद्ध्या परिरन्धुकामः सौमित्रिणा साभूरह निषिद्धः ॥ ३२ ॥

अमूर्विनानान्तरलम्बिनीनां श्रुत्वा स्वन काञ्चनकिङ्किणीनाम् ।

प्रमुद्वज्जन्तीव क्षमुत्तनयो गोदावरीवारसपङ्क्तयस्त्वान् ॥ ३३ ॥

३४.

यत्र वरं पुरा स्थिता, यत्र स्वपादिपरिभन स्वस्वानुसुष्ठु सेद्वारि दुमा-
लिता, तेष पञ्चम्ये शाना । निरादिना दृष्टा मे मानव मोदते । अत्रस्था
मृगान्माप्सन्तान् द्रष्टुमद्याप्सुस्तुका ।

३५.

हे प्रिये ! यदत्र गोदावरीतीरे शीतलं पवनो मृगान्माप्सन्ति मे भान्तिमन-
निनाप, किञ्चैवाप्ते स्वदृष्टे शिरो निषाय बहुधा सुखमस्त्वयम् इति सर्वं पूर्ववत्
मया पञ्चम्ये द्वा स्मरते ।

३६.

यं लब्धुं बहुविधैरनाथैः नहुषनिद्रादात् प्रज्जावपति स्म, यस्य घोदये
हरिश्चाकारादय सर्वे वनाशया रज्जा बाधन्ते, तस्यास्त्वदुनेस्त्वारारूपेण दिवि
स्थितस्यापि मृग्यामपमाभनो विद्यते ।

३७.

हे प्रिये ! माहिवाग्नेस्त्वरागस्तपस्याभनो निर्गन् विमानमग्रे सञ्चलन्
हविर्गन्धैव मुनिधनिन धूमनमाय मे मनसि सत्त्वाग्रेको बाधते ।

३८.

घातकैर्दुनेरेतत् श्रीकास्ये वृष्टनम्यत् दूरात् तया दृश्यते—यया नेषा-
न्तराले चन्द्रमा दृश्यते ।

३९.

अत्रैदमैहानाञ्छते शोका—यत् पुरा हि स शास्त्रं विदुर्गैः सह

एषा तया पेशलनम्यमापि दाम्भुवर्षितरत्नचूना ।

मानन्दस्तुन्दुवृषणारा दृष्टा निरासञ्जगी मनो मे ॥ ३४ ॥

अत्रागुणेद मृग्यानिवृत्तस्त्राङ्गनेन विनीतलेदः ।

रहस्त्रुदुन्मन्दिनानूषा स्मरानि वानैरप्येष्टु मुनः ॥ ३५ ॥

अनेदनाथैः पदान्मनेन प्रज्जायया यं नहुष वधार ।

तस्यास्त्रिगन्धैर्विदुर्गैर्नो मुने स्थान्त्रिगद्वेऽप्यम् ॥ ३६ ॥

त्रैवर्ग्यधुनामननिन्दन्तैस्त्रैवेदमाकन्दविनन्दनम् ।

मात्वा हविर्गन्धैर्विदुर्गैः सनदुते मे स्विमानमग्ना ॥ ३७ ॥

एतन्मुनेर्नैनि । घातकैः पञ्चाङ्गो नाम विदारवारि ।

मानाति पश्यन्त नन्दुन्नेषन्दसदस्त्रिनेन्दुविनम् ॥ ३८ ॥

पुरा स दमस्त्रिमात्रहृदिमन्त्रैः सार्धं विनन्देना ।

सनाधिनीतेन विज्येनीतं पञ्चाङ्गोयौवनं पश्यन् ॥ ३९ ॥

चरन् दर्भाङ्कुरैश्च प्राणयात्रां निर्वहन् महत्तपस्तेपे । तत्तपोभीतश्चे द्रोमवागुरास-
दृशोभिर्युवतिभि पञ्चभिरप्सरोमिस्त प्रलोभ्य तपोमार्गाद् भ्रष्टयति स्म ।

४०

पूर्वोक्त ॥ क्षातवर्गिर्मुनिर्नञ्ज नगते प्रागादे तपसा कल्पिते सर्वैरदृशो
निवसति । तपोमरोमि सङ्गीतेन रममाणस्य तस्य मृदङ्गप्रोषो विधति प्रसरन्
स्मद्विमानेऽपि प्राप्त, विमानस्योच्चभागस्तेन शब्दायमानो ज्ञात पर विमानवेगात्
क्षणमाश्रमेवैषा घटना समपद्यत ।

४१

असौ मुनीक्ष्णामिषस्तपस्वी चतसृषु निष्ठु प्रचलत्तश्चतुरोऽग्नीन् प्रतिष्ठाप्य,
वियद्गत चण्डरश्म सूर्ये पञ्चममग्नि मत्वा ॥ मध्ये स्थित पञ्चाग्नितपस्यामा
चरति । नाममानमस्य मुनीक्ष्ण इति कर्माणि तु पर सौम्यानि, न हि कदाप्यस्य
कोष इति ।

४२

एतत्तपोभीत सुरराज एन तपोमार्गाद् भ्रष्टयितुकाम एतत्तपिषे ॥
सुन्दरी प्रेययामास, पर तासा सत्समयकृत्यपरादायो मियेष सुन्दराङ्गदर्शना
दयश्च विलासा नास्य मनसि मनागपि िकारमु पादात्यतुमशक्नुवन् ।

४३

बाहू ऊर्ध्वौ कृत्वा तपश्चरन्नेष मुनीक्ष्णो मुनिर्मांसभाजयितु दक्षिणभुजमहमदभि
मुज सभाजनानुकूल्या मुद्रया व्यापारयति । यत्र भुज क्षपायमक्षमात्मा शोभते,
येन भुजेन दद्यापरवशो मृगान् काले कण्डूयति, वैदिककर्मनिष्ठानार्थं कुशाश्च येन
छुनाति । बाहो पवित्रकर्मनिष्ठता निरूपणेऽक्ता । यत्र च तादृशेन भुजेन
सभाजनप्रापया स्वस्य सौभाग्यं शोत्यते ।

तस्यायमर्तहितसौधभाज प्रसक्तसङ्गीतमृदङ्गप्रोष ।

वियद्गत पुष्पमचन्द्रशात्मा क्षण प्रतिक्षन्सरा कसेति ॥ ४० ॥

हनिर्मुजामिषवता चतुर्णां मध्ये लङ्गायन्तपस्तपसि ।

असौ तपस्तपपरस्तपस्वी नाम्ना मुनीक्ष्णप्रतिनेन द त ॥ ४१ ॥

यमु सदासम्प्रितेक्षणानि व्याजार्चक दक्षितमेवगानि ।

नालं विकर्तुं जनिते द्रशङ्क मुराङ्गनानिभ्रमचेष्टितानि ॥ ४२ ॥

एधोऽधमाळावत्य मृगाणां कण्डूवितार कुशसृचिगवम् ।

सभाजने मे मुञ्चमूर्ध्वबाहु सन्नेतर प्राप्यमित प्रमुह्यते ॥ ४३ ॥

४४

यतोऽय मुनीदृणो मौनव्रती, अतो मम प्रणाम शिर कम्पेनैव प्रत्यग्रहीत्,
न ॥ वाचाशिष प्रायुक्त्वा । अस्मद्विमानेन च मध्यगतेनास्य सूर्यस्तम्भा
दृष्टिर्व्यवहिताभूत्, तच्चलिते विमाने पुनरेष दृष्टिं यथापूर्वं सूर्यं सङ्गमयति ।

४५

यथा पूता समिधोऽग्नौ हूयन्ते, तथा मन्त्रपूत शरीरमपि शरमङ्गेनाहुनी
कृतमिति रामायणे प्रसिद्धा कथा, तस्य शरमङ्गस्येद तपोवनम् ।

४६

यद्यपि शरमङ्गस्याभमे इदानीं कोऽपि न निवसति, तथापि तत्पुत्रकल्पा
इमे पादपा अस्मिन्नाभमे समागतान् अनिधीन् धनच्छायया मधुरैश्च फलै
सङ्कुर्वन्ति । सदृष्टेषु अतिथिपरिचरण कदाचिदपि नोन्विद्यते-इत्यभिप्रेक्ष्य ।

४७

हे सीते ! इतः वृषभ इव शोभमान एष चित्रकूटो गिरिर्मन्दीय चक्षु स्वस्मि
न्नाकर्षति । यथा इतो वृषभ इवमुखेन बलद् गर्जति, आर्द्रे मृत्त्रिचयमपरिहर
माणश्च विषाणयो (मृङ्गयो) पङ्क धत्ते । तथैवाय चित्रकूटोऽपि मुलसदृशो
भिर्निर्झरवाग्दमुद्गावयन् गर्जति मृङ्गेषु (शिखरेषु) च कर्दमसन्धानं मेघान्
धारयति ।

४८

हे प्रिये ! चित्रकूटगिरे पादं धीर प्रवहन्ती दूरस्वेतुना कृष्ण मतीयमाना
निर्मलजलैषा मन्दाकिनी नदी मूमिकण्ठधृता मुक्तावलीव शोभते । पर्वत शिर
इव, तत्समीपमाग कण्टसदृश, तत्र मन्दाकिनी हारसदृशीति ।

वाचयमन्वात्प्रणतिं ममैव कम्पेन किञ्चित्प्रतिप्लव्य मूर्ध्नि ।

दृष्टि विमानव्यवधानमुक्त्वा पुन सहस्रार्चिषि सन्निधत्ते ॥ ४४ ॥

अद शरण्य शरमङ्गनाम्नस्तपोवनं पावनमादित्याग्ने ।

चिराय सन्तर्प्य समिद्धिरग्निं यो मन्त्रपूता तनुमप्यहौषीत् ॥ ४५ ॥

छायाविनीताप्यपारभ्रमधु मृदिष्ठसम्भाव्यगनेष्वमीषु ।

तस्यातिथीनामधुना सपर्यां स्थिता सुपुत्रेष्विव पादपेषु ॥ ४६ ॥

धारास्नोद्गारिदरीमुखोऽसौ मृङ्गाप्रलङ्गनाम्बुदवप्रपङ्क ।

बध्नाति मे च घुरगानि । चक्षुर्दत्तं कञ्जुद्यानव चित्रकूट ॥ ४७ ॥

एषा प्रसन्नस्मितप्रनाहा सरिद्धिदूरान्तरभावतन्वी ।

मन्दाकिनी नाति नगोपकण्ठे मुक्तावली कण्ठगतेव भूमे ॥ ४८ ॥

४९.

विप्रकृतमदीरनरयं स तमत्वादयो विद्यते यस्य नूरमिमा नूतनरत्नवेनाह
तदये वर्गोदरणमरचयन् ।

५०.

हे सीते । इदमविमहयैस्तरोक्नमस्ति । अत्र महोत्तरीकिंप्रभाव दद्यन्त
इव दण्डमयरदिता अपि अन्तर्बो विनय पाप्यन्ति, नहि प्रयत्न निर्वहन् दास-
यन्ति, वृथाप्य पुण्योद्गमनन्तरेणापि पण्यनि प्रमुचते ।

५१

हे सीते । एव लक्ष्मिनिहाङ्गिका अङ्गु, यदवाधने मगदती अत्रियती अनुकूपा
स्वस्यालौकिकेन माहात्म्येन श्रुतीना स्नानाय नूना गङ्गा शक्यमात्रकार ।

५२.

अत्राम्ने पिष्टये कम्पितान् वेदिकान् वीरासवेरोपनिषद् अत्रापिप्रमत्तय
मृगीना मग्ने रिषता अमी वृथा अपि समाधिरया इव लक्ष्मि । योगिनो
निष्ठाङ्गा भवन्ति, रमे वृथा अपि वातामात्रेन निष्ठाङ्गा दत्तन्ते ।

५३.

हे सीते । नाम्ना रूपेण च ग्रामो यो जटस्वरया पूर्वे वनगन्धनाने
प्रापित स एव पुरस्तिष्ठति । रत्नरत्ने पण्यैर्मुक्तोऽय वृष्ट पद्मरागन्धिनिरहिताना
मरुतमगीना अनूह इव श्यामते । (पद्मरागन्धनानि पलानि, वस्तु
मरुतमनूहसदृश) इदानीं निम्नमनोरथे (वस्तु) प्रत्यावृत्तैरम्भामिरय
वन्दनीय ।

अयं सुजातोऽनुगिर तमात्र प्रपन्नादाय सुगन्ध यस्य ।

यवाङ्गुवाङ्गुङ्गुलोत्थोमी मवाऽन्तस परिकल्पिते ॥ ४९ ॥

अनिग्रहासदिनीतम्बमपुष्पलिङ्गात्पण्यनिधिवृद्धम् ।

वन दय शाधनमेतदत्रेयान्किन्तेदमत्प्रभावम् ॥ ५० ॥

अत्रामिन्द्राय तरोधनाना म्भैर्दम्नोद्दृष्टहेमवज्रम् ।

प्रवर्द्धयामास किन्तुप्या निस्तोदय अम्बकनीयिन्तान् ॥ ५१ ॥

वीरासैन्यमनुष्यान्पुण्यमनी सन्ध्यासितवेदिमध्या ।

निवादनिष्कम्पन्याकिमान्ति योगद्विस्तृता इव शक्तिनोदरे ॥ ५२ ॥

रन्या पुरस्तादुपवाचितो य मोऽनव स्वाम इति प्रतीत ।

राधिमङ्गीनामिव गारुडानासपद्मराग पञ्चितो विनति ॥ ५३ ॥

५४, ५५, ५६, ५७

प्रयागे गङ्गायमुनाप्रवाहयोः सङ्गमे कृष्णवर्णेन यमुनाजलेन समिश्रित शुभ्र गङ्गाजलं विविधसनिवेशवशाद् विविधा लुपमां घत्ते । यत्र वेगवशादावर्तमान मण्डलाकारतामापद्य प्रवहति, तत्र कचिल्लुस्निग्धप्रम प्रतिबिम्बितसूर्यकान्ति नील नगिभिरनुविद्वाना मौक्तिकाना हारमिव प्रतीयते, कचिल्ल नीलमलानुविद्विक- सितशुक्लकमलमालाकार विभति, यत्र च परस्पर मिश्रसरला रेखामाभिव्य प्रवहति, तत्र कृष्णवर्णकादम्बरसक्तहृत्पङ्क्तिरदृश शोभते । यत्र तु गङ्गाप्रवाहस्य मध्ये यमुनाजलं प्रविष्टम्, तत्प्रान्ते गाम्भीर्यस्याल्पतया च भूमिरप्याशोक्यते तत्रैव विमानि—यथा भुवो नायिक या अङ्गेषु चन्दनेन रचना कृता भवेत्, तन्मध्ये च कृष्णागुह्या मकरिकावराणि रचनानि स्युः । अथ यत्र प्रवाहप्रान्तभागगतं मन्दप्रवाह प्रशान्तमिव प्रतिबिम्बितसूर्यकान्ति च गङ्गाजलम्, यमुनाजलं तु न प्रतिबिम्बेनाभिजलितम्, तत्र तच्छ्रुतायागतेन तमसा बिन्दुरिता प्रसृता चन्द्रि- केवाभाति, यत्र च यमुनाजलं सूर्यप्रतिबिम्बेनाभिजलितम्, गङ्गाजलं तु नाभि- जलितम्, किन्तु मनतामिवापन्न दृश्यते, तत्र तथा प्रतीयते यथा गुह्य शरम्भेया अभिव्याप्ता स्युः, तेषामनराले च स्थाने स्थानेऽन्तरिक्ष कृष्णवर्णं दृश्यते । अथ यत्र प्रशान्तप्रायस्य गङ्गाजलस्योपरि कृष्णा यमुनातरङ्गा खेळन्तस्तदावृषवत् इव, तत्र कृष्णोरगवेष्टित मरावत शङ्करस्य मस्मसित शरीरमिव तद्विभाति । एतत्सर्वं भगवान् राम सीतायै प्रदर्शयति ।

५८

तत्त्वज्ञानमेव मुक्तिहेतुरिति श्रुतिभिर्निर्णीतम्, परमत्र प्रयागे कृतस्नानानां पुष्पाणां तत्त्वज्ञान विनापि मोक्षलाभो भवति । अत्र प्रमाणं 'सितासिते सरिते यत्र सङ्गते' इत्यादि भूतो स्पष्टम् ।

कचित्प्रभालेविमिन्द्रनीलैर्मुक्तामयी यद्विरिवानुविद्धा ।

अन्यत्र माला सितपङ्कजानामिन्दोरैकस्त्वचित्तान्तरेव ॥ ५४ ॥

कचिल्लवगाना प्रियमानसाना कादम्बरसर्गांतीव पङ्क्ति ।

अन्यत्र कालागुहदत्तत्रा मक्तिर्मुर्वश्चन्दनकल्पितेव ॥ ५५ ॥

कचित्प्रभा चान्द्रमयी तमोभिष्रुतायानिलीनैः शबलीकृतेव ।

अन्यत्र गुम्फा शरदभ्रनेत्रा रन्ध्रेष्विवाल्हयनम प्रदेशा ॥ ५६ ॥

कचिल्ल कृष्णोरगमूषणेव मस्माद्गरागा तनुरीश्वरस्य ।

पश्यानवद्याङ्गि विमानि गङ्गा मिश्रप्रवाहा यमुनातरङ्गैः ॥ ५७ ॥

समुद्ररत्न्योजञ्जलिपाते पूतात्मनामत्र क्लिपामियेकात् ।

सत्त्वावबोधेन विनाऽपि मूयस्तनुष्वना नास्ति शरीरवन्ध ॥ ५८ ॥

५९.

एतद् शुद्धस्य पुरं प्राप्तम्, यथास्मान्नी राजवेशं विहाय आरण्यक्रेयो
धृतः । मुमन्त्रश्च रुदन् रथमादाय निवर्तितः ।

६०.

हे सीते ! एषा सरयू प्रवहति । शृण्वः कथयन्ति यद् यथा अव्यक्ताद्
बुद्धिरुत्पद्यते, तथैवेषा सरिद् ब्रह्मनिर्मिताद् मानसान् सरसः प्रभवति, यस्मिन्
सरसि स्नान्तीना यक्षमुन्दरीणा पयोधरा हेमाम्बुजपरागैरलङ्घिते ।

६१.

अस्यास्त्रीरेऽश्मत्पूर्वैर्मृगसोऽन्धमेषाया महाकतवोऽनुष्ठिताः, यत्प्रमाणमूता
अद्यान्देतत्तीरे निगता द्रष्टव्यमायान्ति एषा चायोध्यामनुप्रवहति ।

६२.

अहमिमी सरयुमुत्तरकोष्ठन्देववासिनो साधारणा मानरं मन्ये । या न' सर्वान्
स्वपुम्निोत्सङ्गे श्रीहयनि, स्वपयोभिश्च पोषयति ।

६३.

जननीव विना दधरवेन वियुक्तैषा सरयू प्रशासादायकृष्णं पुत्रकल्पं मा
वारिणीकरैः पवनं शिथिरयद्विन्तरङ्गपैर्हस्तेरालिङ्गितुं यतत इव । अस्याऽपि
जननी प्रोष्यागतं भ्रान्तं पुत्रं कराम्या व्यजनपवनं सृजन्ती प्रेम्णा समालिङ्गति
इति प्रकृतिसिद्धम् । पतिवियुक्तायाश्च जनन्या विशेषेण पुत्र एवाधारो भवतीति
तथैव प्रेमाद्यतयप्रकटनं शुक्तरम् ।

पुरं निपादाविपतेरिदं तद्यस्मिन्मया मौलिमयि विहाय ।

अद्यानु वदाम्बुदामुमन्त्रः वैजिषिं कामा फलिनास्तरेति ॥ ५९ ॥

पयोधरैः पुण्ड्रजनाङ्गनाना निर्विष्टहेमाम्बुजरेणु यस्याः ।

माक्षं सरः कारणमाप्तवानो बुद्धेर्निवाच्यकृद्दाहरन्ति ॥ ६० ॥

ज्वालनि या तीरनिखातयूषा वहत्यथोध्यामनु राजधानीम् ।

तुङ्गमेधावमृथान्तोर्षिर्दिशामि पुण्डरीकृतानि ॥ ६१ ॥

यां सैकनोत्सङ्गमुष्मोचितानां प्रापै पयोभि पस्वर्धितानाम् ।

सामान्यघात्रीमिव मानसं मे सम्नायत्युत्तरकोष्ठलानाम् ॥ ६२ ॥

सैय मदीया जननीव तेन मान्येन राशा सरयूवियुक्ता ।

दूरे वसन्तं शिथिरानिलेर्मां तरङ्गहस्तैरपगूढवीव ॥ ६३ ॥

६४.

अथ प्रिये पुरस्ताद् वियति प्रसरन्त घृत्निनिरमवलोक्य तर्कयाभि यदनुमता
मदागमनविषये सूचितो भरत सैन्यपुरस्सर मत्स्रागत वृत्तुमायाति ।

६५

सहैव्यमागच्छन्त भरतमुपभूय 'किमसौ भरत स्वाधिगत राज्य निष्कण्ठ
विधावमरमाभि सह योद्धुमायाभि' श्रिमद्याप्यस्माक दुर्दैव नावासतम्' इति
सम्भाविता सीताया शङ्कामननोदगितुकामो राम कथयति हे प्रिये । त्वयैतद्
विश्वसनीयम्—यत् साधुमति स भरतश्चतुर्दशवर्षवनवाकरुणा पितु प्रतिष्ठा
परिपालय प्रतिनिवृत्ताय मे न्यासरूपेण राक्षता ह्ययमनुपभुक्ता राजलक्ष्मीमवश्यं
प्रत्यर्पयिष्यति । यथा वने स्वरादीन् राजान् हत्वा प्रत्यागताय मे लक्ष्मण
स्वरजिता निष्पातो रत्ना प्ररथापितम् । अत्र शङ्खिचह्वरया सीतयैव राजलक्ष्मी
मुपमिमानस्य रामस्येद हृदय—यद् हे सीते ! मदनुपस्थितौ लक्ष्मणपार्श्ववर्तिन्यास्तव
यथा रश्मिन् शिवाश्वस्य श्मशे च साधुरस्य द्रदीपान् विश्वासस्तथैव
भरतस्य राजलक्ष्म्यामनुरागरुधापि नेति इत्या विश्वसनीयम् ।

६६.

सेना परंजाह्वना गुरु चिष्ठमप्रगामिन विधाय मन्त्रिभि सह वल्कलवसनो
हस्तेऽर्धोदक दधानोऽसौ भरत पद्म्यामेव मरुमीनमागच्छति । पदात्यादि
विशेषणै पूर्वपद्योक्त भरतस्य साधुरस्य समर्थितम् ।

६७

यत्प्राप्तपौवनोऽप्येव भरत केवल मद्भक्त्या सर्वथा स्वाधीनामपि राजलक्ष्मीं
न मुमुने, तन्मन्येऽय चतुर्दश वर्षाणि यावत् तथा राजलक्ष्म्या सह उग्रमविधा-
राचङ्कमणुल्य व्रतमनुष्ठितवान् । यथा अभिधाराया चङ्कमण दुष्करम्
तथैव युवास्थाया प्राताया सु-रथा इव भियरयागोऽपि दुष्कर इति भाव ।

विरक्तसन्धाकृषिा पुरस्तात्प्रतो रज पार्थि-मुत्तिव्रीते ।

शङ्के हनूमत्प्रयितप्रवृत्ति प्रत्युद्गतो मां भरत सहैव्य ॥ ६४ ॥

अद्या अथ पार्थिवसङ्गराय प्रत्यर्पयिष्यत्वनशो ॥ साधु ।

हत्वा निवृत्ताय मृधे स्वरादीं सरजिता रत्नामिन् लक्ष्मणो मे ॥ ६५ ॥

असौ पुरश्चत्य गुरु पदाति पश्चाद-न्यापितवाहिनीव ।

वृद्धैरमरै सह चीरवासा मानर्घ्यपाणिभरतोऽभ्युपैति ॥ ६६ ॥

पित्रा विरुग्ण मदपेभया य अथ युवाऽप्यङ्गातामभोक्ता ।

इयति वर्षाणि तथा सहोग्रमभ्यस्यतीव व्रतमाविधारम् ॥ ६७ ॥

६८.

एतावदुक्त्वा मगवन् रामचन्द्रा विस्राम । अथ तस्य मूनादन्तोहरोऽञ्जं
विहातवत्या निमानादिष्ठातृदेवतया प्रेरितं पुष्पकनाकश्चाद् मूनावकाशार । रक्षानीं
मूनादवतरत्तन्निमानं भरतेन सह तन्नायातां प्रशासना सार्धंमुदयस्यत् ।

६९.

विमाने मूर्तिष्ठे स्थाते मगवन् रामचन्द्रं तेषां कर्मकुशलैर्न सुमीवो
समर्पितं हस्तचाहाय्यमवलम्ब्य मनोहारिणा स्तुतिं कर्त्तुं चित्तेन सोमानन्देन तस्मादक-
रोहति स्म । निनीषाश्चाग्रेवते मृत्वा तस्मै मार्गनादिदेश ।

७०.

रामेण पूर्वं गुरवः कविष्ठापः प्रान्तं कृतं, तदनु मरुतदधमर्षं सुमीवा
मरुतं प्रामन्त् प्रेम्णा समारम्भ्य, इत्यन्तेन शिरस्त्राप्ततथ, तस्मिन् मरुतस्य
शिपवि प्राप्नोति राव्यान्निदेको रामस्य मकयैव प्रतिदत्तं, तस्मिन् शिपवि राम
स्याग्रगण्यं, पर्यभुटयाङ्गुल्यनेन तदनिनेकं युक्तं एवेतन्निदिग्धि ।

७१.

अथ चिराद् रामप्रवृत्तेन निमानायमानं, निवेदादकृतभैरवत्कारतया
प्रवृद्धकेशकणनं, विहृताङ्गतिर्जन्मल्लग्नराक्षस इव प्रतीयमानः, निरया वयसा च
वृद्ध मन्त्रिवर्गो मगवन्तं रामचन्द्रं प्रान्नाम । प्रगताश्च कृपाद्रया दद्या
सम्माभ्य तै सह कुशलप्रश्नपुरस्सरं मधुरं सञ्छादप ।

७२.

रामः “अयमस्माकं विन्दुवन्धुर्नानशराजः सुमीवः” “अथ च तन्मामवीट
पुल्लिश्चयेः पौधो (मर्दयेः गोत्रवैरिणि वृत्तवैरी) विनीषयः” इत्येव तदनुमानं
भरतेन सुमीवविनीषयस्यो परिचयमकारयत् । अथ मरुतो भ्रूवरमर्षे तस्मै नति

एतावदुक्त्वति दाशरथ्यौ तदीयान्निष्ठा निमानमधिदेवतया विदेत्वा ।

व्योतिष्मयादकलवारं तस्मिन्पामिर्द्वीक्षितं प्रवृत्तिमिर्भरतामुत्पन्नि ॥ ६८ ॥

तस्मात्पुरस्सरमिषादजितेन तेषां विचक्षाहरोक्षरदत्तहस्तः ।

यानादवातरदूरदमहीदन्तेन मार्गेण मन्त्रयचित्तस्यैकेन रामः ॥ ६९ ॥

इक्ष्वाकुवधगुरवे प्रयतं प्रान्तं स भ्रातरं मरुतमर्षं नमिहान्ते ।

पर्यभुटस्वकतं मूर्धनि चीरवधौ तद्वक्त्यनोदपनुराध्यमहाभिदेकः ॥ ७० ॥

दन्धुमर्द्विचनिताननविज्जिवाश्च पृथ्वाग्रोद्वज्जिगनिव मन्त्रिवृदाश्च ।

अन्वमहीदयममृतं शुभदक्षिणतैर्जन्तुयोगमधुराक्षरया च वाचा ॥ ७१ ॥

दुर्बातपन्दुरयन्धुहरीक्षरो मे पौरस्त्य एष समरेषु पुरः प्रदत्ता ।

इत्याद्यतेन वधितौ रुधुनन्दनेन व्युत्क्रम्य लम्पगमुधौ मरुतो वन्दे ॥ ७२ ॥

अथ पूर्वं विपत्सहाननादिना माननीयौ तावेव वन्दे । भस्त्रिणापस्तु “लक्ष्मणं व्युत्क्रम्य भास्त्रिणाशरोप्राणादिभिरसंभाव्य” इति लक्ष्मणस्य कनिष्ठरत्नेनाभिसंधाय-
न्यासरातशान् । वस्तुतस्तु नात्रार्थे पद्यस्वरसः प्रतीयते, अकृतप्रणामस्य कनिष्ठ-
स्याल्लिङ्गनादिना असंभावन स्वतः सिद्धमिति तत्प्रतिपादनार्थं व्युत्क्रम्य लक्ष्मणमिति
वचनमुपश्रयमेव स्यात् । लक्ष्मणस्य ज्येष्ठत्वे तु तदतिक्रमणस्य सुप्रीतिविमीक्षण-
योग्यैरवप्रदर्शनादर्थत्वाद् नापुष्टार्थता ।

७३.

इन्द्राक्षिप्रदग्ने यं दत्ता लक्ष्मणस्योरसि बाताः, कालकनेग प्ररुद्धाश्च तैस्तस्योरसि
कठोरता जाता । प्ररुद्धप्ररोडङ्गे कठोरता स्मृत सदैः प्रतीयते । तथाऽनयाऽभि-
नयया कठोरतया लक्ष्मणो मरुतद्वदप्यीडयति स्नेति सम्भासते । यथा कश्चिन्महत्तः
पराक्ते सविशेष कठोरतामभिमत्यमानः परस्य मरुत्स्याङ्ग पीडयितुं हृदमा-
क्षिप्रदेनैव मरुतः लक्ष्मणमाभिक्षितवान् तत्र स्तेशार्थं च कनिष्ठोपेक्षितम् ।
तादृशप्रगल्भेन प्रहारमनुमाय प्रेम्णा मरुतस्य हृदये क्लेश इत्यप्यभिसन्धिः ।

७४.

रामेन दानरमूयतीना सम्यपनुष्णोचिता वेश्मनूपाः क्षरिताः, विशालेषु
मत्तेषु च गजेन्द्रेषु तु आरोहिताः । तेन परंतर्मुदा हव तेऽनुमूयन्ते स्म । पर्वते
यथा वारिधाराः, तथा गजेष्वापि मदकल्धारा इति ।

७५.

रामाक्षया किमीषगोऽपि सुष्ठ्विते रथे समुत्तिष्ठः । तदनुगाश्चापि तपावि-
धेष्वन्धेषु रथेषु । यद्यपि किमीषगदीनां राक्षसानां भाषानिर्मिता उत्कृष्टा रथा
भवन्ति, तथापि कृत्स्नप्रतापना अपि रामरथास्तदपेक्षया अशुक्लं आसन् ।

७६.

प्रणामादिहम्मावेनानन्तरं मरुतलक्ष्मणस्या सह राम पुनः पुनश्च विमान-

सौमित्रिणा तदनु संक्षुब्धे स चैनमुत्थाप्य नम्रगिरिष मृधनाल्लिङ्ग ।

रुडेन्द्रविप्रहरणगच्छेन किञ्चनप्रवाह्य भुवनप्यनुर स्थनेन ॥ ७३ ॥

रामाक्षया हरिचमूयतपस्तदानीं कृत्वा ननुष्ववपुराकुरुगेंद्रान् ।

तेषु क्षरन्तु बहुधा मदवशिधाराः क्षैप्रशिरोङ्गमुत्तान्मुत्तेजिरे ते ॥ ७४ ॥

सानुष्णः प्रथुरैव क्षादानरागा भेजे रथान्दशरथप्रनवानुसिद्धः ।

नायाविह्वलरन्तिरेव ये तदीयैर्न स्वन्दनैस्तुष्टिहृविमम्लिद्योमाः ॥ ७५ ॥

मूयस्ततो रघुर्न-विह्वलताकनघास्त कानगति सावरजो विमानम् ।

दोषातर्न, दुष्पृथ्वरपतियोगदृश्यस्तारापतितस्तत्त्वविद्युदिवाम्रहृन्दम् ॥ ७६ ॥

मारुद । तत्र च तस्य बुधवृहस्पतियुक्तस्य सायतनाभ्रमध्यगतस्य चन्द्रस्येव
शोभाऽमूर्त् । अभ्रे यथा विद्युद्, विमाने तथैव पताका राजते ।

७७.

सीता विमान एवास्तुतामूर्त्, विमाने प्रातो भरतस्ता ववन्दे । इय सीता
कृच्छगता रामेणोद्धृतास्ति । तथोनमाद्रय स्वप्नम् ।

७८

सीतान्वरणाम्बो भूयोभूय प्रणमन् लङ्केश्वरोऽपि धर्मरक्षणाय तिरस्कृत इति
तदतिपवित्रम्, भरतस्य शिरसा च व्येष्ट भ्रातर धर्मानुकूल्येनानुवर्तमानेन
राज्याभिषेक परित्यज्य ज्येष्ठो भ्राता बने जटा विमर्त्तति, स्वयमाप जग विधृता
तेन तदपि पवित्रतमम् । अनयो कस्य पवित्रताया विशेष इति तारतम्यनिर्णयस्य
कर्तुमशक्यस्येन उभयो परस्पर पावनत्वमभिहितम् ।

७९.

तत प्रभृति प्रजा पुष्पकस्याग्रे (•पाख्यानतरानुसारेण तु पृष्ठतः) गन्तु
प्रवृत्ता, तत एव पुष्पकस्य वेगो मन्दीकृत, तेन च कियद्दूर गत्वा रामेणा
योभ्याया बहिरेव पटमण्डपेषु शत्रुघ्नेन सज्जितेषु स्थिति कृता ।

इति रघुवशे त्रयोदश सर्ग ।

तत्रैवरेण जगतां प्रल्यादिवोर्वा वर्षात्मकन रुचमभ्रज्जादिवन्दे ।

रामेण मैमिल्लमुता दशकण्ठकृच्छ्राद्यपर्युद्धृता धृतिमती भरतो ववन्दे ॥ ७७ ॥

लङ्केश्वरप्रणतिभङ्गदृष्टवत् तद्वन्ध युग चरणयोर्जनकात्मजाया ।

ज्येष्ठानुवृत्तिजटिर्ध्वं च शिरोऽस्य साधोरन्योन्यापावनममृदुभय समेत्य ॥ ७८ ॥

क्रोशार्थं प्रवृत्तिपुर सरेण गत्वा काकुत्स्थ स्तिमितचक्रन पुष्पकेण ।

शत्रुघ्नप्रतिविद्धितोपकार्यमार्य साकेतोपवनमुदारमध्वुवास ॥ ७९ ॥

कुमारसम्भवे प्रथमः सर्गः-

१.

देवभूम्याम् उत्तरया दिशि देवरूपं सुगिरिमेव एको महान् गिरिरस्ति । यः सर्वदा हिमाच्छादितत्वाद् हिमालयनाम्ना लोके प्रसिद्धः । किञ्च यः पूर्व-पश्चिमसमुद्रमन्तरवर्तिनी सर्वा भुवः व्याप्य तिष्ठति, सत एव भुः आयामपश्चिच्छेदाय प्रसारितो मानदण्ड इव लक्ष्यते । देवतारनेत्यनेन केवलैर्धातैरात्मैव निराकृत्य दृश्यमाणचेतनोचितविवाहादिपटनायोग्यता सूच्यते ।

२.

पुरा किल पृथुः क्षुत्क्षामदेहानां प्रजानामन्नपानाद्यभीष्टसिद्धयर्थं गोरूपधरा-मूर्त्तिं प्रजामिरात्माभीष्टमर्थं दोहयामास । तत्र तेषु तेषु केषु यथोक्त दोह्यारो वत्साश्च परिकल्पिता इति भागवती कथानेन पथेन सूचिता । तदेव दोहनप्रसङ्गे यदा पूर्वतैरेषा धरित्री दोग्धुमभिलषिता तदानीं मेढदोह्याऽभवत्, हिमालयश्च दोह्यप्रस्तुतये वत्सः पर्यंकल्प्यत, रत्नानि महौषधश्च दुह्यन्ते स्म, अनेक हिमालय-स्य वत्सरूपं महत्त्वं सूचितम् । हिमवतो वत्सवनिर्देशाद् वत्सरोतशेषस्यैवान्यैरप-योगाद् वत्सुधरासारभूतानां रत्नानां समुद्रिरत्रास्तोति सूचितम् । देवादीनाम-भीष्टदोहने रत्नवजातिभ्रेष्ठानां मेहेन्द्रादीनामेव वत्सत्वं परिकल्पितम्, अतोऽस्यापि वत्सवकथनात् पूर्वपथोक्तं रत्नजातिभ्रेष्ठत्वं समर्पित बोध्यम् ।

३.

सर्वदा हिमाच्छादितत्वेऽप्यस्य हिमाग्रस्य रमणीयतागुणो न मनागपि विनष्टः । यतोऽयमनन्तानामुत्तमरत्नानामाकरः । दृश्यते लोके यद् एको दुर्गुणो गुणराशौ दुर्लक्ष्यो भवति, वनैरपेक्ष्यते एवेति, यथा चन्द्रमस एक कलङ्कस्तत् किरणसमूहे लीयमानो न माधयापि तद् रम्यतां विहन्ति ।

अस्त्युत्तरस्यां दिशि देवतात्मा, हिमालयो नाम नगाधिराजः ।

पूर्वापरौ तोयनिधी दगाह्य, स्थिनः पृथिव्या इव मानदण्डः ॥ १ ॥

यं सर्वदौलः परिकल्प्य वत्सं, मेरौ स्थिते दोह्यरि दोहदत्ते ।

मास्तन्ति रत्नानि महौषधीश्च, पृथूयदिष्टां दुदुर्ध्वरेत्रोम् ॥ २ ॥

अनन्तरत्नप्रभवस्य यस्य, हिमं न सोभाग्यत्रिलोपि चातम् ।

एको हि दोषो गुणसन्निपाते, निमज्जतीन्दोः किरणेष्विवाह ॥ ३ ॥

४.

अस्य रिमालयस्य शिखरेषु गैरिकादिधातव प्राचुर्येण वर्तन्ते, यान् अप्सरस
आत्मान विनाशाय प्रसाधयितुमुपयुज्यते । किं च धातूना रक्तिम्ना शिखराण्यपि
रक्ततामुपेतानि, अत एव सम्भाव्यते यदेष पर्वत सदातनीं सन्ध्या धारयति ।
सन्ध्या हि रक्ता, स्वरक्तिम्ना मेघवण्डानि रञ्जयति च, अत्रापि सन्ध्यास्थानीया
गैरिकादिधातव शिखराणि च मेघस्थानीयानि । धातव शिखराणि स्वरक्तिम्ना
रञ्जयन्ति इति शिखरबलादकबोर्बिभ्यप्रतिबिम्बमाव उत्प्रेषाप्रयोजक इति प्रकाशिका
निवरणकारो वाच्यते । हिमालस्योन्मेषे शिखरेषु धृताना गैरिकादिधातूनां रागी
मेघवण्डेषु सक्ताभ्यति, स च दृष्ट्वाऽऽप्सरसामकाल एव सन्ध्याभ्रम करोति, तेन च
तातवरया रमणाय सञ्जीमकस्या मण्डनामुपाददते-इत्यभिप्राय मन्त्रिनाम
आह । उभयो सारासारौ पुष्पोमिविनेयौ ।

५

एष हिमाभ्योतितरामुच्चतरो विद्यते । मेघमण्डलमस्य प्रायः तपर्वतेश्वेव
भ्रमति, जातव्यस्य मृङ्गाण्यधितिष्ठति । अत एव अत्र निवासिनो गन्धर्वसिद्धा
दय मीमेषु घर्मबाधा परिहर्तुं मेघमण्डलाधोवर्तिषु सानुषु प्रसृता छायां सेवन्ते ।
मेघव्यवधानात्तत्र घर्मस्य सर्वथा अप्रवेशात् । यदा च वर्षाभिरुद्वेजिता भवति,
तदा मेघमण्डलोपरिवर्तीन्यातपयुक्तान्वस्य शिखराण्यधिवसन्ति । अत एव सर्वतु
रमणीयोऽयं पर्वत ।

६

अन्यत्र किराता प्रायो हतगजाना सिंहाना शोणितान्कानि पदचिह्नान्येव
दर्शं दर्शं ताननुगच्छन्ति, परमत्र हिमालयेऽनन्तरतहिमजन्तवणेन शोणितस्य
आलिततया पदचिह्नानि स्फुटं न प्रतिभासन्ते, तथापि सिंहानां धरन्त्रेषु नखेषु
गजमस्तकविदारणसमये यानि मौक्तिकानि सखुष्यन्ते, गमनसमये पदचिह्न्याह
वशात् तेषां गलनेन तान्येव दृष्ट्वा सिंहमार्गं किरातैरनुमीयते ।

यश्चाप्सरोविभ्रममण्डनाना, सम्पादयित्री शिखरेर्विमर्त्ति ।

बलाद्व-द्वेदविमकरागामकालस-ध्यामिव धातुमत्ताम् ॥ ४ ॥

आमेखल सञ्चरता धनानां, छायामघ सानुगतां निपेय ।

उद्वेजिता वृष्टिभिराभ्यन्ते, मृङ्गाणि यस्यातपवन्ति सिद्धा ॥ ५ ॥

एव तुषारसुतिधौतरक्त, यस्मिन्मृदुष्यापि हतद्विषानाम् ।

विदन्ति मार्गं नखर म्रमुच्छेदुंकाप्लै केसरिणा किराता ॥ ६ ॥

७.

अत्र हिमाद्रौ विद्याधरऋषिः स्वकामुकेभ्यः प्रेमसदेशान् प्रेषयितुं भूर्जवृक्ष-
बलकलानि पशत्वेन, गैरिकदिद्रवं च मसीत्वेनोपयुञ्जते । भूर्जबाहुल्यम्, घातु-
बाहुल्यम्, विद्याधरऋषीणां विहाराश्रयानेन हिमालये वर्णितानि ।

८.

अत्र हिमालये स्वमाधवः कीचकवेगाद्यो गुहानिःसृतेन वायुना पूर्यमाणाः
श्नन्ति । तत्र कविष्येष्टे—यथा लोके कुर्याच्चिद् नायकस्य गानारम्भात्—पूर्वम्
परस्तत्सङ्घर्षः 'गाता य य स्वरं गच्छेत् तं वरोन तानयेत्' इति सङ्गीतशास्त्र-
मनुष्यस्तानं प्रदातुं वेणुवाद्यं स्वमुत्सवायुना पूरयति, तथैवायं हिमाद्रिरपि तत्र
वसतां गायकानां क्षिप्ररागा गानारम्भात् प्रागेव दरीरूपमुत्सर्गतेन वायुना
वेणुवाद्यसदृशान् श्रमान् कीचकान् गायकस्वरताननेच्छया पूरयति इति ।

९.

अत्र हिमाद्रौ सरलाख्याः पादपाः प्रभृताः सन्ति । इस्तिनो यदा स्यगच्छद्गच्छ-
विनोदयितुमिमान् गच्छरयलेन धर्यन्ति, तदैतेभ्यः सुगन्धिं क्षीरं निर्गच्छति, यस्य
सुगन्धेनास्य हिमाद्रेः शानुप्रदेशा अपि सुवासिता भवन्ति ।

१०.

एतस्य हिमाद्रेः गुहासु निवातिनः क्षिराता रात्रौ नगरकुलप्रकाशवाचन-
दीनाद्यभावेन क्षीरगल्पनमुभवन्ति, यतोऽत्र पर्वते सन्त्येतादृशो मूयस्य ओषधयो
या रात्रौ प्रज्ज्वलन्ति, अस्य गुहासु रममाणानां क्षिरातानां ता एव दीनकार्यं
निर्वहन्ति । दीपे मूयो मूयस्तैलपूरणापेक्षा, अन्यथा विलोपयच्छा, एते तु विवक्षणा
'दीनाः' विनापि तैल विलोपयच्छादहिता एव ।

न्यस्ताञ्जरा वातुरसेन यत्र, भूर्जत्वचः कुञ्जरदिन्दुघोणाः ।

व्रजन्ति विद्याधरसुन्दरीगमनङ्गलेखक्रिययोगिन् ॥ ७ ॥

यः पूरयन्भीचकलप्रमाणान्दरीनुक्षेपेन समीरयेन ।

उद्रास्यतामिच्छति क्षिप्ररागा तानप्रदादित्वमिवोत्सङ्गम् ॥ ८ ॥

कपोलकण्ठः करिमिञ्जितु, विमदितानां सरन्दुमागाम् ।

यत्र सुन्धीरतया प्रसूतः, सान्नि गन्धः सुरमीकरोति ॥ ९ ॥

वनेवरागा वनिताकलानां, दरीपहोरुद्धनिषक्तमासः ।

भवन्ति यत्रोषधयो रषन्यामैतल्पूराः सुरतप्रदीपाः ॥ १० ॥

११

अत्र हिमालये निःसृत्योऽश्वस्य किन्नरस्त्रियो यदाऽस्य प्रदेशेषु विचरन्ति, तदा घनीभूतेन शीततमेन हिमन मुकुमारस्यान्तर्गता पादा पीड्यन्ते । शीतमा वासकमत्र पादस्तु न ता मार्गेऽर्पयन्ति, कदाचिदग्रभागेन चलन्ति, अङ्गुलीषु च मुकुमारास्तु बाधितास्तु पश्चाद्भागेन पाणिना गन्तु प्रकल्पन्ते, सोऽपि च शैत्येन बाध्यते, एव विघ्नः अपि तु ता न शीघ्र धावतु प्रभवन्ति, स्थूलस्य भोगिभारस्य पयोधरयोश्च दुर्बलत्वेन शीघ्र गन्तुमशक्तरात् । एतेन सर्वानयवधो-दर्शं तासां व्यक्तं भवति ।

१२

अत्र हिमालये गभीरास्तु गुहास्तु सर्वास्तुसम्पर्कभावाद् रात्राविव दिवाभ्यन्वकारस्तिष्ठति । तत्र कविना अन्वकारस्य गुहास्थितौ त्वयाद् भय हेतुमुपप्रेक्ष्य मीता यान्धकाराय शरणप्रदानेन हिमालयस्य शरणागतस्तद्वत् सन्माविभू, तदेव चोत्तरार्धेन समर्थिभू । ये हि उन्नतशिरसः कन्ति लक्ष्यप्रतिष्ठा (हिमालयोऽप्युन्नतशिरसाश्चादुन्नतशिरा) ते शरणागतं लुद्रमपि रक्षन्तीति । दिवा मीता — उलूका भयनन गुहास्तु रक्ष्यन्ते—इति च श्लेषमूलयोऽप्याशोष्यत ।

१३

अथ हि हिमालयो गिरिराज इति व्यवहियते । राजश्च चामरादिसद्भावोऽप्यादपक । तदत्र सततं विचरन्त्यो बहुवधमयो लङ्गूलचालनेन तदग्रभागं भूतानि चामराण्यन्दोऽन्योऽस्य गिरिराजशब्दं समर्थयन्ते । आन्दोलितानि चामराणि दृष्ट्वा । राजत्वप्रतीतिं सर्वेषां जायत इति । लङ्गूलानां भजनदण्ड-साध्यं च धोतितम् ।

१४

अस्य हिमालयस्य गुहाद्वारेषु सततं मेघमण्डलानि प्रभवन्ति, तानि च सुरतकाले भवन्तीतवस्राणां किन्नरस्त्रीणां लङ्घनानिवारणाय अवनिष्काकार्यं कुर्वन्ति ।

उद्वेगयत्यङ्गुलिपाणिभागान्, मार्गे शिलीभूतहिमोऽपि यत्र ।

न दुर्बलभोगिपयोधराणां भिन्दन्ति मृन्दा गतिमश्वमुख्य ॥ ११ ॥

दिवाकराद्रक्षन्ति यो गुहास्तु लीन दिवामीतमिवाऽन्वकारम् ।

लुद्रेऽपि भूत शरणं प्रपन्ने ममस्वप्न-चैशिरसा सतीव ॥ १२ ॥

लङ्गूलविज्ञेयविसर्पिशोभैरिस्ततश्चन्द्रमरीचिगौरे ।

यस्याऽर्थच्छं गिरिराजशब्दं कुर्वन्ति लाल्यन्तेऽथमर्थ ॥ १३ ॥

यनोऽपुकाक्षेऽदिलम्बितानां यदन्तथा किंपुरुषाऽङ्गनानाम् ।

दरीदृहद्वारविलम्बितमृदास्तिरस्त्ररिण्यो जलदा भवन्ति ॥ १४ ॥

१५.

अत्र पर्वते मृगा-वेषणेन परिश्रान्ता किराता भमापनीदनाय गङ्गातरङ्ग
सीकरशीतल देवदारुग-चसुरभि मन्द च पवनमासेव्य मुक्तिनो जायन्ते ।

१६.

अन्यत्रापि पातिभि सूर्यकिरणै कमलानि विकारयन्ते, हिमालयस्योच्च
शिखरेभ्यस्तु सूर्यभ्रमणमार्गोऽप्यधस्तादेवेति तत्र स्थितेषु सरस्तु ज्ञातानि कमलान्यु-
च्चमूलै सूर्यकिरणैर्विकास्यन्ते । सप्तर्षयश्च प्रातः सन्ध्याकाले मुकुलितान्येव
तानि सूर्योच्चदानाय प्रथम हरन्ति । उत्तरस्या दिशि उच्चैर्वाभिमानाद्,
दक्षिणस्याश्चाधस्तवमननादिमालयादक्षिणस्यामेव भ्रमत सूर्यस्याध परिवर्तनम्
कश्चित् समर्पणीयम्, अशुक्तिरूप वा तदिति ।

१७.

मङ्गलाऽस्य हिमालयस्य पर्वतस्य यज्ञे माग क्लृप्त, सर्वेषा पर्वतानामधि
राज्ये न्याय स्थापित, यतोऽय हिमालयो यशस्वानो सोमव्रतादीनामुत्पत्ति
स्थानम्, पृथि वा धारणे (भूतम्भने) च अस्यैव प्राधान्येन शक्तिरिति ।

१८.

हिमालयेन (पर्वताभिमानिना दत्तव) मेनाया विवाह कृत, यद्यपि
कामार्थमस्य धर्मरतस्य विवाहोपेक्षा, तथापि कुलश्रुतिमर्यादारक्षणाय धर्मरूपेण
विवाह इति । इय मेना पितृणा मानसी कन्या, धर्ममत्वेन च मुनिभिरन्या
दरणीया । विवाहेऽन्यथाहास्यस्यापेक्षितत्वेन मेरोस्तत्र साहाय्यसूचनाय
मेरुसल इत्युक्तम् ।

१९

सप्ततर

भागीरथीनिर्गमसीकराणां बोटा मुहु कम्पितदेवदारु ।
यद्वायुरन्विष्टमृगे किरातैरासेव्यते भिक्षुशिशुङ्गिबर्ह ॥ १५ ॥
सप्तर्षिहस्तावचिताक्षोघाण्यघो विवस्वान्परिवर्तमान ।
पद्मानि यस्याऽमसरोरुहाणि प्रबोधयत्युच्चमूलैर्मयूले ॥ १६ ॥
यशस्वानो नित्त्वमनेक्ष्य यस्य सार धरित्रीधरणक्षम च ।
प्रजापति कल्पितयज्ञमाम शैलाधिपत्य स्वयमन्वतिष्ठत् ॥ १७ ॥
स मानसी मेरुसल पितृणा कन्या कुलस्य स्थितये स्थितिश्च ।
मेना मुनीनामपि माननीयामात्माऽनूरुपां विधिनोपयेमे ॥ १८ ॥
क्लात्क्रमेणाऽय तयो प्रवृत्ते स्वरूपयोग्ये सुरतप्रसङ्गे ।
मनोरम यौवनमुद्रहन्त्या गर्भोऽमक्द् मूषरराजपत्न्या ॥ १९ ॥

२०.

हिमालयस्य मेनाया प्रथमः पुत्रो मैनाको नाम पर्वतः (तत्पर्वताभिमानो देवः) जने । तस्य चाग्रे यत्प्रथितं महत्त्वम्, तद्भगविवृत्त्यास्मिन् पक्षे निर्दिष्टम्, यद्-यदा पर्वतानां पञ्चद्वेदनायेद्भगवन् क्रोधेन प्रवृत्तः, तदाय, मैनाको भिषातृत्वात्तन्मद्रेण सपक्ष एव गोपायितः । नास्य भज्जनितवेदनाया कदाप्यनुभवोऽभूत् । समुद्रे निमग्नश्चायं पातालस्या नागकन्या रमयामासेति । यद्यपि काव्येऽस्मिन् मैनाकवर्णनस्य न कोऽप्युपयोगः, तथापि भ्रातृमरणा कन्याया विवाहे माघस्त्यद् वर्ण्यमानाया गौरी भ्रातृमतीत्वं स्फुरीकृतुं मैनाककन्योपन्यास इति वाक्यार्थः । उक्तं हि मनुना “यस्यास्तु न भवेद् भ्राता न शिष्येति वा पिता । नोपयच्छेत् तां प्राञ्चः पुत्रिकापर्मशङ्कया” इति ।

२१

कुमारमातुः पार्वत्या प्रसङ्ग इत उपस्थापनीय इति तत्पञ्चमोपन्यासाय तत्पूर्वजन्मकथा स्मार्यते । पूर्वं हि दक्षस्य प्रजापतेः पुत्री सती भगवन् शङ्करस्य भार्याऽभूत् । दक्षेण च केनचिद्वेतुना शिवं प्रति कुपितेन स्वीये पक्षे भगवान् शिवो न निमग्नित इति तेन पाशुरवमानेन कुपिता देवी सती पितरि प्रतीकारमनुचितं मत्वा योगेन स्वशरीरं तस्याम् । सैव शङ्करेण निरयसम्बन्धः क्रियोग्मसहमाना तादृशातिप्रकृष्टतत्त्विका मेनाया पुनर्जन्मग्रहणादेऽन्तमकरोत् । दक्षुतः परा शक्तिः सा नित्यैव, देवानां कार्यविद्वयर्थं समये समये स्वात्मयोगेन तस्या भाविर्भाव इति । एतच्च ‘प्रपेदे’ इति जन्मग्रहणे स्वात्मन्यभिदधता सूचितं दृश्यम् ।

२२.

सा पूर्वोक्ता शिवपूर्वपत्नी सती हिमालयेन मेनायां जनिता । जन्ममत्र प्रादुर्भाव एव, निरयशक्तेरस्या मुखपञ्चमनोऽसम्भवात् । तत्रोपमा-यथा उक्ताह-गुणेन नीतो सम्पदुराद्यते-तथैवेति । सप्तसिद्धौ यथा नीतेरुत्साहस्य च कृतार्थता ज्ञायते, तथैवास्या भगवत्या प्रादुर्भावेन मेनाहिमालयो कृतार्थता गताविति व्यप्यते ।

भक्त सा नागवधूपमोऽस्य मैनाकममोनिधिवद्वसत्यम् ।

क्रुद्धेऽपि पञ्चविंशति वृषदाभाववेदनाच्च कुलिशसतानाम् ॥ २० ॥

अथाऽवमानेन पितुः प्रयुक्ता दक्षस्य कन्या मन्पूर्वपत्नी ।

सती सती योगदिसुषुप्तेहा तां जन्मने शैलवधू प्रपेदे ॥ २१ ॥

सा भूधराणामधिपेन तस्या समाधिमत्स्यामुदपादि मत्स्या ।

सम्पन्नयोगादपरिहतायां नीताविबोत्साहगुणेन सम्पत् ॥ २२ ॥

२३.

पार्वत्या प्रादुर्भावदिवसे दिश प्रसन्ना बभूवुः, (तेन घरीरिणाम् नेत्रमुख)
पांशुरक्षितो मन्दशीतल पयनो बभौ, (तेन त्वक्मुख), जनमन शङ्खध्वनिं
हिमालयगृहे भूत्वा देवी देवै पुष्पवृष्टिं कृता, यदा देवैरेव शङ्ख विनय पुष्पवृष्टिं
कृता, (तेन भोज प्राणयो सुखम्) सर्वे च स्यावरज्जमा प्राणधारिण
सर्वेन्द्रियैर्निर्वृता सुखमाप्नु । सर्वेभ्यो प्रादुर्भावे सर्वमिदमुपपन्नमेवेति ।

२४

प्रादुर्भूतायास्तस्या भगवत्या स्फुरन्ती प्रभा विलक्षणैवासीत्, तेन प्रभाणाक्रेन
जनन्या अपि शोभाऽमकत् । तत्रोपमा विदूराख्य एक पर्वत, पञ्च वैदूर्याख्या
मणयो जायन्ते, वर्षारम्भे प्रथमेन मेघध्वनिना तत्र रत्नाङ्कुरा शलाकाकारा
प्रादुर्गन्ति । तामी रत्नशलाकामिर्यया गिरिप्रान्तभूमे शोभा भवति, तथैव
कन्ययानया मात्र शोभामूदिति ।

२५.

प्रादुर्भूता भगवती प्रत्यह वक्ष्ये । यथा चन्द्रकला प्रत्यह वर्धमाना
व्योस्नामयी कला प्रादुर्भावयति, तथेयमपि प्रत्यह लावण्यमयान्यङ्गानि
प्रादुर्भकार ।

२६

सा पर्वताज्जाता, पर्वते जाता इति वा हेतोर्वन्धवास्तस्या देव्या पार्वतीत्य-
न्वयं नाम चक् । अग्रे च यदा सा तप कर्तुं प्रवृत्ता, जनन्या च तप क्लेशमनु-
माय विनया 'उ मा' इत्येव निषिद्धा, तत प्रभृति "उमा" इत्यपि तस्या नाम
जातम् । इदमाख्यानमग्रे स्फुटं स्यात् ।

२७

यद्यपि पूर्वं पुत्रादिवन्तौ सत्यां पुनरुपपन्नायां कन्यायां न विशेषेण

प्रसन्नदिव्यामुविविक्तवात शङ्खस्वनाऽनन्तरपुष्पवृष्टि ।

घरीरिणां स्यावरज्जमानां सुखाय तज्जन्मदिनं बभूव ॥ २३ ॥

तथा दुहित्रा सुतरा सवित्री स्फुरत्प्रभामण्डलया चकासे ।

विदूरभूमिर्नवमेघशब्दादुद्भिजया रत्नशलाकयेव ॥ २४ ॥

दिने दिने सा परिवर्धमाना लब्धोदया चान्द्रमसीव लेखा ।

पुष्पोष लावण्यमयान्विशेषाञ्जशोभान्तराणीव कल्पान्तराणि ॥ २५ ॥

तौ पार्वतीर्यामिजनेन नाम्ना बन्धुप्रिया बन्धुजनो जुहाव ।

उ मेति मात्रा तपसो निषिद्धा पञ्चाट्माख्यां सुमुखी जगाम ॥ २६ ॥

महीभूत पुत्रवतोऽपि दृष्टिस्तस्मिन्नपश्ये न जगाम तस्मिन् ।

अनन्तपुष्पस्य मधोर्हि चूते द्विरेफमात्मा सविशेषसङ्गा ॥ २७ ॥

लोकानामनुरागो दृश्यते, तथापि हिमालयस्य पार्वत्यानधिकोऽनुराग आसीत् । स
तो पश्यन्न तृप्तिमन्मत, तत्र च तस्या एव भगवत्या अनन्यदुर्लभा गुणाः कारणम्,
यथा गुणतिशयादिव सत्त्वं च वसन्तजन्येषु बहुषु पुष्पेषु सहकारमल्लरीश्वेव भ्रमरा
नितान्तमुत्कृष्टिता भवन्तीति ।

२८

उत्पन्नया भगवत्या पार्वत्या हिमालयः पूतभालकृतश्च वभूव । तत्रोपमानानि
त्रिणि स्पृशति । सर्वत्र विभूषितश्च शोभाधिक्यप्राप्तिरेव । पूतश्च द्व द्वीपे तमःसंसर्ग-
रक्षिता, हर्षमागं पुण्याधिक्यसम्पन्न, मनोषिणि शुद्धशब्दप्रयोगास्तुष्टप्राप्ति,
हिमालये च भगवत्याः प्रकाशान्निशुदान्त-करणतया मुक्तियोगश्च ।

२९.

सर्वलोकप्रकृतिभूताया भगवत्या यद्यपि न बाल्यं वास्तवम्, केवलदेवकार्यायै
शरीरमहणात्, तथापि सा साधारणरान्तत्तया विनीत, यथा श्रीकृत्यमेव तद्बाल्यं
सम्भाव्यते स्म ।

३०.

यथावसरमभ्ययनाय निमुक्ता पार्वती भास्वाभ्यां प्रयासेन दिनेह सर्वा
भवि विद्या एहीतवती । तत्र हेतु पूर्वजन्मदृढाभ्यासविद्या सर्वा विद्याः स्वत
एवास्या बुद्धौ प्रकाशमाप्नु, उपदेशस्तु निमित्तमात्रमिति । तत्रोत्पादयम्—यथा
शरद्वत् निमित्तोद्भव गङ्गायां हसमाला स्वत एवायान्ति, यथा वा रात्रि निमित्तो-
द्भव ओषधीनां स्वत एव भास प्रस्फुरन्ति इति सर्वविद्यास्वरूपाया भगवत्या
विद्यामहये क प्रयास इति हृदयम् । अभ्यापनस्तु लोकमर्पादामात्रम् ।

३१.

क्रमेण पार्वत्या यौवनं प्राप्तम् । तत्र यौवन त्रिधा विरेषितं कविना-
एतदि यौवनं शरीरस्यालङ्काररूपम् (तेन शरीरे शोभाविशेषः, द्रष्टृणामानन्दश्च
भवति), परमलङ्कारान्तराणि यथा दाहौ सुवर्णसरनादिभिः सम्पाद्यन्ते, तथा नेदम्,

प्रभामहत्या शिखयेव दीपकिमार्गयेव त्रिदिवस्य मार्ग ।

सत्कारन्त्येव गिरा मनोधी, तया स पूतश्च विभूषितश्च ॥ २८ ॥

मन्दाकिनीसैकतवेदिकाभिः सा कटुकैः कृत्रिमपुत्ररैश्च ।

रेने मुहूर्तमभ्यगता सखीनां शोभातवं निर्बिम्बतीव बह्वे ॥ २९ ॥

तो हसमाला शरदोव गङ्गा मधौषधि नक्तमिवारममास ।

शिरोपदेशामुपदेशकाले प्रपेदिरे प्राञ्जनजन्मविद्याः ॥ ३० ॥

असम्पन्न मण्डनमङ्गदप्टेरनासवाख्य करणं मदस्य ।

कामस्य पुष्पव्यतिरिक्तमत्र बह्व्यात्सरं साऽय वयः प्रदेदे ॥ ३१ ॥

अपि तु स्वाभाविकम् । किं चेदं यौवनं नेत्रविलासाद्यभिप्रेक्ष्यते मदस्य जननम्
(द्रष्टुं वा संमोदहेतुभूतमदजननम्) परं मदजनकद्रव्यं यथासद्वदनेन
व्यवर्ह्यते, तथा नेदम् । किं चेदं कामस्यास्त्वं परं न पुष्परूपम् इति (अनेनैव
साधनेन कामो लोकान् जयति, यद्य यौवनं प्रादुर्भूतम्, तमेव वा जयति इति) ।

३२.

यौवनेन शरीराक्यवेषु समुचितसंनिवेश-लावण्यादिजननात्तस्याः शरीरं सर्वतः
शोभमानमासीत् । यथा तूलिन्या कृतरञ्जनं चित्रं शोभते, यथा वा सूर्याशुविका-
सितं पद्मं शोभते, तथैवेति ।

३३.

मूल्यां चरगनिक्षेपकाले समुन्नतस्याङ्गुष्ठस्याङ्गनलप्रभयैवं संभाव्यतेरम-
यङ्गकशम्भरगौ परिभ्रमादन्त इव रागमुद्रमतः । तेन च रागेन स्थलकमलशोभा
तत्र प्रतीयते ।

३४.

पार्वत्या गतिर्हंसवदसी दृष्टा, मञ्जीरशिञ्जितानि च हंसवतेभ्योभ्युत्कृष्टानि
समन्वययन्त । तत्रैवं कश्चित्प्रसङ्गे हंसैः पार्वत्यै गतिशिक्षा दत्ता, विद्यादानं च
शुभ्रादेतुक्त्वा, धनहेतुक्त्वा, त्रिनिष्ठित्वा किञ्चित्प्रसङ्गरूपं वा भवतीति
प्राप्तुपकाररूपेण स्नेहममञ्जीरशिञ्जितानुकरणं तैः शिक्षितमिति ।

३५.

लावण्येनोपादानेन भगवत्या अङ्गानि निर्मातुं विधाता प्रवृत्तः, तच्च
सर्वमपि लावण्यं (यावत्तत्प्रतिषेधो आसीत्) कृत्वा निर्माण एव तेन व्ययीकृतम् ।
ततश्च शेषाणामुत्तरितनानामङ्गानां निर्माणाय लावण्यमपि विधाता पुनस्तथाप्यमासी-
दिति तदर्थमपि तस्य प्रवृत्तो यतो ज्ञात एव भवेदिति सम्भाव्यते ।

उन्मीलितं तूत्कयेव चित्रं सूर्याशुभिर्निजमिवाऽऽरविन्दम् ।

वभूव तस्याभ्युत्तरस्योमि द्युर्भिक्तं नवयौवनेन ॥ ३२ ॥

अभ्युत्तराङ्गुठनवश्रमाभिर्निक्षेपाद्रागमिशोद्धिस्तौ ।

आवृहत्स्तम्भाणौ पृथिव्या स्थलरविन्दभ्रियमव्यवस्थाम् ॥ ३३ ॥

सा राजहंसैरिव सघनाङ्गी गतेषु लीलाञ्जितविक्रमेषु ।

व्यनीयत प्रत्युददेशलुब्धैरादितुभिर्नृपशिञ्जितानि ॥ ३४ ॥

इत्थानुपूर्वं च न चाऽतिदीर्घे लङ्गे सुमे सुष्वनस्तस्नदीये ।

शेषाङ्गनिर्माणविधौ विधातुर्लावण्य उत्राय हवास यतः ॥ ३५ ॥

३६.

स्त्रीणामूत इस्तिगुण्डादण्डै कदलीमिवो कविमिच्छामीयेते, पार्श्वेया ऊर्वोस्तु
सादृश्यं सामान्येन तेषु नास्ति । नागेन्द्राणां गुण्डादण्डाः, नन्दनादिस्थिताः
काश्चित्कदल्यश्च यद्यपि विशालेनाकारेण समा उपलभ्येरन्, परं गुण्डादण्डानां
कफंशवाद्, ऊर्वोस्तु कोमलत्वात्, कदलीना सदा शैत्येन शीतकाले उद्वेगवत्त्वात्,
ऊर्वोस्तु ग्रीष्मे शैत्येन शीतकाले चोष्णत्वेन सर्वत्रमुखाकरवाद्युपमानता न युज्यत
एव ।

३७.

यो भगवतः शिवस्योत्सङ्गोऽन्याभिः स्त्रीभिर्मनसापि कामयितुमद्यक्ष्य,
अत्यन्तदुरवापतया तत्रैक्याया अभ्यनुदयात् तत्रैव पार्श्वेया नितम्बः स्वयं भगवता
शिवेनैवारोपितः—इत्यतोऽधिकं नितम्बस्य सौन्दर्यं गुणहरत्वं गौरव वा किमु
वर्णनीयम् । अत्यन्त जगतो विलक्षणमिति सर्वथा तेनैवानुमितिः सिद्धयतीति ।

३८.

यौवनारम्भे नाभिरुग्रपर्यन्तं प्रसूना पार्श्वेया रोमराशिः श्लक्ष्णकृष्णवर्णतया
घोमटे रम, यथा मेलनमप्यगस्य नीलमण्ये. प्रभा नीवीमतिक्रम्य प्रसूना मनेदिति
सम्भाव्यते रम । उभयोर्वर्णसाम्यप्रत्येक्षादेतु ।

३९.

पार्श्वेया मध्ये बलित्रयं हृष्टा तथा संभाव्यते, यथा पार्श्वेतीतनो प्राप्तं यौवर्न
स्वप्नोः कामस्यागमनाय सर्वं सञ्जीकुर्वत् तस्य हृदयपर्यन्तमारोहणाय सोपान-
परम्परा न्यस्यतीति । पाटान्तरं तु पूर्वमेव तनो प्रविष्टः काम स्वप्रहृष्टो यौवन-
स्यागमनं प्रतीक्षमाण, तस्य नवत्वाद् (बालत्वाद्) आरब्ध स्तनप्रदेष्टादावगमने
क्लेशं विचार्य सोपानपरम्परां न्यस्तवानित्यनुसन्धेयम् । अत्र च कामनिर्मितत्वेन
बलित्रयस्य सौन्दर्यातिशयो व्यज्यते—इति प्रकाशिका ।

नागेन्द्रहस्तासत्रचिक्रवंशत्वादेवान्तशैत्यात्कदलीविशेषा ।

लम्बाऽपि लोके परिणादि रूपं जातास्तदूर्वोपमानवद्वा. ॥ ३६ ॥

पतावता नन्दनुमेयशोमि काञ्चीगुणस्थानमनिन्दिताया ।

भारोपितं यद्गिरिशेन पञ्चादनन्यनारीकमनीयमद्भुतम् ॥ ३७ ॥

तास्याः प्रविष्टा नतनाभिरुग्रं रराच तन्वी नवलोमराशिः ।

नीवीममतिक्रम्य शितेतरस्य तन्मेलनमप्यमण्येतिवाऽर्चि. ॥ ३८ ॥

मध्येन सा वेदिविन्ममभ्या बलित्रयं चारु वमार बाला ।

भारोहणार्थं नवयौवनेन कामस्य सोपानमिव प्रयुक्तम् ॥ ३९ ॥

४०.

स्तनद्वयं परस्परमप्यधकाशमददद् बाधमानं तथा वृद्धिं गतम्—यथा तदन्तरे मृगालसूत्रमपि नानकाशमासादयेत्, “पाण्डु” “श्याममुखम्” इति विशेषणद्वयं यौवनावस्थाव्यञ्जकमिति व्याख्यातारः । श्याममुखेति विशेषणेनावकाशदानाभावोऽपि समर्प्यते, नहि कृष्णमुखः (कुटिलः) कस्याप्यवकाशं कथमपि ददातीति ।

४१.

पुष्पाणि कामदेवस्याग्राणि, तानि च प्रयुक्तानोऽपि कामं शिवेन पराजितः, उमायास्तु बाहू भस्त्राजेन प्रयुज्य कामेन सफलता लब्धा, यत्ते बाहू तेन पाशरूपेण शिवकण्ठे समर्प्य शिवस्य बन्धनं कृतम् । तेन पुष्पेभ्यः प्रशस्तता बाह्वोः विष्यति, प्रशस्तता च कामास्त्राणां सौकुमार्यादेवेति सर्वपुष्पसुकुमारात् शिरीषपुष्पादप्यधिकं सौकुमार्यं बाह्वोः सिद्धमिति व्याख्यातारः । कामस्यास्त्रभूतानि सुकुमाराणि पुष्पाणि शिवेन न सोढानि, (पराजितत्वात्कामस्य सिद्धमेतत्) उमाया बाहू तु पाशभूतावपि तेन कण्ठे सोढी, तदेतत् सौकुमार्याधिक्ये लिङ्गमित्यपि युक्तं भाति ।

४२.

अन्यत्र मुक्तामूषण कण्ठालङ्कारं भवति, कण्ठशोभाजनकरत्वाद् इति सुप्रसिद्धम् । पार्वत्याः कण्ठस्य तु शोभा मुक्ताकलापेन जनितेत्येव न, अपि कण्ठेनापि मुक्ताकलारस्य शोभा जनिता । मुक्ताकलापोऽपि तत्र कण्ठे नितरां शुद्धमे, रत्नादिहोमावभ्यलङ्कार्यो, उमावपि चालङ्कारी उमयोः शोभाजनकरत्वे हेतुस्तनवन्धुरत्वं निस्तलत्वं चेति ।

४३.

रात्रौ विकृतिरस्य कमलस्य, दिवा कान्तिमतश्चन्द्रस्य चामावो भवति । तेन सौन्दर्याभिमानिनी भीर्देवता यदा चन्द्रमाश्रयते, तदा कमलगुणाः सौरमणौकुमार्यादयस्तथा नानुभूयन्ते—इति भ्यूनतैत्र, यदा च पद्माश्रयते तदा मृतनिष्यन्दिनी चन्द्रकान्तिस्तथा नानुभूयते । तत एवोभयनापि पूर्णप्रीतेरभासरहस्यया लोलात्वं

अन्योन्यमुरगौदयदुस्त्रलास्याः स्तनद्वयं पाण्डुतथा प्रवृद्धम् ।

मये यथा श्याममुखस्य तस्य मृगालसूत्रान्तरमप्यलम्बम् ॥ ४० ॥

शिरीषपुष्पाऽधिकसौकुमार्यो बाहू तदीयानिति मे वितर्कः ।

पराजितेनोऽपि कृतो हरस्य यो कण्ठपाशो मकरभ्रजेन ॥ ४१ ॥

कण्ठस्य तस्याः स्तनवन्धुरस्य मुक्ताकलापस्य च निस्तलस्य ।

अन्योन्यशोभाजननाद् यमूत्र साधारणो भूयगमूष्यभावः ॥ ४२ ॥

चन्द्रे गता पद्मगुणाश्च मुङ्क्ते पद्माभिता चान्द्रमणौमभिरुयाम् ।

उमासुखं तु प्रतिपद्य लोला द्विसंभया प्रीतिमवाप लक्ष्मीः ॥ ४३ ॥

जातम् । कदाचित्तत्र गच्छति, कदाचित्तत्र गच्छतीति । यदा तु देव्या पार्वत्या
योर्वनं प्रादुर्भूतम्, तदा तन्मुखे चन्द्रकान्ते पद्मश्रीरभशौकुमार्यादीनां चैक
त्रैव सद्भावात्-मुखाभिता लक्ष्मी पूर्णा प्रीतिमवाप । तेन च लोलतां परिष्वज्य
तत्रैव सुरिपरतरामवदिति व्यङ्ग्यम् ।

४४.

कथं भोष्ट रक्तपद्मवेन विद्रुमेण वा, स्मितं च कुसुमेन मौक्तिकेन बोधयिष्यते ।
परं यथोपमेययोरोष्ठस्मितयो परस्परसम्बन्धात्सुषमा, न यथोपमानयोः फलभ्यते ।
न हि प्रकृष्या कुसुमरक्तपल्लवयोराधाराधेयभावः कलूतः, नापि मौक्तिकद्रुमयोः ।
(कुविमल्लं ध्वज्यो न स्वाभाविकी सुषमा लब्धुं प्रभवति) यदि प्रकृतिस्तथा
विरचयेत्, तदास्य सादृश्यं स्यात्, इदानीन्तु दुर्लभं भवति पार्वत्या भोष्टे
रूपमानस्य स्मितस्य सादृश्यमिति ।

४५.

यदा पार्वती वक्षुमुपक्रमते तदा भोतुणां कर्णयोरमृतमिव निविध्यते,
दुःप्रसिद्धमधुरशब्दा कोकिण्यि च तदा सर्वे भोतुभिः कर्णकटोरशब्दा प्रतीयते,
यथा विश्वरं वाद्यमानां वीणा कर्णकटु प्रतीयते, तथेति । वक्षुमुपक्रान्तायामेष
यदेव दद्या मयति, तदा निष्पन्नायां वाचि तु किं भवदिति “प्रजहिरता”
एकं प्रशब्दो व्यञ्जने चमत्कारी । भोतुपात्रमपि कोकिण्यं विरसा तदमे मन्यते—
किं पुनर्विशेषशः भोतार इति भोतुपदं व्यनक्ति ।

४६.

मृगीणां प्रेक्षणे पार्वत्या प्रेक्षणे च नलज्जनीलोत्पलावस्यासदृशो वक्षस्ते—तथा
सादृश्यं प्रतीयते, यथैतदेकत्रान्यत आगतमिति स्फुटो निश्चयः, परं कया
कस्या गृहीतमिति न निश्चेतुं शक्यते । अधिकशो हि शिष्यकः, अल्पशश्च शिष्यतो
मन्यते, इह तु मयत्रारि निर्विशेष सादृश्यमिति शिष्यकः शिष्यतो वा न निश्चेतुं
शक्यः । मृगाङ्गनामिरिति मृगाङ्गनाम्प इति च बहुवचननिर्देशेन मृगाङ्गनानां सर्वाण्यं
संभूय पार्वती शिष्यशब्दं सम्मन्यते, पार्वत्यास्त्येकस्या एव सकलमृगाङ्गनाशिष्यशब्दं
समाभ्यत इति कोऽप्यतिशयः पार्वतीप्रेक्षणस्य व्यञ्जितः ।

पुष्पं प्रजालोपहितं यदि स्यान्मुक्ताफलं वा स्फुरद्विद्रुमस्थम् ।

ततोऽनुकुर्याद्विशदस्य तस्यास्ताम्रौष्ठपयस्तस्मिन् स्मितस्य ॥ ४४ ॥

स्वरेण तस्याममृतसनेन प्रकलिततायामभिजातवाचि ।

अप्यन्यपुष्टां प्रतिवृत्तशब्दा भोतुर्वितन्त्रीरिव ताव्यमाना ॥ ४५ ॥

प्रजात - नीलोत्पलं निर्विशेषं मधीरविप्रेक्षितमायतादृशं ।

तथा गृहीतं तु मृगाङ्गनाम्पस्ततो गृहीतं तु मृगाङ्गनाभिः ॥ ४६ ॥

४७.

पार्वत्या भ्रूवोस्तया संनिवेशः, यथा तयोरञ्जनशलाक्या निर्माणं संभाव्यते ।
(शलाकानिर्मितं हि यथेच्छसंनिवेशकरणादधिकं सौन्दर्यं भवतीति तथोपेक्ष्यते) ।
एतयोर्भ्रूवोभ्यामे कामधनुरपि वृन्तम् । कामधनुषि हि परप्रेरणया व्यापारः,
भ्रूस्तु स्वयं लीलाचतुरेति महदेतयोरन्तरम् ।

४८.

चमरीबालेभ्योऽधिकं पार्वतीवेशपाशस्य सौन्दर्यमित्ययमर्थः प्रकारान्तरेण
कार्यसमावनामुत्तेनोपन्यस्तः । चमरीं हि बालेभ्यस्तन्त्रं, रिद्धन्तीति प्रसिद्धः,
तत्रकविराहस्नेहोऽयं सर्वाधिकगुणो वस्तुनि विरेषतयोदेति, ततोऽप्यधिकगुणं च,
वस्तु यदि लभ्येत, तदा स्नेहे सौन्दर्यं जायते, तथा स्नेहकशुभ्रमनसि लज्जा च
जायते । चमरीया ज्ञायमेवामिमानो यदरमाकं बालाः सर्वाधिकसौन्दर्यशालिनः,
तत एव तासां तत्र विरेपेण स्नेहः पर पार्वतीवेशपाशः ततोऽप्यधिकमुन्दरं
द्रष्टुं चमरीभिः स स्नेहः कुतो न शिथिलीकृत इति प्रश्ने इदमेव प्रतिभाति,
यत् तिर्यक्त्वात् तासां मनसि लज्जा नास्ति, यदि लज्जा स्यात्, तर्हि वेशपाशवि-
भित्तिसौन्दर्येषु बालेषु न स्नेहो यथापूर्वं तिष्ठेदिति ।

४९.

मूलप्रीवकुचपादादीनां चन्द्रकान्तकुचकाकपद्मादीन्नुपमानानि कविसंप्रदाये
प्रविधानि, अस्ति तेषूपमानवस्तुषु सौन्दर्यम् किन्तु भिन्नं भिन्नं धर्मात् तत्र. एव
रिप्यतं तन्न द्रष्टुः पूर्वमानन्दमुत्पादयितुमलम् । तदस्य सर्वस्य सौन्दर्यैकस्मिन्नवय-
विनि रिप्यतस्य दर्शनेऽत्र विघातुरुदमूत, तत एव यथास्थानं तान्नुपमानवस्तुष्वे-
वावधानेनोचित्येन संनिवेश्य पार्वतीशरीरं तेनोत्पादितमिति संभाव्यते ।

५०.

यथेच्छं विचरता हिमालयपट्टे आगतेन नारदेन कदाचित्पितुः समीरण्या

तस्याः शलाकञ्जननिर्मितेव कान्तिभ्रूवोरायतलेखयोर्वा ।
तां वीक्ष्य लीलाचतुरामनङ्ग स्वप्नापसौन्दर्यमदं मुमोच ॥ ४७ ॥
लज्जा तिरश्चो यदि चेत्तसि स्यादसंशयं पञ्चतराङ्गपुष्पा ।
तं वेशपाशं प्रसमीक्ष्य कुमुदालिप्रियारवं शिथिलं चमर्य ॥ ४८ ॥
सर्वोपमाद्रव्यसमुच्चयेन यथाप्रदेशं विनिवेशितेन ।
सा निर्मिता शिथिलज्वा प्रयत्नादेकस्यसौन्दर्यदिरस्यदेव ॥ ४९ ॥
तां नारदः कामचारः कदाचित्कन्या किल प्रेक्ष्य पितुः समीपे ।
समादिदेशैकवर्षं भविषीं प्रेम्णा शरीरार्पहरां हरस्य ॥ ५० ॥

पार्वती दृष्ट्वा, तत्कृष्णान्यालोक्य स 'महादेवस्येयमन-या भार्या भविष्यति,
प्रेम्णा तच्छरीराद्यै चास्या स्थितिर्भविष्यति इति भावि वृत्त न्यरूपयत् ।

५१.

पूर्वं पार्वत्या विवादानुरूप दयो दृष्ट्वा हिमालयस्य वरान्वेषणे प्रवृत्तिरभूत्,
पर नारदोक्तौ निश्चय्य तेन वरान्नरान्वेषणमिलाषस्यक्त । युक्तश्चैवविधाया
कन्याया एवविधेनैव वरेण सम्बन्ध । यद्यपि सन्त्यन्येऽपि देवाः, पर न ते
एतामुदोद्धु योश । यया तेजासि लोकं बहुभि, किन्तु हविर्ग्रहणयोग्यताग्नेरेव
केवलमिति ।

५२

यद्यपि भगवते शिवाय ह-याप्रदान हिमालयस्यात्यन्तमिष्टम्, तथाऽपि न
हि शिव स्वयं याचते, नचायाचिता कन्या देयेति शिष्टप्रदाय । स्वयं च
समर्प्यमाणा शिव स्वोक्त्याजिवेति महती प्रार्थनामङ्गशङ्का, तेन स उदासीन एव
तरथौ । एवमेव प्रार्थनाभङ्गमीता शिष्टा कुर्वन्तीति ।

५३

ननु शिव एव स्वरायणा पार्वतीं कुतो न याचितवान्, तत्र हेतुवच्यते,
दक्षसुतया कन्या यदा देहस्यक्त, तदा प्रभूत्येव शिवस्य निवेद उदभूत्, तेन
विवाहकथा दूरपास्ता सुक्षतीति विशेषण यौवनावस्थाबोधक भोगेष्वतुस्ततामा
वेदयनिर्वेदयोग्यतो भगवति भृत्यस्य प्रिय-स्तुनाशो निवेदाय भवतीति । परानां
प्रतिरिचयेन सर्वजीवसन्धविमोक्षकारणस्य भगवतः शङ्को सङ्गात्यागश्च केवलं
स्त्रीलामात्रमिति बोधनाय । स हि स्वकायेण—'सति शोकेतौ न महात्मनि लिप्तौ
भविष्यम्, अपि तु वैराग्य सेव्यम्, इत्युपदिदेश इत्यादिप्रकाशिकाविवरणयो ।

५४

तेन लज्जु त्यक्तपरिग्रहेण च निमग्नवता शङ्करेण गजवर्मं परिदधता
हिमालयस्यैकतमे शिखर एव तपश्चर्यार्थं निवास क्लृप्त । (विशेषणद्वयेन तपो-

गुरु प्रगल्भेऽपि वयस्यतोऽस्यास्त्वस्यौ निवृत्तान्यदराभिलाष ।

श्रुते कृशानोर्न हि मात्रपूतमहन्ति तेजास्यपराणि ह-वम् ॥ ५१ ॥

भयाचितार न हि देवदेवमाद्र सुता ग्राहयितु शक्याक ।

अभ्यर्थनामङ्गभयेन साधुर्माष्यस्थमिष्टेऽप्यवलम्बतेऽर्थे ॥ ५२ ॥

यदैव पूर्वं जने शरीर का दक्षसोपास्तुदती संसर्ज ।

तदा प्रभूत्येव विमुक्तश्च पति परानामपरिग्रहोऽभूत् ॥ ५३ ॥

स वृत्तिवासास्तपसे यतात्मा गङ्गाप्रवाहोक्षितदेवदास ।

प्रस्य हिमाद्रेशृंगनाभिर्गात्रि किञ्चिन्नवतिद्विजसमप्युवास ॥ ५४ ॥

योग्यता वाङ्मयान्तरयो सूचिता) यस्य शिखरस्य गङ्गाया -प्रपातः, देवदारुवृक्ष-
बाहुल्यम् (एतेन प्रदेशस्य पवित्रजन्मदायादिरूपत्वा तपोयोग्यता सूचिता)
कस्तूरीमृगसंचारेण सौरभप्राचुर्यम् , (एतेन पूतिगन्धराहित्यं द्योतितम्) किन्नर-
गानध्वनिश्चेति । एतेन खरशब्दराहित्यम् देवयोनिनिवासेन पवित्रता च द्योतिता ।
कस्तूरीसौरभेन, किन्नरगानेन चेन्द्रियविषयपदुक्ता, तथा चोक्तया वशिष्ठो विषय-
संपदो न विम्यतीति सूचितमित्यस्याचलनाय ।

५५.

भगवति शिवे तत्र स्थिते तद्वगा प्रमथा अपि तत्रैव स्थिता । तेषां च तत्र
सुरपुत्रागपुत्रैरलङ्कारसौख्यम् , कोमलैर्मूर्ध्नैरुल्लैर्वसनसौख्यम् , मन शिलाबाहुना
चाङ्गरागसौख्यं संपद्यते स्म ।

५६.

भगवति शिवे तत्र कृतनिवासे तद्वाहनो वृषभोऽपि तत्रैव तस्थौ । स च द्यौले
सिंहध्वनिं भुत्वा 'कोऽयं महमे गच्छति' इति भ्रमर्षमापन्नः क्रोधादिमण्डिलाः
सुराग्रैर्विदारयन् स्वयमपि गर्जति स्म । ■ च तथाविधं विशालाकृतिं गर्जन्तं दृष्ट्वा
भीता , स्वसदृशाकारेण स्वयूष्य मत्वा कथञ्चिद्विभ्रस्ताश्च गवयाः कथञ्चिद्दहन्ति ।

५७.

तत्र पूर्वोक्ते हिमवन्निष्ठधरे भगवता शिवेन तपश्चरणमारब्धम् , सर्वेषु वैदिकेषु
कर्मसु भ्रमे अपेक्षितत्वात्तपश्चर्यायांऽग्निश्च प्रतिष्ठारित , समिदादिभिस्तत्परिचर्याऽपि
समारब्धा । यद्यपि लोकानां फलार्थां प्रवृत्तिं कर्मसु दृश्यते, भगवाश्चायं सर्वेश्वरः
सर्वेषां स्वयं फलदाता पूर्णकाम इति नास्त्य पठं समाश्रयते, नाप्यास्पाराचनीयो
देवः, भग्न्यादीनामप्येतन्मूर्तित्वात् , नाप्यन्तःकरणशुद्धिः फलम् , ईश्वरत्वेन
निरयमुक्तत्वात् , तथापि तपश्चरणमित्यलौकिको मार्गः सर्वलोकहितायैव । अन्धेऽपि मां
दृष्ट्वा तपसि प्रवृत्ता भवन्ति । इममेव स्वार्थपञ्चमाव च्चनयितुं 'केनापि कामेन'
इति क्विनोक्तम् । 'क'कामोऽस्य स्याद्' इति न चिन्तयितुं शक्यते इति ।

गणा ननेरुप्रसवावतसा मूर्जत्वाच्च स्वर्गवतीर्दधानाः ।

मन शिलाविन्दुरिता निषेदुः शैलेयनदेषु शिलातलेषु ॥ ५५ ॥

दुषारसह्यार्ताशिला खुराग्रे समुल्लिखन्दपंकजं ककुद्यान् ।

इष्टं कथञ्चिद् गवयैर्विद्विषैरसोदसिंहध्वनिस्मननाद् ॥ ५६ ॥

तत्राऽग्निमाधाय शनिरक्षमिदं स्वमेव मूर्त्यन्तरमष्टमूर्तिं ।

स्वयं निधाता तपसः फलानां केनाऽपि कामेन तपश्चर ॥ ५७ ॥

५८.

सर्वलोकोत्पादनसमर्थं नद्यादिभिरप्यन्यमान, दस्तुतस्तु हरूपेणावाङ्मनस-
गोचरतया केनापि पूजयितुमशक्यो भगवान् यदा स्वप्न एव प्राप्त, तदा
परमात्म्य मत्वा हिमालयेन सोऽर्चित, नित्य तदचर्चनाय च स्वपुत्री पार्वती सखी-
सहिता तेन आदिष्टा, यत सा प्रयतेत्येवविधानां पूजने समुचिता ।

५९

यद्यपि विशिष्टमुन्दरी पार्वती चेतोविकारहेतुत्वात्समाधे परिग्रन्थिमूढा,
तथापि सेवमाना सा शिवेन न निषिद्धा यतस्तस्य चेतोविकारमयं
नास्त्येवेति ।

६०

सेवायां प्रवृत्ता पार्वती प्रतिदिन पूर्वं पूषायै पुण्याश्वचिनोति स्म, तदनु
तदध्वर्यास्थानं परिष्करोति स्म, अथ चरानि बर्षाणि घ्रानयति स्म, इत्यादिना
प्रकारेण सेवानिरताभूत् । न च सुकुमार्या अपि तस्या सेवया स्थानिदमभूत्, यतः
शङ्करस्य मस्तके स्थितस्य श्वन्द्रस्याङ्गादकरे किरणैस्तस्या स्नेहोऽपनीयते
स्म इति ।

[इति कुमारसम्भवे प्रथम सर्ग]

अनर्घ्यमध्येन तमद्रिनाथ स्वर्गोऽस्मामन्तितमर्चयिष्या ।
भाराघनायाऽस्य सखीसमेतां समादिदेश प्रयतां तनूशाम् ॥ ५८ ॥
प्रत्यर्घिमूतामपि तां समाधे शुभ्रयमाणां गिरिशोऽनुमेने ।
विकारहेतो सति निश्क्रियन्ते देवा न चेतांसि त एव घोरम् ॥ ५९ ॥

भवचितवलिपुष्पा वदिसमार्गदद्या

नियमदिधिबल्यना बर्हिषां शोपनेश्री ।

गिरिधमुपचचार प्रत्यह सा मुखेजी

नियमितपरिखेदा तन्धिरभन्द्रपादै ॥ ६० ॥

कुमारसम्भवे पञ्चमः सर्गः

कथासम्बन्धः

तारकाख्येनाधुरेणाभिमृता इन्द्राद्या देवास्तद्दिनाशाय विद्याययितुं ब्रह्मण समीपे गता, ब्रह्मणा च 'शङ्करस्य वीर्येण जातो युष्माकं सेनापतिर्भूत्वा तारकं शमयिष्यति, त-उङ्करस्य विद्याहोपायश्चिन्त्यताम्' इत्याह्वता । तत इन्द्रेण सखेदु मानमाहूय कामं शिवस्य चेन पार्वत्यामनुरञ्जयितुमादिष्ट, स च वसन्तवह्मणं कैलासं गत्वा सेवार्थं पस्थिता पार्वतीमालम्बनीकृत्य भगवति शिवे समोदनास्त्रं प्रायुञ्क्त । किञ्चित्परिवृत्तधैर्योऽपि शिवः सयमितया द्रुतं चेनोविक्रियां नियम्य तृतीयनेशनगेन कामं भस्मसादकरोत् । अथ बहु विलपन्ती मरणे कृतनिश्चया कामपत्नी रति 'भूयोऽपि शिवस्य कृपया कामस्य जीवनलाभो भविष्यति' इत्या काश्चाच्च समाश्वासिता, तेन च ब्रह्माद्या सा जीवनं दधारेति चतुर्थे गतम् । अथ पार्वतीवृत्तमारम्यते ।

१.

इत्थं महादेवेन कामदेवे भस्मसात् कृते पार्वती निराशा समञ्जति । नारदो-
क्त्या यो मनोरयाङ्कुर उदभूत्, सेवानुमोदनेन यः पल्लवित, समोदनाजप्रयोग
काले सानुरागवीक्षणैः च यः फलित, स कामं दहता महादेवो समूलमुत्सारित ।
महादेवमन आकृष्टुमसमर्थमात्मनो रूपं तदा पार्वती गहते स्म । यतः भर्तुं
प्रेमैव रूपस्य फलम्, यस्मिन् रूपे भर्ता नानुरक्त्यति तद् रूपं निष्फलमेवेति ।
धीरया पार्वत्या यद्यपि कस्यचिदपि पुराणि रूपविकल्पना न कृता, तथापि चेतसि
तस्या रूपवर्गमासीदिति चेतसैव निन्दापि कृता ।

२

इत्थमुपायात्तरमपश्यन्ती पार्वती तपस्यया महादेवं वशीकृत्य स्वसौन्दर्ये
स्वरितार्पयितुं निश्चिन्ताय । महादेवसदृशं पतिर्षो मूलयुञ्जय इत्युच्यते, तादृशोऽनु-
रागश्चन्द्रशीभूतः स मूलयुञ्जयस्तस्यै स्वशरीरार्घमपि समर्पयेत्, एते तपस्या
मन्तरेण कथं भवितुमर्हत । सर्वं दुर्लभं वस्तु तपसैव साध्यं भवति इति ।

तथा समस्तं दहता मनोभवः पिनाकिना भस्ममनोरया सती ।

निनिन्द रूपं हृदयेन पार्वती प्रियेषु सौभाग्यशला हि चाकृता ॥ १ ॥

इदं सा कर्तुमवन्ध्यरूपतां समाधिमास्थाय तपोभिरात्मनः ।

भवाप्यते वा कथमन्यथा द्वयं तथाविधं प्रेमं पतिश्च तादृशं ॥ २ ॥

३

भगवति मृच्छञ्जये निरतिशयमनुरक्ताया पार्वत्या अतिकठिनतपश्चर्मावतोयोग
भूत्वा तस्या जननी मेनका तां (पार्वतीम्) वक्षसाङ्घ्रियं तपश्चर्याध्यवसायं
स्वच्छुपदिदेश । गिरीशोऽनुरक्ताया तस्या हर्षं, तपश्चमनुमाय तु विधाद इति ।

४

मेना वक्षि, वसे ! पार्वति ! तव पितु प्रदेशा देवमूमय सति । अत्र विष्ट
माना इष्टा शङ्खादिषौभाग्यदेवता आराधय । त्वदीयं कोमल शरीरं कठिन
तपोनुष्ठानधर्मं नास्ति । मृदुलं शिरीषस्य क्षुद्रम लघ्वीयसो भ्रमरशीलस्य भ्रमरस्य
भारं सोढुं शक्नोति, न पुनर्महोदधे पक्षिणोऽपि । भ्रमरो हि परिमाणे क्षु,
भ्रमरशीलस्यैकस्य न चिरमवतिष्ठते—इति तत्पदं कोमलेनापि पुष्पेण सोढुं
शक्यते, पतन्ती तु गुह्यवात्पक्षाघातकरवाच्च न सोढुं शक्य इति । यद्विपत्त
देवताराधाभ्रमरयोः शिरीषपुष्पवपुषो, पतस्वितपसोश्च मिथो विम्वमतिविम्व
भावे बोध्य ।

५

मेनया पूर्वोक्तेन प्रकारेण बहुधा पार्वतीं समुपदिष्टा, परं न सा तपसो निश्च
यादिरताभूत् यं पल्लविद्वो हृदनिश्चय आसीत् । यथा निम्नाभिमुखं जलं न
केनापि विकटं प्रवाहयितुं शक्यते, तथा प्राप्तयेऽर्थे हृदमभिनिविष्टं चित्तं कश्चिदपि
विपरीतं कर्तुं न शक्नोति ।

६.

विमाख्योऽपि स्वसुताया मनोरथं विवेद । अथ एकरिपन् दिने हस्वसरे तपसि
कृतनिश्चया गौरी पल्लविद्विपर्यन्तं तपश्चरितुं स्वसखीमुखेन विदुः सङ्गात्
वनवासानुशां प्रार्थयते स्म । न ह्येनादृशानि तपोति एहे संभवतीति ।

निशम्य चैनां तपतं कृतोद्यमां सुतां गिरीशप्रतिसक्तमानसाम् ।

उवाच मेना परिरम्य वक्षसा निवारयन्ती महतो मुनिप्रतात् ॥ ३ ॥

मनीषिता सति एहेषु देवतास्तप कं वस्ते क च तावकं वपु ।

पदं सहेतुं भ्रमरस्य पेल्वं शिरीषपुष्पं न पुनं पतत्रिण ॥ ४ ॥

इति प्रुवे-उमनुशासतीं सुतां शशाक मेना न निष त्रुमुद्यमाद् ।

कं ईप्सिताथस्तरनिश्चयं मनं पयश्च निम्नाभिमुखं प्रतीरयेत् ॥ ५ ॥

कदाचिदाक्षमलमुखेन सा मनोरथं पितरं मनस्विनी ।

अयाचताऽऽरभ्यनिवासमात्मनं पलोदयन्ताय तपसमाधये ॥ ६ ॥

७

हिमालय स्वमुताया योग्ये दस्तुनि अभिनिवेश विनाय सतुतोष । तपस्यां कर्तुं च तामनुजानाति स्म । गौर्येति पितुरनुग्रामधिगम्य हिंस्रप्राणिविरहिते शान्ते पर्वतशिखरे तप कर्तुं प्रतस्थे, यच्च शिवर पश्चात्तन्नाम्नेव गौरीशिखरमितिप्रसिद्धम् जातम् । 'शिलण्डिमत्' इत्युक्त्या शान्तश्च समर्पितम् ।

८

हृदप्रतिष्ठा गौरी तपश्चर्यानुकूल्यं वेष परिधातुकामा स्तनान्तरे लम्बमान बहुमूल्य मौक्तिकहार परित्यज । शरीराच्छादनाय च बालातरपिञ्जल वल्कल धारयति स्म । तदपि च नवम् अप्रशान्तकषायम् । आयन्त दुःस्पर्शम् । (एतद् बालारुणवभ्रु विरेचणेन बोधितम्) यच्च स्तनयोर्दुःखेन धृतमभूत् ।

९

गौरी शिरसि षटा बभार । ताभिस्तदाननस्य शोभा न मनागपि पर्यहीयत । किन्तु यथा पूर्वम् अलङ्कृतैः केशैस्तन्मुखमशोभत, तथैव अटिलैरपि । मधुरा ह्याकृतय सर्वेषां शोभन्त एव, यथा कमल केवलम् भ्रमरराजिभिरेव राजत इति न, अपि तु शैवलैरपि तज्जोभत एव ।

१०

अत्र कृत्प्रदेशे पार्वती शोमादिनिर्मितां काञ्चीं धारयति स्म, तप परायणा तत्र मुञ्जतुणनिर्मितां त्रिरावृत्तां प्रलरा मेलनीं दधार, यथा अस्या प्रतिष्ठा रोमाञ्चो जायते स्म । किञ्चेन पूर्वमधूनया अनया मौञ्ज्या अस्या कृत्प्रदेशे सपर्ययेन रक्तं कृतं ।

११

पार्वत्या कर पूर्वे मुक्तोमलेऽधरे लाक्षारवादिखननम्, कन्दुकक्रीडां

अयाऽतुरूपाऽभिनिवेशतोषिणः कृतार्थतुष्टा गुरुणा गरीयसा ।
प्रभासु पश्चात्पथितं तदाख्यया जगाम गौरी शिखर शिलण्डिमत् ॥ ७ ॥
त्रिमुच्य सा हारमहायानभया विलोत्यष्टिप्रविलुप्तचन्दनम् ।
दवच्च बालारुणवभ्रु वल्कल पयोधरोत्सेधविशीर्णवहति ॥ ८ ॥
यथा प्रसिद्धैर्मधुर शिरोरुहैर्जटाभिरभ्येवमभूत्तदाननम् ।
न घटपद्मेभिरेव पञ्च सशैवलासङ्गभरि प्रकाशते ॥ ९ ॥
प्रतिष्ठण सा कृतशोभविक्रियां प्रताप मौञ्जी त्रिगुणा बभार याम् ।
अकारि तत्पूर्वनिबद्धया तथा सरागमस्या रसनागुगास्पदम् ॥ १० ॥
विस्मृतागादधराभिवर्तित स्तनाङ्गरागाङ्गिताच्च कन्दुकात् ।
मुपाकन्दुरादानपरिहृताङ्गुलि कृतोऽश्चस्वप्रणयो तथा कर ॥ ११ ॥

चेति सुकुमारतरान् व्यापारानन्वतिष्ठत् । तपःकाले तु स कर्कशतरमुशोत्पाद्ये
अशमालायाः सततं चालने च विनियुक्तः । अयं सारः यत् तपःपरायणा पार्वती
सर्वविधं शरीरालङ्करणं मुमोच । अपरोक्षस्य लाशारसेन रञ्जनं तस्याम् । चन्दना-
द्यङ्गविलेपनाद् विरराम, मनोविनोदाय कन्दुकक्रीडां च परिजहार, किं च
मुनिव्रतान्तरणाय कृष्किनः कुशान् लुलाव । येषां कण्ठके तस्याः कराङ्गुलपः
परिधत्ता भ्रमन्, अनिश बद्राक्षमालया जजाप चेति ।

१२.

या पर्वतराजपुत्री पूर्वं मृदुतरतूलिकादि विराजिते कोमलोपरहर्षनाभिते वटमूलये
शयने निद्रासुखमस्वप्नत्, तत्रापि च पुष्पस्पर्शेनापि यदङ्गेषु आघात इवाभूत्,
पुष्पेभ्योऽपि कोमलतरत्वादङ्गानाम्, ईदृशी सुकुमारी सा इदानीं तपःप्रसङ्गेन
अनास्तृतममौ स्वदाहुमेवोपधानोक्तस्य रूपिति, तत्रैवोपविशति च । भूमिद्यनस्य
तपोऽङ्गस्यानुष्ठानमनेनोक्तं भवति ।

१३.

पर्वतशिलरे तपश्चरन्त्यां पार्वत्यां स्त्रीस्वभावमुत्तमो विलासः चञ्चल इष्टिम्
नावलोक्यते स्म, किन्तु सादृशं विलासादिकं स्नातु हरिणीषु च दृश्यते स्म, तत्र
कविब्रमेष्टे यथा लोके कश्चित् कार्यान्तरप्रसङ्गेन स्वकीयं वस्तुकश्चित् कालम्
अवधि कृत्वा अन्यस्य पार्श्वे न्यासरूपेण रक्षति अरपिठमाप्तौ च तद् वस्तु ततो
गृह्णाति, तथैव पार्वत्यापि तपःप्रतिबन्धकीमूर्तं विलासादिकं तपःसमाप्तिपर्यन्तं
स्वप्रतिवेदिनीम्यः स्नाम्यो हरिणीम्यश्च निक्षेपरूपेण अर्पितम्, तपः समाप्तौ
सा निक्षिप्तं स्वकीयं ताम्यो महीभ्यति इति ।

१४.

अतस्या पार्वती आलस्य दूरतस्तस्याम्, तत्रस्थान् स्वल्पस्वल्पान् पादपान्
स्वयमानीतेः कलशकलेः शिपेच, 'स्वर्वादासास्तपस्विनः' इति न्यायात् । स्वसवर्धितेषु
तेषु पादपेषु पार्वत्यास्तपाविधं हृदं पुनर्वात्सल्यं सञ्जातम्, यदनुमय कविस्पर्क-
यति-यद् यदा पार्वत्याः कार्तिकेयो नाम भीरवः पुत्रः सञ्जनिष्यते, तद्वापि
तस्या एतेषु पादपेषु तत् पुनर्वात्सल्यं न निवर्तिष्यते । यतः सा तान् ज्येष्ठपुत्र-
त्वेन निरीक्षते ।

महाहंसव्यापविवर्तनच्युते स्वकेशपुष्पैरपि या स्म दूयते ।

अशेत सा बाहुल्योपघातिनी निषेदुषी स्थण्डिल एव केवले ॥ १२ ॥

पुनर्महीतुं नियमरथया तया द्रयेऽपि निक्षेप इवाऽस्ति द्वयम् ।

लतासु तन्वीषु विलासचेष्टितं विलोलदृष्टं हरिणाऽङ्गनाम् च ॥ १३ ॥

अतन्द्रिता सा स्वयमेव वृक्षकान्धस्तनप्रसङ्गेऽव्यवधयत् ।

गृहोऽपि येषां प्रथमाऽतन्मना न पुनर्वात्सल्यमपादयिष्यति ॥ १४ ॥

१५

पार्वती नीवारयामाकादिभिर्मुनिषा यैर्हरिणान् पुपोष । नीवाराणामञ्जलि
तेभ्योऽदात्, न तु कृणमात्रम् । ते हरिणास्तस्या तथा विश्वास प्रापु, यथा ते
निर्मयं तस्या समीपमाजन्तु, सा च 'मम सहचरीणां नेत्रे विशाले, उतैतेषां
हरिणानाम्' इति जिज्ञासमाना कौतुकात् तेषां नेत्रे स्वाङ्गगुल्यादिना परिममे,
परन्तु परिमाणकरणसमये जायमानेष्वस्त्रिनिषीदने हरिणा न मनागपि क्षोभ प्रापु ।
अत्रैव तिरश्चा विश्वासस्य परां काङ्क्षां प्रतिपादयता कविकुङ्कुम्भणा पार्वत्या महती
अहिंसाप्रतिष्ठा व्यञ्जिता ।

१६

पार्वत्या प्रत्यहं त्रिषक्नेन (वारत्रय स्नानेन) शरीरशुद्धिं संपादिता,
तपोऽङ्गेन हृदनेन उत्तरीयस्याप्यनुरागपागेनान्त करणशुद्धिं, प्रत्यहमभ्ययनेन
स्वात्मशुद्धिं । तेन च वैराग्यवृद्धस्त्वम् (स्वयुत्तरासङ्गवतीमिति विशेषणञ्चितम्)
ज्ञानवृद्धस्त्वम् (अघीतिनीम्) श्रील्लवृद्धस्त्वम् स्वास्या प्रतिष्ठितमित्यस्या दर्शनार्थं
मुपदेशाभ्युपगम्य च श्रुत्योऽप्यस्या आश्रममागच्छन् । ननु वयसा कनिष्ठाया
पार्वत्या समीपे वयोवृद्धानामृषीणाम् (सेवायम्) आगमामनुचितमिव भाति,
नैतत्, सेव्यसेवकभावविचारे धर्मवृद्धस्यैव सेव्यतास्वीकारात्, अल्पवयस्कथाया
अपि धर्मेण वृद्धाया पार्वत्या समीपे श्रुषीणामागमनं नानुचितमिति ।

१७

तत्र गौरीशिल्लरे पार्वत्यास्तप प्रभावेण न केवलं तदाश्रमस्य, अपि तु
सर्वस्यापि तपोवनस्य परा पवित्रतासीत्, यद्दर्शनादप्युपेया पवित्रता सम्भवति
स्म । अस्यास्तप प्रभावेणैव विरोचिभिर्बौवै-गो-वाघ्रेण, सिंहहरिणेन सर्पमयूरेण
चोत्पादिभि स्वभाविको विरोधस्त्यक्त, वृक्षा यद्येष्टं फलानि पुष्पाणि चोत्पाद्या
तिथीन् परिचेद, अभिनवाश्च बहवस्तपरिवनो ज्ञाता, येन नवेदूजेषु अग्नय
आधीयन्ते स्म ।

अरण्यबीजाऽञ्जलिदानलालितास्तथा च तस्यां हरिणा विश्रवस्तु ।

यया तदीयैर्नयने कुतूहलात् पुरं सखीनाममिमोत लोचने ॥ १५ ॥

कृताऽभिपेक्षां ह्रुतघातनेदसं स्वयुत्तरासङ्गवतीमघीतिनीम् ।

दिदृशवस्तामृषयोऽभ्युपागमन्न धर्मवृद्धेषु वयं समीक्ष्यते ॥ १६ ॥

विरोधिसत्त्वोन्निस्तपूर्वमस्तरं दुर्मेरमीष्टप्रसवार्चिताऽतिथि ।

नवोटकाऽभ्यन्तरसम्भृतानलं तपोवनं तच्च वभूव पावनम् ॥ १७ ॥

१८.

यदा चिर तपसा पावत्या चिन्तितम्—यदीदृशेन लघुना तपसा मनेषिदिनं
भविष्यति इति, तदा सा शरीरस्थितिमनपेक्ष्य बोरे तपसि प्रवृत्ताभूत् ।

१९

पावत्या कठिनतप प्रवृत्ति साध्वर्यमाह कवि—यत् कन्दुककीडामात्रेणापि
यस्या शरीरे भान्तिरुदभूत्, तथा विविष्टमुनिसपाद्य परम् तप कर्तुमारब्धम् ।
तत्रैवोत्प्रेक्षते—य नूनं तस्या शरीर काञ्चनपद्मेन निर्मितमस्ति—यत्पद्मधर्मेण
सुकुमारम्, सुवर्णधर्मेण कठोरमपि च वर्तते ।

२०

‘श्रीष्मे पञ्चाग्निमध्यस्थ’ इति शास्त्रमनुसृत्य पञ्चाग्निपस्तया प्राख्यम् ।
चतसृषु दिक्षु चत्वारोऽग्नयः, पञ्चमस्तु सवितेति पञ्चाग्नयस्तत्र प्रसिद्धा । तेनैव
क्रमेणाग्निचतुष्टयमभ्यगतयानया सवितरि निश्चला दृष्टि स्थापिता । यद्यपि
‘सुमयमा’ (कृशमध्यदेशा) इयमिति ईदृशेन तपसा परा ग्लानिरस्या
सम्भाविता, तथापि सा तथाविधेऽपि तपसि वर्तमाना ‘शुचिस्मिता’ तेन खेदामावो
भवतिता । न च नेत्रे अप्यास्या सूर्यं पश्यन्त्या प्रतिदृष्टे—इत्यहो ।

२१

सूर्यमिमुखं सतत निरीक्षणेऽपि मुखे कापि विकृतिरस्या नाभूत्, प्रत्युत यथा
सूर्यागुमि स्पृष्टं कमलं नितरां द्योमते, तथा तन्मुखमभ्यद्योमत । कालिमा तु
तत्रावकाशमलभमानं सुकुमारतरयोर्नेत्रप्रान्तयो द्यौने प्रवर्तत । तेन च नेत्र
प्रान्तयो द्योमैव, न ■ ग्लानत्वमिति द्योतितं भवति । तापकृता विषादकृता वा
स्यामिका मुखे नास्तीत्याकृतम् ।

यदा षष्ठं पूर्वतप समाधिना न सावता लभ्यममस्त काञ्चित्तम् ।

तदाऽनपेक्ष्य स्वशरीरमादं च तपो महत्त्वा चरितुं प्रचक्रमे ॥ १८ ॥

कलम ययौ कन्दुकलील्याऽपि या तथा शुनीना चरितं न्यगाह्यत ।

ध्रुवं वपु काञ्चनपद्मनिर्मितं मृदु प्रकृत्या च ससारमेव च ॥ १९ ॥

शुचौ चतुर्णां ऋक्षां हविर्धुञ्जा शुचिस्मिता मभ्यगता सुमयमा ।

विजिरय नेत्रप्रतिष्ठातिनीं प्रमामनन्यदृष्टि सवितारमेधत ॥ २० ॥

तथाऽतितप्त सवितुर्गमस्तिमिर्मुखं तदीयं कमलभिर्य दधौ ।

अपाङ्गयो केवलमस्य दीर्घयो द्यौने द्यौने स्यामिकया कृत पदम् ॥ २१ ॥

२२.

पार्वत्या वृक्षवृत्तितः प्राग्वन् । यथा वृक्षाः केवलं मेघबलं चन्द्रवर्णीभ्योप-
सृज्य जीवन्ति, न तु किमप्याक्षरान्तरम्, तथैव पार्वत्यि पूर्वोक्तं द्रव्यमेवोपनीवति
स्म । न तु पञ्चपुष्पादिकं किमपि ।

२३.

यथा पृथिवी ग्रीष्मे तप्ता वर्षाप्रारम्भे बलवित्ता धूनाकारं बाष्पम् 'माय'
इति मापायां प्रसिद्धं दृश्यति, तच्च पृथिव्या ऊर्ध्वं गच्छति, तथैव पार्वत्यि सूर्या-
वपेन चतुर्भिर्द्विभिश्च ग्रीष्मे तप्ता वर्षाप्रारम्भे बाष्पमवृज्यते । तदुपरिभागेनि
धूनाकारं बाष्पं प्रतीयते स्म । अनेन पृथिवीसादृश्यात्सर्वथा शरीरे निरदेशता
व्यज्यते ।

२४.

वर्षासमे अनावृते लिङ्गनशाः पार्वत्या उपरि वृद्धिश्चन्द्रिन्दवः प्रथमं
सन्नेत्रलोमसु विभज्य, अधरे प्रशय, कुचयोर्निर्गतेन क्षण्णतां गताः । पुनः संघीभूय
निम्नोन्नतप्रदेरे भिन्न बन्धेषु रुच्यन्तो नाभिं प्राप्य स्थिताः ।

२५.

वर्षातो यदा निरन्तरा धारासंपाता अभूवन्, तद्वितो विद्योतन्ते स्म, मध्ये
बाधुभ वाति स्म, तदानीं पार्वती अनावृते प्रदेशे उपोऽर्धं स्थिता प व । काले
च तथैव शिलातले शेने स्म । न कोऽप्यन्यदस्याविधे काले तस्यास्तयाविधस्य
महावपः साक्षी, तादृशोऽवशरे बहिः स्यादुभयकृतात्, केवलं सकृदाशित्वे
निपुक्ता रात्रिरेव तद्विद्रूपैर्बहुभिर्नैस्त्वा ददशति संमन्यते ।

२६.

ग्रीष्मे वर्षासु च तथा तपसा हिमगर्भितघाते हिमर्तो रात्रौ बलनिवासतत्परा
पार्वती तपस्यति स्म । तत्रानि नान्यः कोऽपि तस्या दृष्टिनिधयोऽभूत्, केवलं

अपाचितोपरिमतमस्तु केवलं रसतलवस्योद्गतेष्व रसनयः ।

बभूव तस्याः किल पारगाधिपिनं वृक्षवृत्तिभ्यतिरिक्तसाधनः ॥ २१ ॥

निकामगता विविधेन वडिना नमश्चरोद्योगधनकःमृतेन सा ।

तपस्यये वारिमिबुखिना नवैर्मुखा सहोष्पागन्मुद्रदूषणम् ॥ २२ ॥

स्थिताः शनं पश्यन्तु ताडिताऽभरा पयोधरोत्तेधनियतचूर्णिताः ।

बन्धेषु तस्याः स्वच्छिताः प्रपेदेरे निरेण नाभिं प्रयमोदचिन्दवः ॥ २४ ॥

शिलाशया सामनिचेतबाहिनी निरन्तरास्तरावटङ्गेषु ।

बलोकपन्नुग्निभिर्नैस्तद्विन्दमैर्महातपःसाक्षर इव स्थिताः क्षराः ॥ २५ ॥

निनाय साऽप्यन्तर्हिमोत्किराजिताः सदृशरात्रौबदवासतत्परा ।

पत्तराभन्दिनि चक्रवाकयोः पुरो विपुक्ते क्षिपुने कृपावती ॥ २६ ॥

विषोषाग्निना दह्यमानं चक्रवाकयुगलं तथाविधे शीते जलेऽवलोक्यते स्म । तस्य च तादृशशीतसङ्घने विषोषाग्निरेव हेतुः । चक्रवाकयुगलस्य राज्ञो परस्परवशोक्तं नामावादन्योन्यमाश्रन्द, तत्र च पार्वत्या कुपैवामृतं, न तु तस्य दर्शनेन विरहोदीपनम् । तेन तपसि वर्तमानायास्तस्या नक्षत्रवर्णनिष्ठापि व्यच्यते । चक्रवाकयुगले कृपा, न तु स्वतपसः कापि गणननि व्यस्यमरुणाचक्राप आह ।

२७.

जलनिर्गताया पार्वत्या शिशिरनिश्वासे मुखमार्गं लक्ष्यते स्म, तत्र कमलसमं क्षुरभिः शीतेन वेपमानोऽधरश्च तत्र किञ्चन्यसङ्घस्य प्रतीयते, तादृशो तपस्यपि च न स्थानं तत् । तस्मादिदं समाश्रयते—शिशिरतो हिमेन नष्टेऽश्रुष्वेणु कमलेषु 'जलानि कमलशूलानि मा मूवन्' इति विचार्यैव पार्वती स्वद्रुणकमलं तत्र निवेशितवती । तेन वसन्तपर्यन्तं कमलरश्मिराया अभिच्छेदो जातः, वसन्ते तु पुनः कमलानि प्रादुर्भवन्त्येवेति ।

२८.

तपसः उपवाकोऽप्यङ्गम् । तत्र पञ्चदुग्धासम्पदहरणरूपा नाना भेदा, स्वयं निरतितवृक्षरजमात्रदण्डणम् तत्र सर्वभेष्टं तप उच्यते । परं पार्वती क्रमेण पर्णमक्षणमपि त्यक्त्वा सर्वथा निरधाराऽमृतम् । येन श्रोत्रेण पर्णत्यागरूपेण कर्मणा तस्या नाम 'अपर्णा' इति कथ्यति मतम् ।

२९.

क्रोमलेन शरीरेण पार्वती तथा तपोऽकरोत्, यथा अतिकठिनशरीराणामपि तपस्विनां तपस्तपेक्षयाऽश्रुन्तप्रथमोक्तम् ।

३०:

पार्वत्या तथा प्रौढे तपसि निविष्टायामेकस्मिन् दिने कश्चिदविद्यात् पुष्परत्न-
हिमस्तपोवनं आगतः, स चाजिनाषाढादिभिर्मिश्रैर्नक्षत्राणां वृक्षचारीति लक्षितः । तस्य
तेजोव्यग्राणि च तयाविधान्मासन्, यथा स साक्षाद् वृक्षचर्याभ्रम एव शरीर-

मुखेन सा पञ्चसुगन्धिना निशि प्रवेपमानाऽधरपत्रशोभिना ।

द्विपारवृष्टिजनपत्रसम्पदाः सरोजसन्धानमिवाकरोदयाम् ॥ २७ ॥

स्वयन्विशीर्णद्रुमपर्णवृत्तिता परा हि काष्ठा तपस्तपसा पुनः ।

तदभ्यगाङ्गीर्णमतं प्रियवदां नदन्यपणैति च तां पुराविद ॥ २८ ॥

मृगालिकापेल्लवमेरमादिभिर्वृक्षैः स्वमङ्गलं स्वयत्पदनिष्ठम् ।

तपः शरीरैः कटिनेरुपाजितं तपस्विनां दूरतपश्चकार सा ॥ २९ ॥

अथाऽजिनाषाढाधरं प्रगल्भमाश्रयन्निव ब्रह्ममयेन तेजसा ।

विवेश कश्चिज्जटिस्तपोवनं शरीरवद्धं प्रथमाभ्रमो यथा ॥ ३० ॥

धृत्वा भागत इति संभाव्यते स्म । सञ्चान्द्रगवान् शङ्कर एव दयाजनितेनानुरागेण प्रेर्यमाणो गौर्याः प्रेमदाढ्यंररीक्षार्थं तथा विक्षम्भगोष्ठीमुखार्थं च छद्मवेशेनागत इत्यन्ते स्फुटीमविष्यति ।

३१

अतिथिस्तकारचतुरा पार्वती तं ब्रह्मचारिणं सवहुमानं प्रत्युज्जगाम, भानञ्च च । एतदेव क्वचिन्नोत्तरार्धेन समर्थितं, यत् सर्वत्र समदर्शिना रागद्वेषशून्यानामपि शरीरेण विज्ञाततेऽसि क्वचिद् मध्ये व्यक्तिविशेषे आदरो जायत एवेति । नायमादरो लिप्सया, अपि ॥ कर्तव्यबुद्धयैवेति । तपसा महान्तः सत्कार्या एवेति । भीमान् मङ्गिनायस्तु कथं समानेऽपि (ब्रह्मचर्यादिना स्वतुल्येऽपि) तस्मिन् सस्यास्लाहशी प्रतिपत्तिरित्यवतार्यं साम्ये सत्यपि निविष्टचेतसाम्—स्थिरचित्तानां वपुर्विशेषेषु अतिगौरवा क्रिया भवन्तीति व्याचक्षाणो 'न पार्वत्यास्तपोमिमानः, अपि तु अन्येषु तपस्विषु पूज्यस्त्वुद्दिरेवेत्यभिप्रायं विशदयति । ये रागद्वेषाभ्यामदूषिताः, तेषामेव वस्तुतो महश्चक्षालिषु महश्चोचितो व्यवहारो जायते, रागादिमन्तस्तु परिचितेष्वेव स्निह्यन्तीति प्रकाशिकाविवरणकारावश्यकं विनैव पाठान्तरं व्याचक्षाते ।

३२.

उभया सङ्गतो ब्रह्मचारी लक्षणमण्डपरिभ्रमापनयं नाटयति स्म, तदनन्तरं च ब्रह्मचर्योचितया शैल्या सरलेन चतुषा पार्वतीं विलोकमानः कथनं प्रारभते स्म ।

३३.

ब्रह्मचारी विशिष्टाचारानुकूल्येन प्रथमं पार्वतीं तपस्विजनोचितपदार्थसंपत्तिरूपं कुशलं पृच्छति ।

३४.

एवया सततं कारिणा विन्यमाना एता लताः क्वचिनिरन्तरं पल्लवान्मुत्पादयन्ति ! एतेषु पल्लवेषु हि रक्ततया त्वदधरसाद्व्यमालोक्यते । यद्यपि एवया-

तमातिथेयी बहुमानपूर्वया सपर्यया प्रत्युदियाय पार्वती ।

भवन्ति साम्येऽपि निविष्टचेतसां वपुर्विशेषेष्वतिगौरवाः क्रियाः ॥ ३१ ॥

विधिप्रयुक्तां परिप्लव सत्क्रिया परिभ्रम नाम विनीय च क्षणम् ।

उमा स पश्यन्वजुनैव चतुषा प्रचक्रमे वक्तुमनुक्षिप्तकम् ॥ ३२ ॥

अपि क्रियाऽयं मुलभं समित्कुर्वन् जगन्त्यपि स्नानविधिधर्माणि ते ।

अपि स्वधनस्या तपसि प्रवर्तते शरीरमाद्यं खलु धर्मसाधनम् ॥ ३३ ॥

अपि त्वदावर्जितवारिसम्भृतं प्रज्ञानमासामनुबन्धि वीरुषाम् ।

विरोक्षिताऽलक्ष्मपाटलेन ते तुला यदारोहति दन्तवाससा ॥ ३४ ॥

घरेऽन्तर्कन्यासश्चिरायुक्तः, तथापि स्वमावरक्तं तदिति फल्लसादृश्यं विमल्येव ।
चाटूक्तिरियं पार्वत्याभेतोविनोदनार्था । सौन्दर्यं हि स्तूयमाने स्वभावेन स्त्रीणां
प्रसादो जायत इति ।

३३.

कश्चिद्वह हरिणेषु प्रसज्जा तिष्ठति । यद्यपि हरिणा परिचर्यजनितेन प्रेम्णा तव
करस्थान् कर्मोपयुक्तानपि दर्शनपदहस्तस्तुभ्यमपराध्यन्ति, तथापि तपस्विनां न क्रोध
इति तव प्रसाद एव तत्र युक्तः । एते च हरिणास्तव श्लोचनयोः सादृश्यं
स्वनेत्रयोरलभमाना स्वनेत्रे चालयन्त सादृश्यमभिनयन्तीव, यथा हीनगुणा
महाजनैः सादृश्यं लब्धुं व्यापारवेषादिभिस्ताननुकुर्वन्ति, एतत् । तेन तव नेत्रयो
श्चाश्चर्यं स्वामाविष्टम्, हरिणास्तु स्वव्यापारेण चाक्षर्यमाधातुं यतन्त इति
सौन्दर्यस्तुतिरूपा चाटूक्तिरेव ।

३४.

‘यत्राकृतिस्तत्र गुणा वसन्ति’ “न मूर्खपा पापाचाराः” इत्यादि लोकेष्वप्यते,
सामुद्रिकद्यामराभापि ‘रूपं शीलानुसारि’ इति ब्रूयते, तदेतत् त्वं हृद्या रस
सत्यं प्रतीयते । यत एवविशिष्टरूपवत्यास्तवेदं शीलम्, यद् हृद्या उपदेश
एवन्त इवान्ये तपस्विनः स्वीयानाचारानपि परिष्कृत्ये । इयं पार्वतीस्तुतिस्तं
विनोद्य तस्या हृदयं प्रविश्य तदान्तरमाप्रकृत्याय प्रयुष्यते ।

३५.

अस्य हिमालयस्य पृष्ठे ललोकाद्रङ्गाप्रवाहः पतति, गङ्गा च निसर्गेणैवानि
पवित्रतमा, सप्तर्षिदत्तवल्मीकां पुष्पादीनि च तत्र प्रवहन्तीति विशेषेण पवित्रता,
तथापि सा गङ्गा तथाविधो पवित्रतो हिमालये नार्पितवती, यथा रसोधानि क्षरितानि
समुद्रपौत्रं हिमालय (स्वप्नित्वात्, तच्छब्दे तपश्चरणाद्वा) पवित्रीकृतवन्ति ।
गङ्गाजलाद् अपि उत्कृष्टानि तव क्षरितानीति सारः । तव हेतुगर्भं निरूपयन्—
“अनादितैः” इति । गङ्गाजलं येषां रोगक्षतनकाले वा आश्लिष्य (अस्त्वञ्जम्)
अपि भवति, स्वचरितानि तु न कदाप्याश्लिष्यन्ति (पापगन्धोनि) इति ।

अपि प्रसन्न हरिणेषु ते मनः करस्थदर्शप्रणयाऽपहारिणः ।

यः उत्प्लासि । प्रचलैर्विनेचनैस्तनाऽधिसादृश्यमिव प्रयुज्यते ॥ ३५ ॥

यदुच्यते पार्वति । पापकृत्ये न रूपमित्यव्यभिचारि तद्वचः ।

तथा हि ते शीलमुदारदर्शने । तपस्विनामप्युपदेशतो गतम् ॥ ३६ ॥

विकीर्णसप्तर्षिवत्प्रहासिभिरुपा न गाह्यैः सलिलैर्दिवसन्त्युते ।

यथा तदोयैर्भस्मैरनादितैर्महीधरः पावित एव साऽन्वयः ॥ ३७ ॥

३८

धर्मार्थकामेषु लोका प्रायेणार्थकामयोरेव विशेषेण सत्त्वा दृश्यन्ते, धर्ममपि तदर्थमेवाभ्यस्यन्ति, तेनार्थकामयोरेव प्राधान्य मनस्यायाति । परमद्य मया प्रतीतम्, यद् धर्म एव मुख्य पुरुषार्थ । यत त्वाद्दृष्टी बुद्धिमती अर्थकामौ सर्वथा उपेक्ष्य केवल धर्म भजते इति ।

३९.

अहमयागत, त्वया विशेषेण संहृत इत्येतान्तैवाह स्वदीयो आत । नेदानीं पर इति मन्तव्योऽस्मि । यतो हि सञ्जनाना मैत्रीरूप सम्बन्धो न कष्टसाध्य, स हि केवल परस्परालापे सप्तपदोच्चारणमात्रेण सप्तपदपरिमितेऽश्वनि सहस्ररणमात्रेण वा समुत्पद्यते । तस्मात्स्वदीयत्वात् स्वम्जनोऽभिलाष प्रष्टु ममाधिकारोऽस्तीति ।

४०.

अत्र तप सम्बन्धे अस्ति मे जिज्ञासा, त्वत्सम्बन्धी चाह जन इति प्रश्नेऽधिकार मग्ये । न च प्रश्नेन ते कोपसमाधना, यतस्त्व तपोधना बहुसमा । स्वामाविक च प्रश्नकुतूहलरूपं चापल ब्राह्मणेषु इति प्रथम एव दर्शने प्रश्न एवविधे मे उपपन्ना प्रवृत्ति । न च मे निर्वन्ध, यदि गोप्य न स्यात् तर्हि कथय-इति । विनयप्रदर्शनमिदम् ।

४१

तपसो लौकिकानि फलानि यानि समाभ्यन्ते, तानि (उत्तमकुलजन्म, सौन्दर्यम्, वपुः, यौवन इति) सर्वाण्यपि ते सन्ति । तथाविधानि च सन्ति, यत उत्कृष्टानि न सम्भवन्ति । नव च ते वय, तेन (श्रृंगत्रयमनपाकृत्य) मोक्षामिलाषोऽपि न सम्भवति, तन्न समाभ्यन्ते तवास्य तपस किमपि फलम् । न चाफला बुद्धिमता प्रवृत्ति, तत एव फलप्रश्ने कौतुकमुत्पन्नमिति ।

अनेन धर्मं सविशेषमद्य मे त्रिकर्णसार प्रतिमाति भाविनि ।
 त्वया मनोनिर्विषयाऽर्थकामया यदेक एव प्रतिष्ठा संयते ॥ ३८ ॥
 प्रयुक्तसत्कारविशेषमात्मना न मा पर सम्प्रतिपत्तमर्हसि ।
 यत सतां सन्नतगात्रि । सन्नत मनीषिभिः सप्तपदीनमुच्यते ॥ ३९ ॥
 अतोऽत्र विधिद्वयती बहुसमा द्विजातिमावाहुषण्णवापल ।
 अयं जन प्रष्टुमनास्तपोधने । न चेद्रहस्य प्रतिवक्तुमर्हसि ॥ ४० ॥
 कुते प्रवृत्ति प्रथमस्य वेधसन्निलोकसौन्दर्यमिन्द्रोदित वपु ।
 अमृगमैध्वयं सुख नव वयस्तप फल स्यात्किमत्र पर वद ॥ ४१ ॥

४२.

इष्टप्राप्तिस्तपसा न समावितेति पूर्वस्मिन् पद्ये उक्तम् । ननु इष्टप्राप्तिवदनिष्ट-
परिहारोऽपि वाञ्छनीयः, तदर्थमेव कदाचित्तर स्यादिति स्वयं समाप्य, अम्बुरगम्य
च तस्याप्यभाव विवृणोति वर्गा, त्वयि अनिष्टसम्बन्धोऽपि न समाप्यत इति ।

४३.

अनिष्टसम्बन्धमात्र उक्तं, स एव प्रपञ्च्यते, तत्राहुतिरेव 'अनिष्टप्राप्तिदोषा
न प्रतीयते, न हि सोम्या, सर्वलक्षणोपता वा आहुतयोऽनिष्ट भावो दृष्टः ।
यद्वा शोकचिन्ता तत्राहुतौ न दृश्यते इति भावो व्याख्येयः । किं न कम्मादनिष्ट
सम्बन्धे ! मनुष्ये मनुष्याचारात्परान्नोक्त-ज्ञाद्वाऽनिष्ट स्यात्, एवं तु पितृपुत्रे
निवसति, निवा च त्वयि निवस्य त्विन्व इति कोऽनिष्ट कुर्यात् । अन्यस्तु कथं
कामो पुरुषः पर्वतराजपुत्रीं त्वा मनसापि न चर्षिषुमन्, न हि सर्वमणोरररण्याय
कश्चिदुद्युक्ते ।

४४

तप काराणानि परिहृतानि, निरभिषन्धे तत्र स्यादिति पक्षमाश्रयति । तद्धि
वृद्धानां शोभते, न तु यौवनप्रारम्भ एव । अधुना तव मृगगधारणकालोऽस्ति, न तु
वल्कलधारणकालः । यथा रात्रेरारम्भ एव चन्द्रतारका अस्त गच्छेयुः, अरुणो
दियाद् इत्यसंगता घटना, तथाऽग्निन्नेव वयसि मृगगारागो वल्कलधारण च
तवासंगतमिति रात्रे मृगस्थानीयाश्चन्द्रतारका, अरुणस्थानीयस्तु वल्कलम् ।

४५.

समावनान्तर निराक्रियते—यदि स्वर्गोऽभ्या तत्र, तर्हि व्यर्थम् । स्वर्गे तु एव
रिपयैव, हिमालयप्रदेशा एव देवानां निवासा स्वर्गा इत्युच्यन्ते, एतदर्थमेव
तपस्यन्ति मूमिष्ठा लोकाः । यदि तु विवाहार्थं वरं प्राययस्ते—तदप्यसमाभ्यम् ।
इहैव स्त्रीरान स्वयवरा अभिलिष्यन्ति, नरमिषितदुर्लभस्ते वरः स्यात् । 'यस्त

मनस्यनिष्ठादपि नाम दुःखदाम्नस्विनीनां प्रतिपत्तरोदशी ।

विचारमार्गप्रहितेन चेतसा न दृश्यते तच्च कृशोदरि । त्वयि ॥ ४२ ॥

अलम्ब्यसोकाऽग्निमेवमाहुतिर्विमानना मुष्ण । कुत पितृपुत्रे ।

पराऽग्निमर्शो न तत्राऽस्ति कः करः प्रसारयेत्तत्रगरात्तनुचये ॥ ४३ ॥

किं निरपपास्याऽऽमरणानि यौवने घृतं त्वया दाघं शोमि वञ्चयम् ।

वद प्रदोये स्फुल्लचन्द्रतारका विमादरी यद्यरुणाय वल्कले ॥ ४४ ॥

दिव यदि प्राययस्ते वृथा अम पितुः प्रदेशास्तव देवभूमय ।

अयोऽयन्तारमल समाधिना न रत्नमन्विष्यति मृग्यते हि तत् ॥ ४५ ॥

ईक्षितो वरः, सोऽहं स्वयं त्वामन्विष्यन्नायातः, अलमिदानीं तपसा' इति भगवता शिवस्य गूढोऽभिप्रायः ।

४६.

वर्णा वक्ति—यदा मया संभावितान् मनोरथान् निराकरणाद्योपक्षिपता वरप्रार्थना उपक्षिता, तदा त्वान्तस्तापबोधकाः उष्णनिःश्वासाः प्रवृत्ताः, वरार्थित्वं तवानुमीयते । तथाप्युपपत्तिपालोच्यतो मम विचारशीले मनसि तत्रानुमाने विश्वासो न जायते । यतो हि उत्कृष्टं वस्तु सर्वैः प्रार्थ्यते, अतः सर्वोत्कृष्टा त्वमेव सर्वैः प्रार्थनीया, त्वत्प्रेक्षया न दृश्यते कोऽप्युत्कृष्टो यावत्तया प्रार्थ्येत । पुनश्च प्रार्थ्यमानोऽपि स न सुलभ इति तदर्थं तपश्चरणमिति तु संभाव-
भाषा भविष्य एवेति ।

४७.

यदि तस्य वरप्रार्थनयैव तत्र तपसः, तदेदं वक्तव्यं स्याद्, यत्त्वयेभ्यमाणः कोऽपि वरः पाषाणवदेव दृढ इति वृथा युवत्वामिमानी । (स्थिरशब्दः स्थैर्यगुण-
बोधकोऽप्यत्र वाक्यार्थवैशिष्ट्याद् दुर्गुणपर्यवसायी) स हि साध्यंमुपालभ्यते मया । यतस्त्वं तद्विद्वेष्टेदृशी दृष्टां गतासि, यद्व्यग्ननामावात् श्लथस्तत्र जटाः कपोले लम्बन्ते, न च योग्योऽपि कपोलदेशः कर्णोत्पलकान्तया शोभते, तस्य तु मनसि नास्येतावतापि कोऽपि प्रभाव इति । कल्पाप्रपिङ्गला इति श्लथानामपि जटानां कपोलशोभादेस्तुल्यमुक्तम् 'किमिव हि मधुराणां मण्डनं नाकूनीनाम्' इति न्यायेन । 'तवेक्षितो यो वरः सः नित्यं युवैव, न कदापि बालो वृद्धो वा, जन्ममृत्युसम्बन्धा-
मावात् । स्थिरः—सर्वथा विकारशून्यः कूटस्थः, अहो इत्याश्चर्यरूपश्च' इति भगवतः शिवस्य गूढोऽभिप्रायः ।

४८.

विभूषणधारणोचितानि वराङ्गानि सूर्यकिरणैर्दृशन्त इव । अतश्च त्वमतिमात्रं कर्षितासि, दिवा वरगन्ता चन्द्रलेखेव दृश्यसे, त्वामेवमवस्थां दृष्ट्वा कः सहृदय-
श्चेन्न न खेदमनुभवति, तथापि तत्प्रार्थितो युवा न द्रवतीत्याश्चर्यमेव । 'सचेतसो मनो वृथेत, त्वत्प्रार्थितस्य तु मनः सम्बन्ध एव नास्ति, निरिन्द्रियत्वात्' इति गूढोऽभिप्रायः ।

निवेदितं निश्चितेन सोभणा मनस्तु मे संशयमेव गाहते ।

न दृश्यते प्रार्थितस्य इव ते न विष्यति प्रार्थितदुर्लभः कथम् ॥ ४६ ॥

अहो ! स्थिरः कोऽपि तवेक्षितो युवा चिराय कर्णोत्पलशून्यतां गते ।

उपेक्षते यः श्लथलम्बनीर्जटाः कपोलदेशे कल्पाप्रपिङ्गलाः ॥ ४७ ॥

मुनिव्रतैस्त्वामतिमात्रकर्षितां दिवाकराण्युग्रभिभूषणास्तरदाम् ।

तथाऽङ्गलेखामिव पश्यतो दिवा सचेतसः कस्य मनो न दूयते ॥ ४८ ॥

४९.

मयानुमीयते-स्वया प्रियत्वेन सकल्पित कोऽपि पुरुष, सौभाग्येन गर्वित, 'मामेवेय सर्वथानुयास्यति, कठिनामस्या परीक्षां करोमि' इत्याद्यभिमानस्तस्य । तेनैव गर्वेण वञ्चित सोऽद्यावधि । ननु वञ्चित इति कथमुच्यते, तत्राह यदि स स्वामन्वसरिष्यत्, स्वदीयमिदं सौन्दर्यनिधानं नेन तन्मुखासक्तमभविष्यत् एतद्विषयतया स यथार्थसौभाग्यमाप्स्यत् । वृथा सौभाग्यमदेनैव तस्येदं मुख्यं सौभाग्यं प्रतिषेद्धमिति स वञ्चित एव मया मन्यते । 'वस्तुवेष्टितं प्रियं, स वस्तुतः सौभाग्यमदेन वञ्चिन-रहित एव, न तस्य प्राप्तकामस्य सौभाग्येच्छा, न वा तज्जनितो मद-अभिमानो ह्येष वास्ति । न च स नेत्रयोर्लक्ष्य भवति' इति भगवतः शिवस्य गूढोऽभिप्रायः ।

५०.

पार्वति ! चिरं तपः कुर्वती त्वं भ्रातासि, दया मे त्वम्युत्पन्ना । अहं स्वाञ्जितस्य तपसोऽर्द्धभागं ते दास्यामि, तेन तत्राभिलाषं पूरयिष्यते । परं तु त्वदीप्तिता वरं पूर्वं साधुमिच्छामि-योग्यं स न वेति । योग्यवरप्राप्त्यर्थमेव मया त्वदर्थं तपोव्ययं क्रियेत इति । इयं भगवतः शिवस्य वरप्रदानपरा गूढोक्तिरिति विवरणकारो व्याचष्टे तथा हि-तपःसन्दो लक्षणया तपःसाधनभूतस्य शरीरस्य बोधकं, 'शरीरमाद्यं लघु धर्मसाधनम्' इत्युक्तावात् । शरीरस्य दिव्यत्वप्रतीतिं लक्षणप्रयोजनम् । तेन च ममापि-निर्गुणत्वेन, निरीहत्वेन, निराकारत्वेन च प्रसिद्धस्यापि पूर्वभ्रमवञ्चितम्-पूर्वम्, सर्गारम्भकाले, अभयेन-अनायासतः, मायामात्रेण वषादितम्, तपःशरीरम्, अस्ति, तदर्द्धभागेन काङ्क्षितम् लभस्व-तस्य समाद्यमर्द्धं लप्त्वा पूर्णमनोरथा भव, शरीरार्द्धं ते ददामि परं वरं त्वदीप्तिताम्, साधु-मया कतिपयमावस्य पूर्वपक्षस्य निराकरणपूर्वकं वेदितुमिच्छामि, अपि स्वप्नावदात्म्यं निश्चासे इति ।

५१.

प्रष्टा पूर्वं द्विज-मा-ब्राह्मण इति, तदुत्तरं दातव्यमेव, वाचोयुक्त्या च हृदयं तेन वशीकृतम्, तेनाप्युत्तरदानमावश्यकम् । परं तथापि लक्ष्म्या पार्वती स्वयं

अवैमि सौभाग्यमदेन वञ्चितं तव प्रियं यन्नतुराऽवलोकितम् ।

करोति लक्ष्यं चिरमस्य चक्षुषो न वन्नमात्मीयमराल्पस्मरणम् ॥ ४९ ॥

कियच्चिरं भाग्यसि गौरि ! विद्यते ममाऽपि पूर्वाभ्रमवञ्चितं तपः ।

तदधमागेन लभस्व काङ्क्षितं वरं तमिच्छामि च साधु वेदितुम् ॥ ५० ॥

इति प्रविश्याऽभिहिता द्विज-मना मनोगतं वा न शक्या कदापि तुम् ।

अयो वयस्यां परिपाशवर्तिनी विवर्तिताऽनञ्जननेत्रमेक्षत ॥ ५१ ॥

स्ववर कथयितुमशक्तामूत् । वक्तव्यावश्यकता तु विचार्य सखीमुख पश्यन्ती
तामुत्तर दातु प्रेरयामासेव । नेत्रमभिमुखीकृत्य नेत्रस्यानञ्जनस्य सखीं प्रति द्योतयन्ती
'अनञ्जनस्वकारणीमूता' यथा स्वया वेदयितव्या' इति 'वञ्छितवती । सखी नित्य
पार्श्वस्थितिशीनेति तस्या हृदय विजानाति, सा सर्वं वक्तु क्षमेति ताञ्गीत्यार्यो
निनिर्व्यनक्ति ।

५२.

पार्वत्या दृष्टिपातेन प्रेरिता सखी ब्रह्मचारिण प्रायुक्तवती । साधो ! स्वकीयार्थ-
तत्प्रादानोद्यमेन परोपकृतिपरायणता तव प्रकटीकृता, पर नैवमस्मत्सत्या भ्रमी
क्षित साध्यमस्ति, अतिदुष्प्राप तत् । यथापि स्वादृशस्य कौतूहलनिवृत्ति कर्तव्यैवति
कथयामि । यस्मै प्रयोजनाय तपस्यन्तीयमस्मत्सखी सुकुमारतरमिदं शरीरमति
कठिने शीतातपन्तुदादिसहनसाहसे तथा योजितवती, यथा कश्चित् कमलमातपनिवा
रणार्थं योजयेत्—तत्प्रयोजनं ते वन्मि ।

५३.

प्रयोजनमाह सखी 'वराथमेवास्यास्तपश्चरणम्' । वरास्तु इन्द्रादयो यद्यपि
मूलभा, उक्तृष्टा च तेषां दिगोशस्वभीरिति अयस्मां प्रार्थनीया अपि ते, तथा
अभिमानवनीयमिन्द्रागोप्रभृतिभ्य उल्लुषमिञ्जन्ती न तानाद्रियते । य तु सर्वेभ्य
उक्तृष्ट भिनाकधारिणमिय पतित्वेनाप्नुमिञ्जति, स न सौन्दर्येण वशीकर्तुं शक्य —
यतस्तेनास्या समक्षमेव स्वयं धनुर्धर कामो निपदीत । तस्मात्तपश्चरणमेव
तत्प्राप्तदुष्प्राप इति निश्चितम् । भिनाकपाणिमिति पद वीरतामावेदयदभिलाषयोग्यतां
तत्र व्यनक्ति । मानिनीनां वीरकामनाया स्वभावसिद्धत्वात् ।

५४

कामेन यदा बाणं शिवं वशीकर्तुं विवृष्ट, तदा शिवेन कामो दग्ध, बाणश्च
तस्य हुङ्कारेण निवर्तित । मृतस्यापि कामस्य स बाणं शिवानुगतदृढयामिनां
पार्वतीप्रवलां मत्वातितरां हृदये पीडयति स्म ।

सखी तदीया तमुवाच वर्णिनं निबोध साधो ! तव चेत्कुतूहलम् ।

यदर्धमम्भोजमिवोष्णवारणं कृतं तपसाघनमेतया वपुः ॥ ५२ ॥

इयं महेन्द्रप्रभृतीन्धिधियश्चतर्दिगोशानवमस्य मानिनी ।

अरुणद्वार्यं मदनस्य निग्रहात् पिनाकपाणिं पतिमाप्नुमिञ्जति ॥ ५३ ॥

अस्त्रहुङ्कारनिवर्तितं पुरा पुराऽरेममासमुखं शिलीमुखं ।

इमा हृदि व्यापतपातमक्षिणोद्दिशीर्णमूर्तेरपि पुष्पधन्वन ॥ ५४ ॥

५५.

कामवायेन यदा हृदि निद्रा, तत एवारम्य मदनकृतस्नापोऽस्या परा वृद्धि
गत । येन हिमालये प हिमशिलास्वपि लुठन्त्या न तापशान्तिरभूत् । तापशान्तये
च यच्च दनमिय सर्वस्मिन् ललाटे लिप्यति स्म, तत् क्षणादेव शुष्क ललाटादिरिष्य
लुठन्त्या अस्या त्रिकीर्णोत्तलकान् धूसरयति स्म । 'पितुर्गृहे' इत्युक्त्या हिमालयेऽपि
एव ताप इति तापोरुक्तौ 'व्यञ्जित', इति विवरणकार । 'पितुर्गृहे' विरहतापस्या
त्यन्तगोपनार्हत्वेपि ताप एव प्रकरोऽमूद्-इत्युक्त्यता व्यज्यत इति तु व्यम् ।

५६

इय हि शिवेऽनुरक्ता शिवकीर्तनभक्ताभ्यसनाद्वनान्ते गच्छति स्म । तत्र च
यदा किन्नरकन्यका शिवचरित गातुमारम्भते स्म, तदा तामि सह गातुमुपक्रम
माणापीय शिवस्मरणोद्बोधितविरहजनितेन कश्चिद्भवेन स्पष्ट पदा-पुष्पादिदु-
मद्यस्तुवनी तथा वैकल्य प्राप्नोति स्म, यथास्या दद्या इत्या सखीमृतास्ता किन्नर
राजकन्यका अपि वदन्ति स्म ।

५७

निशास्वनया निद्रा न लभ्यते स्म । रात्रेर्मागद्वय विनिद्रमेव गमयित्वा तृतीय-
भागे कथञ्चिन्नेत्रनिमीलनमात्र निद्राभास प्राप्नोत् । तत्र चाङ्गरतमनिद्रायाः कथ
चिज्जागरणम्, कथञ्चिच्च स्वप्न इति स्वप्नजागरयो रङ्ग दद्यायां स्वप्ने शिव
दृष्ट्वा तमुपगूहमाना जागरणस्थसखद् बाहू प्रसारयन्ती, त च तत्रापि पलायमानं
दृष्ट्वा "नीलकण्ठ (विषमद्येनापि कण्ठ-दुःखहरोऽसि, किमिति मा दुःखयसि)
क व्रत्रसि" इति ब्रुवती पलायनवनितात् प्रासाज्जागर्ति स्म । जागरिता चापश्यत्,
सम्भ्रम वागपि निर्निषया, सखीभ्यश्च शिवस्यासन्निधानात् । बाहू चापि परिरम्भाय
मुमुक्षौ कन्यनामात्रनिर्मित एव कण्ठे सखी, न तु वास्तव इति ।

५८

स्वप्न चित्र-सादृश्यदर्शनानि विराहिणा विनोदस्यानानि, तत्र स्वप्नदर्शनेना

तदा प्रमत्त्युन्मदना पितुर्गृहे ललाटिकाज्जनधूसराऽङ्का ।

न जातु बाला लभते स्म निवृत्तिं त्रुषारसङ्कानशिकातलेऽपि ॥ ५५ ॥

उपासकं चरिते निनाकिन सबाध्यस्वञ्जितै पदैरियम् ।

अनेकश किन्नरराजकन्यका वनाऽऽवशीतसन्नीगरोदयत् ॥ ५६ ॥

त्रिमागशेषामु निशासु च क्षणं निमील्य नेत्रे सहसा व्यबुध्यत ।

क नीलकण्ठ ! व्रत्रसीत्यल्यङ्गवागसरकण्ठाऽस्तिबाहुवचना ॥ ५७ ॥

यदा तु ये सर्वगतस्त्वमुच्यसे न वेति मा वश्यमिमं कथं जनम् ।

इति स्वहस्तोक्तिविश्रम्भ मुग्धया रदस्युपालम्भत चन्द्रशेखर ॥ ५८ ॥

तुतिरुद्धा । चित्रदर्शनमप्युच्यते—‘इयं पार्वती कृष्णचिन्तिवरूप द्रष्टुमुत्कण्ठिता स्वहस्तेनैव शिर्षं चित्रे लिखति स्म । तद्दर्शनोद्बुद्धविरहविमुग्धा च ‘चित्रमिदम्’ इति विस्मरन्ती प्रत्यञ्चत्तमुपालभते स्म—यत् ‘पण्डितैः सर्वान्तर्यामितया उपदिश्यमानोऽपि कथं भदनुरागं न वेत्ति । जानानोऽप्युपेक्षते—इत्याहो ते निर्दयता !’ इति । अयं चास्या व्यापारो लज्जयैकान्ते प्रवृत्तोऽपि सखीभिः कथञ्चिद् दृष्ट इति ।

५९.

अति तीव्रविरहेण संतप्तया उपायं विवेचयन्त्याऽनया यदान्य उपायो न दृष्टस्तदा पितुराज्ञां गृहीत्वा तपं कर्तुमियमत्रागता । स्त्रिया एकादिभ्या निवास-स्यानुचितत्वाद्वयमेतत्स्वरय एतया गृहीत्वात्रागता । जगत्पतिर्हि भगवान् द्यौर्लोके न तपोऽतिरिक्तोपायश्चाप्य’ स्यात् ।

६०.

तपस्यन्त्या अस्माकं सख्याः पार्वत्या इयान् समयो व्यतीतः, यदनयाऽत्राग-तया स्वहस्तेन उत्तरीजाः सिक्ताश्च वृक्षा अपि फलवन्तो जाताः, किन्तु अस्या मनोरमबीजमद्यापि बीजापर्यमेव, न बीजाङ्गुरोत्पत्तिकालिकी उच्छ्रूनावस्यापि तत्र दृश्यते । सिद्धे किमपि लक्षणमद्यावधि न दृष्टमिति ।

६१.

सखी वक्ति—‘वर्णिन्’ । यस्त्वयोक्तम्, कं प्रार्थितदुर्लभो भविष्यति’ इति । एष प्रार्थितदुर्लभः शिवः, तदर्थमेव तपस्यन्तीयमोदशीं दद्यां गता, यावत्सद्यो वयमेतस्या दद्या विचार्य निरन्तरमभूति मुञ्चामः अभूणामन्तराले च कथंचिदेतस्या दद्यां प्रेक्षामहे । बुद्धिप्रतिबन्धेन यथा लोहलक्षता भूमिः शोभ्या भवेत्, तथेय-मस्माकं शोभ्या, (स्वयं त्वयं न शोभति, वयमेवैतदर्थं विपण्याः, कृषकाः भूम्यर्थमिव) यथेन्द्रतप्तायां भुवि कृपां कृत्वा वर्पति, तथा कदा भू देवः कृपां करिष्यतीति न शयते :

यदा च तस्याऽधिगमे जगत्पतेरपश्यदन्यं न विधिं विचिन्वती ।

तदा सहाऽस्माभिरनुजया गुणोरियं प्रपन्ना तपसे तपोवनम् ॥ ५९ ॥

दुर्मेघे सख्या कृतजन्मसु ह्ययं फलं तपसाक्षिण्यु दृष्टमेव हि ॥

न च प्रगोहामिमुञ्चोऽपि दृश्यते मनोरथोऽस्या शशिमौलिसम्भवः ॥ ६० ॥

न वेद्यं स प्रार्थितदुर्लभः कदा सखीभिरसोत्तरमीक्षितामिमाम् ।

तप इशामभ्युपपत्स्यते सखी वृषेव सीता तदवप्रदृष्टताम् ॥ ६१ ॥

६२.

पार्वतीप्रेरितया हृदत माव आननया सख्या सर्वं यथार्थमावेदितम् । तच्च
भवा भगवत शिष्यस्य हर्षं उत्पन्नं, पर स्वरूप गोपयितुं न हर्षचिह्नानि रोमोद्ग
मादीनि तेन प्रकटितानि । प्रत्युत विपरीत पार्वती प्रति एव पृष्ठम् 'अयि पार्वति ।
स्वशरीरे सत्यं ब्रवीति, उत सलीमावात्परिहास करोति' इति । स्वयं पार्वतीमुखादा-
कर्णयितुमग्रे विपक्षीभूय परीक्षितुं सेयं कपटरचना ।

६३.

आवश्यक वर्णिमणस्य तद्गौरवरक्षणायोत्तरणम्, एवञ्च च निरुणद्धि,
इत्यसामञ्जस्ये चिरं रित्वा पार्वती, अन्ततः कथञ्चिदतिसञ्ज्ञेनेणोत्तरदाने प्रवृत्ता ।
सा अप कुर्वाणासीत्, जपमध्ये चानुचित माषणमिति अपविरामाय दण्डिकनिर्मिता
जपमाला तया हस्ताग्रभागे निधलीकृत्य स्थापिता । अपकाले च मध्यमामध्यमागे
धृताया मालाया अङ्गुष्ठेन चालनम्, तज्जनी च पृथग्विधृता स्थाप्यत इति
अङ्गुलयो विधृता भवन्ति, अपविरामे सकीच्य ता मुकुलीकृता ।

६४.

वर्णिना यत् 'किं परिहासोऽयम्' इति पृष्ठम्—तत्र पार्वत्या एव बुद्धिबद्धमूढ
यन्त्रिपत्नीरिव दुष्प्राप मत्वायमेवाहेति । तदनुसारेणोत्तरयति सा 'वेदविद्वर ।
त्वया सलीमुखाच्छ्रुतं यथार्थमेव, तादृशदुष्प्रापोक्तस्यानप्राप्तौ मदमिलापो वर्तते
एव । इदं चातितुच्छं तपोऽहं तत्प्राप्तिषाघनं वृथैव मम्ये इति बालिशता मे ।
तथापि किं करवाणि, मनोरथा समीक्ष्य न प्रवर्तन्ते—इति मनोरथस्यैवाय
दोषो न ममेति ।

६५.

पार्वतीमुखात्कपटगुणना शिष्येन स्वानुरागो यत्रपि भूतः, तथापि मूयौऽपि
सादर्थ्यपरीक्षार्थम् 'ऋद्धसुप्तमत्तानां मावशानम्' इति नीतिवचनात् कोपदद्यात्
मुख्यमावपरीक्षायां शैल्यस्य पश्यन् कोपदद्यात् जातिमधुरान् पार्वतीमुखविकारान्

अगूढसङ्कावमितीकृतशया निवेदितो नैष्ठिकसुन्दरस्तथा ।

अधीदमेव परिहास इत्युमामपृच्छद्व्यञ्जितहर्षलक्षण ॥ ६२ ॥

अयाऽयहस्तेमुकुलीकृताऽङ्गुली समर्पयन्ती दण्डिकाऽऽनालिकाम् ।

कथञ्चिदत्रेस्तनया मिताक्षरं चिरं यस्स्थापितवागमायत ॥ ६३ ॥

यथा भूतं वेदविदां त्वं । त्वया जनोऽयमुच्चैः पदलङ्घनोत्सुकः ।

तपः किल तदवाशिषाघनं मनोरथानामगतिर्न विद्यते ॥ ६४ ॥

अयाऽहं वर्णा विदितो मदेश्वरस्तदर्थिनी त्वं पुनरेव वर्तसे ।

अमङ्गलाभ्यासरतिं विचिन्त्य तं तवाऽनुवृत्तिं न च कर्तुं मुखदे ॥ ६५ ॥

द्रष्टुकामस्तां कोपयितु एवं (शिवं) निन्दितमुपचक्रमे । यद्यपि मया पूर्वम्
अर्द्धतप प्रदानं तुभ्यं प्रतिश्रुतम् , परमिममयोग्यामिनिवेशं ते विलोक्य वाङ्-
मात्रेणापि तवानुवर्तनमनुमतिरूपं न कर्तुं शक्नोमि, दूरे ॥ तप प्रदानम् ।
स्पष्टमन्यत् ।

६६.

पूर्वमुक्तममङ्गलाभ्यासं प्रपञ्चयति—अग्रे निर्वाहस्तु दूरे आस्ताम् , विवाहकाल
एव पाणिप्रदणसमये यदा शिवस्तु धृतमङ्गलस्य पाणिं स्वकरेण ग्रहीष्यति, तदा
तारकरे सर्पं भूषणत्वेन स्थितं दृष्ट्वा भीत्या एव करो निर्वर्तिष्यत इति पाणिप्रदणमेव न
सम्भवेत् । क्व एवं कृतविवाहमङ्गलवेष्टा सुकुमारतरो बाला, क्व च सर्पभूषणं शिव
इति वैषम्यमत्र प्रकथितम् । तत्प्रथमाकल्मषनपदेन च विशेषेणासहस्यमुक्तम् । अग्रे
अभ्यासात्तरस्तत्करस्पर्शं सहेतापि, प्रथममेव नु कथं सहेत इति ।

६७.

हे गौरि ! अन्यस्य कस्यचित्कथनमुपदेशो वा दूरे आस्ताम् , नास्ति तस्या-
वश्यकता, त्वमेव स्वयं विचारय । विवाहकाले अस्थिरावधौ यदा स्यात् तदा स्वदा
धृतं तादृशं महाहं पट्टवल्लम्—यत्र गोरोचनया प्रान्तभागे हसद्वयं लिखितं स्यात् ,
महादेवेन च धृतं नवं गजानिर्जं यस्मान्नवतया शोणितविन्दवः क्षरन्तः स्युः , तयोः
परस्परं मन्थि क्रियेत् । किमियं पट्टनां समुचिता स्यात् ? किं तयोर्वीर्यं शोभेत् ?
आस्तां तत्र शिवस्य च योगे औचित्यविचारं युवाभ्याम् परिहितयोर्वीर्ययोरेव
योगो न तावद् घटते इति ।

६८.

अनन्तरं च यदा त्वं भर्तृपदे गमिष्यसि, तदा शिवस्य वमशानवादिवाचवापि
मर्त्ता सह वमशान एव स्थितिर्भविष्यति । ततश्च ययैस्तव पादयोः पितृपदे मङ्गल-
मयेषु पदेषु विकीर्णपुष्पेषु सञ्चारणम् , तस्यैव च तौ समुचितौ, तापोरितस्ततः
प्रक्षिप्तशवकेषामु वमशानमूषिषु सञ्चारो भविष्यति । तत्रैव च पादन्यस्तालककर-
सगर्भाणि पदचिह्नानि ते लक्ष्येन् । तत्र शत्रुपि (यो निन्दितोऽपि स्यात् ,
सोऽपि) क्षतमामिमां नानुशातुमर्हति, कथं नु मादृशो बन्धुरनुजानीयात् ।

अस्तुनिर्वन्धपरे । कथं नु ते करोऽयमायुक्तविवाहकौटुकः ।

करेण शम्भोर्वर्ण्योक्तताऽदिना सहिष्यते तत्प्रथमाऽवलम्बनम् ॥ ६६ ॥

त्वमेव तात्पर्यचिन्तय स्वयं कदाचिदेते यदि योगमर्हतः ।

बभूदुक्कूलं कलहसलक्षणं गवाऽजिनं शोणितविन्दुवर्षि च ॥ ६७ ॥

चतुष्कपुष्पप्रकराऽवकीर्णयोः परोऽपि को नाम तवाऽनुमन्यते ।

अलककाऽङ्कानि पदानि पादयोर्विकीर्णवैश्यामु परेतभूमिषु ॥ ६८ ॥

६९.

यदा समागमनकाले महादेवस्त्वामालिङ्गिष्यति, तदा तद्रक्षति स्थितम्
(तदेव तत्र सुलभ नान्यत्किमपि चन्दनादिकम्) चितामरमरूपमनुलेपन तवाप्य-
स्मिन्निजोकोसौन्दर्यनिधाने कुचद्वन्द्वलम् स्यात् । यस्मिन् स्तनद्वन्द्वे चन्दनकुङ्कु-
मादीनां विनोपनमुचितम्, तत्र तादृशस्यामङ्गलस्य पदार्थस्य सस्पर्श इति, इतः परं
किं कर्तव्यमुचितं सम्मान्यते ।

७०.

भारती शिष्टाङ्गमने सति पूर्वोक्त इमंज्ञानवासमस्मसर्गयो प्रसङ्ग, ततः
पूर्वमेवैक वक्तुं मया निवृत्तम्, यच्छिवस्य ना-वानि वाहनानि सन्ति, विवाहोत्तरं
स स्वीय वृद्धं वृषभमारोप्य स्वां नेष्यति । या परममुन्दरी राजकुमारी स्वमुखद्वन्द्व-
रिणीमारोद्धु योष्या, सा वृषमारुडेति व्यतिकर्म इष्टा लोकानामाभ्यर्चनवशा च
स्यात्, तेन ते हसिष्यन्ति, स्य तव विडम्बना प्रसज्येत । वारणराजेति राजपदम्,
वृद्धेऽप्युपविशेषणं चात्यन्तवैलक्षण्यबोधनाय । वृद्धो ह्यो द्वाभ्यामारुद्धो न जाने
कदा प्राणान् लक्ष्यात्, तदा पादचारस्येव प्रसङ्गः स्याद् इति चाकृतम् ।

७१.

अतिप्रशस्तकान्तिं मुकुमारतरा चन्द्रकलेव पूर्वं कपालधारिणो भूतेशस्य
शिरोगतत्वेन शोचनीयाऽमृतम् । इदानीन्तु त्वमपि तत्समागतमार्थिनीति अगति इयं
शोचनीयता प्रातम्, अपकृष्णभित्तं सुप्तम् अस्तु शोच्यं भवतीति ।

७२.

‘कन्या कामयते रूपं माता वित्तं पिता भुजम् । बान्धवा कुलमिच्छन्ति
मिष्टान्नमितरे जनाः’ इति नीत्युक्तदिशा रूपं धनं, विद्यां, कुलं चेति चतुष्टयं
परीक्ष्य वरा विवाहार्थं नियन्ते । पार्वति ! त्वया वरीतुमिष्टे त्रिलोचने तु एष्वेकमपि
नास्ति, कुतश्चतुष्टयं स्यात् । तस्य नामैव विरूपाक्ष-तेन लो-दर्ये दूरे निरस्तम् ।

अयुक्तस्य किमतः परं वदन्ति नैव कश्चिन्मुनिस्तवाऽपि यत् ।

स्तनद्वन्द्वेऽस्मिन्द्विचन्दनास्पदे पदं चितामरमरञ्जं हरिष्यति ॥ ६९ ॥

इयं च तेऽया पुरतो विडम्बना यदूढया वारणराजहार्यया ।

त्रिलोक्यं वृद्धोक्षमविहितं त्वया महाजनं शेरमुखो भविष्यति ॥ ७० ॥

द्वयं गतं सम्प्रति शोचनीयतां समागमप्रार्थनया कृपाञ्चिन् ।

कला च सा कान्तिमती कलाक्तस्त्वमस्य लोकरस्य च नेत्रकौमुदी ॥ ७१ ॥

वपुर्विरूपाऽक्षमक्षयजन्मता दिगम्बरत्वेन निवेदितं वसु ।

वरेषु यद् बालमृगाऽक्षि ! मृग्यते तदस्ति किं व्यस्तमपि त्रिलोचने ॥ ७२ ॥

(एवं तु बाल्यमृगाक्षी, स च त्रिरुपाक्षः इति कुत्र द्वयोस्तुरूपता) कुत्र कदा वरनाम्नातोऽमिति न केनापि निश्चयत । यस्य रिताप्यनिर्दिष्टः, तस्य कुलसम्बन्धे किमु वक्तव्यम् । उत्पत्तिकालज्ञानामावेनातिष्ठत्त्वं सूचितं भवति, तदपि वर-
विरुद्धम् । उत्पत्तिदेशकुल्योरज्ञाने च त्रिवापि कथं समवेत् । प्रशस्तमित्रनाः
प्रशस्तमुखा एव च विद्वांसो दृश्यन्ते । धनस्य तु इयमवस्था, यदाञ्छादनार्थं
वस्त्रमपि नास्ति, अत एव दिगम्बर इत्युच्यते । 'त्रिलोचने' इत्युक्त्या च लक्षण-
शीलत्वं सूचितम्, 'हानिवदाधिक्यमप्यङ्गानां विकारः' इति शानुद्रिकोक्तेः । ततश्च
कृपमीदृशेन मवाहृषाः सम्बन्धो योग्यः स्यात् ।

७३.

मम पुक्तिपुक्तानि वाक्यानि विचार्य, अज्ञानात्परिणाममहारजो योऽमिला-
पत्न्या कृतस्त परिश्रमः । दृष्टान्तेनानौचित्यं प्रकाशयन्माह—यथा वनशाननिष्ठाते
वस्त्रघट्टौ वैदिकसत्क्रियासम्बन्धो न दृश्यते, तथा शिवेऽपि तव सम्बन्धो न दृश्यते
एव । वैदिकी सत्क्रिया यथा अग्नौद्विष्टी, तथा स्वमप्यलौकिकीति तद्व्यञ्जनायां
सात्पर्यम् ।

७४.

ब्राह्मणमुक्तादेवं शिवनिन्दां भुक्त्वा पार्वत्याः कोप उदभूत् । तेन तस्या अघरोष्ठः
कम्पमान आसीत्, नेत्रे च प्रान्तभागे रक्ततां गते । अयं सा तन्मुक्ताद् दृष्टिं
परान्तर्पुटिनी भुवं कृत्वा पार्श्वभागे दृष्टिं चित्तेप । कोपाशयोरलक्षणाभ्यामभिहि-
तानि । 'द्विजातौ' पदेन तस्य शापाद्ययोर्म्यता प्रतिपादिता । यद्यन्योऽमविष्यत्,
पार्वती तीव्रदृष्टिचेष्टेण तं मस्मसादकरिष्यत् । परं ब्राह्मणे न योग्यो निग्रह इति
दृष्टिं तिर्यक् क्षिप्त्वावशैव कृता ।

७५.

कोपविशप्रकटनानन्तरं पार्वती भुक्त्वा पार्वत्याः शिवनिन्दायाः, पात्परिहाराय
परिहारोऽवश्यं वक्तव्यः इति विचिन्त्य ब्रह्मचारिणं प्रत्युत्तरं वक्तुमारभत । (तेन
च कपटवदोः रक्षिकशिरोमणेः शिरस्य न केनैव कोपाक्रान्ततन्मुखादर्शनेन
चक्षुषोरेव लभः, अपि तु स्वानुरागवचनभक्तेन ओत्राप्यायनमपीति सन्तुच्येन

निर्जन्तयाऽस्मादसदीप्तितात्मनः क तदिषस्त्वं क च पुण्यलक्षणा ।

अदृश्यते साधुचनेन वैदिकी वनशानश्रुत्य न मूरसत्क्रिया ॥ ७३ ॥

इति द्विजातौ प्रतिकूलवादिनि प्रवेगमानाऽधरलक्ष्यकोपया ।

विकुञ्चितभ्रूल्लमाहिते तथा त्रिलोचने त्रिगुणान्तलोहिते ॥ ७४ ॥

उवाच चैनं परमार्थतो हर्षं न वेति नूनं यत एवमात्स्य माम् ।

अलोदसामान्यमचित्यहेदुकं द्विपन्ति मन्दाभरितं महात्मनाम् ॥ ७५ ॥

त्वितम्) । तदुत्तराय क्रमेण सत्त्वेण परिहारः पार्वत्या वक्तव्यः । अत्र 'विदितो महेधर' इति तदुक्तिरेव प्रथमं निराक्रियते, यत् एव 'महेधर न जानासि' इति तदुक्त्या नि-दयेकानुमीयते । अलौकिका हि महात्मानो न लोकसाधारणमाचरति, तेषां च विलक्षणाचारे को हेतुरित्यपि सर्वेन शायते । तत एवाशाना मूढास्तम्बरितानि दूषयितुं प्रवर्तन्ते । तन्माहात्म्यविशालं मविध्यति कश्चिदत्र हेतुरिति समुप्यन्ति । १५ नि-दयायां प्रवृत्तः, तस्माच्च जानासीत्येव स्पष्टमनुमीयत इति ।

७६

“अमङ्गलाम्यासातिम्” इति विप्रोक्तं दूषणं परिहरति यदावभिचारणाय तुमप्राप्तये वा लोकानां मङ्गले प्रवृत्तिर्भवति । यस्य तु नापरसम्भावना, न वा तुमाप्र-प्यमिलाय (जगन्तरण्यस्येति आपरसम्भवाभाव उक्तः, निराशिय इत्याप्तकामरुशदमिलायामाव) तेन किमिति मङ्गलं सेव्यम्, स मङ्गलमप्यस्यतु, अमङ्गलं वा, कस्तस्य विशेष इति । एतेन पूर्वोक्तो लोकसामान्याभाव समर्थितः । तथा च तादृशो निरापप्राप्तसर्वकामश्च युक्तो ममाभिलषणीयो वर इत्युक्तं भवति ।

७७

न केवलं तमेव शिवं न जानासि, अपि तु लोके केऽपि पित्रोश्च शिवस्य तत्त्वं ज्ञातुं न प्रभवन्ति । अथेयं हि तत्त्वरूपम् ‘विज्ञातारं वा भरे केन विज्ञानीयात्’ इत्याद्यामि भुतिभिर्निरूपितम् । सर्वे च परस्परं विद्वद्वा अपि धर्मा निर्धर्मके तस्मिन् मायया समारोहिता, तदुक्तं भगवता व्यासेन ‘सर्वधर्मोत्पत्तेश्च’ (वे० सू०) इति । ततश्च विद्वदधर्माभयं कः कथं ज्ञातुं प्रमवेत् । तदेवात्र प्रपञ्चितम्—यस्यैव स भवतु नामाकिञ्चनो वज्रविभूषणोत्तमत्राहनादिरहितः, तथापि सर्वो सपदस्तत एवेन्द्रादिभिः प्राप्यन्ते । ‘सुरास्तां तामृद्धिं दधति ॥ भवद्भूः प्रणिहिताम्, न हि स्वात्मारामं विषयमृगतृष्णां भ्रमयति’ इति भगवतः पुण्यदम्बस्योक्तिरनेनानुगता वेदिता । तथैव भवतु नाम इन्द्राद्यनशास्त्री, तथापि लोकत्रयस्य ज्ञास्ता, इन्द्राद्यनशिरायापि न लोकशासने किमपि दीयते । अस्तु नाम स भुजगभूषण इति भीमरूपः, तथापि लोकास्त ‘शिव’ इत्येव व्यवहरन्ति । न हि तदनुगता भुजगा अपि भीषणतां मज्जन्ति इति । एतेन ‘अस्तुनिर्वचपरे’ ‘दिगम्बरस्येन निवेदितं वसु’ इत्यादि परिहृतम् । यद्वा वस्तुनोऽकिञ्चन—सर्वधर्मरहितः, माया विशिष्टस्तु सपदाम्—सर्वरूपाणां प्रभवः, दस्तुतः पितृसन्तानि—सर्वलोकान्तरे

विपत्प्रतीकारपरेण मङ्गलं निषेव्यते मूर्तिसमस्तमुकेन वा ।

जगन्तरण्यस्य निराशियः सत् क्रमेभिराद्योऽद्वैतः ॥ ७६ ॥

अकिञ्चनं सन् प्रभवः स सम्पदां लोकांश्च पितृसन्तानोच्चरः ।

॥ भीमरूपः शिव इत्युदीर्यते न सति याथाार्थविदः पित्राकिं ॥ ७७ ॥

अमशाने, सर्वस्यापि दृश्यमानस्याभावे तुरीयादस्यायां विराजमान, मायया तु लोकत्रयसुभास्य तदीश्वरोऽपि, मायया सर्वं जगत्सदं मयप्रदं इति भीम, वस्तुतस्तु शिव एव, 'शिवमद्वैतं चतुर्थं मन्यन्ते' इति प्रतिपादित । एव माया विरहितस्य, मायाशब्दस्य चेति रूपद्वयस्य कीर्तनेन सर्वशक्तिरोपेनोपपादितम् । एवविधं महेश्वरो यो ज्ञातुमपि लोकैर्न शक्यते, स यदि पतिभावेन सेवितुं लभ्यते, तदा किमु वच्छेद्य, औभाष्यमिति । पिनाकिन इत्युक्त्या पिनाकधारितया सर्वेऽपि तस्मादुन्मिषति, तस्मात् पृथुः पितृस्वरूपं ज्ञातुं न शक्यत इति व्यञ्जितम् ।

७८.

वर्णिन् । ये तस्या सर्पगन्धर्वजिनादिधारणाङ्गवैरूप्यादयो दोषा भवन्ति शिवे प्रतिपादिता, ते अज्ञानहेतुका एव । निर्गुणस्य निराकारस्य भगवतो वास्तव आकार एव न भवतीति कथं कश्चित्तस्य मूर्तिमदधारयेत् । मायया तु स भगवान् विश्वमूर्तिः, सर्वं जगत्तस्यैव रूपम् । ततश्च जगद्रूपेण स्थितस्य कथमेकरूपेण परिच्छेद संभवेत् । यानि रुपाणि, यानि वा भूषणदीनि जगत्सुपलभ्यन्ते, सर्वाणि तानि तस्यैव । यदि अङ्गेषु सर्पवन्धनम्, गन्धर्वजिह्वपरिधानम्, कपालधारण वा तस्य लोकदृष्ट्या निन्द्यन्ते, तर्हि विभूषणशोभितम्, दुर्कूपपरिधानम्, चन्द्रशेखरता चेति प्रशस्यतामपि । यदि स विनद्धमोगी, तर्हि विभूषणोद्भासी कोऽप्य, तदपि रूप तस्यैवेति भावः । यद्वा एकेनैव रूपेणैश्वर्यशालसर्वविधं स्वेच्छया स भवितुं मर्हति, न हि तस्य कारि परतन्त्रता, यतो विश्वमूर्तिः स एवेति । 'विनद्धमोगि' इति विनद्धपदं जगत्सुपद्रवकारिणो सर्पाणां स्वऽङ्गे बन्धनं बोधयन्ती कल्याणपरता भवतीत्यनक्ति । ततश्च यस्तत्तद्वस्तूनां स्वीकारो दृश्यते, सोऽपि जगद्धितायैव, न ह्यातकामस्य तस्य पदार्थापेक्षेति निगूढं बोधितम् ।

७९.

यच्च 'अयुक्तरूपं किमत परम्' इत्याद्युक्तम्—तत्रोच्यते, अन्वयं चित्तामरम् अमङ्गलमपवित्रं च भवतु, शिवशरीरे धृतं तु तदन्यस्यापि पवित्रतासमादकं भवति । अत एव नृत्तकाले दृष्टावक्त्रस्यापारेण ये तस्य कणा भूमौ पतन्ति, तान् देवा स्तस्यां भूमौ पतिष्वपि शिरोमिर्घोरयन्ति । यदि तद्विगुहिकं न स्यात्, कुतो देवास्तद्वारणे प्रयतरन् ।

विभूषणोद्भासि विनद्धमोगि वा गन्धाऽजिनालम्बि दुर्कूलधारि वा ।

कपालि वा स्यादयत्रेन्दुशेखरं न निभमूर्तेरन्वधार्यते वपुः ॥ ७८ ॥

तदङ्गलसर्गमवाप्य कल्पते प्रुचं चित्तामरमरत्ना विशुद्धये ।

तथाहि नृप्याऽभिनयक्रियाच्युतं विलिप्यते मौलिभिरम्बरौकष्यम् ॥ ७९ ॥

८०

वर्गिन् ! शिवो वृषममारुह्य गच्छतीति कल्पम्, किन्तु सर्वोत्तमैरावृतमारुह्य गच्छन् (तव इहया परो मर्हन्) इन्द्र, यदैव वृषमारुह्य तं पश्यति, तदैव ऐरावतादवगच्छ, समीपमागम्य तस्य पादयोः प्रामन्, स्वोऽमुमुक्षुस्थितानां मन्दार कुसुमानां रबोभित्तस्य पादाङ्गुलीं रज्जयति । तथा च न तस्य वृषमारोहस्य वाहनान्तराभाष्या, अत्र तु 'न हि स्वत्माद्यम विषयमृग्युष्ण भ्रमयति', इति शिक्षयितुमेव, वृषमारोहणेन च का तस्य भ्रमो, स वृषमारुहोऽपि जगदीश्वर एव, इन्द्रादयश्च गच्छावृता भवेत्तद्वद्भाषा एव । तेन सह वृषमारोहस्य मदीय परं लोभागम्य, न तु 'इयं च तेऽया पुरतो ऽिदमपना' इत्यादि स्वदुष्टं युक्तमिति ।

८१

वर्गिन् ! यद्यपि त्वं नष्टदुष्टिवाद्भगवत् शिन्दस्व दोषानेव वक्तुं प्रवृत्तः, तथापि तव बुद्धेरस्तितादेकं वाक्यं भगवतो महत्त्वप्रतिपादकं सम्पद्येव इत्युक्त्वा शिस्तान्, यत्त्वयोक्तम् 'अस्त्यन्मता' इति, तत्तथैव, 'यो वै ब्राह्मणं विदधाति पूर्वम्' इत्यादीनि भुक्तिवाक्यानि स्यात्सुखारमण्यभुक् ब्रह्माण्मनोऽथ शङ्कर उवाच इत्यतीति निरूपयन्ति, तस्यैतस्य जगदीश्वरस्योत्पत्तिं को वा लब्धदेत् । उत्पत्तिस्तस्य नित्यस्य नास्त्येव, लक्षिता कथं स्यादिति ।

८२.

वर्गिन् ! नाहं स्वयां विवादं कर्तुमिच्छामि, काश्चोपस्त विवादे प्रेषावतान्, शिरोपन्तगस्विनामप्रवृत्ते । त्वं तावदाग्रहपरो इत्यसे, अतो यथा तव शिवविषये शानम् तत् त्वं दापनेव मया धारय । न त्वहं त्वद्वचनानिष्ठे विरक्ता मविष्मामि, यतो मन मनी भगवति शिवे मकरा परमनुरक्तं सुखिणं वर्तते, दोषघटशनेऽपि न तन्व्यान्विष्टं शक्यम् इति ।

८३

एवं वर्गिनं प्रत्युक्त्वा पुनरेष्टस्फुरणेन तस्य किमपि वक्तुमिच्छामवश्यं

भक्त्यदस्तस्य वृषे गच्छत प्रमिद्विवाणवदनो वृषा ।

कराति पादाङ्गुलम्य मौलिनः त्रिभिर्दमन्दारबोऽङ्गाङ्गुली ॥ ८० ॥

विषयता दोषमप्यनुत्पन्नता स्वैकमीश प्रति तेषु भाषयतम् ।

यमामनत्पादममुबोऽपि का य कथं स तस्यमभनो मविशति ॥ ८१ ॥

अनं विवादेन यथा भूतताया तथाविशस्तान्दशेषमस्तु ॥

मनाऽथ मादिकम् मन स्थितं न कामवृत्तिर्न चनीयमीधते ॥ ८२ ॥

निवार्यतामात्रि । किमप्य वदुः पनविच्छुः सुखितोत्तराऽधर ।

न कबलं यो महतोऽभाषते भृगोः तस्मादपि यः स पापमक् ॥ ८३ ॥

वादप्रतिवादाविच्छेदती पर्वती सखी प्रत्युवाच सखि । अयं बट्ट पुन किमपि
वक्ष्यमिच्छतीत्यनुमीयते, सोऽयं वार्थनाम् । नाहं भगवत शिवस्य निन्दां भुक्त्वा
पापपङ्कनिमग्ना भवितुमिच्छामि इति ।

८४.

पार्वती पुनरुवाच 'चपलो वाचालश्चायं बट्टुर्न विरस्यति, न वा निर्गमिष्यति,
तस्मादहमेवस्थानान्तरं गमिष्यामि ।

'गुरोर्गन्तव्यं परीक्षादो निन्दा वापि प्रवर्तते ।

वर्णां तत्र पिपासय्यौ गन्तव्यं वा ततोऽन्यत ॥

इति स्मृत्वा स्थानाभिर्गमस्य निहितत्वात् । इत्थं वदन्ती च सा उरधाय
गन्तुमारेभे । वेगेनोत्तिष्ठन्त्यास्तस्या वल्कलवस्त्रं स्तनप्रदेशात्प्रपुतममूत् । (तेन
शङ्करस्य स्तनदर्शनलालसापूर्तिरपि सूचिता) तमेव क्षीपेन निर्गच्छन्ती इष्ट्वा
शङ्करेण स्वयं रूपं प्रकटितम्, (वृषभध्वजव्रीहस्य परिजनपरिच्छेदादिसान्निध्यमपि
सूचितमिति प्रकाशिकाकार आह) रिमतं च कृतम् (तेनोक्तस्य सर्वस्य परिहास
रूपता सूचिता) गच्छतीति च पार्वती वसने धूस्वा निवारिता ।

८५

अकरुणात् प्रियतमस्य शिवस्य दर्शनेन लज्जाहर्षप्रेमवद्व्यपराधशया पार्वत्या
शरीरे कम्पं स्वेदं स्तम्भाद्या, सार्विकभावा प्रादुरभूवन् । स्तब्धा च सा वर्धनापूर्वं
गमनाय यथोद्भूतपदा आसीत्, तथैवावस्थिता न सरसं तयामे निहितम्, न
च गमननिवृत्तिनिश्चयेन यथारथानम् स्थारितम् । तत्रोपमाभिधीयते कविकुलगुण-
यथा प्रवहन्त्या नद्या मार्गे कचित्पर्यन्तं आपतेत्, सा च नदी पथतेन निबद्धाऽप्रे-
मन्तुमशक्ता स्यात्, प्रवाहवशाच्च स्थातुमप्यशक्तेति तत्रैव भ्राम्येत्, तथैव पार्वत्या
स्थितिस्तदानीममूदिति ।

८६

तत्त्वा पार्वती त्रिलोक्य भगवता शङ्करेणोक्तम् 'सुन्दरि ! अद्यावत्प्राह ते

इतो गमिष्याम्यथेति वादिनी चंचाल बाला स्तनमिजवल्कला ।

स्वरूपमास्याय च सा कृतस्मितं समालम्ब्य वृषराजकनन ॥ ८४ ॥

तं बोध्य वेदधुमनी सरसाऽङ्गयधिर्निक्षेपणाय पदमुद्भूतमुद्रहन्ती ।

मार्गाचलव्यतिकराऽऽकुलित्वेव विन्धु शैलाधिराजकनया न ययौ न तस्यौ ॥ ८५ ॥

अथ प्रभूरवनताऽङ्गि । तथाऽस्मि दास कीटस्तरोमिरिति वादिनि चन्द्रमौले ।

अशाय सा नियमञ्च वक्ष्यमुत्सर्जं क्लेश फलेन हि पुनर्नवता विधत्ते ॥ ८६ ॥

दास इव संवृत्तोऽस्मि । यथा दासो द्रव्येण क्रीयते तथाह स्वया तपसा क्रीतोऽस्मि,
इति । (मय प्रमृति-इति आरम्भावधिष्ठ , अवसानावधितु मोक्त इति
निरवधि दासत्वं व्यञ्जितम्) एतदमीप्सितं वचनं श्रुत्वा परं हर्षं प्राप्ताया
पार्वत्या सर्वोऽपि तपः क्लेशस्तदैव दूरीवम् । यतो हि प्राप्ते फले उपाये जात
क्लेशो न दुःखयति, प्रत्युत पूर्वमेव नवीनताम् (क्लेशप्राप्ते पूर्वमवस्थाम्)
प्रापयतीति ।

इति कुमारसम्भवे पञ्चमं सर्गं ।



किरातार्जुनीयस्य द्वितीयः सर्गः

कथासम्पन्धः

महाभारतक्यास्य महाकाव्यस्याधारः । किरातरूपधारिणा शिवेन सहायुनस्य युद्धम्, तदनु ततोऽर्जुनस्य पराप्तिश्चात्र मुख्यं वर्णनीयम् । किरातार्जुनावधि-
हृतं कृतं काव्यं किरातार्जुनीयमिति काव्यनामक्युत्पत्तिः । द्यूतनिमित्तेन भ्रातृभिर्द्वौ-
पद्या च सर्वं वने निवसता ज्येष्ठपाण्डवेन युधिष्ठिरेण दुर्योधनस्य राज्यशासननीति-
परिहानाय गुप्तचररूपेण कश्चिद्दत्तेचरो राजधानीं प्रति प्रेषितः तेनागत्य दुर्योधनस्य
शासननीतिरिति प्रशङ्का कृता । अथ युधिष्ठिरेण तस्मिन् वृत्ते भ्रातृणा द्वौपद्याश्च
सविधे वसिते, द्वौपदी “क्रमेण प्रवर्त्तमानन्तः क्षत्रयः क्षीयन्तेव जेतव्याः, न
स्वेवमुपेक्षयाः” इति युधिष्ठिरमुत्तेजितवती । तदिदं प्रथमं सर्गं गतम् । अनन्तरं
वृत्तमिदमुच्यते—

१.

भीमसेनो द्वौपद्या वचनं स्वमनोऽनुकूलं वारयुक्तं च ब्रुवन्वा राशः प्रवृत्तये
रूपमपि हासमर्पनाय प्रवृत्ता युक्तीरालम्ब्य वक्तुमारम्भे । बलप्रयोग एव विधेय
इत्येवमपि पथः । नृपमित्यनेन युधिष्ठिरो न कश्चिद्भीतरागः, अपि तु क्षत्रियवंशज
इति भवत्यस्य परामर्शस्य पात्रमिति द्योतितम् ।

२.

भीमो वक्ति, हे राजन् द्वौपद्याः क्षत्रियकुलाभिमानः प्रोज्ज्वलं जागर्ति,
अस्मात्तु च महास्तस्याः स्नेहः । ततश्च स्नेहपूर्वकं निपुणं रूपं परपक्षसम्बन्धि
सर्वं विविच्य यत्तद्योग्यवस्तुम्, एतादृशं वचनं ब्रूह्यस्वतिरपि कदाचिदेव वक्तुं
शक्नुयात् । ततश्च क्लियोक्तमपि शास्त्रानुरोधे, तत्रापि च हितानुबन्धि इदं वचनं
कं जनं न विस्माप्येत । अस्याभ्यर्थस्यानमिदं वचनमिति वचनप्रशङ्गाया
तात्पर्यम् ।

विदितो धियया मनप्रियामप्य निमित्त्य गिरं गरीयसीम् ।

उपपत्तिमदूर्जिताभयं शृणुचे वचनं वृकोदरः ॥ १ ॥

यदबोचत वीक्ष्य मानिनी परितः स्नेहमयेन चक्षुषा ।

अपि वागधिरस्य दुर्बलं वचनं तद्विदधीत विस्मयम् ॥ २ ॥

३.

ययानिगम्भीरेऽपि नदीहृदादौ घटसाहाय्येन सर्वेऽपि प्रवेष्टुं शक्नुवन्ति,
पर तत्रानुकूल्यङ्गनिर्माणं न सर्वं सुकरम् । तथैव नीतिशास्त्रमपि मन्यानधीत्य
सामान्येन व्याख्यातुं बोद्धुं च बहव शक्नुवन्ति, परन्तु प्राप्तेऽवसरे
'अत्रेदमित्ये कार्यम्' इति कार्यमार्गनिदर्शको नीतिरहस्यकोऽनुकूलं प्रवक्तुं सुतरां
दुर्लभम् । इयं तु द्रौपदी कार्यमार्गं निपुणमुपन्यस्यति स्मेति यत्साध्यमस्ति
विस्मयस्थानम् ।

४.

हे राजन् ! इदं द्रौपदीवाक्यं यद्यप्यल्पम्, युद्धोपोद्वलकृतया निरासाहाय्यं पुंसे
भयङ्करं च, तथापि परिणामोऽस्य ह्ययं, सारवत्तार्यं च वाक्यमिदम् । अतः
एव प्रारम्भे शीघ्रमेव ह्युक्तमपि उत्तरकाले नैरोग्यदलादिजनकम्, स्वल्पपरिमाणं
मपि महाप्रमावशालिं रक्षायनाद्यौषधम् यथा सर्वेराद्रिपते, तथा गुणशालिं गरीषो
द्रौपदीवाक्यं प्राहमेव ।

५.

हे राजन् ! इव गुणमाही असि, अत एव ह्ययमर्थं प्रतियादयद् द्रौपदी
वचनमिदं सर्वथा तत्रापि क्वचिद्वरं भवितुं युक्तम्, समुच्चयार्थेनापि शब्देन 'अस्माकन्तु
क्वचिकरमस्येव, भक्तोऽपि भवेत्' इति बोध्यते । भारतीपदेन भरतवृक्षसम्बन्धोऽपि
व्यञ्जित इति चित्रमानु । गुणवदशीदं स्त्रियोक्तमिति नोपेक्षामर्हति । यतो
गुणमात्रलोभुषां पङ्क्तिः । 'इदं केनोक्तमित्यादि' वक्तृविशेषज्ञानाय न यतन्ते ।
गुणमात्रं त्वाददते "वालादपि सुभाषितम्" इति न्यायात् ।

६.

इदानीं भीम स्वयमुपालम्भते—हे राजन्, लोकस्थितहेतूनामान्धीशिक्षादीनां
चतसृणामपि विद्यानां निपुणमध्ययनेनाधिगता या ते बुद्धिः सदसतो सम्पत्

विषमोऽपि विगाहते नयं कृतवीर्यं पयसापिवाशय ।

स तु तत्र विशेषदुर्लभं सनुपन्यस्यति कृत्यवत्तमं य ॥ ३ ॥

परिणामसुखे गरीयसि व्ययकेऽस्मिन्वचसि स्तौत्रव्याम् ।

भतिवीर्यवतीव मेघजे बहुस्त्रीयसि दृश्यते गुण ॥ ४ ॥

इयमिष्टगुणाय रोचनां क्वचिरार्थो भवतेऽपि भारती ।

ननु क्वचिविशेषनिस्पृहा गुणशला वचने विवक्षित ॥ ५ ॥

चतसृष्वपि ते विवेकिनी नृप विद्यासु निरुद्धिमगता ।

कथमेत्य मतिर्विषयं करिणी पद्ममिवावशीदति ॥ ६ ॥

विवेचन कर्तुमशक्त, अथ ॥ कुतो वैपरीत्य प्राप्ता ! यथा पक्षे निम्गना करिणी
आश्रमानमुद्धर्तुमप्रभवन्ती निश्चेष्टा किञ्चिद्व्यभिमूढा च सती लिखते, तथैव तव
बुद्धिरपि लिन्ना किञ्चिद्व्यभिमूढा तिष्ठति, कोऽपि हेतु ! नैतत्कथमपि युक्तमिति ।
नृपेति संबोधनेन मतिविरययो बोधित, एव नृपोऽसि, प्रजापालनं तव धर्मं, न तु
वने वासस्तो वा, तद् विपर्ययेन एव धर्मं पश्यसीति । ततश्च पङ्कजतता करिणी
यथा वसवत्तरेण करिणा शक्यत उद्धर्तुम्, तथा स्वमति बलमाश्रय समुदर,
बलमाभयेति नाश्रयम् ।

७

हे राजन् ! रात्र्यवहिष्टतो निराभयस्त्वं दनाद्गनमगच्छि । शत्रुभिरापादिता
मिषा गह्वणीया दशामनुभवसि, पर नाशमोक्षाराय मनाक् पौरुषमवलम्बसे । तेन
च मुरा भवि यत् पौरुष बलमन्यन्न, तदेव महापुरुषेण स्वयोपेक्ष्यमाण लोके
नष्टप्राय जातमित्यहो चरमा सीमा कस्य । 'यद्यदाचरति भ्रष्टस्तत्तदेवेतरो जनः'
इति न्यायाद्भवद्दृष्टान्तेन सर्वेऽपि लोका पौरुषमुपेक्ष्यन्ते । तन्न पौरुषोपेक्षयो
लोके कष्टप्रवृत्तिश्च स्यादिति महाननयं यद्वा—शत्रुभिर्दुर्दशां गमितेऽपि स्वयि
अद्यारि देश भवि पौरुषम् (उद्योगयोग्यताम्) सभावयन्ति, 'अस्ति राक्ष
पौरुषम्' तत्तु काले प्रकाशिष्यत' इति, पर सर्वंधोदासीने स्वयि वा सभावनापीदानीं
नश्यति । ततश्च 'सभावितस्य चाकीर्तिमरणादतिरिच्यते' इति न्यायेन तव
स्वदाभितानां च त्माक महत्कष्टस्थानम् ।

८.

दूरदर्शी नृपति शत्रोर्वृद्धमात्र इष्ट्वा न तत्प्रतीकाराय यतते, नापि क्षीयमाण
इत्येतावतैव तमुपेक्षते । किन्तु शत्रोर्युद्धयो यद्यादौ महानपि दृष्ट, पर तदन्तो
यदि न शुभस्तर्हि समुपेक्षत एव, स्वयमेव सभाष्यमाने तद्विनाशे प्रयत्नस्य
व्यर्थत्वात्, किं च क्षीयमाणोऽपि शत्रुर् यदि परिमाणोऽभ्युदयोन्मुखस्तर्हि सभाष्यमानां
तदुन्नतिं प्रतिष्ठुं यतत एव, बुद्धिं प्राप्तस्य तु हृदयपत्तेरिति । तथा च दुर्योधन
इत्येदानीमुदय, स च न दुरन्त, अपि ॥ स्वन्त एवानुमीयते, चरोरस्या तस्य
नीतिप्रवणताद्यानात् । ततश्च न स उपेक्षामर्हति, अपि तु प्रतीकारमेवेति यतितव्य
मेवाशमाभि प्रतीकाराय ।

त्रिपुर किमत्र पर परैरवगीता गमिषे दशामिमाम् ।

अवसीदति यत्पुरेखि त्वयि सम्भावितवृत्ति पौरुषम् ॥ ७ ॥

द्विषतामुदय सुमेवसा शुद्धस्वन्ततर सुमधन ।

न महानपि भूतिमिच्छता पल्लवमत् प्रवण परिधय ॥ ८ ॥

९.

नीतिकुशलो जनो यदा लक्षणैर्विचारयति—यः शत्रोर्हानि शीघ्रमाविनी महती
एव, स्वस्थ तु हानि कानिचिरेण सम्मान्यते, साध्यल्पैव, तदा उदासीनो भवति,
किमपि न विचेष्टते । दैवेनैव शत्रुपराम स्य सिद्धत्वात् । यदा तु विचारयति
शत्रोर्हानिभिर्येन कथञ्चि स्यात्, भाष्यल्पैव, स्वम्य ॥ हानि प्रत्युपस्थिता, प्रभूता
च, तदा प्रतीकारे शक्ति प्रवर्तते । अनया च नीत्या अस्माभिस्तदिति प्रतीकारे
प्रवर्तितमेव, यतोऽस्माक क्षय दुःसहानपस्थितो वर्तते, शत्रोस्तु नेदानीं शीघ्र
समाप्यत इति ।

१०.

ये हि राजानो वृद्धि गच्छन्तीमपि शत्रूणां शक्तिमुपेक्षत एव, न तत्र कमपि
प्रतीकारमाचरन्ति, तेषां सपद क्षीयमेव विनश्यन्ति । तत्र हेतुस्तत्रेभ्यः, एवविषय
पुरुषस्य समीपेऽवस्थित्या लोकां क्षीणामिव सपदामपवाद करिष्यन्ति “रमा
सपदोऽल्पे निवृष्टे पुरुषेऽनुरूप्यन्ते” इति । तदपवादमयादेव सपदोऽपवादप्रसा-
रापूर्वमेवाशु ततोऽपसरन्ति ।

११.

यो नृप क्रोधदण्डादिभिः क्षीणोऽपि नैसर्गिक क्षात्र तेजो न जहाति, प्रतिव
न्धकाश्च दूरीकृत्याभ्युदयाय सततं प्रयतते, तस्य लोका वशीभवन्ति । यथा
शुक्लप्रतिपाद प्रादुर्भूतश्चादौ यद्यपि क्षीणतमः, तथापि नैसर्गिक प्रकाशस्तस्मिन्
वर्तते एव, अर्द्धिष्टाश्च स, न हीदानीं क्षयस्तस्य सभावितः, तस्मात्प्रजास्त
प्रणमन्त्येव, न ॥ क्षीणोऽपि मति तिरस्कुर्वन्ति । वयमपि यद्यपि क्षीणा, तथापि
यदि तेन आश्रित्य यत्नपरा स्याम, तर्हि अवश्य जना अस्मद्वशे भविष्यतीति ।

१२.

राजन् ! “प्रभुशक्तिहीना वयं किं करिष्याम” इति मा भेदी, यतो हि
प्रभुरस्य—क्रोधदण्डयोर्मूल नीति, साधुस्तादमपेक्षत ह्युत्साहमूला ।

अचिरेण परस्य भूयसीं निरीतां विगण्य चात्मन ।

क्षयमुक्तिमुपेक्षते कृती कुर्वते तत्प्रतिकारमन्यथा ॥ ९ ॥

अनुपालयतामुदेष्टतीं प्रभुशक्तिं द्विषतामनीहया ।

अपयान्त्यचिरान्महीभुजा जननिर्बोदमयादव ध्रिय ॥ १० ॥

क्षययुक्तमपि स्वमात्रं दधत धाम शिव समृद्धये ।

प्रणमन्त्यनपायमुत्थितं प्रतिपन्नद्रमिव प्रजा नृपम् ॥ ११ ॥

प्रभव खलु क्रोधदण्डयोः कृतपञ्चाङ्गविनिर्णयो नय ।

स विधेयपदेषु दृष्ट्वा नियतिं लोक इवानुसृष्यते ॥ १२ ॥

नीतिशास्त्रेण हि मन्त्रस्य पञ्चाङ्गानि विविच्यन्ते । कार्यावसरे तु प्राप्ते विनोत्साहं
निरर्थिका नीतिः । यथा हि दैवप्राप्तिकृत्यै व्यर्था लोकस्य कृष्यादिक्रियेति ।
यद्यपि भोमो न दैववादी, तथापि दैववादरतो युधिष्ठिरस्य दमिमतेन पथैव बोधनीय
इति दैवं दृष्टान्ततया पृहीतम् । तत्तद्व्योत्साहेन नयस्यापि मूलेन नयसाध्यौ
कोपदण्डानुत्पादयिष्येते ।

१३

ननु उत्साहे समाभिसेऽपि नीतिपालनमन्तरेण विनिपातः संभाष्येत इति
युधिष्ठिरश्चायामाह भोम । आत्माभिमानरक्षिणां घीराणां स्वपुरुषार्थं एव
विनिपाताख्यमनर्थं निवर्तयति, न तु कस्यचिदन्यस्यापेक्षा । यथा कश्चिदुन्नतः
वृक्षपत्रं ताद्यारोहन् पदस्वलनञ्जनितपतनपरिहाराय द्विचिञ्चालादिकमालम्बते,
तथोन्नतं स्थानमधिकर्तुमिच्छन् मनस्वो पौरुषमेवालम्बते—इति नीतिविदां
सिद्धान्तः ।

१४.

उत्साहपराक्रमवत् प्रशशा कृता, इदानीं तद्विहीनो निश्च्यते । यः पराक्रमवान्
न भवति, त विविधानि व्यसनादिक्वञ्छाणि परामवन्ति, शत्रवस्तं पीडयन्ति पाटञ्च-
राष्टद्राष्ट्रकोशादि विलुण्ठन्ति, सचिवास्तं वञ्चयन्तीत्यादि । विपद्विराक्रान्तं च
राजानं दृष्ट्वा प्रकृतयोऽपि तस्मै करादिकं न प्रयच्छन्ति इति कोशहानिः, तत एव
च सैन्यहानिरपि । ततश्च न कोऽपि तमाद्रियते । सर्वैरनाहतश्च कथं राजलक्ष्म्या
सेषेत । तस्माद्राजलक्ष्मीममिलिष्यता समाश्रयणीय एव विक्रमः ।

१५.

अनाह्माश्रयीमाणा उत्साहं तत्साध्यमुद्योगं च मूल एव निहन्ति, ततश्च
समाभितवनस्तमोरूपो निराद एव वर्धते, हृज्जेऽपि न तस्योन्नतेः संभावना,
राजलक्ष्मीश्च नियतं तनोऽपसरति । यथानुकूले नायकेऽनुरक्ता नायिका प्रस-
कूलादुद्भिजते, तथा संपदः पराक्रम एवानुरक्ता निरादादुद्भिजन्ते इति पराक्रमवि-
पादयो पुम्मेन समुद्वेः स्त्रीत्वेन च व्यज्यत इति चित्रमानुराह ।

अभिमानवतो मनस्विनः प्रियमुन्धैः पदमारुह्यतः ।

विनिरातनिवर्तनशम मनमालम्बनमात्मपौरुषम् ॥ १३ ॥

विपदोऽभिभवन्त्यविक्रमं रहस्यस्यापदुपेतमायतिः ।

नियता श्रुता निराश्रतेरगोयाश्च पदं नृपभियः ॥ १४ ॥

तदर्थं प्रतिपद्यमुन्नतेरवलम्ब्य व्यवसायदम्प्यताम् ।

निवर्तन्ति पराक्रमाभया न विषादेन समं समुदयः ॥ १५ ॥

१६.

राजन् ! यदि तवायमभिप्रायो—यद् द्यूतनियतसमसादनन्तरं दुर्योधनो राज्यं दास्यायेव, किं युद्धेन, तर्हि नैतत्सम्यक् पश्यसि । एतावती राज्यश्रियः स्वायत्ता कृत्वा छातास्वादो दुर्योधनो न विनो युद्धेन तां त्यक्ष्यति । तत्र हेतुः चतुष्टयं शेषेष्वेवमित्येतत् । दुर्योधनो हि धृतराष्ट्रसुतः, धृतराष्ट्रो जन्मान्योऽपि कथञ्चिद् भ्रातुराञ्जित्य राज्यश्रियं कुमुनः, न तस्याजः, ततस्तस्मिन्तो दुर्योधनोऽविकलाङ्गः कथं त्यजेत् । किं न च दुर्योधनेनारम्भादेव लाक्षाघटदाह—विषाप्तभोजन—द्यूताद्या (जिह्वा,) कुक्षिता व्यापारा कृत्वा, तेऽपि तथा कृत्वा यथा ते प्रसूतीमृता सर्वैर्गृहीता (तदर्थमेवाभिश्रुत—पदोपादानम्) ततश्चैत्रविषं कुक्षितं कथं राज्यं त्यजेत् । किं च तेनोन्मुक्ता न सामान्या उपदं, किन्तु नरेन्द्रसपद्, ताभ्यं तेन निरम् आस्वादिता—सरसमुपमुक्ता । ततश्च स शयनेदिप्यसमाध्यमेन ।

१७.

अथ यदि ग्रन्थे—जनापवादभयाद्वा भीष्मादीनामनुरोधाद्वा दुर्योधनो राज्यं प्रत्यर्पयिष्यायेवेति, तथापि नेतदुक्तं स्यात् । यतो राजन् त्वं नरनाथोऽसि, क्षत्रियत्राह्निनियैव प्रहणं तत्र क्षोभते, नरनाथरादन्येभ्यो ददत्स्तत्र क्षोभा, यदि त्वाहयाऽपि परप्रसादेन स्वाधिकां प्रहयायात् तर्हि अगत्प्रतिद्विजमाणां तवानुशानामस्माकं बाहुबलस्य किं प्रयोजनं स्यात् । स्वस्थाधिकारोऽपि परनियोगेन, न कालपरनियोगेन, अपितु शत्रुनियोगेन प्राप्यते, सोऽपि स्वया, राजसूयमन्वना, सोऽपि पुनर् अर्थात् पूर्वं लाक्षाघटादथचित्तलाख्यापि धृतराष्ट्रादिप्रसादेनैव स्वाधिकारो लब्धः, तत एव अभिगच्छति तैः उत्तमं स्वदत्तोऽधिकारोऽप्युद्धनं, पुनरपि तत एव प्राप्यते, अर्थे तस्मात्माकं पौरुषमिष्यन्न किमु न च न्यम् ।

१८.

राजन् ! यो हि स्वप्रावेण सर्वमपि अगदायेतुमिच्छति, स कदापिदपि परैर्दत्तां समृद्धिं न कामयते, स्ववृत्तनैवाजितं भोक्तुमिच्छति, इदमेव च महारत्नक्षणम्, परविण्डीयजीविनं कुतो महत्त्वं स्यात् । यथा हि वनराजं सिंहं स्वमहत्त्वं

अथ चेदत्रापि प्रतीक्ष्यते कथमाभिश्रुतजिह्वात्तना ।

धृतराष्ट्रसुतेन सुश्रुताभिरमास्वाद्य नरेन्द्रसम्पद ॥ १६ ॥

द्विपता निहितस्याऽप्यथा यदि लब्धा पुनरात्मनः पदम् ।

अननाय तवानुज-मर्णा कृतमाभिश्रुतपौरुषेर्भुजे ॥ १७ ॥

मदसिक्तमुल्लैर्मृगाश्रियं करिभिर्नर्तयते स्वयं हतैः ।

ल्ययन्लघु तेनसा जगन्मदामिच्छति मूर्तिमन्वत ॥ १८ ॥

रक्षति । स कदापि परालीढमामिषं न भुङ्क्ते । स्वयमेव भोजनाय मांसमुरादयति । तदपि न क्षुद्रान् पशून् अर्दयित्वा, अपि ■ मदवर्षिणो गजेन्द्रान् स्वयं हत्वा । तेनैव दधान्तेन महद्भिर्वातितव्यम् ।

१९

राजन् । न च दुर्योधनाल्लक्ष्मीमवाप्य कथमपि स्वया संतुष्टेन भवितव्यम्— यतो हि मनस्विना न लक्ष्मीप्राप्तिर्मुख्यमुद्देश्यम्, यशःप्राप्तिरेव तेषां प्रवृत्तेर्द्देश्यं भवति । स्थिरतरस्य यशसश्चयनाय (समुदाय) ते अस्थिरान् प्राणानपि सुखं त्यजन्ति, किं पुनर्विस्तृष्टिस्तत्त्वचरणां राजलक्ष्मीम् । यशस्यपादनाय तेषां या प्रवृत्तिः, तस्यैव लक्ष्मीरपि विना यनांतरं प्राप्यते इत्यन्यदेतत् लक्ष्मं यशो दुर्योधनं प्रसादेन राज्यमवाप्य न लभ्यते, इत्यतो हीयेत । विजित्य राज्यप्राप्त्यैव क्षत्रियस्य यशो विद्योतत इति । ननु यशोऽस्माकं जगति राक्षसादिभिर्विद्योतत एवति चेत्तत्रोक्तम् निचीपत इति । महति प्रासादे यथा इष्टकोपरि इष्टका भूयो भूयश्चीयन्ते, तथा मनस्विनो यशस उपरि यशश्चेतुमिच्छन्ति, न तु यशसा परितुष्यन्तीति । द्विविधा लक्ष्मी—साम्राज्यलक्ष्मीर्निष्कैका, तद्विकारभूता समये समये प्राप्यमाणा समृद्धिर्द्वितीया । न द्वितीयाया विशुद्धिस्तस्मात्प्रसक्तम्, साम्राज्यलक्ष्म्यास्तु विद्युत्साम्यं तेन गम्यम् ।

२०

गौके निस्तेजस परिभवः प्रत्यक्षं दृश्यते, यत्प्रवृत्तम् पावको न केनापि स्पृश्यते तस्यैव परिणतिभूतं भस्म तु पादेनाप्याक्रम्यते । तत एव परिभवः सादुमद्यन्तुवन्तो मनस्विनस्तेजोरक्षाप्रसक्तं प्राणानपि त्यजन्ति, न तु तेजः कदापि त्यजन्ति । तस्मात्स्वयापि तेजोरक्षायमेव यतितव्यम्, सा च पराक्रमसाध्येति पराक्रम एव मतिर्विधेया । भस्मनामिदं बहुवचनेन यथा निःसारकिंशुकादिभस्म, तथा गुह्यतरलदिरादिभस्माप्याक्रम्यत एवति रुक्षारस्यापि निस्तेजस परिभवो द्योतितः, हिरण्यरेतसमिति तेजस्विन आराध्यमानस्य हिरण्यादिमृद्धिदातृत्वमपि द्योतितमित्यादि ।

२१.

किं च राजन् ! आस्तां प्रयोधनविचारं मक्षतं स्वभावेनैव परत्यो नतिं

अभिमानघनस्य रश्मिरेसुमि स्यास्तु यशश्चिचीपत ।

अचिराद्भुजिलासचञ्चला ननु लक्ष्मीं परमानुषङ्गिकम् ॥ १९ ॥

उक्त्वन्तं न हिरण्यरेतसं चयमास्त्रदति भस्मना चन ।

अभिमूतिमयादधुनत सुखमुद्भवन्ति न धाम मानिन ॥ २० ॥

किमपेक्ष्य पलं पयोधरान् चनत प्रार्थयते मृगाधप ।

प्रवृत्तिं खलु सा महीयसं सहते नान्यसमुजति यथा ॥ २१ ॥

दृष्ट्वा नोदाधीना भवन्ति, अपि ॥ ततोऽप्याधिक्यमाप्नु प्रयतन्त एव । अन्यथा परस्याधिक्यो महीयस्त । तेषां सुतरां विद्वन्वेत । नयमीर्ष्या, अपि तु स्वर्घा । परस्योन्नतिं दृष्ट्वा चेत्स्यमिष्वल्न तस्य विनाशानुचिन्तनं च ईर्ष्या, ततोऽप्याधिक्यमाप्नु प्रयतनं तु स्वर्घा । ईर्ष्या नीतिविद्विद्वोषपक्षे निक्षिप्यते, स्वर्घा तु गुणपक्षे । सोऽयमर्थो दृष्टान्तेन समर्प्यते—यनगर्जनं भूत्वा शार्दूल 'कोऽयं मदमे गर्जति' अभिभूय 'अशीकुर्यामेनम्' इति शुद्धाया निष्क्रम्य साद्योऽप गर्जन्त्युत्तरति चेति प्रसिद्धिः । तस्य लज्जु नि प्रयोजनम्, किं तेन प्रेषादाच्छेद्यम्, न किमपि । प्रकृत्यैव स स्वस्य परोपेक्षयावन्ति न सहते । सोऽयमेव मनस्विना स्वभावः ।

२२.

पौरपालम्भनं सत्यपि कथं स्वाद्धा न वति संशयस्तु त्वया न कार्यं, केदलं स्वया 'पौरपम् करणीयम्' इति बुद्धिः कर्तव्या । तावन्मात्रेणैव शत्रवो हता इति निश्चितं ज्ञेयम् । त्वानुत्साहेनैव वयं प्रतिदद्या स्म, तत एव च शत्रवो जीवन्ति, सर्वदं चानुभवन्तीति । त्वयादलम्बित उत्साहे अस्माभिः शत्रुक्षयं कृत एवेति जानीहि ।

२३.

राजन् ! यथा सक्थोयममिषुषमागन्तव्यश्चरवारो दिग्गजा न केनापि सोढुं (निवारयितुम्) शक्या, यथा वा अमिषुषमागतव्यश्चरवारः समुद्रा न केनापि सोढुं शक्या, तथा सप्तमे पराक्राम्यन्तस्तव चरवारो लघुभ्रातर इन्द्रतुल्यविक्रमा वयं शत्रून् न केनापि सोढुं शक्या । अस्माद्युधेषु शत्रून् नष्टानेव विद्धि । यथा दिग्गजा समुद्राश्च चतसृषु दिक्षु विभ्रुता तथा त्वयानुजा अपि । सर्वैवायं प्रभावः, यतस्तवानुन्तवादेव वयं प्रसिद्धा इति तवेति पटुया चोत्पते ।

२४.

राजन् ! एवं यद्यपि धीरतया न प्रकाशयसि, तथापि तत्र मनस्वितया ह्नुमनुमीयते यच्छत्रुभिन्नयं कृत्वा समुद्रादितः क्रोधाऽग्निमदृष्टस्तव मनसि

शुभं तन्मतिमेव विक्रमे नृप निर्धूय तम प्रमादजम् ।

भुवमेतदपहि दिशिर्षा त्वदनुत्साहहता विपत्तयः ॥ २२ ॥

द्विरदानिव दिग्विभार्गिताश्चतुरस्तोयनिधीनिवायत ।

प्रसहेत रणे त्वयानुजान् द्विषतो कः शतमनुनेनसः ॥ २३ ॥

व्यवस्तस्तव चातवेदसः सत्तं वैरिभूतस्य चेतसि ।

विदधातु शमं शिवेतरा रिपुनारीनयनाम्बुसतति ॥ २४ ॥

ज्वलत्येव । तस्य चास्याग्नेर्जलेनैव शान्तिर्माप्नुयति, विलक्षणस्यास्याग्नेर्निर्दापणाय जलमपि विलक्षणमेवापेक्षितम्, त्वदाशया इतानां शत्रूणां स्त्रियो वैधव्यमप्य यदा रोदिष्यन्ति, तदा तेनामङ्गत्वेन जलेन अमङ्गलस्याग्ने शान्ति स्यात् । तथा च स्वीयमनोऽग्निशान्तये शत्रुव्यापादनमावश्यमेवेति ।

२३.

राष्ट्रा दृष्टम्—मत्तमतद्भज इव भीमोऽय श्रोधाख्यदोषेणाक्रान्तस्तज्जनितान् विहारान् प्रकृत्यनि, मत्तभाय सुत इति चापञ्चमोदृत्य च विशेषेणाहिमन् समावितम्, नाय निर्मत्स्यं शक्यो वशीकर्तुम्' न च स्यान्न, प्रियभ्रातृवाद्, बहुप्रयोजनसाधकत्वाच्च । तस्मात्सामानुनेतव्य—इति विचार्य सामप्रयोगेण भीममनुनेतु महाराज प्रवृत्त, दुष्टोऽपि राज्ञो न त्यज्यते, अपि कथंचिद्विनीय वशे क्रियत एव ।

२४.

सुविष्टिरो वक्ति भीम । यस्त्वया वाक्प्रपञ्च उदाहृत-तस्मिन् कापि प्रमाणानां बाध । शब्दाश्च सुन्दरा, भूतमात्रप्रदाय मन आकर्षति, अनुष्ठीयमान आस्थोपदेशो मङ्गल स्यादयिष्यति, एवविध वाग्विस्तर भूत्वा त्व बुद्धिमत्ता स्फुट प्रकाशते । न हि बुद्धिहीन कश्चिदेवमनिदध्यादिति । यथा मत्प्रहिते पुद्गे दर्पणे सर्वं वस्तु स्फुट ईवते—तद्वत् तव बुद्धिरस्मिन् वाक्प्रपञ्चे दृश्यत इति स्तुति ।

२५

भीम । तव वाचि पदानि न चरितानि, अपि तु प्रसन्नानि स्फुटार्थानि, अयं वाचो गुण, सति तु सरलत्वे प्रायेणाऽर्थगौरव नश्यति, पर एवञ्चाचि सरलैवपि पदेषु गाम्भीर्यम्—अर्थबहुत्वमस्ति । आविष्णे वक्ता प्रायेण पुनरुक्ति करोति, एवमेतार्थं भूयो भूयो वक्ति, पर तव वाचि मि नार्थता शब्दानाम्, न पुनरुक्ति, सत्यपि च मिन्नार्थत्वे परस्पराकाङ्क्षास्य सम्बन्धो वाक्यानामस्यैव, तेन न 'दश दाडिमानि, षट्पूपा,' इत्यादिद्वे 'ज्वलन्व कम्बल्पादुकाभ्याम्' इत्यादिवद्वा उन्मत्तप्रलपितसादृश्यम् । तस्माच्च वाक्य सर्वथैव बुद्धिमदुचितम् । अत्र

इति दर्शितविभिय सुत मस्त कोपरीतमानसम् ।

उत्सा त्वयितु महीपतिर्द्विरद दुष्टमित्रोपचक्रमे ॥ २५ ॥

अपवर्जितदिग्दे शुचौ हृदयमाहिणि मङ्गलास्पदे ।

विदग्धा तव त्वितरे गिरा मतिरादशं इवामिदृश्यते ॥ २६ ॥

स्फुटता न पदैरपाहृता न च न स्वीकृतमर्थगौरवम् ।

रचिता पृथगर्थता गिरा न च समर्थमपोहित वचित् ॥ २७ ॥

भीमवान् प्रशङ्कान्ध्यानेन चिन्ता स्वकीय प्रबोधोऽप्यभिहितः, भारश्चान्न
एव विधाया एव विद्वत्माने ख्यातत्वादिति सुधिय एवान्न प्रमाणम् ।

२८

यद्यपि सल्लु प्रमाणपरायणमात्र पट-तो युक्ति सर्वबोधेते, सोऽपि दोषः,
युक्त्या विना प्रतिपाद्यार्थस्य मनस्सुपारोहाद्यमज्ञात् । भीम ! खया तथा न
कृतम्, युक्तिरपि खया स्वकीये पराक्रमरक्षे सम्पद्युक्ता । केचिच्च युक्तिमात्रगर्विताः
श १२ लक्ष्ययति, तदप्यत्यन्तमनुचितम्, खया तदपि न कृतम् । शास्त्रमाश्रित्य
सत्समर्थनाय युक्तिरुक्ता । सर्वथा क्षात्रघर्मसम्बन्धि तद्वचनम्, तद्विन्न एवविधं
वाक्य वक्तुमारभेतेत्यपि दुर्लभम्, दूरे तु पूर्णतया वचनम् । इत्येकप्रयमिद वचन
प्रद्योतापरम् । केचिन्निन्द्यापरतयापि योजयन्ति, युधिष्ठिरे वक्तिर सत्सर्वधानुचित
मेवेति महिम्नाथ ।

२९.

ननु यदि सम्पद् मदीय वचनम्, यदि तदनुसारमेव प्रवर्तित य भवतेति
भीमस्यानुयोगमनुमाय वदति युधिष्ठिर, भीम ! यद्यपि खया सम्पदेव पराक्रमरक्षो
निर्णीत, अथाप्यहं पुनरपि विनार वाञ्छामि, न हि मे चेत्तस्यद्यापि निर्णयो
जायते । यद्यपि नीतिशास्त्रेण सन्धिबिम्बदाद्या विषया सामान्येन निर्णयन्त एव,
तथापि देशकालप्राधिकारभेदाद्ये तत्र तत्रानन्ता अवा-तरभेदाः, न ते
नीतिशास्त्रेण कृतिनि निर्णेतुं शक्यन्ते । तत्र निर्णयार्थे बुद्धिरेवापेक्ष्यते । न च
विशेषनिर्णयमन्तरेण कर्तव्ये प्रवृत्ति पठ्यती स्यात् । तस्माद्विशेषनिर्णयाय भूयो
भूयो विचार कर्तव्य एवेति ।

३०

एनेन पूर्ण विचार विना कृतिनि किमपि कार्यं विधातुमनुचितमिति मुख्यया
नीति । विना विचार कार्यकरणे महत्तय आश्रय आपतति । एतद्वैपरीत्येन
यो विचार्य कार्यं करोति, तस्य सविधे विनैव यत्न सपद आसन्नन्ति । यथा
काचित् पतिवरा गुणलुब्धा गुणवत्त पर वृष्टते, तथा गुणलुब्धा अनका सपदो
गुणपदेव विचार्य कार्यकर्तार वृष्टुन इति ।

उभयतश्चक्षुःश्रुत्या यत्नानुमानेन न चात्रम क्षत ।

इदमीदृगनीदृगाद्यय प्रसभं वक्तुमुपक्रमेत क ॥ २८ ॥

अविश्रुतत्वा तथापि मे हृदय निर्णयमेव ध्याति ।

अ साययितुं क्षमा मुत्र न विधेयु विशेषसम्पद ॥ २९ ॥

एहता विद्वत् न विद्यामन्त्रिक परमाणदी पदम् ।

वृष्टुं हि विद्वत्कारिण गुणलुब्धा स्वयमेव सम्पद ॥ ३० ॥

३१.

यथा वृषीधने जनः क्षेत्रे बीजवापं कृत्वा, तस्य प्रतिकूलप्रसङ्गादक्षां कुर्वन्, फलोत्पत्तिं प्रतीक्षमाणः, जलेन बीजं सिञ्चन् शरदौ तत्फलम्—तां सस्यसमृद्धिमाप्नोति, सस्यसमृद्धिश्चाल्प्या शरदि तस्य नियतोऽधिकारः, तथैव यः कर्तव्यं लक्ष्यरूपेण मनसि निधाय प्रतिकूलप्रसङ्गादक्षां कुर्वन्, फलप्राप्तेऽपि समयं प्रतीक्षमाणो विवेकेन कर्तव्यं बोधयति, तस्य फलश्चाल्प्या क्रियाया नियतोऽधिकारः, स समये कर्म कृत्वा फलं प्राप्नोत्येवेति । साहसिकः कदाचित्फलं प्राप्नोति, कदाचिन्, विमृश्यकारी स्ववश्यं फलं प्राप्नोत्येव ।

३२.

संप्रदायागतेन शास्त्रज्ञानेन मनुष्यस्य शोभा भवति, तच्च शास्त्रज्ञानं क्षमया शोभते, शास्त्रं शास्त्राणि यदि क्रोधश्चः स्याद्, व्यर्थं तज्ज्ञानं स्यादिति । क्षमापि च अवसरे हृष्टपराक्रमस्यैव शोभते, अन्यथा सा क्षमा अशक्ततेति गण्यते । यः समये सामर्थ्यं परिदृश्यति क्षान्तः, स एव क्षान्तः । तेन पराक्रमः क्षमाया मूषणम् । (तेनेहं सिद्धम्—क्षमा सततं धार्या, पराक्रमस्तु तद्रूपगत्वेन सत्यवसर एव) पराक्रमश्च सिद्धौ सत्यामेव शोभते, इति सिद्धिः पराक्रमस्य मूषणम् । किन्तु सिद्धिरित्यं न केवलस्य पराक्रमस्याप्यत्रा, अपि तु नीतिसहकारेण कृतस्य पराक्रमस्य । नीतिसहकृतपराक्रमप्राप्तैव च सिद्धिमूषणरूपा, न तु साहसिकत्वेन विनैव नीतिं प्राप्ता, तस्याः काकतालीयन्यायागततया मूषणत्वाभाव एव । सिद्धिः सर्वस्यापि मूषणमेव, न तु तस्या मूषणान्तरमिति तस्याः स्तुतिर्गम्यते । क्षमामास्थाय शास्त्रानुसारेण प्रवर्तितव्यम्, न तु क्षयिते पराक्रम आलम्बनीयः, साहसेन कदाचिप्राप्तापि सिद्धिर्न शिष्टैः संमान्यत इति भावः ।

३३.

यथान्धकारेणाच्छन्ने गृहे सम्यक् प्रज्वलितेन दीपेन इष्टं वस्तु दृश्यते, तथा 'इष्टं कर्तव्यम्, न कर्तव्यम्' इत्यादिविप्रतिपत्त्या आच्छन्ने कर्तव्यतत्त्वे सुविचारितं शास्त्रमेव मार्गनिर्णयं करोति । तेन शास्त्रं सुविचार्य तदनुसारेण प्रवर्तितव्यम्, न तु कदापि सहसेति भावः ।

अभिधीयति योऽनुपात्त्यन्विषिबीजानि विवेकवारिणा ।

स सदा फलशालिनीं क्रियां शरदे लोक इवाधीतिष्ठति ॥ ३१ ॥

दुर्वि मूषयति भूत वपुः प्रशमस्तस्य भवत्यलक्रिया ।

प्रशमाभरणं पराक्रमः स नयापादितसिद्धिमूषणः ॥ ३२ ॥

मतिभेदतमस्तिरोहिते गहने कृत्यविधौ विवेकिनाम् ।

सुहृतः परिशुद्ध आगमः कुर्वते दीप इवार्थदर्शनम् ॥ ३३ ॥

३४.

ये हि पुरुषाः शिथिलाः मार्गमनुसरन्ति, शिष्टश्रमदायेन व्यवहरन्ति, दास्त्रान्त्रोधेन प्रवर्तन्ते, तेषां यदि दैवास्तनमपि कदाचिद् भवेत्, तथापि पतनमिति न गणनीयम्, अपि तुलतिसममेव तत् । यतो हि यथोक्तः पुरुषो लोके इवाव्यते, तथैव ते जनैः सदाचारनिष्ठैश्चाङ्गव्यस्त एव, न ॥ केनापि निन्द्यन्ते, पुरुषापराधाभावात् । तदुक्तं नीतिशास्त्रानामयम् कामन्दकेन—‘यच्च श्रम्यगुणकान्ते कार्यमेति शिष्ययम् । पुरुषस्तनुगान्मयो दैवान्तरितपोऽयः’ इति । किं च स्वापराधात्पतितः पुरुषो मलिनमतिवया उद्धाराय पुनरपि करोति, तेन च भूयो भूयः पतति, दैवारतितस्तु सन्मार्गनिष्ठश्चापुनरपि पापं न करोति इति तस्य तत्पतनं सद्य एव निवर्तते, उन्नतिरिव चिराय लभ्यत इति विनिश्चितम् । मृग्यनिहेतुतया उन्नतिमत्त्वं श्रेयम् । तेन दैवाप्राप्ताऽनर्था अपि वयं न शोभ्या एव, स्वापराधाभावादिति ।

३५.

देवां विषयप्राप्तेरहितं कामना, ते विवेकिनः क्रोधस्य वद्याभूताः कदापि न प्रवर्तन्ते, सति क्रोधे विवेकासंभवात्, विवेकं विना च विषयकषाया अभ्यभावात् । तस्मात् क्रोधं विविय, यदा विवेकेन वृत्तिद्विषयसंभवादिनीं मन्यन्ते, तदा शोकाहानुरूपं श्रम्यगुणाममारब्धमिति । न च क्षुद्रफलायै तेषां प्रवृत्तिः, न वा परिणामेऽनर्थप्रभवनायाम् । तदाह कामन्दकः—‘निष्कलं वनेद्यप्युल्लं संदिग्धकलमेव च । न कर्म कुर्यान्मतिमान्सदा वैरानुबन्धि च’ इति ।

३६.

एषो हि यदा पूर्वं स्वकामतया रात्रिजनितं तमो विनाशयति, तदैवोदयं (उदयावलम्) याति, तथैव य उदयम् (अभ्युदयम्) इच्छति, तेन तमः पूर्वं विनाश्यमेव । अत्र तमो बुद्धिसंमोहः क्रोधजनितः । तद्विनाशश्च विवेकमुदया । क्रोधत्रयमन्तरेण तैरभ्युदयलाभ इत्याशयः ।

रुद्रशोयगुणैर्महात्मभिश्चरिते धर्मानि यच्छतां मनः ।
निहिहेतुरहेतुरागर्षा निनिपातोऽपि समः समुन्नतेः ॥ ३४ ॥
शिवमोदयिकं गरीयसी फलनिष्पत्तिमदूषितायतिम् ।
विगण्य नयन्ति पौरुषं विजितक्रोधरया विगोषव ॥ ३५ ॥
अपनेयमुदेतुमिच्छता तिमिरं रोषमयं धिया पुरः ।
अविमिद्य निशाकृतं तमः प्रमथा नांशुमताऽभ्युद्यते ॥ ३६ ॥

३ .

सर्वशक्तिमन्नामि येन कोषमन्ति तपो (मोहो) न निवार्यते, तस्य सर्वा अपि सद्रूपं शक्त्यं विनश्यन्ति । यथा कृष्णपद्मरूपेण कानेन तपो (अन्धकार) न निवार्यते इति तस्य सद्रूपशब्दक्या विनश्यतीति स्पष्ट इत्यते । अन्यस्य बहुवचनमिदं मोघाद्यस्य योकोत्तरपि सामर्थ्यं व्यर्थमेवेति । पुष्पकृता-पराधादिह सपदां शय इ ते पुष्पस्यैव हन्तृत्वम् (विनाशकर्तृत्वम्) एव हतम्, सरद स्य न नश्यन्ति अथ तु स एव सपदो विनाशयतीति । उपमानेऽपि कास्य सर्वशक्त्यादिदुष्कृतान्तरं तत्रास्तेव । चन्द्रकलनां शोभनवस्तुत्वात्तत्र सद्रूपत्वं एव हतम्, शक्तोऽं तु सद्रूपताभ्युदयहेतुरवास्तुतरेव । अक्रमणेन सपदिनश्यतीत्यपि लोकासदमेव ।

३८

यो हि राजा न सर्वथा मृदुर्देव स्यात्, न वैकान्ततस्तीक्ष्ण एव भवेत्, अपि तु काय मृदु काने न तीक्ष्ण स्यात् स सर्वमपि लोक स्तुहत्या आक्रम्य वशीकरोति यथा सूर्यं समयमेदेन हेमन्तादिषु मृदु, शीष्मादौ च तीक्ष्णो जायते अत एव सर्वोऽपि लोकास्तेनाक्रम्यते ।

३९

येन्द्रियाणि (चन्द्रियप्रेरका क्रोधाद्या देवा) न जितानि, य इन्द्रियाणां यो तिष्ठति स विर लक्ष्मीं मोक्षं न शक्नोति । करगतादि लक्ष्मीस्तस्य विनश्यत्येव । परिग्रहपदं, भार्यास्वीकार एव निरुद्धम्—तस्मात् प्रयोगेण श्रीषु भार्यास्वीकारोपो शोभ्यते इति चिन्तमानु । भियामिति बहुवचनेन च नाना धाना सपदां परस्पर विरुद्धाना सत्तन्तीनानिब रक्षणे विविधोपायौचित्यं व्यस्यते । तथा च य परवश, तस्मिन्नेकापि स्त्री न रक्षते, किं पुनर्बह्वप, परवशो हि कथं भियो वशीकुर्यात् । उत्तरार्धेनेदमुक्तम्, भियोऽपि स्वभावेन च, पुष्पोऽपीन्द्रेयपरतश्चर इति । उमरोश्चन्योयोगे दुष्करमेव स्थैर्यम् । यथा शरदभ्रानां वायुपरतन्त्राणाम् । प्राकृष्टभ्राणां तु गुणनया कथञ्चिन्नायन एव स्थैर्यमिति । तद्वद् भित्तेन्द्रियपुष्पाभिता भिय स्थिरा भवति । बहुवचनं इति बहुन् यावान् जानन्ति, कथञ्चित्तस्मिन्

यत्नवानपि कोपजन्मस्तमसो नाभिमव रमद्दि य ।

क्षयस्य इवै दवी कृग सकला हन्ति स शक्तिस्मयद ॥ ३७ ॥

समस्तितरुपेति मार्दवं समये दध तनोति जिम्मतान् ।

अपि तिष्ठति लोकमोक्षं स विवक्षानिव मादनीयति ॥ ३८ ॥

क विराय परिग्रह भिया क च दुष्टेन्द्रियवाजिवश्यता ।

शरदभ्रचगाक्षनेन्द्रियैरुखा हि बहुञ्ज भिय ॥ ३९ ॥

प्रतार्य गच्छन्त्येव, एतेन च चलेन्द्रिये पुण्ये तन्नाशना मुद्रिमाननाशनापगम
प्रवृत्तिदोषाद्याः स्वदा निर्गमहेतवोऽन विज्ञेयाः । विशेषणम्याम म्या धिया
पुण्यवद्वेदवदवासाद्वय च चञ्चलनिर्गमं स्तिरेण । तथा च दुर्योधनस्य
चलेन्द्रियतया तन कर्तमानादि लक्ष्मीश्वर न म्यास्यतीति प्रकृते सम्पन्धः ।
यदा स्थिरा लक्ष्मीमस्ति चन्द्रिरस्माभनेन्द्रिययो रयेयम्, अरि तु तत्प्रेरकाः
क्रोधाद्या दोषा विज्ञेया एवात ।

४०.

मीम । एतत् पूर्वमेतादृश धैर्यमासीद्, येन सत्यैव धीरतमोऽपि समुद्रो भित्, (समुद्रे प्रवृत्तिस्थितिमाश्रम, न तु चान्ननिर्गम, तरङ्गमालाकुलगात्, स्वयि
तूमयम्, मयोदास्थितिरपि मनसश्चलनाभागेऽपि तन समुद्रो ब्रित इति निप्रभातुः,
समुद्रस्य बाले (प्रलये) धैर्यं (स्थिति) ग्राह्यं, तत्र तु न कदापीति तस्य
कथ इति वयम्, इदानीं तु त्व मनस्यकाल इव तस्या धोभमुद्रावययि, तन
समुद्रस्यदपेक्षया उत्कृष्ट स्यात् । तस्य समये धैर्यत्याग, तत्र स्वसमय एतति
तस्योत्कर्षः । पराजितस्य पुनरुन्मै करणं सन्धानचित्तमेवति धैर्यं स्या रक्षणीयमव ।
प्रचठया समुद्राह मीमो नाश नीत नदा क्षोभा ननवर्षत ।

४१.

शास्त्राधिगमो हि क्रोधादिविद्वद्विजयायेर मनसि, ये शास्त्रमधीत्यादि
विकारा न निना, देया न मे न शास्त्राधिगमो नश्यं, अरि तु धियमपि रक्षितुं
ते न शक्नुवन्ति । तेभ्यः धीर भोरपयादेव । तन्वेदमग्यान न भिय स्वाभाविक-
कम, अपि तु तपो पुण्याणा दोषैरव जनितम् । तस्मात् भीमशलेति लोक योऽयं
भिय शिरसि कण्डू, सोऽयमन्तिन्द्रियैः पुण्यैरेव दत्त । शरीरज्ज्मन इत्युक्त्या
यैरतिमन्निहृता अपि तिनो नेतुमशक्या, ते दूरस्थान् रिपून् कथं दैवतगीरन-
मिप्रेतम् ।

४२.

मीम ! यथा सहनशक्तिर्नश्यति, सैवमश्वना नाम मनोविकार क्रोधादिक-

किमसामन्त्रिक इतिन्वता मनस धोभमुद्रारहस्यः ।

त्रिषते पतिश्चरैरतां मयता धीरतयाऽधरीकृता ॥ ४० ॥

भुतमप्यधिरम्य ये रिपून् जिनयन्ते न शरीरज्ज्मनः ।

जनयन्त्वधिराय सम्पदामयशस्ते सन्तु नापनाभयम् ॥ ४१ ॥

अतिपातिकात्साधना र शरीरेन्द्रियमर्गनापिनी ।

जनयन् मन्तमश्वना नयसिद्धेरपनेटमइति ॥ ४२ ॥

मुत्तारा अनुकूलमन्त्रसं सहायादिष्वपि च प्रतीक्षितं न ददाति स्वस्या भविवेकेन प्रवर्तयति । अनया च शङ्का कोऽप्यपकारो न क्रियते, अपि तु स्वस्यैव शरीर-
मिन्द्रियाणि च तपन्ते (शरीरेन्द्रियेषु कथापि स्वस्यैव शरीरादौ लब्धे
स्वदोषादानं स्वस्यैव शरीरादिकं तापयतीति द्योतयितुमुपायम्) तयानमामिमूताः
प्राकृताः पामरज्जा अविवेकेन प्रवर्तमाना नीतिभ्रष्टाः सिद्धेरपि भ्रश्यन्ति ।
भरादृशस्तु विवेकी अस्या दशगो भवदिति न सर्वथा योग्यम् । मीमं प्रशस्य
तावान्भनमेव राश उद्देश्यम् ।

४३.

क्षमा पुष्टपयोत्तरकाल रक्षति, वर्तमाना सपद पाति, सस्यामेव क्षमाया
कर्माणि नूतन फलभरादयतीति चैव फलप्राप्तेर्मूलकारणम् । इयमेव क्षमा
विनाशयन्तरि स्वस्य स्वाश्रयस्य वा नानर्थं जनयति । एवंविधं सिद्धेः साधनं
नान्यजगति वर्तते । अस्मिन् पराक्रमेणापि आयतेरूपकारः ; परं नास्ति कः, क्षमा
तु भूशमुपकारिका । पराक्रमः फलं ददाति, परमल्पमेव, क्षमा तु भूरि ददाति ।
पराक्रमः क्षान्नाशयति, परं कदाचित्स्वस्याप्यपकरोति, क्षमा तु न तथेष्टप्राकृता
सा । कालप्रतीक्षया सहिष्णुनेह भविष्याणां क्षमा विवक्षिता, न तु मुद्रक्षुणामिव
सर्वथा प्रवृत्तिरिवातिनीति चिन्तयन् ।

४४.

ननु क्षमाकाव्यने क्रमेण दुर्योधनपञ्चवृद्धिः स्यात्, उदासीनेश्वरमातु सर्वे
राजानो दुर्योधनेनैव मेरी कभीपुुरिति भीमस्याशङ्का मनसि विचार्य मुषिष्ठिर
उत्तरयति नैव स्यात् । प्रथमं बलशालिनो यादवानेव पश्य, तेषां प्रधानस्य
कृष्णस्य वयं पितृस्वसु मुत्ता, स्वाभाविकं च तैस्माकं प्रेम, तेषां चास्माभिः ।
मानयामश्च वयं तान् । दुर्योधनोऽभिमानो न तान् मानयति, अस्मानिता अपि
केचन क्षुब्धा मानमगिणस्य महान्तमनुवर्तेरन्, परं ते तु मानरक्षिण इति
अस्मान् विहाय दुर्योधनेन तेषां प्रीतिर्न कदापि भवितुमर्हति । प्रयोजनापेक्षया
कचित्कालं भवेदपि, सदा तु नैव ते दुर्योधनमनुसरेपुुरिति तेषां भेदशङ्का
नास्त्येव । ते दुर्योधनं त्यक्ष्यन्त्येव, अस्मन्पथ एवागमिष्यन्तीति परमस्माकं
बलम् ।

उत्तरकारकमायतेभूतं प्रवदः कर्मफलस्य भूरिणः ।

अनपयि निवर्हणं दिवा न तितिक्षासममस्ति साधनम् ॥ ४३ ॥

प्रणतिप्रवगान्विहाय न सहस्रस्नेहनिवद्वेनतः ।

प्रणमन्ति सदा मुयोधनं प्रथमे मानभृता न वृष्णयः ॥ ४४ ॥

४५.

यथा यादवा, तथैव स त्वन्येऽप्यस्माक सहजा प्राकृताः कृत्रिमाश्च
सुहृदः, यादवानामपि च सन्ति सहजाद्याः सुहृदः, तेषामपि च सुहृदो
सन्त्येव सुहृदः स्वमतानुकूलाः, ॥ यते सर्वेऽपीदानीं यदपि दुर्योधनानु-
गताः ॥ प्रति निनीता इत्यन्ते, तयानि स एष एषा विनयः कृत्रिमः,
केवल प्रयोजनापेक्षी, सम्राट् दुर्योधन इति तेन सह वैरमनुजित मत्वा ना विनय
प्रदर्श्य स प्रतारयन्ति, स्वप्रयोजन साधयन्ति च, कार्यकाले तु तेऽस्मत्पक्षमेव
यादवै सहाभविष्यन्ति । धृतराष्ट्रात्मन्मिति पदम् 'अन्तर्दुष्टो दुर्योधन इत्य-
मप्यन्ध इव कृत्रिममपि नियमकृत्रिम मन्दत इति दृष्टम् प्रतारदिशुम्' इति
द्योतयति ।

४६.

भीम ! यद्यपि मयोक्ता राजान सन्त्येकास्मत्पक्षपातिनः, पर यदि दृष्टव्यमाया
प्रतिभृतस्य श्रयोदद्यान्दर्परिमितस्याश्वमेध एव स्वप्रस्थावन्तुस्त्वाग्माभिगक्रन् ।
किंचित्, तर्हि दुर्योधनस्यादोषम्, अस्माक एतद्व्यतिशक्तिरूपं दोषं च विमर्शय-
सर्वं एतेऽस्मत्पक्षस्तृण भविष्यन्ति । अस्मत्पक्षाभयरो कश्चुपनात् न विस्मयीति
न्याये पथे वर्तमानास्ते कथं दुर्योधनेन युज्यन्ते । यथा सूर्य उदयन्नेव कन्दल-
दलानि भेदयति तथा स्वस्तुनानियोगवृत्तान्त प्रसरन्तेऽर्चोन् अस्मत्पक्षो
भेदयेदिति वशाद्यश्वतारोऽभिप्रायमाहुः । वदन्तु पश्याम — कृतावधेरिति विशेषणा
दवधिपरिष्माताविति श्रम्यते, तत्प्रावधौ पूर्णे स्वया इत्यस्याक्रमस्य वृत्त निष्पत्त्य-
य इदानीं पूर्वोक्तया कृत्रिमरीत्या तत्प्रावधम्बिन ते ततो विश्लेषनेभ्यस्ति,
अस्मत्पक्ष चाभविष्यन्तीति । एतदेव चोत्तरश्लोकेन शरेतुदिम्रियत इति प्रकरणं
कूलवम् । एतेन 'अथ चेददं प्रतीक्ष्यते' इति भीमोक्तस्येत्तरं दत्तम् ।

४७.

अस्माक सहापरम्परया वा सुहृदः अस्मत्पक्ष भागनिष्पत्त्येव, पर य उदा-
सीना, तेऽपि कालक्रमेण दुर्योधने विश्वा भविष्यन्तीति अस्माभिर्भेदरूपमुपाय-
माभित्य रदपक्ष भावेन शस्यन्ते । दुर्योधनो हि स्वभावेनोद्धत कृतार्थता च

सुहृदः सहकारयेतरे मतमेषां न विज्ञयन्ति ये ।

विनयादिव यापयन्ति ते धृतराष्ट्रात्मजममरिष्ठये ॥ ४५ ॥

अभियोग इमान्महीमुखो नक्ता तस्य इव कृतावधे ।

प्रविष्टादितः समुत्पन्नं हृदिभ्यः कमलाकरादिव ॥ ४६ ॥

उपनपसहान्वित्तुयन् स निघाता नृपतीमदोद्धत ।

सहते न जनोऽप्यपक्रियां किमु लोकाधिकपान राक्कम् ॥ ४७ ॥

स्वीयामवगत्य ह्येतेन तथा मत्ता मरिष्यति, यथा सर्वानवमानयिष्यति । अवमान-
नान्तु साधारणोऽपि जनो न सद्गत, लोकनिन्दायिनस्ते राजान, तेषामपि च
समूहः, ह्यममानं सद्गत, तस्यात्तेषां विरागस्तत्र स्वामाधिक, तेन चाहमस्म-
सिद्धिरिति । विराता-इति अनघननाथेन लुप्तप्रत्ययेन विरागोत्पत्तौ कथितकाल
समपेक्षत एवनि द्योतितम् ।

४८.

ननु दुर्योधनः सञ्जासाधारणं विनयं दर्शयतीति बनेचरेणावदितम्, ततश्च
तत्राभिमानसमय एव कुत इत्याशङ्क्य समापत्ते युधिष्ठिर-दुर्योधनस्य विनयो न
यास्तत्र अपि न कुत्रि, स्वयंकालस्यायी । येषां क्षील एवानिमान, ये अभिमानं
गुण मन्यन्ते, तथा मुत्तो विनया नोत्पद्यत एव । कञ्चल मण्डलं वशीकृतुं कुत्रि-
विनयं तं दर्शयति, स च विनयस्तान्त्रिकं कालमभिमानवेगं तेषां क्षणदि । न
स्वभिमानं नाशयति । यदा तु सपन्नं कार्यम्, प्राप्ता समृद्धिः, तदा सा समृद्धि-
रेवामिमानं पुनश्चरत करोति, तेन च विनयो लीयते ।

धेगशब्दोऽत्र प्रसर लाक्षणिक, तेन यथा अट्टेनाल्पेन सेतुना निबद्धवेगाऽपि
नदीं प्रानम्राकृत्या क्षुत्तु विनाश्य सद्यंत प्रवहति, तथा विनयरूपं सेतुं विनाश्य
मदस्तथा प्रसरत्येवति अञ्जितम् । विमानुस्तु असमापितकृत्यस्यदामेव मद
विभूतय उत्तमनन्तीत योजयति, तं हि कार्यमपि पूर्णतां नेतुं न शक्नुवन्ति,
किञ्चित्कसिद्धौ-अल्पम्पुं दृष्टम् एव विनयस्तेषां प्रस्यतीति ।

४९.

'विभूतयो मदनुत्तमयन्ति'-इति उक्तम्, मदस्य परिणाममाह-यदा
कथिद्राज्ञा मदनमानवीराधिक्याद् अरिद्वारे निवृत्तिम् (परावशात्) दर्शयति,
तदा क्रमेण शार्पकांरंरिज्ञानामाश्रया मूढता तमाक्रामति, तया च तं पृच्छति,
यथा कदापि न त्यजति । स मूढता न त्यजतीति नोक्तम्, तस्य सर्वथा निष-
म्भितस्य स्वानन्तशमायेन त्यागकृतुं वासमवान्, मूढतैव स्वयं तमाक्रम्य स्थिता,
सा च तादृशशान्त्यस्वाभयस्यालामेन न त्यजतीति । मूढता न पृथग् भवतीति
लक्ष्योऽर्थः, पृथगस्याप्यन्त पारतन्त्र्यं अङ्गयम् । मूढताक्रान्तश्च नीतिमार्गोचिता
बुद्धिं लहति, तन्मार्गोत्स्वस्य पृथक्क्रियते, (पृथग्भावे सौकर्योतिशयबोधनाय कर्म
कर्तारि प्रयोगः) । यदा च बुद्धिनिवेकहीनः, तदा सर्वस्यापि प्रतिकूलमाचरतीति

असमानितकृत्यसम्पदा हतव्यं विनयेन तावता ।

प्रभवन्त्यभिमानशालिनां मदनुत्तमयितुं विभूतयः ॥ ४८ ॥

मदमानसमुदतं नृप न विमुह्यते निषमेन मूढता ।

अतिमूढ उदस्यते नयाद्यदीनादपरज्यते जनः ॥ ४९ ॥

अनुरक्तोऽपि वनस्त्वस्मिन् द्वेय गच्छति । ओपने अस्याचारसरे च राजनि प्रजा
वर्गं अमात्यादिवर्गं च सर्वोऽपि द्वेय बध्नातीति ततोऽस्मिन्स्त्वकेन सम्पद्य ।

१०.

दण्डकाकंदयादिभिर्हस्तैर्भिर्यत्नेन राज्ञि जनानामप्रीनर्जना, आशान्जन-
प्रतिकूलचरणादिना च प्रजा यस्य प्रभाव विध्नन्ति, तस्य आभ्यन्तरप्रकृतिर-
मात्यादिवर्गोऽपि प्रतिकूलचरणादिना विरक्तो भेदभाषयते, परमं न घत्ते च, तस्मिन्
क्षणे शत्रुवदस्यनायासेनैव समूहं विनाशं कर्तुं शक्नुवन्ति, ॥ ८०॥ दोऽपि स्याद्,
बलवानपि स्याद्, परमोदरोऽप्यने तद्विनाशो नैव ८१ मवति । यथा विशालोऽपि
तत्र प्रक्षलेन बाधुना यदा भूयोभूय प्रक्षयितो भवति, तेन चान्तरि दक्ष्य शिफा-
सघातं शीर्यते, चाल्यते च, तस्योत्पादनं तस्मिन् क्षणे वन् ता दुष्करमिति ।
समन्तात्प्रकम्पकत्वेन बायोर्दन्तवेगातिष्ठय बोधयामोरेणरदमिह चन्द्रकृतिं
पुष्पाति । समीरयेनेतिवस्य त्योरच च प्रजानामप्रीतिभावस्य राजं पारं इय
मीरितपदेन प्रतीयन् । पूर्वं यो नृगादिशब्दैरुक्तः, न एतद् जनानामप्रीतिम जन
मिति रिपुशब्देनाभिहित । यथा च बाधुना क्षिप्यमाणस्य स्मृतिश्च पादप पूर्वं
क्षयोऽपि न जानाति, तथा मदबद्धभूतेन तेन राज्ञा उग्रस्थितोऽपि स्वविनाशो न
ज्ञायते-इति च वस्तु उपनया व्यज्यते । तदेतदर्थगौरवमस्य पदस्योक्तुष्ट विप्र
मानुना प्रकथितम् । तथा च सादृश्यावस्थां गतो दुर्पोषणोऽस्माभि सुत्रयो
मविध्यतीति ।

५१

बाह्यभूतस्य शत्रोराक्रम्य राजा तादृशभयप्रदं न भवति, यथ ह्यमूनानाम
मारादीनां प्रशङ्कास्य चाप्रीतिः । यथा हि सर्वत्राज्ञमूनानां वृक्षाणां शाखा
स्वयंप्रयेन जातो वृक्षः स्वलोऽपि क्रमेण बाधुनोन्निवृत्तः सर्वमपि सर्वत्र भस्मसात्
करोति, तथा अन्तरङ्गाग्रा स्वलोऽपि सर्वत्र (विद्वेष) राज औदर्येनोर्वचितो
राजानं विनाशयत्येव । प्रकृतिशब्देन कारणशक्तिना राज प्रभुत्वे एषां कारणव
द्योतिताम्, अस्मिन्स्त्वके प्रजानां शक्तिमिरेव राजा राजा क्रियत इति । ततश्च
स्वस्मिन् राज्ञो राजत्वस्य कारणता मन्व्यमाना प्रकृत्यो राज प्रतिकूलगामिचे न
सदृश्या भवन्ति राजा च स्वस्मिन् प्रभुत्वं भवमाना न प्रकृती प्रसादयतीति
क्रमेण वदंत एव वैरमिति प्रमुप्रकृतिशब्दाभ्यां चाश्रितम् । पूर्वं चानपदाना

अपरागसमीरोरिति कन्दशीर्षकुम्भूलसन्तति ।
मुक्तं राजवत्सदृशिष्णुना रिपुसमूहवित्तु महानपि ॥ ५० ॥
अशुरपुण्ड्रान्ति विग्रह प्रभुमतः प्रकृतिप्रकोपः ।
अतित हि दिनस्ति मूषर तदृशास्त्वानिर्दयोऽनन्त ॥ ५१ ॥

अनानामरराग, ततो बाह्यप्रकृतिप्रकोप, ततोऽन्तरङ्गप्रकृतिभेद इति क्रमो विग्रह-
शब्देन शोच्यते । उपनाने प्रयुक्ते तद्व्याख्याशब्दरूपमेवेत्यन्तरप्रकृतिवर्गावस्थायां
क्रमेण प्रकोपोऽस्मिन्धीयते ।

५२.

पूर्वोक्त कार्यकाव्यमात्रेण तादृशस्य शत्रोर्विजये बुद्धिमत्ता न भवति कार्यं,
येन कार्यकाले स्वीकृतोऽपि विनयस्तत्कालः । यतो हि पूर्वोक्तावस्थायां तत्र पराभव
मुख्यतया स्यात् । न न तादृशोऽसौ नयः स्वनीतिं भ्रमेत्यन्तः, विनयमन्तरेण
सर्वतो नैव निवृत्तिः अनर्थमृत्वाद्यन्तरेण एतत् निवृत्तिमात्रम् । भूयते हि ननु
राजादीनां विरदेव परमिति, इत्यत्र च स्फुटं ननु तथेति । 'अवमानित्वस्य
सर्वदा' इत्यस्यान्यत्रान्वयः इति न होतव्यम् । 'अविरेग परस्व भूयसीम्'
इत्यादिभीमोक्तस्य चेदमुन्तरम् ।

५३

यदा राजा वृत्तं लुप्तमिव भवति, स प्रजापते मन्त्रिणां हितैरदेशादौ वीक्षा
वीक्ष्यमानोऽस्ति अत्रानायासः प्रजा पीडयति, मानस्यनस्यतीति, तदा तस्य राज्यं
मण्डलम्, अन्त्यन्तरं मण्डलम् च सञ्चल्य ततो भेदमाप्नोति-विद्वेषं गच्छति ।
पूर्वं च मण्डल एव भेदप्रकारः, तदनु आन्त्यन्तर इति बहिरन्तश्चेति शब्द-
विन्यासो युक्ततरः, यदा व्याख्यानान्तरे वगादि-वापारे प्राप्नोति भेदो यदा
राजा न क्षान्तिं नीयते, तदा मानसो द्वेषः प्रत्यक्षो भवतीति योऽन्योपमम् । निदा-
गतम् इति भिदोत्तरं द्वितीयाभरणेन भेदस्येति उक्तमस्त्वम्—इत्युक्त्या स्वीकृतं
गच्छते, अन्तिमं काले तस्य राजा वज्रो यद्यपि स्थात्, सोऽन्त्यायासेन विद्विष्ट-
मण्डलं प्राप्तोऽर्जुनोऽवतीति, यदा सार्वभौमराष्ट्रादि-स्तदा तस्य राज्यं स्वायत्त-
करोति । तद्विषयं तुष्टतरं च वक्ष्यते । यथा शिथिलवयवः तस्य नदीवैनाप-
ह्रियते, तद्वदेव । तद्विषयमेव दुर्बलस्य दुर्बलस्य राज्यं प्राप्ते भेदावसरे सुवेना
स्मान्निरायत्तीकर्तुं शक्नोति नृलोचनं वा अक्षयानि विप्रभानुराद—यथा कृष्ण-
द्विषः नदीवत्तलं सान्निहितमूलागेन च तस्य सम्बन्धः, मूलागेन सम्बन्ध-
शैथिल्ये काले तदन्विष्यते, तथा कुहरादिभिर्दुर्बलैरेणैव वास्तविकं सम्बन्ध-
दुर्बलैरेण सम्बन्धशैथिल्ये अस्मान्निरायत्तीकर्तुं शक्नोति । यथा च व्याख्येयं नदीवत्
हर्तुं शक्नोति, तथा प्राप्ते समस्तं पञ्चम्यमिन्द्राज्यं हरणीयमिति । यथा च

मर्तिमन्विनयप्रमायिनः समुपेक्षतः समुत्तिष्ठति द्विषः ।

सुत्रं सप्त तादृगन्तरे विदन्ताः सञ्चलीनसम्पदः ॥ ५२ ॥

लुप्तवृत्तितया भिदां गतः बहिरन्तश्च नृपस्य मण्डलम् ।

अभिभूय हस्त्यनन्तरं शिथिलं कुम्भकम्पमारय ॥ ५३ ॥

कूल कदापि नदी जलप्रदानेन लोकमुपकरोत्येव, उपकारस्वस्वमेव तस्या मुण्यम्,
 कूलहरण औपाधिकम्, तथैव मन (युधिष्ठिरस्य) लोकोपकार एवोद्देश्यम्,
 दुर्योधनहानिस्तु विद्वान्युपनता औपाधिक्येवत्यपि ।

५४.

यदा प्रधानतो युधिष्ठिर पूर्वोक्तेन प्रकारेण विद्वन्वचनसं भीमपुत्रिण्य नीति
 रहस्यमुपदिष्टावसीत्, तदेव भगव न द्वास्तस्मिन्निधौ प्राप्त । यथा नीति सिद्धय
 पुत्रस्य समीपे सदभिवाञ्छितोऽर्थं स्वयमागच्छति, तथैवेद भगवतो व्यासस्या-
 गमनम्, भगवान् व्यासो मूर्तिमान् युधिष्ठिरस्य मनोरथ इवेत्युत्प्रेक्ष्यते कविना ।
 तेन च मनोरथस्याव्यभिचरितप्रपूर्ते, साधनोपदेशाय व्यासस्यागमनमिति द्योति-
 तम् । अनुशासितमिति वर्तमानकार्यकप्रसयेन अनुशासनमध्य एवागमन बोधि-
 तम्, तेन चान्यानुपायान् सम्यग् व्याचक्षाणोऽपि युधिष्ठिरे भीमादिव्यवस्थये
 किं वदेदिति तस्याशङ्कि समीक्ष्य तद्गौरवरक्षणाय तदुपायं स्वयमुपदेश्यमागतो
 व्यास इति अनित भवति । इह अर्जुनाग्रज इति भीमविशेषण परमनीतिस्तराजुन-
 स्य सवन्धं बोधयदुपदेश्यता पोषयति, अर्जुनादीनामवमग्रज इत्यस्मिन्पुत्रदिश्य
 सान्त्विते सर्वे ते सान्त्विता मवेध्यन्तीति वा ।

५५.

भगवन्त व्यास वर्णयति कवि — स हि भगवान् व्यासं वर्णयितुमहाय सर्वत्र
 शान्तिमयीमाद्यादकरीं दृष्टिं प्रसारयति, तस्याश्च दृष्टेः स तादृश कोऽपि
 प्रभाव, यासम्बन्धेन अत्यन्तं तामसानि, निवेकबुद्धिरहितानि च तिर्यग्योनिगतानि
 हिंसाश्रयि विहादीनि भूतानि निरसीभूय मनसि शान्तिं लभन्ते, अनुचतेभ्यो
 हिंसादिव्यापारेभ्य उपरमन्त । तिर्यञ्चि इति नपुसकल्लिङ्गपदोक्त्यासेन तिर्यञ्चि अपि
 यान्यत्यन्ततामसानि नपुसकानि, ताम्यपि शमं प्राप्नुवन्ति, तन्म वक्तव्यमभ्येतामिति
 द्योत्यत इति विज्ञेयम् । किं च भगवन्त व्यास परितस्तेजोमण्डलं विराजते,
 तच्च तेजोमण्डलम् अत्युज्ज्वलम्, व्यासम्, आलोकनेनैव दुरितदाहकम्, न च
 सूर्याग्न्यादिनाशवत्तीक्ष्णम्, किन्तु दर्शनयोग्यम् । तेजसो विशेषणत्रये एकैकेन क्रमेण
 सूर्याग्निचन्द्रतेज सादृश्यम्-अपराम्प्रां चैकैकपेक्षया व्यतिरेको व्यञ्जित इति
 विज्ञेयम् । पदुष्याप्तमिति सूर्यतेज साम्यम्, दहनमिति अग्नितेज साम्यम्,

अनुशासतमित्यनाकुल नयकर्मोक्तुमर्जुनाग्रजम् ।

स्वयमर्थं इवाभिवाञ्छितस्तमभोयाय पराशरात्मज ॥ ५४ ॥

मधुरैरवधानि लभ्यन्त्यपि तिर्यञ्चि शमं निरीक्ष्यते ।

पतिः षट् विभ्रदेनसां दहनं धाम विनोदकनक्षयम् ॥ ५५ ॥

विलोकनश्चमिति चन्द्रतेजसम्यग्, तथैव विलोकनश्चमिति सूर्याग्निव्यतिरेकः,
दहनमिति चन्द्रव्यतिरेकः, पट्ट इत्यादिव्यतिरेक इति विवेच्यम् ।

५६.

पूर्वलोकेनैव सम्बन्धः—किं च-स भगवान् व्यास ईदृशस्तत्सर्वी धार्मिकः
यत्तपोहि-पुण्यानीत एवोत्पन्नानीति जनानां बुद्धिज्ञोयते । आपदा च दर्शनमात्रेण
निवर्तकः । राजा तदागमनेनेत्यर्थं समाहितम्-यन्मदीय पुण्यराशिरेवाय शरीरं
भूत्वा आगत इति । एतादृशो व्यासोऽकस्मादेव युधिष्ठिरेण , न हि तस्यागमनं
पूर्वं समाविनमासीत् । तेन च दर्शनकाष्ठ एव युधिष्ठिरस्य दिशस्य उदमूत् ।
अनेन लोकद्वयेन व्यासदर्शनात्पूर्वं युधिष्ठिरादोना मनसि य आसीद् वितर्कः—
सोऽप्यभिष्यञ्जित इति विश्वमानु । तथा हि—मधुरैरन्शानीत्यादिना पूर्वमकस्मा
द्वन द्यान्तमृगपदेण विलोक्य तेषां मनसि छिमेतदिति वितर्क उदमूद्-इति
अञ्जितम् । तदनु परितः पट्ट इत्यादिना सूर्यशशाङ्कवद्विलक्षण परितः प्रसर्पत्
किमपि धाम पश्यतां हरिहरादिभिर्देशोऽयन्तं कियते इति सचन्द्रकारी हर्षः
सममूद्-इति चोदितम् । ततश्चाकस्मादेव प्रादुर्भूतश्चमवान् भगवान् व्यासो दृष्टः,
त दृष्ट्वा सदिरम्यो हर्षातिरेकः समञ्जसीति ।

५७.

व्यास इष्टैव युधिष्ठिर स्वरथानादुत्थितः, स्वरावशात् तेन परिहितस्य रक्त-
वर्णस्य वल्कलस्याग्नं प्रकथ्यमानम्-इत्येतत् परित्वच्छब्द दृश्यते । तेन च सुमेरुमृङ्गा-
दुद्यतः सूर्यश्चैव तस्य शोभाऽभूत् । सूर्यकिरणजालेन वल्कलाग्रसरः, सुमेरुमृङ्गेण
च युधिष्ठिरासनस्य दिग्प्रतिबिम्बभावः । इह वने निवसतः परिहितवल्कलस्य
युधिष्ठिरस्य लौदर्भं सिंहासनं न संभवतीति आस्तुतं कुशाद्यासनमेवास्माभि-
र्यजिष्यामः, उन्नतत्वं तु तस्य युधिष्ठिरादरायै भ्रातृभिर्विदिताया मृदादिवेद्या
रिपतानात् । (यद्वोन्नतं काष्ठमज्जादीहं विवर्धितमस्तु) परार्थत्वं च भद्राशुभस्य
युधिष्ठिरस्य तत्रोपवेशनादेव अग्निं निवर्धितम् । पान्थन-वन्ते-रनादिभिरनैरेव
सुमेरुमृङ्गादिव्यमपि तत्र निवर्धितम् । यद्वा व्यासदर्शनेन स्वस्वाम्युदयं
घटत्वात्प्रकटद्विभाय दृष्ट्वा युधिष्ठिरो वनदासादिकं दिष्टुस्य राजसिंहासनस्थनधा
रमानमभ्यर्चयेति तस्य तां बुद्धिमनुकुर्वता कविनापि तदासनं सिंहासनत्वेनैव
निरूपितमिति निश्चयमानु । शीतरश्मिर्धति पाठ मत्वा चन्द्रसादृश्यं च तेन
युधिष्ठिरस्योक्तम् । यथा च सुमेरुमृङ्गाचन्द्रसूर्यादिरुद्रमो लोके प्रकाशाय, जगतः

सहस्रोपगतं सन्निभं तपसा सूर्यसूरिरापदाम् ।

दहरो जगतीमुखा मुनिः स वपुष्पानिव पुण्यसञ्चयः ॥ ५६ ॥

अथैवैरासनतः पराव्यदुद्यन्त धृताश्वक्त्तलापः ।

राज्यं कीर्णाक्षिणांशुबालः मृङ्गासुमेरोरिव तिग्मरश्मिः ॥ ५७ ॥

गुभास-तथा युधिष्ठिरस्यापि व्यासदर्शनसूचितोऽभ्युदयो जगत् गुभायेत्युपमा-
व्यक्त्यनपि स एवाह ।

५८

व्यासागमनजन्येन हर्षेण यश्चेतस उल्काशोऽभूत्, त निश्चय, चित्तमनर्हितं
कृत्वा, युधिष्ठिरो धौम्य पुरोहितमप्यत कृत्वा, तदुपदेशेन भगवतो व्यासस्य
श्रुतियोग्यो सपत्न्यौ सम्यग विदधौ । त ससमानमाशने समुभावरथ च तदाष्टय
पश्चात्स्नयमप्यासन उपविष्ट । युधिष्ठिरेणाव्याभिन्स्यामनस्य तथा शोभा आसीद्,
यथा प्रशमेन शकृत्सानस्य शोभा जायते । इह नरेन्द्रपद युधिष्ठिरस्य 'श्रुति
प्रकाशेन क्षीप्रमेव नरेन्द्रस्य प्राप्स्यामीनि' सुदृढ विश्वास व्यनक्ति । उपमया च
युधिष्ठिराय प्रशमस्तद्व्यवहारेण व्यासेन सुष्ठु लब्धिन इति व्यञ्जित इति
चित्रभानुराह ।

५९

हर्षप्रनिवन रिमतेन दनमयूषाणां निर्गमाद् युधिष्ठिरस्येष्टी सुशोभिता-
वास्तान्, तेन तस्य मृग चन्द्रेण पूण साम्य एतम् । व्यासस्य तु मुखं
परितस्तेजोमण्डल विराजने एव स एव बृहस्पतिप्रद सन्ध्या प्रतीयते ।
तेन पूर्णमण्डलो बृहस्पते समुत्पन्नागे शिवाय चन्द्रस्य या कान्ति, सैव
तथा व्यासमुखे स्थिते युधिष्ठिरे दृश्यते स्म । यथाशङ्कमूर्तेरिति मूर्तिपदो-
पादानेनैव व्यञ्जिते-यथा चन्द्रस्य मूर्तिमते दृश्ये मण्डल एव शयकलङ्कादि
दोष प्रतीयते, न तु तदधिष्ठातरि देवे चन्द्रे, तथा उपमेयभूतस्य
युधिष्ठिरस्यापि शरीर एव अनवासकृता, काश्याददोषा, न तु शुद्धे
तदात्मनी त । इदमगुजाल सम्बन्धमिति गुरुशिष्यश्च यतनुहिताद्यानराभाय बोधयन्
शरद्वस-तर्जुनालिवता चोत्थयति, शोचक्षेत्रस्थितत्वं च । समुत्से निष्ठमन्द्रो
गुरुणा दृशो भवतीति व्योम्निविदा समदाय, ततश्च शोचक्षेत्रगतेन गुरुणा दृष्टमन्द्रो
यथा जगदभ्युदयेषु, तथैवाय व्यासेनानुपृहीतो युधिष्ठिरोऽपीत्युपमा व्यञ्जित
इति निप्रभातु । व्यासस्य गुह्यसादृश्यव्यनेन तेन करिष्यमाणो द्वितोपदेशोऽपि
सम्यग्योक्तो भवति । युधिष्ठिरस्य सङ्गत्वं द्रष्टादृश्यव्ययन च तस्यापि सकल-
ताम्-प्रातराव्यताम्-द्यौषदभ्युदयस्याभ्यमाकिता व्यनक्ति ।

इति विराताशुनीये द्वितीय सर्ग ।

अवस्थितदृश्यो विधाय कोऽर्हगृवि-हृषिप्रसरे शुभ्यदिष्टाम् ।

तदनुमतमल्लक्ष्मण पश्चात् प्रथम इव भूतशासन नरेन्द्र ॥ ५८ ॥

व्यक्तोदितस्मिन्मयूषनिमाषितोष्ठास्तष्टन्मुरमिमुख स विदीर्णं धाम्न ।

तन्मन्तमिदमभितो गुरुमगुजाल तन्मीशुवाह सकलस्य यथाशङ्कमूर्ते ॥ ५९ ॥

किरातार्जुनीयस्य तृतीयः सर्गः

अथ चतुःश्लोकात्मकेन कलापकेन व्यासवर्णनम्

१.

अतितेजसी व्यासस्तदानीमुपविशोऽप्यूर्ध्वगामिमि शरच्चद्रकिरणावदातै
स्वनेत्रोर्भिर्विद्यालकाय प्रतीयते स्म । अपि च स ईक्षन् कृष्णार्ण पीतवर्णशिशो
आसीदिति विशुद्धमेघसदृशो वसौ । विद्यवज्रयो पीतवर्णत्वात् साम्यम् । दिवापि
व्यासस्य तेजोशून्यामुत्सर्पणोक्त्या सूर्यरश्मौनमिभूय मेघा व्याप्तिरुक्तं भवति ।

२

भगति व्यासे मूर्तिमतीव पूर्णा प्रसादलक्ष्मीरिवावमानानीन् , तादृशी सौम्या
मधुरा च भगवतस्तस्याकृत्स्नशीद या दृष्ट्वा य कश्चिद् 'व्यासोऽयम्' इति त
भगवन्तं न परिचिजोत, तस्यापि मनसि बलाच्छ्रद्धये कृदामय स्नेह प्रादुर्भव
त्येव, व्यास एव स्वाकृत्स्ना वत्पक्षेष्वा मनसि भक्तिमुपादयतीति प्रतीयते ।
अत्राप्य भक्त्युत्पत्तिमपि व्याख्यातु व्यासस्य समासजनकत्वमारोपितम् । व्यासो
मादमुपादयतीत्यपि नोक्तम्—गरसौ कान्तिर्यत्राते, स तु स्वविधे स्थित
भाव तन्मनस्तु दर्शनमात्रेण समासञ्जयति—इति ।

३

उदङ्गताया यत्र लेशोऽपि नास्ति, तथाभूता भगवतो व्यासस्याकृतिरेव तरप
चेतस परा शान्तिमेवाग्रता च प्रकटयति स्म, अथवा शान्ता तदीयामाकृति
मात्रेक्यतामपि मानसी वृत्त पवित्रा शान्तैक्या च ज्ञायते स्म । तदानीं मधुरया
विधाहृषा दृष्टा पश्यन् स तथा लक्ष्यते स्म यथासौ आलम्ब्य दर्शकान्
समा यति । आलम्बेन य आनन्द स तदहृष्यैव ज्ञायते स्म । अथवा एव
प्रतीयतेस्म—यथासौ विपद्ग्रस्तान् दृष्टिसंशयोपसाम्बध्यति । व्यास दृष्ट्वा सर्व
मन्तर्बहिश्च प्रधानता वृत्तिवदेतीत्युक्त्या क्रोधेनाविष्टस्य भीमस्यापि वृत्ति शान्ता

तत शरच्चद्रकिरणाभिरामैस्तर्पिमि प्राशुमि गृह्णामि ।

विभ्राणमानील्लक्ष्णं विद्योर्नगास्तडिन्तमिवाम्बुवाहम् । १ ॥

प्रसादलक्ष्मीं दधत समता अपु प्रकर्षेण जनातिगेन ।

प्रसह्य चेतसु समासजतमस्तुतानामपि मात्रमाद्रंम् ॥ २ ॥

भनद्रताकारतया विविक्ता तव तमन करणस्य वृत्तिम् ।

माधुर्यविस्मम्बविशेषभाजा कृतोपसम्पापामवेक्षितेन ॥ ३ ॥

आतेति व्यञ्जितम् । दृष्ट्या कृतोपपत्तापमिवेत्युक्त्या च सादृश्यस्य गभीरस्य मुनी
न्द्रस्याशयमविशय वक्तुमनीशोऽपि युधिष्ठिरस्तद्दृष्टिपातेन तत्समायणमनुमूय
वचने प्रगल्भोऽभूदिति व्यञ्जित इति चिन्मात्र । इह व्यासार्जनपरशु दत्तात्रेय
तद्वर्तिना यथानुभवो जायते-तथा क्रमोपि निर्दिष्ट इति व्याख्यानस्वापरोऽप्य
त्रिभानुना दर्शित । तथा हि दूराद्दर्शनार्थमागच्छन्तं पूर्वं दर्शनोपस्य चान्द्र-
स्येव तेजसोऽनुजाल पश्यन्ति, तदनु मृदा स्निग्धकृष्णा तदीया वनिम् । मूर्तेर्निर्गन्ध
बहिः प्रसरन्स्पर्शोऽवयवा अक्षुहरादिद्यद्दैर्घ्यमस्ते, मूर्त्यनुस्यूता प्रकाशसमष्टिश्च
धीनिष्कन्धादिद्यद्दैरिति । तत्तत्तस्य च स्वेयां दृग्गोत्रोपवन्ति । अयं धनिर्दितास्ते
भगवतः प्रसादलक्ष्योपनुभवन्ति, तथा तेषां मनसि काऽपि भक्तिविशेष प्रादुर्भवति ।
तदनु प्रशान्त व्याकारास्ते सम्यक् लोभ्यन्ते, तेन तेषामपि चेतसि शान्तिरेकाग्रता
जायेति । ततो माधुर्यं सवनतया दृष्ट्या दितमनुक्तं प्राप्तपत्रिण सर्वविधा चार्ति
शमयन्निव भगवन्सौ प्रतीयत इति । अग्रे भूतीनां प्रसूतिरित्युक्त्या ततस्तदुपदेश
लामहोषा जायत इत्यपि व्यञ्जितं द्रष्टव्यम् ।

४.

अभ्युदयनि भेयस्यो साधनमूनस्य भर्मस्य प्रतिपादिका पतनहेतोरधर्मस्य
च निषेधिका ऋग्यजु सामाख्या भूतयो व्यासेन चनेरादौ पृथक् पृथक् विप्रत्य
लोके परम्पराव्यसम्प्रदायप्रवर्तनेन प्रचार नीता । तं मुखेनावने उरविष्टं भगवन्त
व्यास प्रति तदानीं तदागमनकारणविशेषा युधिष्ठिरौ वक्तुमारमत ।

५.

भगवन् वराह ! ये पुरा पुण्ड्रल पुण्डराक्षिर्भित्तं त एव श्रेयोनिदानं च
सहस्रवर्तिनस्तुलितकुम्भादेश्च प्रसर निष्प्रधानमनभ्रष्टिषट्समिदं भवद्दर्शनं प्राप्नु
यक्तुदातं, नान्यं अहृतपुण्या । किं च भवद्दर्शनं भविष्यति भेयसरादकम् ।
तत्र काल्पत्रयेऽपि दुरितत्रयपुण्यसपट्वा योग्यता भवद्दर्शनेन व्यञ्ज्यते । अनास
पुण्योपचयैरिति भूतकाले पुण्यसपद् राज्ञिना विधूतत्वा इति सप्रति । (रजो
निर्धूननस्य वर्तमानत्वेऽपि सुकरत्वमविनिमित्तत्वं च व्यञ्जयितुं मृतकालिकं
प्रत्यय-निर्धूत इति ।) फलस्य सवित्रीमितं मन्त्रितत्वात्ते पुण्यसरासमृद्ध्यादि
व्यञ्जितम् । इत्यं निगूढमनाक्त स्वार्थो माघेन 'हस्तस्य सप्रति' इत्यादिना कृष्ण
नारदसंवादे व्यक्तीकृत । तेन चरमसि भवद्दर्शनंभाजं पूर्वं कृतपुण्या, इदानीं

धर्मनिमग्नो धर्मनिगन्धिनीनां प्रसूतिमेव प्रणुदां भूतीनाम् ।

हेतु तदव्यागमने परीप्सु सुखोपविष्ट मुनिमाचभाषे ॥ ४ ॥

अनासपुण्योपचयेदुंराया फलस्य निर्धूतत्वा सवित्री ।

तुल्या भवद्दर्शनसम्पदेया वृष्टेर्दिवो वीतबलाहकाया ॥ ५ ॥

विनष्टपाया, भविष्यति भयोमाञ्जनानि चेति ज्योतिषतम् । इह वीतबलाहकाया दिवो वृष्टि-अनमवृष्टि, सा यथा अतर्कितमुपनयति, तथा म-दृशंनमर्तितोपनतमिति मञ्जि नाथेन व्याख्यातम् । परमनादापुण्योपचयैर्नृपत्यादिविशेषणानि तस्या वृष्टौ कथं सगच्छन्ते, इत्यत्र तस्य सरेमौनमेव । केवल निर्धूतरजा-इति विशेषणमुभयपरत्या तेन योजितम् । विशेषणानां सर्वेषां तत्रानन्त्ये च कथमन्तकार इति सहृदया एव साक्षिण । चित्रमानुस्तु दिवो वृष्टिरित्युक्त्या द्युसरित्-आकाशगङ्गाया-एतत्तल्लि-स्य वृष्टिरित्युक्तं भवतीत्याह । वीतबलाहकाया इत्युक्त्या च मलिनतादिदो षष्ठ्य ध्वन्यं चारित इति । बलाहकरहिता वृष्टिर्मुखाविशुद्धिसमृद्धिद्विद्वत्, पुण्यत मनभोगज्जाप्रवाहोद्भूतेति पुराणेषु भूयते, इति च तेन स्वपक्षं समर्थ्यते । तेनविशेषणत्रययोगस्तत्र साधु समर्थित एव । निर्धूतरजा-इत्यनेन ग्रीष्मका लिकरजोनिर्धूतनमुक्तम् तेन तापशान्तिश्च व्याज्जनेत्यपरममुक्तम् । परे तु वीतबलाहकाया दिवोवृष्टि शारदी वृष्टिरिह विवक्षितेत्याहुः । शरदर्तौ बलाहका द्यौषा निरन्तर स्थिता अपयान्ति, द्यौर्विमला भरतीति प्रसिद्धमेव, सदेव वीतबलाहकप्रदेनामिप्रेतम् । 'कचित्पुण्यतने देशे वृष्टिर्भ-ति शारदी' इति प्रसिद्धे प्रथमविशेषणयोगस्तत्र शिष्ट । निर्धूतरजा इति रज-पदेन च वृष्ट्यदक-कर्ममादिकन्य-कालुष्यम्, शरीजालादेषु मिश्रित रजो वा विवक्षितम्, यस्म निर्धूतन तस्या सुप्रसिद्धमेव सत्यादिफलसमृद्धौ यथा तस्या उपयोग, स तु आबालहालिकं ज्ञात इति । पक्षानामेषां तारतम्यं विवेचयन्तु सुधियः ।

६.

भगवन् व्यास ! मयाद्य स्वानुष्ठितकर्तृनां फलमुपलब्ध, अस्मै च विप्रैर्वितीर्णा नामाशिषां फलम् प्राप्तम्, (अद्य मे सखारे अन्म सफलं ज्ञातम्) यत् मदन्ति कमुपागतवता भवता जगत्पह परम गौक्षं प्रापित । लोके गौरवमेव जनानामभिलषणीयं बलं, तदभीक्षितं भवदागमनेन सम्पन्नम्, अतः कृतार्थोऽस्मि । कर्तृनाम्, भूमिदेवा-इति दण्डवत्प्रणाम्याम्-अनेकजन्माश्रितयावत्कर्तृनाम् सर्वमाह्वना शिषां च फलभूतमतीतं दुर्लभं दर्शनमिति शोररते । भूमिदेवा इति पदं देवन्मिश्रदानुग्रहसामर्थ्यं ब्राह्मणेषु व्यक्ति, तेन तदाशिषां महत् दर्शनमेव ।

७

ममतो दर्शनं श्रीकृष्णादिसर्वभयोनिदानं यथा ब्रह्मण । मयान् हि ब्रह्मणा

अद्य क्रिया कामदुष्टा कर्तृना कृत्याशिषं सम्प्रति भूमिदेवा ।

मा रुस्तरेरिमं जगत्सु ज्ञातस्तद्व्यागते यद्बहुमानपात्रम् ॥ ६ ॥

धिय विस्मयपहन्त्यवानि भेष परिक्षीति तनोति कीर्तिम् ।

संदर्शनं लोकगुरोरमोघं तवात्मयोनेरिव किं न घञ्चे ॥ ७ ॥

११.

ये जना इह लोके परलोके च आत्मन श्रेयो यशश्च कामयन्ते, तैर्वन्धुष्व-
पञ्चगतेन वर्तितव्यम्, एकत्र रामोऽपरत्र द्वेष इति न करणीयम्, सर्वैस्तुल्यमव-
यवहतं यम् । मादृशैस्तपः परायणैस्त्वन विषये विशेषतोऽवघातव्यम्, निस्पृहाणां
तेषां विग्रमव्यवहारस्य अन्यानुचितत्वात् । चित्रमानुष्टा बन्धुभोगस्य परस्परं वैरे
सन्ति ये तदस्या उभयोरपि समृद्धिं स्वपदार्थे कामयन्ते, न तु कचिद्भागो द्वेषो
वा देशम्, तेषां सम एव व्यवहार उचित इत्यभिप्रायेण योजितवान्, तथा च
परस्परं निरुद्धा अपि दुर्योधनाद्या यूय च मम दृष्टौ समाना एव यद्यपि, तथापी-
त्याद्युत्तरेण सम्बन्धः । जन्मज्जन्माभिस्तुल्याः सन्त्यज्जन्मधारिणामय धर्मः, अनेनैव
जन्मसाफल्यमिति द्योतितम् । ततोघनानामिस्तुल्या तप एवैषां धनम्, न
स्वन्यद्वन् तं वाञ्छन्ति, ततश्च कस्येकस्या वैषम्यं कुर्युरिति सूचितम् ।

१२.

मुग्धिष्ठिर ! पूर्वोक्तप्रकारेण यद्यपि मम बन्धुषु द्वल्यवृत्तिरेवोचिता, तथापि
स्वदूगुणगगादृष्ट मम मनस्यपि विशेषेणानुरक्तम् । न चात्र मम कोऽपि दोषः, न
वैतेन मम मुमुक्षुत्वमिति, न वा माप्यस्य भ्रातः, यतो हि गुणवत्तरेषु मुमुक्षूणामपि
पक्षपातो भवत्येवेति प्रकृत्या सिद्धमिदम् । अस्मादृशैः पक्षपातो न क्रियते, अपि तु
गुणहेतुकं पक्षपातं स्वयमेव जायते-इति 'भवन्ति' पदेन व्यञ्जितम् । गुणानामेव
स्वभावः, यत्ते सर्वेषामेव चेत् आकर्षयन्ति-इति ।

१३

राजन् ! धृतराष्ट्रेण यद्ययं शत्रुपक्षे निश्चिताः, उज्जेन राक्षसादपसारिताश्च,
तस्याहं कारणं न वदामि, परो हि दूरीक्रियते, यूयं तु तस्य कनिष्ठभ्रातुः पाण्डोः
पुत्रा-इति धृतराष्ट्रस्यापि पक्षा एव, बाल्यात् प्रभृति पितृविरहितानां युष्माकं
पालनमारोऽपि धृतराष्ट्रद्विषीरसीति ततोऽपि सिद्धं पुत्रत्वम् । पुत्रोपेक्षेण च सर्वथा-
नुचितम् । यूयमयोभ्यां स्थ-इत्यपि नोपेक्षाकारणं युज्यते द्रुपदम्, दुर्योधनाद्य
पेक्षया युष्माकं गुणवत्तातिशयस्य सर्वलोकाप्रसिद्धत्वात्, तथा च धृतराष्ट्रौ वृधेज्
भवतस्त्यक्तवान्, अथवा किमत्र वक्तव्यम्, विषयलोलुपाः सर्वथा विवेकशून्या

चिन्तयता जन्मवतामल्क्षी यथाऽभर्तवामुपयन भूतिम् ।

अभ्यदिता बन्धुषु द्वल्यरूपा वृत्तिर्विशेषेण ततोघनानाम् ॥ ११ ॥

अथाऽपि निर्धनं नृप तावद्भीने प्रहोतुं मे हृदयं गुणोपैः ।

वीतस्पृहाणामपि मुक्तिमात्रं भवन्ति मध्येषु हि पक्षपाता ॥ १२ ॥

मुता न यूयं किमु तस्य राशः सुतोघनं वा न गुणोपैता ।

यस्त्यक्तवान् स वृथा बलाद्वा मोह विषत्ते नियमाभिलाषः ॥ १३ ॥

एव भवन्ति । धृतराष्ट्रस्य विषयलोलुपत्वमेव भवतां त्यागे हेतुः, नात्र कोऽपीति । औरसा पुत्रा अपि स्वभावेनेन द्रव्यप्रीतिहेतवो विषयपदेन विवक्षिता इति निश्चयानु । सुयोगनपद तस्य युद्धे पाटव बोधयद् गुणहीनता व्यनक्ति । तस्य राज्ञ इत्युक्तिविषयलोलुप स नामग्रहणस्याप्ययोग्य इति व्यासस्य तद्विषये अमर्षो द्योतयति ।

१४.

राक्षस्युधिष्ठिर ! 'अन्धस्येकाधाम्नस्य निनिपात पदे पदे इत्यभिमुक्तोक्तया धृतराष्ट्रस्यार्थहानिरुभय प्राप्त एव, यत् स विवादादरश्मियेषु क्रुद्धिः समीना कर्णादीनामेव सम्मतिमाप्नुयते, दुर्जनै सह सम्पर्कमात्रमेव जयस्त्रिभुवनक विपत्कारण च भवति, ते ॥ इ घनिष्टतामापन्न सतुपरि निश्वास तु किमु वक्तव्यम् । तथा च कर्णशकुन्यादिपरामर्शस्यैव फल मचना त्याग न ॥ साधुजनमीश्वरविदुराद्यनुमोऽप्य पन्था । आम्ना श्लोकाम्नां परपक्षस्य दुष्टत्वमुक्तम्, तत्र एव मम तेषु विशिष्टिरिति व्यासाभिप्रायः ।

१५.

युधिष्ठिर ! यद्यपि तत्र क्षत्रजो मध्येतमः स्त्रीग्रहणसाहवादीनि दुष्टकर्माण कुरात धर्ममार्गाद् भ्रष्टा जाता, तथापि ॥ धर्मात् पदमपि नाचल, सर्वं तेषामस्याचारं सोढवान् । तेन १३या सप्त प्रकटितम्—गुणेष्वेकोऽकृष्टस्ते प्रेमा, न करदादिभक्ति । स चायं गुणस्तेनैव एतावतीत्यत्र प्रकट, यत्तत्र शिप्यो सत्रामपि तस्य विपत्तिर्न भवति । 'पश्यन्पुतायाम्' इत्युक्त्या तत्र क्षत्रज सर्वेपि न केवलं सङ्गद् धर्मं त्यक्तवन्तः, अपि तु धर्ममार्गादेव ते भ्रष्टा, तेषां पुनर्धर्मप्राप्तिराद्यापि नास्तीति द्योतितम् । तथा च 'सद्यः प्रति सद्यः कुर्वाद्' इति नीतिमपि पश्यन्पुतायाम् धर्मपरेण १३या गुणा पृथीता—इति मम पक्षपातस्त्रयि योग्य एवेति । स्वयमेवेकवचनेन त्वद्भ्रातरो भीमाद्या अपि विचरिता, स्वमेक एवाविचलोऽसि इति सूचितमिति चित्रमानु ।

१६.

तत्र वृत्ति सदैव शान्तिपरा, एवमूतस्यापि तत्र यदिदं शत्रुमिश्रणमाभित्या

जहातु नैनं कथमर्थसिद्धिं सशय्य कणादिषु तिष्ठते यः ।

असाधुयोगा हि जयान्तराया प्रमाथिनीनां विपदां पदानां ॥ १४ ॥

पश्यन्पुतायां समितौ स्त्रिणां धर्म्यां दधानेन धुर चिराय ।

एवया विपत्तयर्पावपत्तिरस्यमादिभूत प्रेम पर गुणेषु ॥ १५ ॥

विधाय विध्वंसनात्मनीनं शर्मैकवृत्तेर्मदत्तच्छतन ।

प्रदाशितत्कमतिशीलसारा वृत्तोपकारा इव निदिधत्ते ॥ १६ ॥

पठतम्, तदेतत् तेषां स्वयमेव स्वनादयो कुठारघात इव विनाशाय सम्यग् नम् । तव तु तेन लाभ एव जातः । यथा मूयो मूयो निदर्पण सुरमिचन्दनकाष्ठस्य लोकोत्तर सौख्यमेव प्रकाशयति, तथैव धनुभिर्भूतं क्रियमानोऽपराधस्तत्र दुर्दे सद्वृत्तस्य च प्रवर्णमेव प्रख्यापयति स्म, इति मन्ये धनुर्जनोऽयमपराधोऽपि तयोपकारायैव कृत्तः । तैरुपकारद्वयैव स्वयत्प्राचार इह, परं तद्गुणास्तेन ख्यातिं गता इति उपकाररूपेण त्वमे परिहृतः । शुभख्यातिरेव जाति घनानां परमे लाभ इति । तेषां च दुरात्मता रक्षति रक्षेण तेषां विनाशोऽयमेव ।

१७.

व्यावो वक्ति राक्षन् । नीतिरवया साधु लब्धा, किन्तु मूर्खेऽपि (राज्यमपि) लब्धयमेव, न च दुर्योधन कथमपि स्वयं राक्ष्य दास्यति, ततश्च स्वयां पराक्रमेणैव राज्यमधिगन्तुं शक्नुमः, नेतरथा । किन्तु तव इत्युक्ते सन्निवृत्त इहोऽतिवीरा, व्यवसाय, भव्याणि, सैन्यानि च तत्राभिप्रेतुमाणि, भव्यत्वात् तथा यतनीयम्, यथा एव शौर्यादिषु शत्रोरपेक्षयाधिकं स्यात्, सप्राने हि अपराधनी प्रवर्णमेव वृत्तते न दुर्बलम् । द्युतच्छब्दं द्विर्दुर्बलोऽपि स्वयं कदाचलमेव, इत्येव प्रवर्णमेवैवैव अप इति रणशब्दोपादानम् । तथापि अवाचिह्वेन दुर्बलता अप रथात्, परं स्वामी — प्रशान्तो जयस्तु उत्कर्षात् एवेति भीमशब्दोपादानम् ।

१८.

पूर्वमिदम् पद्ये उक्तं शत्रुशक्त्याधिक्यमेव वर्णयति व्यासः । यत्र शुभकेन भीष्मं तावत् प्रस्तौति—राक्षन् । नीतिरवय प्रभाव तावदावलोचय । परशुराम लज्जेवर्धयति वारान् भुवः कनिष्ठशक्त्या विदधे, च एव भीष्मं धनुर्वेदमन्त्राप यामास । परमविद्वान्नाम्या न्याया विशदप्रसङ्गे तरङ्ग-प्राभाय सुध्यमानं स्वशिष्याद् भीष्मात् पराजयं प्राप । एव स्वदत्ताया एवास्त्रविद्याया स्वदित्ये भीष्मे स्वमादपि प्रदर्पे विद्याय अनुदत्तं यत् गुणानां प्रदर्पे पात्राधीनः । विशिष्टे पात्रे न्यस्ता गुणा विशेषं गच्छन्ति, यन्मद्विद्या, मन्त्रिज्ञिता प्रयोगनाम वादयश्च भीष्मे मदयेऽप्यापि प्रदर्पे गता इति । न केवलं राक्षान्, अपितु सारथा विरतनस्य मूढशक्त्यः पत्नीनाम्, न केवलं जना, किन्तु हन्ता तदपि यद्विजया नैकवारम् अपितु नि सप्तहृत् इति परशुरामस्य परदुस्त्वर्थं व्यक्तीकुर्यन्ति पदानि-स्यादि चिदमानु ।

लभ्या धरिणी तव विष्णवेन व्यापिता वीर्यानिश्लेषिपसः ।

अतः प्रकृषीय विविधैर प्रकर्षतन्त्रैः हि रणे धयभी ॥ १७ ॥

त्रिचक्रस्तत्रो जगतीन्तीनां हन्ता शुर्वस्य ॥ व्यासदम्भ्यः ।

वीर्याभूत स्म तदा विवेद प्रवर्णमपराधस्य गुणानाम् ॥ १८ ॥

१९

अधेशो मृत्युर्धमाधीन, पर इच्छा दमृत्युतया भीष्मस्य मृत्युस्तदधीनो नास्ति, अतस्तद्विषये यमोऽपि परामृत इति रक्ष्यामि एवा समान्यते । तथा च यत्र यमपराक्रमोऽपि कुण्ठतो भवति, य मीष्मो रणमूमो यदा धनुरारणं त्यति, तदा हस्य चेतसि भयं न जायेत, सर्वेऽपि भीष्मस्य शरासनारोपणमात्रेण भीता भवन्ति । ततश्च तेन सह युद्धे न कस्यापि सामर्थ्यम् । कथं च दुर्योधनशराती भवन्निर्बन्धित ।

२०

युधिष्ठिर । युष्मासु क एतादृश शरीरं यो रणभूमिमवतीर्णस्य अस्त्रप्रयोगै, शरैश्च शत्रूनां जायते निगनिशयकुट्टस्य द्रोणाचार्यस्य समुत्थितं स्यात्, स हि तदानीं त्रिभुवनं भरभसात्कुरुमुद्यतो ज्वालरूपा स्वविद्धा प्रसारयन् कालानल इव सर्वथा दुरभिमवो युष्माकम् ।

२१

य एवमुक्तीयाद्योपमात्रेण महामहतो धीरानल्पधीरयति, यदा धीरोऽपि य कोपमाश्रित्य समामे धैर्यं जहाति, भार्गव परशुरामो य चतुर्वेदमध्यापयति स्म, त धीर कर्णे समामे सुधमान इष्टा श्वश्रेकभयङ्करस्य मृ योरपि हृदि नूनम् अननुभूतपूर्वं भयमुत्पद्यत इति समान्यते । भाराधितेऽप्युक्ता देव-दाराघटप्रस जेन परशुरामेण सर्वेऽप्यजग्रामस्तस्मै दत्त इति प्रतीयते । इदं पूर्वं 'वीर्याश्रयैर्विश्वो वरायानि' त्युप-यस्तम् तदनुसारिणैव ताद्वरयेन भीष्मे वीर्यस्य, द्रोणे अस्त्राणाम्, कर्णे च बलश्रयातिशयो विवृत ।

२२ २३

रात्रन् । युधिष्ठिर । नाह भीष्मादिवर्णनेन त्वां मीषयितुमिच्छामि, न वा तव युद्धसाहस्यपनेतुमश्रमागतोऽस्मि, भवितु युद्धं प्रकषोऽपेक्ष्यते तत्प्राप्तार्थमह

परिदग्धनेभ्यःकृत-यत् ॥ १९ ॥ पामव प्राप्त इवा-तकोऽपि ।

धु-व-धनु कस्य शरो ॥ कुर्वी मनो भयैकप्रवण ए भीष्म ॥ १९ ॥

सृज-तमाजाविषुसद्गी उद्देत कोपजगन्धित गुरु क ।

परिस्तु लोल शलाघ्रमिह जगज्जिघत्स-तामवान्त डिम् ॥ २० ॥

निरीक्ष्य सरम्भनिरस्तधैर्यं राधेयमाराधितधामदम्प्यम् ।

भलस्तुतेषु प्रसम भयेषु जायेत मृत्योरपि पम्पात ॥ २१ ॥

यथा समासादितसाधनेन सुदुष्करामाचरता तपस्याम् ।

एते दुराप समवाप्य वीर्यमू-मू-ज्जार अपिक्तेनेन ॥ २२ ॥

महत्त्वयोगाय महामहिम्नामाराधनीं तां नृप । देवतानाम् ।

रात्रु प्रदानोचित ! मूरिषाम्नीमुपाग्व सिद्धिमिश्रास्मि विद्याम् ॥ २३ ॥

इदं प्राप्तेऽर्जुनायोषासनापदतिषड्विंशति मन्त्र प्रदास्यामि, तेनास्य साधनशक्तिः
प्रादुर्भविष्यति, तथैव पदस्या तेनैव च मन्त्रेणाय महाप्रमादा इन्द्राद्या देवता
आराधयिष्यति, तपश्चातिकठिनम्, शीतोष्णरूपक्षुत्पिपासादिसहनरूपम् करिष्यति ।
ततश्च देवताप्रसादेन मनुष्यदुर्लभस्तादृश प्रभाव, तादृशानामस्त्राणां लाभश्चाप्य
भविष्यति, देवार्थ भोगादीनपि निहत्य अयं प्राप्त्यतीति मन्त्रेणा विधेय साक्षात्
सिद्धिरेव स्या सभावनीया । अस्या न सिद्धिर्विदूरे इति ।

२४

पूर्वोक्त विद्यादान प्रतिज्ञाय व्यासो विरराम, तदनन्तर युधिष्ठिरस्त प्रसन्न
विहाय 'दश विद्याग्रहणाय भगवत समीपं व्रज, व्यभीक्षित साधय, इत्यर्जुनमादि
शत् । युधिष्ठिरास्ततोऽर्जुनो विद्याग्रहणार्थं शिष्यवद् विनयेन व्यासस्य समीपं
गन्तवान् । यद्यपि विद्याग्रहणे शिष्यत्वमेव मुख्य प्राप्नोतीति 'इव' शब्दोपादान
व्यर्थमिति, तथापि चिरमन्ते वसन् प्राक्तनशिष्य इवेति विवशगादक्षेपः ।

२५

यथा प्रातश्चत सूर्यस्य बिम्बान्नि सूर्य रश्मयो विकसन्तु कमलोषु प्रविशन्ति,
तथैव सा विद्या व्यासस्य मुखानि स्याज्जुनमुखे प्रविशेश । देवतासान्निध्येन मन्त्रस्य
बहिष्करणान्नासुराश्चमुक्तम् ।

२६.

तत्त्वज्ञानं विना न विशिष्टा मन्त्रसिद्धिः 'यदेव विद्यया करोति, तद्वीर्यवद्
भवति' इति धर्मादिषु ज्ञानस्वाङ्गतोपदेशात् । तत्त्वज्ञानं योनेन (समाधिना
चित्तैकाग्रयेण) साध्यम् । योगो यद्यपि निरकाशाभ्याससाध्य, परं महर्षिभ्यो
तोऽर्जुनायातिकठिनं निरकाशाभ्यासं योगमपि स्वतपोमहिम्ना सद्य एव प्रादितवान् ।
(धिततार इत्युक्तम्, न शिशिष्ठ इति, तेन स्वात्मगतयोगातिशयोक्त्य एव सद्यो इति
इति पठति) तेन च योगेन सद्योऽर्जुनस्य तत्त्वसाक्षात्कारोऽभूत् । चिरादन्यस्य
दृष्टिलामन्दरस्याप्यत्रिंशान्मञ्जनं प्रकृत्यादितत्त्वसाक्षात्कारकारकं ज्ञानचक्षुस्समी
कृतम् । करतलगतामण्डवत् सर्वाणि तत्त्वान्यनेन साक्षात्कृतानीति ।

इत्युक्तवत् व्रज साधयेति प्रमाणसन्वाक्यप्रघातशब्दो ।

प्रसेदिर्वाप्तं तमुपाससाद् वसन्तिमान्ते विनयेन निष्पु ॥ २४ ॥

निर्याय विद्याऽयं दिनादिरम्यादुबिम्बादिवाक्यस्य मुखाभ्युदये ।

पार्श्वाननं बहिष्कणावदाता दीति स्फुरत्पद्ममित्रमिषेदे ॥ २५ ॥

योगश्च तं योग्यतमाय तस्मै सप प्रभावाद्विततार सद्यः ।

मेनास्य तत्त्वेषु कृतेऽवभासे समुन्मिमीक्षेव चिराय चक्षुः ॥ २६ ॥

२७.

प्राप्ते विद्यायोगोपदेशो अर्जुनस्य मनसि महान् इर्ष्य उत्साहश्च प्रादरभूत् । तदनुकूलेव तस्याकृतिस्तथा प्रतीयते स्म, यथानेन किमपि महदैश्वर्यं प्राप्तं भवेत्, तथाविधं तं दृष्ट्वा व्यासेन निश्चितम् प्रवचय तप सिद्धिं प्राप्स्यतीति । सतो व्यासस्तपसि प्रवृत्तये तं वक्ष्यमाणमुपदिदेश । अत्र सन्निहितस्वार्जुनस्य इदंशब्देन परामर्शो योग्यः, न तु परोक्षवाचनेन तच्छब्देन, ततश्च तच्छब्दोऽयं तपसि प्रवृत्तस्याप्यर्जुनस्य मुनेरपेक्षया दैव्यव्यवसायः । अन्तःकरणेन नायं मुने सन्निहितः, तच्चास्य विजयेऽत्र रूपमेव, तेनैकादशसर्गकथा (वक्ष्यमाणा) द्योतितेति चित्रमातुः ।

२८.

हे अर्जुन अनेन गदुपदिष्टयोगेन ते तेजो वधिष्यते, तेन तप सामर्थ्यं स्वयां प्राप्यम् । इदानीं तपस्यवया कार्यम्, तत्र सामान्या मुनीनामाचाराख्या पालनीया, निरन्तरं मनःनर्पं कुरु, उपवासं कुरु, त्रिषन्ध्ये स्नाहि, इत्यादि । विशेषेण च तत्रैव द्वयं मतम् यथावया नियतात् स्थानान् चरन्ति यम्, रस्स्थाने स्नान्यस्य प्रवेशो न देयः, (यद्वा-स्नानेन यस्मै न शिष्योऽपि) किं च तपस्यतापि सततं शज्जं धार्यमिति ।

२९.

हे अर्जुन ! स्वयां पूर्वं सकन्दैवराज इन्द्रस्तपसा प्रसाद्य, स हि ऋटिने स्तपोमि प्रसीदतीति दुश्चरं तपस्ते कर्तव्यम् । योग्ये च स्थाने तपःसिद्धिरिति तपोऽर्थे हिमालयस्य शिलारश्मिरे इन्द्रवील्नाग्निं पर्वते रया गन्तव्यम् । तत्र मनोरमा शिलाकपाता, मनस्ते तत्र रस्यते । दिव्यश्च स प्रदेशः, न मातुः पास्तत्रानायासेन गन्तुं शक्नुवति, तस्मात्त्वां तत्र नेतुं दुष्कर एवो मया निमुक्तः, ॥ चेदानीमागत एवेति जानीहि । (अगमिष्यतोऽपि शीघ्रागमसोधनाय एव इति निर्देशः) सोऽयं स्वसिद्धया क्षणेनैव स्वां तं पर्वतं प्रापयिष्यति । अत्र चित्रमातुः ॥ वाचष्टे-गोत्र-भिद इतीं द्वाभिधानं शत्रुविधाताय तस्य प्रसादनीयतां व्यनक्ति, यथा गोशानसौ मिनत्ति, तथा शत्रूस्ते मेत्यतीति । तर्पाणीति बहुवचनेन बहु

आकारमाश्रितभूरितार्म्यं दधानमन्त करणानुरूपम् ।

नियोजयिष्यन्विजयोदये तं तपःसमाधौ मुनिरित्युवाच ॥ २७ ॥

अनेन योगेन विवृद्धतेजा निजां परस्मै पदवीमयच्छन् ।

समाचराचारदुपात्तशक्तौ जपोपवासाभिषवैर्मुनीनाम् ॥ २८ ॥

ऋषिष्यसे यत्र सुदुश्चराणि प्रवृत्तये गोत्रभिदस्तर्पाणि ।

शिलोच्च्य चारुशिलीक्ष्य तमेव क्षणान्नेष्यति गुह्यवस्त्वाम् ॥ २९ ॥

विधानि बहुकामव्याप्यानि च तथासि स्वया कर्त्तव्यानीति चोदयते । करिष्यसे—
इत्यामनेपद कर्त्तृभिर्प्राये क्रियाफले, तेन स्वार्थे ते तत्र, पञ्चिद्विपर्यन्त च कार्यं
मिति व्यञ्जितम् । नेष्यतीति परस्मैपद द्व परगामिनि क्रियाफले, तेन गुह्यस्य
तत्र प्राप्ते कोऽप्य स्वार्थो नास्तीति बोधितम् ।

३०.

अर्जुनाय पूर्वोक्तमुपदिश्य यावत्स्तिरोदधे । तेन भगवता सूचितागमनध्वं यक्ष
स्तक्षण एव तस्मिन् स्थानं प्राप्तं । तद्धि स्थानं भगवतो यावत्स्य मूर्तिमती
आसेव— इत्युपेक्षितम् । आशाविषयत्वादाश्चात्र तत्र समाहितम् । यथा यावत्स्याशा
यक्षेणावश्यं पालनीया, तथा तत् स्थानमप्यवश्यमधिष्ठेयमिति तत्र सद्य एव
तस्यागमनम् ।

३१

स यक्ष अरण्यार्जुनं प्रणनाम । अर्जुनोऽपि मधुरैः शुभैर्वनैस्तेन सह संभलाप ।
तेन यक्ष प्रियभाषिणि तस्मिन् निरतिशयमनुरूपति स्म, सुहृद्भव तत्क्षण एव
महान्तं विश्वासमकरोत् । नैतच्चित्रम्, यत् सज्जनसमागमं शीघ्रमेव विश्वास
मुत्पादयति ।

३२.

यद्योदयमान सूर्यं सुमेधपर्वतस्य परदिग्गतान् कुञ्जान् विजहाति, तदानीं
सूर्याभावे सुदर्शनमयत्वेन नैर्धर्गिकप्रकाशविशिष्टेऽपि तत्र कुञ्जेषु यथान्वकार
कथयितव्यस्थानं लभत एव, तथैव यदार्जुनं स्वाम्पुदयाय सभ्रातृन् विहाय
प्रस्थानमुद्यत, तदानीं ऽद्विराजन्त्य शोको विवेकवशं शत्रून् विजिगीषमाणेषु
च तेषु पुथिष्ठिरादिषु चतुर्षु भ्रातृषु कथंचित् पदमकरोत् । विवेकिनस्तेऽम्बु
दयनिमित्तं जायमान भ्रातृविरहं यद्यपि नाजीगणन्, तथापि कथंचिन्मन्दं
शोक मोहं प्रसरतेषु जातः । अर्जुनप्रेमातिशयस्तत्र निमित्तम् । उपमानस्य
सूर्यस्योपमा—शन्देनोक्त्या उपमेयेऽर्जुनेषु । तीव्रा परपरिमन्त्राक्रियंभ्यते ।

इति ब्रुवाणो महेन्द्रसुत महर्षिणा तेन तिरोबभूवे ।
॥ राजराजानुचरोऽस्य साक्षात्पदेशमादेशमिवाभितथो ॥ ३० ॥
कृतानतिर्बुद्धितस्तन्ववादे जातस्पृहं पुण्यवनं च विष्णौ ।
इषाय संख्याविधं सम्प्रसादं विश्वासयथाशु सना हि योग ॥ ३१ ॥
अथोष्णभासेव सुमेरुबुज्जान्विहीयमानानुदयाय तेन ।
बृहद्युतीन्दुल्लङ्घितामलाम तप्तं शनैः पाण्डुसुतान्प्रपेदे ॥ ३२ ॥

कायंगोर-मानो-य शुषिगिरादिभिर्भ्रातृविरह-य खदो दूरेणवर्षयते स्म,
प्रदत्त भ्रातृप्रेम तु त खद पुनराकृष्य तपु भ्रातृपु तुल्यभागेन विभक्तम् ।
समरूपेण सर्वेषु स्थापयति स्मेति । तेन तु मानुसवस्तेषां जात, परमत्र एवति ।
तत्र हेतुसंश्लेष्यते-यथा मदानपि माये यदि विमग्न बहुभिर्दृष्टेन, तर्हि तदुरेव
प्रतीयते, तथा बहूनां (चतुर्णां भ्रातृणाम्) समान तु स्वनिनि माये विमागादिव
तत्र लघुत्व जातमिति । मनस छगिच्छचित्तनया तत्र प्रादुर्भूताया शोकवृद्धेभविष्य
वृद्धप्राप्त्युत्साहेनोपमदांस्त्वं सुकरम्, बुद्धस्तु स्थिरनया तत्र आपव दुष्करमिति
मनस चतुर्विधस्य चित्रमानु समर्थयते । समानीय विमग्नमान-इति वर्तमान
त्वैक्या भूयो भूय कायोत्साह शोकन-कारयति, भूयो भूयश्च भ्रातृप्रेम त एवान्
यतीति चान्तिम् । कायोत्साहेन तु स्वस्य श्रुता प्रतीयत स्म । न तु वस्तुतो एतुना
जातेति 'मने' पदेन द्योतितमित्यादि चित्रमान । तस्यादिभागादिष्वेतेष्वन च
समविभागोक्तोक्तस्य स्वप्ने निवर्तिनो माये यथा एतु प्रतीयत-इत्याया
शयस्तेनोक्त ।

यद्यपि भ्रातृप्रेम्णा तद्वियोगशोक आविभावेत, तथापि तेषु च स्थितिं न
लेभे । तत्र हेतवः—एषा स्वाभाविकी धीरता, न हि धीरा शोकवृत्त्या मग्नति ।
किं च व्यासवचने तेषां विश्वास, आशोक-दिशार्जुन विद्विमेव प्रवृत्ति, नास्त्र
किमपि कष्ट मविष्यति इत्यालोचनेन शोकपनोद । किं च शत्रुमिर्याने तुल्यानि
वृत्तानि, सायनसूत्र प्रतीकार-अ तथा तथा प्रवृत्ता, यथा तदग्रे न किमपि
मावा-तर तिष्ठति, तथा शोक प्रणुज । किं च—अर्जुनस्य पराक्रमविवकादिक
ते सम्यग्न ज्ञान-त, तेन चार्जुनस्य काष्ठापत्त-मन तु न समा-यते, ततोऽपि
शोकाम-व । एभिर्द्वैतमिस्ते शोक-गगनामूवन् । एकत्र प्रेम्णा शोक स्थपत,
अनेकैस्तदवर्षयते, तत्रश्चानेकविरोध एकस्याकिं तद्वत्ताभास्ति शोकस्य स्थिति
सम-वने-य-अम् । पूर्वं हेतुना एषां धीरोदात्तत्वम्, द्वितीयेन घमिकत्वम्,
तृतीयेन च तेरश्चिता व्य-यते ।

असंशयातीततत्कार्यं प्रमत्त सम-ीय मि-यमा ।

दृष्ट्वादिभागादिव तामनोमिर्दु-व विमरो-य-तु च मने ॥ ३३ ॥

धैर्येण विश्वास्यतया महर्षेस्तीवाद्गतिप्रमत्ताव म-वो ।

धीर्ये च विद्वन्नु तुते मयो न सत्यु न स्थानमज्ञान शोक ॥ ३४ ॥

३५.

मुषिधिरादयश्चत्वारो भ्रातरः अर्जुनविरहजन्यं खेदं माश्रयानि मानुषभूतः,
यतस्तेतिविवेकशीलाः सहनशक्तिमन्तश्चेति, किन्तु न खेदं तान् सर्वान् परिमघ्न
समूहमावमापन्न इव एक्यवाहतामापद्येन च द्रौपदीमाचक्राम । यथा दिनस्य
चतुर्धा प्रहरेषु प्रकाशबाहुल्यादवकाशमन्ममानोऽन्धकारः प्रकाशशून्या रात्रि-
माक्रामति, तथैवेति । यथा रात्रिरन्धकारमयी भवति, तथा द्रौपदी शोकवशाणाऽभू-
दिति तात्पर्यम् ।

३६.

तपस्यार्थं पर्वतप्रदेशे गन्तुमुद्यतमर्जुनं क्षामिणश्च द्रष्टुमिदं द्रौपदी । सा
तस्या इच्छा तज्येयया स्फुटं प्रतीयमानासीत् । परं तस्या नेत्रे प्रेमाभ्रपरिच्छिन्ने
अमङ्गताम् । तैरभ्रमिस्तस्या नेत्रे तथावृत्ते, यथा सा तं स्पर्शं द्रष्टुं न शक्नात् ।
यद्यपि नेत्रनिमोलनेनाभ्रविन्दूनां बहिर्निपन्नत्वं स्पष्टदर्शनं समावितमासीत्, तथापि
सा तथा नाकरोत्, यतस्तथा विनारितम्—यद् विजयोरादप्राप्तये प्रस्थितस्य पर्युः
प्रस्थानसमयेऽमङ्गलसूचकमभ्रमोचनमलचिन्मिति । तेन अभ्रमि नयनपारेव कथं
चिद्दुःखं, नरजभातमकरोत् । अभ्रमिस्तस्या नेत्रे तथा आभासताम्, यथा
हिमरेखाप्रपातेन सहस्रशिष्टे कमले भासते इति ।

३७.

तपस्यार्थं गन्तुमुद्यतेऽर्जुने द्रौपद्या सप्रेमं दृष्टिपातं कृतः, स हि दृष्टिपातस्या
स्निग्धमधुरो बभूव, तथा च द्रौपद्या अकृत्रिमं प्रेम तस्मिन् व्यज्यमानमासीत्,
यथाऽर्जुनस्य दृष्टिमेकान्ततस्तदाचक्षुषं । स्वभावात्प्राप्तं दिव्यं च दृष्टिपातमर्जुनः
पापेनवन्मन्यमानः सर्वं स्वीचकार । लोकेऽपि यात्रायै प्रतिष्ठमानः पुत्रयो
मन्देमार्गं भोजनाय स्वभार्यया प्रेम्णा समर्पितं मिषाज्जादिकं पापेन सर्वं पृच्छति,
क्षिपार्पितं पापेयं यधि सेमकरं भवन्त्यागमः । पश्येयमङ्गलिना पश्यते, अस्य
दृष्टिपातस्य ग्रहणार्थं त्वर्जुनेन प्रकृतं मन एवाङ्गीकृतम् । मनसा दृष्टिपातस्य
ग्रहणं न स्पष्टं दृष्ट्वा मनसि तथा संस्काररूपेण निवेशनम्—यथा प्रकासे तत्

तान्मूरिधाम्नभतुरोऽपि दूरं निहाय यामानिव वासरस्य ।

एकौचभूतं तदशमं कृष्णं विनावरी श्रान्तमिव प्रदेदे ॥ ३८ ॥

दृष्ट्वालेलाऽऽकुलेत्साम्ने पर्यभूतो मङ्गलमङ्गभीरुः ।

अगूढभावाऽपि विगोचने सा न लोन्ने मीयितुं विदेहे ॥ ३९ ॥

अकृत्रिमप्रेमरसाभिरामं रागाऽर्पितं दृष्टिक्लोभि दृष्टम् ।

मनःप्रसादाङ्गलिना निधामं जमाह पापेयमिवैन्द्रसनु ॥ ४० ॥

यतः स्मियेत । मनसि पूर्वं तेन दृष्टिपातेन प्रगदोदयः, तदनु स्फकारूपेण तस्य स्थापनमिति द्योतयितुं मनः प्रगदस्याङ्गत्वं मुक्तम्, न ॥ मनसः ।

३८.

यथा ग्रीष्मर्तौ स्वल्पजलं वादगमीरा नदी आरण्यकेन राजेन विगोच्यमाना निर्मलता ब्रह्माति, तथैव शत्रुनिकारदुःखिता द्रौपदी परपुराणस्य वियोगमपेक्षमाना धैर्यभरोन अतितरा क्षुभितामन्त् । किं च परपुराणमनसमयेऽगङ्गा माभूदिति तथा अभुनिरोध कृतः — इति पूर्वमुक्तम्, अभुनिरोधे च वाक् स्पष्टं न प्रवर्तते, कण्ठश्च हललीति स्फुरः लौकिकानाम् । अतः सा कथञ्चिदतिकठिनतया गङ्गादस्वरेण अभर्तुं प्रति क्षत्रियमुतोचितं ब्रह्ममाश्रयवाचं । यद्यपि पतिं प्रत्युपदेशदानं पतिव्रतानामवश्यन्तमनुचितम्, तथापि ब्रह्मप्राप्ततया तथा कृतम्, अत एव ब्रह्मादिनि हेतुपञ्चमीनिर्गदः ।

३९.

शत्रुभिः छलेन यथा भवतां सर्वो राज्यसम्पदं हृता, तथैव भवतां सभावनपि हृता । पूर्वं लोकाः “पाण्डवा राज्ञः सन्तीति” भवतः समभावयन्, आसीच्च भवन्तु तेषां बहुमानः, परं सा सभावना च बहुमानः, राज्यभियां सहैव द्विषन्तः क्षान्तिनीनः । यथा गवादि पक्षे निमज्जति, तथैव, पक्षमभ्यन्तवाद् दुःखदरः सः । तस्य समुद्धारायैव भवान् उपपि प्रवर्तते, बहूनि तपांसि स्वयां कर्तव्यानि स्युः । अत एव तपः विद्विष्यन्तमस्मात्तु उत्कण्ठितेन दुर्मनायमानेन न मरितव्यम् भवता, यतः तपः सिद्धयेव न आशयो निवर्तिष्यते । दौर्मनस्य च तपोविघ्नकरमिति । यद्यपि भ्रात्रादिषु उत्कण्ठा दुरायवा, तथापि तथा नोत्कण्ठितव्यम् यथा तपो विद्वन्त्येत्, यथा एवार्थो भ्रातृपदेन सूचितः । उन्मनीभू इति निवर्त्ययेन तस्य स्वाभाविकं धैर्यं द्योत्यते । ह्मानोद्धार एव तपसां मुख्यं फलम्, तपसुद्धारास्तु आनुषङ्गिक इति च इवेन चिन्तितम् ।

४०.

ये पुरुषा यशोलाभाय, सुखप्राप्तये, लोकोत्तरं कर्म निश्चायं दिग्दर्शनाधिगतये वा निष्कामा भूयः प्रयतन्ते, फलविद्विस्तेषां पार्श्वे स्वयमेवागच्छति । यथोत्कण्ठिता

धैर्योत्साहेन हृतप्रसादा च यद्विप्रेनेव निश्चायसिन्धुः ।

निबद्धराशोदयस्य कण्ठमुवाच ब्रह्मादिनि राजपुत्री ॥ ३८ ॥

पुनः द्विरुच्यते यत्कृतं सत्कृतं प्रीतिनिबद्धसिन्धुः ।

आदिद्विषामा तस्यां प्रसिद्धेस्मदिना मा भूयः पुन्यनीभू ॥ ३९ ॥

यशोऽधिगन्तुं मुलक्षिष्या वा मनुष्यसङ्ख्यामतिवर्तिष्यति वा ।

निबद्धकानामभियोगमानां समस्तकुक्कुटमुपैति सिद्धिः ॥ ४० ॥

प्रेयसी कान्तस्याङ्कमागच्छति तथेति । यदि कान्त स्वयमेवौत्सुक्य प्रदट्येत्, तदा सा मान प्रदर्श्य विलम्बते यदि तु कान्तो निरस्तुक इव स्यात्, तदा सा समुत्सुका अङ्कमागच्छति । तथैव ये सिद्धादयर्थमासक्तिं दर्शयन्ति, न तेषां सिद्धिं तुल्यम् । ये तु केचन प्रयत्नरता अनुत्सुका, तेषां पार्श्वे सिद्धिं स्वयं समेति । एतेन फलेऽप्यर्थमौत्सुक्यं निषिद्धम् । यद्वा यथा दिव्यपदमोक्षलामार्गिणि स्वजनोत्सुक्यं परिहार्यम्, तथा लौकिकफार्यिणामपि एकाग्रहासम्पत्तये यद्विषयकं प्रयत्नस्तदितरं विषयकमौत्सुक्यं निषिद्धमेव । अत एवार्जुनो द्रौपद्या भूयो भूय प्रबोध्यते, यत् तपः सिद्धिपरायणेन भवता अस्मासु औत्सुक्यं परिहृत्यमेवेति ।

४१

अनुमियौऽयमस्माकं केशावर्षादिरूपं परिभव हृतं, तेन खलु अस्माकं तेजो हृतम्, तेन एव च क्षत्रियजातेमुख्यं धनम्, यतो लोकरक्षार्यमियं जतिर्विधाप्रासृष्टा, लोकरक्षा च दुष्टविजयसाध्या, विजयश्च तेजोऽधीन इति । यद्वा सर्वेषामेव क्षत्रियाणां तेजोऽनेन हृतम्-यतो हि क्षत्रियाणां पश्यतामेवैतदस्याहितं स्थानमलभत् । यदि क्षत्रियाणां तेजोऽभविष्यत् तर्हि किमेतदस्याहितमप्रतीकारं स्थानमलप्स्यतेति लोका निवारयन्ति । किंच तेन परिभवन् स्वभुजाजितमाश्रमुपभुञ्जानानां तेजस्विना प्राणवत् प्रियोमिमानोऽपि पण्डयते, क्षत्रियाणां हि मानहानिं प्राणहानिसमा । तेषां हि विजयसाधनी तेजस्विता माने एव तिष्ठति, मानस्तस्यां प्राण इव, मानाभावे दहनस्थिते । अत्र विजयैकवृत्ते रथनेन विशेषणेन क्षत्रियस्य विजितं द्रव्यमेवासाधारणं इदं भवति इत्युक्तम् । तथा च अहं इत्या अनेकेषां क्षत्रियाणां मध्ये मत्स्यबन्धं विधाय विजिता अतस्तर मयि असाधारणं स्वरूपं भवति, इत्थं च रथादस्य तेजस्विन क्षत्रियस्य स्वरूपं परिभव पश्यत किमेवा प्राणहानिसंशयी मानहानिं सोढव्या इति निगूढोऽभिप्रायः । विजय इत्यर्जुनस्यैकं नाम, तेन, विजये रथयेवैकस्मिन् तेजस्विता तिष्ठतीत्यपि भवितुम् ।

४२.

यदैव सभामध्ये जातोऽस्माकं परिभव देशान्तरीयेनृपतिमि भुत, तदा तैरपि सहसा न तत्र विश्वासः हृतः, यतस्तैः पूर्वं विचारितम् यद् नैवविधं परामव ईदृशानां वीराणां सम्भवति, परन्तु भावयितारो विश्वसनीया आसन्-अतस्तैः यद्यचिद् विश्वासः कृत एव तदा च अस्माभिरसंबद्धानामपि तेषां राणां क्रीडेश-

लोकं विधात्रा विदितस्य गोप्सु क्षत्रस्य मुष्णन्वसु जैत्रमोक्ष ।

तेजस्विनाया विजयैकवृत्तेर्निष्पन्नप्रियं प्राणमिवाग्निमानम् ॥ ४१ ॥

म्रीडानतैरासन्नजोपनीतं सशब्दं कृच्छ्रेण नृपैः प्रपन्नम् ।

वितानमूतं विततं पृथिव्यां यद्यं समूहजितं दिव्यकोर्यम् ॥ ४२ ॥

कर्मणिदिस्तरस्य बुद्धिस्तद्वृत्तस्य भवद् अथवा बुद्ध्यान्वयवत्तान्यात् । अथवा
रनाया विद्वाननैत्यै रायमिरेषोऽपाचार एतदर्थमुक्तं—यद् दुर्योधनं पाण्डव-
नानानौप एव, आश्लेषकृते च मन्त्रस्यैवदाति-भवेवेति, इतरथा ते कदापि
न वैक्षेपन्त । किं च यथा मार्कण्डेया प्राज्ञादिगोऽवधरः समुपगते-उपैवेतेन
परिभवेन विद्वुः विद्वानन्द इति नव । यथो निरक्षेयेश मनुष्टम् । एका बुद्ध्या
पूर्वतनं प्रत्ययं व्यस्तयेति ज्ञान । इह 'पृथिव्या विद्वानमून्' इत्युक्त्वा एतौ
यथा प्रसारो बोधितः, तेनाहुर्नृणां सख्यवदादे देवपरिमकः स्नायते, विद्वद्-
इत्युक्त्या पृथिव्यां विस्तारः, तेन बुद्धिद्वित्यय प्रजापत्यनसौष्ठवं स्नायते, दिवि-
कीर्णमि-क्या नीनादिकृतो दिविद्वय स्नायते ।

४३.

किंचैतेन एतुक्तावकाशेभ्यः मन्त्रां दिक्ने, पुराहनेषु दीरकमन्त्रं तयाक्रमं
हन्, यथा तेषां किं न इह जातः । एका न स्तरन्ति-न च भवते यदेत-
मन्त्रेण स्नानीतिस्कारं पूर्णं सद्मनैः पाण्डवै वदान्दि निमित्तं मनेत् ।
किं च अथैतेन निरक्षरेण नरा कीर्तितया लोभ्या, यदेवं कदाचिज्जैव
नेपतुमुरते । अथि च—यथास्तमनं कां नितुतां रूपमनां सङ्कोचयति, तथैवा-
यमरकारो मन्त्रमुत्तरकालिन्की सङ्कोचयति सङ्कोचयित्वा । निरक्षरानां कुतः
सङ्कोचयति ।

४४.

चतुर्निर्हण्डुद्वित्यय केयाकर्षणादिभ्यस्त न परितस्त्य स्तरमपि दुःकरम्,
एतत् प्रयोगवैधये चिरं तत्तद्गहनविधये वा किञ्च दत्तम् । यद्यपि विराट् एव
परितनेद्विर्गमे हे हृदय काञ्चनेन कथयित् तत्तद्गने चोत्ता प्राप्तम्, तथापीदानीं
त्वद्विषयलेखनावात् ए पुनश्च परित्त पुनः स्तरमनां नूतन ॥ पूर्वम् हृदयं
लेखयिष्यति । यथा धने धने पुनरपि कस्मिन् पुराणस्ये यदि आवातामर्तं
मनेत्, तर्हि स पुनराहंता एव बोधयति, तथैव दुःखेभ्यः पुनरनन्तं पुनरन्तरं
पुनरपि पुराणं दुःखदुःखादयती ।

४५.

हे पाप्य ! यथा कश्चन दन्ती दन्तद्वयो क्ते स एवापमिति प्रामादितुं न

वैरान्दानेषु कृताकर्मसंज्ञकमूनिव सम्यगीतेन ।

कुर्वन्प्रयानध्वनयनीनमकं तेषामऽ इवा देशः ॥ ४३ ॥

प्रत्यक्षं योऽस्त्वमु परैः प्रसक्तः स्तुतुं न शक्तः किमुनाधिकस्तुतुं ।

नरीकरीभ्यस्तुभ्यश्चदाहं ए स्तुतिना मे हृदयं निवारः ॥ ४४ ॥

प्रोक्तेऽनेन नव्यसनादत्त दन्तेव दन्तदन्तद्विकारम् ।

द्विष्यतामनन्तैतोद्वेजाः सख्यवदादीन् इवदिरः ॥ ४५ ॥

शक्यते, तथैव स्वमप्यात्माभिमाननाशेन न शक्यसे प्रत्यभिज्ञातुम्, यदयं ॥ एव
घनञ्जय-य उत्तरकुर्वन् विविष्टासत्य घनमादृतवान् । वर्धमानेन शत्रुप्रतापेन
तव तेजस्तयाऽऽदितम् यथा त्व शरद्वतुमेघैराच्छन्नं प्रातः काल इव निःप्रभो न
प्रत्यभिज्ञायते । तदानीं हि एकतः सूर्यप्रभा स्वयं मृद्वी, सापि च मेघैरावृता
इत हेतोः प्रातः काल एवायमिति प्रत्यभिज्ञा न प्रसरति, एव स्वमपि पूर्वतन्तेनशो
विनाशेन सर्वथा स एवायमिति न परिचीयते । मप्याद्वस्तु मेघावरणे सत्यपि
प्रत्यभिज्ञाय एवमपि प्रत्युपस्यैवोपमानस्त्वमुक्तम् । यथा शरद्वना न प्रावृद्धयनवद्
हुमेद्या तथा तवापीयमापद् न हुमेद्या, अपि तु वृत्तयत्नरश्च शीघ्रमिमा तरिष्य
सीत शरत्पदव्यङ्ग्यम् ।

४६

हे पार्थ ! इदानीं तवास्त्राणि क्रियाशूयतया सत्त्वज्ञानीव भान्ति, सत्त्वज्ञो हि
न विचेष्टितुं प्रगल्भते । तव निराकरणे तवास्त्राणामपि लब्धामूर्त्तं, तत एव तानि
व्यापारे न प्रवर्तन्ते-इति सम्भाव्यते । अजितस्य च अपटुता-नि सत्त्वज्ञा इवा
माविकी, अतो नि सत्त्वैरिव तैरस्रैस्त्र न शोभते । 'अर्जुनोऽस्त्रैस्त्रिलोकीं नेतु
समर्थ'-इति पूर्वं तत्र शोभामूर्त्तं, इदानीं तु शस्त्राणि व्यापारशून्यानि, इहा न
तथा सम्भावयन्ति लोका । तत्र पूर्वं सञ्चितं यशोऽपि क्षीणम्, तथा च यथा
क्षीणजल सन्द्गं केवलं रिक्तगर्तं प्रतीयेत्, तथैव यद्य क्षयात् स्वमपि नि सार
प्रतीयते । किं बहुना, स्वयि सर्वे तथा परिवृत्तम् यथा त्वं पूर्वविलक्षणो लक्ष्यसे,
न प्रत्यभिज्ञायसे । अस्त्रैः स्वमनवभासमानं शत्रुक्तम्, न तु अस्त्राण्यनवभास
मानानीति, तेन अस्त्रेषु न प्रतीषातादिदोष, स्वस्यैव तदभ्यापारण दोष इति
द्योतितम् ।

४७

मन्येष्टम तव पश्यत इमे मम केशा दुःशासनेन आकृष्टा, तदानीमवा
नाभूत् कश्चिद् रक्षकः, सत्त्ववि युष्माकं नाथेषु अनाथा इव इमे जाता तदानीं
केवलं माग्यमेवैतेषां शरणमभूत्, अन्यथैतथा स्वरूपमपि लुप्येत, एव स्वशक्तीक
शब्दार्थेन तूष्णीमुपेक्षमाणस्य ते शौर्ये बलं बोध्यमपि गर्हणीयता गतम् । यत्तव
वीर्यं देवैरपि दुरासदम्, तदचेतनैः केशैः कदर्थितम् । स एष विलक्षण परिवर्त
तव घनञ्जयसर्वं सदेहयति, तस्मात् पृच्छामि-किं एव स एव-प्रसिद्धकर्मजुनोऽसि,

सर्वीहमन्दैरिव निजिदत्वात्रात्यर्थं नैवभासमानः ।

यद्य क्षयात् क्षीणज्जगत्तवाभस्त्वमयमात्रासप्रवामि च ॥ ४६ ॥

दुःशासनामर्परजोविक्रीर्णैरेमिर्विनाथैरिव माग्यनाथे ।

केशैः कदर्थीकृतवीर्यसारं कश्चिन् एवासि घनञ्जयस्त्वम् ॥ ४७ ॥

इत्यभिप्रायमाह । पर तस्मिन्नर्थे 'तत्र अध्यानाम्' इत्युक्तिस्वास्त्य नास्ति ।
'अस्मद्विना मा भूतमुन्मनीम्' इति पूर्वोक्तमेव च तथा सति पुनरुक्तं स्यात् ।
स्वस्य दुःखनाशप्रार्थनापेक्षया प्रियस्य दुःखनाशप्रार्थनैव युक्तवरेति च विवेचयन्तु
सुधय । किं चाध्याशीरर्थकेऽल्लकारे सत्यपि, स्वय तथा व्याख्यायापि च कर्तव्यो
पदेश मस्मिन्नाथो मनुते ।

५१.

पार्थ ! विजने प्रदेशे निरस्य स्येयम्, भूत्यादिविरहेण कैकाकिनैव सत्र
तत्र पर्यवर्तीयम् । अन्यो यदि सहायो मयत्, तर्हि स समये हित बोधयेत्,
पर तथाभूतस्याभावात् स्वयमेव स्वया सततमवहितेन स्यातव्यम् । विजन
शान्तश्चाय प्रदेश, किमत्रानिष्ठ सम्भाव्यते, किं च नाहमत्र कस्यापि प्रियमप्रिय
वा करोमि, ताजुतो मे कश्चिद्वैरी स्याद् इति विचार्य प्रमादस्तवया न कार्य । यतो
हि भवन्ति तादृशा रागद्वेषदूषिता जनास्तत्रापि, ये सत्पुरुषाणामप्यनिष्ठ सदादयिष्ठ
यत्नन इति । मात्सर्यदूषिततया शत्रुसम्भावनोप-यस्ता, रागदूषितशत्रोस्तथा चाप्सर-
प्रभृतीनां स्त्रीप्राप्तवृत्तिरसमा-ज्या प्रोक्ता । उष्णपरि सव्यस्येन इत्या मा-यमिति
कर्तव्योपदेश ।

५४

पार्थ ! य मया निवृत्तम् तत्सर्वं विचार्य महर्षिरादेशमनुसृत्य तपोऽनुतिष्ठन्
सर्वेषां स्वदुष्कृतानां मम च कामान् पूरयस्व । अस्माकं केवल ते मनोरथा एव,
त्व तु तत्पूरयेऽपि समर्थ । तेन तत्रापि अस्माभिः सह समुद्रिलाम, कीर्तिलामश्च
स्वतन्त्र स्यादिति कुर्वन्त्यात्मनेरदेन शीत्यते । यद्यपि प्रवासकाले गाढमालिङ्गन
कर्तुमुचित, तथापि निकारसतप्ते मानसे न तत्प्रीतिरिति, यदा एव कृतार्थं
प्रत्यावर्तिष्यसे, तदैव सा गाढमालिङ्गिष्यामि । एवंपदेन 'नास्मिन् समये' इति
धर्ममान परिरम्भण व्याख्येयते । ईदृशो अत्यावश्यकोऽपि कर्मव्यवहृति परिभववर्जितस्य
सत्तापस्यातिशय व्यनक्ति । यद्वा कृतार्थमेव प्रत्यागतामिति बोध्यम्, तेन च स्व
यत्नपरो कृतार्थः कथमपि स्या - इति फलप्राप्तौ निश्चयो शीत्यते ।

५५

पूर्वं प्राप्तोऽपि परिभजे व्यासद्वन्द्वं विस्तृत इव, न इदानीं श्रौषथा अभि

मा गाश्चिरायै-चर प्रमाद वसत्रसम्बाधशिखेऽपि देशे ।

मात्सर्यरागोपहृतात्मना हि स्तत्रन्ति साधुष्वपि मानवानि ॥ ५३ ॥

तदाशु कुर्वन्वचन महर्षेर्मनोरथान सप्तश्रीकुर्वन् ।

प्रत्यागत त्वाऽहो कृतार्थमेव स्तनोपपीड परिरन्तुकामा ॥ ५४ ॥

उदीरिता सामिनि याज्ञसन्त्या नवीकृतोद्ग्राहितविप्रकाशम् ।

आसद्य वाच स मृश दिदीपे काष्ठामुदीचीमिव तिग्मरश्मि ॥ ५५ ॥

निवेशयान्ता पुनरुद्घाटय-पुनर्नवीकृत्यानुभावित, तेनार्जुनस्य क्रोध प्रदीप्तोऽभूत् । यथा स्वभावदीप्ताऽपि सूर्यो दक्षिणा दिशमासाद्य कश्चिदल्पेणा उदीचीं प्राप्य पुनः प्रदीप्तो भवति, तथैव स्वभावेन तेजसोऽभ्यर्जुनो ज्ञातिवत्सलया रुच्यचित्तौघ्यतां गतो द्रौपदीवाचमाकर्ष्य पुनः प्रदीप्तोऽभूदिति ।

५६

द्रौपदीवाचमाकर्ष्य पारमवस्मरणेन अर्जुनस्य तथा वृत्तिर्बभूव यथा शत्रवस्तस्य समुल्लेख एव तिष्ठन्ति यथा शत्रून् पुरो दृष्ट्वा क्रोधो दीप्यते, तथैव तस्य क्रोधदीप्तिरभूत् । प्रस्थानकाले पुरोहितेन समन्वयमन्त्राणि तच्छरीरे यथोचितं स्थापितानि । तेन स्मृतिं तदाकृतिरिदानीं मयप्रदा प्रतीयते स्म । यथा स्वभावसौम्योऽपि मन्त्रो यदा मारणादिकर्मसु विनियुज्यते, तदा मयप्रदो भवति, तद्वदेव कार्यकाले अर्जुनस्य भीषणत्वमिति ।

५७

पुरोहितेनार्जुनस्य शस्त्राभ्यासोपितानीत्युक्तम्, कानि वानीति विवृणोति-सति यस्याकर्षणे कोऽपि शत्रुर्बोधुं न शक्नोति, यद्वा-यस्याकर्षणमर्जुनादृते कोऽप्यन्यो न कर्तुं शक्नोति यद्वा कस्याप्यन्यस्य धनुषो विकर्षणं यस्य विकर्षणं नातिशेते-तद् गाण्डिव धनुरर्जुनेन धृतम् । अक्षय्याणनिधीं तूणीरौ च निरद्धौ, ययोर्दर्शनं कदापि शत्रुभिर्न कृतम् । तूणीरौ हि पृथगो रभ्येते यदि समामे योद्वा पलायेत, तदा तूणीरौ शत्रुभिर्हृषयेताम्, न ह्यर्जुनः कदापि समामाबिभृत् तेनास्य तूणीरौ शत्रुभिर्न दृष्टौ । तूणीरुपार्श्वं एव खड्गोऽप्यर्जुनेन बद्धः ।

५८

कवचमप्यर्जुनेन धृतम् । तस्मिन् कवचे रत्नानि तत्र तत्र निवेशितान्यासन् । अतएव तत्कवचमर्जुनस्य शरीरे स्थितान् तान् ज्ञान् तेजसा तिरोधत्ते स्म, ये लाण्डवदाह इद्रेण सह युध्यमानस्य तस्येद्रासुधै कृता । तत्र सादृश्यमुच्यते-यथा इद्रेण सह कृतसङ्गरोऽयम्, तद्वज्रप्रहारानपि सोढ्वा लाण्डवदाहं चकारैव । अर्जुनस्य प्रथितेन यशसा ज्ञाना तिरोहिता-जनानां मनस्सु न गण्यते स्म, तथैव कवचेनापि ते तिरोहिता इति । किं च कवचमिदं रत्नेस्तथा प्रतीयते स्म

अयामिषयश्चित्त्रिद्विष पुरः पुरोघसाऽऽरोपिनहेतिसदृशः ।

यमारम्योऽपि वपुः स भीषणगतं किंवा मन्त्र इवाभिचारिकीम् ॥ ५६ ॥

अविन्द्यच्च विकर्षणं परं प्रथितं प्यारवकर्मं कामुकम् ।

भगताग्रिदृष्टिगोचरं शितनिस्त्रिंशसुधो महेयुधी ॥ ५७ ॥

यशसेव तिरोदधमुद्धमं हसा गोत्रमिदासुधधनी ।

कवचं च सरत्नमुद्रहञ्जलितज्योतिरिवान्तरं दिव ॥ ५८ ॥

यथा तारकाकलितो नमसो मध्यभागो भवेत् । लोहनिर्मितस्य कवनस्य कृष्णवर्णं
दत्तया प्रतीयमानेनाकाशैकदेशेन साम्यम्, रत्नानां च तारकाभिः । कवनस्यैक
देशसाम्योन्मया अर्जुनस्य वृत्तनम साम्यं प्रतीयते ।

५९

कुबेरस्य भूयो गुणकोऽर्जुनं प्रति मार्गं बोधयति स्म, तत्रैव मार्गेन पूर्वोक्त
वेधोऽर्जुनो हिमालयस्य इन्द्रकोटसशक शिखरं प्रति प्रस्थितः । अभिशेन गुणकेन
शिवं पन्थास्तदर्थं निर्दिष्टः, एनं व्रजतोऽस्य न कापि बाधा भवेत् । तदा तत्रैव
सर्वेऽपि तद्विदम तद्व्रतमनस्का समूहः । तद्विद्योगेन च तेषां बाष्पवेदमोऽस्मभूत् ॥
परं तद्विदितया ह्येतेनैव बाष्पवेदस्तस्मिन् ।

६०

अथ प्रस्थितोऽर्जुने तद्विजयनिर्धयप्रदृष्टा, मङ्गलान्तरव्ययन्तश्च देवा एते
हुन्दुभीर्वाद्यामाहुः, तस्य शब्दस्य प्रतिश्रुतिं सर्वं दिक्षु भूयते स्म । किं च
पुण्याग्रयि देवा वरुणः, तैर्नमः शोमान्वितमभूत् । अथामिहागमस्तुरपश्चात्
दुर्गोदनादीनां विधातो देवशायमेवार्जुनेन सगच्छमिति तेषां हर्षः । किं न मादि
महासमरसूचनाय मूमिष्यहमे, समद्रश्च प्रवृद्ध उत्तरङ्गमाल आसीत् । तत्र अवि
हमेष्टे—प्रियं समुद्रं स्वप्रियां पृथ्वीम् 'ना विभीदि, भारस्ते क्षिप्रमग्नेष्यते'
इति प्रियं सदेशमाख्यातुं वीचिभिर्भुजसहस्रैरालिङ्ग, सा च सारित्वमावोदयेन
प्रकम्पिता, हर्षोत्फलिता चामूदिति । यथा कथितकान्तं प्रियं सदेशमाख्यातुं
कान्ता भुजाग्यामालिङ्गति, सा हर्षोत्फलिता वेपमाना च भवति, तद्वदिति ।
समुद्रकृतं कमारिङ्गनं पारतः शर्यं एव । सर्गसमाप्तिरये त्वत्कीरदं एव यक्षुनहाकांश
ह्येनीवस्यणाय ।

इति किराताजुनीये तृतीयः सर्गः ।

भलकाऽधिपभृशदक्षितं शिन्धुर्वीरवर्यं सप्रयान् ।

हृदयानि समविवेच्य स रुग्णमुदराग्रदृष्ट्या तपोभृजाम् ॥ ५९ ॥

अनुजगुरथ दिव्यं हुन्दुभिर्गगनमाशा

शुरुकुमुनिपातैर्वीर्येण लक्ष्मीर्वितेने ।

प्रियमिव कृपविष्णुजालिङ्गि रफुरती

सुवमनिमृत्वेलावीविबाहु पयोधि ॥ ६० ॥

किरातार्जुनीयस्य एकादशः सर्गः

कथासम्बन्धः

इन्द्रकील नाम हिमालयस्थान्यतमं शिखरं गतोऽर्जुन इन्द्रप्रसादनाय दुधर-
तपस्तपे । वनरक्षकमुखेन श्रुतस्तद्बृत्तान्त इन्द्रः परीक्षार्थं तपोविघ्नायाप्सरोगणमा-
दिदेश । तन्मध्ये सहिता अप्सरसोऽर्जुनाविधितपर्वतसमीपमेत्य त्रिविधान् विहाराश्र-
मः । अतुकूर्त्तुसहायाश्च विविधामिक्षाभिरर्जुनं प्रलोभयितुं प्रयेतिरे । किन्तु
र्जुनस्यासाधारणं स्वयमालोक्य विस्मयप्रयासा स्वं स्वं धाम प्रतिजगमुदिति दशमे
सर्गे गतम् ।

तदनन्तरं वृत्तमुच्यते—

१.

प्रतिनिवृत्त्य ताभिरप्सरोभिस्तद्बृत्तमिन्द्राय निवेदितम् । इन्द्रश्चार्जुनस्य स्वामा-
त्रिकीर्माणस्तुष्टीं चोभयविधामत्रिभित्तिद्वयतामाकलय्य प्रससाद, अर्जुनो हि स्वमा-
नैरजितेन्द्रिय आसीत्, इदानीं शत्रुचरितामर्षेण विरेचनो जितेन्द्रियता संपादिता,
नह्यमर्षवशीकृते मनसि किल सेव्या स्थानं लभते । ततश्चेन्द्र स्वयमेव तद्दार्ढ्यपरी-
क्षार्थं छद्मपदेन तदश्रमं जगाम ।

२.

स्वाश्रमे समागतं मुनित्रेधाधारिणमिन्द्रमर्जुनं साक्षात्कार्य, तेन स बृहदो मार्गभा-
न्तद्वच्च मुनिरिति विज्ञातः । अर्जुनो हीन्द्रस्यैव सुतः, परं कमथयमादिना योग्यश्चेति
दर्शनयोग्यतामाकलय्य इन्द्रेण तस्मै दर्शनं दत्तम् ।

३.

बृहदमुनिपदेनार्जुनसमीपमुपागतस्येन्द्रस्य शिरश्चेतकश्चनिबद्धजगज्जालमण्डितमा-
सीत्, तेन शोभमान इन्द्रस्तदानीं चन्द्रकिरणवृक्षया सन्ध्यायां शोभितस्य दिना-
न्तरस्य सादृश्यमुवाह ।

अथामर्षात्रिसर्गाच्च जितेन्द्रियतया तथा ।

आजगामाश्रमं जिष्णो प्रतीतं पावशासन ॥ १ ॥

मुनिरूपोऽनुरूपेण सनुना ददशे पुर ।

द्राघीयसा च्योतीत परस्परान्तं किलाध्वना ॥ २ ॥

जगनो कीर्णया केनै सहत्या परितः प्लितै ।

पृक्षयेन्दुकरैरहं पर्यन्त इव सन्ध्याया ॥ ३ ॥

परिणतरूपत्वमिदं दिनातयो स हृदयम् । कन्ध्या तं मया न्यामामि चन्द्रकिरणै
श्वेता भवन्ति, तथैव वेशा स्वभावेन इयमा अप न म तुङ्गस्या इत्य नीता इति
तयो साम्यम् ।

४

इन्द्रस्य नेत्रे कमलदहरो, वृद्धराजतस्य भ्रूवौ पालित्य प्राप्ते, लम्बमानाश्च
तयोर्बाणा नेत्रे आच्छादयन्ति स्म । मासस्य स्वर्णराजप्रातभागावपि बलिविशि
ष्टौ, किञ्चित्तौ अत एव ॥ तदानीं तस्य सरसं साम्राज्यं यस्मिन् निरतरदुष्टार
पातेन कमलानां दलान् स्नानानि स्युः । तुषारसमा श्वेता भ्रूवाणां, स्नानता च
वर्णितरादिति ।

५

यद्यपि वृद्धस्य तस्य पाण्णपादाद्यवयवा अनिकृष्टा तथापि स निर्वलस्यास
सान् बोद्धुं शक्यम्, तेन ते भारयुक्ता इव प्रतीयंते स्म, निर्वलस्य स्वशरीरमपि
भारायते इति भावः । अत एव स प्रायः शरीरेष्वष्टभायं यत्किमलम्बते स्म । यथा
पतिव्रता स्त्री अतुल्ययोग भोजनपर भर्तार स्वयं भोजनराद्यलम्ब्य दत्त्वा धरति तथैव
यत्रिपि धरति स्म । अलम्ब्य ने यथा कर्तुं प्रतिशब्देन वृद्धस्य स्वशक्त्यभावे
द्योतितं, न हि स यत्रिं धरति स्म, अपि तु यद्विस्तृतं धरति स्मेति ।

६

यद्यपि मुनिवेषेणैव स्वस्वरूपं गोपयामास, तथापि लोकातिशायि तस्य तेजो
बोधयति स्म यदस्वयं कथं न महापुरुष इति । यथा वर्षासु स्वल्पेन मेघमण्डलेना
कण्ठनेनानि किरणसहस्रेण दुरभिभवेन स्वतेजसा दीप्यत एव, तथैव सोऽपि दीप्यते
स्म । अशुमानिति लोकाभिभाविना इति च आकाशेऽपि प्रकाशनयोग्या
नयति ।

७

यद्यपीन्द्र शरीरेण वृद्धो लम्बते स्म तथापि तस्य दिव्या मूर्तिराभमस्य शोभा
मतिशेते स्म, तदानीमतिशेति शिखरस्तस्यागमने तत्प्रभाषणाभमो नीरवस्तव्यतया

विशदभयुगच्छन्नवलिनाप क्लोचन ।
प्रालेयावततिम्लानरत्नाशान्ज इव हृद ॥ ४ ॥
आसक्तभरणीकाशेरह्ये परिकृशोरपि ।
आयुन सद्युहिष्येयं प्रायो यद्व्यावलम्बित ॥ ५ ॥
गुदोऽपि वपुषा राजन् धाम्ना लोकाभिभाविना ।
अशुमानिव तन्वन्नपच्छन्ननिग्रह ॥ ६ ॥
जरतीमपि विभ्राणस्तनुमप्राकृताङ्गति ।
यवाराकान्तलक्ष्मीर सदाशमिताथमम् ॥ ७ ॥

समुत्पन्नमीतिरिव दश्ये । तेन स्वदर्शनाद्धि मय मवति, मयाच नीरवना जायते
इति । अत एव कवेना सवाध्वसमिवेतु प्रक्षिप्तम् । यद्वा इवशब्दोऽपूर्णनाथ ।
मय प्रतीयते स्म, परं तु त्वद नाम् । तस्मान्न वास्तव भवमिति ।

८

स्वाध्वमे समागतमिन्द्र दृष्ट्वा तद्विषयेऽर्जुनस्य मनसि महान् स्नेहोदयो जात ।
यत इन्द्रस्तस्य जनक आसीत् । यद्यपीन्द्रस्य कृप्यमुनिनयाजुनेन न ज्ञात यदेव
मम जनक इति, तथापि प्रकृतिारय यद्वा वाञ्छवे अज्ञातेऽपि तत्तत्तन्मात्रेण चेत
स्वयमेव प्रदीदति । परितस्तरे इति पूर्णनया संशये लाञ्छनिकम् । ग्राह्यतरे तु
अतप्रेष्या अर्जुनस्तस्मा आसनादक ददाविति भाव ।

९

अर्जुनेनातिथ्य कृतम् । इन्द्रेण तद् एतान् । यद्यपि अस्तुनस्तस्य न कापि
आतिरासीत् । तथापि उद्यम्यनया तेन अन्तेरपनयो नादित । ततश्च
वृद्धमारेभे ।

१०

इन्द्र इत्यापरिचितता दर्शयन् अर्जुनं मुमुक्षु मत्वा वक्ति-स्वया युवास्याया
मेव तव प्रारम्भ साधु कृतम्, यत् तव एव वैराग्यपुरादयति, विषयवैराग्यमेव
च जन्मन साधनम् । लोक बहुल हव्यते म इत्या सजातवलीपलित्वा शिथिले
द्रिया अतिवृद्धा अपि विषयैराकृष्यन्ते, यूनां तु का ज्ञया । अतस्त्रादृश साधु
कारी प्रद्यस्य एव ।

११

मद्र । त्व न केन्यमाकृत्या मनोहर, अपि तु स्वरूपानुष्णा गुणा अपि स्वया
लब्धा, यतस्त भयस्करे तपसि प्रवृत्त, एवमूतस्त्वमेव इगध्योऽसि । लोके रम
णीयरुणा बहवो मवतु, गुणाजैनपरा पर कचिदेव, तस्यि ह्म रम्यता गुणाजैन
चेत्युभयमप्यस्तीति मुञ्जशीरमयोयोग ।

अमितस्त पृथगुक्तु स्नेहेन परितस्तरे ।

अविज्ञातेऽपि बन्धो हि बलात्प्रहादते मन ॥ ८ ॥

आनिषेयीमयासाद्य मुगाइपचिति हरि ।

विश्रम्य विष्टरे नाम व्याजहारति मास्तीम् ॥ ९ ॥

स्वया साधु सम रमि नन वयसि यत्तप ।

द्वियते त्रियै प्रायो वर्षोरानरि मादृश ॥ १० ॥

भयशी तव सप्राप्ता गुणव्यदमाकृति ।

मुलमा रम्यता लोक दुर्लभ दि गुणाजैनम् ॥ ११ ॥

१२.

यथा शरत्कालिकमेधाना छाया अस्थिरा भवति, तूर्णमेव नश्यति, तथैव यौवनशोभाशोभमस्थिरा, न हि यौवन कस्यापि स्थिर भवति, येनोन्मायन्ति लोका । श्रीरम्पस्थिर इति व्याख्यान्तरे । तथा शब्दादयो विषया इमे उपभोगकाल एव रमणीया प्रतीयन्ते, परिणामे तु शरारेन्द्रियादिशैथिल्यहेतुतया दुःखदायिनो भवन्ति, अतो विषयान् विहाय तपसि मनो ददता स्वता साधु कृतम् ।

१३

किञ्च तपस्विन् ! सर्वथा जगदिदं स्थाप्यमेव, दुःखं कान्तस्वत् । भावो हि अन्तिमो गर्भवासादिषु समेव महत्, (इदं अन्तिमपदेन अनितम्) ततो जातस्य यौवनमप्यनेकसकटाकोणम् । यदि सुखमपि क्वचित् कदाचिद्भवेत् तर्हि दुःखाकान्तमेव तत् । (इदं सततापद इति विरोधेन व्यञ्जितम्) तदपि च कालाधीनम्, न जाने कदाप्तिमेत । तस्मात् पण्डितजन सधारमिमं त्यक्त्वा मुक्तिप्रमायैव यतते ।

१४.

श्रेयसकरो तपश्चाख्ये तव मतिं विलोक्य निश्चायते यत् तव चित्तं दिवेकशीलं भवति प्रवृत्तम् । केवलं तपस्विविपरीतं तव वैषम्यं हृष्टा मे मनसि सदेहो जायते, यद् भवान् मुमुक्षुरस्ति न वा ।

१५.

यथा कश्चन युद्धार्थो कञ्च धारयति, तथा श्वयापि धृतमस्ति, तत् कस्य हेतोः । किं युयुत्सुरसि ? तपस्विनस्तु केवलं मृगवर्मं वृक्षञ्च च धारयन्ति । न तु दक्षाग्निः, कवचस्य तु का कथा ! अतस्तपस्विनस्ते कञ्चधारणं सर्वथा विररीतम् ।

शरदम्बुधरञ्छायागम्यो यौवनभिय ।
 आपातरम्या विषया पर्यन्तपरितापिन ॥ १२ ॥
 अन्नं पर्य-स्थाता अन्निन सततापद ।
 इति स्थाप्ये मये मय्यो मुक्तावुत्तष्ठने सा ॥ १३ ॥
 वित्तदानसि दह्याणी य- मतिद्वयस्थिता ।
 विरुद्धं केवलं देव सुदेहयति मे मन ॥ १४ ॥
 युयुत्सुनेव कवचं किमायुक्तमिदं स्वया ।
 तपस्विनो हि वसते केवलाजिनवल्कल ॥ १५ ॥

१६.

१-या भयङ्कर घनु, महान्तो तूणीरो च घृतानि सन्ति, तद्वारण च शरीररक्षार्थं मृगयार्थं बोधयुज्यते, न हि शरीरे तेऽनुराग, शरीरनिरपेक्षनयैव तपसि प्रवृत्तत्वात् । न वा तं प्राणिहिंसकं, मृदुत्वात्, अत एतद् घट्टरादिधारण किमर्थमिति न प्रतीयते ।

१७.

तप स्थितेनापि स्वयाधृता प्राणिमयङ्करीयमसिलता मृत्यो (प्रसिद्धमुजाति रिक्त) भुञ्ज इव दृश्यते । अत्रापि शयते तव चेतसि शमो नास्तीति । शान्तिमेतः शस्त्रानुपयोगात् ।

१८.

शत्रुविविगीपयैव स्व तपधरतीति तर्कयामि, यदि त्वं मुक्तये तपोऽतस्य, तर्हि शस्त्र नाधारयिष्य । इमानि शस्त्राणि तव चेतसि क्रोधमनुमापयन्ति, मुमुक्षवस्तु शान्तिप्रधाना भवन्ति, यथा नैकत्र शान्तिक्रोधयो सम्भव, विरोधादेवेति । तस्माद् व्याघ्रघृणारिणस्ते तप इदं गौणमेव ।

तपोधना — इत्युक्त्या तप एव तेषां धनम्, न हि प्रयोजनान्तरसिद्धये तपस्तेषाम्, तव तु प्रयोजनान्तरार्थं तप इति न त्वं तपोधन इति द्योतितम् ।

१९.

ननु जयार्थमेव तपश्चेत् को दोष इत्येव शङ्कायामुच्यते यथा विनासानिबृत्ति हेतूनां महाशक्त्यानां १७-आनामया कर्मकरणे विनियोगो विद्वद्भिर्गृह्यते, तथा मोक्षरूपमहाफलसाधनीभूतस्य तपस परहितारूपे दृष्टे पले विनियोगोऽपि गृह्य एव, तस्मात् परहितमात्रार्थं निर्जने तव तपस्युद्योगं कुतरामविवेकपूर्ण एवेति ।

प्रतिशब्धो किं च ते मुक्तिं निष्पृश्य क्लेश्वरे ।

महेषुधो घनुर्भूम भूतानामभिमृदुः ॥ १६ ॥

भयङ्कर प्राणभृतां मृत्योर्भुज इवापर ।

अविस्त्वं तपस्यस्य न समर्थयते शमम् ॥ १७ ॥

जयमत्रमवान्नमरातिष्वभिलाषुक ।

क्रोचलक्ष्म क्षमावन्त कायुध क तपोधना ॥ १८ ॥

यं करोति बधोदर्कं निश्चेयसकरी क्रिया ।

ग्नानिदोषनिष्ठद स्वच्छा स मूढ पण्डित्यप ॥ १९ ॥

२०.

यद्यप्यर्थकामा अपि पुरुषार्थमध्ये गणितास्तिदुर्वीते तत्र सम्भवेनाम, तथापि
अर्थकामयोरप्यन्तमासक्तिर्निषिद्धैव । यतः, अर्थकामौ खलु हिंस्रवृत्ततयादीनां
प्रवृत्तानां दोषाणां मूलकारण एव, तदुक्तमप्युक्ते — 'स्त्रीकामा घनकामाश्च किं न
कुर्वन्ति पातकम्' इति । किं च, तौ मोक्षसाधनस्य तत्त्वज्ञानध्यानतरायभूतौ, न
ह्यर्थकामसक्तयोस्तत्त्वज्ञिषासाध्युदेति । एतन्निश्चयार्थकामयोरसक्तिसमाप्येवति ।

२१.

अर्थकामयोर्ह्येतदुक्तम् । तत्रार्थस्य निरेषेण दोषा उद्घाट्यन्ते — न हि
अन्येषां प्राणिनां विद्रोहेण विना सपत्न्यवते — इति प्रसिद्धमेतत् । यैश्च सपदजने
विरोध इति, ते प्राप्तेऽवसरे एव दोग्धारमपि पातयिष्यन्तेति सुलभा
भीरस्यापद । यथा समुद्रे निरवच्छिन्नप्रवाहा नद्य एतत् तथैव तस्मिन् पुरुषे
निरन्तर विपद आपतति य एष्वर्थानये प्राणिर्हिंसा विषयः । मृतानामिति भिय
इति च बहुवचनोपन्यासेन लोमाकान्तेन बहुविधसपदजने बहुभिर्भूतेरनेन विद्रोह
इति, ते सर्वेऽपि क्रमेण निर्यातनं कुर्युरिति भाषदा सातत्यं व्यञ्जितम्, तदेव
सोदन्वन्नस्यमया दृढीकृतम् । न च सपद गत्यर्थः — गमनशीला नैकत्र तिष्ठन्ति,
ता विनश्यन्ति, आपदभागमिष्यन्तीत्यनर्थोदकंता दृढीकृता ।

२२

विचारे त्रियमाणे प्रतीयते — यत्सपदो विपदश्च तुलया एव । तथा हि यथा
विपद प्रवृत्तान् सहायान् विना सर्वथा भगव्या (अनिस्तोयां) तथैव सपदो-
ऽपि तान् विना भगव्या (अप्राप्या) सति । सहायान्वेषणे च क्लेशो जायत
एव, न हि सहाया सर्वदा सुलभा भवति, तदानुगत्यै च स्वातन्त्र्यानिमित्तपर
वन्धः । किं च यथा विपदो सतीषु खेदो जायते, तथा सपदोऽपि रक्षणादिक्लेशो
तुर्निवारः, यथा च विपद स्वप्नतो भवेत्, तथैव सपदोऽपि चोरादिमय
मित्यमेवावदिति । अतो विपदो यथा लोके दुःखदा इति हेयतया प्रसिद्धा, तथैव
सपदोऽपि मतव्या ।

मूल दोषस्य हिंसादेरर्थकामौ एव मा पुनः ।

तौ हि तत्त्वावबोधस्य दुर्बुद्धिदातृपञ्चकौ ॥ २० ॥

अविद्रोहेण मृतानामर्थयन् गत्वरी भिय ।

उदन्वानिव सिन्धूनामापदामेति पात्रताम् ॥ २१ ॥

या गम्या सत्सहायानां यामु खेदो मय यतः ।

तासौ किं यन्न दुःखाय विपदामिव सपदाम् ॥ २२ ॥

२३

पूर्वं तु धनं दुर्लभमेव, देवाद् बहून् कनेद्यान् सोद्वा लब्धमपीदं विश्वास-
धैर्ययोर्नाशकं भवति, यत्स्पर्द्धायां चेतश्चञ्चल भवति, अत्र वा रक्ष्यं तत्र वेति
निरन्तरं सङ्कल्पयति, न कापि स्थितिं लभने, धनिकस्य सर्वत्राविश्वासात् । अत्रि-
ष्टस्य च शान्तिमुखं दूर एव । तथा च यथा सर्पस्य पणायाम् स्वयं स्थितेन पुरुषेण
मरणं प्राप्यत एव, तथा घनाञ्जनपरेणाप्यापत्प्राप्यत एव, स्वरूपेणैव घनप्रापद्रूप-
मेवेति । दुरासदादिशिरोषण सर्पपक्षेऽपि योज्यम्, सर्पपणायाम् दुरासदा (दुर्मंडा)
भवति, एहीतापि च दृष्टानमिव स्वान्तमघोरं विधत्ते, न जाने कदावसर एहीता
दशोदित्यविश्वासश्च तत्र ।

२४.

इतोऽपि हेतोः सम्पदो हेयाः—तथा हि इमा विवेकशून्या योऽप्ययोऽप्यनिर्दोषं
न परिचिन्वन्ति, योऽर्थं विहाया योऽप्यभयणत्, अयोऽप्यवत् योऽप्यस्यापि त्यागद्
वा । नापि इमाः कुत्रचिदेकस्मिन् बद्धानुरागा मवन्ति, य-पुरुषोऽद्य भीमिः
सोऽप्यते, ■ एव परेद्युस्तामिरेव तु गन्ताज त्यजते, तथा च पायपुरग्रीष्मिवाप्तु
भीयु मूढा एव पुरुषा आसज्जित, न बुद्धिमान् । य आसक्ताः, तेषां विपरीत-
स्वभावजन्यो दोषः ।

२५.

अनु दुष्टेभ्य एव पुरुषेभ्य भियोऽप्यवाप्ति, न तु शिष्टेभ्य इति चेद्, मैवं
बोचः । तथा सति भियो चाञ्जल्यापवादो द्योक्ते न स्यात् । दुर्दृष्टं पुरुषं त्यक्त्यः
भियः केन वा न प्रशस्यन्ते, अपात्रत्यागस्य सर्वैरपि प्रशंसनात् । किन्तु लुब्धा
विवेकशून्या इमा भिय दुर्दृष्टमिव सद्दृष्टमपि दूरतत्पन्नन्ति, अत एव इमाः
निन्द्यन्ते, तस्मात्याग आस स्वभावसिद्ध एवेति हेया एवेमाः । अनेन संदर्भेण
अर्थः न पुरुषार्थ इति इदीकृतम् ।

२६.

यदि कथयति-वैरनिर्घातनार्थं तपस्तपस्यति इति तदपि नोचितम्, अप्रिय-

दुरासदानरीनुग्रान् धृतेर्विश्वासजन्यमनः ।

भोगान्भोगानिवाहेयान्धास्यापन्न दुलभा ॥ २३ ॥

नान्तरज्ञाः भियो जातु प्रियैरासां न भूयते ।

आसक्तास्तास्वमी मूढा वामशाला हि जन्तवः ॥ २४ ॥

कोऽप्यवादः स्तुतिपदे यदशीलेषु चञ्चलः ।

साधुवृत्तानपि लुब्धा निजिभ्यस्तैः संपदः ॥ २५ ॥

कृतवानन्यदेहेषु कर्ता च शिबुरं मनः ।

अप्रियैरित संयोगो विप्रयोगः प्रियैः सह ॥ २६ ॥

करणेन घट्टणा पीडोत्पादनं विना वैयर्थिनानाविद्धे, अप्रियं संपाद्य कश्चित् पीडोत्पादनं च सर्वथा स्थाव्यम्, यन् तत्र मनोऽपि अप्रियसयोगप्रिययोगाभ्यां पीडितमभूत्, भविष्यति, वर्तमाने भवति च, तथा च 'अतो यदात्मनेऽप्यर्थं परेषां न तदाचरेत्, इत्यभिमुक्तोक्त्या आत्मवृद्धान्तेन स्या पराप्रियकरणाद् विरमणीयमेव । यदा अर्थनिन्दा प्रपञ्चिता, कामनिन्दा प्रारम्भते । कामे जीवाद्भुः प्रियसंयोगः, स एव निन्द्यते—विरहदुःखमीते* सद्भावात् प्रियसंयोग एव नाभिरूपणीय इति ।

२७.

प्रियसमागमस्य सुखैकहेतुता लोकेर्मता—इति प्रपञ्च्यते—प्रियसमागम एव लोकैः सर्वैश्च मन्यते, प्रियेण सह स्थितौ स्यात् शून्यमपि स्थानं समृद्धं प्रतीयते, दुःखमपि प्रियेण सह भुज्यमानमुक्तञ्च हव मन्यते, प्रियो यदि रज्ज्वनामपि दुर्यात्, तदापि लाभ एव मन्यते लोकैः ।

२८.

यथा प्रिययोगः सुखैकनिदानम्, तथा प्रियविरहो दुःखैकनिदानं लोकानां मत इत्याह, स्वप्नो भावार्थः ।

२९.

प्रियसयोगविप्रयोगयोः सुखदुःखैकहेतुता लोकदृष्ट्या स्वाख्याय तत्त्वज्ञाया हेयतामाह—यदि जनः प्रियेण समुक्तो भवेत्, तदाकामवशतो हिताचरणे न प्रवर्तते—इत्यनर्थः, यदि तु विमुक्तो भवेत्, तदा विप्रयोगदुःखेनाकर्मण्यतां याति । ततश्चोभयथाभ्यनर्थसद्भावादयमेव दुःखविघातक उपायो यश्चैनचिरकञ्च एव न कर्तव्यः । तेन न हितप्रमादो न विप्रयोगदुःखं च स्यात् ।

३०.

यथा लक्ष्मीरक्षिरा, तथैव जीवनमप्यक्षिरमिति त्वं सम्यग वेत्सि, अतोऽर्थि-
रयत्तुते त्वया परपीडनेन न्यायमार्गे न त्यक्त-य । साधवः खलु न्यायमेव कर्म
विदधते, भान्याश्चम्, यदि त्वं परान् पीडयसि, तर्हि लोकैरसाधुरिति व्यपदेश्यते ।

शून्यमाकीर्णतामेति दुर्लभं ॥ ११॥ सनमुत्तवैः ।

विप्रन्मोऽपि लामाय सति प्रियसमागमे ॥ २७ ॥

तदा रम्याभ्यरम्याणि प्रियां शल्य तदासव ।

तदैकाकी सवन्धुः सर्वज्ञेन रहितो यदा ॥ २८ ॥

मुक्तः प्रमाथसि हितादपतः पतितव्यसे ।

यदि नेष्टात्मनः पीडा मा सर्वं भवता जने ॥ २९ ॥

अन्मनोऽस्य स्थितिं विद्वद्भूमिमिव चलाचलाम् ।

मवान्मा स्म वधीन्याय न्यायाघारा हि साधवः ॥ ३० ॥

३१

अतो हे तपस्विन् । त्वं रणोत्साहं त्यज, मोक्षसाधकस्य तपसो वैरनिर्यातन
रूपायास्त्रयस्य द्रुपदयोग मा कार्षी । मोक्षप्राप्तये शान्तिं घत्स्व । तत एव ते
तपोधनस्य सम्यक् समर्पितं स्यात् ।

३२.

यदि सर्वथा शत्रुविभिगीषा त्यक्तुमसमर्थाऽसि, तर्हि देहे वर्तमानान् इमाश्च
क्षुरादीन् शत्रून् विजयस्व, इमं खड्गं देहधारिशत्रूणामपेक्षया दुर्जयां सन्ति । देहे
इति पदेन देहा नित्यसामिप्यमुक्तम्, सदा सन्निहितेभ्य एभ्यो यथा भयं तथेतराद्य
शुभ्यो नास्ति । १ या एषा स्वायत्तीकरणेन सर्वोऽपि लोकं स्वायत्तीकृतं स्यात्
जितेन्द्रियस्वार्थानि ह्युत्स्य वैरानुदयात् सर्वं एव मित्राणि उदासीना वा भवन्ती
स्येनावता तस्य सर्वविजयश्चपदेशः ।

३३

यः पुण्यं इन्द्रियाणि विजित्य स्वयं न करोति, स्वयमिन्द्रियवशो भवति, स
इन्द्रियवराधीनः पुण्यो यदा स्वामिल्पितं स्वयं न प्राप्नुयान्नोति तदा परमुख
निरीक्षते, तत् प्राप्तये स कर्पणवद्भनादि नीचान्नीचमपि कर्म कर्तुं ह्यनर्हो भवति,
तथा कुर्वतस्तस्य लज्जाऽपि न जायते । केवलं स्वद्रियतुल्ये स बलीवर्द इवान्येषां
दासभावः प्राप्नोति ।

३४.

किं च हे तपस्विन् ! योऽयं शिवयानन्दोऽद्यानुभूयते, परेऽहनि च न तिष्ठति,
तस्य स्मरणमात्रं जायते, न रश्मिः, तस्य ह गिरात्, ईदृशेषु का प्रीतिः । तथा
चेन्द्रयावपरात् स्मरणवत् क्षणिकमुत्थानं न वा तस्या तत्रासाक्तं कर्तव्यं, न हि
स्मरणे कश्चिद् बुद्धिमान् भक्तो भवेति ।

त्रिहृद्गोहं रणोत्साहं मा तपः साधु नीनश ।

उत्पठद जामन चतुर्मेधिं द्या तस्तपोधन ॥ ३१ ॥

जीयन्तां दुर्जया देहं मपवश्चक्षुरादयः ।

मित्रेषु ननु त्वेकोऽयं तेषु कृत्स्नस्त्वया जित ॥ ३२ ॥

परवानर्थमिदं नी-वृत्तिरपश्य ।

अविषेये द्रव्यं पुणं गौरिवैति विषेयताम् ॥ ३३ ॥

श्रुत्वा मुत्सविति स्मरणीयाऽपुनातनी ।

इति स्वप्नोपमान् मत्वा कामान् मा गातवद्भताम् ॥ ३४ ॥

३५.

अपि न हे तपस्विन् ! इमे प्रिया अतिकष्टदा कुसिता शत्रव सन्ति, तथा हि सुखदतया लोकेषु विश्वाः क्रियते, परमिमे लोकान् वक्ष्यन्ति, सर्वदानुपलभ्य एव तेषां वञ्चनम्, विष स्तानां वञ्चनमतीव कष्टप्रदम् । लोकस्तेषु प्रेम विदधे, पर ते सन्त्यमाना अनेकरोगशोकप्रदानेन विप्रियमाचरति, वृद्धावस्थायां च राजीर्णतया स्वसेविर्न स्वम् परिण्यन्तोऽपि त वैदुस्यजा भवन्ति, चेतसस्तथाऽऽकेशात् । अत इमे परिहरणीया एव । प्रसिद्धा शत्रवस्तु भक्ष्या प्रिया, दुस्यजा वा न भवन्तीति तदपेक्षया वैलक्षण्यमेषाम् ।

३६

देशकालसम्पत्कामसिद्धौ मुख्य कारण भवति । तत्र क्षीमव्यादेशसम्पत्प्रयाति-भेदा प्राप्ता । एकान्ते सुखसिद्धारिसेकादतिपवित्रितेऽस्मिन् परंते शान्तौ मूखा तप कुर्वन्, तथा सति मुक्तिस्तथासिद्धिर्मा शक्यत्यज । 'मुक्ति' इत्यत्र प्राप्नोतीति कर्तृप्रथमया पुरेतिनिपातप्रयोगेण च मुक्तिरतिक्षीम्य द्योतितम् ।

३७

इन्द्रोपदेश आशर्जुनो विनयनिजुलित गमीरार्थं प्रत्युत्तर दातुमारभत ।

३८.

पूर्वमर्जुनस्य द्वावप्य शालीनतया प्रद्यसति—हे मुने । भवद्वाक्यं श्रुत्वाऽर्थप्रतिपादकतया प्रवादगुणयुक्तम्, अत एव भोतुर्हृदयावबोधम्, यद्यपि पदार्थविशदीकरणे पुनरुक्तिर्भवति, अर्थगौरव च नश्यति, परं भवता साभिप्रायपदप्रयोगेण पुनरुक्तिरपि न कृता, अर्थगौरव च रक्षितम्, भोतुर्भवेगदर शब्दविस्तारोऽपि परिहृतः । असम्बद्धं किमपि नाभिहितम्, आश्रयकसंबन्धप्रयोगाद् भव्यादारोऽपि परिवर्जितः, उपदेशस्य मितान्वयत्वेऽपि वक्तव्याशो न त्यक्तः, अनेकार्थकशब्दाप्रयोगादर्थसंदेहोऽपि निरस्त इत्यहो अभिनन्दनीया वचनचातुरी भवत ।

भक्ष्या विप्रलम्भा प्रिया विप्रियकारिण ।

मुदुस्यजास्त्यन्तोऽपि कामा कक्षा हि शत्रव ॥ ५ ॥

विकिंसेऽस्मिन्नगे भूय प्लाविते चूडन्यया ।

प्रत्यासीदति मुक्तस्तथा पुरा मा मूढदायुध ॥ ३६ ॥

व्याहृत्य मरुतां पत्यागिति वाचमवस्थिते ।

वच प्रथयन्भीरमयोश्च कपिस्त्व ॥ ३७ ॥

प्रसादरम्यमोक्षति गरीयो लाघवाग्निम् ।

साकाङ्क्षमनुपस्कार विवर्गति निराकुलम् ॥ ३८ ॥

३९

हे मुने ! भवद्वचोवदवाक्यनुसृत्यम्, तथा । इ यथा वदवाक्य मोमाशाशस्त्रेण निर्धारिते स्वार्थे स्मृत्यादिप्रमाणान्तर नापेक्षते, स्वन प्रमाणत्वात्, तथैव भवद्वचोऽपि युक्तिभि साधिते स्वार्थे उपोद्बलक शास्त्रान्तर नापश्यते, युक्तानामतिदाढ्यात् । किं च यथा वेदार्थं प्रत्यक्षादिभिर्न वाच्यते, तथैव भस्त्रप्रतिपादितोऽर्थोऽपि प्रति वादिभिर्विद्वद्युक्त्युपन्यासेन लण्डयितु न शक्यते । इवशब्देन सम्भा नायाम्, युक्तिदाढ्यादागमनिरपेक्ष समाच्यते इति । वस्तुतस्तु आगमसिद्धार्थकथनमेवेदम् इति तेन द्योत्यते ।

४०.

यथा समुत्पन्नोत्तालनरङ्गशरिधिरुज्ज्वितो मयनि, न केन प्लुल्लङ्घितु शक्यते, तथैव भवद्वचोऽपि ऊज्जितप्रनुल्लङ्घनीय चास्ति, एव यथा रथागशीलनभेमादि सिद्धिसम्पन्नं च श्रुपेक्षितं शान्तं भवति, तथैवोक्तिवैचित्र्ययुक्तं सवर्थप्रतिपादकं (प्रयोजनवद् वा) च भवद्वचोऽपि शान्तमालक्ष्यते ।

४१

साम्प्रतमिन्द्रवाक्यप्रशसानुपसहरति, एतादृश प्रसादादिगुणयुक्तं कालोनिन साधनबोधकं युक्तमुपेतं वा वाक्यं भव त निहायान्य को वक्तुमर्हति । यद्यपि लोक वक्त्रो न दुर्लभा, तथापि भस्त्रसदृशो गभीराशयो न सुलभ इति ।

४२.

परन्तु हे माननीय मुने ! ग्रह्य मोक्षप्राप्तिहेतु मुनिधर्ममुपदिशना भवना 'केन प्रेरितं किमुदिश्य वाह तप करोमि' इति न विदितम्, यदि तद् भवान् अवस्थत् एहि नैषमनधिकारिण मा मोक्षधर्ममुपादेशयत् ।

न्यायनिर्णतसाररत्नान्निरपेक्षमिवागमे ।
 अप्रक प्यतयाऽपेक्षामान्नायवचनोपमम् ॥ ३९ ॥
 अलङ्घ्यत्वाच्चनेरन्यैः क्षुभितोद-वृजितम् ।
 औदार्यादर्थसपत्ते शान्तं चित्तमप्येव ॥ ४० ॥
 इदमीदृगुणोपेतं लब्धावसरसाधनम् ।
 व्याकुर्वाकं प्रिय वाक्यं यो वक्ता नृदगाशय ॥ ४१ ॥
 न शतं तात यत्नस्य पौर्ण्यममुष्य ते ।
 शास्त्रितु येन मा धर्मं मुनिमिच्छस्यमिच्छति ॥ ४२ ॥

४३

प्राञ्जिक एव उपदेश सर्वैराद्रियते, वाचस्पतिरपि यदि प्रसङ्गनविशयिणे दिशेन् तर्हि तस्य स प्रयातो जनेप्रहिनं स्यात् । यथा नीतिरुद्धकारिणामुद्योगे व्यर्थ एव भवति, तथा । तथा च महाविदुषोऽपि तत्र वाक्यमनासङ्गिज्ञानेन सफलं भविष्यतीति ।

४४.

यद्यपि मोक्षधर्मप्रतिपादकत्वाद् भवद्वयं प्रशस्ततरम्, तथापि मोक्षेच्छा नावासाह तस्यावधारणी । अहं वैनिर्वातनाथो, कुतो मे मोक्षाधिकारः । यथा तारकित नमस्त्रिंशो भित्ति, परं दिवसस्तस्याधिकारी न भवति, तथेति । दितस्य स्वोपमानताकथनात्तस्य तद्वत्प्रदीपता योजिता ।

४५.

हाप्रत केन प्रेरितं किमुद्दिश्य वा तत्र करोमिति स्वोपदेशदर्शनानुसृत्य मनुजं कथयति—हे मुने ! क्षत्रियकुले मम जन्म जातम्, (तिनामर्गयोग्यता सूचिता) तत्रापि न सञ्चारणे, पाण्डोरहं पुत्रः, अत एव महाकुलप्रसूनोऽस्मि, (तेन वा हृदीकृता, पाण्डुपुत्रेभ्यश्च पार्यं—पृथापुत्रोऽस्मि, न तु माद्रीपुत्रः (तेन वा हृदना नीता) पृथापुत्रेभ्यश्च महावीरोऽङ्गुनोऽस्मि य उत्तरकुलं विविश घना हराद् घनञ्जय इति लोके प्रसिद्धः । (एतेन मर्त्ययोग्यतावि भूमि नीता) दाया दैतुर्दोषनादिभ्यो राक्षसोनाद् मम चैठकाता मुषिष्ठिरो राक्षसिस्त, अपमान प्रतीकारार्थिनस्तस्यावनाह तपस्या करोमि, न तु मोक्षेच्छया, तदाशाननुसरणे मानहानि, धौमन्त्रमङ्गं पूज्यपूजा—इति किमर्थं भवति, तथाचेतनमर्त्यपूज्यस्य वैर निर्वोदनार्थिने—राक्षसेकधापितचेतसो मम न सर्वथा मोक्षेऽधिकारः । अत्र घनञ्जय हरुके शरीरस्यो बाधु सर्वविशेषो वा स्यत्तदपतिरकार्यं पार्यं इति, तन्मार्गोऽपि क्षत्रियपृथापुत्रोऽस्मि, तदर्थं पाण्डोस्तनय इति, नैतिपारग्ये पाण्डुर्विप्रः तत्पत्नी पृथा नाम काञ्चिद् ब्रह्म । तत्पुत्रोऽपि सभाव्यते, तदर्थं क्षत्रिय इति विरुद्धगतिनि मलिन्याय । एषा व्यङ्ग्यार्थस्तु दर्शित एव ।

८. विज्ञातप्रपञ्चस्य वचो वाचस्पतेरपि ।

प्रशस्तपट्टमेव नानुद्वह इति तन् ॥ ४३ ॥

भेषसोऽप्यस्य ते तान् वन्धो नास्मि माञ्जन्म् ।

नन्त एतन्नास्य रात्रेरेव विर्यं ॥ ४४ ॥

क्षत्रियस्तनय पाण्डोरहं पार्थो घनञ्जय ।

स्थितं प्राप्तस्य दयादैर्भद्रान्तेऽस्य शास्त्रे ॥ ४५ ॥

४६.

यच्चोक्तं 'विरुद्धः केवल देयः' इत्यादि, तदुत्तरयति—'समाचारमुपात्तशक्नू.'
इत्यादि भगवतो ध्यासस्योपदेशेन विरुद्धवेषधारणादितपोनियमो मया पाल्यते,
न तु स्वेच्छया, विज्ञानेन तपसाहमिन्द्रमाराधयामि, क्षत्रियदैवतत्वेन तस्यैव
सुखाराध्यत्वाद्, अथवा वैरशोधनार्थिना मया तपस्तप्यते इति पूर्वमुक्तम्,
वैरशोधनं च बलवतैव कर्तुं शक्यते, बलप्राप्तिश्च देवताप्रसादाद् भवति, बलाधि-
ष्ठातृदेवता चेन्द्रः तदुक्तं निरुक्ते 'या च का च बलवृत्तिरिन्द्रकर्मैव तत्' इति ।
तथा च बलार्जनकामस्य ममेन्द्र एव सुष्ठुत्पाराधयः ।

४७.

भवाद्दशो वीरभ्रातरि युधिष्ठिरस्य कथमेवं विनिपात इत्यत आह—यत्
कुर्वता राजा युधिष्ठिरेण राक्ष्यादि सर्वमपि पणीकृत्य हारितम्, नात्र राज्ञः कश्चिद्
दोषः भवतिष्यतैवेदमपासीत् ।

४८.

युधिष्ठिरादिषु यथा तवानुरागस्तथा तेषां स्वयि नास्तीत्यपि न शङ्कनीयम्,
युधिष्ठिरादयश्चत्वारो भ्रातरः, द्रौपदी च मद्वियोगेऽतितरा खिद्यन्ते, यद्विरहातर्तना
तेषां कृते राजयोऽप्यतिदीर्घां दुर्धाराणीयाश्च भवन्ति । वैरनिर्घातनस्यावश्यभाव-
द्योतनाय चतुर्मिररनिकारं दर्शयति ।

४९.

राजसो मध्येसमं बलाद् द्रौपद्या उत्तरीयं हृत्वास्मान् हेपितदस्त', किं च
तत्रैवाहन्नुदेः ऋक्षसदृशैर्वाक्यैस्मान् हृदयं व्यययामासुः ।

५०.

राज्ञा हृदये भीष्मादिगुरुजनसन्निधौ साध्वी द्रौपदीमानेनं योयमभिलाषः

कृष्णद्वैपायनादेशाद्विभर्मि मत्तमीदृशम् ।
भृशमाराधने यत्तं स्वाराध्यस्य महावतः ॥ ४६ ॥
दुरक्षान्दीभ्यता राजा रक्ष्यमायमा बर्यं वधूः ।
नीतानि पानां नूनमीदृशी भक्तिव्यता ॥ ४७ ॥
तेहानुज्जहायेन द्रौपद्या च मया विना ।
भृशमायामिवामासु यामिनीष्वपितप्यते ॥ ४८ ॥
हृतोत्तरीयां प्रसमं समायामागतह्रियः ।
मर्मच्छिदा नो वक्षसा निरतघ्नन्तरातयः ॥ ४९ ॥
उपाधत्त सरत्नेषु कृष्णायां गुरुसन्निधौ ।
भावमानयने सत्याः सत्यङ्गारमिवान्तकः ॥ ५० ॥

समुत्तर, न पापामिलाय एव तान् प्रति मृत्योस्तत्राया सत्यङ्क रसदृश आसीत् ।
अयमभिषिद्धि चिकीर्षितस्य कार्यस्यायस्य क्रियास्वाप्त्यर्थं परदृष्टे यदीयते स
सत्यङ्कार उच्यते, मृत्युना सचिकीर्षितस्य भातेराष्टनाशस्या-न्यक्तव्यतावृत्त्यर्थं
तेषां द्वये समास्ये द्रौपद्यानयनाभिलाष उपादित, तद्विनाशाय तेषां विरतीनां
दुःखमुत्प दितव न इति तत्त्वम् ।

५१.

तु शासनो द्रौपदीं मध्येसममानेन वस्त्रे वृद्धीत्या आकृष्यति स्म, आरूपगकाले
अपेक्षे दुःशासन, पश्चाच्च पराङ्मुखीभूय स्थिता द्रौपद्यासीत् तदानीमप्रत
स्थितन तु शासनेनाङ्गव्यमाणा द्रौपदी तथा प्रतीयते स्म यथा सार्थकाजिकर्तृणांभि
रुत्त स्थितस्य कश्यचिन् महाकृत्स्य धृष्टर्त्तिनी छाया प्रतीयते, सूर्याभिमुख
स्थितस्य कृत्वाया धृष्टर्त्तिनी भवतीति निरुक्तं । आङ्गव्यमणाया द्रौपद्या आकृष्टार
प्रति पराङ्मुखत्वाद् आकृष्ट-उद्योपस्थम्, तथापि ता न मुञ्चतीति दुःशासनस्य
तदसाध्यम्, न तु विरम् पापदर्शनस्य क्षुण्णितयात् । नापि दुःशासनमना
जाराद् निरतयितुं क्षिप्रवदन्, किं तु मायस्थमङ्गभिषां सूर्य-त् साद्विरूपेण
स्थिता इतिप्रलिङ्गनाथ । सूर्यस्य सायमिनिविशेषण यथास्तमुपगच्छन् सूर्यो
इतप्रमो भवति तथा स्ममुत्पले पत्त्रिनापमान पश्यन्त सभ्या अरि इतप्रमा
अभवन्ति चोतनाथ ।

५२.

हाय दृष्टतीना पश्यता परे परिभूयमाना द्रौपदी स्वामशरणा विभाव्य करोद,
कदायास्तस्या तत्रे अभूमिरावृते अभवताम्, तत्र करिरभ्भिर्नेत्राशरणे हेतुमुत्प्रे
क्षते, स्वपत्नी पराशरमवाकान्तां विलोकयारि पाणिपादमस्तद्विषया सहमानानां
पत्नीरक्षणरूप पतिधर्ममय स्वयतामेषामुपरि हृदिपातेन किं कल्मः ? कातरया दृष्टया
निरीक्षिता अपोमे क्लीबकल्म अग्रतीकारास्तद्वेषु, अतो निरर्थकमेषां दर्शनमिति
निवार्य वाधवारिभिर्नेत्रावरण कृतम् इति ।

५३.

ननु भवद्भि किमर्थमेतत् सोढमितीन्द्राद्यङ्क यामपुनः समापत्ते—वस्तुत एमा

तामैशन्त दृष्ट सभ्या दुःशासनपुर सराम् ।

अभिसायावमावृत्ता छायामिव महातरो ॥ ५१ ॥

अप्यर्थमिवारम्भे पतिभि किं तयदितै ।

अप्येतामितीवासया नयने वाप्यवारिणा ॥ ५२ ॥

सोढवान्नो दशामस्यां ज्यायानेव गुह्यिय ।

मुलमो हि द्विषा भद्रो दुर्लभा सत्यवाच्यता ॥ ५३ ॥

नो निवृत्ता दगां ज्येष्ठभ्राता युधिष्ठिर एव सहते स्म, न तु दयम्, अस्माभिस्तु
तदाज्ञाप्रसिद्धैः प्रतीकार कर्मपरिष्कृत सोढमिव, ॥ एव महामना कथं
सहते स्मत्यत्रोच्यते युधिष्ठिर एतल्लु क्षम सत्यभाषणादिगुणपञ्चातो गोकापवादाद्
विभेत्, प्रतीकारचेष्टाया शत्रूगामप्रेक्ष्यताया प्रतिज्ञाया उल्लङ्घनस्य दुर्निवारतया
तदुल्लङ्घने कदाचित् ॥ ५३ ॥ रुपा अयमदेयुयद् युधिष्ठिर सस्याद् भ्रष्ट इति, अस्मा
दवापवादाद् विम्वता याषष्ठ्यणापि सोढम्, शत्रूणा परिभवस्तु कालातरेऽपि
कर्तुं शक्यते, पर एता मध्येऽनि सता दुर्लभा, सृष्टदप्पुदिताया निम्दाया
नुष्प्राप्तसमाधेयत्वात् ।

५४

मनास्त्रुषणां मनासि समुद्राणां ज्ञानि च तुल्यधर्माणि भवन्ति, तथाहि
उभयाप्यपि मर्यादातिक्रमाद् विम्वति, वृद्धौ हानौ वा ज्ञान या न जातु मर्यादा
त्यजति, किं च ज्ञातेऽपि सन्धोमे न कदापि कालुष्य प्राप्तुमिति, यद्यपि मनस्विनि
मर्यादाया अस्यात् भूतिस्मृतिनवाचारानुमोदितपथानुसरणम्, समुद्रे च वलया
अनतिक्रमणम्, मनस्विन सन्धोमे परकृतापकारादि, अकालुष्य चाविकार,
एव समुद्रे सन्धोमे वास्यादिना तरङ्गनालाकुलम्, अकालुष्य च अपङ्क्तिवत्, ॥
इत्युभयेषा धर्मभेदात् समानधर्मता, तथापि एकशब्दप्रतिविम्बभावाच्च समान
धर्मता बोध्या ।

५५

अस्माभिर्धर्ताराम्यै सह शौदाहेन वर्तितम्, पर तैस्तत्परिवर्तं अस्मास्तु द्वय
कृत, परमेतन्नातिविस्मयकरम्, कुत ? नदीतटच्छायाद् असर्ता मैत्री अनर्थमेव
जनयति । नदीतट हि भूयो भूयो नदीजलाघातेन ज्वरं भवति, छायायै तत्
सेवमानस्याद्य श्वो वा नदीपातो दुर्निवार, एवमेवासता हृदयमपि दुर्मौलानां
कलुषित भवति, तै सह सम्पर्केऽनर्थोत्पत्तिर्नाश्वर्यकरी ।

५६

ननु तेषा वृत्तमधिज्ञाय कुतस्तौ सह मैत्री कृतेत्याह—ब्राह्मण इव दुराचारस्यापि
समीक्षित कार्यान्तरमेव विज्ञायते, न तु पूर्वम्, दुर्विषयत्वात्, किं च यथा

रियतिरतिरतिमीरुण स्व-आयाकुलिता याप ।

तोयानि तोयराशीनां मनासि च मनस्विनाम् ॥ ५४ ॥

धार्तराष्ट्रै सह प्रीतिर्वैरमस्मास्त्वयत ।

असमैत्रौ हि दोषाय कुलच्छादेव सेविता ॥ ५५ ॥

अपवादादमीतस्य समस्य गुणदोषयो ।

अद्वयवृत्तद्वयवृत्त दुर्निभाव विवेरिव ॥ ५६ ॥

स्वस्वकर्मानुसारेण लोकान् शुभाशुभफलमुपभोजयतो ब्रह्मणः लोकापवादात् मयं नास्ति, तथा स्वदुर्वाकनानुरूपमाचरतो दुर्ज्ञेयस्यापि लोकापवादाद् मीतिर्न भवति, अपि च यथा विधिनिर्ग्रहानुग्रहौ कुर्वन् तात्कालिगुणदोषौ नानुदन्धे तथैव दुराचारोऽपि एतेन माश्रोपवृत्तमपवृत्तं वा' इति गुणदोषौ न पश्यति, किं ॥ यद्येच्छं व्यवहरति ।

५७.

अहं शत्रुनैरप्रतीकारेच्छयैव जीवामि, यदि मम क्रोधः प्रतीकारेच्छा नोदपादयिष्यत्, तर्हि मम हृदयं तत्कान्धेकाध्वंसिष्यत ।

५८.

ननु तथैव मनसि कुतोऽवमरमानामयं, नान्देषाम् इत्यत आह—शत्रुने-
स्तिरभूता वयं पञ्चाप्यद्य वनाद् वनमटन्तो हरिणवद् वनवाहारेक्षीर्ति निर्वाहाम,
इमा निरुद्धा दद्यां प्राप्तानामस्माकं परस्परस्मादपि लज्जोत्पद्यते, नैकस्यामे
परस्त्रपामरनम्रां ग्रीवाभ्रमयितुं शक्नोति । सहवासिना सकाशालज्जोत्पत्तौ तु
किमु वक्तव्यम्, तथा च वयं पञ्चापि तुल्याभिमानाः, इदं तु मदेकसाध्यं कर्म ते
मुनिशासनात्मयैवानुष्ठीयते ।

५९.

य केवलमुत्साहादिशस्त्रेभ्योऽपि परेषामग्रे नम्रो भवति, अन्येषामपवृत्तं दुर्बलं
वा दृष्टीमहते, यस्य च दुर्बलतया परैरभ्युपगमादिना गौरवं न किरते प्रत्युत
सति समये तिरस्कारो विधीयते, यथाऽप्राप्तिमानश्च यः, स पुष्करतृप्तेन दुःखः,
तृणसादृश्यं च शिल्पिनां कर्मविशेषकानां तृणेषु योद्धनेन व्याख्याया दक्षितमेव ।
यथा तृणं मुलेनोच्छिद्यते तथा मानहीनोपीति तात्पर्यम् ।

६०.

पर्वतेषु मृद्गाणि वृक्षा वा यदेवेन्नतमस्ति तत् सर्वमप्यलङ्घ्यं भवति, इति
दृष्ट्या महात्मनां मानोन्नतिः केन प्राप्नु नैष्यते, सर्वेस्वीयते । पर्वतद्वयान्तेन

इति तत् हृदयं सद्यः परिभूतस्य मे परैः ।

यद्यमयं प्रतीकारं भुजाल्पं न लम्भयेत् ॥ ५७ ॥

अधूयादिभिर्नीता हरिणैस्तुल्यवृत्तिताम् ।

अन्योन्यस्यापि जिहीमः किं पुनः सहवासिनाम् ॥ ५८ ॥

शक्तिवैकल्यनम्रस्य नि सास्त्रालङ्घीयसः ।

अभिमानो मानहीनस्य तृणस्य च समा गतिः ॥ ५९ ॥

अलङ्घ्यं तत्तदुद्दीय यद्यदुन्नेमंहीभृताम् ।

प्रियता व्यापती मागात्महतां केन दृष्टता ॥ ६० ॥

तस्या अप्यलङ्घ्यत्वात् । उन्नतेरलङ्घ्यत्वे हेतुतया तत्कामै सर्वैरप्युन्नतये यतः
क्रियते इति तत्त्वम् ।

६१.

आत्माभिमानिन पुरुषस्यैव श्रियो यथासि च भवन्ति, किं च स एव
पौरुषाद् हेतो पुरुषस्येन गण्यते, अभिमानशून्यस्य तु श्रियो विनश्यन्ति, यथासि
क्षीयन्ते, पौरुषाभावात्लोकान् बलीयमाचक्षते ।

६२.

उत्तमपुरुषगणनाप्रसङ्गे यस्य नाम्नि प्रथम समुत्थितारुगुलि द्वितीयामङ्गुलिं
न प्राप्नोति, द्वितीयस्योत्तमपुरुषस्याभावाद् । द्वितीयाङ्गुलौष्ठ्यानामसङ्गाद्,
तस्यैव जन्म सरलम्, एतद् मानिन एव सम्भवति, नान्यस्य; अतो मानो न
स्याज्य ।

६३.

आयुक्तो गहनवनाक्षीर्णोऽपि गिरि कथंचित्स्त्वद्विषु शक्यते, परमोक्षस्त्विदं
मानोक्त पुरुष न कोऽप्युत्स्त्वद्विषु शक्नोति, स खलु सर्वैरपि दुष्प्रभृष्यो भवति ।

६४

देवो यशो निष्कलङ्कतया च द्रमण्डलमपि स्पृशयति, स एव पुरुषाः
इक्ष्वाकुरध्वादिजत् स्वनाम्ना 'इक्ष्वाकुकुलोत्पन्नोऽयम्' इत्येव स्ववशवान् लोके
प्रख्यापयन्ति, किं च वसु रत्नमुच्यते, तद्रूपाणां तेषां पुरुषाणां धारणादेव धृष्वी
चमुचरति यथार्थनामवनी अस्ति । इन्दुमण्डलमित्यत्र मण्डलद पूर्णचन्द्रोपस्थाप
नाय, तस्यैव सकलकृतेन हेतुगीयत्वात् । सुभ्राणीति विशेषण च समान्येवेत्यव-
धारणविधया यशसा सकलकृतेन परिहाराय ।

तावदाभीयते लक्ष्म्या तावदस्य स्थिर यश ।

पुरुषस्तावदेवाधौ यावन्नानाज हीयते ॥ ६१ ॥

स पुमानर्थवज्रमा यस्य नाम्नि पुर स्थिते ।

नस्यामङ्गुलिर्मध्येन सरयागामुद्यताङ्गुलि ॥ ६२ ॥

दुरासदवनवाचान् गम्यस्त्वोऽपि मूधर ।

न ब्रह्मणि महोत्सक मनश्रापमङ्गुल्यना ॥ ६३ ॥

गुरुकुर्वन्ते ते वंशानवर्षा तैर्मुन्धरा ।

देवा यथासि सुभ्राणि हेतयन्तीन्दुमण्डलम् ॥ ६४ ॥

६५.

ये धीरा शुष्कवनसदृशेषु शत्रुषु तद्विनाशायानि सदा स्वकोप पातयन्ति, त एव मनिवतामग्रगण्या, त एव च 'स्वमेव भूया' इत्याद्याशी प्रदानप्रसङ्गे आदर्शतामुपयन्ति, यथा 'एव रामवद् वीरकर्म भूया' इत्यस्यामाशिवि राम उदाहरणम्, तथैव रामादिवत्तेऽपि उदाहरणं भवतीत्यमिसन्धि । यथा नीरसतया शुष्कवनवृक्षा अनम्रा भवन्ति, तथादृक्कास्त्रितया शत्रवोऽप्यनम्रा — अविनीता — इत्यनम्रत्वमुभयेषां साधर्म्यम् । कायेऽनिसाधर्म्यं च विनाशकरत्वरूपम्, कोप पातनकर्तृणामिन्द्रसादृश्यं च कथम् ।

६६.

अहं सुखं भिर्यं च न कामये, तयो समुद्रतरङ्गपदस्थिरत्वेन क्षयितात्,
नाप्यनयो क्षये अत्रातवत् दुःखं जायते इति भोक्तुं निर्भयं निरीक्षमध्य
मुक्तिपदमभिलषिष्यामि, रामद्वेषकषायितचेतसो मम तथानधिकारात् ।

६७.

ननु सांसारिकप्रारम्भिकमुत्पातिरिक्तं किं तव काम्यमित्यत्राह—शत्रुभिः कष्टयुतं
विषयं यदिदमस्मात्स्वकीरिक्तं पण्डितं तत् प्रक्षालनमेवाहमिच्छामि, नान्यत्
किमपि सुखाधिकम्, पण्डितप्रक्षालनं च जलेनैव भवितुमर्हति, तदपि जलं न
साधारणम् अपि तु पवित्रयोगेनतु क्षितानां शत्रुनारीणां जैत्रैर्म्यङ्गतम्, तेनैव
वच्छिद्यैतस्याकीर्तिपङ्क्तस्य क्षालयेतुं शक्यत्वात् ।

६८.

शत्रुनिगिगीषया तपस्तपन्त मा हृष्टा सन्त काम इच्छन्, अत्र विषये मम
बुद्धिर्भान्ता या किं न भवेत्, परं नाहं सोद्देश्यान् पदमपि ज्ञेयम्, ममीपहासान
वधानविषये भवता विन्ता न कार्या, इदं तु प्रार्थ्यते यदवात्रे मयि मोक्षोपदेश्य
रत्नस्य वैफल्येन भवता लज्जा न कर्तव्या । अर्जुनस्य सोऽस्तुष्टोक्तिरियम् ।

उदाहरणमाशी तु प्रथमे ते मनस्विनाम् ।

शुष्केऽशनिरिवामर्षो यैररातिषु पात्यते ॥ ६५ ॥

न सुखं प्रार्थये नायमुद-बद्धीचिचञ्चलम् ।

नानाव्यताशतम्भस्त्रन् विविक्तं ब्रह्मण पदम् ॥ ६६ ॥

प्रमादमप्यप्युमि-द्वेषं लक्षणां कृतम् ।

वैधन्यतापिताराति-नितात्रेचनाम्नुमि ॥ ६७ ॥

अपहस्येऽथवा सद्भिः प्रमादो दास्तु मे धियः ।

अस्यानविहितायात् कामं जिह्मेत् वा भगवान् ॥ ६८ ॥

६९

यादत् शत्रुन् विनाश्य जयभिय उद्धारो न कृत, तावदह मोक्षमपि जयभियो
विघ्नरूप मन्त्रे, मोक्षस्य शमप्रधानतया विजिगीषाशामकरात् । अन्योरत्वादीनां
तु नैव का ।

७०

पुरुषो यादत् शत्रुन् निपारय तैर्जिह्वित स्वकीय यद्य पुनर्न प्राप्नोति
तावत् ॥ जातोऽपि अजातघाय, नस्य जन्मनो निष्कञ्चात्, जन्मजातस्य जन्मा-
न्तर उपयोगः सम्भवति इति न निश्चिन्तम्, इत्यत आह—गतासुरिति, जातोऽपि
मृगद्वयः स, जेतुं स्यादनुपयोगात्, मृतोऽपि पूर्वजन्ममुपपुज्यते स्मेत्यत्र
आह—‘तुगमेव स इति’ यथा तुग निरतम् पादाम्पामुपहन्यमावमपि न प्रतीका-
राय समर्थम्, तथैव सोऽपि, इति तुगद्वयः स ।

७१

हे तपस्विन् । विदितवेदितव्यस्त्वमेव कृपया ब्रूहि यद् यद्य श्रीधो द्विषतां
जयमविशायैश्च शत्रो नञ्ति, तस्मिन् पुरुष इतिशब्दः कथं सम्भूयते, तत्प्रवृत्ति-
निमित्तस्य पौरुषस्य तत्राभावात् ।

७२

ननु पौरुषभावेऽपि पुरुषत्वज्ञातेस्तत्र सर्वे युक्तेः पुरुषशब्दप्रवृत्तिस्तत्रेत्यत
आह—जातिमात्राभिधायिना पुरुषशब्देन न किञ्चित् साध्यते, अप्यत्र य केवल
जातिमात्रेण पुरुष इति व्यभिचर्यते, न तु तत्र पौरुष विद्यते, काष्ठमवहस्तिनेव तेन
न किञ्चित् साध्यम्, लोके स एव श्लाघनीयः पुरुषो य स्वपौरुषेण युगेनो विरम-
यन्नुदाद्यति, अत्र एव सति प्रसङ्गे तैः साध्यममुदाह्रियते ।

अशङ्कनीयमुदभूय सम्बुद्धेन विद्विषाम् ।

निवागमपि मन्त्रेऽहमन्तराय जयभिय ॥ ६९ ॥

अजन्मा पुरुषस्तावद् गतासुस्तुगमव वा ।

यादन्नेषुमिरादत्ते लिखितमभिर्यथ ॥ ७० ॥

अनिर्जयेन द्विषतां यस्यामर्थं प्रचाम्यति ।

पुरुषेऽपि कथं तस्मिन् ब्रूहि त्वं हि तपोधन ॥ ७१ ॥

कृत पुरुषशब्देन जातिमात्रादल्भिना ।

योऽह्नीकृतगुणै र्नाम्यः सविस्मयमुदाहृत ॥ ७२ ॥

७३.

सभामु कथाप्रसङ्गेन सवहुमानमुच्चारित तन्नाम शनवोप्यनुमोदन्ते, किं च यन्नामश्रवणसमनन्तर तत्पराकम्पाद्यतिशयस्मरणाच्छ्रोतारस्तथा निस्तेजस इव प्रतीयन्ते, यया मन्ये तन्नाम्ना तेषां तेजो निगीर्णं भवेत्, स पुमान् वस्तुतः पुमान् पौरुषापरपरीयपुंसवदिविधिथोऽस्ति, इतरे ॥ आतिमात्रवाहका काष्ठमयहस्तादि वदप्रयोजका एव ।

७४

ननु सस्तु भीमादिषु वैरनिर्यातने तवैवाय कोऽभिनिवेश इत्यत आह-प्रतिष्ठा नुसारेण सप्रामे शशून् जिघासु युधिष्ठिरो नृपतिर्मांसेव स्मरति, नान्यम्, यथा तृपा-
तो जलाञ्जलि स्मरति, अग्रात्मनो जलाञ्जल्युपमया यया जलाञ्जलिरेव तृषाया प्रतीकार, नान्यत् किमपि तथैव वैरनिर्यातनमपि मदेकसाध्यम्, तथा च यत्र यस्योपयोग, तत्र तस्यैव नियोग उचित इति राजाहमेव नियुक्त इति बोध्यते, किं च युधिष्ठिरस्य नृपतिपदेनाभिधान राजाजयाऽहमायातोऽस्मै, राजाशया च 'अहमेव किमप्ये नियुक्त ना-य' इति विचारानवसर इति बोधनार्थम् ।

७५

स पुंश्चन्द्रमस्तुल्ये स्वच्छे स्ववशे कलङ्करूपोऽस्ति, यो रिपस्तु मर्त्यराजा न पालयति । तथा च मया विपद्रुप्रस्तस्य मर्त्युभिष्ठिरस्याज्ञादयपालनीया । न पुन स्वार्थपरेण भवितव्यम् ।

७६

अहमिदानीं गार्हस्थ्यधर्ममाभितोऽस्मि, तमनिर्वाह्य पूर्वमेव कथं दानप्रस्थतां सन्यासाभम वा स्वीकरवाणि, गार्हस्थ्यमसमाध्याधमान्तरस्वीकारे धर्मविरोध स्यात् यतो धर्मशास्त्राचार्यैराभमाणा क्रम प्रतिपादित, पूर्वं ब्रह्मचर्यम्, ततो गार्हस्थ्यम्, ततो दानप्रस्थता, तद्वन्ते सन्यास इति न तु व्युत्क्रम येनाह स्वीकृत गार्हस्थ्यमपरिपक्वेऽपि वैराग्ये परित्यज्य दानप्रस्थ सन्यासी वा भवेयम् ।

प्रथमानमिनीनासि सदसा गौरवस्तिम् ।

नाम यस्यामिनन्दति द्विषोऽपि स पुमा-पुमान् ॥ ७३ ॥

यमाप्रतिश्च द्विषतां युधि प्रतिचिद्विषया ।

ममैवाध्येति नृपतिस्तृष्यन्नित्वा जलाञ्जन ॥ ७४ ॥

स वशस्यावदातस्य शशाङ्कस्यैव लाञ्छनम् ।

कृच्छ्रेषु व्यर्थं यया यत्र भूयते मर्त्यराजया ॥ ७५ ॥

कथं वादीयतामर्वाङ्मुनिता धमरोषिनी ।

आत्ममानुक्रम पूर्वं स्मर्यते न व्यतिक्रम ॥ ७६ ॥

७७.

इतोऽप्यहं मन्त्रद्वन्द्वेनाभमान्तरं नैव स्वीकृतुं शक्नोमि, यदेष वैरनिर्घातन
मासो राशो मध्येव निक्षिप्त इत्यभ्यर्कतन्त्रं, किं च स्वजनेष्वेतत् प्रसिद्धं यदजुनो
वैरनिर्घातनोद्देशेन रास्तप्तु गन्, तथा च स्वोद्देशात्प्रागे, ममाकीर्तिः स्यात्, संभा-
विनस्य चाकीर्तिर्मरणादतिरिक्त्वेन, अरि स्वाह मातुराद्या विना किमपि कार्यं न
करोमि, नचेदानीमहं तदाशा प्रहीतुं शक्नोमि, तस्या दूरस्थितत्वात्, किं चाहं
व्येष्टभ्रातुराशया तपसि प्रवृत्तः तदाशोत्पन्ने चायम्. स्यात् व्येष्टस्यापि
दुर्दृष्टस्याशोत्पन्नत्वेन नृकरत्वं, न च मे प्नेष्टो दुर्दृष्टः, अस्मिन् प्रशस्ताचारः,
प्रशस्ताचारस्यापि स्वार्थहानिररेहाराय शक्यनुल्लंघनम् । परं न पुनिरस्य, कुतः ?
तस्य नृत्तिवाद्, धार्मिकवत्स्य नृत्तविरोधोऽवश्यमनर्थकुरादयेत् इति परतन्त्रोऽहं
न भामन्तरस्वीकाराय प्रभवामि ।

७८.

मानिनः क्षमिष्यां सर्वथा स्वधर्ममनुबन्धे, कदाचिदपि तदुल्लङ्घनं न
प्रकुर्वते, अत्र एव ते शत्रुमिं हृत्पापकारा समानात् पराङ्मुखा न भवन्ति, किन्तु
तान् संशमे पराङ्मुख स्थापकारप्रतीकारेण स्वधर्मं पालयन्ति ।

७९.

किं च हे मुने ममाय ददो निधयः यद् मया मेधा वाताघातेन विद्यीर्णा भूत्वा
विलयं प्राप्नुवन्ति, तथैवात्र पदंतेऽहमपि विषयं प्राप्स्यामि, अथवा भगवन्तन्मिन्द्र-
माराधय तत्पराधनेन शत्रुभरत्नाकं हृदये निहातमकीर्तिशून्यमुदरिष्यामि,
एतदतिरिक्तं नाहं किमपि वाञ्छामि ।

८०.

एव स्वसुतस्याजुनस्य वचनेन परमो प्रीतिमास इन्द्रः स्व दिव्य रूपं प्रकटय्य
शुभाभ्या तमालिङ्ग । तदनु विमृतिमासये सर्वदुःखविनाशिनं भगत्कारणस्य
भौशङ्करस्याराधनमन्त्रा उगदिदेश ।

भासका धूम्रियं रुदा बन्नी दूरात् न मे ।

विरहद्वोति स्वातन्त्र्यं व्यापार्याचारवान्मृषः ॥ ७७ ॥

स्वधर्ममनुबन्धन्ते नातिक्रमनरातिभिः ।

पलायन्ते कृतवत्ता नाद्वन्मानशास्त्रिः ॥ ७८ ॥

विच्छिन्नाश्रवेण वा शिरीषे नगनूर्ध्वनि ।

भाराय वा सहसाद्यमयशःशून्यमुदरे ॥ ७९ ॥

शत्रुक्रान्त परिम्य दोष्यां तनूजमाविष्टतदिव्यमूर्तिः ।

भौशङ्कस्तं मयवा भिभूत्यै भवोद्भवाधनमादिदेश ॥ ८० ॥

८१.

हे अर्जुन ! तपसा प्रसादितो भगवान् शङ्करः, अहं लोकपालाश्च तुभ्यं तथा-
विधा शक्तिं वितरिष्यामः, या त्रिलोक्यां कश्चिदप्यतिक्रमितुं न शक्नुयात् । तथैव
च त्वं संग्रामे शत्रून् पराजित्य शत्रूणां राज्यक्षेत्रीम् आत्मसात् करिष्यसि । इत्यु-
क्त्वेन्द्रस्तिरोवभूव । अत्र 'समुत्सुक्यितासि' इति पदेन यथा परकीयाऽपि कान्तन
नायिका गुणवति नायकान्तरे स्वयमेवानुरज्यति तमभिसर्तुं यतते च, तथैव तथा-
विधं शक्तिमन्तं स्वामप्यलोक्य परेषां राज्यक्षेत्रीभ्यः कण्टिता भविष्यति, तदधिगतये
स्वया न कश्चन यतः कर्तुं शक्यते इत्युच्यते स्वयमेव सा स्वामुपैष्यति, यतः सग्नदो
वीरभोग्या, वीरमेवाभ्यन्ते' इत्युच्यते । किं च पिनाकीति पदम्—'तपोमात्रेण
भगवतः शङ्करस्य सतोपो न स्यात्, स्वया तेन सह योद्धव्यमपि, पिनाकधारिणो
वीरस्य वीरकर्मणैव संतोषोदयात्, इति किरातरूपस्य शिदस्यार्जुनेन भविष्यत्
सुदममिष्यनक्ति ।

इति किरातार्जुनीये द्वादश सर्गः ।

प्रीते पिनाकिणि मया सह लोकपालैर्लोकत्रयेऽपि सिद्धिप्रतिवार्यवीर्यः ।

क्षेत्री समुत्सुक्यितासि भूयः परेषामुच्चार्य वाचमिति तेन तिरोवभूव ॥८१॥

शिशुपालवधमहाकाव्ये प्रथमः सर्गः

कथासम्बन्धः

१

अस्मिन् महाकाव्ये शिशुपालस्य राज्ञः कृतो वधो वर्णनीयः, अत एव प्रतिपाद्यप्रतिपादकयोरभेदोपचारत् 'शिशुपालवधम्' इति काव्यस्य नाम । तद् भूमिकारूपेण 'शिशुपालो हन्तव्यः' इतीन्द्रस्य सदेव निवेदयितुं मगवतो नारदस्य कृष्णममीप आगमनं चर्च्यते । भूमारहरणाय पृथिव्या देवैश्च प्रार्थितो भगवान्नारायण स्वयं कृष्णरूपेण प्रादुर्बभूव स स्वकार्यं दुष्टानां दमनं शिष्टानां पालनं च क्रमेण कुर्वन् विलम्बेन स्वीकृतस्य दत्तदूर्ध्वस्य कश्यपाभारस्य समुदेवस्य एव निवसति स्म । यद्यपि नारायणोऽयं विभुः अस्मैव कुक्षौ सत्रीणि भुवनानि कल्पान्ते निवसन्ति, तथापि स्वेच्छया स्वीकृतमिन्द्रस्य तस्य कस्मिंश्चिद् एहे निवास उपपन्न एव । तत्रैव कस्मिणीरूपेण प्रादुर्भूय लक्ष्मीरपि विराजते, भियाः पशु भियमस्मरेणावस्थानस्या योग्यत्वात्, पतिव्रताशिरोमणौर्भगत्या भियः पतिं विरहस्य स्थितेरसमवाच्च । यत्र साक्षाच्छीर्निवसति, किमु वक्तव्यं तस्य भुरगस्य शोभाविषये । तेनानेन मगवता कृप्येन सभायां तिष्ठता कदाचिद् दृष्टम् यत् स्वर्गाद्वगवान्नारदो देवर्षिः राकाद्यमागेणान्वृत्तीति ।

२.

तेषु पुञ्जं नारदमाकाशादन्तरन्तं दृष्ट्वा तेजशाम्बिवाद् दूरस्थतया चाकृदे प्रत्यभिगमावाञ्जनानां मनस्येव सशय उदभूत् यत् किमिदं तेषां । किं स्वर्ग एवैनं रूपेण दिवि तपन्नपि रूपांतरं धृत्वा दृष्टागच्छति, वा धूमं परित्यज्य प्रवृत्तमग्निं रापाति । तत्तत्सौत्रिमितितम् सूर्यो हि तिर्यग्भवति, (अनूस्मरणयोगेति पदेन तत्त्वमेव अक्षयप्रकाशोऽपि भवति, अत्र तु न तथेत्यपि द्योतितम्) अग्निश्च ऊर्ध्वज्वाल, (किं च स हविर्भुक् दवीषि इन्धनानि विना न भजति, अत्र तु नेन्धनं किमपि) इदं तु तेज ऊर्ध्वदिशादध आयाति, सर्वतः प्रसरणशीलं च (प्रसरणशीलोकाया

भियः पतिं भीमतिः शक्तिर्भुं अगजगजिवाधो समुदेवसज्जनि ।

वसन् ददर्शान्तरन्तमम्बरद्विरेणमर्जोद्भुजं मुनिं हरिं ॥ १ ॥

गतं तत्तद्वीनमनूकसारथ्ये प्रविद्धमूर्ध्वज्वालं हविर्भुजं ।

पतत्यधो धाम विहारि सर्वतः किमेतदित्याकुलमीहितं जनैः ॥ २ ॥

कदाचिदुल्का स्यादिति सशयोपि निरस्तः । तस्मान्न स्य, नापि अग्निः,
ततश्च किमिदमिति विचिन्तयन्तो निर्धारणामानन्ते हिमयस्तिमिता वभूवुः ।

३

मगवानपि पूर्वं दूरान्नारदं दृष्ट्वा तेन पुञ्ज इत्येवाज्ज्ञानात्, ततः क्रमशः सन्निहिते
तस्मिन्, अथयवसन्निवेशे दृष्टिगते कश्चित् शरीरधारीनि बुध्यते स्म । ततोपि
अग्निधानं विशेषेणायवेषेषु पुष्ट्य इति ज्ञातम् । अतिअग्निधाने च नारद इति
स्पष्टं बुद्धम् । सर्वेषुपि भगवति लोचदृष्ट्यायमुपन्यास इति मल्लिनाथः । यथा
विभुरत्येव क्रमेण शत्रुं शङ्कोऽमुदिनि नारदस्य तेषांऽनिशयनिवन्धनं माहात्म्य
व्यङ्गीकृतम् ।

४

आकाशादग्नरन् नारदो यदा सञ्जलानां महता नीचार्जनां मेघानामथ
प्रदेशे आजगाम, तदा तस्य तथा कान्तिरभवत्, यथा लाण्डवतृत्समये
गोमृचमर्गा मेघानां सादृश्यम् श्रीशङ्खेतरं विभूत्या चाग्निः श्वेतो भवति,
नारदोऽपि स्वयमेव कर्पूरसदृश इत्युच्यते इति । न च नृ इति सञ्जलस्य मेघानां
बृहत् इति निबिडत्वम् ।

५

नारदस्य धिरग्नि इत्यनेतवशा (कृष्णपीठा) जग विराजन्ते, इदं च
स्वच्छयेतो नारदः, तेन तस्य तादृशी कान्तिः, यादृशी हिमप्राचुर्येण दरेतवर्णस्य
परिणतः ईषरीतवर्णः (हरितपीठा) स्यात् उपरि रिम्भाणस्य हिमवतो दृश्यते ।
जलमिलितानां सादृश्यम् पीतवर्णविशेष उभयत्र, कृष्णहरितयोश्चैक्यमेव कश्चिदप्रदाये ।
धिरस्थानीय उपरिभागे च सन्तानां स्थितिः ।

६.

नारदेनाथ विहितस्य सत्त्वशीघ्रं मौञ्जीं मेवञ्च निबद्धा, कृष्णमृगचर्मं च
उत्तरीयरूपेण धृतम्, स्वयं च नारदः शुभ्रवर्णः, तेन च भगवतः कृष्णस्य उद्व

चपरिष्ठादित्यवधारितं दया ततः शरीरीति विभावितकृतम् ।

विभुर्निभकावयः पुमानिति क्रमादमुं नारदं इत्यथोपि च ॥ ३ ॥

नवानधोऽधो बृहत् पयोधरा-ममूढकर्पूरपरामणाङ्गुरम् ।

क्षणं क्षणोद्विग्नमन्त्रद्रुतिना स्फुरोपमं मूर्ध्नितेन शम्भुना ॥ ४ ॥

दधानमम्भोदहकसरयतीर्ज्या शरच्चन्द्रमरीचिरोचिषम् ।

निपाकपिङ्गास्तुर्हिनस्यन्तीरुहा घराधरेन्द्रं व्रततीवतीरिव ॥ ५ ॥

पिण्डमौञ्जीमुजमूर्तुन-उवि यथानमगाजिन-ञ्जनयति ।

मुर्णस्त्राकस्तिवाघराभरा विडम्बयन्तं शितिवाससस्तनुम् ॥ ६ ॥

भ्रातरं बलमद्रमनुकरोति स्म । बलमद्रोऽपि 'शुभ्रज्ज' अथ पिहितस्य बलस्योपरि
सुवर्णमेखला धारयति स्म, नीलं चोत्तरीय धत्ते स्म । तदथ सुवर्णमेखलायाः
भोज्याश्च पोतवणेन सादस्याद् विम्बप्रतिविम्बभावः । नीलाम्बर-कृष्णमृगचर्म-
जोश्चापि सादस्यास्तथैवेति बलमद्रनारदयोः सादस्यनुपगन्तम् ।

७.

नारदेन पीत यशोपवीत धृतम् तच्च कुन' पीतमिषमोच्यते, सुमेधधान्ते
सुवर्ण-रज्या देदुर्मो या' कार्पास्यो ल्ना उत्पद्यन्ते-ता' देमि' कारणगुणानुसरणारसुवर्ण-
मयः, सास्यन्त्यस्य कर्पासस्य सन्तवोऽपि नथैव सु-जमेषो-इति, जग्निमित्तस्य
यशोपवीतस्य युज्यते एव पीततन्म । गहडलोमान्धवायताश्च यशोपवीततन्मव' ।
केचित्तु दीर्घलतावयव-भूतैर्लतातन्तुभिरेव शोभायंमपरं यशोपवीतं निर्माय नारदेन
धृतमिति व्याचक्षत । ततश्च तेन यशोपवीतेन शुभ्रस्य नारदस्य तथा शुद्धिर्दृश्यते
एव यथा शररकाले शुभ्रस्य मेघस्य विशुद्धगैर्दृश्यते ।

८.

नारदेन स्वीये स्वच्छशुभ्रेऽङ्गे चमूकमृगस्याखिनं धृतम्, तस्याग्निशय लोमानि
नानावर्णानि, रज्जु-रानि, कोमलानि च, तेन तदग्निं बहुमूल्यताजोचितगजपृष्ठाया-
स्तरणमिव शोभते स्म । तेन च परिहिननाभिनेन धृतमश्वहृष्टास्तरणस्य शुभ्रवर्ण-
स्यैराकृतापदगजेन्द्रस्येव नारदस्य शोभासीत् ।

९.

नारदो हि क्वरे जगर्थे रफटिकनिर्मिता माला धत्ते, न हि स काप्यय मन्त्रान्
कपति, अनि तु मोक्षाय, मोक्षार्थिना च 'रफटिको मोक्षदः परम्' इति रफटिकमा-
ला विहिता । दीग वादने च दृढतरस्तरस्यान्यास इति वीणाधौष्ठवपरीक्षणाय
अङ्गुष्ठनखेन मुकुर्वाणातन्त्री ताडयति । तादृशदृढतरतन्त्रीया मुहु संदर्पणेनाङ्गुष्ठ-
नखस्य भास्वरा रक्तता जायते । सा चारयन्त स्वच्छेषु रफटिकेषु संक्राम्यतीति
यस्मिन् भागेऽङ्गुष्ठनखाशुभ्रवर्धनेन रागसंक्रमणंभवः, तस्मिन् भागे रफटिका एव,
तेन सा मालादंभागे प्रवालैः, अर्धभागे च रफटिकैर्वर्तितैव विच्छित्ति दधाति ।
तयादमुतया मालया नारदो विराजते स्म ।

विहङ्गरावाङ्महैरिवायतैर्हिरण्यवर्णैर्दृष्टवर्तितानुभिः ।

वृत्तोपवीत द्विमशुभ्रदुचैर्धनं धनान्ते तडिनाङ्गैरिव ॥ ७ ॥

निसर्गचित्रोक्त्वल्हृदभरशृङ्गा लसद्विदग्धेदक्षिताङ्गसङ्गिना ।

चकासतं चादचमूर्चमणा कुयेन नायेन्द्रमिवेन्द्रवाहनम् ॥ ८ ॥

अरुसमारणालितवल्हकीगुणस्ततोक्त्वल्हृदभरशृङ्गाशुभिः ।

पुरः प्रवालैरिव पुरिताऽर्पया विमान्तमच्छरफटिकाक्षमालया ॥ ९ ॥

गान्धर्वशास्त्रविषयोऽन तदीये पारिमाणिके शब्दैर्निबद्ध । स च मल्लिना
थरी या स्पृगीक्रियते । गायकस्य कण्ठनाल्याद्यभिप्रातेन वीणादिवाद्येषु हस्ताकुल्या-
द्यनिरातेन वा य प्रथम शब्द उत्पद्यते, स भूतिर्नाम, तस्या सनननाद्
अशुरणनरूपधिर जायमानो मनोहरो ध्वनि स्वर इत्याख्यायते, अनेकाभि भूतिभि
रेव स्वर उत्पद्यते, ता भुतय स्वरस्यावयवा भवन्ति । अनेका भूतय स्वरमवयविन
मुत्पादयन्ति — तत्तत्र इव पटम् । तत्र नास्ति सख्यानियमोपि — क्रियतीमि भूतिभि
क स्वर उत्पद्यत इति, त इमे स्वरा सप्त प्रसिद्धा — षड्ज, श्रुतम, गान्धार,
मध्यम, पञ्चम, धैवत, निषाद इति, एत एव सक्षेपेण स रि ग म प ध नी इत्य-
ख्यायन्ते । एषा विभिन्नया रीत्या भिन्ना भिन्ना सघाता ग्रामा इत्युच्य ते, ते च
त्रय एवत्र ग्राम, मध्यम ग्राम गान्धारग्राम इति । अन्येषु तन्त्राख्य न द्या
वर्तन्ती मूतमुभद्राख्या । ग्रामेषु निविशमात्ताना स्वराणाम् — आरोहोऽवरोहक्रममेवा
“मूर्च्छना” इत्याख्याय ते, ताश्च प्रतिग्राम रूपत्येव विंशतिर्भवन्ति । सर्वमेतत्पुदष
प्रयत्नेन गाने वाचा, वाद्ये तु हस्तादिभ्यापारेण सपाद्यते, पर नारदस्य वीणाया
तादृशेन लोकातिशायिना शिल्पेन तन्त्रोयोजना कुवा यदन्तरिक्ष गमनकाल
वायोराधातेनैव सा विभिन्नेषु स्वरस्थानेषु ध्वनन्ती असङ्कीर्णान् स्वरांन्, ग्रामान्
मूर्च्छनाश्च पुरुषप्रयत्नप्रतरेणैव प्रकम्बन्ति । तादृश च विन्ध्यं दधन भुक्ता
‘केनेयनादिता’ इति सङ्कीर्णक नारदस्या विलोकते ।

अन्तरिक्षे नारदेन सह सद्गौरवाय बहवो देवा अनुचररूपेण प्रव्रजन्ति स्म,
मूलोक्तसन्निधाने सति नारदेन ते स्वर्गं प्रति प्रेषिता प्रणाम कृत्वा निवृत्ता ।
ततश्च नारदो भगवतः कृष्णस्य सदनं प्राप्त । इन्द्रसदनां नारद आगत, इदमपि
सदनमिन्द्रसदनसदृशमेवेति तस्य पृथिव्या गमनेऽपि न कोऽपि विशेष इति महेन्द्रा
ख्यत्वाङ् विशेषेण चोक्तितम् । सादितदैत्यसम्पद इति चक्रविशेषणेन स्थाने
समृद्धिवाहुल्य व्यञ्जितम्, दैत्यानां सम्पदो विनाश्य स्त्रीणां समृद्धिर्वृद्धिं नीतेति ।
चक्रिण इति दैत्यनाशनयोग्यता व्यनक्ति । अतीन्द्रियशाननिधिरिति विशेषणेन
नारदस्य देवदर्शनसत्कथादियोग्यता स्फुटीकृता ।

रणद्विराघटनया नभस्वतः पृथग्विभिन्नभूतिमण्डलैः स्वरे ।

स्फुरीमवद्ग्रामविशेषमूर्च्छनामवधमाणा मदती मुहुमहु ॥ १० ॥

निवर्त्य सोऽनुव्रजनं वृत्तानतीनतीन्द्रियशाननिधिर्नमः सद ।

समासदासादितदैत्यसम्पद पद महेन्द्राख्यत्वाङ् चक्रिण ॥ ११ ॥

स्वहस्तेनैव सिंहासनमग्रतः कृत्वा तत्र नारद उपवेशितः अथवा इदानीमयमागतः, अयमुत्थास्यति, पूजयिष्यति—इति समावनापि याज्ञिकस्य नामूत्, ता देव भगवता पूजा समाप्य नारद उपवेशितः । यद्वा—नारदकृष्णौ श्वेतकृष्णवर्णतया तुषाराञ्जनपङ्क्तौ, तयोः सादृश्यमूलिका तुषाराञ्जनपङ्क्तौ तत्र समावना यावत् स्तोदनं न कृत्वा तावदेवोपवेशितो नारदः ।

१६

नीलमणिसर्वाङ्गं घनदयाम् कृष्णं सम्मुखे विष्टात स्म, तदभिमुखं स्वच्छेत् कातिर्नारद उन्नये सिंहासनं उपविष्टः, तत्र तस्य तादृशी श्यामा लक्ष्यते स्म, यादृशी कृष्णवर्णा सापङ्कालमभिमुखीकृत्य स्थितस्य, उदय पर्वतमारुहस्य च द्रस्य लक्ष्यते । तेनेदं भाति तथाश्चिदस्य च द्रस्यैव शोभा नारदेन चोरिता । त्रुस्थाश्चर्येण स्तयेन प्राप्तिर्लक्ष्यते, सैव शोभेति तद्दृश्यम् । रसकालोद्भूततमोवाहुत्वात् सायङ्काल कृष्णवर्णं कश्चिन्निर्वर्ण्यते । भित्तोदयाद्रेरिति विशेषणेन उचित एव चन्द्रो नैदानीं यावत्तमं कृत्स्नं निरोद्धुमशक्यत्, अग्निधौ तमस्तेन विनाशितम्, प्रतीप्यान्तु तद्वत्तत् एवति तमसोऽभिमुखं स्थातश्च द्रस्योपपादिता ।

१७

पूर्वमर्घ्यादिभिः पूजितस्य प्रसन्नता गतस्योपविष्टस्य नारदस्य पुनरपि गन्धपुष्पमधुपर्कादिभिः पूजा भगवता कृष्णेन कृता । नात्र किमप्याश्चर्यम् स्वभाव एव महानुभावानाम्, यत्ते भेष्टान् पुनः पुनस्तथा पूजयन्ति, यथा पूजया तथा सगृहा एते भेष्टा पूजकस्य अद्यापि एव भवन्ति । एषा च पूजा न केनचिदभिलाषेण कस्यचित् प्रेरणया वा महानुभावैः किमते, यतस्ते स्वयं महानुभावाः कस्तेषां प्रेरकः स्यात्, को वा तेषामभिलाषः, परं प्रकृतिरेव तथा तथाविधा यत्पूर्वपूजा कर्तुं शक्योऽभिलाषस्तेषां मनसि सततं जागर्ति । यत्तन्नां प्रिय इति कृष्णवाचः काम्या पदार्थादिदमभिप्रेतम् यन्निर्व्याजं यागादिकर्मं कृतवता मनसि भगवति कृष्णे परमा प्रीतिरुदेति, त एव भक्ता उच्यन्ते तेष्वग्रगण्योऽयं नारदः, अस्य भगवान् कृष्ण परमप्रेमास्पदम् । एवविधाश्च भक्ता स्वयं कृष्णेन समर्च्यन्ते इति तस्य स्वभावः ।

महामहानीलशिलाश्च पुरो निषेदिवा-कसकृष स विष्टरे ।

भित्तोदयाद्रेरभिषायमुच्चैरचूतुश्च द्रमसोऽमिरामताम् - ॥ १६ ॥

निधाय तस्याऽपचितिं प्रसेदुषः प्रकाममप्रीयत यत्तन्नां प्रिय ।

प्रदीपुमार्यापरिचर्यया मुहुर्मुहानुभावा हि नितान्तमर्चिनः ॥ १७ ॥

१८

यथा जगदधिपतिनापि भगवता कृष्णेन लोकमयीदा पालिता, तथा त
जगन्नाथ विद्वन्पि नारदो लोकमयीदां पालयामास । नारदस्य कमण्डौ सर्वेषां
तीर्थानां जलमासीत्, तस्य सर्वत्र भ्रमणशीलत्वात् । तीर्थेभ्यश्च जलग्रहणमिच्छास्ति क
संप्रदायात् । तस्य जलस्यासौ नारदेन कमण्डौ रुद्धस्य स्वपाणौ स्थाप्य माङ्गल्या
भिक्षेकाय भगवतः कृष्णस्य शिरसि क्षिप्तं भगवतापि भूर्धानमवनमस्याभिक्षेकञ्चल
यहीनम् । इदं हि तीर्थोदकं सर्वपापहारि विशेषतश्च नारदहस्तात्प्राप्तमस्ति
संस्कारपूर्वकं तस्य ग्रहणं युक्तमेव ।

१९

अभिक्षेकानन्तरं नारदेन कृष्णायोपवेशनानुपतिदंता अद्रुमतश्च भगवान्
कृष्णं स्वर्णमयसिंहासनं उपविष्ट । स्वर्णमयस्य सुमेरो पर्वतस्य मृङ्गं यथोपरि
क्रियामग्रेण वयमेन जम्बूद्वीपेण क्षोभने, सतीन्द्रश्चिन्तयन्त्यमेन महावपुषा
भगवता कृष्णेनाधिष्ठितं विशालं तत्स्वर्णमयं सिंहासनमशोभत । तेन तस्यापि
भीक्ष्णेन बिभेति प्रतीयते स्म । स्वर्णमयत्वेनोन्नत्येन च सुमेरुमृङ्गसिंहासनयो
साम्यम्, इयामत्वेन जम्बूकण्वो वृक्षेषु द्वारतयोरमेवानानुपपत्तिः, जम्बूद्वीपस्य
इयामताप्रधानत्वाच्च । सुमेरो मृङ्गविशेषे जम्बूद्वीपे, तस्य मूलाच्छम्बूद्वीपं प्रवहति
तत्सर्वथादेव च जम्बूद्वीपमिदमिति पौराणिकवचनमस्या उपमाया मूलम् । मल्लि
नाथेन तु जम्बूद्वीपं कृष्णस्योपमानतया व्याख्यातम् । तत्रोपमानस्य परिमाणं
कृतालपतादोषो दुर्निवारः । न च जम्बूद्वीपे सुमेरुमृङ्गे तिष्ठतीति कचिद्विद्व-
न्निपासता तावत् ।

२०

भगवान् कृष्णं स्वयं इयामं र्णं, पूर्णे चन्द्रमसि प्रतीयमानस्य इयामवर्णस्य
कुम्भस्येव तस्य कान्तिं तत्स्वर्णसदृशं मार्शयतीति च वक्ष्यते न भूतम् । ततस्तस्य
तथा शोभा प्रतीयते स्म यथा अमिती वाङ्मयिनी सन्निवृत्त्यः समुद्रस्य प्रतीयते ।
समुद्रोऽपि स्वयं इयामं, वाङ्मयजातवद् शिखश्च पीता इति ।

अशेषतीर्थैर्बहुता कमण्डलोर्निधाय पाणानृषिणाम्युदीरिता ।

अभोषविष्णुसविषौ पनीयसीर्नतेन मूर्ध्ना हरिप्रदीप ॥ १८ ॥

स काञ्चने यत्र मुनेरनुष्ठया नवाम्बुद्वयामतनु र्यक्षितः ।

विभाय जम्बूजनित्रयि श्रिय सुमेरुमृङ्गस्य तदा तदासनम् ॥ १९ ॥

॥ तत्तत्तत्स्वरमारवाम्बर कठोस्ताराधपलाञ्छनञ्छावः ।

निदिद्युते च द्रवजातवेदस शिलाभिरात्रिष्ट इवाम्भसा निधि ॥ २० ॥

२१.

श्यामस्य मगदतः कृष्णस्य मूर्तिवनुस्पृताया स्निग्धकृष्णप्रभाया उपरि
अङ्गुष्ठस्थितस्य नारदस्य शुभ्राः रश्मयः पतिताः, तयोः समिधनेन तथा
चञ्चिद्विद्यते स्म, यथा राशौ घनस्य वृक्षस्योपरि यदा चन्द्ररश्मयः पतन्ति, तदा
दयमाना वृक्षप्रशाखा रुचे अंतराले दृश्यन्तां चान्द्ररश्मिनां च समिधनेन दृश्यते ।
उभयोर्भास्वरप्रभाक्ञ्जरीसंक्रमणेनोक्तं भवतीति ।

२२.

कृष्णनारदयो परस्परसम्मुखे स्थितत्वाद् भारनरकान्तितया चैकैकस्य रश्मयोऽ-
न्यस्य शरीरवचौ ससक्ताः, तेन च यद्यपि कृष्णनारदौ श्यामशुभ्रतया अत्यन्तं
भिन्नवर्णौ, तथापि एकवर्णविव प्रतीतौ । कृष्णेऽपि नारदशरीररश्मिसम्पन्नाञ्जु-
भ्रसङ्कोर्णकृष्णवर्णः, नारदोऽपि कृष्णशरीररश्मिसम्पन्नाः कृष्णसङ्कोर्णशुभ्रवर्ण इत्येक-
वर्णता द्वयोः समाधिता । उभयप्रभामेलनादुभयोरपि सर्वाङ्गीणो गङ्गायमुनासङ्गम
इव दृष्टिकेन्द्रनीलमणिप्रभामेलनप्रायः कश्चिदेव वर्णः प्रादुर्बभूव” इति मञ्जिनाथ ।
छन्दोगमीदृशां चावयवावयविभावाद्भेदनिर्देश इति मल्लिनाथ । दस्तुतस्तु
“मूर्तेर्वैदिनिर्गण्य प्रसङ्गवृत्तेजोऽवयवा अवयव मूर्त्यनुस्पृता तु कान्ति रोजि-
श्चिद्विर्भा” इति नेह विमर्शव्ययम् । एकस्य चञ्जरी परस्य रश्मिसम्बन्धः, तेन
चञ्चिदेत्यवयवाभाव इति ।

२३

यदाय भगवान् कृष्ण रत्नलीलायां प्रन्ये स्वस्वमूर्तेः जगद्गुरुसंहरति, तदा
सर्वांगोमानि दृश्यानि जगन्ति अस्यैवोदरे (शरीरान्तः तिष्ठन्ति) न च तत्र
तिष्ठतामनन्तब्रह्माण्डानां कोऽपि सम्बाधो भवति सावकाशं सर्वाणि जगन्ति तत्र शेरते,
ततोऽपि बहुतिरिच्यते तद्गुह्यम् । (एतेन तनोरतिविशालवस्त्र-अनन्तश्च
ख्यापितम्) पर तस्यामेव तनौ नारदागमनभङ्गो ह्यर्थो न कथमपि समाविशोऽ-
भूत् । स तु तनोरतिरिच्य बहिरपि प्रवहति स्मेव । अनेन ह्यर्थस्यानन्तब्रह्माण्डानि
रेकद्वयनादतुल्यवस्तुत्वं भवति ।

रथाङ्गनाथे- एतेन रोजिषामुषिरिव- सवलित विरेजिरे ।
बल्लरत्नाशान्तरागोचरास्तरोलुपारमूर्तेरिव नक्तमशव ॥ २१ ॥
प्रफुल्लतापिञ्जनिभैरमौषुमि शुभैश्च सप्तञ्जदपामुगण्डुभिः ।
पक्षरेण चतुरिताऽमलञ्जरी तदैकवर्णविव तो वमूवत् ॥ २२ ॥
मुगा-तकालप्रतिर्दृष्टारमनो जगन्ति यस्या सविकासमासत ।
तनौ ममुस्तथ न वैमद्विषलपोषनाम्यागमसम्भवा मुद- ॥ २३ ॥

सूर्यपेक्षयाप्युत्कृष्टो भवान् । तत्र हेतुश्च्यते—सूर्यस्य क्षिरिणा यद्यपि बहव, तथापि ते सङ्ख्यमिति परिच्छिन्ना एव, अत एवानन्ते ङ्गति सर्वत्र पर्याप्तु न शक्नुवन्ति । भवत्सु तेजासि अश्रुष्यातानीति मगान् सर्वमन्धकार निर्वर्तयितु शक्नु । मोहात्पतमोविनाशकत्वादिह ज्ञानस्यैव तेजस्तत्पुच्छ द्रष्टव्यम् । तस्य आरुह्यातस्त्वमनन्तरमेव । तथा चानन्तेन ज्ञानेन समूलो मोहस्तत्प्रापसारिण इति फलति ।

२८.

यदा कश्चिद्ब्रूष्यति पुरुषो भवेत्, स च स्वपुत्राणां क्षेममिच्छेत् स दृश्यकथा तावन्तमर्थं राशिम् (निधिम्) अर्चयति, यस्य तत्पुत्रे सतत दानभोगादिपूययोगे क्रियमाणेऽपि न क्षयो भवेत् । त च निधिं स दृष्टे कृगद्वादौ निक्षिप्य सुस्थाने स्थापयित्वा निश्चिन्तो भवति, तथैव भगवता ब्रह्मणापि सर्वांश स्वप्रज्ञाना हितमिच्छता तदर्थं भुतिः समूहरूपा सपदजिता, (सपस्तपत्रा परमेश्वरात्प्राप्ता) सेयं भुतिसपदरि तादृशी या सर्वाभि प्रणामिकरपुण्यमानपि न क्षय याति, यात्यति वा (विधाया उन्नयोगे वर्धनशीलत्वात्) तस्या निधानार्थं भवानेव (नारद एव) पात्रत्वेन ब्रह्मणाङ्गोक्त, स्वयं च सा सपद निधाय स निश्चितोऽमृत, अयमेव सप्रदायप्रवर्तनेन भुतिसपदमिमां सम्यक् पात्यतीति । (निधिस्थाने निधिशब्दप्रयोग तादर्थ्यलक्षणा मूलक । (यदा निधोपतेऽस्मिन्निति निधिरित्यधिकरणसाधनो द्रष्टव्य) । एव च भुतिसप्रदायप्रवर्तनेन धर्मधर्मध्यवस्थापको भवान् दुर्लभदर्शन एव लोकानामिति ।

२९.

भगवान् कृष्णो वक्ति—मुने । नारद । भवद्दर्शनेनैवाह कृतार्थं, यतो दर्शनं मिद सर्वाणि कुरितानि दूरीकरोति तथापि मम सतोषो नास्ति, यतोऽहं गौरवपुत्रा मन्त्राचोऽपि श्रोतुमिच्छामि । नान मम दोष । स्वभाव एवाय चानानाम्, यत्ते भेषप्राप्तौ न तृप्यन्ति, अधिकमधिक भेषो वाञ्छन्ति इति । तथा च यथा आगमनकृपा भवता कृता तथा किमुपदिश्य कृतार्थनीय इति ।

३०.

भगवन् नारद ! भवन्त प्रति यद्वयं पृच्छाम 'अत्रभवत आगमने किं

कृत प्रजाक्षेमकृता प्रजासुखा सुपात्रनिक्षेपनिराकुलत्वेना ।

सदोपयोगेऽपि गुरुस्त्वमश्वयो नाथ भूतीना धनसम्पदामिव ॥ २८ ॥

विलोकनेनैव तवामुना मुने । कृत कृतार्थोऽस्मि निदर्शिताऽहसा ।

तथापि शुश्रूष्यहं गरीवशीर्गिरोऽप्यवा भेषसि केन तृप्यते ॥ २९ ॥

गतस्पृहोऽप्यागमनप्रयोजनं वदेति वक्तुं व्यवशीयते यया ।

तनोति नरतामुदितात्मगौरवो गुरुस्तवैवागम एव धृष्टताम् ॥ ३० ॥

प्रयोजनम् । तन्निगद्यताम्' इति, कैषा अस्माकं धृष्टता । यतो भवान् वीतरागः । न किमपि क्षणं ते भवतः करणीयम् अतो ॥ भवतः प्रयोजनं संभाव्यते । वीतरागं प्रति प्रयोजनप्रदोऽवश्य धृष्टतैव, परं क्षम्यताम्, सेयं धृष्टता स्वदागमनेनैवोत्पादिता, वीतरागाणां प्रयोजनशून्यानाम् कचिद्रमनमप्याश्रयंकरम् । ततश्च महत्स्वास्पदेन भवदागमनेन यदस्मासु गौरवं जनितम् बोधितं वा, तेन वयम् तथा प्रगल्भ्या छाताः यत्प्रयोजनम् प्रष्टुमप्यस्माकं निष्ठा प्रवर्धति । ज्ञातेऽपि निःस्पृहस्ये न प्रयोजनशून्या प्रेषावत्प्रवृत्तिरिति आगमने किमपि प्रयोजनं स्यादेव इति विचारेण प्रश्ने प्रवृत्तिर्जोषन एवेति मल्लिनाथः ।

३१.

भगवतः कृष्णस्य पूर्वोक्त वचनजातमाकर्ण्य नारदेनोक्तम्—भगवन् ! भवत इयमुक्तिर्न योग्या । अन्ये मनुष्याः कथयन्तु तावदित्यम् भवास्तु पुरुषोत्तमः—परः पुरुषः—साक्षाजारायणः । वीतमृदा महान्तो योगिनोऽपि त्वद्दर्शनमभिराडुन्त्येव । त्वद्दर्शनार्थमप्यत्र स्पृहा निवर्तते, त्वद्दर्शने तु स्पृहा न कदापि कस्यापि निवर्तते इति । किं च दृष्टे त्वयि सर्वः पुरुषार्थः संप्राप्यते, न त्वं प्रयोजनान्तरमवशिष्यते यदर्थं प्रश्नः स्यात् । तस्मात्त्वद्दर्शनार्थमेवाहमप्यागतः । इति ब्रुवन्तं तमिति वर्णमानार्थकशतप्रत्ययेन स्वप्रशता कृष्णमुलाच्छ्रोतुमनुत्सहमानो नारदो मथ एव तद्वाक्यमाशिष्य षकदुमारभतेति चोत्थते ।

३२.

यथा कश्चित्कश्चित्काश्चित्कान्तारमार्गे गच्छेत्, स मार्गः पाटञ्चरैराक्रान्तः स्यात् जनानां गतागताभावेन दुर्गमश्च स्यात्, स तत्र संकटापन्नो विम्यत् कथंचित्तं निस्तीर्णः स्व प्राप्यस्थानं प्राप्य निर्मयो भवति तथा मोक्षमार्गे य आश्रयन्ते, यत्र उद्विक्तो विषयामिन्नाथ एव प्रतिबन्धकरात् पाटञ्चरः, न च संसारिणां यत्र बाहुल्येन गमनम् तन्मार्गागास्ते (योगिनः) स्वामेव प्राप्यस्थानं प्राप्य निर्मया भवन्ति, न च ततस्तेषां त्रियोगः, 'न स पुनरावर्तत' इति श्रुतेः, तथा च कल्काले भक्तप्राप्तिरेव, उपायकालेऽपि तमेव विदित्वा अतिमृत्युमेति नान्यः पन्था विद्यते अयनाय, इति श्रुत्या त्वद्दर्शनोपासनाशनान्येव मूलयानीति सत्रेव योगिनो रमन्ते । पूर्वश्लोकोक्तस्य समर्थनम् ।

इति ब्रुवन्तं तमुवाच स भर्ता न वान्यमित्यं पुरुषोत्तम ! त्वया ।

त्वमेव साक्षात्करणीय इत्यतः किमस्ल कार्यं गुप्त योगिनामपि ॥ ३१ ॥

उदोर्गारागप्रतिरोधकं जनैरमीक्ष्यमल्लुण्णतयाऽतिदुर्गमम् ।

उपेयुषो मोक्षार्थं मनस्विनस्त्वमग्रमूर्तिर्निस्पायसंश्रया ॥ ३२ ॥

३३

भगवन् कृष्ण ! कपिलाद्या, सांख्याचार्या सांख्ये त्रयोविंशतेर्विकारेभ्यः
मूलकारणाद्युर्विधारप्रवृत्तिपदबोधात् प्रधानाच्च पृथग्भूत पञ्चविंश विज्ञानधर्मं
पुरुषं यं निरूपयन्ति, यं च योगिनो बाह्यविषयेभ्यो मन आकृष्यात्मनि संयोज्य
चातिक्रमेण ज्ञानन्ति, स सर्वोत्तमभूतो भवानेव । यद्यपि सांख्या पुरुषवदुत्तमि-उ
न्ति, तथापि न तु तेषां दर्शनं सम्यक् । मिथस्त्वेन भासमाना पुरुषा बहिर्लक्ष्ण
लिङ्गन्यायेन भवन एव निर्गता भवद्वयभूता इति भवानेव सर्वकारण सर्वेभ्यः
प्राकृतन । तदेतत् 'पुरातनम्' इति पदेन चातितम् । यद्वा-उत्तरसांख्यशा
योगाचार्या पतञ्जलिप्रभृतयः पुरुषेभ्योऽपि परं यं चतुर्विंश कर्तृकर्मविद्याकाशयैर
स्पृष्ट पुरुषविशेषं पुरातनं पुरुषं निरूपयन्ति, स भवानिति योज्यम् । तस्माद्योगि
जनदर्शनीय एव भवानिति । स स्रज्जिह्वायाम् भगवत्स्वरनिरूपणम् ।

३४.

य एव सांख्यादिमिर्निर्गुणं पुरुषं इति निरूपितं, तमेव त्वां पौराणिका सुखि
कर्तारोऽमामनन्ति । अस्य हृदयस्य लोकत्रयस्य त्वमेव शिन्वी । यथा शिखरी पृष्ठ
निर्माय तदावच्छादनायोपरि तृणादिनिर्मितमिच्छाप्रस्तरादिनिर्मितं वा च्छादनम्
छप्पर इति वा माध्याया प्रसिद्धं, स्तम्भाश्रेषु निघत्ते तथा भक्त्यापि च्छादनरूप
भूमण्डलमिदं स्वयमेव वराहरूपेण च्छादुद्भूतस्य पातालस्य च्छादनीयं शेषताम
रूपस्य स्तम्भधिरनु निहितम् ।

३५

भगवन् ! यत्निर्गुणं सांख्यादिभिः प्रतिपादितं पूर्वमुक्तम्, यच्च सर्वनियामक
जगत्सृष्ट्युत्पत्तिरिदम् पद्ये निरूपितम्, तस्य तस्य च महत्त्वं को ननु ज्ञातु
मा समर्थः, न कोऽपि तज्ज्ञानाति, न च वस्तु शङ्कनोति ।
एकत्र गुणामात्रेण वाङ्मनस्योरप्रवृत्ते, अपरत्र च गुणानामानन्त्येन कृत्स्नपरिच्छे-
दासम्भवात् । आस्ता तद्रूपद्वयम्, परं मनुष्यरूपणावतीर्णस्यापि ते गुणा
सुरासुरातिशायिनः, अगस्तिश्चेत्या एव । एतेषामेव च स्मरणेन गानेन च भक्ता
भवाब्धिं तरन्ति ।

उदासितार निःपृहीतमानसैर्गृहीतमध्यात्मदृष्ट्या कथञ्चन ।

बहिर्विकारं प्रवृत्ते पृथग्विदुः पुरातनं त्वां पुरुषं पुराविद ॥ ३३ ॥

निवेशयामि सिधं हेन्योद्भूतं पणभृतां च्छादनमेकमोक्षस्य ।

जगत्पैक्यस्थयस्तिस्त्वमुच्चकैरहीश्वरस्तम्भधिरनु मूलम् ॥ ३४ ॥

अनन्यगुणोत्तमं केन केन पुराणमूर्तेर्महिमाऽवगम्यते ।

मनुष्यजन्माऽपि सुरासुरान् गुणैर्भवान्म-उद्देकरैः करोत्यथ ॥ ३५ ॥

३६

भगवन् ! भाराकाताया पृथिव्या भारापनयनेन लघूकरण तत्रावतार-
रथोद्देश्यम् , परमह त्रिरीत पश्यामि, मवानिदानो भुवि स्थितोऽसि, भवतश्च
कुक्षौ त्रिलोकी निष्ठति, तदा प्रभेदीयं लोकत्रयाधयाभयभूता सर्ता कथं लघुर्जाता,
प्रस्तुतातिशयेन भाराकाता जातेति समाश्र्यते । पक्षे गुरुशब्दस्य पूज्येत्यर्थं , तेन
लोकत्रय दधानोऽपि भवान् पृथिव्या स्थित इति पृथिव्या पर पूज्याय तस्या
सपादितमिति मुरयोऽभिप्राय । तेनैव विरोधपरिहार ।

३७

भगवन् ! कृष्ण ! त्वं पृथिव्यामवतीर्णोऽसि, अत एव मादृशा अपि साधारणा
जना स्वच्छुषा भन्त द्रष्टु प्रभवो जाता स्वे महिम्नि स्थित तु त्वां वशीकृत
चित्ता योगिनोऽपि सम्यग्द्रष्टु न शक्नुवन्ति, किं पुनर्मोदशा । यद्यपि नारद
परमो योगी, तथापि त्रिनयप्रदशोनायं स्वस्य साधारणत्वमुक्तवान् । न केवलं जगत
परिपथिनां नाद्य एव तवावनारथोद्देश्यम् , अपि तु भक्तान् दर्शनदानेनानुपेक्ष
स्वरिमस्तेषां चेत्त आकर्षणमपीति ।

३८

यया सूर्यस्यैव नैशतमोऽपठारणे सामर्थ्यम् , नायस्य, तथैव जगदुपद्रव
कारिणामुद्धतानां यत्नाधिकानां दुष्टानां शासने तेभ्यो जगता रक्षणे च तथैव सामर्थ्यम्
नान्यस्य । तेषां मदोद्धततया इन्द्रादिभिः शान्तिप्रशङ्कपरत्वात् । ननु तथापि
जगदीश्वरेण किमिति ते शासनीया , तस्य द्वेषामाव दिति, तत्रोक्तम्—विश्वम्भर
इति । विश्वस्था तव स्वभाव , ततो विश्व पीडयन्त शासनीया एव तथेति ।

३९

भगवन् लोक 'कसाद्यासवया इता' इति १ । स्तौति, परमह तु न तन्मू
ष्यामि, यतो हि मत्तगजगण्डविदारणदक्ष कसरिण यदि कश्चिद् 'मृगहन्तायम्' इति

लघूद्धरिष्य नतिमारमद्गुरामम् किल त्वं त्रिदिवातर ।

उद्दूलोकयितयेन साम्प्रत गुरुर्धरित्रीं किनतेतरा त्वया ॥ ३६ ॥

निजौजसोन्नासयितुं जगद्द्रुहामुपाजिहीया न महोत्तलं यदि ।

समाहितैर्यनिरुन्निस्तत पददृश त्वा कथमीश ! मादृशान् ॥ ३७ ॥

उपप्लुत पातुमदो मदोद्धतेस्त्वनेन विश्वम्भर ! विश्वमीश्वरे ।

श्रूते रवे धालयितुं क्षमेन च जगतमस्काण्डमन्येनस नम ॥ ३८ ॥

करोति कसादिमहीभृतां कषाब्जनो मृगाणामिव यत्तव स्तवम् ।

हरे ! हिरण्यशपुर वरामुरद्विषद्विष द्रष्टुत सा तिरस्क्रिया ॥ ३९ ॥

स्तुवीत, तर्हि न सा सिद्धस्य स्तुतिः प्रत्युत अपमानस्तस्य । तथैव येन स्वया
दिरण्याक्षप्रभृतयो दैत्या इताः, तस्य कंसादिद्वयेन का स्तुतिः । (इरण्याक्षप्रभृतयो
मत्तगजेन्द्रतुल्याः, तदग्रे कंसाद्या मृगतुल्या एव) प्रत्युत अपमानमेवेति ।

४०.

इदानीं नारदः स्वस्यागमनप्रयोजनं विवरीतुमारभते । नारदो हि शिशुपाल-
हननाय इन्द्रस्य सदेशं वक्तुमागतः, तत्र वक्तव्ये भूमिकाप्रारम्भयति-भगवन् ! यदा
त्वं विनेव कश्यपिप्रेरणा स्वावतारप्रयोजनं पूरयितुं दुष्टानां हननं क्रमेण यथावसरं
कुर्वन्नेवासि, न हि तत्र ते भ्रमोऽपि भवति, एवमिष्टानां कार्याणां तव लीलामात्र-
त्वात् ; ततश्च स्वयंप्रायमेव स्वा प्रति दुष्टहननप्रार्थनम्-इति मम बाहु विप्रपे-
णमात्रं स्यात् । परमनेनैव व्याजेन कियन्तं कालं स्वया सहालापगोष्ठीप्रमोदः
स्यादिति तत्र लुब्धं मे मनो मा कथने प्रवर्तयत्येव । क्रमेणैतदुक्तम् अथ सराप्राप्त्यै-
वाद्यावधि शिशुपालो न हतः, न तूपेक्षयेति सूचितम् । वाचालतया युनक्तीत्युक्त्या
वाचालता मम न निषर्गविदो घमः, अपि तु लोलुपेन मनसैवेदानीं संपाद्यते इति
सूचितम् । तेनालापगोष्ठीमहत्त्वं व्यञ्जितम् ।

४१.

भगवन् कृष्ण ! पूर्वोक्तात् त्वद्गोष्ठीविनोदरसिकत्वाद् हेतोरिदानीमहमिन्द्रसंदेशं
ब्रवीमि । तच्च मे वाक्यं नेन्द्रस्यैव स्वायंसाधकम्, अपि तु लोकहितकरम्, संक्षेपेणैव
च स्वल्पेन कालेन मया वक्ष्यते । भवतश्चेन्द्रोपरि तथाविधा कृता, यया तत्कार्य-
साधनाय तत्कनिष्ठारम्भः भवता कश्यपदिदित्या प्रादुर्भवता स्वीकृतम् । सततं च
तस्य सर्वाणि कार्याणि भवतैव निभूतानि । तस्मात्तत्संदेशकश्यमधुनाप्यवधानेन
श्रोतव्यमेवेति ।

४२.

‘शिशुपालो हन्तव्यः’ इति नारदस्य सदेशः प्रियः ; तदुपयोगितया शिशुपालस्य
प्रदत्तत्वस्यापनाय नैषर्गिकौदतरयापनाय च तदीयं पूर्वजन्मद्वयवृत्तमप्युपन्यस्यति
नारदः । तत्र प्रथमं जन्माह-पूर्वस्मिन् हि कृतशुभे कश्यपाद् दित्या इरग्यकशि-

प्रवृत्त एव स्वयमुच्छिन्नभ्रमः क्रमेण पेष्टुं भुञ्जन्निपासति ।

तथापि वाचालतया युनक्ति मा मिषस्तदाभाषणलोक्ष्य मन ॥ ४० ॥

तदिन्द्रवदिदंमुपेन्द्र ! यद्वचः क्षणे मया निश्चिन्नीगमुच्यते ।

सप्तस्तकाद्येष्टु गतेन धुर्यतामदिदिपस्तद्वक्ता निश्चिन्ताम् ॥ ४१ ॥

अभूदभूमिः प्रतिपक्षजन्मनां भिक्षा तन्वृत्तपनयतिदिते ।

यमिन्द्रशब्दार्थनिपूदनं हरेर्दिरण्यपूर्वं कशिपु प्रवक्षते ॥ ४२ ॥

पुरिति ख्यात एको दैत्योऽभवत् । सूर्यस्येव तस्य तेज आसीत् , शत्रुशत्रुत्वं तस्य कदापि न जातम् । इन्द्रस्य हि परमैश्वर्यं यद्यपि नैसर्गिकम् , यत एव तदिन्द्र इत्यभिधाने प्रवृत्तिनिमित्ततां गतम् , 'इदि परश्वर्ये' इति घातुना इन्द्रशब्दस्य अनुत्पादनात् । मन्वेन पूर्वं परमैश्वर्येणोन्द्र कदापि विरहितोऽभूत् । पर हिरण्यकशिपुना तत्परमैश्वर्यमपहृतमेव । तेनैव हिरण्यकशिपोरसाधारणं प्राबल्यं प्रकटीकृतम् ।

४३.

अनेनैव हिरण्यकशिपुना देवै सह द्वेषं कुर्वता मत्सरं पूर्वं प्रकटितं , नेतृत्वं कश्चिदपि तस्मिन् युगे मत्सरोऽभूत् , रागद्वेषरक्ष्या एव प्रजा आदिषुगे उत्पद्यन्ते इति । किं च असुर इति शब्दमात्रं यद्यपि सुष्टेरारम्भात् प्रवृत्तमासीत् , पर विरकाल्पपर्यन्तमय शब्दो रूढ एव गण्यते स्म , हिरण्यकशिपुस्तु सुरविरोधात् , सुराणामसनात् स्थानमयं क्षेपणं निष्कासनाद्वा असुरशब्दस्य मुख्यार्थताम गमत् । यद्वा—इतः पूर्वमसुरशब्दस्य प्रवृत्तिरेव नासीत् , अयमेव सुरविरोधात् प्रथममेव असुर इति ख्यातिं गतः , सोऽयं सुरविरोधश्चिरकालपर्यन्तमनेन दैत्यकुले प्रचारितः , ततः प्रभृतं सर्वेऽपि दैत्या देवविरोधम् चक्रुः । किं च देवानां मनस्तु कदापि ततः पूर्वं कुतोऽपि मय नासीत् , अनेनैव प्रथमं देवान् पराक्षित्य तेषां मनस्तु प्रथममेव मय स्थापितम् ।

४४.

सुरदस्तथा तस्मिन् हिरण्यकशिपौ समाभिता अनुमूयन्ते स्म , यथा लोकैः 'भर्य सर्वांस्तथापि यत् इष्टां वलानुरागादेवैतदाभयं भीमि स्वीकृतं , ननु बलेनापहाराद्' इति प्रतीयते स्म । भीषु स्त्रीत्वमत्रारोप्यते , जियश्च रागद्वेषा एव सुखं निःसृज्यते , बलद्वारास्तु अस्थिरा भवतीति सपदा सुस्थिरतामालोक्य रागद्वेषमुप्रेक्षितम् । यतश्च यत्र पूर्वं भियो न्युषुः , तान् चतुरो दिगोशान् परित्यज्य तदाभयस्तामिहररीकृतं , ततः एव लोके भिया चलेत्प्रवादः प्रवृत्तोऽभूत् । स चायं प्रवादः भियामकीर्तये , स्त्रीणां परपुरुषाभयप्रयोजकं चाञ्जल्यं सर्वथाप्यकीर्त्तिकरं भवतीति । इतः पूर्वमिन्द्रादिषु लोकपालेभ्योसाधारण्येन भिया निवास आसीत् , हिरण्यकशिपुना सैषा लोकपालानां धोरपहृता इति तात्पर्यम् ।

समन्तरेणाऽसुर इत्युपेयुषा चिराय नाम्नः प्रथमाभिधेयताम् ।

भयस्य पूर्वान्तरस्तरतिक्ता मनस्तु येन द्युसदां न्यधीयते ॥ ४३ ॥

दिशामधीर्धाम्न्यो यत्र सुरानपास्य तं रागद्वेषा सिधेतिरे ।

अवापुरारभ्य तनश्चन इति प्रवादमुच्चैरयशस्करं भियः ॥ ४४ ॥

४५

हिरण्यकशिपो पूर्वं देवानां पुरैरायुधै सैन्यैर्लोहवर्मभिर्वा निमिषि प्रयोज्य नासीत् शत्रोरभावाद्रक्षार्थमप्रवृत्ते । तस्मात् केवलमैश्वर्यप्रापनाय, स्वरूप सीन्दर्य-वर्धनाय, आधिपत्यादि स्वत्वाधिकृतपदप्रतीक्षणाय वा तैरेतानि कश्चिद् विप्रगते स्म । हिरण्यकशिपुस्तु यदा तान् बाधितुं प्रवृत्तः, तदा एषां स्वरूपशोभास्थाने रक्षा मुख्य प्रयोजनं बभूव, इति तदनुकूलार्थं तानि तानि दस्तूनि तथैव सै सञ्जीकृतानि । पुराणि दुर्गरूपता नीतानि (केचिन्वाहुः पुराणा स्वरूपशोभैक पल्लवश्च न सम्भवति, शत्रोरभावेऽप्यन्तस्तत्तेषां शीतोष्णादिनिवारणार्थं वात् । तस्मद् दुर्गाणि पुराणि चक्षिरे इति वैपरीत्येन व्याख्येयम् । दुर्गाणां पूर्वं प्रयोजन नासीद्, इदानीन्तु मयात्ता-येव वसतिरूपाणि कृतानि, तत्रैव निवास देवाश्चक्रुरिति) शस्त्राणि तीक्ष्णता नीतानि, सेनासु शूराः सनिवेशिताः, लोह वर्माणि च दुर्भेद्यानि परिधीयन्ते स्म इति । इत्थं तद्भयाग्निप्रसन्नदा देवाः च प्रतिस्म ।

४६

देवास्ततो दैत्यादेव भीता बभूवुः यद्यत्र तस्य दर्शनम्, यस्मिन् स्थाने वा तस्य स्थितिः, तत्र तद्वन्दनविषये तु वृत्तव्यमेव हिम्, किन्तु सत्वरणशीलतया स्वैर वृत्त्याऽपि स यस्या दिशि जगाम, तस्यै दिशि अपि देवास्तिसृष सन्ध्यासु शिरसि बद्धाञ्जलयः प्रणमुरिति न, किन्तु तत्सन्ध्याप्राप्तगौरवा ता विश्वमपि प्रणमन् । तदपि नैकवारम्, किन्तु प्रत्यहं तिसृषु सन्ध्यासु । सन्ध्यासु इत्युक्त्या सन्ध्यावन्दनकालेऽपि विद्वन्निष्ठमप्यस्य तदधिष्ठिता दिग्देव प्रणम्यत स्म इति बोधितम् । शूलशक्रेरिति युक्त्या प्रणामे सञ्जमो व्यञ्जितः । मुकुटोपलसलत्करैरिति च मुकुटमणीनामपि विस्मयन पतनादाववधानं नास्ति, भयाधिक्यादिति ध्वनितम् । यस्यां दिशि सूर्यो भवति, तद्दिग्भिमुखः देवमनुष्याः सन्ध्यासु सूर्ये प्रणमन्ति, एतदाभिता तु दिग्देव प्रणम्यते स्म । किं च सूर्यस्य तत्तादृगवस्थानं नियतम्, अथ तु स्वैर-तां, यद्येव यस्यां कस्या मपि दिशि निहरतीत्यादिना सूर्याद् व्यतिरेको व्यञ्जितः ।

४७

भगवन् कृष्ण ! तस्य हिरण्यकशिपोर्विनाशाय तस्यैव नृसिङ्गरूपं धृतम् । तद्वि

पुराणि दुर्गाणि निशातमायुधबलानि शूराणि वनाशकञ्चुकाः ।

स्वरूपशोभैकनलानि नाकिनां हृण्येयमाशङ्क्य तदादि चाक्रे ॥ ४५ ॥

स सत्वरिष्णुमुक्त्वा तरेषुया यद्वन्द्याऽस्ति श्रियतामस्य श्रियः ।

अकारि तस्यै मुकुटोपलसलत्करैस्त्रिसन्ध्यं विदशैर्दिशो नमः ॥ ४६ ॥

सदान्ताभिजघ्नेन विभ्रता नृसिंहः । सैह्यमननु तनुः तया ।

स मुग्धकान्तास्तनसङ्गमद्भुरैरुविदारः प्रतिचक्षरे नलैः ॥ ४७ ॥

तव रूपमतिविशालं मयङ्कर आसीत् । यस्य सिंहरूपस्य स्कन्धस्थितानां केशराणां
सघर्षेण मेघा अपि निदीर्घा बभूवुः । तेनैव रूपेण नखैर्वंधो विदार्य ॥ दैत्यस्त्रया
हत । अहो ! ये ते नखा विलासे कान्तानां कटारस्तनविमर्दनेऽपि ध्रुवन्ति
(७३) भवन्ति वा) तैरेव ७३ शरस्य तस्य दैत्यस्य बन्धो विदारितमिति विलक्षणस्ते
महिमा ।

४८

अथ तस्य द्वितीयः सर्गः प्रस्तुते । यद्यपि द्विरण्यकशिपुना देवैः सह बहवः
संप्रामा कृता, तथापि तस्य भुजयो रणकण्डूतिर्न शान्तिं गतेति मन्ये । नृसिंहनष्टै
रपि न कण्डूस्पन्दनेत्याश्चर्यं द्योतयति कविः । गच्छति क्षयस्तत्र हेतुः । तत्र एव स
पुनर्देवैः सह योद्धुं रावणं नाम्ना पुनर्जन्म गृहीतवान् । अस्मिन् जन्मन्यय पूर्वा
पेक्षयाऽप्यधिको मयङ्कर आसीत् । अनेन स्वर्गस्य रक्षेव विभता । देवसर्वस्वमप
हृतमिति याचते ।

४९.

सोऽयं रागे लोकप्रयापिषट्त्रिंशत्प्राप्तये भगवतः शिवमाराधयत् । तदाराधने
चैतावताहस्य कृतवान् यत् स्वस्य शिरसि कर्तुं कर्तुं पुण्यरूपेण शिष्याय न्यवेदयत् ।
इदं चानिमहरकर्म न तेन फलप्राप्तिश्चित्तमनिर्वेदात् कृतम्, अत्र तु भगवति शिवे
प्रेमातिशयात्, स्वस्य साहसैकरसत्वाच्च । नव शिरसि निवृत्त्य यदार्पितानि, दशम-
मपि च कर्तुमुद्यतोऽभूत्, तदा तुष्टः शिव इष्ट लोकत्रयोपपदाधिपस्य वरमस्मै
प्रायच्छत् । किन्तु तं प्रसादमप्ययं स्वसाहसे विघ्नमिनामन्यत । ‘मया दशम शिर
श्छेत्तुं न पारितम्, कुतो मध्य एव भगवता प्रसादं कुर्वता ममेच्छं या विघ्न
उत्पादितः’ इति ।

५०.

महादेवाद्भिरप्य भुजबन्धनेन रावणेन कैलासरवंत एव लङ्कां नेतुं समु
त्थायित । तत्र निगूडमुप्रेक्ष्यते—यद्रावणे दं कर्म शिरस्य प्रत्युपकारविकीर्षया

त्रिनोदमिच्छन् दर्पजन्मनो रणेन कण्डूशस्त्रिदशे सम पुनः ।

स रावणो नाम निकाममर्षिण बभूव रथ क्षतरक्षणं दिवः ॥ ५८ ॥

प्रमुर्तुमूढमुंवनवयस्य यः शिरोऽतेरागादशमं चिकर्तिषु ।

अतर्कपद्मिघ्नमिवेष्टसाहसं प्रसादमिच्छावृद्धं विनाकिनः ॥ ४९ ॥

समुत्थितः यः पृथिवीभूतां वरं वरप्रदानस्य चकार शूलिनः ।

वसन्तुपाराद्रिमुताम्वममस्वयङ्महावनयमुनेन निष्कामः ॥ ५० ॥

कृतम् । रावणो हि मनस्वी न योऽप्यदैन्यं सहते, ततश्च शिवेन यदस्मै त्रैलोक्याधिपस्य दत्तम्, तस्य मूल्यमनेन दाढ्यमेव । यदा चानेन कैलास उरगठितः तदा अकस्मादुशातशङ्किन्या पावत्या मयमभूत्, भीतनया च तया लोहभावेन भगवान् शिव स्वयमादिभ्यः । तेन शिष्यस्य यस्तुल्यमभूत् तत् त्रैलोक्यराज्यमाप्तेरप्यधिकमिति तेन रावणस्य प्रतिदानं सिद्धमिति ।

५१

भगवान् शिवोदरं प्राप्य स्वर्गं नेतुं रावणेनेन्द्रोपयोक्तव्यं कृतम् । तदा चैक-
हेलयेव तेनामरायती देवपुरी समाक्रम्य अस्ता, नन्दनं देवान् अभिषू, रत्नानि
हृतानि, देवाङ्गनाम् हृता । युगपच्चैव कुम्भेन स्वर्गं महातुण्डेन प्रादु-
र्भाषितम् ।

५२

रावणात्तराजित इन्द्रः कदाचिदैराकृतं गजं कदाचिदुन्ने भवसमर्थं च समाह्वय-
यदा समरात्पलायितोऽभूत्, रावणश्च तं ग्रहीतुं पृथगतोऽनुदुद्राव, तदा रावणमया
दक्षिणीम् यात्रामिदं द्रव्याभिरुपभाषीत् । मन्दगमने रावणो पृथीत्या रोस्य
तीति । ततश्च यद्यप्यैराकृतं उन्ने भवसमर्थं त्रिभिधा विलासगतोर्नानाति, परमिदं द्रव्यं
तदा तासु गतिष्वनुरागो नाभूत् । अलं तयो लोभगमनमेव तस्येवमासीत् ।
भयेनोद्दिग्न्नादिनि । यने द्वेण यथाया असुरा नाशिता, सोऽपि रावणादेव
भीत इति रावणस्य मावल्यातिशयोक्त्यस्य शत्रुरित्यनेन व्यञ्जते ।

५३

इन्द्रस्य रावणात्तया मयमाधीद् यथा रावणस्य दक्षानमपि तस्योद्वेगकरं यभूत् ।
तस्य दर्शनाय तन्नेत्रयोर्धैर्यं नासीत् । तन नाहं रावणं पश्येयम् न वा रावणो
मो पश्येदिति, स मरोर्गुहायामन्तेर्निवासं कृतवान् । तत्रापि च भयेन ययमानं
प्रासीत् । यथा उलूखः सूर्यस्य दर्शनं कर्तुं न शक्नोति, (तस्य नेत्रयोस्तद्दर्शनं
शक्तिर्नास्ति) इति दक्षानं परिहरन् दिवसं पर्वण्युद्गाह्यं तस्तिष्ठति, तद्वदेवेति ।

पुरीमवरकं द लुनीदि न दन मुषाण रत्नानि हरात्तरं ज्ञना ।

विप्लव्यं चक्रे नमुचिद्विपा वली य हत्यमस्व स्यमहर्दिव दिव ॥ ५१ ॥

सलील्यातातान न मर्गुरभमोर्न चित्रदुन्ने भवस पदक्रमम् ।

अनहुतं सयति यन केवलं चलस्य शत्रु प्रसद्यत शीघ्रताम् ॥ ५२ ॥

अशक्नुवन् स कुम्भोदरस्थोचनं सहस्ररसमेविव यस्य दर्शनम् ।

प्रविश्य हेमाद्रिगुहादृष्टात्तरं निगाय विभ्यदिवसानि कौशिक ॥ ५३ ॥

५४

न केवलमिन्द्रस्यैव दुर्दशानेन रावणेन कृता अपि ॥ अन्येऽपि परामृता ।
तथा हि यदानेन जगद्यमुस्वमधिकृत्य सुरैर्द्वेष आरब्ध तदा सुखसंपातिना
विष्णुनाप्यनेन सह सग्राम कृत, तत्र च सुदर्शनं चक्र तेनास्य शिर कर्तितुं
क्षिप्तम् । यद्यक्त कदाचिदपि क्वचिदपि मोघं न दृश्यम्, तदेवास्य ग्रीवा प्राप्य
नैषल्यमलमत । शिरश्च निष्ठुरा राक्षस्य ग्रीवा, चक्रस्य सधर्षात् प्रस्तरादिव
सतोऽग्निवक्त्रा निष्पेतु, न तु चक्र ता कर्तितुं समर्थमभूदिति ।

५५

हृदानीं कुबेरपरामर्शो वर्ण्यते—यथा कश्चिन्मत्तो हस्ती मानसाख्यमतिविशाल
कुबेरस्य सर प्रविष्य भूयोभूयस्तद् विधोमयेत्, तथा रावणेन कुबेरस्य मानस
(मन) भूयो भूयस्त्राशकुलमक्रियत् । हस्ती हि शिरसि शङ्खान् भिनत्ति, रावणेन
च कुबेरस्य शङ्ख एव परमो निधिर्मन—नाशित । (कुबेरो हि देवानां निधेर
पिप, निधेर्नामसु शङ्ख इति परमो निधिरन्यते एकदशघटादिषु गणिताङ्केषु शङ्ख
इति चरमा घटया सहकृते, तत्परिमितो निधिः शङ्ख । रावणेन कुबेरस्य निधिरप
हृत इति शङ्खो मित्र इत्युक्त्या तथा कुबेर परामृतो यथा त मनसापि शङ्खात्सो
निधिर्विस्मृत न तन्मनस्यपि शङ्खस्य पुन प्राप्तोराशाऽवशिष्टमभूदिति द्योतितम् ।
किं च हस्ती मदननेन सर कलुषता नयति, रावणेनापि कुबेरमानस मदेन
कलुषतां नीतम् । य एव कुबेरस्य मद इत पूर्वं चित्तममुनतेहेतुरभूत्, स एव
परामर्शे सति चेत कलुषीचकार, ‘अहो ईदृशोऽदमप्यनेन परामृत’ इति विरोधेन
खेदोदयात् । हस्तिना चालोदयमानस्य सरसो गाम्भीर्यमवयाति, यदेव सरो जनैर
गा गमिति मन्यते, तस्यैवाकिलतो दृष्ट्वा गाधता सर्वेऽपि खानन्ति । रावणेनापि
कुबेरमनसो गाम्भीर्यं नामाविकारित्व दूरीकृतम् । कुबेरचेतस्यपि अधैषल्येणा
विकारता सर्वदृष्टा । किं च हस्ती सरस पुष्पाण्यवहरति, रावणेनापि कुबेरस्य
पुष्पकमण्डितम् । (अत्रापि कुबेरमनसोऽपि पुष्पकमण्डितमिति व्यङ्ग्यं पूर्ववदनु
संधेयम्) । कुबेरो हि महामहिमशालीति तस्य मयाभावसमाश्रया समुदयेत,
तन्निरसनाय नञ्प्रत्ययः । कदाचित् शङ्खो मित्र कदाचित् पुष्पकमण्डितम्—इत्येव
मादिरीत्या भूयो भूय प्रक्रमयन् सम्यक् निबद्धम् ।

नृह-उलानिष्ठुरकण्ठघटनाद्विकीर्णश्रोत्राग्निवक्त्रं सुरद्विष ।

जगद्यभोरप्रसहिष्णु दैष्यव न चक्रमस्याक्रमताविचरम् ॥ ५४ ॥

विभिन्नशङ्ख कलुषीमन्मुहुर्मुदेन दन्तीव मनुष्यधर्मण ।

निरस्तगाम्भीर्यमपास्तपुष्पकं प्रक्रमयामास न मानस न स ॥ ५५ ॥

१६.

वक्ष्योऽप्येवं पराभूतः । संग्रामे यदा वक्ष्येन स्वीयो नागपाशो रावणं बन्धु-
क्षिप्तं, तदा रावणेन उक्तोर्ध्वं हुंशब्दं कृतं । तेन भीता नागा रावणस्य समीपं
गन्तुमशक्नुवन्तः परावृत्य वक्ष्यस्यैव कण्ठे पतितस्तमेव वदन्धुः । अमोघानां तेषां
कचिच्छापल्यस्यावश्यमावात् । अनेन रावणस्यालौकिको महिमाविभूतः, दिग्धा-
न्यानुधान्यपि ततो भयमासादितवन्तीति ।

१७.

यमपराभवो दृश्यते—यदा स्ववाहनं महिषमाह्वय यमो रावणेन युयुधे, तदा
तं पराक्षित्य रावणेन विचारितम् 'एतन्महिषस्य शृङ्गयोर्धनुः श्रेष्ठं निर्मादेत, विष्णोः
शाङ्गं धनुः श्रूयते, ममापि तथास्तु' इति । इत्थं विचार्य तेन यमवाहनस्य महिषस्य
शृङ्गमण्डलमुत्पातितम् । यद्यप्येव शृङ्गभारापनयैव महिषस्य शिरः सुरिधतं मुपगतम्
मवेदिति संभावितमासीत् परं लज्जारूपो मारस्तथा तच्छिरसि पतितः । येन तत्पूर्वा-
पेक्षयाप्यवनतमभूत् । कृच्छ्रेण च धारण महिषेणाकियत् । 'पराभूतस्य मे धिक्
शिरः प्रदर्शनम्' इति तन्मनसि निवेदोदयात् ।

१८.

'तेन पराभूतो भीतः सूर्योऽपि तदनुगतिं चक्रे' इत्युच्यते । ग्रीष्मेऽपि काले
तदन्तःपुरे सूर्य उद्गच्छन् तपति स्म, रावणस्य अधूना तापानुभवो मा भूदिति ।
किन्तु स्वस्वभावोऽपि यथा न विरोधित स्याद्, रावणस्यापि च यथा प्रियं भवे-
दिति विचार्य भीतमीतः । कथंचिरिदृश्यैस्तथा तद्वधूं स्पृश्यति स्म-यथा स्वेदकणः
मौक्तिकवत्तच्छरीरभागान् मण्डयेयुः, तापानुभवश्च कथंचिदपि तासां न भवेदिति ।
अत्र च पक्षे राजादरोवे प्रसाधकस्य पुरुषचिरेषस्य वृत्तान्तोऽपि हिलष्टैः विशेषणैः
प्रतीयते, स हि शुचौ समये पवित्र आचारे स्थितोऽपि भूषणार्थं मया स्पृश्यमानानि
वधूनामङ्गानि हृष्ट्वा प्रभोर्वधूनां वा अविधासो मा भूदिति मीन एव पूर्णं करस्पर्श-
मङ्गलस्यैव चतुर्थेण मौक्तिकैः धूनां मण्डनं करोतीति ।

रणेषु तस्य प्रहिताः प्रचेतसा सरोषहृच्छारपराह्मुन्मोहताः ।
प्रहृतेरवोरगराज्रज्जलो ज्वेन कण्ठं समयां प्रपेदिरे ॥ १६ ॥
परेतमर्तुमंदिषोऽमुना धनुर्विधातुमुखात्त्रिपाणिमण्डलः ।
हृत्तेऽपि भारे महत्स्वपामराधुवाद दुःखेन मृत्तानतं शिरः ॥ १७ ॥
स्पृशन् सद्यङ्गः समये शुचावपि स्थितः कराग्रैरसमप्रपातिभिः ।
अघमं धर्मोदकविन्दुमौक्तिकैरलङ्कारास्य दधूरहस्करः ॥ १८ ॥ २

स्यु, पर रावणेन न तस्यापराधोऽपि पच्ये गणित इति देवेषु दण्डोऽपि न पातित, इयमेव देवेषु मरुतोऽनुकम्पाऽभूत्, यत्तेषां दण्डन नामूदिति ।

६२.

अग्निपराभव आख्यायते । यद्यप्यग्निरतितेजस्वी, तथापि रावणस्य लोकाति-
शायिनस्तेजसोऽप्ये तस्य तेजोऽमिमूतमिति परामव्योकेनाग्निं कृशतां गत, द्योक्-
कनितैरभुमिध धूममण्डल तस्य प्रवृद्धम्, तथा च तदग्नेऽग्निर्न प्रचण्ड ज्वलति स्म,
धूमायमान एव दृश्यते स्म ।

६३.

सर्वा अपि रावणमयात् स्वैय संप्रवेष्ट नर्पधर्मं च विहाय मनुष्यवद्विग्रहं
विधाय विचेष्ट । द्विजिह्वा, कुटिला गति मुञ्जगमन, कर्णाभाक्च तेषां शारीरा
धर्मा, ते तैस्तदक्ता, मनुष्यवद्विग्रहो घृत । दर्शनेन परस्य मर्मणि विष सक्रमय
तन्मारण तेषां जातिधर्म, सोऽपि ते परित्यक्त, न कम्पि सर्वा दहन्ति स्मेति ।
अत्र पश्ये संपर्कानपरे विशेषणसाम्यात् खलुचमपि प्रतीयते । खला अपि स्वौयेन
चिह्नतादायेग प्रमुच्यते तत्तदुच्यते च सस्य परस्य मर्ममुकुलाचारमतादिषु
प्रहरन्ति तानि दूषयन्ति, कुटिलं व्यवहाराश्च भवन्ति, परस्त्रीषु प्रवृत्तिरूप किंवा च
तेषां स्वाभाविकम् । तानेतान् दोषान् रावणमयाद्विहाय यथेष्ट व्यवहारेण च तेऽपि
शृङ्खलो बन्धुः । रावणेन खलानामीद्याना निमन्वार स्धारिता, तद्व्यगारस्ते न
कदाप्यन्यथाकर्तुं प्रवभूवुः ।

६४.

देरावतादीनां दिग्गजानां पराभव उपेक्षामुलेन वर्ण्यते । नन्वेते गजा वदा
दिद्यामन्तेष्वेव स्थिता भवन्ते, न कदाप्यत्रागच्छन्ति, न च कस्यापि दृष्टिपथम-
तरन्तीति को हेतुः । एवं सम्भाव्यते रावणस्य गणधराभिरेते सपत्न्ये कथयिता ।
तत एव पराभवदु स्तेन एषां नद्वज्जलमपि शुद्धम् । मयाच पलायिता एते दिगन्तान्
भिता । तथा च भयं जग्मू, यद्यपि न निवर्तते । अत एव नामसाकश्य-

त्रिरुत्तरस्तस्य जनामिभाविना मुहुर्माहिम्ना महसां महोयसाम् ।

बभार वायुर्द्विगुणीकृत तनुस्तपाद्भूमवितानमाधिवै ॥ ६२ ॥

परस्य मर्माविधमुच्छतां निज द्विजिह्वादीपमबिहगामिभिः ।

तमिदमारुहयितुं सकृद्वै कुलैर्न मेने कणिनां मुञ्जकृता ॥ ६३ ॥

तदीयमात्तङ्गधराभिधितै कटस्थलप्रोषितदानवारिभिः ।

एतैरदिवचैरपुननिवर्तिभिश्चिराय यथार्थमलम्बि दिग्गजे ॥ ६४ ॥

मेमिल्लंघम् । दिगाग्रिताः राजा-दिग्गजाः-इति दिगाग्रयणेन नाम्नोऽनु-
गतायता जाता ।

६५.

रावणः सततं गवोष्मणामिपरीतः, तस्य चोष्मशान्तिर्न चन्दन-मलद्रंताल-
वृन्तपवनैर्बभूव, अरि तु वन्दीकृतानां सुरस्त्रीणामुष्णोष्णैर्निश्वासमाकृतैर्बभूव ।
निधसतीः शत्रूणां स्त्रियो हृष्टा तस्य मनसि कापि शान्तिरुदियायेति । गर्विष्ठानां
स्वभावविद्वदपिदम् यत्ते पीडितान् हृष्टा कम्प्यानन्दं विन्दन्तीति ।

६६.

षड्दशु त्रये कुसुमसम्पत्तिर्भवति, त्रये च न, परमृतुभिरपि रावणस्यानुगतिः
कर्तव्यासीदिति कुसुमवता त्रयेण कुसुमाभाववत्त्रयं स्वरवरूपेऽनुप्रवेशितम् । वर्षास्तु
कुसुमसमृद्धिः, ग्रीष्मे च नेति वर्षा ग्रीष्मेण संगताः, तथैव पुष्पसमृद्धिमती
शरद् हेमन्तेन, तथाभूतो वसन्तश्च शिशिरेण सङ्गतः, एव च रावणस्य पुरे सर्वेषु
श्रुतषु पुष्पादिसमृद्धिरविच्छिन्नासीत् । सततं च श्रुतव इमे नगरवासिन इव
पूर्णसमृद्ध्या लङ्काया न्यवारुः । इह एकैकस्य श्रुतोर्नाम पुंलिङ्गमभिहितम्
तत्सङ्गतस्यापरस्य च स्त्रीलिङ्गम्, तदर्थमेव पुंलिङ्गस्यापि वसन्तशब्दस्य लक्ष्मी-
शब्दसामानाधिकरण्यां प्रकल्प्य स्त्रीत्वमुपकल्पितम्, तत्रापि न पुष्पादिसमृद्धिर्ना
सुकुमाराणां स्त्रीत्वम्, कर्कशप्रापणाच्च पुस्त्वं विन्यस्तम् । प्रसूतशब्दश्च पुत्रं
स्मारयति, तेन कृतविवाहा इमे पुत्रपौत्रादिकुटुम्बश्रृङ्गादयन्तस्तत्र निवसन्ति स्मेति
सचमाकारं स्थिरनिवाहिता सिध्यति, सोऽयमर्थः-वासतया कुटुम्बिता ययुस्त्रिपनेन
स्फुटता नीत इति गुणीभूतव्यङ्ग्यम् ।

६७.

भगवन् कृष्ण ! यदा भवान् अमानुषोऽपि अजन्मापि देवैरभ्यर्थितस्तस्य
रावणस्य वधाय मायामधिष्ठाय वैश्वतस्व मनोर्वशे समवतीर्णस्तदा रावणो भव-
त्प्रियां जानकीं जहार । भवतामियुक्तञ्च स सर्वैः प्रबोधितोऽपि तां न प्रयापयत् ।

अभीक्ष्णमुष्णैरपि तस्य सोष्मणः सुरेन्द्रवन्दीश्रुतितानिलैर्पया ।

स चन्दनाम्भ कणकोमलैस्तथा सपुञ्जलाद्रपिवनेन निर्वन्धो ॥ ६५ ॥

तथैव वर्षाः शरदा हिमागमो वसन्तलक्ष्या शिशिरः समेत्य च ।

प्रसूतकलुप्तिं दधतः सदतैवः पुरेऽस्य वास्तव्यकुटुम्बिता ययुः ॥ ६६ ॥

अमानवं जातमज कुले मनोः प्रभाविनं भाविनमन्तमात्मनः ।

मुमोच जानघपिजानकीं न यः सदाऽनिमानैकधनादिमानिनः ॥ ६७ ॥

यद्यपि भक्तो नाशयणाक्तारत्नं स्वस्थैव च वधायावतरण तस्य विदितमासीत्तथापि
हृत्स्थ वस्तुन प्रत्यपश्ये भीरुश्चप्रतीत्या-मानदानि स्यादिति मान एव तेन मुख्य
तया रक्षितो न तु तदपे प्राणा अपि गणिता, इदमपि तस्य परममहत्त्वं यन्मा
नस्य प्राणाधिक्येन गणनमिति । अत्रोऽपि कथं ज्ञात इति विरोधपरिहाराय
प्रभाविनमिति विशेषणमुक्तम्, महानुभावानां विरुद्धप्रतीक्षयणेऽपि न कश्चि
दनुपवृत्तिरिति ।

६८.

भगवन् हृष्य ! जानकोनिमित्ते वैरे त्वयैवासी रावणोऽपि समुद्रे सेतुं बद्ध्वा
निहत इति मन्ये त्वया विस्मृत न स्यात् ।

६९.

यथा कश्चिन्न रत्नशालायां पूर्वं रूप परिस्थित्य रूपान्तर एहाति, तदा च
स रूपदेयभाषादिभिः-अन्य एव लोकानां प्रतिभाति, तथा रावणोऽपीदानीं
रूपान्तर स्वीकृत्य पुनर्मूर्त्या ज्ञातः, स इदानीं शिशुपाल इति नाम्ना प्रसिद्धयति ।
साधारणैर्लोकेभ्य रावणादस्य एव प्रतीयते । परन्तु रहस्याभिज्ञास्तु जानन्ति यदय
रावण एवेति । एतेन शिशुपालस्य वषाहता सूचिता ।

७०.

यदा शिशुपालो जन्म लेभे, तदा तस्य कान्तरो भुजा, त्रीणि शोचनानि
आरब्धं मुखं चाति गौरं पूर्णचन्द्रवलयमासीत् । अत एव स तदानीं हरिहरसदृश
प्रतीयते स्म (इदं चतुर्भुजत्रिलोचनपदार्था-योजितम्) पर पश्चात् तस्य भुजद्वय-
मेक नेत्रं चान्तर्हितम् । इदानीं ह्य स द्विभुजद्वित्रिलोचोपि यौवनावस्था प्राप्त
स्वप्रतापेन सूर्यसदृशो लक्ष्यते, यथा सूर्यं स्वकरे (करिणौ) सर्वात् महीभृत
(पर्वतान्) ध्याप्नोति, तथैवैतेनापि करे सर्वे महीभृत राजान आक्रान्ता सर्वे
राजनस्तदधीनता स्वीकृत्य तस्मै करं ददति ।

स्मरस्यदो दाशरथिर्मकम्भवानमु वनान्ताद्वनितापहारिणम् ।

पयोधिमावद्धचलजलाविल विन्दुष्य लङ्का निकषा हनिष्यति ॥ ६८ ॥

अयोपगतिं सञ्जानारोऽपराधमाप्य शैलस्य इवैव मूमिकाम् ।

निरोहितात्मा शिशुरालसंशया प्रतीयते सम्प्रति सोऽप्यस परे ॥ ६९ ॥

॥ बाल आसीद्वपुषा चतुर्भुजो मुखेन पूर्णेन्दुनिमग्निलोचन ।

मुखा करान्तमहीभृदुचैरसंशय सम्प्रति तेजसा यवि ॥ ७० ॥

७१.

अयं शिशुपालः पराक्रमविषये रावणादीनप्युपहसति स्वापेक्षया तान् निवृद्धान् मन्यते । ते हि सुचिरं तपस्तप्त्वा देवताप्रसादेन पराक्रमातिशयं प्राप्तवन्तः, अयं तु स्वभावेनैव पराक्रमशाली यथा कामयते तथा देवान् दानवान् यातुधानांभ्यः अनुक्रमते, दण्डयति च । तथा च देवतायाचकैर्देवशासकस्यास्य कथं तुल्यता ।

७२.

स्वयलदर्पाध्मातः स शिशुपालः सकल्लोक-परामवेच्छया यथा पूर्वजन्मनि हिरण्यकशिपादिरूपेण मनाः पीडयति स्म, तथैवेदानीमपि पीडयति, एष एवार्थं उत्तरार्धेन समर्प्यते, यथा पतिपरायणा स्त्री अन्यजन्मन्यपि तमेव पतिं प्राप्नोति, तथैव सुरियरः स्वभाव. जन्मान्तरेऽपि पुरुषमनुगच्छत्येव । अतः शिशुपालस्य पूर्वजन्मवद् जगत्पीडनं नाति विरम्यकरम् ।

७३.

हे भगवन् ! अनेन शिशुपालेन विधेः शासनमुल्लाङ्घितम्, यतोऽयं सुरासुराणां स्वयमेव शासकः संवृत्तः, यथेच्छं व्यवहसति, प्रजाः पीडयति च, तदेनं जहि । नचैतत् प्राद्युगिकहस्तेन सर्वमारणम्, कुतः ! परपीडनपरा दुष्टा भवाद्या लोकरक्षण-दीक्षितानां हन्तव्या एव भवन्ति । अतस्त्वयायं मारणीय एव । किंच तादृशदुष्ट-विनाशे तव निमित्तमात्रत्वं स्यात्. वस्तुतस्तु तेषां दुष्कर्मविपाक एव तद्वि-नाशहेतुः ।

७४.

नारदः स्वामुक्तिमुपगृह्णति—इत्थं शिशुपालोपद्रवैरिन्द्रस्य हृदयं सर्वदा चिन्ता-तुरं चञ्चलं च वर्तते । चित्तविक्षेपाज्ज मनागपि राज्योपभोगेऽस्य प्रवृत्तिर्भवति । वयं स्वार्थसामहे—यद् भवता शिशुपाले हते शत्रुविनाशाद इन्द्रस्य हृदयं चिन्ता-रागेन दृढतां प्राप्नोतु, पुनरपि चार्यं पूर्ववद् ऐश्वर्योपभोगे सामर्थ्यमासादयतु ।

स्वयं विधाता सुरदैत्यरक्षसामनुप्रहावप्रहयोयंहन्तुया ।

दशाननादीनमिराद्वदेवताविनीर्णीवीर्योतिशयान्दुःखयशो ॥ ७१ ॥

बलावन्तेपादधुनाऽपि पूर्वाद्यप्यवाच्यते तेन जगज्जिगीषुणा ।

सतीव योषिप्रकृतिः सुनिश्चला पुमांसमन्येति भवान्तरेष्वपि ॥ ७२ ॥

तदेनमुल्लाङ्घितशासन विधेर्विधेहि क्षीनाशनिकेतनातिथिम् ।

शुभेराचारविशन्निवमापदो त्रिपादनीया हि सतामसाचक्रः ॥ ७३ ॥

हृदयमरिक्वधोदयादुदूढदृष्टिम् दद्यातु पुनः पुरन्दरस्य ।

घनपुलकपुलोभजाकुचाग्रद्रुतपरिरम्भनिपीडनक्षमत्वम् ॥ ७४ ॥

नारद श्रीकृष्णाय इन्द्रसदेश आश्रित्या आकाशमार्गेण प्रतस्थे, प्रस्थिताय
 तस्मै कृष्णेनारि इन्द्रसदेशानुकूलं शिशुपालहननं प्रतिश्रुतम् । प्रतिनिवर्तितुमना
 नारदो यदाकाशमद्गतः तदानीं प्रकृत्वा रज्जुशुभ्रं च चन्द्रोन्मोमेते ।
 चन्द्रशोभा दधनि नारदे व्योममार्गेण प्रस्थिते सति तदनुपदमेव चैद्यापकृतानि
 भुत्वा तदुपरि समुत्पन्नमोघस्य मयवतः कृष्णस्य मुखे भ्रुकुटिस्थिता । सा च
 तदानीं तथा प्रतीयते स्म यथाकाशे चन्द्रमसमनूत्थितः शत्रुनाशसूचकः कैशोरस्य
 उत्पत्तप्रहो भवेत् । तदुक्तं 'चन्द्रमस्युत्थितः केतुः क्षितीयानां विनः शकृत्' इति ।

इति शिशुपालवध महाकाव्ये प्रथमः सर्गः ।

ओमित्युक्तवतोऽयं शार्ङ्गिण इति व्याहृत्य वाच नमः

स्तस्मिन्नुत्पतिते पुरः सुरमुनाविदो भिय विभ्रति ।

शत्रूणामनिर्शः विनाशनिशुनः क्रुद्धस्य चैव प्रति

व्योम्नींश्च भ्रुकुटिन्मतेन चदने केदुश्चकारास्पदम् ॥ ७५ ॥

शिशुपालवधमहाकाव्ये द्वितीयः सर्गः

कथासम्बन्धः

१.

भगवान् कृष्णो यादु इन्द्रसन्देशेन प्रजोपदेष्टारिण शिशुपालमभिप्रेयितु-
मिच्छति तावत् ॥ राजसूयेन यष्टुमिच्छता इषिष्ठिरेण यज्ञे सन्निपातुं निमन्त्रितः,
ततः स युगपदावश्यककार्यद्वयप्रसक्ततया शिशुपालो वा निहन्तव्यः, यज्ञे वा सन्नि-
पातव्यमित्येवं निर्धारयितुं नाशकत् । तन्मनः सन्देहदोलावितमभूत् ।

२.

तदनन्तरं कृष्ण उद्धववधमद्राभ्या सह मन्त्रगार्थं समामन्त्रेरमविशत्, अप्रे
कृष्ण आसीत्, पश्चाद्योद्धववधमद्रावास्ताम् । तदानीं ताभ्यामनुगम्यमानः कृष्णः
आकाशे बृहस्पतिशुक्राभ्यामनुगम्यमानस्य चन्द्रस्य शोभां मुवाह ।

३.

असुरोपद्रवपरिहारेण प्रजासु शान्तिप्रचाराय समवेता अतितेजस्विन इमे
रामकृष्णोद्धवाः सभायामुपनिविष्टः, सभायां तिष्ठता तेषां तथा शोभां मूत्,
यथा पश्येद्यामादितानां प्रज्वलता जवाणां गार्हपत्याहवनीयप्रदक्षिणाग्नीनां
शोभा भवति ।

४.

तत्र सभायां रत्नजटिता मूयावः स्तम्भा आसन्, तेषु रत्नानामतिस्वच्छ-
तया तदाकृतयः प्रतिफलिताः, अत एव स्तम्भानां मध्ये स्थितास्ते केवलं
त्रयोऽपि स्वचतुर्दिक्षु प्रतिबिम्बबाहुल्यात् तथा प्रतीयन्ते स्म यथेमे पुष्पलमूलेन
आवृता मवेयुः ।

यियक्ष्माद्येनाहृतः पार्थनाथ मुरं दिषन् ।

अभिचैद्यं प्रतिष्ठासुरार्सास्कार्यद्वयाकुलः ॥ १ ॥

सार्धमुद्धवशीरिभ्यामथासावासरुदः ।

गुरुव्यासपुत्राः शिष्यान्तरीमन्तिभः क्रि.पू. ५, २, ५.

काव्यप्रमाणानां जगतः ज्ञानत्रये समुपेयुषी ।

व्यद्योतिष्ठ सभावेद्यामसौ नरशिखिप्रयी ॥ २ ॥

रत्नस्तम्भेषु रुक्मान्तप्रतिमास्ते चकाशिरे ।

एकाकिनोऽपि परितः पौरुषेयवृत्ता इव ॥ ४ ॥

५

इमं रामकृष्णादयस्तत्र समायाः सन्निवे शतेष्वन्वेषु स्वर्गसिंहासनेषूपतिः ॥
तद्विष्टितानां तेषां सिंहासनानां तदानीं तादृशी शोभाऽभवत्, यादृशी सिंहासि-
रुदानां त्रिकूटपर्वतशिल्लराणां भवति । त्रिकूट इति तत्रैतत्समावर्षसंज्ञा, यत्सर्वस्य
श्रीणि कूटानि शिल्लराणि सन्ति । सिंहासनानां त्रिकूटशिल्लरोपमया तत्समुदायस्य
त्रिकूटसादृश्यं व्यङ्ग्यम्, एव रामादीनां सिंहासादृश्यमपि ।

६.

समायामुपवेशनानन्तरं वचनोपन्यासपटुर्मगवान् कृष्णः समस्तं दितृच्यत्वन-
न्वेषेष्टभातृत्वेन च स्वरूपयोः द्रव्यरूपमद्रयोऽग्रे पूर्वोक्तयोर्महतो कार्ययोर्विरोधमुप-
स्थितिं स्म । उभयोर्गुणपदसम्भव एव विरोधः, न चैकतरमप्युपेक्षितुं शक्यम् ।

७

मगधतः कृष्णस्य दन्ता कुन्धकुमुदमणिक्कावत् स्वच्छगुग्गाभासात्, किं च
स प्रकृष्टा स्मितपूर्वमिमाषी भासीत् । स्मितमपि कविसम्प्रदाये स्वच्छगुग्गमुच्यते,
अतो वचनसमये स्वच्छगुग्गैस्तस्य स्मितैर्दन्तकान्त्या च समामध्यभागो निवर्ता
प्रकाशितः, किं च यद्यपि तद्वाणी यथास्थानप्रयत्नोच्चारणेन स्वभावतः शुद्धवर्णा
भासीत्, तथापि तत्र कविस्मेषते यत् स्मितप्रकाशनेन तस्यां शुद्धवर्णं जातम् ।

८

कृष्णः कथयति यद् यथा नाट्यादौ क्रियमाणं पूर्वैरङ्गं केवलमभिनेष्यमाणं
वस्तुप्रसङ्गनायकं भवति तथैवादौ प्रयुज्यमानं मद्रचनमपि भवद्रवचनोपन्यास-
प्रसङ्गोत्थापनायैव न तु सिद्धान्तरूपम् । यतोऽहं कर्तव्यायै सांशयिकं सिद्धान्तं
निर्गोचमिच्छामि ।

अभ्यासामासुरक्तङ्गहेमपीठानि यान्यमी ।

तेरुहे केसरिकातत्रिकूटशिल्लरोपमा ॥ ५ ॥

गुह्यद्वाराय गुह्योक्तयोरथ कार्ययो ।

हरिप्रियतपेध तमान्वक्ष्ये विचक्षण ॥ ६ ॥

द्योतितान्तं भवेत् कुन्दकुङ्कुमलाग्रदन्तं स्मितं ।

स्नपितेवामवचस्य शुद्धवर्णा सरस्वती ॥ ७ ॥

भवद्विरामवसरप्रदानाय वचांसि न ।

पूर्वैरङ्गं प्रसङ्गाय नाटकीयस्य वस्तुन ॥ ८ ॥

९.

युधिष्ठिरस्य मीमादयो भ्रातरः स्वपराक्रमेण दिग्विजयिनः सन्ति, तत्साहाय्येन च सर्वान् राज्ञः स्वाधीनान् करोत् । अत एव ते तस्मै करं ददति । तथा च सः अस्मत् साहाय्यं विनापि स्वभ्रातॄणां साहाय्येनैव यशं निर्विघ्नं सम्पादयितुं समर्थः । तदधीना राजानोऽपि तत्साहाय्याय यज्ञ उपतिष्ठेरन्नेव । अतो यज्ञेऽस्माकं सजिधानं नात्यादयस्कम् ।

१०.

यशगमनस्यादयस्त्वं नित्यं शिशुपालाभिषेगं सामान्येनाह-हितमिच्छता पुष्पैर्ग वधमानः स्वशत्रुः कदापि नोपेक्ष्यः । ययाल्पीयसोऽपि वधमानस्य रोगस्य यदि समये चिकित्सा न क्रियते तर्हि स यथाद् बुद्धिं प्राप्तो रोगिणं हिनस्ति, तथैव प्रारम्भे रज्ज्वबल्लोऽपि शत्रुर्यदि न प्रतिक्रियते तदा ॥ क्रमशो हटवलो भूत्वा महान्तमनर्थपूरादयति । अत एव नीतिविदो बुद्धिशालं शत्रुं रोमं च तुल्यावाहुः ।

११.

शिशुपालो मामभिद्रुहति—इत्यनो नाहं मनामपि लिखे । यतः स वाक्काय मत्पितृशत्रुः पुत्रः अतो बन्धुरक्षयतया स्वापकारविषये कथंचित् क्षन्तुं शक्यते । परं यत् स प्रजापीडनं करोति तदतिगर्हितम्, तेन च मम दुःखं जायते । बन्धुरपि यदि प्रजापीडकस्तर्हि स दण्डनीय एव ।

१२.

इदं पूर्ववस्वरूपेण मम मनमस्ति, सिद्धान्तरूपेण युवयोरपि मतं मया भोत-
व्यमेव । अन्यथा मम संदेहो न निवर्तिष्यते । एकाकिनो विदुषोऽपि पुरुषस्य कर्तव्यार्थेषु संदेहो जायत एव, मादृशोऽविद्वान् संशेत इत्यत्र किमु वक्तव्यम् ।

करदोहतभूगले भ्रातृभिर्जित्वरैर्दिशाम् ।

विनाऽप्यस्मदलं भूषणविश्रायै तपसः सुतः ॥ ९ ॥

उत्तिष्ठमानस्तु परो नोपेक्ष्यः पथ्यमिच्छता ।

स्मौ हि शिष्टैश्चाभ्यातो बल्यन्तराश्रयः स च ॥ १० ॥

तू दूये सारवतीसुनुर्यन्महामपराध्यति ।

यच्च दन्दहते लोक्मदो दुःखाकरोति माम् ॥ ११ ॥

मम तावन्नतमिदं भूयतामङ्ग । वामपि ।

शातशरोऽपि लह्वेकः सन्दिग्धे कार्यवस्तुनि ॥ १२ ॥

१३

पूर्वोक्तरीत्या परिमिताम्भै स्वयम्भ स्यादथित्वा हरिस्तूष्णीं बभूव । महतामेध
स्वभावो यत्ते यावदपेक्षित तावदेव भाषन्ते ।

१४.

कृष्णकथनानन्तर बलभद्र उवाच । कृष्णोक्तया शत्रुकृतापकारस्मरणेन बल-
भद्रहृदयमतिताप । (अथवा तस्य शत्रुविषये द्वेष उदभूत्) तेन च क्रोधोदयाद्
वचनसमये तस्योष्ठ स्फुरति स्म ।

१५

कृष्णोक्तनन्तर यावद् उद्धवो वक्तुमिच्छति, तत प्रागेव वचनस्यप्रतया
बलभद्रेण वक्तुमारब्धम् उद्वचनं च सिद्धान्तत्वेन स्वीकरणाय अवशेषितम् ।
उद्धवस्तु बलभद्रानुरोधोक्तं तूष्णीमिति श्रुत् ।

१६.

कथनसमये रतिकान्तिरेवतीश्रुतचुम्बनेन तन्मुखः कान्तमहलेनादिना पवित्रे
बलभद्रस्य अङ्गिणी मदिरापानमदेन रक्ते घृणमान चास्ताम् ।

१७

साहकारवदतस्तत्सौमित्रैश्चाऽमाकृतैश्च नमाला माम्बिन्दमाप, या कृति
नाम्ना रेवतीकुचाम्बामाभिज्जनसमये नित्यं पीड्यते स्म ।

१८.

भाषणकाले शत्रुक्रोधेन बलभद्रकुलं ताम्रकर्णमववत् । स्वेदविन्दवश्च तन

यावदर्थपदा वाचमेवमादाय भाषव ।

विराम महीयाव. प्रकृत्या मितयापि ॥ १३ ॥

तत उपत्नापायस्मरणानुशयस्फुरा ।

ओष्ठेन रामो रामोष्ठविम्बचुम्बनचुम्बुना ॥ १४ ॥

विवक्षितामर्थविदस्तरुणप्रतिबद्धनाम् ।

प्रापय-पन्नव्याघेतिरमुक्तपक्षताम् ॥ १५ ॥

धृष्टं नमदिरास्यादमदपान्तिद्युतो ।

रेवतीवदनोच्छिष्टपरिपूतपुटं दृष्टौ ॥ १६ ॥

आन्नेषणेक्षुप-धूम्रतनकार्णवपसाक्षिणीम् ।

म्लानप्रयत्नमिमानोष्णैर्नमाला मुत्थानितै ॥ १७ ॥

दध-सन्ध्याऽऽणव्योम-पुरत्ताराशुक्राणि ।

दिप्रद्वेपोपरक्तं ज्वरज्जिनी स्वेदविप्रय ॥ १८ ॥

प्रादुरभवन् । कोपोपरक्ते तन्मुखे ते स्वेदविन्दव तथा भान्नि स्म यथा सन्ध्या
कालिके स्वभादतो रक्ते ध्योमि तारा भान्ति ।

१९

बलमद्रेण कर्णयो पद्मरागमणिजाते कुण्डले धृते आस्ताम्, वपुषि च नीलवर्ण
मुत्तरीयमाञ्छादितमासीत् । तथ पद्मरागमणे रक्तया कान्तया रुक्मीणी नीलवर्णोत्त
रीयस्य कान्तिर्नूतनाम्रपल्लवकान्तिसदृशी धूम्रवर्णा जाता ।

२०.

तदानीं बलमद्रमुखाद् गन्धर्विशेषो निस्सरति स्म, यस्मिंश्च रेवत्या मदिरा
गण्डूषगन्धोऽपि ससृज आसीत् । रानकाच्च प्रियागण्डूपग्रहणस्य कामयास्रविहि
तश्चात् ।

२१

कथनसमये बलमद्रमुखात् शीरम निस्सरति स्म, तदाकृष्ण भ्रमरा मधुपानेच्छया
कमलसदृश तन्मुख परितः सञ्चरेत् । हि च प्रकृत्या श्यामा अपि ते भ्रमरास्त
दानीमतिश्वेतैर्वह्निनि सद्भिर्बलमद्रस्य दन्ताशुभिः धावत्यमानुवर ।

२२

शिशुपालाभियोगनविषये 'उत्तिष्ठमानस्तु पर' इत्यादिना कृष्णेन यदुक्तं
तदोक्तस्य निदाष चास्ति, अतो विचारान्तरं नापेक्षते, तदेव सिद्धान्तत्वेनाभ्यु
पगम्य तदनुकूलमेव कथितं कार्यमावध्वज्यम् ।

२३

यद्यपि कृष्णवाक्यमतिशक्तिम्, तथापि (अर्थगौरवत्वात्) अपुण्यार्थं
घान्दैरतिविरुतापि वाणी नैतदपेक्षया अधिका भवितुमर्हति । यथा महान्तं

मोहं सखुण्णं प्रोतपद्मरागदलविषा ।

कृष्णोत्तरासङ्गबन्धं विदधन् चोतपल्लवीम् ॥ १९ ॥

रुक्मिणीकन्यावक्त्रा तर्कसल्लवाधिवासया ।

मुत्तामोद मदिरया कृतानुव्याधमृदमम् ॥ २० ॥

जगाद वदनच्छपश्रवण्यन्तपातिन ।

नयनमधुलिङ्गं श्वैर्यमुदग्रदशनाशुभिः ॥ २१ ॥

यद्वासुदेवेनादीनमनादीनवमोदितम् ।

वचस्तस्य सपदे क्रिया केवलद्वन्द्वम् ॥ २२ ॥

नैतल्लघ्वाप मूयस्या वचो वाचाऽतिशय्यते ।

दग्धनीषधस्यग्निस्त्रिधा नादेति पूषणम् ॥ २३ ॥

काष्णराशि दहतिभूयानपि बहि स्वप्रमया सूर्यमनिशयितु न शक्नोति सूर्यस्यातिवेज-
स्त्वित्वात् ।

२४

ननु यद्येव कृष्णवचन सर्वातिशयाय तर्हि तदग्रे विद्वन्नोद्योगोऽपि व्यर्थ एवेत्यत
आह कृष्णवाक्य मिताक्षरवाद् अर्थगौरवाच्च सूत्रकल्पमस्ति, अतस्तत् सविस्तर
व्याख्यानमपेक्षते । यथा व्याख्याया मूलोक्त एवार्थो ह्येति बुद्ध्युपायोहाय
विशद प्रपञ्च्यते सुखस्यान्तरै समर्थते च, तथैव मद्बचसापि कृष्णोक्त एवार्थो
विस्तृत्य विवरिष्यते समर्थयिष्यते च । न तु तद्विद्वद्वचनमपि अपेक्षते, अत
कृष्णवचसो व्याख्यानरूपा एव मद्वाचो भवेयुः ।

२५

वेदियात्राविषये उद्धवविरोध मनसि निधाय बलमद्र आह—ये पुनश्च भाषणे-
अतिपाठ्य दधते तेऽपि यदि विद्वद्वचनप्रतिकूत किमपि वदेयुस्तर्हि लोकेर्ज्ञा
उच्यन्ते । अथ कदा अपि यदि विद्वद्वचनपक्ष एव भाषन्ते तर्हि लोके 'प्रवक्तार
इमे, व्याख्याननिपुणा इमे' इत्येव प्रसिद्धिं प्राप्नुवन्ति । अतः कृष्णवचनविरोधे
न किमपि वक्तव्यम् । स हि विद्वान्, विचक्षणस्य तस्य विरोधो न मुक्त, प्रायुत
अहमवस्थापक, अतस्तदनुकूलमेव भाषित्वा वाग्विस्तव किं न लभ्यताम् ? अनुकूल-
भाषण हि सुगमम् ।

२६.

ननु हितमिच्छता राजा दुराग्रह परित्यज्य सप्रतिकूलमपि नीतिशास्त्रविदो
वचन प्राप्तमेवेत्यत आह—मन्दबुद्धयोऽपि नीतिग्रन्थान् पठित्वा गुणशक्त्यादीनां
नामानि तत् सख्या वा प्रतिपादयितुमीशते, परं न ते तावता नीतिशास्त्रपण्डिता
प्राप्तवचना वा भवितुमर्हन्ति । सन्धिविमहादीनां यथार्थोपयोगे पटुरेव नीतिशास्त्र
पण्डित इतिव्यपदेशमर्हति, तदुपदेश एव च ग्राह्य । सन्ध्यादिसख्यामात्रपाठका
उद्धवादयस्तथाकृतादुपेक्ष्यवचना एवेति बलमद्रस्य हृदयम् । प्रसङ्गात् सक्षिप्य
गुणादीनां स्वरूपं लिख्यते सधर्मा निग्रहो धानमासन द्वेषमाभय, पद गुणा
शक्त्यस्तिष्ठ प्रमादोत्साहमन्त्रजा । अथ स्थान च वृद्धिश्च त्रिवर्णो नीतिवेदि-

सक्षितस्याप्यतोऽस्यैव वाक्यस्यायमरीयसः ।

सुविस्तरतरा वाचो भाष्यमृता भवन्तु मे ॥ २४ ॥

विरोधिवचसो मूकान्वागीशानपि कुर्वते ।

अज्ञानप्यनुज्जेमार्थान्प्रवाच कृतिना गिर ॥ २५ ॥

यद्गुणा शक्त्यस्तिष्ठ सिद्धयश्चोदयास्त्रय ।

ग्रन्थानधीत्य व्याकृतुमिति दुर्मेघसोऽप्यहम् ॥ २६ ॥

नान् । तत्र अतिविजिगीष्वैर्धर्मवशात्कृतं सन्, विरोधो विग्रहः, अति
प्रतिपाद्यमानम्, काश्चित्पक्षेणा तृतीयमर्थम् आचरन्, वाचिकमात्म-
समर्पणं द्रष्टुमीदृशं, अत्रैव पीडयमानस्य दत्तदाभयस्य संभवः । कोददम्भोऽप्यं
तेषु प्रभावः, स्वेवान् प्रयत्न उत्साहः, वदन्तु चिन्तनं नान् । शक्तिरिन्द्रियोक्तव्य-
यावदपि, वृद्धिपक्षोऽपि भावः स्थानम् ।

१७.

यो धातुः देवम् आत्मनो लक्ष्यवेधधातुर्यं विहायते, लक्ष्यवेधात्तरे च
दशन वापको लक्ष्यान्तरवर्तः, यथा तस्य विहाय न निस्तार तथैव यो व्याख्यान-
मात्ररहितः कार्यकायवेदेकमानस्य यस्य भावधारि न विद्यते, कार्यकाले च
पश्चात्तदो मन्त्रे, वाक्यमात्ररूपस्य तस्य वाक्यस्वरूपोऽपि निस्तारः । तथा च
धातुकाध्यातुरपि कार्यरहितः कनो ग्रन्थः न पुनर्बुधा वदन्त्यस्य ।

२८.

रूपविशाखेदनासृष्टासृष्टा पञ्चस्कन्धा इति बौद्धाः, भूतपतिरिजानि
अमूर्तानि तत्त्वानि रस्यधर्मोऽन्यन्ते, तत्र दक्षिणादिप्राणि रूपस्कन्धा,
आन्तरविज्ञानप्रवाहो विज्ञानस्कन्धः, प्रागुक्तस्कन्धद्वयस्कन्धस्य द्रुतद्रुतदि
प्रत्यक्षप्रवाहो वेदनास्कन्धः, गौरिशदिगन्धोऽन्तेरिष्वेत्तमवाहः स्थास्कन्धः,
वेदन स्कन्धनिष्पन्ना राग्द्वेषादयः क्लेशा उक्तक्लेशाश्च मदमानादयो धर्माधर्मौ
च संस्कारस्कन्धः । यथा बौद्धानां मते भौतिकेषु शरीरेषु प्रागुक्तस्कन्धद्वयस्कन्धतिरे-
केण शानमुच्चायाभयोभूतः कश्चिदात्मन्यर्थो नास्ति, किन्तु लक्ष्मणान् एवात्मन्यदे-
नोच्यते, तथैव राशामपि कश्चिद्विग्रहादेः कर्तव्येषु सहायादिगन्धाविनिर्गमः एव
मन्त्रः, नाप्यतु किमपि । यद्य सहायादिगन्धास्तौ न वेत्तेः मन्त्राणां राशभि-
कत्वात् । यदि सहायादयो विद्यन्ते तर्हि धातुर्भावो मन्त्रः, इतरथा सहायादिषु
यद्यवधर किमप्येकतमः शीर्षकमनायतति । तथा च दन्तिदानो सहायादिगन्धा-
श्च अतोऽपि शिशुपालादिदेवस्य अनुचितः शब्दः ।

२९.

मन्त्रितार्थकेषां विज्ञानो न कर्तव्यः, न चो हि भौतिकोऽपि मन्त्रः, यथा च

अनिर्लोडितकार्त्तस्य वायव्यस्य वाग्निनो हृष्या ।

निमितादपराद्धेष्वेति शब्दः । रमितम् ॥ २७ ॥

तत्रैव यंशरीरेषु मुखादङ्गुलस्य चरमम् ।

लौकिकानामिज्ञानादन्वो नास्ति मन्त्रो नदीध्वजम् ॥ २८ ॥

मन्त्रो योऽपि इवाधीरः सर्वाङ्गे सञ्चरैरपि ।

चित्रं न सहते स्थितुं परेभ्यो भेदगङ्गाया ॥ २९ ॥

कनकादेधारणेन स्वाक्रेषु रजितेष्वपि कदाचिच्छत्रुममङ्गानि च्छिन्नादितिमिया
रुपामे स्थितो न भवति, अपि तु तत्र पलायते, तथैव मन्त्रोऽपि उपायादिषु
गोपितेष्वपि कदाचिच्छत्रुवा जानीयुरेति मीत्या चिरमकियात्नक स्यात् न इति,
मन्त्रज्ञानान्तरमव कार्यमारब्धव्यम्, किञ्च त्रु कार्यार मात् प्रागेव मानप्रकारो
ज्ञानमि सात्तान्तरं तद्विच्छेदोपायानुष्ठानेन राक्षा महती हानि सम्भाष्यते ।

३०.

इदमेव नीतिस्तत्त्वं यत् स्याम्युदयाय चोद्यनीयम्, तदन्तरायमूनस्य
शत्रोश्च हानि कर्तव्येति । एतदेव द्वयमवलम्ब्य नीतिविद सन्धिप्रहादीन् विविधं
व्याचक्षते । तथा चाभ्युदयार्थमिरस्तामि स्वयम् सिद्धुपायस्वरितमुच्येत् ॥

३१

अनु प्राप्ताभ्युदयानामस्माकं कार्यं एव शत्रुच्छेदप्रयत्न इत्यत आह—
प्राप्तमहैश्वर्या अपि महात्मान ऐश्वर्ये अलत्रदि न कुर्वते एतावदेवैश्वर्यमममामि-
रमिलायत नान्यदपश्यत इत्येवं न तुल्यान्त, 'असतुषा द्विषा नृषा सन्तुषाश्च
महीभूत' इति राक्षा सन्तोषोदयस्य निन्द्यलोके । किं तु यथा परिपूर्णाऽपि
महार्णवं स्ववृद्धये चन्द्रोदयमपेक्षत एव, तथैव त अमेऽपि स्याम्युदयाय यतमाना
एव भवन्ति चन्द्रोदये समुद्रवृद्धिगिति निर्गता ।

३२.

प्रश्रुत सन्तोष उन्नते प्रातवन्धे, य पुरुष स्वल्पयापि सम्पत्त्या प्रधीदति,
आत्मानं हृदयापन्न मनुरेते, तस्य सा स्वल्पा सम्पद् वृद्धि न प्राप्नोति देव हि
सपदा वर्धयाम्, तदि स्वल्पसपदारि सतुषा तद्वृद्धये पौरुषमकुर्वीत नर निरीक्ष्य
आत्मानं कृतकृत्य मन्वत, अयमेतावन्तैव सतुष्यति किमस्य मुद्या सपद्वर्धनेन,
यद्यप्य सपदांमवृद्धिमभ्यलपिभ्यत्, तदि तदर्थमुदयोत्यत, पर नाद्युच्छे इति नास्य
सपद वर्धयति । दैवमनुद्योगिन एव साहायकम्, अनुद्योगिनस्तु तदपि जुगुप्सत
इति तत्त्वम् ।

आत्मोदय परम्लानिद्वय नीतिरित्यती ।

तत्परीकृत्य कृतमिर्वीचस्यत्य प्रतायत ॥ ३० ॥

तुल्ययोग परेणापि महिम्ना न महीयताम् ।

पूर्वश्चन्द्रोदयाकाङ्क्षी दृष्टान्तोऽत्र महार्णवं ॥ ३१ ॥

सम्पदा तु स्यान्मन्यो भवत स्वल्पयाऽपि य ।

कृतकृत्यो विधिर्मन्ये न वषति तस्य ताम् ॥ ३२ ॥

३३.

शङ्खं निर्मूल्यैव मानिनोऽग्न्युदय प्राप्नुवन्ति, शत्रवो हि तदुन्नतिपथे कण्का
यिना, तेषां सचल्येनानकरणमत्यावश्यकम्, अन्यथा तेऽन्तरायमुत्पादयेयुः ।
सवितापि यदोदयते तदा स्वप्रसररोधकमन्धतमसं विनाश्यैव, नान्यथा, अतोऽ
स्माभिरपि स्वशत्रु शिङ्गलान् हन्तव्य एव ।

३४

किं च लोकेऽनुच्छिन्नशत्रो स्थैर्यमेव दुर्घम्, उन्नतिस्तु दूरे । जीवन्त
शत्रवस्तन्मूलं कृत्वा युगा इव प्रदेतरन्, अतस्तदुच्छेद आवश्यक । क्लमपि
आत्मानं मलिनोद्देह २० अथ करणेन पङ्कजा नीत्वैव तिष्ठति । इदमपि क्ल
यदि स्वाभिभावकं न सहते, तर्हि चेतनैस्समाभिस्तु मुतरां न सोदध्यम् ।

३५.

शिङ्गल ७ एव स्माकं शत्रु किमयमेकाकी न करिष्यतीत्यपि न चिन्तनीयम्,
यन यावदेकोऽपि शत्रुर्जीवति तावत् सुखमाप्नेराद्यापि न कर्तव्या । यद्यपि देवै
स्वशत्रवोऽसुरा निहता, परं तेषां मर्त्य एको राक्षसश्चिष्ट, स एव पश्यता देवानां
चन्द्रमसं (सूर्यं च) पश्येत् शपते ।

अतः 'अग्रे शेषमृगच्छेदं शत्रो शेषं न शेषयेत्' इत्यभिप्रेक्ष्यकोक्तया एकोऽपि
शत्रुश्छेत्तव्य एव । चन्द्रोपरागस्य प्राप्त्यर्थात् सोममहणम् ।

३६.

कृत्रिमसहजप्रकृतमेवेन मित्राणि शत्रवश्च मित्रा मिथ्यन्ते, स्वरूपाणि चैषां
रङ्गानि । एतथा मध्ये कृत्रिमौ मित्रशत्रू महन्तावुच्येते । उपकारापकारजन्य
बोद्धार्थैरेभावस्य चावजीवननपायाद् एतयामित्रशत्रुभाव स्थायी, न जातु
विपर्येति, एतदेवानयोर्महत्त्वम् ।

सहज प्राकृतौ तु दृढदात्रि कदाचित्—स्वकार्यवशात् शत्रुभावम्, एव शत्रू

समूलघातमध्वन्य पराजयान्ति मानिनः ।

प्रवसितान्धतमस्तत्रोदाहरणं यत्र ॥ ३३ ॥

विपक्षमन्त्रिणीकृत्य प्रतिष्ठां सख्यं दुर्लभा ।

अनीतना पङ्कजा धूलिमुदकं नावतिष्ठते ॥ ३४ ॥

मित्रते यावदेकोऽपि रिपुस्तात्कृतं सुखम् ।

पुरं विभ्रजाति सोमं हि कैहेकयोऽग्न्युदयम् ॥ ३५ ॥

गत्वा गरीयान् शत्रुश्च कृत्रिमस्तीति कार्यतः ।

स्याताममित्रौ मित्रे च सहजप्राकृतावपि ॥ ३६ ॥

अपि स्वकार्यानुसारेण मित्रभाव प्राप्तुत, कार्योन्माधिको हि तयोमित्रशत्रुभाव,
अतो न निवृत्त । कुत्रिमस्तु शत्रुश्चेत् शत्रुरेव, मुह्यन्तेत् मुह्येव । तथा च
शिशुपालोऽस्माकं सहजमित्रमपीदानीं परस्परपकारेण कृत्रिम शत्रुरिति नोपे-
क्षितम् ।

३७

ननु शिशुपालोऽस्माकं पैतृभ्यसेय इति सहजामित्रत्वात् सधा भ्य एवेत्यत
आह—सहज प्राकृतो वा शत्रुरपि यथात्मन उपकरोति तर्हि तेन सह संधि कर्तुं-
मुचित । स हि तदानीमस्यापिशत्रुभाव परिहृत्य स्थायिनीं कृत्रिममित्रतां प्राप्त ।
एष सहज प्राकृतो वा मुह्यन्ति यथपकरोति तर्हि न स संधियोऽप्य, यत सोऽस्था-
पि मित्रः परित्यज्य स्थायिन कृत्रिमशत्रुभाव प्राप्त । उपकारापकारावव मित्रा
मित्रयोर्लक्षणमस्ति । तथा च शिशुपाल सहजमित्रमपि साम्प्रत परस्परपकारेणास्माकं
शत्रुरित्यभिप्रेतमित्य एव, न पुन सधातव्य ।

३८

नैद्यम्य कृत्रिमशत्रुत्वसम्भन्तायाह—हे कृष्ण ! कश्चिन्मणीहरणेन त्वया नैद्यस्य
विप्रियमाचरितम्, अतस्तस्मै तस्य कृत्रिम शत्रुरपि । त्रियो हि रुद्रमूलस्य (एहीत
मूलस्य) वैरपादपस्य प्रधान कारणम् । अत्र कश्चिन्मणी शिशुपालस्य वाग्दत्तासीत्,
तां कृष्णो राक्षसविनाहेन उपयेमे इति पुरातनमनुसन्धेयम् । न चेद् परस्परपहरण
निवृत्तचितम्, 'गान्धर्वो राक्षसश्चैव धर्मो धर्मस्य तौ स्मृतौ' इति क्षत्रियस्य कृते
राक्षसविवाहस्य धर्मरक्षणमस्ति ।

३९.

यथा दूर्वासप्रियाणे कुमेरो सानुमन्धकार आकृणोति, तथैव स शिशुपालस्तपि
मरकासुरविजयव्यापृते सत्यधर लक्ष्मणेमां द्वास्कापुत्रीं परित स्वप्नयाकृणोत् ।
तथा च तस्य स्वमित्र सोऽपि तत्र कृत्रिम शत्रु इति नोपेक्षणीय ।

उपकृष्टाऽरिणा सन्धिर्न मित्रेण, पकारिणा ।

उपकारापकारी हि रुद्रस्य लक्षणमेतयो ॥ ३७ ॥

त्वया विप्रतनूचैद्यो कश्चिन्मणी हरता हरे ।

वद्रमूलस्य मूलं हि महद्देवतरो जिय ॥ ३८ ॥

स्वमित्रं भीम गते जन्ममरीचिष्य पुरीमिमाम् ।

प्रोषितार्यमण मेरोरन्धकारस्तटीनिव ॥ ३९ ॥

४०.

अपकारान्तरमाह—शिशुपालो बभ्रोर्मांसमपहृत्य परदारामिमर्शनं चकारेति
नेतद्विषये किमप्युच्यते, यतः पापानां कथामात्रमप्यकल्याणजननाय पयोऽप्य
भाति ।

४१.

एव शिशुपालो न सहजमित्रमपि परस्परपरिधेन साम्प्रतं हृदिमं शत्रुरिति
सर्वधानुपेक्षणीय एव ।

४२.

शुक्लं कृष्णमूढं शुक्लं घने क्षोद्यतश्चात्मनि प्रतिपद्य वनप्रकाशमिन्द्रां शयान
पुरुषो यथा वनमेरितया बालया मग्नीमूय विनश्यति, तथैव यः पुरुषः स्वापदि
कारणान्तरतः प्रागव्यक्तस्य शत्रोरपकारान्तरं निधायावधत्—न—साधनमिति श्रुति,
सोऽप्यकस्मिन्कन शत्रोराकमण्णनाहु विनश्यति । अतः शिशुपालो नाप भावः ।

४३.

धमाद्यीलोऽपि पुरुषः अल्पम्, लक्ष्म्यं नृपः मूर्खमपि चापराधं धम्
शक्नोति, परं पुनः पुनर्नृपः न क्रियमाणमपराधं सहिष्णुसहिष्णुर्ना कान्तिं सोऽपि
न शक्नोति, शिशुपालो ह्यपराधं कृत्वा पुनः पुनः आवहतितीति न स धर्मश्चा
भित्तुमर्हति ।

४४.

ननु 'धमा पुंसो मूयगमि'ति सर्गदेव उच्यते, इत्यत्र आह—अपरिमं धमा
मूयगमुच्यते, न पुनः सर्वदा । शत्रुकृतपरिमं प्राप्नोति तत्प्रतीकाराय पराक्रम
एव मूयगम् ।

आख्यात्मिकं बभ्रोर्मांसं दारानवाहरत् ।

कथामपि लभ्यते पापानामप्यपेक्षते यतः ॥ ४० ॥

विराट् एव मन्त्रा विराट् बहूषा न न ।

निर्णयेऽपि क्रियया स भुतभवतः सुतः ॥ ४१ ॥

निधाय वैरं सामर्थ्यं नरोऽपि य उदासतः ।

प्रतिबोधयति कच्च शीतं तेऽभिवास्तम् ॥ ४२ ॥

मनागमन्वात्स्या या कामं शोभ्यतु य क्षमी ।

क्रियामग्निद्वारा विराध्यन्तः क्षमेन कः ॥ ४३ ॥

अथवा भूयः पुंसः धमा एतेन बोधितः ।

पराक्रमं परिमये वैवाह्यं मुरतेष्विव ॥ ४४ ॥

४५.

य पुरुष शत्रुतरस्कारटुन्वय-नन्ताऽपि जीवति, न तत्प्रतीकाराय किमपि चेष्टते । तस्य जीवनमतिगर्हितम्, स हि कश्चिद् मातृगर्भधारणप्रसवादिप्रदनादत्र, अप्रयोजक तस्य जन्म, मातृजनननिवृत्तये तादृशस्यानुत्पत्तिरव प्राप्यते ।

४६.

य पुरुष शत्रुहृत्पापमान निश्चितस्तुभीं सहते, वृषापुष्टीऽथी (इदं ददिन इति निन्दार्यमन्वर्थयितेन, प्रकृत्या च गम्यते) तदपञ्चया तद् रज (जट, नपुंसक म य ७७) भेदं यत् पुमि पादोद्धूयितमुद्धूयनयतामव मस्तकमाकामति ।

४७.

यथा धगादयो जातिशब्दाः शुक्रगादयो गुणशब्दाः, पाचकादयः क्रियाशब्दाः स्वानिधेयपुष्पादिभिरुक्तं कञ्चन विशयमपि प्रतिपादयन्त, न तथा यद्वन्ताशब्दः, स हि चारादिभ्यतिरक्ता घर्षिमानमव बोधयति, व्यवहार एव तस्य मुख्य प्रयोजनम्, तथैव य पुरुष स्ववर्तिमास्त्रादिभारवन्तुपाध्ययनादिना, इनाद्रि क्रियान्दानेन वा, शीघ्रोदर्यादिगुणैर्वा न कञ्चन शुक्तकीर्त्यादिरूपं धर्माद्यन्यतम वा पुरुषार्थं भाषयति, तस्य जन्म कश्चिद् ब्राह्मणादिपञ्चाधारणार्थमेव । व्यवहार विद्वय नाममात्रेण च ब्राह्मणादिव्यवहते । यथा अक्षरादिषु वैशाकरणानां गुणपद प्रयोग पारिभाषिक, न स वस्तुतो गुण, तथैव तस्मिन्पि अक्षरादिपदप्रयोग, न स वस्तुतो ब्राह्मणादि ।

४८.

दुह्मावमगाधता च लङ्कटहृनीयताया हेतु मय, तत्र प्वदे कवर्त्तं दुह्माव मवाप्ति, लङ्कटे च कवर्त्तागाधतेव, मनश्चिनि तु पुरुष तटुमयमपि विद्यत-इति स पर्वतसमुद्रपक्षेयाप्यनिदुर्लभ्य ।

मा जीवन् य परावशाटु नश्योऽपि जीवति ।

तस्यावननिरवास्तु जननीकशकारिण ॥ ४५ ॥

पादाहत यटुयाय मूर्धनिमधिरादिति ।

स्वभादेवापमानेऽपि देहिनस्तद्वर रज ॥ ४६ ॥

असमादयत्र कश्चिदर्थे चातिक्रियागुणे ।

यद्वन्ताशब्दस्तु स सजायै जन्म कवर्त्तम् ॥ ४७ ॥

दुह्मावमिनरा न द्रो नेद म्निवानगाधता ।

लङ्कणीयताहेतुमयं तन्मनश्चिनि ॥ ४८ ॥

४९.

शत्रुपु मृदुभवेदह सर्वयानयमिनसाह—यद्यपि स्वर्गदम—एतन् एव
पराधम्यानि राहुताभिस्येन चन्द्रमसमेव प्रसूते, न पुनः स्वर्गं, तत्र मरणा सप्त-
मेव, चन्द्रमा लड्डु मृदुतेजा, इति च कुत्सेन प्रसूति शक्यते, एवं तु प्रवक्ष्यामि
इति न तत्र राहो सहसा प्रसूति । तथा च शत्रुपदे लोभनेव व्यवहर्तव्यम् ।

५०.

तैःस्विना रानाया इत्याद्या यदि कश्चन तेजस्वी दूरास्पृष्टे मरेत् तदपि
गमते, स हि दूरस्थितेति स्वतेजसा लोकान् अभिमन्त्रितुं शक्नोति । इमनेवायंनयन्त
रन्वास्नाह—यज्ञाभिमन्त्र्ये तदस्मिन् पुत्रस्य अभिपूजयन्ति स्वर्गं यज्ञमभिरुप-
नीरो मन्त्र्यते ।

५१.

दुष्टारोहशेषादिषु सोमनाशैवरोषेण शक्यते, तथा च यदि मन्त्रि-
काम्यने यदस्मिन्कीर्ति स्वर्गमप्युदेत् तर्हि तदयंनयि कश्चन सोमनाशाश्वरो-
क्षि । शत्रुशिरास्येव तस्या उचित आश्रयो मन्त्रिभूतमिति, तत्रैव वा पाशो
धनस्य स्वर्गमारोहयति, नान्यथा । शत्रुनाममह एव कीर्तिद्वारास्त उपाय
इति तत्त्वम् ।

५२.

चन्द्रमसा कृत्वा स्वर्गमाशेनितो मृत्स्य जले कच्छकान् वधून्, तेनैव
मृते शोकाश्चन्द्रमस भृगुह्नाचक्रे । एत एव विदो मृत्तान् निर्दयं पौडरि-
कमुपाय इत्युच्यते । अतः शत्रुपु नन्देन दुर्भेदये पौडरं तु भेदये
इति भावः ।

५३.

यय आनन्तरं प्रावेदनेनैव शान्ति, स्नानं च किमन्यं प्रसूतं तं मन्त्र-

दृष्टेऽप्यापे स्वर्गानुलिप्तत निरे ॥ ५३ ॥
दिमागुनासु मरते तच्छदिनं शुभं ॥ ५४ ॥
सद्यः प्रान्तेऽप्येव पक्षापञ्चमेव ।
निदग्धेनवासां लुप्तं नर ॥ ५५ ॥
तेजस्विने तेजस्वी वशीयन्ते गमते ।
पञ्चन पञ्चतलसिन्धो वानवेदहम् ॥ ५६ ॥
अहस्व हेमरा वदन्वैमर्षदं विद्विषम् ।
कच्छकमनस्यैव कीर्तिदम्बिरोदिति ॥ ५७ ॥
कच्छकपितृनिन्वा मन्त्रना मन्त्रज्जन ।
वेत्सी निष्ठुरश्चित्तदूये मन्त्रिण ॥ ५८ ॥

यनि, तथैव क्रुद्ध शिशुपाल इदानीं दण्डेनैव (युद्धेन) वशीकर्तुं शक्यते, न सामादिना । शान्त एव सामादिप्रयोगः परति, नान्दान्ते, अनोऽभिप्रेयितव्य एव स ।

५४.

यथा अतितप्त धृत जलप्रक्षेपेण शीत न भवति प्रत्युताधिक दीप्यते पशाला स्नतो निस्सरन्ति, तथैव प्रियोक्य कोपकषायितचेतसः शिशुपाल शान्त न करिष्यन्ति, किन्त्वधिक प्रकोपयिष्यन्ति, अतो दण्ड्य एव सः ।

५५.

ये सधिविग्रहादीनामुपयोगं सम्यग न विजानन्ति, सधियोऽप्ये विग्रह विग्रह योग्ये वा सधिं विधाय राज्ञो हानिं कुर्वन्ति, ते मन्त्रिणो राजमिदूतसंयाज्याः, न ते वस्तुतो मन्त्रिणः, अपि तु मन्त्रिलिङ्गधारिणो राज्ञा क्षत्रवः । उद्वस्य युद्धपरिरोधो न मन्तव्यः, युद्धकाल एवायम् इति बलस्य हृदयम् ।

५६.

नीतिविदः स्वशत्रुपक्षचयः शत्रुपक्षव्यसनं च पृथक् यानकारणमाहुः । तव ह वैवादुभयमप्यस्ति—इति त्वया योद्धव्यमेव ।

५७.

स्वशत्रुपक्षचयमाह—यादवसैवमतिमहत्, न तत् केनाप्यतिक्रमिषुं शक्यते, इत्येव च तच्छत्रुपक्षक्षयं कर्तुमिच्छति परं वेला समुद्रमिव भवत, क्षमैव तत् तथा करणाद् व्यावर्तयति, अन्यथेन प्रागैव शत्रुं सहरेत् ।

५८.

साक्ष्यदर्शने बुद्धिरेव वस्तुतः कर्मा मुक्तदुःखयोरनुमन्त्रिणी च, पुरुषस्तु नित्यं शुद्धबुद्धमुक्तस्वभावः कर्तृशक्तिधर्मरहस्यो बुद्धेः साक्षिमानम्, असङ्गो ह्ययं पुरुषः

चतुर्थोपायसाध्ये तु रिपो सान्त्वयमपक्रिया ।

स्वेष्टमाश्रयं प्राप्य कोऽभ्यसा परिधिञ्चति ॥ ५४ ॥

सामवादा सद्योपस्य तस्य प्रत्युत दीपका ।

प्रतप्तस्त्वेव सहसा सर्पिषस्तोयविन्दवः ॥ ५५ ॥

गुणानामाययातत्थादयं निष्ठावयति ये ।

अमायःपञ्जना राज्ञा दूष्यास्ते शत्रुसज्जिता ॥ ५६ ॥

स्वशत्रुपक्षचये केचित्परस्य व्यसनेऽपरे ।

यानमाहुस्तदासीनः स्वामुत्थापयति द्वयम् ॥ ५७ ॥

लिङ्गघमिषतो लोकानलरुध्यानलधीयसः ।

यादवाग्मोनिधीन् हन्ते वेत्तव्यं भवतः क्षमा ॥ ५८ ॥

इति धत्ते । परमेव सर्वथा तदस्येऽपि पुन्ये यथा सुखदुःखादयो बुद्धिधर्मा अहं
सुखी दुःखीत्यादिना व्यपदिश्यन्ते, तथैव हे कृष्ण । यादवसेना शिशुपालं विन-
श्यते, परं विजयं तस्यस्यापि तथैव व्यपदेश्यते भूयज्यपराजययो रक्षामि-
त्यस्मात्, तथा च कश्चनैव विजयं भावसरमत मा स्तोपेच्छता ।

५९

शत्रुव्यसनमाह—मगधेश्वरो जरासंधः शिशुपालस्य मित्रमासीत्, स च भीमेन
युद्धे हतः । अतोऽसौ मित्रव्यसनात् १०२३ आदिदानीं सुखेन परामर्शितुं शक्यते ।

६०

स्वदास्युपचये परस्य व्यसने वा अभिवेगेन कर्तव्यमिति पूर्वमुक्तम्, तत्रोत्तरं
पतेऽभ्युपेयवरदेनोक्तं, नस्तु तस्य प्रथमस्य एव मानिनामिह, यदा आपदाकान्तं
शत्रुरभिवेगनीय इति नाम शूराणां पथा, प्रत्युत विपत्राक्रमणे शूराणां लज्जा
स्यात्, तस्य मृतस्य भारणे किं शौर्यम् । सर्वशक्तिरस्य एव शत्रु शूराणाममर्षं
विषयो भवति, न तु विपदाकान्तो निर्बलः, यथा राहुः पौर्णमास्या पूर्णमण्डलमेव
च ग्रसतः प्रवर्तते, न तु तिष्ठ्यन्तरेण क्षीणम् हृद्वत् । तथा च साध्यत बलिनो धर्मः,
बलवानामस्माकं शिशुपालोऽभियातव्य एव ।

६१

प्रसङ्गः परपीडनधर्मं बलं भिन्नमेव, तद्वता कृते 'इदानीं शत्रुयोतव्यः,
इदानीं न' इति न कश्चन नियमः । सर्वदेव ते शत्रुमभिवेगयितुं शक्नुवन्ति ।
परव्यसनकाले प्रयोगयोग्यं मन्त्राद्युदाहृतं बलं तु भिन्नम्, साधारणत्वेन तस्य
प्रबलशत्रुपीडनाधर्मत्वात् । प्रकाशतमसोरिव परस्परविरुद्धयोरनयोरैकाग्र्यस्य न
घटते । अयं स्फुटो भावो बलवत् शत्रोरभियाने 'तदा यायाद् विप्लवे व्यसने
चोरिषते रिपो' इति व्यसनमस्ते रिपायभियानं प्रतिपादयद् मनुष्येन विद्वेतेत्यपि
न शङ्कनीयम्, कुतः । ये स्वयं प्रशस्तबलहीना शत्रु परामर्शितुमक्षमास्तेषां कृते
मनुवचनमस्ति । ये तु प्रसङ्गः परपीडनधर्मा, तेषां कृते ॥ 'तथा विप्लवे व्यसनानपेक्षी
क्षमो द्विषन्तं मुदितः प्रतीयात्' इति कामन्दकेन व्यसनानपेक्षयेवाभिवेगेन प्रतिपा-
दितम् । तथा च यथा विभिन्नशास्त्राध्येतुनिषयत्वेन उदितानुदितहोमयो परस्पर

विषयस्तत्रैव स्नाया साक्षिमात्रेऽपदिश्यताम् ।

फलमानि समीक्ष्योक्ते बुद्धमौगं इवात्मनि ॥ ५९ ॥

हते हि विष्णुरिपुणा राशिं द्वैमातुरे युधि ।

चिरस्य मित्रव्यसनी मुदमो दमयोषज्ज ॥ ६० ॥

नीतरापदि यद्रम्य परस्तन्मानिनो ह्रिये ।

विधुर्विदुन्तुदस्येव पूषस्तस्योत्सवाय सः ॥ ६१ ॥

विरोधो न बाधक । तथैव भिन्नविषयत्वेन व्यसनाव्यसनयोरभिषेकान् प्रतिपादय-
तोर्ननुकामन्दकवचशोर्विरोधोपि न बाधक ।

६२

युधिष्ठिरयज्ञे सन्निधानाय इन्द्रप्रस्थगात्रा न कर्तव्या, इदानीं तु अभिषेक-
तामश्माक हस्तिवत्नेन निविडस्य चेदिराष्ट्रस्य उद्यानादिविनाशेन पञ्च एव
प्रातःकाल ।

६३.

यादवाना सेना माहिष्मती शत्रुराजधानीं परितस्तथा वृणोतु यथा शनस्तत्रैव
निरुद्धास्तिष्ठन्तु । न च बहिरागतुं शक्नुयुः । किं च सर्वाणि प्रवेशद्वाराणि तथा-
रोद्धव्यानि यथा तत्र भोजनसामग्री, तत्साहाय्यार्थं सै यम्, पशूनां कृते घास
काष्ठादिकं चादश्यकं वस्तु किमपि कपमपि प्रवेशयितुं न शक्येन । यथा राश्री
दोहानन्तरं गावो गोष्ठे प्रवेश्य निरुध्यन्ते, न च तत्र तदानीं क्षीराद्याहरणार्थं
विहङ्गिकावाहकानां प्रवेशनिर्गमौ भवत, तद्वत् । तथा सनि कुमुभादिपीण्ति
शयं सुखं स्यात् ।

६४

जगति सर्वो लोक स्वार्थसिद्धये यतते, इन्द्रस्य स्वग्रन्थाम् सूर्यस्य तपनं च
स्वार्थयुक्तमेव, तथैव युधिष्ठिरस्य राजसूययागोऽपि स्वार्थमुद्दिश्यैव, नास्मदर्थः
पराधीना । तथा च यदि सर्वो लोक स्वार्थसाधनव्यग्रं तर्हि वयमपि कुतो न
स्वशत्रून् निहत्य स्वार्थं साधयेम । इन्द्रदिवमानयोगक्षेमा न पार्थ इति भाव ।

६५.

अस्माकं सैनिका शत्रूणां क्षिरासि निन्दन्तु, शत्रुक्षिराकाः सैनिकानाम
स्य सूर्यकिरणवर्षकणं विद्योतमाना निर्यात इव भान्तु ।

अन्यदुच्छृणुत सत्त्वमव्यक्तान्ननियन्त्रितम् ।

सामानाधिकरण्यं हि तेवस्तिमिरयो कुत ॥ ६१ ॥

इन्द्रप्रस्थागमस्तावत्कारि मा सन्तु चेदय ।

आश्माकदत्तिसानिध्याद् वामनीमृतमूढ ॥ ६२ ॥

निरुद्धवीविधासारप्रसारा गा एव वज्रम् ।

उपह्वन्तु दाशार्हा पुर्वा माहिष्मतीं द्विष ॥ ६४ ॥

यज्ञता पाण्डव स्वर्गमस्मिन्द्रस्तपस्विन ।

अय इनाम द्विषत सर्वं स्वार्थं समीहते ॥ ६५ ॥

लयादिभेदेन च यथानन्तमेद भवति, तथैव परिमितैरकारादिभिर्वर्णैर्निर्मित वाङ्म-
मप्यनन्तम्, अनेके तत्रावान्तरविशेषा, न हि ते सर्वे एवेनैव विज्ञातु शक्या,
काञ्चिदेक काञ्चिदसौ जानाति । अतो बलमद्वेष्टेण साधूक्तोपि विशेषान्तरामि-
धिसंज्ञा न मदुक्तिरनवकाशा । तस्य दुरुक्तरवाद मयैव वक्तव्यमिति गूढामिसधिः ।

७२

भावार्थ सुगम, रामेण सगतमेवोक्तमिति स्तुति, असङ्गतमेवोक्तमिति निन्दा
च गम्यते ।

७३

यथा कुशलस्तन्तुवायो बहुभिस्तन्त्रभि सुकोमलमपि सा-द्रा (सखिलवस्त्राम्)
विवरुपा मनोहरा छाटी वयते, तथैव वार्त्तिजन सुकुमाराक्षरामप्यपरिहृतार्थगौरवा
श्नेपादिगुणयुक्ताम् उरमानुप्रासादिभिरलङ्कृता वार्त्ति ब्रूते, सा हि भोतृणां मनोहा-
रिणी भवति । रामवागव्येवविधेतिस्तुति, नैवमिति निन्दा च गम्यते (अत्र कविना
मदीय काव्यमपीदमेवति सूचितम्)

७४

उद्धवो गर्वे परिहरन्नाह—हे कृष्ण ! ॥ स्वयं नीतिशास्त्रस्य सर्वान् अवान्तर
विशेषान् सम्यग् विजानासि । अत एव यथा ज्ञानदाकार्यं व्यासस्यरीकरणाय
वाचीतस्य शास्त्रस्य पुन पुनरावृत्ति क्रियते, तथैव त्वदग्रे मम नीतिशास्त्रोपन्यास
प्रयासोऽपि ज्ञानस्यैवार्थ आकृतिमानम् । न तु तस्य किमपि विशिष्टं प्रयोजनमस्ति ।

७५

सम्प्रति उद्धव स्वमतमाह—प्रमुद्यत्किं कामेन राधा न केचन्मुखादहच्छय एव
यतोयनम्, अपि ॥ मन्त्रशक्तयेऽपि, यत मन्त्रोत्साहो मिलितैव प्रमुद्यत्किमुत्सा-
दयत, न पुनर्ह्यस्तौ, तथा च बलमद्वेष्टस्य केचनोत्साहवादो न समीचीन ।

वर्णं कतिपयैरेव ग्रथितस्य स्वरैरिव ।

अनन्ता वाङ्मयस्याहो ! गेयस्येव विचित्रता ॥ ७२ ॥

बहुवि स्वेच्छया काम प्रकीर्णमभिधीयते ।

अनुज्ञितार्थसम्बन्ध प्रबन्धो दुरुदाहर ॥ ७३ ॥

अदीयसीमपि धराप्रवल्गुणकल्पिताम् ।

प्रसारयन्ति कुशलाब्धिना वाच पटीमिव ॥ ७४ ॥

विशेषविदुषः शास्त्रं यच्चोद्गमास्तते पुर ।

हेतु परिचयस्थेयं वक्तुर्गुणनिज्ञेन सा ॥ ७५ ॥

७५

यथा अश्वगमनादिपरिभ्रमभ्रान्त पुरुषः सोपवर्हां द्रष्टीयसीं शय्यामविशय्य विभ्रान्त भ्रान्तिं नानुभवति, तथैव ये पुरुषा सर्वव्यवहारेषु युक्तियुक्ता स्थिरां प्रज्ञामाश्रयन्ते—अवांतरविशेषार्थोन्नेचनया बुद्धिपूर्वकमेव कार्यं विदधते, न केवलम् उदाह एव निधीदन्ति, तेषामनेकत्रिकार्यसंपातेऽपि न जातु मनाङ् मानसिकं धर्म व्याकुलता वा जायते । सुखेन ते कार्यं निर्वहन्ति । अत उदाहृद् घोरतायाभयणीयैव ।

७७.

यथा तीक्ष्णो बाण लक्ष्यस्य अल्पमेव प्रदेशं स्पृशति, किन्तु भित्त्वा तदन्तः प्रविशति, तथैव सोमबुद्धयः परिभ्रम स्वरूपमेव कुर्वते, पर बहुकार्यं साधयन्ति । मन्दबुद्धयस्तु अल्पस्य कार्यस्य कृते बहु प्रयस्यन्ति, यथा प्रस्तरो यत्र प्रदेशो पात्यते स तत्र पतितो यद्यपि भूयांस प्रदेशं व्याप्नोति पर तत्प्रदेशस्य पृष्ठ एव तिष्ठति, नान्त प्रवेष्टुं शक्नोति, तद्वत् । मूषकप्रहणाय शिलखिलनं परिहासास्पदं भवतीति भावः ।

७८.

पूर्वं तु मूढा लब्धेव कार्यमारमन्ते, पर तथापि ते अधीरा भवन्ति न च सदारब्ध कार्यं यथायथ समाप्तिं नयन्ति । बुद्धिमन्तस्तु महस्यपुद्योगे सलग्ना न मात्रपाप्यधैर्यं दधते, आरब्धं च कार्यं समाप्तिं नीत्तैव विरमन्ति ।

७९.

यथा मृगाणां यातायातमार्गे आत्मानं गोपयित्वा स्थितोऽपि श्याधो यदि चतुर्दृष्टो (सावधानो) न भवेत् तन्दाक्रान्त स्यात् । तर्हि न मृगान् इन्तुं समर्थो भवति, तथैव साधनवानपि पुरुषो यदि प्रमादो भवति, तर्हि न जातु कार्यसिद्धिं लभते ।

प्रशोषाहवतः स्वामी यतेताघातुमात्मनि ।

तौ हि मूलमुदेध्यन्त्या जिगीषोरात्मसम्पद ॥ ७६ ॥

सोपधाना धिय धीरा स्थेयसीं स्वव्ययन्ति ये ।

तत्रानिष्ट निषण्णास्ते जानते जातु न धमम् ॥ ७७ ॥

स्पृशन्ति शरवत्तीक्ष्णा स्तोक्रमन्तर्विशन्ति च ।

बहुस्पृशाऽपि स्थूनेन स्थीयते बहिरश्मन्त ॥ ७८ ॥

आरमन्तेऽल्पमेवाद्याः काम व्यग्रा भवन्ति च ।

महारम्भा कृतधियस्तिष्ठन्ति च निराकुला ॥ ७९ ॥

८०

यथा द्वादशादित्याना मध्ये दिनकरो वायुतो य आदित्य स एव उदेति नान्ये, तथैव अरिम्बादिद्वादशराजनण्डल स एवाभ्युदय प्राप्नोति यो निम्नीयवा निरन्तरमुद्योग करोत, नान्ये । तथा चोद्योग एवाभ्युदयस्य मूलम् ।

८१

न लघु नरपति साधारण पुरुष तस्य हि बुद्धिरव प्रधान शक्तम् तस्या एवामोघपातित्वम् । अमात्यादिसत्तराज्याङ्गान्यव तस्यावयवा, तद्बैकल्ये राज्ञोऽपि वैकल्य स्यात्, मन्त्रगोपनमेव तस्य कर्तव्यम् । कर्मभेदे तु शरीरमेव नश्यति, मन्त्रभेदे तु राज्यनाशप्रसङ्गः । चारद्वारैव स्वरराष्ट्रवृत्तान्तवदनाचार एव तस्य क्षणानि, तदभावे राज्ञः स्वस्वमण्डलवृत्तान्तज्ञानाद् अभ्यन्तस्याभ्यन्तस्येव पदे पदे विनिपातः । दूतद्वारैव तस्य धावान् वायव्यवशात् बाधते इति दूत एव तस्य बाधः, तदभावे मूकस्येव बाधव्यवहारसिद्धौ सर्वकार्यप्रतिष्ठ स्यात् । तथा च राज्ञो बुद्ध्यादिसम्पन्नेन भवितव्यम् ।

८२

यथा रत्निकः क्रीडा रत्नानुष्ठेन ओजस्विनीं मकुमाणा वा उभयनीमपि रचनामाधयति, शृङ्गारादिषु मकुमायाम्, रौद्रादिषु ओजस्विनीम् न तस्य रचनाविशेष आसौ तथैव समयस्य राज्ञोऽपि तेवति क्षण या वा नाप्रह किञ्च यथाकालं पश्यति तथा करोति, अभिषेगनोचिते काले अभिषेगते, क्षणाकांश्च क्षणते ॥

८३

यथा रोगः अपश्यसेवनेन तत्कारणं न कचन विचारं बहिः प्रकल्पति, परं कालक्रमेणान्तरवस्थितेन तेन विकारेण सात्त्वता प्राप्नोति, रोगिणः शक्तिशयावसरं च प्रकल्पति, अन्तर्गतं निहन्ति च । तथैव चतुरो मूर्तिरपि परवृत्तकारं कालप्रतीक्षया वृत्ते, नात्मनो मनोविचारं बहिः प्रकल्पति, वैविद्यान्तार्यमन्त्रवितमेव

उपायमास्थितस्यापि नश्यत्यर्थो प्रनायतः ।

हन्ति नोपशयस्योऽयं शयास्तुष्टं तुष्टम् ॥ ८० ॥

उदेतुमत्यक्नोद्वा रात्रिं द्वादशस्तति ।

त्रिगीपुरेक्षी दिनवृत्तादित्यपि कल्पतः ॥ ८१ ॥

बुद्धिश्च प्रकल्पको घनवृत्तिकश्चुक् ।

चारेक्ष्यो दूतमुखं पुरुषं कोऽपि पदिनः ॥ ८२ ॥

तेऽहमा वा नैवात्तं च तस्य महीतः ।

नैकमेव प्रसादो वा हरन्नाववेदः क्व ॥ ८३ ॥

शक्तिरनयं करोति, एवं च अप्रतिजयधीरः सन्, शत्रुपक्षे शत्रोऽमुते एति तं विनाशयति । तदुक्तम्—‘वदेदमिदं स्वप्नेन यावत्कालविपर्ययः, तमेव यागते काले भिन्नाद् पटीमवापमना’ इति । तथा च शिशुपालाभियोगनाम कालः प्रतीक्ष्यः ।

८४.

यथा दीपः कोमलया तुल्यवर्तिवयैव तीव्रमावृण्व वारुति, तदभावे तु दूरं शैलाकर्णम्, एवमेव ह्यात्मनि, तमेव धान्तिपूर्वकमेव ध्यामतेन चरति, नाम्यथा वाताः पूर्वं शन्तवमेव ।

८५.

यथा काव्य निमिगणः भेष्ट कविः शब्दार्थमोरन्तरं नीयेद्यते, किम् तु काव्यज्ञ-रीरकानुभवंमभ्यस्यति, तथैव विद्वान् पुरुषोऽपि, न वेदतं दैवमेवावलम्बते, पुरुषकारं विना देवरात्रिस्त्रिंशत्वारिणां, न हि पानिगणैरप्यतः पंगुलरथमपि भोभनं एवम मुले प्रविशति । एवं न च वेदले पुरुषकारे विधिविति, देवप्रतिनूहये पुरुषकारस्यापि धैर्यदर्शनात्, तथा चोभयमपि मिलितं कार्यसाधकं भवतीत्युभयमप्याभ्यस्यति ।

८६.

यथा निभापानुभाषणवारिभाषाः संभूत आरम्भस्योद्यतापादनद्वारा रथादेः रथापिन एव उपसृज्यते, तत्कृत एव तेनो रथावारः । तथैव राजानोऽपि धान्त्य-वसरं प्रतीभमानश्च, तथा चेदानीं शिशुपालः शन्तव्य एव । अथवा यथा काव्ये प्रसङ्गाद् वर्णिता अभ्ये रथा अङ्गिराद्योपक्रमेण, तथैव राजानोऽपि रथापिर्न नायकमेवोपसृज्यति ।

८७.

यथा विप्रवैद्यः शस्त्रोपप्रयोगभीक्षणेन देवतास्मरणादिना च मृदताः सर्वा-

दृतापनारोऽपि परेरनाविष्कृतविनिगः ।
अगाधः मुहते कौरं प्राप्ते काले गदो यथा ॥ ८४ ॥
गुह्यवदितं तेनो मोक्षमर्था-प्रवृत्ते ।
प्रदीपः रौद्रमादधे दशमोऽप्यन्तरधया ॥ ८५ ॥
नालम्बते दैविकता न निषीदति वीर्ये ।
शब्दार्थो वरुविरिष प्रथं विद्वानवैशते ॥ ८६ ॥
रथापिनोऽप्ये प्रवर्तन्ते भाषाः सम्राजिनो यथा ।
रथैकैव भूमीभरतथा नेष्टुर्महोभुजः ॥ ८७ ॥

नपि वद्यमानयति, तथैव यो नृपति स्वपराष्ट्रवृत्त सम्यगवतुष्यते, स्वपरराष्ट्रयो-
यथायथ सामाश्रुपायप्रयोगेण स्वातङ्कुमास्थापयति, स स्वशत्रूननायासेनैव निग्रहीतुं
शक्नोति ।

८८.

उत्साहशक्ते मन्त्रशक्तिरेव प्रधानं मूलम्, मन्त्रपुरस्सर एव उत्साहो विस्ता-
रिणी समृद्धिशालिनी च प्रमुखाकिमुत्पादयति । मन्त्रोपश्रवा तु निश्चिन्नमूर्तो वृद्धश्च
शुष्यति, अतो मन्त्रो नोपेक्षणीयः ।

८९.

शक्तो हि राजा स्वयमुदासीन एव आकाशस्य स्वमहिम्नैव कार्यदेशं व्याप्नु-
वन् शब्दानिष परोपादितान् सर्वोपात्तपि स्वकीयतां नयति ।

९०.

अरिमिश्रादयो द्वादश राजानं पूर्वंमुक्ताः, त एवान् यातव्यपाणिग्राहादि-
शब्देन विवक्षिताः, ते सर्वेऽप्यन्योन्यस्मात् स्वोत्कर्षमिच्छन्ति, इति स्वोत्कर्षमिद्विस्ते-
षां तुल्य प्रयोजनम्, एवं तुल्यार्थाभिलाषिण्या तस्या राक्षमालायामधिकृतेजस्वी
शक्तिः सन्तो निगीतुरेव मणिमालाया मन्त्रमणिरिव शोभते ।

९१.

पूर्वं श्लोकश्रवेण शक्तिः उपदममिधायेदानीं पादगुण्यप्ररोगप्रकारमाह—राशा-
स्वपरचोर्मन्त्रोरसाहादिशक्त्यनुसारेणैव सधिनिग्रहादीनामुपयोगं कर्त्तव्यः । इत्थं कृते
सत्स्यामात्यादिसप्तप्रवृत्तयः स्थिरा दृढाश्च भवन्ति । शक्तिमुपश्य सन्ध्यादीनुपयु-
ज्जामस्तु आपदाक्रान्ते क्षयमेति । यथा रोगी जराजीर्णा वा जनं यदि स्ववलातु-
सारेण मात्रया रसायनमुपयुञ्ज्ते, तर्हि स्वस्थो भवति, तस्य शास्त्राणि कार्यक्षमता-
मासाद्य कालान्तरेऽप्युपयोगमावहन्ति । नद्यादधिका माषा गृहानस्य तु तदेव रसा-
यनं विनाशहेतुर्भवति ।

तन्त्राचारविदा योगैर्मण्डलान्यधितिष्ठताः ।

मुनिग्रहा नरन्द्रेण षणीन्द्रा इव शत्रवः ॥ ८८ ॥

करप्रचेयामुत्तुङ्ग प्रमुखाकिं प्रथैवसीम् ।

प्रशावल्बृहन्मूलं पन्त्युत्साहपादय ॥ ८९ ॥

अनीलरत्नाद्यध्वानत्वाद्भस्मेवेतरं स्वराः ।

विन्धिगीषोर्नृपतयः प्रयान्ति परिवारताम् ॥ ९० ॥

अभ्यनारभमाणस्य विमोदतादिता परैः ।

द्वजन्ति गुगतामर्षाः शब्दा इव विहायसः ॥ ९१ ॥

१२.

यथा यः पुंषः अशक्यकर्मणो निवर्तते, शक्ये च भग्ननादावपि यथाशक्ति प्रवर्तते, तस्य शरीरमुपचीयते, परिपुष्टं भवति, यच्च तद्विपरीतमाचरति, तस्य बन्धयाद् दिनाशो निश्चितः, तथैव यो नृपतिः क्षमाकाले क्षमाम्, व्यायामकाले च स्वशक्त्यनतिक्रमेण व्यायाममनुनिष्ठति, तस्य राज्यमुन्नतं भवति । अतथाकृद्वागस्य तु राज्ञश्चो दुर्निवारः । तथा चास्माकमस्मान्मन्त्रैश्चावस्कन्दनमभयस्करम् ।

१३.

यस्मिन् पदे यस्योदात्तः स्वदितो वा विधीयते तनेकमच वर्धयित्वा शेषं तत्पदमनुदात्ताच्च भवति इति वैयाकरणाः । तथा च यथैकस्मिन् पदे उदात्तस्वर इतरान् सर्वानपि स्वराननुदात्तान् करोति, तथैवातिशक्तिशाली चैद्यः स्वशत्रून् एकपदविन्यास एव (तत्क्षणे वा) निहन्तुं समर्थः, अत इदानीं नाभियातव्यः ।

१४.

अराधनमित्रस्य नाथेन शिशुपाल इदानीनेकाकी वर्तते इति मुखेन ज्ञेयते इति मा स्म मनसि कृपाः । संन्यस्येऽपि राजानस्तत्रहायाः, ये चोदासीनास्तेरीदानीं तस्मिन्ममियास्यमाने तत्साहाय्यं प्रतिपत्स्यन्ते । तथा च यथा रोगराजः क्षयः एकाकी न तिष्ठति अपि तु मध्येऽपि रोगास्तेन सह वर्तन्ते वतिषुं संभाव्यन्ते चेति हेतोः स रोगसमष्टिरुच्यते, तथैवायं शिशुपालोपीदानीं राजसमष्टिरूप इति नास्त्यावचारः कर्तव्यः ।

१५.

शिशुपालस्य राजसमष्टितामेव समर्थयते यथा शक्यः वेगगतये योबिनकङ्कपत्रस्तीक्ष्णं हार आरूढमरुद्धेन धनुषा समुग्रते, तथैव बापासुरोऽपि शिशुपालेन

यातव्यपार्श्विग्राहादिमालायामपिकुचतिः ।

एकार्धतन्त्रुप्रोतायो नायको नायकायते ॥ १२ ॥

षाट्गुण्यमुपयुज्यते शक्यपेक्षो रसायनम् ।

भवनयस्यैवमङ्गानि स्यान्मूनि प्लवन्ति च ॥ १३ ॥

स्थाने शम्यता शक्यता व्यादाने वृद्धिरङ्गिनाम् ।

अयमाचलमारम्भो निदानं क्षयसम्पदः ॥ १४ ॥

तदीशितारं चेदीनां भवास्तमस्तमस्त मा ।

निहन्तरीनेकरदे य उदात्तः स्वयन्निव ॥ १५ ॥

सधास्यति, अयमाभसधि—शिगुपालेन बाणासुरस्य बहुपट्टनमिति कृतञ्चतया बाणासुर शिगुपालेऽभिषेक्यमानेऽस्य तत्साहाय्य स्वीकृत्यति । न च बाणासुर एकाकी निरलो वेति तत्साहाय्येऽपि न काचन क्षतिरिति मनसि करणीयम्, स हि समुद्रद्वगं शिगुपालसाहाय्यायोपतिष्ठेत स्वयमपि च स न निषेध, अपि तु शत्रुभेदनक्षम, अतोनाय चैवप्रत्यवस्कन्दनावसर ।

१६

ज्ञेयानुप्राणितोपमा । विशेषणाना साभिप्रायस्वात् परिकरोऽपि ।

१७

किं च न केवल बाणासुर शिगुपाल सधास्यति, अपि तु यथा स्वाग्ने रजनी मुखमनुयाति, तथैव दुष्टस्वभावा कालयवनादयोपि मुख्यधर्मतया दुष्टस्वभावमेनं शिगुपालमेवानुयास्यन्ति ।

१८

राणादय अस्माभि कृतसधयो नेदानीं विराध्यन्ति इत्यपि न मन्तव्यम् । अन्तर्वैरा सहिता अपि काले निश्चिध्यन्ति । यद्यपि ते कारणान्तरेण भवता कृतसधय सन्ति । तेषां हृदये तद्विषये वैराग्निरप्रकटरूपेण विद्यत एव यदीदानीं शिगुपालोऽभिषेक्येत, तर्हि स स्वल्पेनाभ्युत्थनेन अन्तर्वैरास्तान् स्वतो मेस्यति, यथा च वायु अग्निरहितानि काष्ठानि प्रज्वालयति, तथैव तत्कृतो भेदस्तान् पूर्ववैरनिर्यातनार्थं त्वद्विच्छदान् विधास्यति ।

१९

जुष्टोऽप्येवम्, साहज् महावीरश्चैवस्तु किम् वक्तव्य इत्यरिघन्देन सूच्यते, ह्यतरन् स्पष्टम् ।

मा वेदि यद्वसावेको जेतव्यश्चेदिरादिति ।

राज्यरक्षमेव रोगाणां समूह स महीभृतान् ॥ १६ ॥

सम्पादितफलस्तेन सपथ परमेदन ।

कामुक्तेष्वेव गुणिना बाण सन्धानमेष्यति ॥ १७ ॥

ये चान्ये कालयवनशाल्वरुक्मिद्रुमादय ।

तम स्वभावास्तेऽप्येन प्रदोषमनुयायिन ॥ १८ ॥

उपनाप कृतस्तेन तानाक्षोपवत्स्त्वयि ।

आशु दीपयिताऽरूपोऽपि साध्वीनेधानिवानल ॥ १९ ॥

१००

किंचेदानी चैवामिषेणने क्रियमाणे राज्ञस्तु केचित् तत्पुत्र केचिच्च स्वल्पं
मवलम्ब्य युद्धे ०यापियेरन् इत्य सकलस्यापि राजमण्डलस्य युद्धव्याप्ततया युधिष्ठिर
यज्ञे न कोऽप्युपस्थातु शक्नुयात् । तथा चैवमनिच्छतापि स्यात् मित्रविरोध
कृत स्यात् ।

१०१

तदेव सर्वमिन्द्र राज्ञस्तु रणभूमिप्रवर्तनीये युधिष्ठिरस्य यज्ञसमारोहो विधित
स्यात्, ॥ तत्र कोऽप्युपतिष्ठेत्, एतस्य च मूलकारणं चैवामिषेणनप्रसङ्गेन सकल
राजमण्डल युद्धे ०यापावयन् स्वमेव मय, किं च मलविघ्नोत्पादनेन ०मेवाजात-
शयो प्रथमं शत्रुर्भवेत्—इति सर्वथा युद्धाद् विरमणीयम् ।

१०२.

यथा कश्चिदेकाकी स्वस्व-वे भारं बोद्धुमसमर्थं दृढस्व-ध सहायान्तरमपेक्षते,
तद् द् युधिष्ठिरोऽपि स्वमेव दृढ स्वसहायं मत्वा यज्ञमारिष्वते, न च स्वमा स
कार्यान्तरमप्यग्रान् राजेन उपेक्षणीय, यत स पैतृभूमयत्वाद् तत्र बन्धु,
तदुपश्रुणे बन्धुद्रोहो विश्वासघातश्च स्यात् । बन्धुरपि दुर्वृत्त शक्यत उपेक्षितुम्,
न स तादृशः, किं तु धर्मराजः, तथा च स्वमा युद्धाद् विरम्य यज्ञ एव
सन्निपातव्यम् ।

१०३

ननु प्रतिशयाकरणे दोष प्रागेव निवेने तु को दोष इत्यत आह—
उदारहृदयै प्रार्थयमाना शत्रवोऽपि दत्तहस्तावलम्बा भवन्ति, युधिष्ठिरस्तु तत्र
बन्धुः तत्प्रार्थनां सुतरां नोपेक्षितव्या, इतरत् स्पष्टम् ।

वृहत्सहाय कार्यान्तं धौदीयानपि गच्छति ।

सम्प्राप्तमभिमुख्येति महानद्या नयापगा ॥ १०० ॥

तस्य मित्राण्यभिवास्ते ये च ये बोधये नृपा ।

अभियुक्त स्वयैव ते गतारस्त्वामत परे ॥ १०१ ॥

मलविघ्नाय सकलमित्यमुत्पाप्य राजकम् ।

इ-त । जातमजातारे प्रथमेन स्वयाऽरिणा ॥ १०२ ॥

सम्प्राप्य स्वामतिमरक्षमस्व घ स वा घव ।

सहायमध्वरधुरा धर्मराजो विवशते ॥ १०३ ॥

१०४.

नवेदानीमुपेक्षितोति पार्थ पश्चादनुनेष्यत इति मनसि कर्तव्यम्—यत्न-
सहृदयिाचरणेन वैमनस्य प्राणिना मुह्यत पुन शतशस्तदनुरोधनाल्लेनानि
अनुकूल्यितु न शक्यन्त । अतस्तद्विरोध सर्वथा परिहरणीय । किं च
चैद्यद्विषयाय का ते रजरा, दन्वान् अथ शो वा शोय विषाद् वा यदा कदापि
शत्रुमपिपेयन्ते, तस्य निश्चिना विजय, न्या च यदि निषद्रोहमनुयायानि
विजयस्ते निश्चितस्तर्हि, किमर्थं मुना निमुदेष्यत ।

१०५.

ननु सृष्टृस्त्वपि यदा मुरकार्ये दलीय इतीन्द्रसद्वैद्यमनुसृत्य शिशुपालहननेन
देवसतोष एव पूर्वं सपादनीय इति चेत्, सत्यम्, य द चैद्यग्नि-घनेन देव
प्रसादनमेव ते सद्रूपं तर्हि तदपराय यस्मैव दत्ताना प्रीति विद्येयत साधयितु
शक्यते, इविमिया वै देवा यश्च एव इवैषि लब्धते नाप्यत्र । (शत्रुवधस्तु
यज्ञान्तरमपि मुकट, तथा सति देवानामुभयथा प्रीति, इविग्निमि शत्रु-धनं
च) तथा च मित्रा-निशचेनापि देवप्रीतौ सम्बन्धानाया मित्रविरोधो न कर्तव्य ।
यस्ते शत्रिघातध्वमव ।

१०६.

ननु अमृताग्निना देवा तेषां किमेमि पिण्डपुरोडाशमक्षयप्रलोमनैरित्यत आह—
अग्नौ निधिपूर्वकम् हुत पुरोडाशादिद्रवमेवामृतमुच्यत, नान्यदस्यमृतान्तरम्
देवाभिरैः सम्भूत मन्दर मन्थदण्ड प्रकल्प्य समुद्रो मथित ततश्चामृतं प्रादुर्भूतमिति
तु लोकदिनोदाम कनिकल्पनाप्रसूनालङ्कारिकवर्णनाम् ।

१०७.

न केन नितद्रोह एव त्वा समामातु प्रतिवन्दि अपि तु त्वन्प्रतिष्ठानि, तथा
हि त्वया शिशुपालकनर्ता प्रति प्रतिष्ठात—यदहं शिशुपालस्य शतनरायान् क्षमिष्ये,

महात्मानोऽनुवृत्ति मन्त्रमानान् रिपून् ।

सपत्नी प्राण्यत्यन्त्रि लिम्बवो नग्निध्वज ॥ १०४ ॥

चिरादपि बलात्कागे बनिन शिष्टदेऽपिषु ।

छन्दानुवृत्तिं प्राप्या मुह्यतो निमनीकृता ॥ १०५ ॥

मन्थमेवैव मेवान्प्रोक्तं नाकनामिति ।

पुरोडाशमुवाविष्टमिष्ट कर्तुमन्तराम् ॥ १०६ ॥

अमृतं नाम यस्तन्तो मन्त्रा हेतु लुहति ।

शोमेव मन्दरदण्डमिताम्भोदितम् ॥ १०७ ॥

न चाद्यापि तदपराधाः शतसंख्यामिताः, ततः पूर्वमेव तद्वधे प्रतिष्ठाभक्तो महान् दोषः प्राप्नोति, अतः प्रतिज्ञानुरोधेनापि त्वया चैवोऽप्युना नाभियेगनीयः ॥

१०८.

सत्पुरुषाणां बुद्धिर्यद्यपि निश्चिता तथापि सा न शस्त्रादिवत् परमर्माणि भिनत्ति, अहिसयैव कार्यं साधयति, तथैव तेषां कर्माणि परास्तत्प्रमावाकान्तान् विदधते, परं पीडोत्पादकानि न भवन्ति । एवमेव तेषां मनोऽभिमानव्यवहितं भवति, न मात्रयाप्यपमानं सहते, तथापि अनुचितात् परसंतापनाद् विरमति । इत्यमेव सत्यसन्धोऽपि सत्यमेव वदति—न जातु तदुक्तं विपर्येति । तथा च सत्यसधस्य—तय प्रतिभूतार्थहानिरनर्हा ।

१०९.

अपराधशतशमारूपवरदानेन त्वया शिशुपाल, स्वयमनुग्रहीतः, तथा च अपराधशतात् पूर्वं न त्वयारि स हन्तुं शक्यते, वृथेदानो तदभियेगनम्, अपराध-सत्यापूर्तये कालः प्रतीक्षणीयः । यथा सूर्यः स्वयमेव दिनं प्रकाश्य न मध्य एव तदन्तं विधातुं प्रभवति, अपिष्वस्तमनकाल एव, तद्वत् ।

११०, १११.

तर्हि शिशुपालः सर्वभेदानामुपेक्ष्य एव, नेत्याह, न मे सर्वथा शिशुपालो-पेक्षणे सम्मतिः इदं तु वच्मि, यथा कस्मिंश्चिदशतगाम्भीर्यं महति क्षलाद्यये कुक्षल-पुरुषद्वारा जलावतरणसाधनसोपानेषु पादन्यासेन तद्गाम्भीर्यं विज्ञाय तत्र प्रविश्यते तथा सति न तत्र निमग्ननादिभयं भवति, तथैवाभियेगानात् प्राक्—भवतो निपुण-गुप्तचराः शत्रो राष्ट्रे गत्वा तन् मन्त्रिपुरोहितादिष्वन्तः प्रविश्य—‘कियत्परस्य शक्तिः’ कानि चास्य चिठ्द्राणि’ इत्यादि निपुण गवेषयन्तु, तथा सति शत्रुः सुपरिमवः स्यात् ।

सहिष्ये शतमार्गासि सूनोस्त इति यश्वया ।

प्रतीक्ष्यं तत्प्रतीक्षायै पितृव्यस्य प्रतिभूतम् ॥ १०८ ॥

॥ तीक्ष्णा नाकुन्तुदा बुद्धिः कर्म शान्तं प्रतापवत् ।

नोपतापि मनः सोष्म वामेका वाग्मिनः सतः ॥ १०९ ॥

स्वयङ्कृतप्रसादस्य तस्याहो मानुमानिव ।

समयावधिप्रपञ्च नान्तायाल भवानपि ॥ ११० ॥

‘कृत्वा’ कृत्यविदस्तीर्थेष्वन्तः प्रणिधय’ पदम् ।

विदाकुर्वन्तु महत्तत्त्वं, विद्विषदम्भसः ॥ १११ ॥

११२

यथा व्याकरणशास्त्रं सूत्रानुसारि-शास्त्रवृत्तिमहामाष्यग्रन्थैष्यवृद्धितमपि पश्य
शास्त्रिकं विना शुक्तिमिव न शोभते, तदध्ययनमन्तरेण व्याकरणाध्ययनमसकल
मन्यते, तथैव चारप्रचार विना राजनितिरप्यसमयेव, कामं तत्र सकलव्यवहारा
नीतिशास्त्राविरोधेनैव सम्प्राप्येत्, मन्त्रशास्त्राधिकारिण पुष्कलवृत्तयः क्रियेरन्,
समये समये ते हिरण्यादिपारितोषिकादिनापि समाभ्येरन्, परं नेताधत्ता चारोपे
क्षणं शक्यं विज्ञातुम्, चारं विना राजोऽन्धप्रायस्त्वात् न तस्य पराध्वनीति सफला
भविष्यतीति । अतः प्रणिधिप्रचारो नितरानावश्यकः ।

११३.

न केवलं चारमुखेन परमुखेन परवृत्तान्तज्ञानम्, अपितु शत्रुपक्षे चारद्वारा
उपजाप्यं कर्तव्यम् । तथा हि एतादृशा निपुणा प्रणिधयः शत्रुराष्ट्रे प्रवेष्टव्या
ये तत्र गत्वा अमात्यादिषु प्रधानपुरुषेषु विश्वम्भोत्पादनद्वाराऽनुप्रविश्य
तत्कृपया तत्रैव वैतनिकं किमपि राजकीयसदमभिष्टाय तथा निपुणं प्रचरन्तु यथा
तद्वहस्य नोद्गाह्येत स्वयं च ते शत्रुममं बानीषु । किं च प्रधानमात्यादीनां
कूटनेत्रान् (सैलिलिनान् स्वयं कल्पितान् वा) सगृह्य सत्यवसरे राजं सविधे
प्रकाश्य, 'इमे भवन्तु प्रधानपुरुषा उत्कोनादिना दिवा दत्तहस्ता भवद्वाराण्य-
मुन्मूलयितुं यत्नन्ते' इत्येव ते महान्तं दोषमाश्लेष्य राजो भेदनीयाः ।

११४.

किं च ये तत्र मुह्यन् चैवस्य अमुह्यन् राजानं सन्ति, ते उभयेऽपि शत्रु-
ल्यमेव चैवपरामभवः कामयन्ते, अतस्ते निपुणैः स्वप्रणिधिभिस्तथा संवेष्टव्या
यथा ते अप्रसयात्राध्याजेन युद्धार्थं सुवर्जिता भूत्वा इन्द्रप्रस्थं उपतिष्ठेरन्,
तेषु तत्रागतैश्चन्यावासेनैव ते महत् कार्यं सेत्स्यति ।

११५.

ननु तत्रागते नीडयो युद्धप्रसङ्गं यदर्थं सञ्चितो राजजगं आहूयेत-इत्यतः

अनुसूत्रपदन्यासा सद्बृत्ति सञ्चिन्धना ।

शब्दविशेषो नो भाति राजनीतिरप्यप्यशा ॥ ११२ ॥

अज्ञातदोषेदोषशेकदूष्योपयवेतने ।

मेधा शत्रोरभिव्यक्तशासनैः सामवायिका ॥ ११३ ॥

उपयिवापि कर्तारं पुरीमाज्ञातधारवीम् ।

रात्र-यका-युपायशेरेकार्यानि चरेस्तव ॥ ११४ ॥

सविशेषं मुते पाण्डोर्मर्किं भवति तन्वति ।

वैरायितारस्तस्मात् स्वयं मत्सरिणं परे ॥ ११५ ॥

स्तत्र महत्कल्हवीजमुपन्यस्यति—युधिष्ठिरो यज्ञे सम्मिलितस्य तव महान्तं संस्कारं करिष्यति, तथाविधं च ते समुत्कर्षं चैद्य तन्मित्राणि अन्ये च त्यक्तप्रबो न सहिष्यन्ते, असहमानाश्च ते तत्रावश्यं कलहप्रत्यादयेषु न च विचारयेषुर्यत्रायं कल्हावसर इति यतस्ते तरला, विवेकान् दूरतोऽपि न स्पृशेत्—इत्यस्ति यज्ञे महती युद्धसंभावना ।

११६.

किं च शत्रुपक्ष्या सर्वेऽपि त्वां हेक्ष्यन्ति, इत्यपि न रमणीयम्, यतस्तेषु सन्ति भृशो यादवाः ये यद्यपि बाह्यात्प्रभृति शिशुपालेन सह मित्रमुपागम्येदानीं तासमानवैषम्यप्रभुञ्जते, परन्तु स्वया सह कलहावसरे न ते शिशुपालमवलम्बिष्यन्ते यतस्ते स्वान् यदुवचषरान् विज्ञाय स्वया सह विराधेन स्वयंशविशेष न कामयेन् अभवा परायत्ता अपि ते आत्माधिमानिनो न स्वजातिनिरोधे प्रवर्तेरन् ते तदानीं तस्मात् पृथग्भूत्वा स्वामनुप्रविशेषु । यथा पिकपोता काकशानके सह एकस्मिन्नेव नीळे काकैरेव सवर्ष्यमाना सति सामर्थ्ये काककुलं परित्यज्य स्वकुलमनुप्रविशन्ति तद्वत्, पिकथो निभृतं काकनीड एव स्वाण्डानि प्रसुवते, तानि च काक्यः स्वीयबुद्ध्या रक्षन्तीति लोकवृत्तमश्वानुसंधेयम् ।

११७

पतङ्गं खलु स्वमावतभञ्जो नैकप्रावतिष्ठते, अनवरतं व्यामृतौ तस्य पक्षादप्यतिदुर्बलौ न किञ्चिदप्यसह्यं शक्नुतः स यथा निजनेत्रागिक्रवापलेन प्रो दुर्घर्षां बन्दिशिलासाम्राज्यं तत्र सहसात्मानं जुहोति, तथैव तव शत्रवोऽपि निसर्गदुर्विनीततया उदता सन्ति । परं तेषां पथो दुर्बल । अतस्त्वया सह वैरायिष्यमाणाः तव दु सहतेजसि भस्मसाद् भविष्यन्तोऽस्माभिराशास्यते ।

११८.

हरिकद्वयस्य व्याख्यानं भत्वा नितर्गं प्रासीदत्, यतस्तत्रोद्भवः प्रतिविषय नीतिशान्त्रानुसारिणी सम्यग् विवेचनामकरोत् नीतिरिद्धं बलमद्रोक्तमपि पुनर्या प्रतिविज्ञेय । भन्ते च हरिः सर्वां विसृज्योदस्थात् न चैतस्मिन्स्थाने विदिता

य इहात्मविदो विपञ्चमथ्ये सहस्रवृद्धियुजोऽपि मृशुनः स्यु ।

बलिपुष्टकुनादिवाग्यपुष्टैः पृथगरमादचिरेण भाविना तै ॥ ११६ ॥

सहजचापलशोषसमुदतभञ्जितदुर्बलपञ्जसिद्धः ।

तत्र दुरासदवीर्यविभावसो शलमतां लभतामसुदृङ्ग ॥ ११७ ॥

इति विशकलिनार्थग्रीवनी वाचनेना

मनुष्यतनयमार्गमर्गला दुर्नयस्य ।

मन्त्रणा कस्याप्यन्यस्य श्रुतिपथनवतीर्णा, यद्यापि हरिवक्षस्यलवाशिनी भीरिया
श्रुतिगोचरमकरोत् तस्याश्च स्त्रीस्वभावात् कदाचिदस्या प्रकाशनं समाप्यते
तथापि नात्र तथा समावनावसर यत्र सा नित्यं हरिवक्षस्यलवाशिनी न
शगमपि हरे पृथग्भवति इति दुर्लभस्तत्प्रकाशनावसर ।

इति शिशुपालवध महाकाव्ये द्वितीय सर्ग ।



कवि-काव्यशब्दौ

गरीयान् खलु सरकृतवाङ्मये कव काव्यस्य च महिमा । शब्दाविमौ कुत प्रमृति कस्मिन् कस्मिन्नर्थे प्रवृत्ताविति विषयेऽस्मिन्नाद्युनिक्कीम-वेधनप्रक्रियामनुसृत्य प्रवर्तमाने चेन् , जगद्वाङ्मये सर्वप्राथम्येन पाश्चात्त्यैरप्युररीकृतायामुद्देशहिताया मेव बहुश शब्दाविमौ शृणुम । तथैव यजुरादिसंहितास्वपि । तत्र क्रियतिचिन्ति दर्शनानि—

त्वमग्ने प्रथमो अङ्गिरा ऋषद्वौ देवानामभव शिव सखा ।

तव व्रते कवयो विद्वन्नापसोऽजायन्त मरुतो भ्राजदृष्टय ॥

[ऋ० म० १ सू० ३१]

त्वमग्ने प्रथमो अङ्गिरस्तम कविदेवानां परिभूयसि व्रतम् ।

[ऋ० १ । ३१ । २]

आय पुर नार्मिणीमदीदेहाय कविर्न मन्यो नार्षा ।

[ऋ० १ । १४९ । ३]

विश्वा रूपाणि प्रतिमुञ्चते कवि

प्रास्तावीन्द्र द्विपदे चतुष्पदे । [ऋ० ४ । २४ । २]

हायादिषु प्रचुरेषु मन्त्रेषु अग्निवात्स्यादित्यादिदेवविरोधगतया कविशब्द भूयते । 'कान्तदर्शन' 'मेधात्री' इत्येवपरतयैव च तत्रतत्र माध्यकारैः श्रीमाधवाचार्यादिभिर्षांष्यायते । अतीतानागतविप्रकृतविषय युगपज्ज्ञान यस्य स कान्त दर्शन इति वदमाध्यकृतुः आह ।

'यो अप्यस्य परिणीयते कवि' [ऋ० ३ । २ । ७]

अग्निर्होता कविकृत् [ऋ० १ । १ । ५]

हायादिषु कविकवित्तु 'कान्त-प्राप्त' 'कान्तकर्मा' इत्येवपरतया माध्यकृता व्याख्यात ।

विधेम्यो हि त्वा भुवनेभ्यस्तरि

एवम जनत्साध साध कवि [ऋ० २ । २३ । १७]

इति ब्रह्मणस्तरविदेवताके मन्त्रे 'साम्ने कविरुच्चारयिता' इत्येव व्याख्यात श्रीसायणाचार्ये ।

धीरासो द्विष्टा कवयो विरश्मिस्ता-व एना ब्रह्मणा वेदयामवि ।

[ऋ० ४ । ३६ । ७]

इत्यत्र ये मानुषेषु कर्मविशेषाननुष्ठाप्य देवत्वमाप्तास्त श्रुयव कविशब्देन
विशेष्यन्ते । अत्रापि 'मेधाविन' 'क्रान्तदर्शन' इत्येव व्याचक्षत व्याख्याकृत ।

कविर्मनीषी परिभू स्वयम्भूर्यायातप्यतोऽर्थान्

व्यदधाच्छाश्वतोम्य समाम्य । [यजु अ० ४०]

इति याजुषे मन्त्रे तु साक्षादीश्वरविशेषणतयैव कविशब्दो भाष्यकृद्भिर्गोष्यात् ।
अत्रापि 'क्रान्तदर्शन' 'संप्रदष्टा' 'मेधावी' इत्यर्थ एव व्याख्याकृताममोष्ट ।
उत्सवगादयस्तु उपासक मनुष्यविशेषणतयैवात्र कविशब्द नयन्ति— इत्यास्तां
तावत् । अय—

‘तत्त इन्द्रिय प्रथम पराचैरधारयन्त कवय पुरेदम् ।’

[श्रु० १ । १०३ । १]

‘धीरास पद कवयो नयन्ति नानादृशा रक्षमाणा अजुर्गम् ।’

[श्रु० १ । १४६ । ४]

‘भज पुरो नीयते नाभिरस्यानुपश्वात् कवयो यन्ति रेमा ।’

[श्रु० १ । १६२ । १२]

‘वामे वक्त्रेऽधिसततमून् वितन्विरे कवय ओतवा उ ।’

[श्रु० १ । १६४ । ५]

इत्यादिषु तु बहुलेषु मन्त्रेषु मनुष्या एव कविशब्देनारण्यन्ते । ‘स्तोतार’
‘श्रुतिज्ञ’ ‘निष्ठास’ ‘मेधाविन’ इत्येव च तत्र तत्र भाष्यकृता व्याख्या ।

‘अचिकित्वाभिकितुपश्चिदत्र कवीन् पृच्छामि विद्यन्तेन विद्वान्
वियस्तस्तम्म धट्टिमा रक्षास्यजस्य रूपे किमपि सिद्धैकम् ।’

[श्रु० १ । १६४ । ६]

कतरा पूर्वा कतरा परायो कया आते कवय को विवेद ।

[श्रु० १ । १८५ । १]

कवीर्यं पुन ॥ इमा चिकेत । [श्रु० १ । १६४ । १६]

कवीयमान ऊ इह प्रवोचत् । [श्रु० १ । १६४ । १८]

इत्यादिषु ॥ पण्डितभग्न्या कविशब्देन कर्णाक्ष्यन्ते ।

अय सोमस्तुतिपरे मन्त्रे—

यद्वा देवाना पदवी कवीनामृषिर्विप्राणा महिषो मृगाणाम् ।

[श्रु० १ । १९६ । ६]

इत्यत्र ‘कवीना श्रान्तप्रशानाम् पदवी स्खलन्ति पदानि सधुत्वेन यो योज
यति स पदवी—राजा’ सद्ब्रह्म इति माघव्याख्यामनुसरथ कविशब्देन
विद्वत्सामान्यमभिधाय पदयोजकास्तद्वाक्यत्वेन तेषु मुख्यत्वेनाभिहिता इति
प्रतीयते ।

निरुक्तपरिशिष्टे तु (१४ अ० १३ ख०) 'एष हि पद वेत्ति कवीनाम्—
कवीयमानानामादत्तरश्मीनाम्, इत्यादिदैवतम् । अयमपि पद वेत्ति कवीनाम्
कवीयमानानामिन्द्रियाणाम्' इत्युच्यते । वैज्ञानिकपारत्वेन व्याख्यातीय
मन्त्र । तत्र कविशब्दस्य सूर्यशमयो वा इन्द्रियाणि वा वाच्योर्थ इति अन्यदपि
तत्र तवानुसंधेयम् ।

काव्यशब्दोऽत्र द्वेधा भूयते मन्त्रेषु पुल्लिङ्गश्च नपुंसकलिङ्गश्च । तत्र पुल्लिङ्ग
प्रायेण उद्यमशो वाचको व्याख्याकृतमभीष्ट —

[श्रु० १।८३।५, १।१२१।१२ ङार३ १७]

'काव्ययोराजानेषु श्रुत्वा स्वस्थ दुराणे ।

विद्यादत्ता सप्तम्य आ । [यजु० २३।७२]

इत्यादिषु तु कविनिष्ठा-रूपादिदेवता-तरपस्तयापि भूयते । काव्ययोः
कविद्वितीयोरिति तत्र भाष्यकृता महोद्यतादीना व्याख्या ।

चरुो वा मधुमदचो दशोन् काव्य कवि । [श्रु० ८८ ११]

इत्यत्र च 'काव्य विद्वत्पुत्रः' 'कवि-मघावी' इति भीमाशवाचार्यस्य
व्याख्या । सर्वत्र कविचरु-धी कविपुत्रो वा पुति काव्यशब्दस्यार्थो दृष्ट, उद्यमश
शब्दस्यास्य प्रवृत्तिरपि भूगो कवित्वमभिप्रेत्य तत्पुत्रत्वादेवेति प्रतीयते ।

नपुंसकलिङ्गस्तु काव्यशब्द —

'अस्मा इत्काव्य वन उक्थमिन्द्राय शस्यम् [श्रु० ५।३९।५]

प्र काव्यमुद्यमेव ब्रूवाणो । [श्रु० ९।९।७]

इत्यादिषु कविकृतिभूतस्त्रोत्रादिवाचकतया भूत —

'आत्मा यशस्य रक्षा सुधाण पठते सुत

प्रतन निपाति काव्यम्' [श्रु० ९।६।८]

'विधु दद्राण समने बहूना युवान सन्त पतितो जगार ।

देवस्य पश्य काव्य मादत्वाद्यो ममार स ह्य समान ॥'

[१०।५।५]

इत्यादिषु तु सामर्थ्यवाचकतया व्याख्यातो भाष्यकृद्भि ।

यशस्य भारमभूतः सुत शीम यजमानेभ्य कामान् प्रेरयन् यगेन पवते,
आत्मन कवित्वं च निपाति रक्षति । शत प्रयत्नस्य व्याख्या । तथा च शीमरात
सामर्थ्यमेव काव्यशब्देनोक्तम् । देवस्य कालात्मकस्येन्द्रस्य महत्त्वेनोपेत काव्य
सामर्थ्यं पश्यत जना, यो जससा प्राप्तोऽय ममार, स ह्य परे ह्य समान सम्यक्
चेष्टते पुनर्जमान्तरे प्रादुर्भवतीति-द्वितीयस्य व्याख्या । तत्र स्फुट एव विविच-
सामर्थ्यबोधक काव्यशब्द । यजु संहिताया च—

'काव्य छन्द' (यजु १५।८)

३२ च० स०

‘पुत्रमिव पितरावधिनो मेन्द्राभ्यु काव्यैर्हृषनामि’ (यजु १०।१४)

इत्यादिषु ‘अथो विद्या काव्य उन्द’ इति शतपथब्राह्मणमुच्यते ‘कवेः परस्परमन्त इदं काव्यं वदन्तीतिरूप उन्द’ इति महोषरो व्याचक्ष्यौ प्रथम, तथैवोच्यतेऽपि । द्वितीयेऽपि ‘का वै मनै हृषनामि कर्ममिश्र’ इत्येव भाष्यकृता व्याख्या ।

अ ह्येष्वपि शब्दाविमो बहुधा भवति । तत्रापि—

‘अथो वा आदित्य कव’ (शतपथे ६, ७, २, ४)

इत्यादौ बहुष देववाचक कविशब्द,

‘ये वै से न ऋषय पूर्वे प्रतास्ते वै कवय’ (ऐतरेये १।२०)

इत्यादौ पितृवाचक ।

ये वै विद्वांसस्ते कवय (शत० ७, १, ४४)

‘सीरं च युञ्जति युगानि च वितन्ते’ इति मन्त्रगतेन कविशब्देन सीरयोजन प्रकार सम्यग् जानानास्तदभिज्ञा विवक्षिता इत्यर्थः इति भाष्यमनुसृत्य कृतिकुशलविद्वद्वोधक ।

‘ये वा धनून्जानास्ते कवय’ (ऐतरे ०२, २, ३८)

‘प्रते वै कवयो यदपय’ (शत० १।४४)

‘शुभ्रवासी वै कवय’ (तैत्ति० १।२३)

‘तत्र प्रणीती तत्र शू’ धमनाविवासन्ति कवय इत्यथा

(शत० ४।३।३।३३)

इत्यादिषु च कान्तदर्शनमेधाविनिद्वन्नाचक । काव्यशब्दश्च ‘काव्य उन्द’ (शत० ८।५।१।४) इत्यादौ ‘वेदप्रतीतिरूप उन्द’ इति महोषरादिव्याख्यानमुच्यते कविकृतिबोधक इति मन्त्रशब्देनैव कृतिर्हृषना ।

पुराणेष्वपि च—‘तेने ब्रह्म हृदा य आदिकवये’ (श्रीभागवतम्)

इत्यादिषु ब्रह्मणो वाचकम् ।

‘कश्मान्न जन्ति कव्यो घनदुर्मंदा घान्’ (श्रीभाग०)

‘किं कर्म किमकर्मेति कवयोऽप्यत्र मोहिता’ (भगवद्गीता)

इत्यादिषु मेधावि-विद्वद्वाचक च कविशब्द कविकृतिवाचक च काव्यशब्द बहुत्र पश्याम एवेति किं बहुना विस्तरण ।

अथ कोऽयं व्याकरणरीत्यापि शब्दयोरनयोर्विचनमावश्यकम् । तत्र निघण्टु पदाभ्येमे वदिक कोऽपि ‘कवि’ इति मेधाविनामसु पठित, च ६ (अ० ३) शतपथकेषु घातृष्वपि च तत्र ‘कृते’ इति दृश्यते (अ० २) तद्भाष्यकृद्भगवान् याज्ञवल्क्य निश्चेत् ‘कवि’ कान्तदर्शनो भवति, कवतेर्वा (अ० २२ ख० १३) इति काव्यशब्द व्याचरयौ । प्रथमं व्याख्याया ‘अग्रवि’ शब्दात्कविशब्दनिष्प

त्तिरिति यावत्स्यान्नय उन्नेयत । अनयैव शैल्या तेन रुदशब्दानां व्युत्पादनं
कृतम् । 'क्रान्त-शान्त दर्शनं ज्ञानं यस्येति व्युत्पत्तिरित्युक्तं निघण्टुप्रोक्तं
मेधाविवाचकतः न विप्रवदते इति तु स्पष्टमेव । व्याख्यातृदेवराजयज्ज्ञा तु
क्रमधातोरेव वर्णविकारणं कविशब्दं निष्पादयति, तथैव तत्प्राक्तनं शब्द-
स्वाभ्यस्य । तन्मते ज्ञानरूपोऽर्थोऽप्याह्वारम्य इत्यास्ता नाम । कृतेर्वा इति
द्वितीयेषु पक्षे 'शरणार्थं ज्ञानार्थं' इति चिरप्रवृत्तामभियुक्तोक्तमाश्रित्य निघण्टुका
मेधाविवाचकता समर्थनीयतामात्राभ्यस्येव । 'कवते' इति 'कव' धातुरयं दन्त्यौष्ठयान्तो
निर्दिष्ट इति केचित् । 'कुङ्' गतिशोषयो' इति उकारान्त एव शया निर्दिष्ट
इति तु देवराजयज्ज्ञा । भगवन् पाणिनेर्वातुनाठे तु दन्त्यौष्ठयान्तं कवधातुनं
दृश्यते । तत्त एव—

‘विद्वान् विपश्चिदोपच सन् सुधी कोविदो बुध ।

धीरो मनीषी च प्राञ्ज सख्यावन् पण्डितः कवि ॥’

(अमर० २ का ब्रह्मवर्ग)

इति पण्डितनामसु पठितं कविशब्दं 'कुङ् शब्दे' 'कुङ् शब्दे' इति पाणिनीयाभ्यां
धातुभ्यामेव व्युत्पादयति व्याख्यासुधाकृदादयः । मुकुटादयः कश्चित् 'कवृ वर्णे'
इति धातो कविशब्दं पुदपोपन्, तन्मते कवृधातुर्दन्त्यौष्ठयान्तं स्यत्, कवयोर-
मेदो वा तैर्विवक्षितं स्यादित्यभ्यस्येत् । निघण्टुरीत्या ज्ञानार्थधातुना कृते
व्युत्पादने अमरोक्ता विद्वद्वाचकता निश्चयि । शब्दार्थकाम्या धातुभ्यां व्युत्पा-
दने तु शब्दयोनकालमात्रं कविशब्दार्थं कोटोक्तं भवतीति विरोधो विवेचकैर-
नुलक्षणीयः । मुकुटादिरीत्या 'कवृ वर्णे' धातोश्च यदि कविशब्दो व्युत्पाद्येत तदा
'वर्णाचरणर' इति व्युत्पत्तिरित्युक्तार्थो लक्षणादिना समं वीयताम्, धातूनामनेका-
ग्रता वा कामधेनुमाश्रित्य सर्वं समाधीयतामिति विद्वांस एव प्रमाणम् । कोवेषु
मेदिनीकारस्तु—

‘कविर्वाल्मीकिश्चाभ्यस्य । सूरौ काभ्यस्य पुंलि स्यात् खनीने तु योयिति’
इति कविशब्दार्थान् सङ्ग्राहः ।

तदित्थं कविशब्दोऽनेकार्थ एव म तत्र, अनुगतं वा प्रवृत्तिनिमित्तं किञ्चि-
दाश्रित्य प्रवृत्तं क्रमेण बहुत्र प्रवृत्तोन्मादात् मन्वेष्टाया सर्वं पूर्वोक्तमालोच्येदं
न प्रतीयते—यत्तत्तत्कार्यं चरणरत्वापरपर्यायं नैपुण्यमेव ज्ञानानिश्चयज-वमादादस्य
शब्दस्य प्रवृत्तिनिमित्तमासीत् । सर्वत्राभ्याहता गतिरनेन नैपुण्येन भवतीति
गत्यर्थक्येनैव धातुना व्युत्पादनस्याभिमतं पूर्वोक्तार्थाया निघण्टुवृत्तमन्वीताम् ।
उदाहरणपूर्वेषु म त्रेषु अग्निवाक्शब्दादिविशेषगतया प्रवृत्तं कविशब्दो नैपुण्य-
वतिरिक्तेऽर्थे न सामञ्जस्येनोपमादयितुं शक्यः केनापि । विशयत —

* काभ्योऽत्र लक्षणा ।

विन्दारूपाणि प्रतिमुञ्चते कवि

प्रास्तावीद् भद्र द्विपदे चतुष्पदे ।

इत्यादिषु नैपुण्यरूप प्रचार्य स्फुटतर प्रतीयत एव । नैपुण्यवान् निपुण-
कवि शब्देन तस्य तत्तत्कार्यनीशलापरपर्याय नैपुण्यमेव च कविकर्म काव्यशब्दे
नाभिहित मन्त्रेषु यत्र तत्र । कविगत सामर्थ्यपरस्यापि नैपुण्यम्, तेन नैपुण्येन
रुपायमाना कविकृति, तादृशकृतिरन्यास्ते ते अर्था शब्दा वा कविकर्मतया
भवन्ति काव्यशब्दाभिधेया — 'देवस्य पश्य काव्य महिरशयो ममार स ह्य
समान' । इत्यादिषूदाहृतेषु कौशलम्, नैपुण्यम्, सामर्थ्यं वा विहाय नावोऽर्थ-
सामञ्जस्येनोपपाद्यते । तदेतन्नैपुण्य मेधातिशयजन्यमेव लोके दृश्यत इति मेधावि-
नामस्तु कविशब्दपाठस्तादृश भाष्यकृतां तत्र तत्र व्याख्यानं च न मनागपि
अर्थान्तरतामास्कन्दति । तथैव क्रान्तकर्मतापि तत्र तत्र माधवाद्युक्ता नार्थांतरमे-
तस्मान्नैपुणात् । इमानेव चर्माभिन्निर्दिष्टस्य सर्वनैपुण्यैकभाजने सर्वत्राभिप्रायकर्म-
णि सर्वज्ञानैकनिधाने भगवति जगदीश्वरे तद्विभूतिभूतेश्वरिण्येवमादित्यादिषु जगद्-
व्यापारपरिचालकेषु विशिष्टकौशलवत्तया ख्याते भृगून् प्रभृतिव्यक्तिविशये विशि-
ष्टकृतिषु मेधाविषु मनुष्येषु च तत्त्वमेव शब्दोपपत्त्युत्पत्त्यत्र तत्र । यस्य तु विना
विशिष्टप्रज्ञो विशिष्टकर्मा वा, स काव्यशब्देनारि व्यञ्जन इति न्यदर्शय प्राक्-
एकैव कवि—काव्यशब्दावपि न्यदर्शयमिति मन्ये नान सञ्ज्ञीतिरवशिष्येन ।

शब्दोऽर्थभेदेषुभयमपि प्रपञ्चान्तर्भूत जगदीश्वरकृतिरिति चिरन्तना भारती
यविचारा ।

शब्दजातमशेषं तु घत्ते शब्दस्य बल्यमा ।

अर्थजातमशेषं तु घत्ते मुग्धेदुशेखर ॥

द्वे ब्रह्मणी वेदितव्ये शब्दब्रह्म परं च यत् ।

शब्दे ब्रह्मणि निष्ठात परं ब्रह्माधिगच्छति ॥

इत्याद्या शतशोऽभियुक्तोक्त्य शब्दस्य प्रपञ्चस्य पृथक् महिमातिशय
ख्यापयति । हिमन्यत्—प्रथमं शाब्द एव सर्वं शाब्दात्प्रपञ्चादनन्तरमर्थ इति
सिद्धान्तोय भारतीयानां दार्शनिकमूर्द्धन्यानाम् । शतपथादिषु ब्राह्मणभूतिषु शतशो
'वाच एव लोकान्' 'अय्या विद्याया' 'सृष्टिं भावते । 'वाग्वा इदं सर्वम्' इति
धृष्टवाचोय धोययति भगवती भूति ।

'यदशब्देभ्य एवादौ पृथक् सस्थाब्ध निर्ममे' (मनु)

'अनादिनिधनं ब्रह्म शब्दतत्त्वं निरञ्जनम् ।

नित्यं तत्तदर्थभावेन प्रक्रिया जगतो यत ॥' (हरि)

इत्यादि च ण्दे ष्दे प्रादुरभियुक्ता । आस्तामेवोऽप्राग्विको दार्शनिक
कथान्तर, इदमेवास्माकमत्र प्रतिपादयिषितम्—यदर्थ्योक्तनानैपुण्य शब्दयोज

नानैपुण्य चेत्पुण्यमपि निदर्शितेषु मन्त्रेषु कविकाव्यशब्दाभ्यां तत्र तत्र विवक्षित-
मासीत् । विशिष्टकृतिसम्बन्धविशिष्टप्रश्नेषु च तुल्यमप्य कविशब्दं प्रायुज्यत, पर-
कालक्रमेण विशिष्टकृतियु तद्व्यवहारो विरलता गतो विलुप्तो वा, विशिष्टप्रश्नेषु तु
प्रवृत्त इति पुराणादिषु विशिष्टप्रश्नविद्वद्वोधकमेव कविशब्दं पश्याम ।

ततोऽप्यनन्तरं तु विद्वत्सामान्येऽपि प्रवृत्तिर्निरुद्धा, विद्वद्विशेषेष्वेव तु शब्द-
योजनानिपुणेषु प्रवृत्तं प्रवाह । अर्थयोजनायैव शब्दाभ्यामवृत्तः प्रवाह शब्द-
योजनानैपुण्य एव प्रवृत्त इति नैपुण्यविशेष एव सकोचमात्रं कविशब्दं ।
नेदमाश्रयस्थानम् । दृश्यते हि बहूनां शब्दानां विशेषबोधकानां सामान्यार्थं
वाचकतापरिणति । यथा अनुकूलप्रतिकूलकुशलतैललाभ्यादिशब्दानाम् ।
बहूनां सामान्यबोधकानां विशेष एव निरुद्धिः । यथा—योगतत्त्व-संक्षेपत-
श्च लिङ्गादिशब्दानाम् । तथैव पूर्वं सामान्ये प्रवृत्तं कविशब्दं क्रमेण विशेष-
परतामासवाद । एदानीं १ विशेषादतिविशेषपरत्वेन परिणतिक्रमास्तय शब्दस्या-
स्तु दुर्दशाऽवलोक्यते यज्जगत्त्रिंशत्तरे जगदीश्वरे प्रधानेषु देवतेषु प्रतिमानेषा-
म् केषु महर्षिषु चासीद्यस्य प्रवृत्तिः सोयमद्यादरदरीपरिपूरणाय तत्तत्सामान्यतुल्ये
कपरेषु चादुशतकुशलशब्देन यवलिष्ठते । राजपुत्रप्रान्ते हि चारुण भाटेतिप्रसिद्धानां
जातीनां पुरुषा एव कतिचिदधरयोबका. प्राक्तनयोजनापाठका वा 'कवित्री'
'कवत्री' इति संशोध्यन्ते । त एव च शब्देनानेन वृण्वन्त इत्यस्यामन्तुद-
वृत्तम् ।

एवं कृतिरेवोच्यते काव्यमिति कविशब्दस्य यथा यथा विशेषपरता,
तथा तथैव काव्यशब्दस्यापि, इति नेदं विशेषवक्तव्यमपेक्षते । ईश्वरदेवतादिसाम-
ान्यबोधक, ईश्वरचित्रशब्दाद्यर्थमयप्रत्ययबोधक, वेदमन्त्रबोधक, रामायणादिवोध-
कश्चाप्यपि इत्यत्र क्रमेण तथा दुर्दशामापद्यत यथा—'कापालपात्रं वर्जयेत्'
इति निषेधादिपयताऽप्यस्य शिरसि पठिता । 'काव्यमिदम्' इति वाक्यस्याभिप्राय-
एवेदानीमयमेव प्रकटोभवति यन् सत्याद्दूरमपेतं कस्यचिद्विषयस्य व्यक्तिविशेषस्य
वा प्रथमाभात्रमिदमिति । भवतु यद् मृतम् । न विवेचकास्तत्र प्रभवः । अस्मा-
मिस्तु शब्दशक्तेः कम एवालोक्य ।

काव्यलक्षणानि

यत् प्रमृश्यन्कारणाभ्यस्य साहित्याग्रपर्यायस्य प्राकृत्यम्, प्रचार उपतिर्वा,
तत् एव कालादपरोरि विशेषाऽत्र शब्दार्थे सनिविष्ट, क्रमेण दाढर्यं गतश्च यत्
कवले योजिता शब्दा एव काव्यम्, अपि तु यच्छ्रुत्वादननुसंधानाद्वा सम्पन्नमात्रस्य
एदि काव्यचित्र-कृतिदेते, तच्चनष्टविचनकृतापरपर्यायसौ-दर्यपूर्णं वर्णनं काव्यमिति ।

यद्यपि शब्दालंकारा अर्थालंकाराश्च वदमन्त्रेषु, स्मृतेशु पुराणेषु च सर्वत्रैव बाहुल्ये-
नोपलभ्यन्ते, लक्षणादिनिरूपणमपि न तेषामग्निपुराणादिषु दृश्यते तथापि क्रमवद-
तन्निरूपणं शास्त्रप्रतिष्ठापनस्यार्थोक्तम् । यथा यथा च शास्त्रस्याभ्युन्नतिरभूत्,
तथैव काव्यस्य दार्थबोधक तल्लक्षणेऽपि विविधे प्रकारे सौन्दर्यस्य निवेश
आधिक्यमाप । वक्रोक्तिजीवितकारस्य मतमनुसृत्य यदि ब्रूम — तर्हि सरलतया
कस्याप्यर्थस्य प्रतिपादनं न काव्यम् । अपितु वक्रोक्त्या ऋघूणेन कविकुलक्षुण्ण
पद्धत्या तत्तदर्थभिधानमव सौन्दर्यप्रयोजकम्, तदेव च काव्यमिति । नेदमिदानीं
कथयितुमावश्यकम्—यदिय पद्धतिरेव सहृदयेतरैरुपहस्यमना काव्यशब्दार्थे
निष्प्राश्यमपि प्रावेशयत् । काव्यशब्दार्थे च यदादिभ्यः समकोचयत् ।

इदं त्वन स्मरणीयं वर्तते—यद् विस्तृतप्रायाप्यर्थान्वक्ता काव्यशब्दस्या-
लंकारिकैरेतैः पुनरुपजीविता । पूर्वं बिल कृतौ ज्ञाने वै शष्टयमाणो निपुणा कविश्च
वाक्या अभूवन् । तदीयं कर्म चार्थं शब्दश्रेत्युभयमपि काव्यतया गम्यते इति प्राक्
प्रत्यपीवदम् । यदोन्द्रकाग्निस्पर्शाया कथय तर्हि तेषां कर्मभूता इमे जागता-
पदार्था कृतो न काव्यानि स्युः । क्रमेण तु ज्ञाने वैशिष्ट्यम्, शब्दविषया कृति
श्रेत्येव कविकाव्यशब्दयोगुणप्रधानभावेन वाच्यतयाऽवशिष्टे इति निरूपितं विस्त-
रेण । तेन शब्दमात्रमैव काव्यपदव्यवहार्यताऽवशिष्यते स्म । परमालंकारिकैरेक द्वौ
वा विहाय सर्वैरेव काव्यलक्षणेऽर्थस्यापि निवेश कृतवार्थस्यापि काव्यपदवाच्यता
पुनरुपजीविता ।

यद्यपि—

‘अपारे काव्यससारे कविरेव प्रजापति ।

यथास्मै रोचते विश्वं तथैव परिवर्तत ॥’

इति चिरन्तनाभिपुत्रोक्तिदिशा कविप्रतिभाप्रकल्पिता एवार्था काव्यतया-
भिमतता आलंकारिकाणाम् इति सत्यम् । अन्ये हि प्राकृता अर्था तद्विलक्षणाभ्यान्व-
एव कविप्रतिभाप्रकल्पिता । प्रसिद्धादिमालयादिलक्षण एव कालिदासस्य
हिमालय, यन दीप्तिमन्सौवधान विद्याधरकामिनोनामतैलपूरा सुरतप्रदीपा
भवन्ति । अन्य एव च कालिदासस्य समुद्रो यत्र फेना नकाणा कर्णचामरता
भजन्ति । अन्य एव कवीनां चन्द्रो यो निद्याकामिन्या कर्णपूरायने, गगनसरसि
वा रानहसायते । प्रसिद्धा हिमालयसमुद्रचन्द्राया क्वचित्कदाचिदस्यचिन्तुद्वेजका
अपि स्युः पर कालिदासादीनां हिमालयाद्यास्तु सङ्देवाद्यादजनका इत्यादि
निरूपितमालंकारिकैरेव विस्पष्टतया । तथापि ‘न ह्यनाधारा कल्पना विज्ञमते’ इति
मनोविज्ञाननियमनाभित्य कविप्रतिभाप्रकृतहिमाद्यादीनामाधारभूतास्तु प्रसिद्धा

* ‘शुभाव देवर’ इति आपायाम् ।

हिमा लयाद्या एवेति तेषामपि परम्परया काव्यशब्दस्य कथंचित्प्रसङ्गत एव । सोय प्राक्तनानामालंकारिकणामर्थस्य काव्योपेतानुप्रवेशप्रवाह साहित्यदर्पण-
कृता धीविश्वनाथकृतिना पुनर्निरुद्धः । ॥ हि 'वाक्य रसात्मक काव्य' मिति वदन्
शब्दस्यैव काव्यत्व व्याप्तिपक्षम् । चित्रानन्दम्—यच्छब्दमात्रस्यैव काव्यत्वमुप-
गच्छन्नापि तेन दृश्य अव्य चेत्युभयविध कव्य स्वीकृतम् । शब्दस्य दृश्यता कथं
भवदिति ॥ एव महामति प्रष्टव्य स्यात् । युज्यता वा अष्टादशमाषावारत्रिंश-
सिनीभुजङ्गस्य तस्य चक्षुःशब्दस्वाच्छब्दस्यापि चानुपपत्त्या दृश्यता, पर यदर्थ-
लक्षण रचितं तेषां साधारणानां मनुष्याणां तु नैतद्यु देत ।

न चार्थद्वारक शब्दानां दृश्यत्वमिति शक्य समाधानम् अव्यकाशेषवति
प्रसक्ते । 'अस्त्युत्तरस्यो दिशि देवतात्मा हिमालयो नाम नगाधिराज' इत्यादीनां
अव्यकाश्यानामर्था किमु दृश्या न भवति । तस्माद्यत्र कश्चित्प्रतिभासत्रिवेशितास्ते
तेऽर्था अभिनीता प्रत्यक्षतामापद्यन्ते तदेव दृश्य काव्य मन्वयमिति अर्थानां
काव्योपेतानुप्रवेशम तरेण नैतद्युदेत वक्तुम् । तथैवात्र ख्ये रसात्मकतायां
काव्यत्वप्रयोजकतायां तेन महाभागेनाप्यर्थमाग्रह कृतः । अग्रे तु काव्यप्रकाशादी-
ननुकुर्वता स्वस्वकारादिप्राधान्याप्राधान्यादिभूता भविगुणीभूतव्यङ्ग्यादिभेदा-
स्तथैव निरूपिता इत्यपि वैचि-यम् । काव्ये प्रधानं यस्तु, बालकारो वा आत्मा
तु तत्र रस एवेति कस्तावदनुमत्त एतदभ्युपगच्छतु ? दुर्दैवभ्यासास्यमनुभवद्रा-
जलक्षमिव कविद्रोषोपि परायत्ततामापद्यते इत्यादिसमाधानानि तत्र तत्र
दृश्यन्ते, पर तथात्वे आत्मत्वमपि रसस्य कथं प्रत्यभिज्ञायेत ? न हि राजवल्लभ-
तदात्वे स्वीकृतकर्मप्रयोजक भवति । यथात्मा, न परं प्रति गुणीभूतः । यदि
तु गुणीभूतस्तर्हि नामैत उभयतः पश्येत् रसम् । एवमेवापारमणीया बहवो
विचारा दर्पणे प्रतिभासन्ते । उपदुक्तमेव च दर्पणस्य भ्रान्तिप्रयोजकत्वमित्यास्ता-
मप्रकृतचर्चा ।

अशेषशेषावशिष्टाग्नेन पण्डितरजस्य-वर्धोराधिधारिणा श्रीजगन्नाथत्रिशूलिनानि
शब्दमात्रस्य काव्यत्वस्वीकारे विश्वनाथ एवानुक्त इति तु परमाभ्यर्थम् । नास्त्य-
र्थेषु काव्यशब्दव्यवहार इत्येव पण्डितराजस्य प्रधानतया युक्तिः । मन्वे कालदोषा-
च्छ्रुता व्यवहारा (येऽस्माभिः पूर्वमुपदर्शिता) न तस्य दृष्टिपथमनुप्राप्ताः ।
दृश्य काव्यम्' इति स्फुटोपि व्यवहारस्तेन गौण इत्युपेक्षितः । लोक दृश्यमाना
नदीपर्वताद्या काव्यशब्देन नामिल्यन्त इदानीमितं सत्यम्, परं कश्चित्तेषाम-
कल्पितानामार्थानां काव्यत्वे को विवाद इति कश्चिद्भूदभ्येनानि तं नालोचत इत् ।
या तु काव्यप्रकाशे दूषयता तेन 'क न श्रुतमर्थं न ज्ञत' इति व्यवहारानुपर-
तिवद्भाविता, सा स्वच्छेऽपि समानेति व्यस्तसंश्लिष्टे द्व । 'रमणीयार्थप्रतिवादकः
शब्द भूत, अर्थस्तु न ज्ञान' इति पण्डितः । अत्र समुचितो व्यवहारः । शब्द

स्वार्थो न बुध्यते, तदीयमर्थप्रतिपादकत्वं च तेन नैव रामणीयत्वं च बुध्यते—इत्यहो
वैदग्ध्यम् ॥ ततश्च काव्येन काव्यपदार्थप्रतिदुषामिमं गौमा व्यवहारा इति न
तदन्तरणेन कस्यचित् काव्यलक्षणं दूषयितुमुचितम् ।

यदपि च 'एको न द्वौ' इत्यादिषु काव्यस्य व्याख्येयवृत्तिषु 'इलोकवाक्य
न काव्यम्' इत्याद्यापद्यतेति न यनैवारिकषट्ठनिमनुसरता तेनोद्विजितम्, तदपि
काव्यपदस्य खण्ड्यं शक्तेमुखगता 'अचिदर्थविशिष्टं वा इ काव्यम्' इति
शब्दविशिष्टोऽर्थः काव्यमिति' भौमम्मगाचार्येणैव स्मृत्येऽनेकधा समाहितम् ।

अहो प्रसक्तानुसक्त्या बहु दूरं द्याविता स्म । अर्थस्य काव्यत्वमलङ्का
रिककानेऽपि व्यवहारपथमागतं पुनर्विलुप्तं चेत्तैव प्रकृतशक्त्यमस्माकम् ।
इदानीं ॥ वाग्वैदग्ध्यप्रधाना शब्दविशेषा एव काव्यपदव्यवहारार्था इति निश्चयः ।

इदं तु पुनरपि निदर्शयितुमावश्यकम्—यदेवमैन्दर्भस्य वाग्वैदग्ध्यप्रधान्य-
स्य रसप्रसक्त्या अत्रि वा काव्यशरीरानुप्रवरोषि वदादीनां काव्येन पुनरप्यप्रति-
हतमेव । सर्वेषां वेदादिषु सम्यक् समन्वितत्वात् ।

अप्रातेव पुंस एति प्रतीचो गतां गिव सनये धनानाम् ।

कायेव पत्य उद्यती मुवासा उषा हस्तेन निर्णिणिते अम्भ ॥

(श्रु० १।१२४।७)

क्षत्राय त्वं भवसे च महोया इष्टये त्वमर्थमिदं स्वमित्यै ।

रिसदृशा जीवितामिप्रचक्ष उषा अग्नीगर्भुवनानि विदधा ॥

(आवापृथिवी)

(श्रु० १।१०६।१)

उर्वो रक्षणी बृहती श्रुतेन दुवे देवानामवशा अनिरी ।

दधाते ये अमृतं सुप्रतीकं चाना रक्षतं पृथिवी नो अम्भात् ॥

(श्रु० १।१९५।४)

अरशरि शृङ्गा यथो अस्व पादा द्वे शीर्षे सप्त इस्तासो अस्व ।

त्रिधा बद्धो वृषभो रोरवीति महो देवी नत्वा आश्विषे ॥

उत एव पश्यन्न ददश वाचमुत च पश्यन्न शृणोत्येनाम् ।

उतो त्वस्मै तन्न विरुक्ते जायेव पत्य उद्यती मुवासा ॥

इत्यादिषु परं सङ्ख्येण मन्त्रेषु कन वा सङ्ख्येन नानुमूयते वाग्वैदग्ध्यप्र-
धान्यम् । न केवलं किनोदावहा एवार्था अत्रि तु गृहविज्ञानगमिता अप्यर्था मन्त्रेषु
वाग्वैदग्ध्येन रोचकता नीयन्ते—

'वृष्ण निधान इत्यं सुदर्शी अपो वसाना दिवमुत्तन्ति ।

तं भावयन् सद्नाद्वेष्यादिद् धृतं पृथिवी व्युद्यते ॥' [श्रु०]

शुष्कमायापि वृष्टिविद्याञ्च कियद्रोचकृत्य प्रापिता ।

पञ्चारे चक्रे परिवर्तमाने तस्मिन्नातस्थुर्मुवनानि विश्वा ।

तस्य नाक्षस्तप्यते भूरिमार सनादेव न शौर्यते सनाभि ॥

[ऋ० १।१९४।१३]

अतिनोरस सक्तरविज्ञानविषयोऽत्र कियत्तारस्यमापादित इति सहृदया
पदात्र प्रमाणम् ।

द्वा सुपर्णा सयुजा सखाया समानं वृक्षं परिपस्वजाते ।

तयोरन्यः पश्यन्तं स्वाद्वयनदनघ्नयो अभिचाकशीति ॥

सर्वस्मात्पर जीवेद्वयविज्ञानमपि कया पदस्या सरसता नीतम् ।

एकं सुपर्णम् समुदमाववेश स इदं विश्वं भुवनं विचष्टे ।

त पाकन मनसा पश्य मन्तिनस्त माता रेदि स उ रेदि मातरम् ॥

इत्यादिषु च वैज्ञानिकमन्यन्तामध्यक्षामध्यगम्य चाकषाणविज्ञानं नर्मभाषयेनो
पनिबद्धम् । वेदेषु प्रमुखमित उपदेशः, पुराणादिषु सुदृढमनः, काव्येषु च क्राता
समित इति विभज्यन्ति आलंकारिकमूर्द्धन्या । पर यदि सम्यगालोच्येत, उपदेश
प्रक्रियापि वदेष्वतिसरसा प्रतीयते ।

अथैवो दीन्य कृषिमिश्रपस्व वित्ते रमस्व बहु मन्यमान ।

तत्र गात्रं कितव तत्र जायास्तन्मे विचष्टे सविता यमयं ॥

किमितं परापि क्वचिज्जागर्ति सुहृत्समितोपदेशप्रक्रिया ।

सहृदयः सौमनस्यमविद्वेषः कृणोमि व ।

अन्यो अन्यमभिहृत्य तस्व जातमिवाधन्या ॥

[अथ० १।३०।१]

यस्तिष्ठति चरति यश्च वञ्चति यो निजय चरति यः प्रतङ्गम् ।

द्वौ सचिपथ यन्मन्त्रयेते राजा तद्वेदं वरुणस्तृतीयः ॥

[अथ० ४।१६।२]

इत्यादौ कियन्महत्वात्पदमुपदेशपद्धतिरित्यालोचयन्तु सुधियः । अधान्वदपि
दृश्यताम्—लुपितायाजमन्त्र्य दात यम्, न तन्न्यापेक्षयोदासित्यमितीममभिप्राय
सुष्ठुमिदं प्रकटयति । तत्र कीदृशी तावदालंकारिकी भाषा समुत्पद्यते । अद्यत्वे
यद्यप्युक्ता स्यात् छायावादपदमेवास्यै भाषायै प्रदीयेत ।

न वा उ देवा लुपमिदं त्रयं ददुःकृताशितमुपगच्छन्ति मृत्युव ।

उतो रविः पृथगो नो पदस्यत्युतापृणन् मर्दितारं न चिन्दते ॥

[ऋ० १०।११७]

नित्तु प्रथमं यतिरक्षमुखेनाज्ञदानं प्रशंसति—देवा वै देवा लल्लु सर्वेषां
लुप न ददु न प्रायच्छन्, किन्तु यममित् यममेव दत्तवन्तः । एतादृशी वचस्वा

क्षुधम्, अन्नदानेन यः शमयति स दाता खलु उ इति पूरण । यः अदत्ता
 भुङ्क्ते, तम् आशितं मुञ्चानं पुरुषमपि मृत्युः । मरणानि उपगच्छन्ति समीपे
 यान्ति । दुर्धर्तानां मोक्षणा च मरणं समानं किं दानेन धननाशरूपेण, अतः
 आह उतो उतेश्वरदत्तव्यस्यै, पृथग्नं प्रयच्छन्तं पुरुषस्य ययि धनं नो पदस्यति
 न उपधीयते । दानप्रसंगेनादातारं दूषयति—अपृणन् अप्रयच्छन् पुरुषस्तु मर्ति
 तारम्—आत्मनः सुखवितारं न विन्दते—न कुत्रापि लभते । इह नन्वत्र अदा-
 नेन न मुच्यन्ति, देवा अपि इति प्रदानाभावात् इति साधयमाध्यम् ।

न स सत्त्वा यो न ददाति सस्ये स चाभुवे सचमानाय पि तत्र ।

अपास्तमाप्तेयानं तदोक्तो अस्ति पूणन्तमयमरणं चिदिच्छेत् ॥४॥

•यतिरेकेण निन्दामाह—स पुरुषः सत्त्वा न मयति, यः पुरुषः सत्त्वान्
 सर्वदा सह मदनशीलाय सचमानाय सचमानाय उपसर्जनीमूताय सस्ये सखिन्न
 नाय पितृ —पितृन्मृजानि न ददाति, न प्रयच्छति स सुदुर्लभं भवतीत्यर्थः । अस्मा
 ददातु सत्त्वं । अपप्रेषात् अगच्छेत्, यथेन परित्यज्य गच्छेत्, तर्हि तदोक्तः
 निवासं नारितं न मयति, सदनं हि वंधुभिः परिगतम् । गतं पुरुषं पृणन्तं
 महादिकं प्रयच्छन्तं अन्यमरणं चित्, अयं स्वामिनमेव इच्छेत् कामयेत । इति
 भाष्यम् ।

पृणीयादिप्रापमानाय त्वयान् द्राघायावमनुपश्येत् पश्याम् ।

ओ हि वर्तन्ते रथ्येव चक्रान्यमन्यमुपतिष्ठन्ते राय ॥ ५ ॥

धनवः तं पुरुषं दाने प्रेरयति—त्वयान् तत्रोपायान् धनैरतिशयात् प्रवृद्धं
 पुरुषं नाचमानाय याचमानायातिथये पृणीयादित् घनानि दद्यादेव । यदि दद्यात्
 द्राघीयाव दीर्घतमं पश्यान् मुञ्जतमार्गमनुपश्येत् अनुपश्येत्, परशयेनात्मनैपदम् ।
 तत्र कारणमाह—रायो घनानि ओ हि आ उ आकर्षन्ते खलु, एकत्र न तिष्ठन्ती
 त्यर्थः । तत्र दृष्टान्तः—रथ्येव यथा रथ्यानि रथसम्बन्धीनि चक्राणि उपर्यधोभा
 वेनावर्तन्ते तद्वत् । आवृत्तिमेव दर्शयति—अन्यमयं पुरुषं घना-मुपतिष्ठन्ते
 समप्रेतानि भवन्ति । तस्माद्वनानि देयानीति भावः । इति भाष्यम् ।

समो चिद्वह्नी न समं विविष्टं स मातरा चित्रं समं दुहाते ।

यमयोश्चित्रं समा वीर्याणि ज्ञाती विशन्ती न समं पृणीत ॥

अतिपिच्छो घनमप्रयच्छन्पि मम भ्राता दास्यति इति चेत्तत्र हेतुमाह—

समो चिद् वह्नी समावपि समं समानं न विविष्टं कार्यं न चाप्नुत । तथा समा-
 तरा वरस्य मातरी येन समे अपि समं समानं पयो न दुहाते । यमयोश्चित्
 सहजातयो पुत्रयोरपि समा समानं वीर्याणि न सन्ति, तस्मात् ज्ञाती चित् एक-
 रिदम् कुले सन्ती जातावपि समं न पृणीतं न प्रयच्छन् । यस्माद्यस्य घनमस्ति
 स एव दद्यादित्यर्थः इति भाष्यम् ।

भाषामेदाद्वयमत्र नयान्विधमानन्द न निन्दाम इत्यन्यदेतत् । उपदेशप्रक्रिया
त्रित उत्कृष्टा न काव्युपन्यत ।

तथैव—

यदिन्द्राहन् प्रथमजामहीना मा-मापिनामभिना प्रोतमाया ।
आत्स्यं जनयन् व्यामुगस ता दीप्ता शत्रु न किना विविमे ॥
अयो द्वे व दुर्मदं आदिजुहे महावीर तावताधमूर्जीपम् ।
ना तारोदस्य सभ्यात बधाना स बजाना पिपिष इन्द्रशत्रु ॥
अपादहस्तो अपृतन्यदिन्द्र मास्य वज्रमभिसानौ जगान् ।
वृष्णो वज्रि प्रतिमान जुमूषन् पुरुषा वृषो अशयद् व्यस्त ॥
नद न भिन्नममुषा शयान मनो बह्मणा अतियन्त्याप ।
यात्रिद् वृषो महिना पर्यतिष्ठत्ताशमहि पस्तुत शीर्षभूव ॥

इत्यादिषु (ऋ० १।२२) इन्द्रवृषयुद्धवर्णनशैली तत्र वीररसपरिपोषश्च
सहृदयानां मननाहं । एव शीरेषु सूक्तेषु सूर्यवर्णनमाश्विनेव्यश्विवर्णनं पृथिवीवर्णनं
च पार्थिवेषु दर्शनाहं । न विस्तरमयादिहोदाह्रियते । सौपर्णकाख्यानप्रभृतौ
श्वार्यानेषु ब्राह्मणानामपि वर्णनशैली नोपेक्षाहं । अथ रसात्मक वाक्यमव काव्य
ब्रुवन्तोऽपि न मन्त्राणां काव्यत्वं वारयितुमीक्षते—

इन्द्र आसा नेता वृहस्पतिर्दाक्षणा यज्ञ पुर एतु सोम ।

देवसेनानामभिमञ्जनीना अवन्तीनां महतो यन्त्रप्रभू ॥

[यजु० १७४०]

इन्द्रस्य वृष्णो वरुणस्य राज आदित्यानां महता शर्षं जगम् ।

महामनसां सुव्रत-पवानां घोषो देवानां जयतामृदस्थान् ॥ (४१)

उदयं मघन्नानामुषान्युसस्वता मामकानां मनाति ।

उद्वृहन् वाजिनां वाजिनान्युद्रथानां अवता यन्तु घोषा ॥ (४२)

श्ये तिष्ठन्नयति वाजिन परो यन् यत्र कामयत सुषारथि ।

अभीपूता महिमानं पनायत मन पश्चादनुय-उन्ति रश्मय ॥

[यजु० २९।४३]

सुपर्णे वस्ते मृगो अस्यादन्तो गोमि सज्जदा पतन्ति प्रसूता ।

यथा नर स च विचद्रवति तत्रास्मभ्यमिषस शर्म य सन् ॥

[२९।४८]

उपदवाक्यं पृथक्चोक्तं यो पुरुषा ते मनुता विजितं जगत् ।

स दुन्दुभे सजुरेद्रेण देवैर्नूरादवीयो अपसेष शत्रून् ॥

[ऋ० ४ ३५।४]

इत्यादिषु न नास्ति रसरसिरोप ? तस्माद्द्रष्टव्यैः काम बायंता वेदादिषु कल्पत्वम्, नान्य पन्था । भगवान् बालनीकिरेव भगवतादिकविरिति प्रसिद्धिरपि वेदादीन् दृष्टतिरोधायैव स्रष्टादा मवेत्, वेदाना सर्वादिमूर्ततायाः सर्वैरोत्सो-
क्रियमाणत्वात् । 'अहो आम्नायादन्यत्र चन्द्रसामवतारः' [३० रा० च०]
इति श्रुत्या येन महाकविना भवमूर्तिना लौकिक्यां भाषायां छन्दो बालनीक्युपपत्तिरिति
आदिकविरस्रसिद्धिः समादिता, पर नेदमपि क्षोदक्ष्यम् । मन्वादिसृतिषु छन्दसा
भगवतो बालमीकेः प्रागपि लौकिकभाषाया सुस्पष्टमधीयमानत्वात् ।

'पुरा सृजनिद्वान्येवावन् धर्मशास्त्राणि, वर्तमान रूप ॥ मन्वादिसृतीनाम-
र्वाकनमव' इत्यादिभिरितिहासिकानामुक्तिरपि नात्मदुष्कामनुवर्ति समधाद्वनी-
शीत, बालमीकीये रामायणे एव मनुनाम्ना पयोद्वरणदर्शनात् । मनुस्मृतौ च
तत्प्रयोगश्चास्ति । तथा हि बालमीकीये रामायणे किङ्किण्वाकाण्डे अष्टादशे सर्गे
बालिनं प्रति भगवन् भीरामस्योक्तौ—

भयते मनुना गीतो ह्येको चारिद्रवसलो ।
पृथीतो धर्मकुशलेनया त्वरेत मया ॥ ३० ॥
राक्षसिर्भूतदण्डाश्च हृत्वा पापानि मानसा ।
निर्मला स्वर्गमायान्ति सन्तः सृष्टितिनो यथा ॥ ३१ ॥
घातनाद्वापि मोक्षाद्वा स्तेनः पापात् प्रमुच्यते ।
राजा स्वशास्त्रं पापस्य तदवाप्नोति क्लिष्टवम् ॥

श्लोकाविनौ मनुस्मृतेश्चमेऽप्याये (३१५, ३१६) किञ्चिन्नाटभेदेन दृश्ये-
ते । तस्मादुपलभ्यमानैव मनुस्मृतिरादिकव्याद्बालमीकीयाद्रामायणाध्याचीनेति
विचित्रमुपगन्धः स्यात्प्रमाणपरतन्त्रे । अथ मनुस्मृतेर्वर्णनाशेत्यपि न नाम काव्य-
२५ न स्पृष्टानि—

आसीदिदं तमोमूतमप्रयातमव्ययम् ।
अप्रत्ययमविशेषं प्रसुप्तमिव सर्वतः ॥ [अ० १।५]
तदण्डममवद्वैम सहस्राशुसमप्रभम् ।
तस्मिञ्जले स्वयं ब्रह्मा सर्वलोकपितामहः ॥ [१।९]
आपो नारा इति प्रोक्ता आपो वै नरसूनुवः ।
ता यदस्यायनं पूर्वं तेन नारायणः स्मृतः ॥ [१।१०]
ययर्तुं जिह्वायुतव स्वयमेवर्तुं पर्यये ।
स्वानि हान्यमिषदन्ते तथा कर्णाणि देदिनः ॥ [१।१०]
दस्यास्येन सदाश्नन्ति हन्तानि त्रिदिवौकशः ।
हन्तानि चैव सितरं किं भूतमधिकं ततः ॥ [१।१५]

विद्यैव सम काम मर्त्य ब्रह्मादिना ।
 आपद्यपि हि घोराया न त्वनामिरिणे वपेत् ॥ [२।१३]
 विद्या ब्राह्मणमेत्याह शेषिस्तेऽस्मि रक्ष माम् ।
 अक्षयकाय मा मा दास्तथा म्या वीर्यवचना ॥ [२।१४]
 यथा काष्ठमयो हस्ती यथा चर्ममयो मृग ।
 यश्च निप्रोऽनघीयानम्रयस्ते नाम भ्रति ॥ [२।१५]
 कामयो यानि गेहानि शपत्यप्रतिपूजिता ।
 तानि कृत्याहतानीव निन्दयति समन्तत ॥ [२।१६]
 श्रुतमुच्छशिल शयममृत स्यादयाचितम् ।
 मृत तु याचित मेभ प्रमृत कर्षण स्मृतम् ॥
 सत्यामृत तु वाणिज्य तेन चैवारी जीवते ।
 सेवा श्रुतिराख्याता तस्मात्ता परिवर्जयेत् ॥ [४।१०६]
 यथा ज्वेमौषमेन निमज्जयुदके तरन् ।
 तथा निमज्जनोऽधस्तादशौ दातृप्रतीच्छन् ॥ [४।११४]
 नाहुन हि सहायार्थं पिता माता च तिष्ठत ।
 न पुत्रदारा न शतिर्धर्मस्तिष्ठति केचन ॥ [४।२१९]
 मृत शरीरमुख्य काष्ठनोऽसम शितौ ।
 विमुखा वाग्धवा यान्ति धर्मस्तमनुगच्छति ॥ [४।२४१]

इत्यादिषु शतश इत्येकेषु उक्तिवैविधापरपर्यायस्य सौन्दर्यस्य सहृदयतुष्टेश्च
 सुस्पष्टमनुभूयमानत्वात् । तस्मात् 'प्राधान्येन व्यपदेशा भवन्तीति' स्यादेन यत्र
 सौन्दर्यात्मक वर्णनमभिव्यक्तैव प्रयुक्तं प्रवृत्ति, त एव मन्या काव्यत्वेन प्रसिद्धि
 गता, तेषु चाद्य कालमीकीय राम यणमिति भगवान् बालमीकिरादिकविराज्यायते ।
 तदनन्तर तु कालिदासाद्या सहस्रश कवयोऽस्या पद्धते परिष्कारका प्रादुर
 भवन्निति विदम्येव विद्वांसः ।

सोय काव्यप्रवाह कालेन भारते तथाविध प्रसृत, येन शास्त्रान्तराणि
 कलातराणि च स्वान्तर्निर्मितानि नाद्याधुन्युद्भवन्ति । 'छान्दसा इलोकशत्रवः'
 इति वेदाध्ययन दूरीकृतम् । 'वाकरणनृणतरुणि ये बहु पश्यन्ति ते भवन्त्यन्धा'
 इति व्याकरणबोधोऽधिष्ठित, 'अविदितसुखदुःख निर्गुण वस्तु किञ्चिद् जडमतिरिह
 काश्चनमोक्ष इत्यानचक्षे' इति दार्शनिका गालीमि सङ्कृता । सर्वथा काव्यमेवैक
 शास्त्रम्, कवय एव देशोद्धारका विद्वांसः, राजसमासु कवय एवोच्चैरपत्रिणन्ति
 स्म । कवीन्द्राणामेवाङ्गभुव 'कन्दमृङ्गासङ्गाकुलकस्मिन्मोदमधुरा' भवन् ।
 अन्ये तु विद्वांसः कवीनेत्रोपजीव्य निर्वहन्ति जीवनमिति महान्त काल मारतस्य
 वर्षस्य स्थितिरासीत् । इलोक रचयितु न जानाति नास्त्येवाश्वमुख इति

राज जेव्हेहशी सर्वैरिन्द्रपि देशे प्रवृत्ता । ये वराका सर्वया 'अत्रिजीनभूत'कार
 लेशशूया, ते वर 'कुर्वेदहन्तु ययामने' 'गुडा गुग्गा करोम्यहम्' इत्याद्येव
 रचयन् परमन्ततो मङ्गल तु पद्येन कर्तव्यमेवेति न्यायाल्यस्येवाय प्रवृत्त सारं
 त्रको नियम । दर्शनम्, श्रौतिषम्, आयुर्वेद, कोश, व्याकरणमपि चेने
 सर्व पद्यरुपेणानुगतमभूत् । पद्यैरुत्पाद्यैरेव चद्वेषेव विषया पुर स्थानयितु
 शक्यन्ते इति सत्यम्, पर पद्यरुदा शास्त्रीया विषया दुरुदा अभ्येष्टा कनेशप्रदा
 भवन्तीत्यपि नाऽऽस्यम् । इत एव प्रव द्वा-ग्रन्थाधिगमे, संस्कृतभाषास एवाति
 कान्ति-प्रसूतमित्यास्तामग्रजना कथा । काव्यान्वयि तावन्ति निर्मितानि भारते,
 यत्प्रत्येक यन्त्रालये, समितिनि, सह्यामि, मातृकै पत्रैश्च सहस्रश का यानि
 प्रकाशितानि, प्रकाश्यन्ते च, परमप्राय सहस्रश एव सन्ति प्रकाशनादेशीमि,
 नास्तेवैषामन्त । अहो भारतीयाना प्रतिभावै च-यम् । अहो प्रवाहप्रसरणम् ।
 य प्रवाहोऽत्र प्रसृत, ■ एवमेवानन्तसागरायित । सत्यमिष सर्वाणि विद्याना
 दलाना च प्ररोहायानिश्चयितोरा भूमि ।

अथ कालक्रमेण हास्यपुष्पेषु संस्कृतवाङ्मयमाहरे, समुदयमाप्नुवति च
 प्राकृताग्रभ्रद्यादिग्रन्थनिवहशीतकरे, सोय कन्ताप्रवाह उदीयम नाभिध्रुव एव
 सुप्रसृतोऽभूत् । तत्रापि काव्यानामतिनमा बाहु-यननुभूयते ।

संस्कृते तु अहो कलादनन्तर कविताप्रवाह प्रसृत इति तत् प्राक्तना ग्रन्थ
 ग्रन्था अपि नाहुल्येनैषाग्रजने, परमग्रभ्रद्यादिभाषाणाम्नु समैव कविताप्रसर
 काल इति तत्र तु ग्रन्थग्रन्थानामतीव विरलता दृश्यते । सर्वमपि विषयज्ञात तत्र
 पद्यनिवहनेव । तदग्रकाल काव्यमेव सकलकलाभौलिष्ठितमिति सुप्रसृतग्रन्थ-
 कृत हिन्दीभाषादिवाङ्मयदर्शनेनानुमीयते । प्राकृतम्, अपभ्रंश, एज्जानता
 व्रजभाषा हिन्दीभाषायाभेदादि सर्वमाय प्राचीन वाङ्मय संस्कृतरविश्रितितनव
 ग्रन्थानामनुसाराय ■ नास्ति स्तोकोऽपि सद्यः । संस्कृतमेव तदाख्येऽध्ययनभाषा
 ऽभवत्, य कोऽपि किमप्यप्येतुमै-त्, तस्य संस्कृतैव वागावी-करणम् । प्राकृता
 पञ्चग्रन्थभाषादिमहाकवयोऽपि संस्कृतेऽधीतिन एव । तथा च संस्कृतमधीत्य संस्कृ
 तानुसरण तेषा प्रकृतिसिद्धमेवामूत् । आस्ता विषयश्च तत्कथा, संस्कृतशब्दा अपि ताज
 वदति स्त । तत् एव प्राकृतग्रन्थग्रन्थेण विहृतिमाप्तान् शब्दानुपेक्ष्य संस्कृत-
 शब्दा एव व्रजभाषाकविभिर्भूयो भूय परिश्रुता इति विस्तरय ददाभिर्पुष्टिभि
 प्रत्यशीरर्द रवीये हिन्दीभाषानिकरूपे (हिन्दी में संस्कृत शब्दों का ग्रहण) इति
 शीर्षके । तन च संस्कृता वाक् न केवल हिन्दीभाषाया मातामही, वितामही
 वा अ य तु साक्षाज्जन-यपेति तत्रैव विद्वान्तितामितास्तामप्रकृतम् ।

इद ■ विरमयावहम्—यद् व्रजभाषादिदेशीयभाषाकविनिख्यत्र संस्कृतवाङ्
 मय सर्वात्मनानुसरद्विरपे छन्दोविषये स्वात यमेवाविष्कृतम् । यानि च द्वादशेनि-

चपयुक्तानि (दोहा, चौपाई, सबैया, छप्पय, कुण्डलिया अमृतध्वनि, घनाक्षरी (कवित्वम्) प्रभृतीनि न तेषा प्राकृते संस्कृतवाङ्मये कापि समुन्मेष । संस्कृत निबद्धेषु पिङ्गलादि-उ-द शास्त्रग्रन्थेष्वपि नैषा प्रायेण लक्षणाणि दृश्यन्ते । 'दण्डक' पदेनैवैवविधानि छन्दसि व्यवहरन्ति स्म पूर्वाचार्या । प्राकृतपिङ्गले कथान्विलक्षणाणि प्राप्यन्ते पर प्राकृतेऽप्यत्रोऽपि च दोहादीना केषाञ्चिन्मात्रा-उ-दसा एव द्वारेऽपि प्रलम्ब-उ-दसा व्यवहारो न दृष्ट एव । प्रलम्ब-उ-दसा बाहुल्येन प्रथम प्रयोक्ता तु देश यभाषाकवि 'पृथ्वीराजरासो' निर्माता चन्द्रवरदाइत्यभिधो भाट दृश्यते । तदास्वेऽप्यत्रादेशीया भाषा उदयमाना आसन् ।

'षड्भाषा पुराण च कुरान कथिन मया' इति हि तस्य प्रतिज्ञा । तदनन्तर तु वज्रभाषाया प्रलम्ब-उ-दसामेव व्यवहारप्रवाह प्रसृत । घनाक्षरी तु तथा सर्वैरप्यस्ता यथा तन्नामैव 'कवित्वम्' इति ज्ञातम् । तस्मिन्निर्माता च कवि, तदेव च तस्य कवित्वमिति ।

वस्तुतस्तु आनन्दयकनामनुसृत्योपकरणान्युपादीयन्ते, परिहीयन्ते चेति प्रकृति सिद्धा सिद्धान्तः । वज्रभाषादिकवित्वकारो हि 'रीतिकाल' इति परिभाष्यते । तदाश्वे हि अलङ्काराणाम्, तत्रापि विशेषेण शब्दालङ्काराणा बाहुल्यमेव जनमनो मोहकमासीत् । राजान एव कवीना प्रसादनीया अभवन् । ते च व्यङ्ग्यादिबोध शिथिला वाच्येनैवाथेनाधिक तुष्यन्ति स्म । अरुकारकचिरं तद्वीर्यवर्णनम्, यशोवर्णनम्, तद्वचिकरभृङ्गारपरिप्लावन वा कवीना कर्तव्यकोटौ प्रधानान्यभूवन् । एतदथ च कविशास्त्रीनि प्रलम्ब-उ-दसि बहुपकारकाणि । घनाक्षरी 'कवित्वम्' नानुप्रासमन्तरेण पदमपि प्रसरति । बन्ध एवास्व-उ-दसोऽनुप्रासाधीनः । बहुतमवर्णमैश्रीभवनसमकालमेव प्राकृताना चेतस्यानन्दपयोनिधिबहेलति । 'भूमी सुध च्योटी री लोकलाज सटकी री अरुकी हिये में पहरानि पीतपङ्की ।'

हृषादिभवनसमकालमेव शिरो घूर्णयन्ति जनाः ।

केशरिया पाय पर चन्द्रिका सुहाग पर
कल्लगी की लाग पर रतनारी दामरें
बदन की भूम पर मोतिन की लूमपर
अब्दन घूम पर मौहन की भाँवरें ।
जामा फुल्कारी पर बनमाला भारी पर
मूषन उबारि पर बैन के बनावरें
भाँलें अरविद पर चारमुखचन्द पर
राधिकाशुविन्द पर नैनन निठावरें ॥'

मानस ! शुक्लचरणारविन्दलम्नामये !

मौनमभिनन्दयस्व सृष्टिसुन्दरीमिमाम् ॥'

[गोविन्दवन्दनमन्दारमाला २]

समभिनन्दयती सशिरःकम्पं सावयवरूपकम् । एकत्रैव बहुधर्मप्रकाशनं प्रलम्बचन्द्र-
सामसाधारणो गुण । दृश्यताम्—सर्वानि द्रौवदोकथा एकत्रैव समादृता कुल्पति-
मिथेन स्वीये संग्रामसारे—(द्रोणपर्वानुवादरूपे)—

‘शकुनि दुशासन कर्नसुजोधन पापमन्त्र क्रिय

सभामध्य द्रौपदि हि भानि हठि दत्त ऐचि लिय ।

क्रिय पाण्डव अपमान वेधि बहु बाक वान उर

हुते सर्व परबोन किहुन यमिय सुधर्मधुर ।

जहुनाथ नाथ तुव सन हो राति राख कृष्णा कहिय ।

घटैन यसन जिमि कालगति सुनत अन्ध अति भय गहिय ॥’

यथा वा तत्रैव सारथकिभूरिभ्रवमोमुद्वर्गने—

‘लखि सारथकि बलहीन प्रबल कौरव अद्भुत क्रिय ।

सारदूल जिमि एव काण्ड गहि भूमि पयक्रिय ।

अह उरमें दै लात केव गहि लभा हाथ लिय

पथ । पथ । सैन्य भरत हरि रहे सोर क्रिय ।

भुजवदित मीव जुलधानहू फेरत कियउ अपुन अति ।

निरखैन कष्ट भूखिखवा जिमि नर लखैन कालगति ॥’

साम्प्रदायिकान्दोलनश्चादौक्यस्तुतिरपि मग्नभाषाकवितासु बहुला दृश्यते ।
तत्राप्येकैवातिर आनन्दं च देयतास्थानसमावेशो प्रलम्बचन्द्रो भूयानुपकारः ।
यथा मत्प्रदितामहानी श्रीगोपालचतुर्वेदानां गणपतिस्तुति —

चर्चित छिदूर तन अर्चि सुरेव पद

मण्डित मुकुटमोक्षि सुधमा अणार है

सुधवि गुपाल भावचन्द की छटा है

मद ररा पथ है एवदन्त निरधार है ।

अत्र मालीनमा—

‘कुंभद्वयमङ्गल रसालमञ्जरी को निज
 उन को सुहाग बन्धेनिन को कन्त है
 कोकित्रा को मौनहर मौल को केलिकर
 मञ्जुमल्लमासु को सन्त विलसन्त है ।
 मानिनीनमायक मनोब को सहायक
 सँकेपी कुवदायक विषोमी अन अन्त है
 चाँदनी को सोषक विरोषक मुनीन मन
 रोषक विदेव फूलों बागन बसन्त है ॥’

‘रत्नविचार लु लु लोच लोचन को
 राधि सोधि रहना के सुखन पानर
 कर बिउही तें चुराई चाह लेखनि छै
 सबद अरथ रङ्ग अङ्गचनि उवाच हर
 सरसुति राधिना कुंवरी मञ्जवन्दन के
 रूप को पयनि बरसावैं रसरङ्गर
 नेह के नगर जग जगर मगर देते
 सुखर सुखर द-हीं मारती के चिहर ॥’

[४०६।२]

अत्र सावदेवं रूपक च करन न मनो हरेत् ।

यथा वा पद्ये सङ्कृतमदे—

‘रूपककिरीट—परिग्रामनवावराधुता
 कायन्त्रिकर्मिकाङ्ग—बुद्धामन्त्रिकोत्तमा ।
 उत्प्रेक्षावत्स—पुल्यपोगितावनिभृता
 लघुगुणरत्न—हेतुहारतो मनोरमान् ।
 इनेषकरङ्कट—विरोधवत्प्रातुगुता
 परिहरकाशी—सारनूपुरमुत्तमान् ।

मानस ! मुकुन्दचरणारविन्दलम्बामये ।

मौनमभिन्दयस्व सुखमुन्दरीमिमाम् ॥'

[गोविन्दवन्दनमन्दारमाला २]

सममिन्द्रतां सधिर कम्प सावयवरूपकम् । एकैव बहुधर्मकाशनं प्रलम्बन्द
सामसाधारणो गुण । दृश्यताम्—सर्वानि द्रौवदीक्या एकैव समाहृता कुल्पति
मिथेन स्वीये समामसारे—(द्रोणपर्वानुशादरूपे)—

'सङ्गुनि दुशासन कर्नसुजोधन पापमन्त्र किय
सभामध्य द्रौपदि हि आनि दृष्टि रत्न ऐचि लिय ।
किय पाण्डव अरमान बेपि उहु बाक वान उर
हुते सर्व परवीन किहुन यमिय सुधर्मपुर ।
जहुनाय नाथ तुव सन हो रालि राज कृष्णा कहिय ।
धटैन बसन जिमि कालगति मुनत अन्ध अति भय गहिय ॥'

यथा वा तत्रैव सात्यकिभूरिभवसोयुद्धवर्णने—

'ललि सात्यकि बल्हीन प्रबल कौरव अद्भुत किय ।
सारदूल निमि एव काण्ठ गहि भूमि पयक्रिय ।
अरु उरमें दै लात केश गहि खग्य हृत्थ लिय
परय । पथ । सैनेय मरत हरि इहै सोर किय ।
मुजसहित मीन जुजघानहु केरत कियउ अपुन्य अति ।
निरखै न कष्ट भूषिवा जिमि नर लखै न कालगति ॥'

साम्प्रदायिकान्दोलनवशादैवतस्तुतिरपि ब्रजभाषाकवितासु बहुला दृश्यते ।
तत्राप्येकत्रैवाधिर आनखें व देवताध्यानसमावेशे प्रलम्बन्द-दसा मूयानुपकार ।
यथा मत्प्रपितामहानां श्रीगोपालचतुर्वेदानां गणपतिस्तुति —

चर्चित सिङ्गूर तन अर्चित गुरेस पद
मण्डित मुकुन्दपौलि सुधमा अपार है
मुक्कवि गुपाल मालचन्द की छटा है
गद शरत पग है एकदन्त निरधार है ।

उदर उदार भुज चार खवार मही
गोद गिरिजा के मन मुदित बिहार है
आनन विगुण्डवारे आनंद अलण्डवारे
सुण्डवारे सरस मदेशके कुभार हैं ॥

इदं तु खलु संस्कृते भाषासम्बन्धे अनितरसाधारणं महत्त्वम्—यत्तत्र समास-
प्रयोगेण तद्धितेन सतिषतस्यादिभिः, अन्देशामपि सुपा लिङां च तत्तदर्थमिव्यञ्जक
तया स्वल्पाक्षरैरेव महार्थं कोटीक्रियते । प्राङ्गताद्यन्यभाषासु न तत्संभवति ।
तस्मादत्र तु प्रत्यञ्जानि चण्डास्येव कारणं बह्वर्थसंग्रहाय । एवमादिभिस्तत्कालोप
युक्तेषुणैरेषा चण्डसा देशीयभाषाकविनासु प्राधान्येन परिग्रहो ननु न्यायसिद्ध
एव । तथैव भाववचिरपि लोकानां प्रचुद्धेति गेयचण्डसा पदापरसर्वावाणामपि
प्रवाहो ब्रजभाषाकवितासूरेण श्रीसूरदासेन प्रवर्तितः । परतस्तु यवनसंपर्कात्तत्रापि
नवनवचण्डसा समावेशोऽतीव वृद्धिं गतः ।

संस्कृतकवित्वं संस्कृतस्य विरले प्रचारे सायम्तनप्रकाशायितमभूदिति न्यवेदयं
प्राक् । पण्डितराज एव संस्कृतकविरम्य चरमश्चकवर्ती । ततः परं न विद्याधर-
प्रतिभः कविः कश्चन प्रादुरभूदित्यस्य प्रदुग्धचरणैः भीष्मशमीनाथशास्त्रिमहामागैः स्वीये
भारतेतिवृत्तवारे समुल्लिखितम् । तथापि तु 'न ह्यवीरा बहुन्चरा' । भारतभुवि
कस्यापि आख्येयस्य वस्तुनो विलोपो न जायते । अभूगन्नेव तत्र तत्र देशविशेषे
कालविशेषे च प्रतिमाप्रगल्भाः कवयः । महामहोपाध्यायभीमकाधरशास्त्रिणा
दुःखमञ्जनदेवीप्रसादप्रभृतीनां च कं खलु विशिष्टकवित्वं नाभिप्रेयेत् । बङ्गदेशे
दक्षिणदेशेष्वपि च प्रादुरभवन् बहवः क्थातनामानो महाकवयः । जयपुर-
नगरेऽपि भट्टभौकृष्णरामप्रभृतयः सुप्रसिद्धा कवयः प्रादुरभवन्, येषां
सुप्रसिद्धानि काव्यानि प्रारक्तकविभ्यो नापकृतानि गणयितुं शक्यन्ते ।
एष्वर्वाचीनेषु कविषु येषां ब्रजभाषाकाव्यपरिचयोऽभूत् ते कौतुकवश्याः प्रत्यक्ष-
चण्डसा व्यवहारं कञ्चित्कथयितुं संस्कृतेऽपि चक्रुः । पूर्वनिर्दिष्टेन भीकृष्ण-
रामकविना भाषाप्रसिद्धाः काश्चन गीतयः संस्कृते रचिताः । तत्कालिकैरन्यैरपि
कविभिः स्फुटरूपेण तत्र पदं निहितम् ।

परं ब्रजभाषाप्रसिद्धानि चठन्दासि, नव्यशैलीनिबद्धा गीतयश्चानुप्रासबाहुल्य
मन्तरेण न सौष्ठवं दघत इति तु प्राहृन्त्यवेदयम् । देशीयभाषाकवीनां शब्दत्रोदने
मोटने च स्वातन्त्र्याच्चेरनुप्रास निरुह्यन्ते । संस्कृतभाषा तु व्याकरणसूत्रबद्धेति नात्र
शब्दस्वरूपपरिवर्तने मनायपि कवीनामधिकारः । अन्यत्र दृष्टस्याऽन्यत्र प्रयोगेऽपि
'निरङ्कुशा कवयः' इति वैयाकरणास्ताम् कथयन्ति । तस्मादत्र तादृशबन्ध
निर्वहणप्रतिकटिनमिति न संस्कृते तादृश-उ-दशा प्रवाहोऽद्यावधि समुच्छलितः ।
तदिष्य कविकाव्यविषये दिङ्मात्र प्रकाशिता विचाराः ।

इति चतुर्वेदिसंस्कृतरचनावल्या महामहोपाध्यायश्रीगिरिधरशर्म-
चतुर्वेदानां भारतराष्ट्रपतिसम्मानितानां संस्कृत-
निबन्धानां मञ्जूषावमाणायाः
प्रथमो भागः समाप्तः ।

